रतनलाल डोशी

द्रव्य सहायक—

सुश्राविका श्रीमती पतासबाई,
मातेश्वरी श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी सा. बोहरा
मंड्या (जिला-मैसूर, मारवाड़ में पिसांगन)
की
द्रव्य सहायता से अल्प मूल्य में प्रकाशित

प्रकाशक—

अ.भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ
— सैलाना —

वीर सम्वत् २४९७
विक्रम सम्वत् २०२८

स्वल्प मूल्य
६-००

द्वितीयावृत्ति

मुद्रक—जैन प्रिंटिंग प्रेस सैलाना (म. प्र.)

पृथमावृत्ति पर—

लेखक के उद्गार

देवाधिदेव जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित 'मोक्ष मार्ग' को पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए मुझे प्रसन्नता होती है। भगवान् ने अपने प्रवचन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है। उसी मोक्ष मार्ग का—१ दर्शन धर्म २ ज्ञान धर्म, ३ अगार धर्म, ४ अनगार धर्म और ५ तप धर्म—इन पांच खण्डों में, इस ग्रंथ में वर्णन किया गया है। चारित्र धर्म के अगार-धर्म और अनगार-धर्म ऐसे दो खण्ड होने से चार प्रकार के धर्म का आलेखन, पाँच खण्डों में हुआ है।

ग्रन्थ का उत्थान देव तत्त्व के प्रतिपादन से किया गया, क्योंकि धर्म का आधार ही देव तत्त्व है। जिनेश्वर देव ही धर्म के मूल उत्पादक हैं। उन्हीं के द्वारा धर्म का प्रथम प्रकाश एवं प्रचार होता है। गणधर, आचार्य, उपाध्याय, उपदेशक मुनिवर आदि, धर्म का प्रचार करते हैं, वह तीर्थंकर भगवान् रूपी कल्पवृक्ष से खिरे हुए मनोहर एवं सुगन्धित पुष्पों की सुगन्ध मात्र है। जिनेश्वर भगवंत रूपी अमृत कुण्ड के जल की प्याऊ है। इस प्रकार देव-तत्त्व ही धर्मोत्पत्ति का मूल है। गुरु तत्त्व के विवेचन में तो पूरा अनगार धर्म है। जो अनगार भगवंत इन विधि-निषेधों का श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं, वे परमेष्टी पद अर्थात् गुरु पद में वन्दनीय हैं। विशेष रूप से गुरु पद का विषय पृ. ४१२ में बताये हुए "दीक्षा दाता की योग्यता" प्रकरण में बतलाया है। गुरु पद में उन्हीं को स्थान देना चाहिए, जिनमें दूसरों की अपेक्षा गुणों की अधिकता हो। गुणवान् महात्मा के विद्यमान होते हुए भी गुणहीन एवं दोष-पात्र को गुरु बनाना, या तो अज्ञान का कारण है, या पक्षपात अथवा स्वार्थ। जिसमें बुद्धि है, जो गुणी, अवगुणी, शुद्धाचारी, शिथिलाचारी और दुराचारी का भेद समझता है, वह तो उत्तम गुणों के धारक महात्मा को ही गुरु पद में स्थान देता है।

हां, तो गुरु पद के गुणावगुण बताने वाला 'अनगार धर्म' नामक चौथा खण्ड है और 'धर्म पद' से तो सारा ग्रंथ ही सुशोभित है। दर्शन और ज्ञान खण्ड का सम्बन्ध श्रुत-धर्म से है और शेष तीनों खण्ड चारित्र-धर्म से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार देव, गुरु और धर्म तत्त्व की आराधना विषयक सामग्री से ही यह ग्रंथ भरा हुआ है।

इस ग्रंथ की योजना का उद्देश्य यही रहा कि धर्म-जिज्ञासु बन्धुओं और बहिनों को एक ही ग्रंथ में 'मोक्ष मार्ग' के सभी प्रकार के विधि-निषेध की जानकारी हो सके। सभी आगमों का स्वाध्याय—

पठन-मनन करने की अनुकूलता सभी को नहीं होती। यदि एक ही ग्रंथ में, सभी आगमों के चरण-करणानुयोग का सार मिल सके, तो उसका उपयोग अधिकता से हो सकता है। उपासक वर्ग अपना धर्म और कर्त्तव्य को समझ कर हेय का त्याग और उपादेय को स्वीकार कर सकता है और गुरु वर्ग के आचार-विचार की भी जानकारी हो सकती है। उनमें साधुता-असाधुता पहिचानने की विवेक-बुद्धि जाग्रत होती है। इससे वे साधुता का सत्कार करेंगे और शिथिलाचार मिटाने में प्रयत्नशील होंगे। कम से कम वे स्वयं शिथिलाचार के पोषक तो नहीं बनेंगे—जिससे धर्म की अवदशा हो।

मोक्ष-मार्ग का निर्माण मुख्यतः आगमों के आधार पर किया गया है। जहां अन्य ग्रंथों का उपयोग किया है, वह भी मूल सूत्रों के लिए बाधक नहीं, किन्तु साधक समझ कर ही। जहां तक मेरी दृष्टि पहुँची, मैंने श्रुत-चारित्र धर्म सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों का संग्रह इस ग्रंथ में किया है। विषय चुनने, उपयोग करने, लिखने और प्रूफ-संशोधनादि सब काम मुझ अकेले को ही करना पड़ा। जनवरी ५७ से इसका लेखन कार्य प्रारंभ कर के जून ५८ में पूरा किया गया। इसमें पृ. ३७३ से ३८३ तक का दीक्षा विषयक प्रकरण, पं. श्री घेवरचन्दजी सा. बांठिया का लिखा हुआ है। इस सारे ग्रंथ की पाण्डुलिपि का पंडित श्री बांठियाजी ने सैद्धांतिक दृष्टि से संशोधन किया और जहाँ आवश्यक लगा, बहुश्रुत पंडित मुनिराज श्री समर्थमलजी महाराज सा. से पूछा और संशोधन किया। इसके लिए मैं पण्डितजी का पूर्ण आभारी हूँ।

इस ग्रंथ में वर्णित भाव मेरे नहीं, किन्तु निर्ग्रंथ-प्रवचन के हैं। मैंने आगमों के पठन, मनन और समाज के श्रुतधर महात्माओं से अपने क्षयोपशमानुसार जैसा समझा, वैसा कलम के द्वारा कागज पर उतारने का प्रयत्न किया। मैं इस ग्रंथ का संग्राहक मात्र हूं। वस्तु सूत्रों की, और भाषा तथा सजाई मेरी है। विद्वान् लोग मेरी भाषा को पसन्द नहीं करेंगे। क्योंकि व्याकरण सम्बन्धी भूलें और सामान्य अशुद्धियां भी मेरे लिखने में रहती हैं। विराम, सम्बोधन, आदि चिन्हों का उपयोग भी यथायोग्य वही कर सकता है—जो उसका ज्ञाता हो। अतएव इसमें भी भूलें होंगी।

प्रूफ-संशोधक का प्रबन्ध नहीं हो सकने के कारण यह काम भी मुझे ही करना पड़ा। यह कार्य बहुत बारीक होता है। जिसने इस कार्य की यथायोग्य शिक्षा ली हो, वही इस कार्य को ठीक तरह से कर सकता है। जिसकी आदत पढ़ने की हो, और वस्तु परिचित हो तथा उतावल से काम करता हो, उससे भूलें होती ही हैं। प्रूफ-शुद्धि में मुझसे बहुत भूलें रह गई। इसका शुद्धि-पत्र बनाते समय पंडित बांठियाजी ने बहुत-सी भूलें बतलाई, किन्तु शुद्धि-पत्र में उन्हीं भूलों का उल्लेख किया गया, जो आवश्यक समझी गई। शेष को तो सुज्ञ पाठक स्वयं समझ लेंगे और किसी प्रकार का भ्रम नहीं होगा—ऐसी आशा है। इसमें कहीं-कहीं पुनरुक्ति भी हुई है। खास कर २२ परीषहों का वर्णन दो बार हो गया है।

विषयों के यथा-स्थान जमाने से उनका क्रम और सम्बन्ध ठीक रहता है। किन्तु इसमें वैसा नहीं हो सका। कोई आगे तो कोई पीछे।

पुस्तक की छपाई में जो टाइप हमने काम में लिया, उसमें दो मात्राएँ, अनुस्वार, ह्रस्व दीर्घ उ कार मात्रा आदि ऐसे हैं जो स्पष्ट नहीं आये। यह त्रुटि भी पाठकों को खटकेगी अवश्य, किन्तु टाइप पसन्द करते समय यह त्रुटि ध्यान में नहीं आई थी।

बहुत से ऐसे विषय, और विधि-विधान होंगे—जिनका इस ग्रंथ में संग्रहित होना आवश्यक है। किन्तु स्मृति में नहीं आने से छूट गये। यदि सुज्ञ धर्म-बन्धुओं को इस ग्रंथ की उपयोगिता लगे और वे इसकी त्रुटियाँ दूर कर, और नये विषय जोड़ कर, नया संस्करण परिपूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे, तो बहुत उपयोगी बन जायगा।

परिशिष्ट में दिये गये विषय, मेरे प्रिय मित्र आदर्श श्रमणोपासक श्रीयुत मोतीलालजी सा. मांडोत के सुझाव के अनुसार है।

यह ग्रंथ समस्त श्वेताम्बर जैन समाज के लिए समान रूप से उपयोगी है। स्थानकवासी जैन समाज में तो अपने ढंग का यह एक ही होगा। इसमें आत्म-कल्याण के प्रायः सभी विषयों का उल्लेख हुआ है और प्रत्येक उल्लेख के साथ सम्बन्धित सूत्र के स्थान का निर्देश भी कर दिया गया है। जिससे जिज्ञासु पाठक चाहें, तो उस विषय का मूल आधार भी देख सकें।

इसके प्रकाशन में विलम्ब भी बहुत हुआ। जून ५८ में तय्यार हुआ ग्रंथ, अब छप कर प्रकाश में आ रहा है। यों तो संघ स्थापना के समय ही इस प्रकार के एक ग्रंथ के प्रकाशन की मांग हो रही थी, किन्तु जब से मोक्ष-मार्ग के प्रकाशन का ठहराव, संघ की कार्यकारिणी सभा बम्बई में अप्रेल ५८ में हुआ और सम्यग्दर्शन द्वारा जाहिर प्रचार हुआ, तभी से इसकी मांग आती ही रही। कई बन्धुओं ने तो विलम्ब के कारण उपालम्भ भी दिये। अब इस चिर प्रतीक्षित ग्रंथ को पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए मुझे हर्ष होता है।

सैलाना [म. प्र.]
माघपूर्णिमा, सम्वत् २०१८

रतनलाल डोशी

विषयानुक्रमणिका—

प्रथम खण्ड

दर्शन धर्म—

पृष्ठ

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

चतुर्थ खण्ड

पंचम खण्ड

परिशिष्ठ

पंचम खण्ड

परिशिष्ठ

पंचम खण्ड

परिशिष्ठ

मोक्ष मार्ग

दर्शन धर्म

धर्म का उद्गम (देव तत्त्व)

मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं, णाणदंसण-लक्खणं ॥

धर्म आत्मा का निज-स्वभाव है। किन्तु वह पृथ्वी में दबे हुए रत्न के समान है। जिस प्रकार रत्न को भूगर्भ से निकाल कर बाहर लाने वाला और उसे रत्न के रूप में प्रतिष्ठित करने वाला कोई इस विषय का निष्णात व्यक्ति ही होता है, उसी प्रकार विषय-कषाय एवं अज्ञान के अनन्त आवरण में दबे हुए धर्म-रत्न को प्रकाश में लाने वाली कोई महाशक्ति ही होती है। उस लोकोत्तर महाशक्ति को ही अरिहंत, जिनेश्वर तथा तीर्थंकर आदि गुणनिष्पन्न विशेषणों से विशेषित किया गया है और यही विश्व-विभूति परम आराध्य 'देव' तत्त्व के रूप में अभिवंदित हुई है।

जिस महान् आत्मा ने अपनी उत्तम साधना से, अपने आत्मशत्रु—घातिकर्मों को नष्ट कर दिया, जिसने राग-द्वेष का अंत करके वीतराग दशा प्राप्त करली और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होगए, वे ही धर्म के उद्गम स्थान हैं। उन्हीं परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् के द्वारा धर्म का प्रकाश हुआ है। धर्म

के मूल प्रवर्त्तक, वे जिनेश्वर भगवंत ही हैं। अतएव यहाँ उन परम आराध्य देवाधिदेव की विशिष्टता का कुछ परिचय दिया जाता है।

जैन धर्म की यह मान्यता है कि 'ईश्वर' नाम की कोई एक महाशक्ति, इस विश्व का आधिपत्य नहीं कर रही है और न इस प्रकार की सर्व सत्ता का कोई एक केन्द्र-स्थान ही है। जैन दर्शन के अनुसार यह एक सर्वोच्च पद है, जिसे आत्म-विकास के द्वारा कोई भी भव्यात्मा प्राप्त कर सकती है। जिनेश्वर पद प्राप्त करने वाली अनन्त आत्माएँ भूतकाल में हो चुकी और भविष्य में होती रहेंगी। काल-दोष से हमारे क्षेत्र में इस समय कोई अरिहंत परमात्मा नहीं है। किन्तु महाविदेह क्षेत्र में अभी भी विद्यमान हैं। वहाँ सदाकाल विद्यमान रहते हैं। तीर्थकरत्व प्राप्त करने वाली आत्माओं की साधना पूर्व-भवों से ही चालू हो जाती है। पूर्व के कितने ही भवों की आराधना का परिणाम अंतिम मनुष्य भव में प्रकट होता है और वे लोकनाथ तीर्थकर भगवान् होकर भव्य प्राणियों के लिए आधार-भूत होते हैं। जिन विशिष्ट सद्गुणों को आत्मा में स्थान देने से यह लोकोत्तर पद प्राप्त होता है, वे आगे वताये जा रहेहैं।

तीर्थंकरत्व प्राप्ति के कारण

'जन' से 'जैन' और जैन से 'जिनेश्वर' होते हैं। साधारण जन संसार-लक्षी होते हैं। जन-साधारण में से जिनकी दृष्टि मोक्ष की ओर लगती है और जो हेयोपादेय को समझ लेते हैं, वे जैन होते हैं। जो जैन हैं, उनमें से ही कोई भव्यात्मा मोक्ष के कारणभूत उत्तम अवलम्बनों को, प्रशस्त राग की तीव्रता के साथ अपनाते हैं, वे जिनेश्वर होते हैं। जिनेश्वर (तीर्थंकर) पद प्राप्ति के वीस कारण इस प्रकार है—

(१) अरिहंत भगवान् की भक्ति, उनके गुणों का चिन्तन और आज्ञा का पालन करते रहने से उत्कृष्ट रस जमे तो तीर्थकर नामकर्म का वंध होता है।

(२) सिद्ध भगवान् की भक्ति और उनके गुणों का चिन्तन करने से।

(३) निर्ग्रंथ-प्रवचन रूप श्रुतज्ञान में अनन्य उपयोग रखने से।

(४) गुरु महाराज की भक्ति, आहारादि द्वारा सेवा, उनके गुणों का प्रकाश करने एवं आशातना टालने से।

(५) जाति-स्थविर (६० वर्ष की वयवाले) श्रुत-स्थविर (स्थानांग और समावयांग के धारक) प्रव्रज्या-स्थविर (२० वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले) की भक्ति करने से।

(६) वहुश्रुत (सूत्र, अर्थ और तदुभय युक्त) मुनिराज की भक्ति करने से।

(७) तपस्वी मुनिराज की भक्ति करने से।

(८) ज्ञान की निरन्तर आराधना करते रहने से।

(९) सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करने से ।
(१०) गुणज्ञ रत्नाधिकों का तथा ज्ञानादि का विनय करने से ।
(११) उभयकाल भावपूर्वक षडावश्यक (प्रतिक्रमण) करते रहने से ।
(१२) मूलगुण और उत्तरगुणों का निर्दोष रीति से शुद्धतापूर्वक पालन करने से ।
(१३) सदा संवेग भाव रखने से अर्थात् शुभध्यान करते रहने से ।
(१४) तपस्या करते रहने से ।
(१५) भक्तिपूर्वक सुपात्र दान देने से ।
(१६) आचार्यादि दस की वैयावृत्य करने से ।
(१७) सेवा तथा मिष्ट-भाषणादि के द्वारा गुर्वादि को प्रसन्न रखने से और स्वयं समाधिभाव में रहने से ।
(१८) नवीन ज्ञान का अभ्यास करते रहने से ।
(१९) श्रुतज्ञान की भक्ति तथा बहुमान करने से ।
(२०) प्रवचन की प्रभावना करने से (धर्म का प्रचार करने से)।

(ज्ञाताधर्मकथांग ८)

उपरोक्त बीस स्थानों की उत्कृष्टतापूर्वक आराधना करने से तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध होता है । इस बन्ध के उदय वाले महापुरुष, तीर्थंकर बन कर मोक्षमार्ग का प्रवर्त्तन करते हुए भव्यजीवों का कल्याण करते हैं ।

इन स्थानों की आराधना, साधु ही नहीं श्रमणोपासक भी कर सकते हैं, इतना ही नहीं चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत-सम्यग्दृष्टि श्रावक भी बहुत-से बोलों की आराधना करके, तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लेते हैं ।

साधक की साधना का लक्ष्य तो केवल निर्जरा का ही होना चाहिए । उसके मन में तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्ध की भावना नहीं रहनी चाहिए । क्योंकि यह भी है तो बन्ध ही । साधक का लक्ष्य यदि बंध का रहें, तो यह दृष्टि-विकार है । विकारी साधना का उत्तम फल कभी नहीं मिलता । मोक्ष के उद्देश्य से की जाती हुई साधना में शुभ भावों की तीव्रता से अपनेआप शुभकर्मो का बन्ध हो जाता है और शुभ-कर्मो में सर्वोत्तम प्रकृति तीर्थंकर नाम-कर्म की है ।

तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित (दृढ़नम) करके तीर्थंकर बनने वाले महापुरुष या तो वैमानिक देव का भव छोड़ कर मनुष्य होते हैं, या फिर प्रथम नरक से लगा कर तीसरी नरक तक से आकर मनुष्य होते हैं (भगवती १२–९ तथा पन्नवणा २०) वे वीरत्व प्रधान ऐसे उच्च क्षत्रिय-कुल में ही पुरुष रूप * में उत्पन्न

* भगवान् महावीर का ब्राह्मण कुल में, गर्भ में आना और मल्लिनाथजी का स्त्री-पर्याय में होना आश्चर्य रूप

होते हैं। जिन्होंने नरकायु का बन्ध करने के पश्चात् तीर्थंकर नाम-कर्म निकाचित किया है, वे ही तीसरी नरक तक जाते हैं और वहाँ से निकल कर मनुष्य होकर तीर्थंकरत्व प्राप्त करते हैं।

"समरथ को नहीं दोष गुसाई"—यह सिद्धांत जैन-दर्शन को मान्य नहीं। जिन्होंने जैसा कर्म किया, वैसा उसे भोगना पड़ता है। परिणति के अनुसार वन्ध होता है। जिसने अवश्यमेव भुगतने योग्य गाढ़रूप से निकाचित कर्म वाँध लिये हैं, उसे वे भुगतने ही पड़ते हैं। फिर भले ही वह आत्मा तीर्थंकर होने वाली ही क्यों न हो ?

चौदह महास्वप्न

जव महान् आत्माएँ गर्भ में आती है, तो अपने साथ निश्चित्तरूप से अवधिज्ञान साथ लेकर आती है और उसी समय उनका शुभ प्रभाव भी दिखाई देता है। यदि उस समय आसपास की अथवा देश की स्थिति विपम हो, तो सम हो जाती है और प्रतिकूल हो, तो अनुकूल हो जाती है। रोग, शोक, उपद्रव आदि शान्त होकर सर्वत्र प्रसन्नता का प्रसार होता है। जव वे विशुद्ध कुलोत्पन्न एवं विशुद्ध आचार-विचार सम्पन्न वीर माता के गर्भ में आते हैं, तो माता चौदह महास्वप्न देखती है। वे महास्वप्न इस प्रकार हैं।

१ सर्वांग सुन्दर गजराज (हाथी) २ वृषभ ३ सिंह ४ लक्ष्मी देवी ५ दो पुष्पमालाएँ ६ पूर्ण

माना गया है (स्थानांग १०) क्योंकि सामान्यतया ऐसा नहीं होता। इस प्रकार की आश्चर्यजनक घटनाएँ अनन्तकाल में कभी हो जाती है और इसका मूल कारण है-उन आत्माओं के साथ वैसे कर्मों का संयोग होना।

कोई तर्कवाज, स्त्री-पर्याय की पुरुप पर्याय के समान श्रेष्ठता वताने के लिए तर्क उपस्थित करते हैं कि-"यदि स्त्री का तीर्थंकर होना आश्चर्य के रूप में माना जाता है, तो कल से गधा भी तीर्थंकर हो जायगा और वह भी आश्चर्य-रूप में माना जा सकेगा ?" ऐसे महाशय, केवल सिद्धांत निरपेक्ष तर्क का सहारा लेते हैं, जो मात्र कुतर्क ही है। क्योंकि स्त्री का सिद्ध होना आश्चर्यजनक नहीं। आश्चर्यजनक है—सिद्ध होने वाली स्त्री का तीर्थंकर पद प्राप्त करना। गधा आदि तिर्यंच न तो सिद्ध हो सकते हैं, और न सर्वविरतिरूप साधुता का ही पालन कर सकते हैं। वे सहस्रार स्वर्ग से आगे जा ही नहीं सकते। फिर तीर्थंकर होने की तो वात ही कहाँ रही ? गधा तो दूर रहा, अकर्मभूमि का मनुष्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। तिर्यंचों, नारकों, देवों, असंज्ञियों और अकर्म-भूमिजों आदि में इस प्रकार की योग्यता होती ही नहीं। जिस प्रकार अजैन-संस्कृति में कच्छावतार, वराह अवतार आदि माना है, उस प्रकार जैनदर्शन असंभव में संभव नहीं मानता। स्त्रियाँ सिद्ध होती हैं, उनमें सिद्ध होने की योग्यता है, किन्तु तीर्थंकर होने की विशेप रूप से संभावना नहीं है। यह असंभव वात इसलिए कि अधिकांश ऐसा नहीं होता। अनन्त पुरुप तीर्थंकरों में कभी (अनन्त काल में) एक स्त्री तीर्थंकर होजाय, तो वह आश्चर्यरूप मानी जाती है। जिस प्रकार स्त्री-पर्याय पलट कर उसी भव में सर्वथा पुरुप बन जाना आश्चर्य रूप है, उसी प्रकार यह भी समझना चाहिए।

चन्द्र ७ सूर्य ८ ध्वजा ९ पूर्ण कलश १० पद्म सरोवर ११ क्षीर समुद्र १२ देव विमान १३ रत्नों का ढेर और १४ निर्धूम अग्नि ।

जो तीर्थंकर नरक से आते हैं, उनकी माता बारहवें स्वप्न में देव विमान नहीं, किन्तु 'भवन' देखती है ।

(भगवती १६–६ तथा कल्पसूत्र)

ये स्वप्न उत्तम हैं । आगमों में इन्हें 'महास्वप्न' बतलाये हैं । जिस मातेश्वरी को ये चौदह स्वप्न आते हैं, वह या तो चक्रवर्ती सम्राट की माता होती है, या फिर धर्म-चक्रवर्ती–तीर्थंकर भगवंत को जन्म देती है । संसार का राज्य करने वाले चक्रवर्ती की माता, कुछ धुंधले स्वप्न देखती है, तब धर्म-चक्रवर्ती=जिनेश्वरदेव की माता स्पष्ट एवं प्रकाशमान् स्वप्न देखती है । भगवान् के गर्भ में आते ही माता-पिता के सुख, सौभाग्य, सम्पत्ति और सम्मान की वृद्धि होने लगती है ।

जन्मोत्सव

जब गर्भकाल पूर्ण होता है और तीर्थंकर का जन्म होता है, तब विश्वभर में प्रकाश होता है । उस समय रात्रि का अन्धकार भी थोड़ी देर के लिए दूर हो जाता है । विश्व प्रकाशक–विश्वदेव के अवतरण से विश्व का द्रव्य-अन्धकार भी थोड़ी देर के लिए दूर हो जाय, तो उसमें क्या बड़ी बात है ? जहाँ सदैव अन्धकार ही अन्धकार रहता है, ऐसे नरकों में भी उस समय प्रकाश फैल जाता है (ठाणांग ३–१) और निरन्तर दुःख, शोक एवं क्लेश में रह कर भयंकर कष्टों को सहन करते रहने वाले नारक, कुछ देर के लिए शान्ति का अनुभव करते हैं ।

भगवान् के जन्मोत्सव का वर्णन "जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति" सूत्र के पाँचवें वक्षस्कार में विस्तार से दिया गया है । यहाँ उस अधिकार को संक्षेप में दिया जा रहा है ।

जब भावी जिनेश्वर भगवान् का जन्म होता है, तब अधोलोक–अर्थात् चार 'गजदंता' पर्वतों के नौ सौ योजन से नीचे रहने वाली भवनपति जाति की महान् ऋद्धिशाली और अपने-अपने भवन की स्वामिनी ऐसी आठ दिशाकुमारियों का आसन चलायमान होता है । इसके पहले वे अपने अधीनस्थ देव देवियों के साथ आमोद-प्रमोद करती हुई मस्त रहती हैं । किन्तु जब उनका आसन चलायमान होता है, तब वे एकदम स्तब्ध हो जाती है और आसन चलित होने का कारण जानने के लिए वे 'अवधि' का प्रयोग करती हैं । अवधि के उपयोग से भगवान् का जन्म होना जान कर प्रसन्न होती हैं और तत्काल एक दूसरी को बुलाकर कहती हैं कि–

"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में तीर्थंकर भगवान् का जन्म हुआ है । हम दिशाकुमारियों का कर्त्तव्य

है कि जिनेश्वर भगवान् के जन्म का महोत्सव करें। भूतकाल में जितनी दिशाकुमारियें हुई; उन सभी ने उस समय जन्म लिए भगवंतों का जन्मोत्सव किया है। भविष्य में होने वाली भी करेंगी और हमें भी करना चाहिए"। इस प्रकार कह कर वे अपने-अपने आज्ञाकारी देवों को आज्ञा देकर तय्यारी करवाती हैं। आज्ञाकारी देव अपनी-अपनी वैक्रेय-शक्ति द्वारा एक योजन के विस्तार वाले अत्यन्त सुन्दर विमान का निर्माण करते हैं और उस विमान में प्रत्येक दिशाकुमारी अपने परिवार के देव-देवियों तथा संगीत एवं वाद्य सामग्री सहित विमान में बैठती हैं और शीघ्र-गति से तीर्थंकर भगवान् के जन्म-स्थान पर आती हैं। वहाँ पहुँचते ही पहले तो विमान में रही हुई ही भगवान् के जन्म-भवन की तीन बार प्रदक्षिणा करती हैं, उसके वाद विमान को एकांत स्थान में पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर रख कर अपने परिवार सहित नीचे उतरती हैं और गाजे-बाजे तथा संगीत के साथ जन्म-स्थान में प्रवेश कर, भावी जिनेश्वर तथा माता को प्रदक्षिणा देकर प्रणाम करती हैं और माता की स्तुति करती हुई कहती हैं कि—

"हे रत्न कुक्षिधारिणी, हे विश्व को महान् प्रकाशक प्रदान करनेवाली महामाता! तु धन्य है। अम्बे! तूने, परम मंगलकर्त्ता, विश्ववत्सल, विश्वहितंकर, परमज्ञानी, मोक्षमार्गप्रदर्शक, धर्मनायक, लोकनाथ एवं जगत्चक्षु जिनेश्वर भगवंत को जन्म देकर विश्व के लिए अलौकिक आधार उपस्थित किया है"।

"महामाता! तू धन्य है, महान् पुण्यशालिनी है। तू कृतार्थ है। हे माता! हम अधोलोक निवासिनी दिशाकुमारियाँ भगवान् का जन्मोत्सव करने आई हैं। अब हम जन्मोत्सव करेंगी। आप हमें अपरिचिता देख कर डरें नहीं"।

इसके वाद वे वैक्रिय-समुद्‌घात करके सुगन्धित वायु उत्पन्न करती हैं और जन्म-स्थान के आसपास एक योजन तक के काँटे, कचरे तथा अशुचि पदार्थों को उड़ा कर दूर एक ओर डाल देती हैं। इसके वाद वे माता और भगवान् के निकट आकर मंगल गान करती हुई खड़ी रहती हैं।

इसी प्रकार ऊर्ध्व लोक में रहने वाली आठ दिग्कुमारियाँ आती हैं और माता तथा भगवान् की स्तुति करने के वाद सुगन्धित जल की वर्षा करके वहाँ की धूल को दवा देती हैं। पुष्पों की वर्षा और सुगन्धित धूप से सारे वायुमण्डल को सुगन्धित करके देवों और इन्द्र के आने योग्य बना देती हैं। इसके वाद वे जन्म-स्थान पर आकर मंगल गान गाती रहती हैं।

पूर्व दिशा के रूचक पर्वत पर रहने वाली आठ दिग्कुमारियाँ भी उसी प्रकार आकर हाथ में दर्पण लेकर मंगल गान करती हुई खड़ी रहती हैं।

दक्षिण के रूचक कूट पर रहने वाली आठ दिशाकुमारियाँ भी उसी प्रकार वन्दनादि करके, जलकलश लेकर गायन करने लगती हैं।

पश्चिम रूचक की आठ दिशाकुमारियाँ हाथ में पंखा लेकर हवा करती हुई गायन करती हैं।

उत्तर रूचक की आठ दिशाकुमारियाँ चामर ढुलाती हुई गाती हैं।

रूचक की चार विदिशाओं की चार कुमारियाँ हाथ में दीपक लेकर मधुर संगीत करती हैं।

मध्य रूचक की चार दिशाकुमारियें नमस्कार करने के वाद भगवान् की नाभि-नाल, चार अंगुल रख कर वाकी का छेदन करती हैं और उसे भूमि में गाड़ कर, रत्नों से उस खड्डे को भर देती हैं और उसके ऊपर एक पीठ वना देती हैं। इसके वाद वैक्रिय द्वारा तीन दिशाओं में तीन कदली घर वनाती हैं। प्रत्येक कदलीघर में चौशाल वना कर मध्य में एक सिंहासन रखती हैं। इसके वाद एक देवी, तीर्थंकर भगवान् को अपने हाथों में उठाती है और अन्य देवियें माता का हाथ पकड़ कर दक्षिण दिशा के कदलीघर में लाती हैं। उन्हें सिंहासन पर विठा कर शतपाक, सहस्रपाक तैल से शरीर का मर्दन करती हैं। इसके वाद सुगन्धित वस्तुओं से उवटन करती हैं। इसके वाद उन्हें पूर्व के कदलीघर में लाती है और सुगन्धित जल से स्नान करवा कर वस्त्राभूषण से सुसज्जित करती हैं। इसके वाद उत्तर दिशा के कदलीघर में ला कर सिंहासन पर विठाती हैं। इसके वाद अपने सेवक देवों द्वारा चूल्लहिमवंत तथा वर्षधर पर्वतों से गोशीर्ष चन्दन मँगवा कर उनसे तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों से हवन करती हैं, और उस सुगन्धित राख से रक्षापोट्टलिका वाँध कर भूतिकर्म करती हैं। इसके वाद भगवान् को शुभाशीष देती हैं और उन्हें माता सहित ला कर उनकी शय्या पर सुलाती हैं तथा खुद मंगल गान गाती हैं।

उधर प्रथम स्वर्ग के अधिपति और वत्तीस लाख विमानों के स्वामी देवेन्द्र—देवराज शक्र का भी आसन चलायमान होता है। वे भी भगवान् का जन्म जान कर प्रसन्न होते हैं। वे तत्काल सिंहासन से नीचे उतरते हैं और पगरखी उतार कर तथा उत्तरासंग करके सात-आठ पाँवड़े उस दिशा की ओर चलकर नीचे वैठते हैं। दाहिने घुटने को नीचा टिकाकर, वायें घुटने को ऊपर करके, दोनों हाथ जोड़ कर और मस्तक झुकाये हुए भगवान् की स्तुति करते हैं। नमस्कार करने के वाद वे उठते हैं और अपने आज्ञाकारी 'हरिणगमेषी' देव को आज्ञा देते हैं कि—

"तुम अपनी 'सुघोषा' घंटा वजा कर उद्घोषणा करो कि—'शक्रेन्द्र, सपरिवार जिनेश्वर भगवंत का जन्माभिषेक करने के लिए भरत-क्षेत्र जाना चाहते हैं। अतएव देव-देवियें अपनी ऋद्धि एवं परिवार सहित सज-धज कर उपस्थित होवें"।

सुघोषा घंटा के द्वारा इन्द्र की आज्ञा—असंख्यात योजन प्रमाण आकाश-प्रदेश में रहे हुए ३१९९९९९ विमानों के देवों तक पहुँचती है और वे सज-धज के साथ शक्रेन्द्र के पास आते हैं। उनमें से कुछ तो तीर्थंकर भगवान् को वन्दना नमस्कार एवं दर्शन करने की भावना से आते हैं और कुछ शक्रेन्द्र की आज्ञा के आधीन हो कर आते हैं। कई मात्र कुतूहल वश, कई भक्ति-राग वश होकर, कई पुरातन आचार पालने के लिए और कई एक दूसरे का अनुकरण करते हुए आते हैं।

शक्रेन्द्र अपने आज्ञाकारी देव द्वारा, एक लाख योजन विस्तार वाला एक महाविमान, देवशक्ति से तय्यार करवाता है। उस सुन्दरतम महाविमान के मध्य में सर्वोच्च सिंहासन पर शक्रेन्द्र बैठता है। आस-पास समान ऋद्धिवाले देवों, इन्द्रानियों आदि के लाखों सिंहासन होते हैं, जिन पर वे सब बैठ जाते हैं। इसके अतिरिक्त गाने-बजाने वाले और नृत्य करने वाले देव भी साथ होते हैं। फिर वह विमान शीघ्र गति से चलता है। असंख्य द्वीप-समुद्र को लांघते हुए वह विमान नन्दीश्वर द्वीप के आग्नेय-कोण में स्थित रतिकर पर्वत पर आता है। यहाँ विमान को संकुचित (छोटा) बनाया जाता है और वहाँ से चलकर जन्म-स्थान पर विमान आता है। जन्म-स्थान की तीन बार परिक्रमा करके विमान एक ओर पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर ठहरा कर, शक्रेन्द्र परिवार सहित नीचे उतरता है और भगवान् तथा जननी को वन्दना-नमस्कार करके अपना परिचय देता है।

इसके बाद माता को निद्राधीन करके, उनके पास भगवान् का तद्रूप बना कर रखता है। फिर शक्रेन्द्र, दिव्य शक्ति से अपने पाँच रूप बनाता है। एक रूप भगवान् को अपनी हथेलियों में उठाता है, एक पीछे रह कर छत्र धारण करता है, दो रूप दोनों ओर चामर डुलाते हैं और एक रूप हाथ में वज्र लेकर आगे चलता है। फिर भवनपति व्यंतर आदि देवों के साथ, भगवान् को लेकर मेरु पर्वत के पंडक वन में आता है और अभिषेक शिला पर रहे हुए अभिषेक सिंहासन पर भगवान् को पूर्व की ओर मुंह करके बिठाता है।

जिस प्रकार शक्रेन्द्र आता है, उसी प्रकार अन्य ग्यारह देवलोक के नौ इन्द्र भी आते हैं और भवनपति, व्यन्तर तथा ज्योतिषी के इन्द्र भी आते हैं। कुल चौंसठ इन्द्र हैं, जैसे कि—

वैमानिक के दस इन्द्र—प्रथम आठ देवलोक के ८, नौवें-दसवें का १ और ग्यारहवें-बारहवें का १।

भवनपति के बीस इन्द्र—१ असुरकुमार २ नागकुमार ३ सुवर्णकुमार ४ विद्युत्कुमार ५ अग्निकुमार ६ द्वीपकुमार ७ उदधिकुमार ८ दिशाकुमार ९ वायुकुमार और १० स्तनितकुमार। इन दस के उत्तरदिशा के दस इन्द्र और दक्षिण दिशा के दस इन्द्र।

व्यन्तर के बत्तीस इन्द्र—१ पिशाच २ भूत ३ यक्ष ४ राक्षस ५ किन्नर ६ किंपुरुष ७ महोरग और ८ गंधर्व, इन ८ के दक्षिण तथा उत्तर के १६ इन्द्र, तथा १ आणपन्निक २ पाणपन्निक ३ ऋषिवादी ४ भूतवादी ५ कंदित ६ महाकंदित ७ कोमंड और ८ पतंग। इन आठ के १६, यों कुल ३२ इन्द्र।

ज्योतिषी के दो इन्द्र—१ चन्द्रमा और २ सूर्य।

ये कुल चौंसठ इन्द्र हैं। इनमें से शक्रेन्द्र भगवान् के जन्म-स्थान पर आते हैं और शेष ६३ इन्द्र सीधे मेरु पर्वत पर ही आते हैं। इन सब में अच्युतेन्द्र (ग्यारहवें, बारहवें स्वर्ग का अधिपति) सबसे बड़ा और महान् ऋद्धिशाली है। वह अपने आज्ञाकारी देवों को आज्ञा दे कर अभिषेक की समस्त सामग्री मंगवाता है। आज्ञाकारी देव सोने, चाँदी और रत्नादि के कलशों में विविध जलाशयों का

शुद्ध एवं सुगन्धित जल लाते हैं। विविध प्रकार के सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्प, चन्दन, वस्त्राभूषणादि अनेक सामग्री लाते हैं। वह स्थान देवताओं और देवांगनाओं से भरजाता है और इस प्रकार सज्जित हो जाता है, मानो सभी प्रकार की उत्तमोत्तम सामग्रियों का एक विशाल बाजार अथवा प्रदर्शनी ही लगी हो।

उस उत्तमोत्तम सामग्री से अच्युतेन्द्र अभिषेक करना प्रारम्भ करता है। उस समय भगवान् को शक्रेन्द्र अपनी गोदी में लेकर सिंहासन पर बैठता है और अच्युतेन्द्र जलाभिषेक करता है। इधर सभी देव उत्सव मनाने में लगते हैं। कई वादिन्त्र बजाते हैं, अनेक गायन करते हैं, कितने ही देव नृत्य करते हैं, कुछ अभिनय (नाटक) करते हैं। कई देव, उछलते, कूदते, कुश्ती लड़ते, सिंहनाद करते और गर्जनादि अनेक प्रकार के शब्द करते हैं। कोई बिजली चमकाते और मंद-मंद वर्षा करते हैं। यों अनेक प्रकार से हर्ष व्यक्त करते हुए जन्म-महोत्सव करते हैं।

अच्युतेन्द्र, जलादि अभिषेक करते हुए भगवान् का जय जयकार करते हैं। अभिषेक हो जाने के बाद भगवान् के शरीर को उत्तम सुगन्धित एवं कोमल वस्त्र से पोंछते हैं, फिर वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित करते हैं, तदुपरान्त नृत्य करते हैं। नृत्य करने के बाद भगवान् के संमुख आठ मंगल चिन्हों का आलेखन करते हैं, जो इस प्रकार हैं,—

१ दर्पण २ भद्रासन ३ वर्द्धमानक (शरावला) ४ श्रेष्ठ कलश ५ मत्स्य ६ श्रीवत्स (एक प्रकार का स्वस्तिक) ७ स्वस्तिक (साथिया) और ८ नन्दावर्त (नौ कोण वाला स्वस्तिक)।

इसके बाद विविध वर्ण के उत्तम सुगन्धित पुष्पों के ढेर करते हैं और सुगन्धित पदार्थों का धूप करते हैं। इसके बाद सात-आठ कदम पीछे हटकर हाथ जोड़ कर और सिर झुका कर १०८ शुद्ध एवं महान् श्लोकों से स्तुति करते हैं। इसके बाद बाँये घुटने को खड़ा करके और दाहिना घुटना नीचे टिका कर इस प्रकार स्तुति करते हैं,—

"हे सिद्ध, बुद्ध, कर्मरज रहित, श्रमणवर! आपको नमस्कार है। हे शांति के सागर, हे कृतार्थ, हे परम आप्त, हे परम योगी! आपके चरणों में मेरा बारबार नमस्कार है। हे त्रिशल्यनाशक, परम निर्भय, वीतराग! श्री चरणों में मेरा भक्तियुक्त प्रणाम है। हे निर्मोही, सर्व संगातीत, निरभिमानी एवं सर्वोत्तम चारित्र के सागर, सर्वज्ञ प्रभो! मैं आपको हृदयपूर्वक वन्दना करता हूँ। हे अप्रमेय, भव्य, धर्मचक्रवर्ती अरिहंत भगवान्! आपके चरण-कमलों में मेरा बहुमानपूर्वक नमस्कार हो"।

इस प्रकार पुनः स्तुति वन्दना और नमस्कार करके उचित स्थान पर बैठते हैं।

अच्युतेन्द्र के बैठने के बाद नौवें और दसवें स्वर्ग के अधिपति 'प्राणतेन्द्र' भी उसी प्रकार

अभिषेक करते हैं। उसके वाद सहस्रारेन्द्र, यों उतरते-उतरते दूसरे स्वर्ग के ईशानेन्द्र अभिषेक करते हैं। फिर भवनपति के २० इन्द्र, व्यन्तर के ३२ इन्द्र और ज्योतिषी के २ इन्द्र, यों ६३ इन्द्रों द्वारा अभिषेक हो जाने के वाद शक्रेन्द्र की वारी आती है। उस समय ईशानेन्द्र अपने पाँच रूप वनाकर एक रूप से भगवान् को अपनी गोदी में लेकर सिंहासन पर बैठता है। एक छत्र धारण करके पीछे खड़ा रहता है। दो रूप से दोनों ओर चामर विंजाते हैं और एक वज्र ले कर खड़ा रहता है।

शक्रेन्द्र का अभिषेक कुछ भिन्न प्रकार का होता है। वह देवशक्ति से उत्तम वृषभ (वैल) के अपने चार रूप वनाता है और भगवान् के चारों ओर खड़ा रह कर अपने आठ सींगों से स्वच्छ एवं सुगन्धित जल की अनेक धाराएँ (फव्वारे की तरह) छोड़ता है। वे जल धाराएँ ऊँची जा कर और एक रूप होकर भगवान् के मस्तक पर पड़ती हैं। शेष सभी क्रिया अच्युतेन्द्र जैसी ही होती है।

जन्माभिषेक सम्पन्न होजाने के वाद शक्रेन्द्र पूर्व की तरह पुनः पाँच रूप धारण करता है और भगवान् को लेकर जन्म-स्थान पर आता है। अन्य ६३ इन्द्र वहीं से सीधे अपने-अपने स्थान लौट जाते हैं। भगवान् को जन्म-स्थान पर लाने के वाद शक्रेन्द्र, भगवान् का प्रतिरूप हटा कर उन्हें माता के पास सुलाते हैं और माता को निद्रा मुक्त करते हैं।

इसके वाद शक्रेन्द्र, भगवान् के सिरहाने क्षोम युगल (उत्तम वस्त्र का जोड़ा) और रत्न जड़ित कुंडल जोड़ी रखता है। फिर स्वर्ण पर रत्न जड़ित और अनेक प्रकार की मालाओं से वेष्टित एक "श्रीदामगंड" (गेंद) भगवान् की दृष्टि के संमुख रखते हैं। भगवान् उस प्रकाशमान् श्रीदामगंड को देखते और क्रीड़ा करते हुए माता के पास सोते रहते हैं।

शक्रेन्द्र की आज्ञा से वैश्रमण देव, ३२ करोड़ चाँदी के सिक्के, ३२ करोड़ सोने के सिक्के, ३२ सुन्दर नन्दासन और ३२ उत्तम भद्रासनों का (जो अन्यत्र वैसे ही पड़े हों) साहरन करके भगवान् के जन्म-भवन में रखते हैं। इसके वाद शक्रेन्द्र की आज्ञा से यह उद्घोषणा होती है कि—

"यदि किसी देव अथवा देवी ने, तीर्थंकर भगवान् और उनकी मातेश्वरी के विषय में अनिष्ट चिंतन किया, तो उसका सिर तालवृक्ष की मंजरी की तरह तोड़ कर चूर्ण कर दिया जायगा।"

इसके वाद सभी देव वहाँ से चल कर नन्दीश्वर द्वीप आते हैं और वहाँ अष्टान्हिका महोत्सव करने के वाद अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।　　　　(जम्वूद्वीपप्रज्ञप्ति—५)

इन्द्रों द्वारा जन्मोत्सव होने के वाद तीर्थंकर भगवान् के पिता नरेन्द्र द्वारा जन्मोत्सव मनाया जाता है।

तीर्थंकर भगवान् के जन्म होने की वधाई लेकर जाने वाली दासी, नरेश को प्रणाम करके उनका जय-जयकार करती है और जन्म की वधाई देती है। नरेन्द्र के हर्ष का पार नहीं रहता। वे उसी समय उठ कर दासी का आदर सत्कार करते हैं और उसे दासत्व से मुक्त करके, इतना पारितोषिक देते हैं कि

जिससे उसके पुत्र पौत्रादि भी सुखपूर्वक जीवन विता सके। वे अपना मुकुट छोड़ कर शेष वहुमूल्य आभूपण भी प्रदान कर देते हैं।

इसके वाद नगर-रक्षक को आज्ञा देकर नगर को साफ कराया जाता है। फिर पानी का छिटकाव होता है। शहर में सर्वत्र लिपाई-पुताई होती है। द्वार-द्वार पर तोरण और ध्वजाएँ लगती हैं। वन्दनवार लगाये जाते हैं। स्थान-स्थान पर मण्डप वनाये जाते हैं। उन्हें ध्वजा, पताका, पुप्पमाला तथा स्वर्णजड़ित वितान (चंदोवा) से सजाया जाता है। मार्ग पर पुष्प विखेरे जाते हैं। कहीं कहीं पुष्पों के ढेर लगाये जाते हैं। सुगन्धित धूपों से सारा वायुमण्डल सुगन्धित किया जाता है। मण्डपों में अनेक प्रकार के कर्णप्रिय वादिन्त्र वजाये जाते हैं। संगीत-मण्डलियाँ सुरीले राग से गायन करती हैं। नृत्यांगनाएँ नृत्य करती हैं। नट लोग, नाटक करते हैं। मल्लयुद्ध (पहलवानों की कुश्तियाँ) करते हैं। विदूपक लोग भांडचेष्टादि से लोगों में हास्य रस का संचार करते हैं। कहीं कविता-पाठ होता है, तो कहीं रास-मण्डली जमती है। इस प्रकार सर्वत्र हर्षानन्द की वाढ़-सी आ जाती है।

दूसरी ओर नरेश की आज्ञा से कारागृह खुल जाते हैं और सभी वंदी मुक्त कर दिए जाते हैं। नगर की जनता की ओर से चलने वाली दानशालाएँ वंद करके राज्य की ओर से दानशाला चलाई जाती है। सभी प्रकार का 'कर' माफ कर दिया जाता है। जनता के लाभ के लिये तोल-नाप में वृद्धि की जाती है। क्रय-विक्रय वंद करवा कर राज्य से जनता को इच्छित वस्तुएँ दी जाती हैं। प्रजा का ऋण राज्य की ओर से चुका दिया जाता है और दस दिन तक राज्य की ओर से जव्ती और सख्ती वंद कर दी जाती है। नरेन्द्र स्वयं सिंहासनारूढ़ होकर अन्य राजाओं, जागीरदारों, अधिकारियों तथा श्रेप्ठजनों से भेंट स्वीकार करते हैं और याचकों को लाखों का दान भी करते हैं।

जन्म के प्रथम दिन जातकर्म, दूसरे दिन जागरण और तीसरे दिन चन्द्र-सूर्य का दर्शन कराया जाता है। वारहवें दिन सभी सम्वन्धियों, ज्ञातिजनों, राजाओं, जागीरदारों, अधिकारियों, सेठों आदि को एक महान् प्रीति-भोज दिया जाता है और उसके वाद उस वृहद् सभा के समक्ष भगवान् का नामकरण किया जाता है। इसके वाद भगवान् का पाँच धात्रियों से पालन पोपण होना है।

पाँच धात्रियें इस प्रकार होती है—

१ क्षीर धात्री—स्तनपान कराने वाली।
२ मज्जन धात्री—स्नानादि कराने वाली।
३ मंडन धात्री—शृंगार कराने वाली।
४ खेलन धात्री—क्रीड़ा कराने वाली।
५ अंक धात्री—गोदी में उठा कर फिरने वाली।

उपरोक्त पाँच धात्रियों तथा अन्य अनेक दास-दासियों के द्वारा मातेश्वरी की देखरेख में पालन-पोषण होता है।

जब तीर्थंकर भगवान् बालवय को पार कर यौवनावस्था को प्राप्त करते हैं, तब जिनके पुरुषवेद का भोगावली कर्म उदयस्थ होता है, उनका योग्य राजकन्या के साथ लग्न होता है। संतान भी होती है और जिनके वैसा योग नहीं होता, वे बालब्रह्मचारी भी रहते हैं। कोई राजऋद्धि भोगकर प्रव्रजित होते हैं, तो कोई युवराज अवस्था में ही संसार त्याग देते हैं।

वर्षी-दान

जब भगवान् के संसार-त्याग का समय निकट आता है, तो उसके एक वर्ष पूर्व ही उनके मन में वर्षीदान देने की भावना जाग्रत होती है। भगवान् की उस भावना से इन्द्र प्रभावित होता है और अपने आज्ञाकारी वैश्रमण देव के द्वारा तीर्थंकर भगवान् के खजाने में तीन अरब अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्णमुद्राएँ पहुँचाई जाती हैं। यह धन ऐसा होता है कि जिसका कोई अधिकारी नहीं रहा हो और यों ही भूमि में गड़ा हुआ पड़ा हो।

भगवान् प्रातःकाल से ले कर एक प्रहर दिन चढ़े, वहाँ तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में कुल तीन अरब अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख सोनैये दान में देते हैं। उधर भगवान् के पिता भी दानशाला स्थापित करके याचकों को अशनादि दान देना प्रारम्भ कर देते हैं।

देवों द्वारा उद्बोधन

वर्षीदान दे चुकने के बाद भगवान् संसार त्याग कर दीक्षा लेने का विचार करते हैं, तब ब्रह्म-देवलोक के तीसरे प्रतर में और कृष्णराजियों के मध्य लोकान्तिक विमानों में रहने वाले नौ प्रकार के लोकान्तिक देव अपने जीताचार के कारण प्रभु के समीप आते हैं और जय-जयकार करते हुए निवेदन करते हैं कि—

"हे जगदुद्धारक, हे विश्ववत्सल प्रभो! अब समय आ गया है। भव्य जीवों के हित के लिए अब तीर्थ-प्रवर्त्तन कीजिए।"

इस प्रकार अपने आचार के अनुसार भगवान् को उद्बोधित करके अपने देवस्थान लौट जाते हैं।

दीक्षा महोत्सव

इसके बाद भगवान् संसार त्याग कर प्रव्रजित होने की अनुमति माँगते हैं। माता-पिता तो पहले से ही जानते हैं कि यह विश्व-विभूति घर में रहने वाली नहीं है। वे अनुमति प्रदान कर देते हैं और प्रभु का महाभिनिष्क्रमण महोत्सव प्रारम्भ करते हैं। उधर चौसठ इन्द्र आते हैं और भगवान् का दीक्षा महोत्सव बड़ी धूमधाम से करते हैं।

दीक्षा के समय भगवान् के प्रायः तपस्या होती है। कोई तेले के तप के साथ प्रव्रजित होते हैं तो कोई बेले के तप के साथ संसार का त्याग करते हैं। संसार का त्याग करते समय भगवान् अपने वस्त्राभूषण उतार देते हैं, तब शक्रेन्द्र एक दिव्य वस्त्र भगवान् के कन्धे पर रख देता है। जब भगवान् पंचमुष्टि लोच करके दीक्षा की प्रतिज्ञा करने लगते हैं, तब शक्रेन्द्र की आज्ञा से सभी वादिन्त्र और गाना-बजाना बंद कर दिया जाता है और सभी मनुष्य स्तब्ध हो कर खड़े रहते हैं। उस समय भगवान्, सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके अपनी गम्भीर वाणी में इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं;—

"मैं समस्त पापकर्म का सदा के लिए त्याग करता हूँ"।

इस प्रकार की प्रतिज्ञा से भगवान् 'सामायिक चारित्र' स्वीकार करते हैं। अप्रमत्त दशा में इस क्षयोपशमिक चारित्र की प्राप्ति के साथ ही भावों की विशुद्धि से उन्हें 'मनःपर्यव ज्ञान' प्राप्त हो जाता है। इस ज्ञान से वे ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मन के भाव जानते हैं। इसके बाद अपने मित्र, ज्ञाति, सम्बन्धी आदि जनों को विसर्जन करके, प्रतिज्ञा करते हैं कि—

"मेरी संयम साधना में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न होगा और कोई देव, मानव तथा तिर्यंच जीव मुझे घोरातिघोर उपसर्ग देगा, तो मैं उसे समभाव पूर्वक सहन करूंगा"।

जब तक भगवान् को केवलज्ञान नहीं होता, तब तक वे उपदेश नहीं देते। यदि कोई उनके साथ दीक्षा लेता है, तो ठीक, अन्यथा बाद में छद्मस्थ अवस्था में किसी को दीक्षित नहीं करते और एक शूर वीर एवं धीर की भाँति संयम में पराक्रम करते ही जाते हैं। संसार की कोई भी शक्ति उन्हें अपनी साधना से विचलित नहीं कर सकती।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी

साधना काल में तीर्थंकर भगवान् द्रव्य तीर्थंकर होते हैं। जब से उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का निकाचित (दृढ़) बंध किया, तब से वे द्रव्य तीर्थंकर माने जाते हैं। इसके बाद वह आत्मा उस

महान् एवं सर्वोत्तम शुभ बन्ध के फल की ओर अग्रसर होती है। पूर्वभव से प्रस्थान कर गर्भ में आना, माता को स्वप्न दर्शन, जन्म, जन्मोत्सव आदि सभी कार्य तीर्थंकरत्व प्राप्ति की ओर अग्रसर होने की स्थितियाँ है। संसार में रहते हुए जन्म, जन्मोत्सव, विवाह, राज्य-संचालनादि क्रियाएँ होती हैं, वे सब कर्मोदय से सम्बन्धित होने के कारण उदयभाव की क्रियाएँ हैं। तीर्थंकर पूर्वभव से लगा कर संसार त्याग के पूर्व तक गृहस्थावस्था में चौथे गुणस्थान में ही रहते हैं। इन्द्रों द्वारा जन्मोत्सव आदि होते हैं। यें क्रियाएँ भी सावद्य एवं आरम्भ युक्त होती है। तीर्थंकर भगवान् की गृहस्थावस्था, अन्य संसारी जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ, निष्कलंक एवं सर्वोत्तम होती है। इसलिए अन्य संसारियों के लिए भी वे आदर्श रूप होते हैं। इसके सिवाय यह निश्चित् होता है कि वे एक लोकोत्तम आत्मा है और इसी भव में भाव तीर्थंकर होंगे। इसलिए बाद की उस महान् अवस्था को लक्ष में रख कर उन्हें पहले से सर्वज्ञ, श्रमण, एवं वीतराग आदि विशेषण से विशेषित करके स्तुति की जाती है। यह भक्तिराग का कारण है। किन्तु वास्तविक तीर्थाधिपति तो वे बाद में होते हैं। जब उनका साधनाकाल पूर्ण होने के निकट आता है, तब वे महान् पुरुषार्थ से क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो कर मोहनीय आदि चारों घातक कर्मों को नष्ट कर देते हैं। उन्हें सर्वांग परिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। केवलज्ञान और केवलदर्शन ही ज्ञान-दर्शन की परिपूर्णता है। इसका परिचय देते हुए आगमों में बताया गया है कि—

"द्रव्य से केवलज्ञानी, लोकालोक के समस्त द्रव्यों को जानते देखते हैं। क्षेत्र से समस्त क्षेत्र को, काल से भूत, भविष्य और वर्तमान के तीनों काल—समस्तकाल और भाव से विश्व के समस्त भावों को जानते और देखते हैं"। (नन्दी सूत्र, भगवती ८–२)

"वह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, अव्याहृत, आवरण रहित, अनन्त और प्रधान होता है"। इससे वे सर्वज्ञ और समस्त भावों के प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। वे समस्त लोक के पर्याय जानते देखते हैं। गति, आगति, स्थिति, च्यवन, उपपात, खाना, पीना, करना, कराना, प्रकट, गुप्त, आदि समस्त भावों को प्रत्यक्ष जानते देखते हैं। (आचारांग २–१५ ज्ञाता ८)

यदि कोई शंका करे कि 'जिस प्रकार हम अपनी दो आँखों से देख कर ही जानते हैं, तथा कानों से सुनकर यावत् सूँघ, चख और स्पर्श करके ही जान सकते हैं, बिना इन्द्रियों की सहायता के नहीं जान सकते, इसी प्रकार केवलज्ञानी भी इन्द्रियों की सहायता से ही जान सकते होंगे,' तो इसके समाधान में आगमों में ही स्पष्ट किया गया है कि—

"केवलज्ञानी भगवान् का ज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष होता है। (नन्दी) वे पूर्व आदि सभी दिशाओं में सीमित और सीमातीत ऐसी सभी वस्तुओं को जानते देखते हैं। उनके ज्ञान-दर्शन पर किसी प्रकार का आवरण नहीं रहता"। (भगवती ५–४ तथा ६–१०)

"केवलज्ञानी भगवंत के जानने के लिए किसी दूसरे हेतु की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वयं विना किसी बाह्य हेतु के ही जानते देखते हैं।" (भगवती ५-७)

गांगेय अनगार भगवान् की परीक्षा करने के लिए आये थे। जब उन्हें विश्वास हो गया कि भगवान् केवलज्ञानी हैं, तो भी उन्होंने भगवान् से पूछा कि-

"ये सब बातें आप कैसे जानते हैं? आपने कहीं सुनी हैं-सुनकर जानते हैं, या विना सुने ही जानते हैं?" तब भगवान् फरमाते हैं कि-

"हे गांगेय! मैं स्वयं जानता हूं। मैं किसी दूसरे की सहायता से नहीं जानता। मैं विना सुने ही यह सब जानता हूं।"

तब गांगेय अनगार ने पूछा-"आप स्वयं, विना सुने कैसे जानते देखते हैं?"

"-गांगेय! केवलज्ञानी अरिहंत, समस्त लोक की परिमित और अपरिमित ऐसी सभी ज्ञेय बातें जानते देखते हैं।"

गांगेय अनगार को संतोष हुआ और उन्होंने शिष्यत्व स्वीकार किया। (भगवती ९-३२)

"केवलज्ञानी, अधोलोक में सातों नरक पृथ्वियों को, उर्ध्व लोक में सिद्धशिला तक और समस्त लोक तथा लोक में एक परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक को अर्थात् समस्त पदार्थों को जानते देखते हैं।" (भगवती १४-१०) और इसी प्रकार सम्पूर्ण अलोक को भी जानते हैं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन, आत्मा की वस्तु है। प्रत्येक आत्मा को उसे प्राप्त करने का अधिकार है। किसी अमुक अथवा विशिष्ठ व्यक्ति का ही इस पर एकाधिकार नहीं है। जो आत्मा सम्यग् पुरुपार्थ द्वारा आवरणों को हटाती जाती है, वह अंत में केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाती है।

यद्यपि सर्वज्ञता, आत्मा की ही वस्तु है, तथापि प्राप्ति सर्वसुलभ नहीं है। इसकी प्राप्ति मनुष्येतर प्राणियों को तो हो ही नहीं सकती, और मनुष्यों में भी सभी को नहीं हो सकती। किन्तु किसी समय किसी महान् आत्मा को ही होती है। जिस प्रकार हिमालय पर्वत पर चढ़ना सब के लिए शक्य नहीं है। संसार के अधिकांश मनुष्य तो हिमालय को जानते ही नहीं और जानने वालों में से अधिकांश मनुष्यों ने तो हिमालय पर चढ़ने का विचार ही नहीं किया। जिन्होंने विचार किया, उनमें से प्रयत्न करने वाले बहुत ही थोड़े निकले। उस प्रयत्न करने वालों में से कई मरमिटे और कई असफल होकर वापिस लौट आये। श्री तेनसिंग नेपाली और मि० हिलैरी न्यूजीलेंड निवासी ही सफल हुए। श्री तेनसिंग के अनुभव का सहारा लेकर अन्य व्यक्ति भी प्रयत्न कर रहे हैं। कैवल्य प्राप्ति के विषय में भी लगभग ऐसी ही बात है। संसार के अधिकांश लोगों को तो इसका बोध ही नहीं है। जिन्हें बोध है, तो प्रयत्न की मन्दता है। यदि कोई उग्र प्रयत्न करते हैं, तो साधनों की अनुकूलता नहीं है, इसलिए सफलता प्राप्त

नहीं होती। जिस प्रकार तेनसिंग और हिलैरी के पहले कितने ही काल तक कोई भी मनुष्य हिमालय पर नहीं चढ़ सका, उसी प्रकार इस हायमान काल में कोई भी व्यक्ति, ज्ञान के इस सर्वोच्च शिखर पर नहीं पहुँच सकता। जिस प्रकार हिमालय पर चढ़ने के लिए मि० हिलैरी को भारत आकर हिमालय * के निकट जाना पड़ा, उसी प्रकार महाविदेह क्षेत्र में के व्यक्ति ही सफल हो सकते हैं, क्योंकि वहाँ इसकी पूर्ण अनुकूलता है।

कुयुक्तियाँ बहुत हैं, और उनमें से कई प्रभावोत्पादक भी होती हैं। सर्वज्ञता के विरुद्ध भी अनेक कुतर्क खड़े हुए और हो रहे हैं। किंतु सिद्धांत-विघातक कुतर्कों की उपेक्षा करके हम सिद्धांत-साधक तर्कों पर विचार करेंगे, तो सम्यग् श्रद्धान को बल मिलेगा।

मनुष्यों में बहुत से ऐसे होते हैं कि जिन्हें अपनी मातृभाषा तथा अपने धन्धे का ज्ञान भी पूरा नहीं होता। ऐसे व्यक्ति थोड़े होते हैं-जिन्हें किसी एक भाषा या धन्धे का तलस्पर्शी ज्ञान हो। उसमें से कुछ इनेगिने व्यक्ति ही ऐसे होते हैं, जिन्हें अनेक भाषाओं और उद्योगों का आधिकारिक ज्ञान हो। इस स्थिति को समझने वाला यदि सम्यक् विचार करे, तो उसकी समझ में आ सकता है कि कोई ऐसी महान् आत्मा भी हो सकती है, जो संसार के समस्त भावों-सभी द्रव्यादि ज्ञेय-वस्तुओं का पूर्ण रूप से ज्ञाता हो। इस प्रकार के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महापुरुष महाविदेह को छोड़कर सर्वत्र और सदासर्वदा नहीं होते, कभी किसी क्षेत्र अथवा काल विशेष में ही होते हैं। जिस प्रकार एक सूर्य, विशाल क्षेत्र में अनन्त वस्तुओं को एक साथ प्रकाशित कर सकता है, उसी प्रकार एक सर्वज्ञ भी विश्व की अनन्तानन्त-समस्त वस्तुओं के त्रिकालज्ञ हो सकते हैं। आगम में भी सर्वज्ञ की उपमा देते हुए लिखा है कि-

"उग्गओ खीण-संसारो, सव्वण्णु जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्व लोयम्मि पाणिणं।। **(उत्तरा २३-७८)**

जब तक ग्रामोफोन, रेडियो, टेलिविजन, अणुबम आदि का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक जिनागमों में प्रतिपादित शब्द की पौद्गलिकता तथा स्पर्शादि गुण और तीव्रगति तथा परमाणु और स्कन्ध की शक्ति आदि पर कौन तार्किक विश्वास कर सकता था? श्री दयानन्द सरस्वती आदि ने तो इसे जैनियों की गप्प ही कह दिया था। किन्तु वही आज प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आधार रखने वाले व्यक्ति, सर्वज्ञता पर भी अविश्वास करें तो आश्चर्य नहीं।

हीरा एक खनिज (पृथ्वीकाय) पदार्थ है-पत्थर की जाति का है। पत्थर तो सर्वत्र पाये जाते हैं। इनमें से बहुत से ठोकरों में रुलते रहते हैं, बहुत से मकानों के उपयोग में आते हैं, उनसे भी मूल्यवान् पत्थर संगमरमर आदि के हैं। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते हीरा अधिक मूल्यवान् होता है।

* हिमालय का उदाहरण केवल समझने के लिए एकदेशीय ही समझा जाय।

हीरों में भी समान नहीं होते। सभी हीरों में अभी अकेला 'कोहेनूर' सर्वोत्तम माना गया है। आगे चल कर कभी इससे भी अधिक मूल्यवान् हीरा प्रकाश में आ सकता है। इसी प्रकार ज्ञान की भी तरतमता होती है और कोई ऐसा पूर्ण ज्ञानी भी होता है जो सभी ज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता हो अर्थात् ज्ञान की चरम सीमा पर पहुँच कर सर्वज्ञ हो गया हो। यदि ऐसा सर्वज्ञ पुरुष आज यहाँ नहीं है, तो यह नहीं मान लेना चाहिए कि पहले कभी था ही नहीं और भविष्य में भी नहीं हो सकेगा।

राग-द्वेष की तरतमता प्रत्यक्ष देखी जाती है। कई इतने अधिक क्रोधी होते हैं, जो वात की वात में आगववूला हो जाते हैं और मनुष्य को मौत के घाट उतार देते हैं या स्वयं आत्म-हत्या कर लेते हैं, तो कई ऐसे भी सहनशील होते हैं कि उत्तेजित होने के प्रवल प्रसंग उपस्थित होने पर भी उत्तेजित नहीं होते। इस प्रकार राग-द्वेष की तरतमता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। तरतमता में उग्रतमता है और मन्दतमता भी है। और मंदतमता है, तो कहीं न कहीं अभाव भी है। जिस महान् आत्मा में राग-द्वेष की कालिमा का सर्वथा अभाव होता है, वही पूर्ण वीतराग होते हैं। जिस प्रकार राग-द्वेष की तरतमता होती है, उसी प्रकार ज्ञान की भी तरतमता होती है और जिस प्रकार राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो कर परम वीतराग हो सकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानावरण के सर्वथा अभाव से कोई महान् आत्मा, परम ज्ञानी—सर्वज्ञ भी हो सकती है। ऐसी अलौकिक आत्माएँ हमारे भरत-क्षेत्र में सदाकाल नहीं होती, किंतु कभी कहीं अवश्य होती है। हमारे जमाने में, हमारे इस क्षेत्र में नहीं है, इससे कभी कहीं हो ही नहीं सकती, इस प्रकार की मान्यता वना लेना एक भूल ही है। ऐसी अलौकिक आत्माएँ असंख्य काल तक नहीं भी होती हैं।

साधारणतया लोगों की स्मरण-शक्ति ऐसी नहीं होती जो अनेक वातों कि स्मृति यथातथ्य रख सकें, किन्तु अवधान करने वाले अवधानी, एक साथ एक सौ अटपटे विषयों को स्मृति में रख सकते हैं और यथातथ्य रूप से वता सकते हैं। ऐसे कई प्रयोग जनता के समक्ष हुए हैं। सहस्रावधान करने वाला व्यक्ति भी देखने में आया है; तव लक्षावधानी और कभी कोई सर्वावधानी—सर्वज्ञ भी हो सके, तो असंभव जैसी वात क्या है ?

जव तक कोलम्वस ने अमेरिका की खोज नहीं की, तव तक प्रत्यक्षदर्शियों के लिए पृथ्वी पर अमेरिका का अस्तित्व ही नहीं था। उनका संसार इतना विस्तृत नहीं था, किन्तु कोलम्वस ने अमेरिका की खोज कर के भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि की। अभी भी यह ज्ञान अधूरा ही है। मई ५८ में ही सोवियत रूस के एक अन्वेषक दल ने आस्ट्रेलिया और दक्षिण ध्रुव के मध्य एक छोटे से वेट का पता लगाया है। मई ५८ के पूर्व इसका ज्ञान किसी को नहीं था।

एक ओर अनपढ़ आदिवासी, जिसने अपना प्रान्त ही पूरा नहीं देखा—वहुत कम क्षेत्र जानता है, तव दूसरी ओर अनेक पर्यटक—जो सभी राष्ट्रों में घूम चुके हैं। इनमें क्षेत्रीय ज्ञान की कितनी

तरतमता है ? और रूसी अन्वेषक दल तो वर्त्तमान के सभी क्षेत्रज्ञों से आगे बढ़ गया है । इतना होते हुए भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि पृथ्वी की खोज पूरी हो चुकी है, और आगे पृथ्वी है ही नहीं । आगे चल कर नई खोज करने वाले भी होंगे और नई-नई खोजें भी होंगी । मनुष्य की इस प्रकार की खोजों का अन्त आना असंभव है, क्योंकि उसके पास वैसे भौतिक साधन तथा अनुकूलता नहीं है । किन्तु जिस प्रकार क्षेत्रीय ज्ञान में अभिवृद्धि होती जाती है और एक एक से बढ़ कर ज्ञाता होता है, तो कभी कोई पूर्ण द्रव्यज्ञ, क्षेत्रज्ञ, कालज्ञ और भावज्ञ हो तो असंभव जैसी बात क्या है ?

ऊपर दी हुई कुछ युक्तियाँ श्रद्धालु जनों की सैद्धांतिक श्रद्धा को सुरक्षित रखने में सहायक हो सकेगी—ऐसी आशा है ।

तीर्थंकर भगवान् की महानता

तीर्थंकर भगवान् के गुणों की महानता का वर्णन औपपातिक, भगवती, रायपसेणी, कल्पसूत्र आदि के मूल में इस प्रकार किया गया है ।

तीर्थंकर भगवंत के गुणनिष्पन्न विशेषण इस प्रकार हैं ।

अरिहंत—जिसमें मोहनीय की प्रमुखता है—ऐसे चार घातिकर्म रूप शत्रु को नष्ट करने वाले अरिहंत अथवा जिनसे कोई रहस्य गुप्त नहीं रह सका—ऐसे अरहंत अथवा जो देवेन्द्रों के लिए भी पूज्य हैं—ऐसे अर्हन्त भगवान् ।

भगवंत—समस्त ऐश्वर्यादि युक्त, पूर्ण ज्ञान, यश, धर्म आदि और अतिशयादि ऐश्वर्य युक्त ।

आदिकर—श्रुत तथा चारित्र धर्म की आदि—प्रारंभ करने वाले । यद्यपि धर्म अनादि काल से है, फिर भी काल प्रभाव से मनुष्यों की व्यापक परिणति के अनुसार पाँच महाव्रत अथवा चार याम रूप चारित्र धर्म और स्वतः के आत्मागम से प्रतिपादित श्रुत वाग्धारा से श्रुत धर्म के उत्पादक । यद्यपि समस्त तीर्थंकरों की प्ररूपणा समान रूप से होती है, फिर भी धर्मकथानुयोग में परिवर्त्तन होता रहता है । तात्पर्य यह कि प्रत्येक तीर्थंकर भगवान्, अपनी वाणी द्वारा धर्म का प्रवर्त्तन करते हैं और संघ स्थापना करते हैं । अतएव वे धर्म के आदि कर्त्ता कहलाते हैं ।

तीर्थंकर—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, यों चतुर्विध संघ रूप तीर्थ, अथवा तिरने का साधन ऐसे प्रवचन के करने वाले ।

स्वयं संबुद्ध—बिना किसी के उपदेश से स्वयं अपने आप ही—जन्म के पूर्व से ही हेय, ज्ञेय और उपादेय को जानने वाले और अपने-आप समझ कर प्रवृत्ति करने वाले ।

पुरुषोत्तम—संसार के सभी पुरुषों में उत्तम। रूप, वल, वुद्धि, अतिशय एवं महत्वतादि गुणों में सभी पुरुषों से उच्चतम स्थिति वाले।

पुरुषसिंह—जिस प्रकार सिंह, शौर्यादि गुण में सभी पशुओं में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भगवान् तीर्थंकर भी शौर्य आदि गुणों में सभी पुरुषों में श्रेष्ठ हैं।

पुरुषवरपुंडरीक—पुष्पों की जातियों में सहस्र पंखुड़ियों वाला पुंडरीक कमल, श्वेत वर्ण एवं उत्तम गंध से शोभायमान होता है। वह पानी और कीचड़ से अलिप्त एवं शुद्ध—निर्मल रहता है, उसी प्रकार भगवान्, कामरूप कीचड़ और भोगरूप पानी से अलिप्त रह कर, उत्तम रूप तथा यश से शोभायमान होते हैं।

पुरुषवर गंधहस्ति—गंध-हस्ति के शरीर से ऐसी सुगन्ध निकलती है कि जिससे अन्य हाथी भयभीत होकर भाग जाते हैं। वह शत्रु-सेना में भी भगदड़ मचा देने वाला होता है। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् भी होते हैं। उनके अतिशय के प्रभाव से रोग, शोक, दुःख, दुर्भिक्ष, ईति, भीति आदि अशुभ परिणाम नष्ट हो जाते हैं और पाखण्डियों के समूह दूर भागते रहते हैं।

लोकोत्तम—समस्त लोक के सभी प्राणियों—नरेन्द्रों और देवेन्द्रों से भी उत्तमोत्तम।

लोकनाथ—भगवान् लोकनाथ हैं। लोक में संज्ञी भव्य जीव भी मिथ्यात्व एवं अविरति के कारण दुःखी हैं—अनाथ हैं। उनको आनन्द प्रदायक कोई नहीं मिला। किन्तु जिनेश्वर भगवंत, संज्ञी भव्य प्राणियों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की प्राप्ति करवाते हैं और प्राप्ति किए हुए को पालन करा कर क्षेम—आनन्द की प्राप्ति करवाते हैं। इस प्रकार अनाथ जीवों को सनाथ वनाने के कारण भगवान् लोकनाथ हैं।

लोक के हितकर्त्ता—भगवान् लोक के हितकर्त्ता हैं। उपदेश द्वारा हितकारी मार्ग वता कर और हित साधना में सहायक होने से भगवान् विश्वहितंकर हैं।

लोकप्रदीप—जिस प्रकार दीपक, घर में रहे हुए अन्धकार को दूर करके प्रकाश करता है, उसी प्रकार भगवान्, मनुष्य, तिर्यंच और देव रूप विशिष्ठ लोक के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करके ज्ञान का प्रकाश करने वाले—दीपक के समान हैं।

लोकप्रद्योतकर—समस्त लोकालोक के स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण भगवान् सूर्य के समान उद्योत करने वाले हैं। जीव अजीव मय लोक और अलोक के तत्त्व तथा भेदानुभेद के रहस्य को अपने केवलज्ञान केवलदर्शन से जान-देख कर प्रवचन द्वारा प्रकाशित करने के कारण भगवान् लोकप्रद्योतकर कहलाते हैं।

अभय दाता—समस्त प्राणियों के भय को दूर करने वाली दया के पालक एवं प्रवर्त्तक तथा क्रूर प्राणियों को भी अभय देने वाले। जगत् के अन्य देव तो भय का प्रवर्त्तन करने वाले भी हैं और दुष्टों के लिए भयप्रद भी होते हैं, किन्तु जिनेश्वर भगवंत तो समस्त प्राणियों को अभयदान देने वाले हैं। अरिहंत भगवान् के समान अभय–अहिंसा का प्रवर्त्तन करने वाला दूसरा कोई भी देव, संसार में नहीं है। निर्भयता का दान करने वाले जिनेश्वर भगवंते, अद्वितीय एवं सर्वोपरि हैं। वे भयभ्रान्त जीवों को अभयंकर वनने का मार्ग बता कर निर्भयता का दान करते हैं।

चक्षु दाता—श्रुतज्ञान रूपी चक्षु के देने वाले। जिस ज्ञान नेत्र से हेय, ज्ञेय और उपादेय का बोध होता है, ऐसी विवेक-दृष्टि को प्रदान करने वाले।

जैसे किसी धनाढ्य पथिक को डाकू लोगों ने लूट लिया हो, उसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर भयानक अटवी में धकेल दिया हो और वह अन्धे की तरह इधर-उधर भटक रहा हो, उस समय कोई पुरुप, उसकी आँखों की पट्टी खोल कर उसे मार्ग वता दे तथा इच्छित स्थान पर पहुँचने में सहायक वन जाय, तो वह उपकारी माना जाता है। उसी प्रकार संसार रूपी भयानक अटवी में रागादि शत्रुओं के द्वारा लुटे हुए और दुष्ट वासनाओं से जिनके ज्ञान रूपी नेत्र बंद हो गए हैं, ऐसे अज्ञानी जीवों के अज्ञान रूप पाटे को हटा कर, सम्यग्ज्ञान रूपी चक्षु का दान करके मोक्ष रूपी इच्छित स्थान का मार्ग वताने वाले तीर्थंकर भगवान् परम उपकारी हैं।

आँखों पर मोतिया आ जाने से जिसे दिखाई नहीं देता, ऐसे अन्ध समान व्यक्ति का मोतिया उतारने वाला डॉक्टर, नेत्रदान करने वाला उपकारी माना जाता है, उसी प्रकार जिनके ज्ञान-नेत्र बंद हो गए हैं और जो अन्धे के समान कुमार्ग में भटक रहे हैं, उनका अज्ञानरूपी पटल—मोतिया हटा कर एवं ज्ञान नेत्र को खोल कर, सुखप्रद मार्ग पर लगाने वाले तीर्थंकर भगवान् परम उपकारी हैं। आँखों का मोतिया तो एक भव को ही द्रव्य-दृष्टि से विगाड़ता है, किन्तु अज्ञान का मोतिया तो अनेक भवों को विगाड़ कर दुःख की परम्परा खड़ी कर देता है। तथा जिनेश्वर भगवंत का चक्षुदान शाश्वत सुखों की प्राप्ति में सहायक होता है।

मार्गदाता—संसार अटवी में भूले-भटके और विपय-कषायादि चोरों द्वारा लूटे गये भव्य प्राणियों को मोक्षरूपी शाश्वत सुख का स्थान—निज घर का मार्ग वताने वाले। मोक्ष मार्ग पर लगाने वाले, सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप मार्ग का दान करने वाले।

शरणदाता—अनेक प्रकार के उपद्रव से भरे हुए संसार में से भव्य प्राणियों को उपद्रव रहित ऐसे निर्वाण स्थान को प्राप्त करने में ज्ञानादि सहाय—रक्षण प्रदान करने वाले।

जीवनदाता—संयमरूप जीवन प्रदान कर के मोक्ष नगर में पहुँचाने और सादि-अनन्त जीवन—जन्म

मरण से रहित दशा को प्राप्त कराने वाले।

बोधिदाता–हितोपदेश द्वारा वस्तु-स्वरूप समझा कर सम्यक्त्व-रत्न प्रदान करने वाले।

धर्मदाता–चारित्र रूपी धर्म का दान करने वाले।

धर्मदेशक–श्रुत और चारित्र धर्म को दिखाने वाले। धर्म का उपदेश करने वाले।

धर्मनायक–धर्म–संघ एवं तीर्थ के नायक।

धर्मसारथि–धर्म रूप रथ के चालक–रक्षक। जिस प्रकार सारथि, रथ, रथ में बैठने वाले और रथ को खींचने वाले घोड़ों का रक्षण करता है, उसी प्रकार भगवान् चारित्र धर्म के–संयम, आत्मा और प्रवचन रूप अंग की रक्षा करते हुए, धर्म रूपी रथ का प्रवर्त्तन करते हैं, अतएव धर्मसारथि हैं।

धर्मवरचातुरंत चक्रवर्ती–जिस प्रकार तीन ओर समुद्र और एक ओर हिमाचल पर्यन्त पृथ्वी का स्वामी, चातुरन्त चक्रवर्ती–राजाओं का भी स्वामी कहलाता है, उसी प्रकार भगवान् भी अन्य सभी धर्म-प्रवर्त्तकों में अतिशयवंत हैं। इसलिए वे धर्मवर-चातुरन्त-चक्रवर्ती हैं। अथवा चार गति रूप संसार में रुलाने वाले ऐसे भाव–आभ्यन्तर शत्रुओं को नष्ट करने योग्य ऐसे धर्मरूपी चक्र का प्रवर्त्तन करने वाले।

द्वीप-त्राण-सरण-गतिप्रतिष्ठा रूप–भगवान् संसार समुद्र में डूबते हुए जीवों के लिए द्वीप के समान आधारभूत, तारक, शरणप्रद, उत्तमगति और प्रतिष्ठा रूप हैं।

अप्रतिहत वरज्ञानदर्शनधर–किसी प्रकार की भीत आदि की ओट से नहीं रुकने वाला अर्थात् किसी ओट में छुपी हुई वस्तु को भी प्रत्यक्ष की तरह देखने वाला, विसंवाद रहित तथा ज्ञाना-वरण रूप मल को नष्ट कर, क्षायक ऐसे प्रधान ज्ञान-दर्शन के धारक। जिनेश्वर भगवंत, किसी भी प्रकार की वाधा से नहीं रुक सके–ऐसे उत्तमोत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक होते हैं।

व्यावृत्त छद्म–जिनकी छद्मस्थता वीत चुकी–ज्ञान का आवरण नष्ट हो चुका और सर्वज्ञ-सर्व-दर्शी हो चुके, ऐसे तीर्थंकर भगवान् 'व्यावृत्त छद्मा' हैं।

जिन–रागद्वेष रूपी शत्रुओं को जीत लिया है जिन्होंने।

जापक–दूसरों को जिन वनाने वाले।

तिरक–संसार समुद्र से तिर गये।

तारक–भव्य जीवों को संसार समुद्र से तिरा कर पार पहुँचाने वाले।

वुद्ध–जीवादि तत्त्वों को जानने वाले।

वोधक–भव्य जीवों को तत्त्वज्ञान का वोध देने वाले।

मुक्त—वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त अथवा संसार का मूल ऐसे मोहनीयादि घातिकर्म से मुक्त।

मोचक—भव्य जीवों को वन्धन से मुक्त करने वाले।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी—समस्त पदार्थों को विशेष रूप से=समस्त भेदोपभेद से=द्रव्य की त्रिकाल वर्ती समस्त पर्यायों को विस्तारपूर्वक जानने के कारण भगवान् सर्वज्ञ हैं और सामान्य रूप से जानने के कारण सर्वदर्शी हैं।

मोक्ष प्राप्त करने वाले—वे तीर्थकर भगवान्, उस सिद्धिस्थान को प्राप्त करने वाले हैं, कि जो सभी प्रकार के उपद्रवों से रहित, अचल—स्थिर, रोग रहित, अनन्त—जिसका कभी अन्त नहीं हो—जो कभी भी नहीं छोड़ना पड़े, अक्षय—जो कभी नष्ट नहीं हो सके, अव्यावाध—जहाँ किसी भी प्रकार की वाधा—अड़चन—पीड़ा नहीं है, अपुनरावृत्ति—जहाँ से फिर कभी नहीं लौटना पड़े, ऐसी सिद्धिगति को प्राप्त करने वाले जिनेश्वर भगवान् हैं। वे जीतभय हैं, उन्होंने समस्त भयों को जीत लिया है।

यह जिनेश्वर भगवंत का गुण वर्णन है। इसे 'शक्रस्तव' भी कहते हैं, किन्तु आजकल "नमुत्थुणं" के नाम से प्रचलित है। इस मूलपाठ से देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने भगवान् की स्तुति की और करते हैं। ऐसे जिनेश्वर भगवान् ही जिनधर्म के उद्गम स्थान हैं।

भगवान् महावीर का धर्मोपदेश

भगवान् महावीर प्रभु की धर्म-देशना का कुछ स्वरूप 'उववाई' सूत्र में दिया है, जो इस प्रकार है—

"भव्यों! षट् द्रव्यात्मक लोक का अस्तित्व है और आकाशात्मक अलोक का भी अस्तित्व है। जीव है, अजीव है, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना और निर्जरा भी है। अरिहंत, चक्रवर्ती, वलदेव और वासुदेव होते हैं। नरक और नैरयिक भी हैं, तिर्यंच जीव हैं। ऋषि, देवलोक, देवता और इन सब से ऊपर सिद्धस्थान तथा उसमें सिद्ध भगवान् भी हैं। मुक्ति है। अठारह प्रकार के पाप-स्थान हैं और इन पाप-स्थानों से निवृत्ति रूप धर्म भी है। अच्छे आचरणों का फल अच्छा—सुखदायक होता है और बुरे आचरणों का फल बुरा=दुःखदायक होता है। जीव पुण्य और पाप के परिणाम स्वरूप वन्ध दशा को प्राप्त होता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। पाप और पुण्य, अपनी प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फल देते हैं। इस प्रकार अस्तित्व भाव और नास्तित्व भाव का प्रतिपादन किया।"

भगवान् ने फरमाया कि—"यह निर्ग्रंथ-प्रवचन ही सत्य है। यह उत्तमोत्तम, शुद्ध, परिपूर्ण और न्याय सम्पन्न है। माया निदान और मिथ्या-दर्शन रूप त्रिशल्य को दूर करने वाला है। सिद्धि, मुक्ति,

और निर्वाण का मार्ग है। निर्ग्रंथ-प्रवचन ही सत्य अर्थ का प्रकाशक एवं पूर्वापर अविरुद्ध है और समस्त दुःखों को नाश करने का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले मनुष्य समस्त दुःखों का नाश करके सिद्ध, वुद्ध और मुक्त हो जाते हैं।"

"जो महान् आरम्भ करते हैं, अत्यंत लोभी (परिग्रही) होते हैं, पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करते हैं और मांस भक्षण करते हैं, वे नरक गति को प्राप्त होते हैं।"

"मायाचारिता—कपटाई करने से, दाम्भिकतापूर्वक दूसरों को ठगने से, झूठ बोलने से और कम देने तथा अधिक लेने के लिए खोटा तोल-नाप करने से, तिर्यंच आयु का वन्ध होता है।"

"प्रकृति की भद्रता, विनयशीलता और जीवों की अनुकम्पा करने से तथा मत्सरता = अदेखाई नहीं करने से मनुष्य आयु का वन्ध होता है।"

"सराग संयम से, श्रावक के व्रतों का पालन करने से, अकाम निर्जरा से और अज्ञान तप करने से देवगति के आयुष्य का वन्ध होता है।"

"नरक में जाने वाले महान् दुखी होते हैं। तिर्यंच में शारीरिक और मानसिक दुःख वहुत उठाना पड़ता है। मनुष्य गति भी रोग, शोक आदि दुःखों से युक्त है। देवलोक में देव सुख का उपभोग करते हैं। जीव, नाना प्रकार के कर्मों से वन्धन को प्राप्त होता है और धर्म के आचरण (संवर निर्जरा) से मोक्ष प्राप्त करता है। राग-द्वेष में पड़ा हुआ जीव, महान् दुःखों से भरे हुए संसार-सागर में गोते लगाता ही रहता है—डूवता उतराता रहता है। किन्तु जो राग-द्वेष का अंत कर के वीतरागी होते हैं, वे समस्त कर्मों को नष्ट करके शाश्वत सुखों को प्राप्त कर लेते हैं।"

इस प्रकार परम तारक भगवान् महावीर प्रभु ने श्रुत-धर्म = शुद्ध श्रद्धा का उपदेश किया। इसके वाद चारित्र-धर्म का उपदेश करते हुए फरमाया कि—

"चारित्र-धर्म दो प्रकार का है १—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार वारह व्रत तथा अन्तिम संलेषणा रूप आगार धर्म है और २—पाँच महाव्रत तथा रात्रि-भोजन त्याग रूप अनगार धर्म है। जो अनगार और श्रावक, अपने धर्म का पालन करते हैं, वे आराधक होते हैं।"

(उववाई सूत्र)

"सभी जीवों को अपना जीवन प्रिय है। वे वहुत काल तक जीना चाहते हैं। सभी जीवों को सुख प्रिय है और दुःख तथा मृत्यु अप्रिय है। कोई मरना अथवा दुखी होना नहीं चाहते हैं।" (इसलिए हिंसा नहीं करनी चाहिए)

(आचारांग १—२—३)

"भूतकाल में जितने भी अरिहंत भगवंत हुए हैं और जो वर्त्तमान में हैं, तथा भविष्य में होंगे, उन सव का यही उपदेश है, यही कहते हैं, यही प्रचार करते हैं कि छोटे-वड़े सभी जीवों को मत मारो, उन्हें अपनी अधीनता (आज्ञा) में मत रखो, उन्हें वन्धन में मत रखो, उन्हें क्लेशित मत करो और

उन्हें त्रास मत दो। यह धर्म शुद्ध है, शाश्वत है, नित्य है। ऐसा जीवों के दुःखों को जानने वाले भगवंतों ने कहा है। इस पर श्रद्धा कर के आचरण करना चाहिए। (आचारांग १-४-१)

"जीव अपनी पापी वृत्ति से उपार्जन किये हुए अशुभ कर्मों के कारण कभी नरक में चला जाता है, तो कभी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय हो कर महान् दुःखों का अनुभव करता है। शुभकर्म के उदय से कभी वह देव भी हो जाता है।"

"अपने उपार्जन किये हुए कर्मों से कभी वह उच्च कुलीन-क्षत्रीय हो जाता है, तो कभी नीच कुल में चाण्डाल आदि हो जाता है।"

"कर्म-बन्ध के कारण जीव अत्यन्त वेदना वाली नरकादि मनुष्येतर योनियों में जा कर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है और जब पाप-कर्मों से हल्का होता है, तो मनुष्य-भव प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्य-भव महान् दुर्लभ है।"

"यदि मनुष्य जन्म भी मिल गया, तो धर्म-श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है और पुण्य-योग से कभी धर्म सुनने का सुयोग मिल गया, तो सद्धर्म पर श्रद्धा होना महान् दुर्लभ है। बहुत से लोग तो धर्म सुन कर और प्राप्त कर के फिर पतित हो जाते हैं।"

"धर्म-श्रवण कर के प्राप्त भी कर लिया, तो उसमें पुरुषार्थ कर के प्रगति साधना महान् कठिन है। धर्म वहीं ठहरता है, जिसका हृदय सरल हो।"

"हे भव्य जीवों! मनुष्य-जन्म, धर्म श्रवण, धर्म श्रद्धा और धर्म में पुरुषार्थ, इन चार अंगों की प्राप्ति में बाधक होने वाले पाप-कर्मों को व इनके दुराचारादि कारणों को दूर करो और ज्ञानादि धर्म की वृद्धि करो। इन्हीसे उन्नत हो सको गे।" (उत्तराध्ययन ३)

"टूटा हुआ जीवन फिर नहीं जुड़ता, इसलिए सावधान हो जाओ। आलस्य और आसक्ति को छोड़ो। समझ लो कि जब वृद्धावस्था आयगी और शरीर में शिथिलता तथा रोगों का आतंक होगा तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा? जब मौत आयगी, तब अनेक प्रकार के पाप से संग्रह किया हुआ धन, यहीं धरा रह जायगा और आप पाप का फल भुगतने के लिए नरक में जा कर दुखी होगा। जीव अपने दुष्कर्मों से उसी प्रकार नरक में जाता है, जिस प्रकार सेंध लगाता हुआ चोर पकड़ा जा कर जेलखाने में जा कर दुःख पाता है, क्योंकि किये हुए कर्मों का फल भुगते बिना छुटकारा नहीं होता। जिन बन्धुजनों अथवा पुत्रादि के लिए पाप किये जाते हैं, वे फल-भोग के समय दुःख में हिस्सा नहीं लेते। जो यह सोचते हैं कि 'अभी क्या है, बाद में पिछली अवस्था में धर्म कर लेंगे,' वे मृत्यु के समय पछतावेंगे, इसलिए प्रमाद को छोड़ कर धर्म का आचरण करो।" (उत्तरा० ४)

"यह निश्चित है कि धन-संपत्ति और कुटुम्ब को छोड़ कर परलोक जाना पड़ेगा, तो फिर इस कुटुम्ब और वैभव में क्यों आसक्त हो रहे हो? यह जीवन और रूप, बिजली के चमत्कार की

तरह चंचल है, फिर इस पर क्यों मोहित हो रहे हो ? भव्य ! स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धव जीते-जी ही साथी होते हैं, मरने पर कोई साथ नहीं जाते। पुत्र के मरने पर पिता बड़े दुःख के साथ उसे घर से निकाल कर जला देता है, इसी प्रकार पिता के मरने पर पुत्र दुखित हो कर पिता को निकाल देता है और मरने के बाद उसकी सम्पत्ति का स्वामी बन कर उपभोग करता है। जिस धन और स्त्रियों पर मनुष्य मोहित होता है, उसी धन और स्त्रियों का, उसकी मृत्यु के बाद दूसरे लोग उपभोग करते हैं। इसलिए मोह को छोड़ कर धर्म का आचरण करो," आदि। (उत्तराध्ययन १८)

भगवान् के अपने उपदेश में प्रायः यही विषय रहता है कि—"जीव अपने अज्ञान एवं दुराचार से किस प्रकार बन्धनों में जकड़ता है और परिणाम-स्वरूप दुःख भोगता है। समस्त बन्धनों से मुक्त होने का उपाय क्या है। किस रीति से जीव समस्त दुःखों का अन्त करके मुक्त हो कर परम सुखी बन जाता है। भगवान् इस प्रकार के भावों का अपने उपदेश में प्रतिपादन करते हैं। (ज्ञाता—१)

"कहिओ भगवया जीवदयाइओ धम्मो। वण्णिया मणुसत्ताइया दुल्लहा धम्मसाहण-सामग्गी। परूविया मिच्छत्ताइया कम्मबंधहेऊ। उवइट्ठाणि महारंभाइयाणि णरयगइकार-णाणि। परूविओ जम्माइदुःखपउरो संसारो। परूवियं कोहाइकसायाणं भवभमणहेउत्तणं। पयडिओ सम्मद्दंसणाइओ मोक्खमग्गो।" (उत्तरा० अ० १० श्री नेमीचन्द्रीय टीकान्तर्गत उद्धरण)

भगवान् की देशना के विषयों का संक्षेप में निर्देश करते हुए पूर्वाचार्य ने बताया कि—

भगवान् ने जीवदया सत्य आदि धर्म की प्ररूपणा की। मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल आदि धर्म साधन सामग्री की दुर्लभता बतलाई। कर्म-बंध के हेतु ऐसे मिथ्यात्व, अविरति आदि को हेय बतलाया, महान् आरम्भ, महापरिग्रह आदि को नरकगति के कारण कहे। इस चतुर्गति रूप संसार को जन्म, जरा, मरण आदि दुःख की प्रचुरता वाला और क्रोध, मान, माया तथा लोभ को भव-भ्रमण का कारण बतलाया और समस्त दुःखों से मुक्त होने के उपाय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यग्तप का प्रतिपादन किया।

तीर्थंकरों के अतिशय

तीर्थंकर भगवन्तों में इस प्रकार की कई विशेषताएँ होती है कि जो साधारण मनुष्यों में नहीं होती। विश्वोत्तम महापुरुष में अलौकिक विशेषताएँ हों, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि उनके पुण्यानुबन्धी पुण्य की सर्वोत्तम एवं परमोत्कृष्ट प्रकृति का उदय होता है। वे विशेषताएँ—अतिशय चौंतीस हैं, जो इस प्रकार है—

उन्हे त्रास मत दो। यह धर्म शुद्ध है, शाश्वत है, नित्य है। ऐसा जीवों के दुःखों को जानने वाले भगवंतों ने कहा है। इस पर श्रद्धा कर के आचरण करना चाहिए। (आचारांग १-४-१)

"जीव अपनी पापी वृत्ति से उपार्जन किये हुए अशुभ कर्मों के कारण कभी नरक में चला जाता है, तो कभी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय हो कर महान् दुःखों का अनुभव करता है। शुभकर्म के उदय से कभी वह देव भी हो जाता है।"

"अपने उपार्जन किये हुए कर्मों से कभी वह उच्च कुलीन–क्षत्रीय हो जाता है, तो कभी नीच कुल में चाण्डाल आदि हो जाता है।"

"कर्म-बन्ध के कारण जीव अत्यन्त वेदना वाली नरकादि मनुष्येतर योनियों में जा कर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है और जब पाप-कर्मों से हल्का होता है, तो मनुष्य-भव प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्य-भव महान् दुर्लभ है।"

"यदि मनुष्य जन्म भी मिल गया, तो धर्म-श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है और पुण्य-योग से कभी धर्म सुनने का सुयोग मिल गया, तो सद्धर्म पर श्रद्धा होना महान् दुर्लभ है। बहुत से लोग तो धर्म सुन कर और प्राप्त कर के फिर पतित हो जाते हैं।"

"धर्म-श्रवण कर के प्राप्त भी कर लिया, तो उसमें पुरुषार्थ कर के प्रगति साधना महान् कठिन है। धर्म वहीं ठहरता है, जिसका हृदय सरल हो।"

"हे भव्य जीवों! मनुष्य-जन्म, धर्म श्रवण, धर्म श्रद्धा और धर्म में पुरुषार्थ, इन चार अंगों की प्राप्ति में वाधक होने वाले पाप-कर्मों को व इनके दुराचारादि कारणों को दूर करो और ज्ञानादि धर्म की वृद्धि करो। इसीसे उन्नत हो सको गे।" (उत्तराध्ययन ३)

"टूटा हुआ जीवन फिर नहीं जुड़ता, इसलिए सावधान हो जाओ। आलस्य और आसक्ति को छोड़ो। समझ लो कि जव वृद्धावस्था आयगी और शरीर में शिथिलता तथा रोगों का आतंक होगा तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा? जब मौत आयगी, तब अनेक प्रकार के पाप से संग्रह किया हुआ धन यहीं धरा रह जायगा और आप पाप का फल भुगतने के लिए नरक में जा कर दुखी होगा। जीव अपने दुष्कर्मों से उसी प्रकार नरक में जाता है, जिस प्रकार सेंध लगाता हुआ चोर पकड़ा जा कर जेलखाने में जा कर दुःख पाता है, क्योंकि किये हुए कर्मों का फल भुगते विना छुटकारा नहीं होता। जिन बन्धुजनों अथवा पुत्रादि के लिए पाप किये जाते हैं, वे फल-भोग के समय दुःख में हिस्सा नहीं लेते। जो यह सोचते हैं कि 'अभी क्या है, वाद में पिछली अवस्था में धर्म कर लेंगे,' वे मृत्यु के समय पछतावेंगे, इसलिए प्रमाद को छोड़ कर धर्म का आचरण करो।" (उत्तरा० ४)

"यह निश्चित्त है कि धन-संपत्ति और कुटुम्ब को छोड़ कर परलोक जाना पड़ेगा, तो फिर इस कुटुम्ब और वैभव में क्यों आसक्त हो रहे हो? यह जीवन और रूप, विजली के चमत्कार की

तरह चंचल है, फिर इस पर क्यों मोहित हो रहे हो ? भव्य ! स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धव जीते-जी ही साथी होते हैं, मरने पर कोई साथ नहीं जाते । पुत्र के मरने पर पिता बड़े दुःख के साथ उसे घर से निकाल कर जला देता है, इसी प्रकार पिता के मरने पर पुत्र दुखित हो कर पिता को निकाल देता है और मरने के बाद उसकी सम्पत्ति का स्वामी बन कर उपभोग करता है । जिस धन और स्त्रियों पर मनुष्य मोहित होता है, उसी धन और स्त्रियों का, उसकी मृत्यु के बाद दूसरे लोग उपभोग करते हैं । इसलिए मोह को छोड़ कर धर्म का आचरण करो," आदि । (उत्तराध्ययन १८)

भगवान् के अपने उपदेश में प्रायः यही विषय रहता है कि—"जीव अपने अज्ञान एवं दुराचार से किस प्रकार बन्धनों में जकड़ता है और परिणाम-स्वरूप दुःख भोगता है । समस्त बन्धनों से मुक्त होने का उपाय क्या है । किस रीति से जीव समस्त दुःखों का अन्त करके मुक्त हो कर परम सुखी बन जाता है । भगवान् इस प्रकार के भावों का अपने उपदेश में प्रतिपादन करते हैं । (ज्ञाता—१)

"कहिओ भगवया जीवदयाइओ धम्मो । वण्णिया मणुसत्ताइया दुल्लहा धम्मसाहण-सामग्गी । परूविया मिच्छत्ताइया कम्मबंधहेऊ । उवइट्ठाणि महारंभाइयाणि णरयगइकार-णाणि । परूविओ जम्माइदुःखपउरो संसारो । परूवियं कोहाइकसायाणं भवभमणहेउत्तणं । पयडिओ सम्मद्दंसणाइओ मोक्खमग्गो ।" (उत्तरा० अ० १० श्री नेमीचन्द्रीय टीकान्तर्गत उद्धरण)

भगवान् की देशना के विषयों का संक्षेप में निर्देश करते हुए पूर्वाचार्य ने बताया कि—

भगवान् ने जीवदया सत्य आदि धर्म की प्ररूपणा की । मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल आदि धर्म साधन सामग्री की दुर्लभता बतलाई । कर्म-बंध के हेतु ऐसे मिथ्यात्व, अविरति आदि को हेय बतलाया, महान् आरम्भ, महापरिग्रह आदि को नरकगति के कारण कहे । इस चतुर्गति रूप संसार को जन्म, जरा, मरण आदि दुःख की प्रचुरता वाला और क्रोध, मान, माया तथा लोभ को भव-भ्रमण का कारण बतलाया और समस्त दुःखों से मुक्त होने के उपाय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यग्तप का प्रतिपादन किया ।

तीर्थंकरों के अतिशय

तीर्थंकर भगवन्तों में इस प्रकार की कई विशेषताएँ होती है कि जो साधारण मनुष्यों में नहीं होती । विश्वोत्तम महापुरुष में अलौकिक विशेषताएँ हों, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि उनके पुण्यानुबन्धी पुण्य की सर्वोत्तम एवं परमोत्कृष्ट प्रकृति का उदय होता है । वे विशेषताएँ—अतिशय चौंतीस हैं, जो इस प्रकार है—

उन्हे त्रास मत दो। यह धर्म शुद्ध है, शाश्वत है, नित्य है। ऐसा जीवों के दुःखों को जानने वाले भगवंतों ने कहा है। इस पर श्रद्धा कर के आचरण करना चाहिए। (आचारांग १-८-१)

"जीव अपनी पापी वृत्ति से उपार्जन किये हुए अशुभ कर्मों के कारण कभी नरक में चला जाता है, तो कभी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय हो कर महान् दुःखों का अनुभव करता है। शुभकर्म के उदय से कभी वह देव भी हो जाता है।"

"अपने उपार्जन किये हुए कर्मों से कभी वह उच्च कुलीन-क्षत्रीय हो जाता है, तो कभी नीच कुल में चाण्डाल आदि हो जाता है।"

"कर्म-वन्ध के कारण जीव अत्यन्त वेदना वाली नरकादि मनुष्येतर योनियों में जा कर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है और जब पाप-कर्मों से हल्का होता है, तो मनुष्य-भव प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्य-भव महान् दुर्लभ है।"

"यदि मनुष्य जन्म भी मिल गया, तो धर्म-श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है और पुण्य-योग से कभी धर्म सुनने का सुयोग मिल गया, तो सद्धर्म पर श्रद्धा होना महान् दुर्लभ है। वहुत से लोग तो धर्म सुन कर और प्राप्त कर के फिर पतित हो जाते हैं।"

"धर्म-श्रवण कर के प्राप्त भी कर लिया, तो उसमें पुरुषार्थ कर के प्रगति साधना महान् कठिन है। धर्म वहीं ठहरता है, जिसका हृदय सरल हो।"

"हे भव्य जीवों! मनुष्य-जन्म, धर्म श्रवण, धर्म श्रद्धा और धर्म में पुरुषार्थ, इन चार अंगों की प्राप्ति में वाधक होने वाले पाप-कर्मों को व इनके दुराचारादि कारणों को दूर करो और ज्ञानादि धर्म की वृद्धि करो। इसीसे उन्नत हो सको गे।" (उत्तराध्ययन ३)

"टूटा हुआ जीवन फिर नहीं जुड़ता, इसलिए सावधान हो जाओ। आलस्य और आसक्ति को छोड़ो। समझ लो कि जब वृद्धावस्था आयगी और शरीर में शिथिलता तथा रोगों का आतंक होगा तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा? जब मौत आयगी, तब अनेक प्रकार के पाप से संग्रह किया हुआ धन, यहीं धरा रह जायगा और आप पाप का फल भुगतने के लिए नरक में जा कर दुखी होगा। जीव अपने दुष्कर्मों से उसी प्रकार नरक में जाता है, जिस प्रकार सेंध लगाता हुआ चोर पकड़ा जा कर जेलखाने में जा कर दुःख पाता है, क्योंकि किये हुए कर्मों का फल भुगते विना छुटकारा नहीं होता। जिन वन्धुजनों अथवा पुत्रादि के लिए पाप किये जाते हैं, वे फल-भोग के समय दुःख में हिस्सा नहीं लेते। जो यह सोचते हैं कि 'अभी क्या है, वाद में पिछली अवस्था में धर्म कर लेंगे,' वे मृत्यु के समय पछतावेंगे, इसलिए प्रमाद को छोड़ कर धर्म का आचरण करो।" (उत्तरा० ४)

"यह निश्चित्त है कि धन-संपत्ति और कुटुम्ब को छोड़ कर परलोक जाना पड़ेगा, तो फिर इस कुटुम्ब और वैभव में क्यों आसक्त हो रहे हो? यह जीवन और रूप, विजली के चमत्कार की

तरह चंचल है, फिर इस पर क्यों मोहित हो रहे हो ? भव्य ! स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धव जीते-जी ही साथी होते हैं, मरने पर कोई साथ नहीं जाते। पुत्र के मरने पर पिता बड़े दुःख के साथ उसे घर से निकाल कर जला देता है, इसी प्रकार पिता के मरने पर पुत्र दुखित हो कर पिता को निकाल देता है और मरने के बाद उसकी सम्पत्ति का स्वामी बन कर उपभोग करता है। जिस धन और स्त्रियों पर मनुष्य मोहित होता है, उसी धन और स्त्रियों का, उसकी मृत्यु के बाद दूसरे लोग उपभोग करते हैं। इसलिए मोह को छोड़ कर धर्म का आचरण करो," आदि। (उत्तराध्ययन १८)

भगवान् के अपने उपदेश में प्रायः यही विषय रहता है कि–"जीव अपने अज्ञान एवं दुराचार से किस प्रकार बन्धनों में जकड़ता है और परिणाम-स्वरूप दुःख भोगता है। समस्त बन्धनों से मुक्त होने का उपाय क्या है। किस रीति से जीव समस्त दुःखों का अन्त करके मुक्त हो कर परम सुखी बन जाता है। भगवान् इस प्रकार के भावों का अपने उपदेश में प्रतिपादन करते हैं। (ज्ञाता–१)

"कहिओ भगवया जीवदयाइओ धम्मो। वण्णिया मणुसत्ताइया दुल्लहा धम्मसाहण-सामग्गी। परूविया मिच्छत्ताइया कम्मबंधहेऊ। उवइट्ठाणि महारंभाइयाणि णरयगइकार-णाणि। परूविओ जम्माइदुःखपउरो संसारो। परूवियं कोहाइकसायाणं भवभमणहेउत्तणं। पयडिओ सम्मद्दंसणाइओ मोक्खमग्गो।" (उत्तरा० अ० १० श्री नेमीचन्द्रीय टीकान्तर्गत उद्धरण)

भगवान् की देशना के विषयों का संक्षेप में निर्देश करते हुए पूर्वाचार्य ने बताया कि–

भगवान् ने जीवदया सत्य आदि धर्म की प्ररूपणा की। मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल आदि धर्म साधन सामग्री की दुर्लभता बतलाई। कर्म-बंध के हेतु ऐसे मिथ्यात्व, अविरति आदि को हेय बतलाया, महान् आरम्भ, महापरिग्रह आदि को नरकगति के कारण कहे। इस चतुर्गति रूप संसार को जन्म, जरा, मरण आदि दुःख की प्रचुरता वाला और क्रोध, मान, माया तथा लोभ को भव-भ्रमण का कारण बतलाया और समस्त दुःखों से मुक्त होने के उपाय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यग्तप का प्रतिपादन किया।

तीर्थंकरों के अतिशय

तीर्थंकर भगवन्तों में इस प्रकार की कई विशेषताएँ होती है कि जो साधारण मनुष्यों में नहीं होती। विश्वोत्तम महापुरुष में अलौकिक विशेषताएँ हों, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि उनके पुण्यानुबन्धी पुण्य की सर्वोत्तम एवं परमोत्कृष्ट प्रकृति का उदय होता है। वे विशेषताएँ–अतिशय चौंतीस हैं, जो इस प्रकार है–

१ तीर्थंकर भगवान् के मस्तक और दाढ़ी-मूंछ के बाल नहीं बढ़ते। उनके रोम नख और केश सदा अवस्थित रहते हैं।
२ उनका शरीर नीरोग और निर्मल (स्वच्छ) रहता है।
३ उनके शरीर का रक्त और मांस गाय के दूध के समान श्वेत होता है।
४ उनके श्वासोच्छ्वास में पद्म एवं नील कमल की अथवा पद्मक तथा उत्पल कुष्ट गन्ध-द्रव्य जैसी सुगन्ध होती है।
५ उनका आहार और नीहार प्रच्छन्न होता है। वह चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देता।
६ भगवान् के आगे आकाश में धर्मचक्र रहता है।
७ भगवान् के ऊपर—आकाश में तीन छत्र रहते हैं।
८ जिनेश्वर के दोनों ओर अत्यन्त उज्ज्वल ऐसे श्वेत चामर वींजते हैं।
९ भगवान् के बैठने के लिए आकाश के समान परम उज्ज्वल स्फटिक रत्नमय, पादपीठ युक्त उत्तम सिंहासन होता है।
१० जिनेश्वर के आगे एक बहुत ऊँचा इन्द्र-ध्वज होता है, जो हजारों छोटी-छोटी पताकाओं से परिमण्डित होता है।
११ तीर्थंकर भगवान् जहाँ ठहरते या बैठते हैं, वहाँ उसी समय देव अथवा यक्ष, पत्र, पुष्प और फलों से युक्त तथा छत्र, ध्वज, घंटा तथा पताका से युक्त एक अशोक-वृक्ष प्रकट करते हैं।
१२ भगवान् के पीछे मस्तक के पास एक तेजमण्डल—प्रभामण्डल रहता है, जिससे अन्धकार का नाश हो कर सभी दिशाएँ प्रकाशित होती हैं।
१३ भगवान् जहाँ विचरते हैं, वहाँ की भूमि ऊबड़खावड़ नहीं रह कर बहुत ही समतल हो जाती है।
१४ मार्ग के कांटे अधोमुख हो जाते हैं।
१५ भगवान् के विहार क्षेत्र में ऋतु अनुकूल रहती है।
१६ तीर्थंकर भगवान् के गमन-क्षेत्र अथवा स्थिति-क्षेत्र में शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु द्वारा एक योजन पर्यन्त चारों ओर की भूमि शुद्ध हो जाती है।
१७ तुषारबिन्दुरूप मेघ-वृष्टि होकर रज और रेणु + दब जाती है।
१८ देवों द्वारा घुटने तक ऊँचे, ऐसे पाँच वर्ण के सुगन्धित अचित्त पुष्पों के ढेर होते हैं। उन पुष्पों के डंठल नीचे ही रहते हैं।

+ आकाशवर्ती 'रज' कही जाती है और भूमिवर्ती 'रेणु' कही जाती है।

१९ भगवान् के विहार स्थल में अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं रहते–दूर हो जाते हैं।

२० मनोज्ञ एवं उत्तम शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श प्रकट होते हैं।

२१ देशना देते समय भगवान् का स्वर अतिशय हृदयस्पर्शी होता हुआ, एक योजन तक सुनाई देता है।

२२ भगवान् अर्ध मागधी भाषा में धर्मोपदेश देते हैं।

२३ भगवान् के श्रीमुख से निकली हुई अर्धमागधी भाषा में धर्म-देशना का यह प्रभाव होता है कि उसे आर्य और अनार्य सभी प्रकार के और विविध भाषाओं वाले मनुष्य तथा पशु, पक्षी और सरीसृप आदि तिर्यंच, अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। वह जिनवाणी उन्हें हितकर, सुखकर एवं कल्याणकर प्रतीत होती है।

२४ जिनके पहले से ही एक दूसरे के (व्यक्तिगत अथवा जातिगत) आपस में वैर बँधा हुआ है, ऐसे देव, असुर, नाग, सुवर्णकुमार, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुल, गंधर्व, महोरगादि (तथा मनुष्य और तिर्यंच भी) अरिहंत भगवान् के श्रीचरणों में आते ही वैर को भूल कर एवं प्रशान्त चित्त हो कर धर्मोपदेश सुनते हैं।

२५ जिनेश्वर के समीप आये हुए अन्य तीर्थी–प्रवर्तक भी भगवान् की वन्दना करते हुए नमस्कार करते हैं।

२६ यदि वे वाद करने को आये हों, तो भी निरुत्तर हो जाते हैं।

भगवान् के विहार क्षेत्र के आस पास चारों ओर पच्चीस-पच्चीस योजन (सौ-सौ कोस) के भीतर निम्नलिखित उपद्रव नहीं होते–

२७ ईति–चूहे आदि जीवों से धान्यादि को क्षति नहीं होती।

२८ मारी–प्लेग आदि जनसंहारक रोग नहीं होते।

२९ स्वचक्र भय–राज की ओर से किसी प्रकार का भय–अत्याचार नहीं होता।

३० परचक्र भय–अन्य राज्य द्वारा आक्रमणादि भय नहीं होता।

३१ अतिवर्षा का उपद्रव नहीं होता।

३२ अनावृष्टि नहीं होती।

३३ दुर्भिक्ष–दुष्काल नहीं पड़ता।

३४ यदि पहले से किसी प्रकार का उपद्रव हो रहा हो, तो जिनेश्वर के पधारने पर अपने-आप तुरन्त शान्त हो जाता है। (समवायांग ३४)

उपरोक्त चौतीस भेद में से तीर्थंकरों के जन्म से, दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवां–

ऐसे चार अतिशय होते हैं। बारहवाँ और इक्कीस से लगा कर अंत तक के कुल पन्द्रह अतिशय, घाति-कर्मों के क्षय होने के बाद उत्पन्न होते हैं और शेष पन्द्रह अतिशय देवकृत होते हैं +।

यद्यपि अतिशय पौद्गलिक ऋद्धि विशेष है, तथापि यह उसी आत्मा को प्राप्त होती है जिसकी महान् साधना से आत्मा की निर्मलता होते-होते प्रशस्त राग के कारण शुभतम कर्मों का बंध होता है। हमारे बहुत-से भाई, तीर्थंकर भगवान् के अतिशयों में विश्वास नहीं करते, इतना ही नहीं, वे इन्हें गलत और कपोल-कल्पना रूप बतला कर उपहास भी करते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। जो वस्तु सर्व सुलभ नहीं हो और सदा काल किसी क्षेत्र विशेष में विद्यमान नहीं रहती हो, वह कभी और कहीं हो ही नहीं सकती, उसका एकांत अभाव ही होता है, ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार के अतिशयों की आंशिक झांकी तो इस हायमान समय में भी कभी कहीं मिल सकती है। योग विद्या से भी कई प्रकार के क्षणिक चमत्कार उत्पन्न हो सकते हैं, तब उत्कृष्टतम साधना से जिन महान् आत्मा के कार्मण शरीर में उत्कृष्ट प्रकार की वर्गणाएँ लगी हुई हैं, उनमें अतिशयों का प्रादुर्भाव हो, तो इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है? इस विषय को समझने में निम्न लिखित घटना सहायक होगी;—

+ प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थों में भी चौंतीस अतिशयों का वर्णन है, किन्तु उनमें और समवायांग सूत्र के उपरोक्त अतिशयों में कुछ भेद है। प्रवचनसारोद्धारादि में निम्नलिखित सात अतिशय ऐसे हैं, जो सूत्र में नहीं है,—

१ एक योजन प्रमाण क्षेत्र में करोड़ों देव और मनुष्य-तिर्यंचों का आराम के साथ बैठ जाना।
२ तीन मूर्तियों सहित भगवान् का चतुर्मुख दिखाई देना।
३ समवसरण का रत्नादि से तीन कोट के रूप में निर्माण होना।
४ मक्खन के समान कोमल ऐसे स्वर्णमय कमल-पुष्पों का पृथ्वी पर हो जाना, जिन पर तीर्थंकर भगवान् पाँव रखते हुए चलते हैं।
५ रास्ते में चलते हुए पक्षिगण प्रदक्षिणा करे।
६ रास्ते में पड़ने वाले वृक्ष झुक कर प्रणाम करे।
७ देवदंदुभि का बजना।

इन सात अतिशयों के बदले सूत्रगत निम्न चार अतिशय बिलकुल छोड़ दिए गए हैं—

१ एक योजन प्रमाण विस्तार वाली जिनेश्वरों की वाणी।
२ अर्धमागधी भाषा।
३ अन्य तीर्थी द्वारा वन्दना।
४ वादियों का निरुत्तर हो जाना।

ये चार अतिशय छोड़ दिए और निम्न तीन अतिशयों को दूसरे अतिशयों में मिला दिया गया है। १ भूमि का सम हो जाना, २ दुर्गन्धादि रहित होना और ३ पर चक्र का भय उत्पन्न नहीं होना।

इस प्रकार संख्या बराबर होते हुए भी मूल आगम में और बाद के ग्रन्थों में कुछ भेद है।

महात्मा भगवानदीनजी से भारत का विद्वद् समाज परिचित है ही। वे स्पष्टवादी, स्वतन्त्र विचारक तथा बुद्धिवादी हैं। प्रत्यक्ष के पक्षपाती हैं। शास्त्रीय परोक्ष विषयों पर आप विश्वास नहीं करते। इतना ही नहीं, आप उनका व्यंगपूर्वक खण्डन भी करते हैं। आपने 'मेरे साथी' नाम की पुस्तक में (जो भारत जैन महामण्डल, वर्धा से प्रकाशित हुई है) आगमाङ्कित नरक पृथ्वियों–नरकावासों और नारकीय भीषण दुःखों का व्यंगपूर्वक खण्डन किया है, किन्तु इसी पुस्तक में एक अतिशय पूर्ण सत्य घटना का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है;–

"कितना आकर्षण रहा होगा उस वीरचन्द राघवजी गांधी में, जिस वक्त 'मेसॉनिक टेम्पल' में हिप्नोटिज्म पर बोलते हुए उन्होंने लोगों से कहा कि कमरे की बत्तियाँ हलकी कर दी जायँ और जैसे ही हल्की हुई कि उस सफेद कपड़े धारी हिन्दुस्तानी की देह से एक आभा चमकने लगी और उसकी पगड़ी ऐसी मालूम होने लगी मानो उस आदमी के चेहरे के पीछे कोई सूरज निकल रहा हो और जिसे देख कर अमेरिकावासियों का कहना था कि वह उस आभा को न देख सके, उनकी आँखें बन्द होगई और थोड़ी देर के लिए ऐसा मालूम हुआ मानो वे सब समाधि अवस्था में हों।"

('मेरे साथी' पृष्ठ १२५)

उपरोक्त घटना को स्वीकार करने वाला सुज्ञ, भगवान् के प्रभामण्डल वाले बारहवें अतिशय से कैसे इन्कार कर सकता है ?

जो प्रकाश 'स्फटिकरत्न' और 'रेडियम' जैसे पृथ्वीकाय के अंश दे सकते हैं और सूर्यमण्डल का पृथ्वीकायमय पिण्ड दे सकता है, वह पृथ्वी एवं तेज तत्त्व (पंचभूतात्मक) रूप माने जाने वाला कोई विशिष्ट मानव-देह नहीं दे सकता, ऐसा कहने वाले तटस्थतापूर्वक गहरा विचार करें, तो उनकी समझ में आ सके। 'जुगनू' नामक क्षुद्र प्राणी की देह से हलका-सा प्रकाश होता हुआ हम सभी देखते हैं, तब विश्व की एकमात्र विभूति ऐसे जिनेश्वर भगवंतों की देह की उत्कृष्ट प्रभा हो और अलौकिक प्रकाश निकले, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

योग के चमत्कार को बताने वाला आज भी कोई-कोई है और वे अपने योगबल से वातावरण को उत्तम सुगन्ध से सुगन्धित बना सकते हैं। स्वभाव से ही कई मनुष्यों की देह और पसीना दुर्गन्धमय होता है, तो कुछ व्यक्तियों का सुगन्धित भी होता है, तब तीर्थंकर भगवान् का सर्वोत्तम देह और श्वासोच्छ्वास परम सुगन्धित हो, तो असम्भव कैसे हो सकता है ? आचार्यश्री मानतुंगसूरिजी अपने आदिनाथ (भक्तामर) स्तोत्र में भगवान् आदिनाथ की स्तुति करते हुए कहते हैं कि–

"यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं, निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत।
तावंत एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां, यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति" ॥१२॥

अर्थात्–हे भगवान् ! जिन परमाणुओं से आपके शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु संसार में उतने ही थे। यदि अधिक होते तो आप जैसा रूप किसी दूसरे का भी होता, किन्तु वास्तव में आप जैसा सर्वोत्तम रूपवान् संसार में कोई भी नहीं है।

उत्तम वस्तु, किसी काले, नीले या अपारदर्शक भाजन में रखी हुई हो, तो उसका परिचय ऊपर से देखने वाले को सरलता से नहीं हो सकता, किन्तु वही उत्तम वस्तु कांच के निर्मल बरतन में रखी हो, तो दूर से ही अपना परिचय देती है और "शो-बाक्स" की तरह उसमें रोशनी रख दी जाय, तो फिर तो वह अन्धेरे में भी प्रकाशित होती रहती है। तीर्थंकर भगवान् का शरीर, पुण्य के प्रबल उदय से उत्तमोत्तम एवं देदीप्यमान परमाणुओं से बना हुआ होता है। उसमें रही हुई आत्मा भी विश्वोत्तम होती है, अतएव उसमें असाधारणता–संसार के समस्त मानवों से अत्यधिक विशेषताएँ होना, सुज्ञ विचारकों की बुद्धि में जचने योग्य है।

जिस प्रकार राष्ट्रपति अथवा राष्ट्र के प्रधान मन्त्री के अन्य स्थान पर जाने के पूर्व, उधर के रास्तों की सफाई, सजाई और अनेक प्रकार की शोभा बढ़ाई जाती है। बड़े-बड़े अधिकारी और नागरिक उनके स्वागत एवं सेवा में उपस्थित रहते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के विहार तथा स्थिति के क्षेत्र में देवों द्वारा अतिशय–विशेषताएँ हों, तो असम्भव नहीं है। देवों का सद्भाव मानने वाला व्यक्ति सरलता से इस बात को समझ सकता है।

तात्पर्य यह कि तीर्थंकर भगवंतों के अतिशय वास्तविक एवं बुद्धि में उतरने योग्य हैं।

सत्य वचनातिशय

देहादि की अपेक्षा चौंतीस अतिशय होते हैं, उसी प्रकार भगवान् के वचनों के भी पैंतीस अतिशय होते हैं, जो इस प्रकार हैं;–

१ संस्कारित वचन–भाषा एवं व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष वचन होता है।

२ उदात्त स्वर–उच्च प्रकार की आवाज, जो योजन प्रमाण क्षेत्र तक पहुँच सके।

३ उपचारोपपेत–ग्राम्य दोष रहित अर्थात् तुच्छकार आदि ओछी भाषा का उपयोग न होकर उत्तम प्रकार के सम्बोधनों से युक्त होती है।

४ गम्भीर शब्दता–मेघ गर्जना की तरह प्रभावोत्पादक एवं अर्थ गांभीर्य युक्त वचन।

५ अनुनादिता–वचनों की प्रतिध्वनि होना।

६ दाक्षिणत्व–प्रभु के वचन इतने सरल एवं प्रभावक होते हैं कि श्रोतागणों के हृदय में शीघ्र उतर जाते हैं और मधुर लगते हैं।

७ उपनीतरागत्व—मालव-केशिकादि राग से युक्त स्वर जो श्रोताओं को तल्लीन बना कर बहुमान उत्पन्न करते हैं।

८ महार्थत्व—थोड़े शब्दों विशेष अर्थ युक्त वाणी।

९ पूर्वापर अबाधित—वचनों में पूर्वापर विरोध नहीं होता।

१० शिष्टत्व—अभिमत सिद्धांत का कथन करना, व्यर्थ की अथवा असंगत बातें नहीं करना एवं शिष्टता सूचक वचनों का उच्चारण करना।

११ असन्दिग्धता—स्पष्टतापूर्वक उच्चारण करना कि जिससे श्रोताओं में सन्देह उत्पन्न नहीं हो।

१२ अदूषित—भाषा-दोष से रहित वाणी, जिससे श्रोता को शंका समाधान करने की आवश्यकता नहीं पड़े।

१३ हृदयगाहित—श्रोता के हृदय में कठिन विषय भी सरलता से उतर जाय और वह आकर्षित होकर समझ जाय, इस प्रकार के वचन।

१४ देशकालानुरूप—उस देश और काल के अनुरूप वचन एवं अर्थ।

१५ तत्वानुरूपता—वस्तु स्वरूप के अनुकूल वचन।

१६ सार वचन—विवक्षित विषय का उचित विस्तार के साथ वर्णन करना, किन्तु व्यर्थ के शब्दाडम्बर अथवा अनुचित विस्तार नहीं करना।

१७ अन्योन्य प्रगृहीत—पद और वाक्यों का सापेक्ष होना।

१८ अभिजातत्व—भूमिका के अनुसार विषय और वाणी होना।

१९ अतिस्निग्ध मधुरत्व—कोमल एवं मधुरवाणी, जो श्रोता के लिए सुखप्रद और रुचिकर हो—उपराम नहीं हो।

२० अपरमर्मवेधित—दूसरे के छुपाये हुए रहस्य को प्रकट नहीं करने वाले, क्योंकि इससे छुपाने वाले का मर्म प्रकट हो कर उसके लिए दुःखदायक होता है।

२१ अर्थ धर्मोपेत—श्रुत-चारित्र धर्म और मोक्ष अर्थ से सम्बन्धित वचन।

२२ उदारत्व—शब्द और अर्थ की विशिष्ठ रचना तथा प्रतिपाद्य विषय की महानता युक्त वचन।

२३ पर-निन्दा स्वात्म-प्रशंसा रहित—दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा से रहित वचन।

२४ उपगत श्लाघत्व—दूसरों को खुश करने—खुशामद करने के दोष से रहित।

२५ अनपनीतत्व—कारक, काल, लिंग, वचन आदि के विपर्यास रूप दोष से रहित।

२६ उत्पादितादि विच्छिन्न कुतूहलत्व—श्रोताओं में निरन्तर कुतूहल बनायें रखने वाली वाणी।

२७ अद्भुतत्व—अश्रुतपूर्व वचन होने के कारण श्रोताओं के मन में हर्ष रूप विस्मय बना रहना।

२८ अनतिविलम्बितत्त्व—धाराप्रवाह रूप से बोलना—रुक-रुक कर नहीं बोलना।

२९ विभ्रमविक्षेप-किलिकिंचितादि विप्रयुक्तत्व—प्रतिपाद्य विषय में वक्ता के मन में भ्रान्ति, उपराम—अरुचि, रोष भय आदि नहीं होने देना।

३० विचित्रत्व—वर्णनीय विषय विविध प्रकार के होने के कारण वाणी में विचित्रता होना।

३१ आहित विशेषत्व—अन्य वक्ताओं की अपेक्षा वचनों में विशेषता होना और श्रोताओं में विशेष आकर्षण होना।

३२ साकारत्व—वर्ण, पद तथा वाक्यों का भिन्न-भिन्न होना।

३३ सत्व परिगृहीतत्व—वाणी का ओजस्वी एवं प्रभावोत्पादक होना।

३४ अपरिखेदित्व—उपदेश देते हुए खेदित नहीं होना।

३५ अव्युच्छेदित्व—प्रतिपाद्य विषय को सांगोपांग सिद्ध नहीं कर दिया जाय तब तक बिना छोड़े उसका ही व्याख्यान करना।

श्री समवायांग, औपपातिक और रायपसेणी सूत्र के मूल में उपरोक्त पैंतीस 'सत्य-वचनातिशय' के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि—"सत्य वचन के पैंतीस अतिशय हैं।" वे पैंतीस अतिशय कौन-से हैं, इसका उल्लेख मूल पाठ में नहीं है। समवायांग आदि सूत्रों की टीका में, अन्य ग्रन्थों के आधार से टीकाकार ने पैंतीस अतिशयों के नाम बताये हैं। उन्हीं के आधार से उपरोक्त अतिशय दिये गये हैं। जिनेश्वर भगवंतों की वाणी अनेक प्रकार के गुणों से युक्त और अतिशयवाली हो—यह स्वाभाविक ही है।

निर्दोष जीवन

जिनेश्वर भगवन्तों में किसी भी प्रकार का दोष नहीं होता। जब वे बालवय में होते हैं, तो उनकी बाल्यावस्था भी अन्य सांसारिक बालकों की अपेक्षा आदर्श होती है। युवावस्था एवं गृहस्थाश्रम भी अन्य गृहस्थियों की अपेक्षा उत्तम और निष्कलंक होता है। छद्मस्थ और तीर्थंकर जीवन भी निर्दोष रहता है। उनमें किसी भी प्रकार के दोष का सद्भाव नहीं रहता। फिर भी पूर्वाचार्यों ने अन्य देवों में पाये जाने वाले निम्नलिखित अठारह दोषों से जिनेश्वर भगवंतों को रहित बताया है। वे अठारह दोष ये हैं;—

१ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ वीर्यान्तराय ४ भोगान्तराय ५ उपभोगान्तराय, ये पांच कर्मप्रकृतियां असमर्थता को प्रकट करने वाली हैं, ६ मिथ्यात्व ७ अज्ञान ८ अविरति

९ काम १० हास्य ११ रति १२ अरति १३ शोक १४ भय १५ जुगुप्सा १६ राग १७ द्वेष और १८ निद्रा ।

उपरोक्त दोष 'सत्तरिसयठाण वृत्ति' गा. १९२–१९३ में हैं। दूसरी प्रकार से अठारह दोष इस प्रकार हैं–

१ अज्ञान २ क्रोध ३ भय ४ मान ५ लोभ ६ माया ७ रति ८ अरति ९ निद्रा १० शोक ११ अलीक वचन १२ अदत्त ग्रहण १३ मत्सरता १४ भय १५ हिंसा १६ प्रेम १७ क्रीड़ा (भोग) और १८ हास्य । (प्रवचनसारोद्धार द्वार ४१)

जिनमें उपरोक्त दोष विद्यमान हों, वे सुदेव नहीं हो सकते, और जिनमें ये दोष नहीं हों, वे ही सुदेव हो सकते हैं। श्री जिनेश्वर भगवंतों में इनमें से एक भी दोष नहीं होता । अतएव वे सुदेव हैं। धर्म के वास्तविक दाता वे ही हैं। इनकी आज्ञा का आराधन करने वाला परमानन्द को प्राप्त करता है।

मूलातिशय

भगवान् के सभी अतिशयों को श्री हेमचन्द्राचार्य ने स्याद्वादमंजरी कारिका १ में, निम्नलिखित चार मूल अतिशयों में सम्मिलित किया है:–

१ अपायापगमातिशय–अठारह दोषों और समस्त विघ्न-वाधाओं का नष्ट हो जाना ।

२ ज्ञानातिशय–ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट होने से अनन्तज्ञान–सर्वज्ञता की प्राप्ति ।

३ पूजातिशय–देवेन्द्र एवं नरेन्द्रों के लिए पूज्य, लोकनाथ, देवाधिदेव ।

४ वागातिशय–सत्यवचनातिशय के ३५ गुण युक्त वाणी ।

आठ महाप्रातिहार्य

उपरोक्त मूलातिशयों के अतिरिक्त नीचे लिखे आठ महाप्रातिहार्य भी माने गये हैं:–

१ अशोकवृक्ष २ देव कृत पुष्पवृष्टि ३ दिव्यध्वनि ४ चँवर ५ सिंहासन ६ भामण्डल ७ देवदुन्दुभि और ८ छत्र । (प्रवचनसारोद्धार द्वार ३९)

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व की महान् भयंकरता किन शब्दों में बताई जाय । इसी के कारण जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है और इसी के कारण नरक-निगोद के दुःखों का संचय होता है। यदि मिथ्यात्व नहीं होता, तो सम्यक्त्व के सद्भाव में जीव कभी नरक-निगोद का बन्ध कर ही नहीं सकता। अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करने का प्रमुख कारण मिथ्यात्व ही है । यह प्राणी की मति ऐसी मोह लेता है कि जिससे उसे हिताहित का यथार्थ भान हो ही नहीं सकता । वह अपने स्वरूप को भी सही रूप में नहीं समझ सकता । पारमार्थिक विषयों में उसकी दृष्टि उल्टी ही होती है। उसके घोरतम दुःखों–अधमाधम अवस्था में तो उसकी दशा जड़ के समान–मुर्दे के समान होती है । इस दशा में उसे अनन्त काल रहना पड़ता है । अनादि अपर्यवसित मिथ्यात्वी को देव और मनुष्य के भौतिक सुखों में रहने को जितना समय मिलता है, उससे अनन्त गुण समय नरक-तिर्यंच के महान् दुःख भुगतना पड़ता है । उसके लिए अधिक समय तक टिकने का स्थान निगोद ही है । इस प्रकार दुःखमय अनन्त संसार का कारण, सित्तर कोटाकोटी सागरोपम जितनी उत्कृष्टतम स्थिति का बन्ध करानेवाला मिथ्यात्व ही आत्मा का प्रधान शत्रु है । जिसने इस महान् शत्रु को जीत लिया, वह बहुत कुछ पा गया । फिर यदि उसने इस शत्रु को अपने पर अधिकार नहीं करने दिया और इसकी शक्ति नष्ट करते हुए आगे बढ़ता रहा तो वह अनन्त सुखों का स्वामी बन सकता है ।

सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है मिथ्यात्व। यही अनन्त भव भ्रमण कराने वाला है। अनादिकाल से जीव जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा है–इसी के प्रताप से। यदि यह महाशत्रु हट जाय, तो जीव का परम सुखी होना सरल हो जाय। भगवान् फरमाते हैं कि–"मिथ्यात्व मे संसार मजबूत होता है, जिसमें प्रजा निवास करती है। (सूय १–१२–१२) मिथ्यात्व ही के कारण संसार है। यदि संसार में मिथ्यात्व नहीं रहे, तो एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि सभी जीव मुक्त हो जाएँ और संसार में कोई जीव नहीं रहे। किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। मिथ्यात्व की सत्ता सम्यक्त्व की अपेक्षा अनन्त गुणी है। सम्यक्त्वी जीव तो केवली-समुद्घात के सिवाय लोक के अमुक अंश में ही है, किन्तु मिथ्यात्वी तो लोक के प्रत्येक आकाश-प्रदेश में विद्यमान हैं। सम्यग्दृष्टि अत्यन्त अल्प-संख्यक हैं और रहेंगे और मिथ्यादृष्टि सदा से अत्यन्त बहुसंख्यक ही नहीं, अनन्त गुण अधिक रहे हैं और रहेंगे। प्रत्येक सम्यग्-दृष्टि को मिथ्यात्व से बचते रहना चाहिए। जिस प्रकार बहुमूल्य वस्तु–रत्नादि को कूड़े, कर्कट, कर्दम एवं चोरादि से बचाया जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी स्फटिक रत्न को मिथ्यात्व रूपी मल, कर्दम और चोर से बचाना चाहिए। मिथ्यात्व से सतर्क रहने के लिए उसका स्वरूप भी समझना आवश्यक हो जाता है। मिथ्यात्व के भेद निर्ग्रन्थ महर्षियों ने इस प्रकार बतलाये हैं–

१ धर्म को अधर्म समझना–सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है। कोई-कोई अनसमझ जैनी उपरोक्त धर्म के पालन में 'क्रिया जड़ता' कह कर इस मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

२ अधर्म को धर्म समझना–जिस प्रवृत्ति से आत्मा की पराधीनता बढ़ती है, बन्धनों में विशेष बंधती है–ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में धर्म समझना भी मिथ्यात्व है। हिंसादि कृत्यों में धर्म मानना आदि इसी भेद में आ जाता है और संवर निर्जरा रहित लौकिक क्रिया में धर्म मानना भी इसी भेद में है।

३ संसार के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझना–मिथ्यात्व, अविरति आदि संसार मार्ग है। जिस प्रवृत्ति से जीव संसार के परिभ्रमण में ही चक्कर काटा करता है–जन्म मरण की श्रृंखला कायम रखता है, वह सभी संसार मार्ग है। ऐसे मार्गों को मुक्ति का मार्ग मानना।

४ मुक्ति के मार्ग को बंधन (संसार) का मार्ग मानना–संयम, संवर और तपस्यादि से मुक्ति की साधना होती है, किन्तु इन्हें बन्धनरूप मानना अथवा तप आदि में आत्म-हिंसा मानना।

५ अजीव को जीव मानना–जिसमें जीव नहीं है, उसमें जीव मानना।

६ जीव को अजीव मानना–स्थावरकाय और संमूर्छिम आदि को जीव नहीं मानना अथवा पंचभूत की मान्यता रख कर जीव का अस्तित्व ही नहीं मानना।

७ कुसाधु को सुसाधु मानना—जिसमें न तो दर्शन और न चारित्र गुण ही है, जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा खोटी है, जो पांच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति से रहित है। जिसके आचरण सुसाधु जैसे नहीं है, उसे लौकिक विशेषता के कारण अथवा साधुवेश देख कर सुसाधु मानने से यह मिथ्यात्व लगता है।

८ सुसाधु को कुसाधु समझना—जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा शुद्ध है, जो महाव्रतादि श्रमण-धर्म का पालक है—ऐसे सुसाधु को कुसाधु समझना।

९ रागी द्वेषी को मुक्त समझना—इतर पंथों के देव, राग-द्वेष युक्त हैं और छद्मस्थ हैं, इसलिए वे मुक्त नहीं हुए। किन्तु अज्ञान वश उन्हें मुक्त समझना।

१० मुक्त को संसार में लिप्त समझना—भगवान् महावीर प्रभु राग-द्वेष से मुक्त हो चुके थे, फिर भी गोशालक मति ने आर्द्रकुमार श्रमण के सामने उन्हें अमुक्त कहा था। इसी प्रकार या प्रकारान्तर से मुक्तात्मा को संसार में लिप्त समझना मिथ्यात्व है।

उपरोक्त दस मिथ्यात्व का उल्लेख स्थानांगसूत्र के १० वें स्थान में है। मिथ्यात्व के कुल २५ भेद पूर्वाचार्यों ने बतलाये हैं, किन्तु मूल भेद तो ये दस ही हैं। बाकी के भेद तो इन दस भेदों में रहे हुए मिथ्यात्व को ही स्पष्ट करने वाले हैं। एक दृष्टि से देखा जाय, तो उपरोक्त दस भेदों का समावेश निम्न पाँच भेदों में हो जाता है—

(१) नौवाँ और दसवाँ भेद, देव सम्बन्धी मिथ्यात्व को बतलाता है।

(२) सातवाँ और आठवाँ भेद, गुरु सम्बन्धी मिथ्यात्व को स्पष्ट करता है।

(३) पाँचवाँ और छठा भेद, तत्त्व सम्बन्धी मिथ्यात्व से सम्बन्धित है, क्योंकि संग्रहनय की दृष्टि से मुख्य तत्त्व तो जीव और अजीव ही है।

(४) तीसरा और चौथा भेद, मार्ग सम्बन्धी है। यह संसार मार्ग और मोक्ष मार्ग के विषय में होती हुई कुश्रद्धा का निर्देश करता है।

(५) पहला और दूसरा भेद धर्म सम्बन्धी मिथ्या मान्यता के विषय में हैं।

यदि हम और भी संक्षेप में सोचें, तो देव गुरु और धर्म सम्बन्धी मिथ्यात्व में सभी भेदों का समावेश हो जाता है। क्योंकि देव और गुरु के अतिरिक्त छहों भेदों का समावेश, धर्म-तत्त्व सम्बन्धी मिथ्यात्व में हो जाता है। तत्त्व और मार्ग सम्बन्धी मिथ्यात्व श्रुतधर्म सम्बन्धी मिथ्यात्व ही है।

आगम विहित दस भेदों के सिवाय जो पन्द्रह भेद हैं, वे इन दस भेदों के मिथ्यात्वी जीवों के प्रकार को स्पष्ट करने वाले हैं—स्वतन्त्र नहीं हैं। वे पन्द्रह भेद ये हैं—

१ आभिग्रहिक मिथ्यात्व—अपने ग्रहण किये हुए मिथ्या सिद्धांत को, तत्त्व की परीक्षा किये विना

ही पकड़ रखना । बाप-दादों से चली आती हुई गलत मान्यता नहीं छूटना । (ठाणांग २-१)

२ अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—सभी मतों और पंथों को सत्य मानना । 'अपने लिए तो सभी एक समान है'—इस प्रकार सत्यासत्य, गुणावगुण और धर्म-अधर्म का विवेक नहीं रख कर 'सर्व धर्म समभाव' रूप मूढ़ता अपनाना । (ठाणांग २-१)

३ आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने सिद्धांत को गलत जान कर भी अभिमान वश हठाग्रही हो कर उसे पकड़े रहना । (भगवती ९-३३)

४ सांशयिक मिथ्यात्व—तत्त्व अथवा जिनेश्वर के वचनों में शंकाशील बने रहना । (शंका-उपासक १)

५ अनाभोग मिथ्यात्व—विचार-शून्यता अथवा मनन शक्ति के अभाव में, ज्ञानावरणीयादि कर्म के उग्रतम उदय से होने वाला मिथ्यात्व । यह सभी असंज्ञी जीवों में होता है ।

६ लौकिक मिथ्यात्व—जिनमें वीतरागता सर्वज्ञता और हितोपदेशकता के गुण नहीं—ऐसे रागी द्वेषी, छद्मस्थ और मिथ्यामार्ग-प्रवर्त्तक—संसार मार्ग के प्रणेता को देव मानना । संवर के लक्षण युक्त सम्यग्चारित्र रूप पाँच महाव्रत तथा समिति-गुप्ति से रहित, नामधारी साधु या गृहस्थ को गुरु मानना और अधर्म—जिसमें सम्यग्ज्ञानादि का अभाव है और जो लौकिक क्रियाकांड मय है, उसे धर्म मानना, तीर्थयात्रा, स्नान यज्ञयागादि सावद्य प्रवृत्ति में धर्म मानना, लौकिक मिथ्यात्व है । (अनुयोगद्वार)

७ लोकोत्तर मिथ्यात्व—तीर्थंकर भगवान् लोकोत्तर देव हैं । वे वीतराग हैं । उनकी आराधना अपनी आत्मा में वीतरागता का गुण लाने के लिए ही करनी चाहिए । किन्तु अपनी विषय-कषायों की पूर्ति के लिए उनकी आराधना की जाय, निर्ग्रंथों की सेवा, मांगलिक श्रवण, सामायिक, आयम्बिलादि तप, भौतिक स्वार्थ भावना से किया जाय, तो यह लोकोत्तर मिथ्यात्व है । इसका दूसरा अर्थ गोशालक जैसे को देव, निन्हवादि को गुरु और शुभ बंध की क्रिया को लोकोत्तर धर्म मानना भी है । (अनुयोग द्वार)

८ कुप्रावचन मिथ्यात्व—निर्ग्रंथ-प्रवचन के अतिरिक्त अन्य कुप्रावचनिक—मिथ्या प्रवचन के प्रवर्त्तक, प्रचारक और मिथ्या प्रवचन को मानना । (अनुयोगद्वार)

९ न्यून मिथ्यात्व—तत्त्व के स्वरूप में से कम मानना । एकाध तत्त्व या उसके किसी भी भेद में अविश्वासी होना । कोई-कोई यों कहा करते हैं कि 'इतनीसी बात नहीं माने तो क्या होगा ?' किंतु यह सब स्वमत या परमत वाद है । जो जैनी कहलाता है, उसे तो जिनेश्वरों के वचनों को पूर्ण रूप से यथार्थ मानना ही पड़ेगा । पूर्वाचार्यों ने मिथ्यात्व की व्याख्या करते हुए लिखा कि—"**सूत्रोक्तस्यैक-स्याप्यरोचनादक्षरस्य भवतिनरः मिथ्यादृष्टिः**" (स्थानांग १ टीका) श्री प्रज्ञापना सूत्र के मूल

पाठ में लिखा कि "**मिथ्यादर्शन विरमण समस्त द्रव्यों से होता है**" (पद २२) टीकाकार श्रीमलयगिरिजी ने इसकी टीका में सभी द्रव्यों और सभी पर्यायों से मिथ्यादर्शन विरमण माना है और सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानांग टीका में लिखा कि "**जिनाभिहिता-र्थश्रद्धानवतोदृष्टिः—दर्शनं श्रद्धानं ।**" अतएव इसमें किञ्चित् भी न्यून मानना मिथ्यात्व है ।
(ठाणांग २–१)

१० अधिक मिथ्यात्व–जिन-प्रवचन से अधिक मानना मिथ्यात्व है । (ठाणांग २–१)

११ विपरीत मिथ्यात्व–जिनागमों के विपरीत प्ररूपणा करना मिथ्यात्व है । क्योंकि सम्यक्त्व का अर्थ ही जिन प्ररूपित तत्त्वों को यथातथ्य मानना है । "**जिणपण्णत्तं तत्तं इह समत्तं**" अतएव जिन प्रवचन से विपरीत मान्यता नहीं करना चाहिए । (ठाणांग २–१)

१२ अक्रिया मिथ्यात्व–सम्यग्चारित्र की उत्थापना करते हुए एकान्तवादी बन कर आत्मा को अक्रिय मानना । चारित्रवानों को 'क्रियाजड़' कह कर तिरस्कार करना । (ठाणांग ३–३)

१३ अज्ञान मिथ्यात्व–ज्ञान को बंध और पाप का कारण मान कर अज्ञान को श्रेष्ठ मानना ।
(ठाणांग ३–३)

१४ अविनय मिथ्यात्व–पूजनीय देव गुरु और धर्म का विनय नहीं करके अविनय करना । उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना, उन्हें असत् कहना आदि । (ठाणांग ३–३)

१५ आशातना मिथ्यात्व–देव गुरु और धर्म की आशातना करना । इनके प्रति ऐसा व्यवहार करना कि जिससे ज्ञानादि गुणों और ज्ञानियों को ठेस पहुँचे । (आवश्यक सूत्र)

इस प्रकार मिथ्यात्व के भेदों को समझ कर इससे बचते रहना प्रत्येक जैनी का कर्त्तव्य है । सम्यक्त्व की शुद्धि और रक्षा के लिए अतीव सावधानी की आवश्यकता है । मिथ्याज्ञान से प्रभावित हुए कुछ भाई इसे जैनियों की संकीर्णता कह कर घृणा करते हैं, किन्तु वे वास्तविकता को समझने का प्रयत्न नहीं करते । जिस प्रकार आरोग्य का अर्थी कुपथ्य से बचता है, स्वच्छता प्रेमी मैल से बचता है और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री सहवास वर्जनीय है, उसी प्रकार सम्यक्त्व की रक्षा के लिए मिथ्यात्व के निमित्तों से बचना आवश्यक है । यदि इसका कोई यह अर्थ लगावे कि "जैनियों का ऐसा नियम विद्वेष एवं झगड़े का मूल है"—तो यह कहना गलत है । जैन धर्म किसी से झगड़ने की शिक्षा नहीं देता । धर्म तो सहन करने की शिक्षा देता है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी मूल वस्तु को सुरक्षित नहीं रखें । जिस प्रकार हम अपनी मूल्यवान और अत्यन्त प्रिय वस्तु को दूसरों से बचाये रखने के लिए पूर्ण सावधान रहते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व रत्न को बचाने के लिए भी पूर्ण सावधान रहना चाहिए । सावधानी नहीं रखने के कारण नन्द मनिहार मिथ्यात्वी बना । सम्यक्त्व की सुरक्षा के कारणों से

सम्पर्क नहीं रखने से वह मिथ्यात्वी बन गया (ज्ञाता १३) और आनन्दादि श्रमणोपासकों ने इस रत्न की रक्षा की तथा पूरी सावधानी बरती। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि "मैं अन्य तीर्थिक देव-गुरु से परिचयादि नहीं रखूंगा, तो उनका दर्शन गुण कायम रहा और वे एकभवावतारी हो गए (उपासकदशा १)।

हम छद्मस्थ हैं। हमारी बुद्धि उतनी नहीं जितनी सर्वज्ञों, पूर्वधरों, श्रुत-केवलियों और गणधरादि महापुरुषों की थी। हमारी यह शक्ति नहीं कि हम उन सर्वज्ञों, महाज्ञानियों की सभी बातों को पूर्ण रूप से समझ सकें। हमारी कोशिश तो अवश्य होनी चाहिए कि हम सभी बातों को समझें, किन्तु जो समझ में नहीं आवे, उसे झूठी मान कर या अविश्वासी बन कर अपने सम्यक्त्व रत्न को नहीं गँवादें। सागरदत्त के पुत्र ने अविश्वास किया, तो उसे सुन्दर मयूर नहीं मिल सका और जिनदत्त के पुत्र ने विश्वास रख कर सुन्दर बच्चा प्राप्त किया और सुखी हुआ (ज्ञाता. ३)। जिस प्रकार हम रत्न की परीक्षा नहीं जानते, और जौहरी के वचन पर विश्वास करके उसे खरा एवं मूल्यवान् मानते हैं और पूर्ण सावधानी से रखते हैं, उसी प्रकार यदि कांक्षामोहनीय के उदय से हमारे समझ में कोई बात नहीं आवे, तो अविश्वासी नहीं बन कर यही विचार करना चाहिए कि **"तमेव सच्चं णिसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।" (भगवती १-३)**=जिनेश्वर भगवान् ने कहा वह सत्य और यथार्थ ही है। उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है। इससे सम्यक्त्व शुद्ध रहती है। मोक्षार्थियों को हृदय में यह बात पूर्ण रूप से जमा लेनी चाहिए-"निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय संसार के जितने वाद, मत एवं सिद्धांत हैं, वे सब अनर्थ रूप है। संसार के विषय-वासना के साधन, कुटुम्ब परिवार, धन, वैभव, जमीन, जायदाद, सत्कार, सम्मान और अधिकार, सब के सब अनर्थ रूप हैं। सामान्य अर्थ और परम अर्थ एक मात्र निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही है,-**"णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे"** (भगवती २-५) इस प्रकार जिसके हृदय में दर्शन, धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी है और वह इस गुण को छोड़ता नहीं है, तो थोड़े ही भवों में मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यह निःसन्देह समझना चाहिए। ऐसी भव्यात्मा, पन्द्रह भव से अधिक तो कर ही नहीं सकती (भगवती ८-१०) भगवती सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव सूरिजी ने तो श. १ उ. १ की टीका में लिखा है कि "मोक्ष के सच्चे-कारण दर्शन के विषय में विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए।"

नन्दीसूत्रकार श्री देववाचक आचार्य ने संघ की स्तुति करते हुए 'सम्यग्दर्शन रूप विशुद्ध मार्ग वाला' (गा. ४) संयम का परिकर-रक्षक (गा. ५) 'सम्यक्त्वरूप प्रभा वाला निर्मल चन्द्र' (गा. ९) और संघ रूपी सुमेरु पर्वत की "दृढ़ वज्रमय उत्तम और बहुत गहरी आधारशिला-नींव (गा. १२) रूप माना है; जिस पर चारित्र एवं तप रूप महान् पर्वताधिराज सुदर्शन टिक रहा है।

मिथ्यात्व को नष्ट करके सम्यक्त्व प्राप्त करने के कारणों को वताते हुए विशेषावश्यक भाष्य गा० ११९३ से निम्नलिखित भाव व्यक्त किए हैं।

आयुष्य-कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ी सागरोपम (एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम से कुछ कम) परिमाण स्थिति होने पर चार प्रकार की सामायिक में से किसी एक प्रकार की सामायिक प्राप्त होती है। सामायिक के चार प्रकार ये हैं,—

१ सम्यक्त्व सामायिक २ श्रुत सामायिक ३ देशविरति सामायिक और ४ सर्वविरति सामायिक।

आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण में से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का क्षय होता है, तव ग्रंथिदेश प्राप्त होता है। जिस प्रकार बांस की गांठ कठोर, निविड़, शुष्क, अत्यन्त गूढ़ और दुर्भेद्य होती है, उसी प्रकार कर्म-जनित मिथ्यात्व की गांठ दुर्भेद्य होती है, जो जीव के प्रवल राग-द्वेष रूप परिणाम से ही वनती है। मोह की इस गांठ का भेदन होने पर ही मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्वादि का लाभ होता है।

मनोविघात तथा सामान्य परिश्रम आदि से ग्रंथिभेद नहीं होता। इसमें महान् पराक्रम की आवश्यकता होती है। अनादिकाल की बँधी हुई और गूढ़ वनी हुई मोह की गांठ, वड़ी कठिनाई से टूटती है। जिस प्रकार शूरवीर सैनिक को, घोर संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए, महान् परिश्रम करना पड़ता है। शत्रुदल की प्रवल शक्ति को तोड़ने पर ही उसे विजय प्राप्त होती है। जिस प्रकार मन्त्रादि विद्या सिद्ध करने के समय अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, उन विघ्नों को अपने प्रवल पराक्रम से जीतने से ही विद्या सिद्ध होती है, उसी प्रकार मोह की प्रवलतम गाँठ को तोड़ना भी महान कठिन है।

प्रश्न—जिस प्रकार सम्यक्त्वादि गुणों के विना ही जीव, कर्मों की ६९ सागरोपम जितनी वहुत ही लम्वी स्थिति को क्षय कर देता है, तो शेष रही केवल एक सागरोपम से भी कम स्थिति को भी जीव मिथ्यात्व की स्थिति में क्यों नहीं क्षय कर सकता है? इसमें सम्यक्त्वादि गुणों की आवश्यकता ही क्या है?

उत्तर—जिस प्रकार महाविद्या को सिद्ध करने वाली प्रारम्भिक क्रिया सरल होती है, किन्तु अन्तिम क्रिया महान् विघ्नों से घिरी हुई तथा कठिन होती है। उसमें उग्र परिश्रम करना पड़ता है, उसी प्रकार यथाप्रवृत्तिकरण तक के कर्मों को तोड़ने की क्रिया तो सरल है, उतनी कठिन नहीं है, परन्तु ग्रंथिभेद से लगा कर मोक्षसाधन रूप सम्यग् ज्ञानादि क्रिया, महान् कठिन और अनेक प्रकार के विघ्न-वाली है। विना सम्यग् ज्ञानादि की प्राप्ति के किसी की भी मुक्ति नहीं होती, अर्थात्—शेष रही हुई कर्म-स्थिति, विना सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र के क्षय नहीं हो सकती। वैसे तो शेष रही हुई अन्त:कोटा-कोटि स्थिति भी क्षय होती ही है, किन्तु नवीन कर्म-वन्धन भी होता रहता है। इस प्रकार पुराने और नये कर्मों की स्थिति का योग अन्त:कोटाकोटि से कम नहीं रहता और इस स्थिति को समाप्त

करने में विशेष प्रयत्न की आवश्यकता रहती है। ग्रंथिभेद का क्रम गाथा १२०२ से इस प्रकार बताया है।

अनादिकाल से भव-भ्रमण के चक्कर में पड़ा हुआ जीव, सर्वप्रथम यथाप्रवृत्तिकरण करता है। फिर अपूर्वकरण करता है। उसके वाद अनिवृत्तिकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है। ये तीनों करण भव्य जीवों के अनुक्रम से शुद्ध होते हैं, किन्तु अभव्य जीव को तो एक मात्र यथाप्रवृत्तिकरण + ही होता है। इसके वाद के दो करण नहीं होते। तीनों करण का क्रम इस प्रकार है–

अनादिकाल से जीव, राग-द्वेष के महा मलिन परिणाम से, मोहनीय कर्म के दुरूह भार से दवा हुआ रहता है। उसकी आत्मा पर राग-द्वेष की गूढ़तम गांठ लगी ही रहती है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़ कर लुढ़कता और अन्य पत्थरादि से टकराता हुआ पाषाण-खण्ड, घिस कर गोल और कोमल स्पर्शवाला वन जाता है, उसी प्रकार कर्म-जनित दुःखों को भुगतता हुआ एवं अकामनिर्जरा से कर्मों से हलका होता हुआ जीव, ग्रंथिभेद के निकट आता है। इस प्रकार परिणामों की विशेषता से जीव ग्रंथिभेद तक आता है। इस अवस्था को 'यथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं। इस अवस्था में जीव की सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य परिणति तो नहीं होती, किन्तु अध्यवसाय ऐसे होते हैं कि जिससे वह हलका होते-होते ग्रंथि स्थान तक पहुँच जाता है। इसके वाद परिणामों की विशेष शुद्धि से 'अपूर्वकरण' * होता है। अपूर्वकरण जैसे विशुद्ध अध्यवसाय उसके पहले कभी नहीं हुए थे। अनादिकाल में प्रथम वार ही हुए। यथाप्रवृत्तिकरण तो भव्य और अभव्य के भी होता है और अनन्त वार भी हो जाता है, किन्तु अपूर्वकरण तो भव्य जीव के ही होता है, अभव्य के कदापि नहीं होता। इस अपूर्वकरण से जीव, मिथ्यात्व की तीव्रतम महाकठिन गांठ को तोड़ कर छिन्न-भिन्न कर देता है और सम्यक्त्व के संमुख हो जाता है। इसके बाद उसके तीसरा 'अनिवृत्तिकरण ● होता है। इसके प्रभाव से वह अपूर्वकरण से पीछे नहीं हट कर सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है।

उपरोक्त तीनों करणों से प्राप्त होने वाली सम्यक्त्व सामायिक को सरलता से समझने के लिए निम्नलिखित नौ उदाहरण दिये गए हैं–

+ **यथाप्रवृत्तिकरण–सम्यक्त्वी जैसी प्रवृत्ति, किन्तु यह प्रवृत्ति अज्ञान-अश्रद्धा पूर्वक होती है।**

* अपूर्वकरण–सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य परिणाम, जो पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे। यह दशा उसे प्रथम बार ही प्राप्त होती है। इस विषय में आचार्यों में मत-भेद भी है। कोई कहते हैं कि यह स्थिति अनादि मिथ्यात्वी को ही प्राप्त होती है। जो सम्यक्त्व का पडवाई होकर मिथ्यात्व में चला जाता है और बाद में पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे अपूर्वकरण नहीं होता और कोई आचार्य कहते हैं कि होता है।

● अनिवृत्तिकरण–सम्यक्त्व के योग्य प्राप्त हुई विशुद्धि से पीछे नहीं हट कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना।

१ पल्य—जिस प्रकार कोई किसान अपने भरे हुए धान्य के वड़े कोठे में थोड़ा-थोड़ा धान्य डाले, किन्तु उसमें से अधिक-अधिक निकाले, तो वह धान्य थोड़े दिनों में ही वहुत-सा निकल जाता है और कोठा खाली हो जाता है, उसी प्रकार जीव अपने कर्म रूपी कोठे में से अकाम निर्जरा द्वारा—अनाभोग से अधिक-अधिक कर्मों को क्षय करता जाय और थोड़े-थोड़े कर्म वाँधता जाय, तो कर्मों की कमी से हलका होता हुआ वह यथाप्रवृत्तिकरण करके ग्रंथिस्थान तक आ जाता है।

शिष्य पूछता है—"भगवन्! ग्रंथिभेद होने के पूर्व, जीव असंयत अविरत एवं अनादि मिथ्या-दृष्टि होता है। ऐसे जीव को अधिक कर्मों की निर्जरा और थोड़े कर्मों का वन्ध नहीं होता, क्योंकि आगमों में इसका निषेध किया है। उसके वन्ध अधिक और निर्जरा कम ही होती है। कर्मवन्ध के विषय में तीन भंग होते हैं, जैसे—

१ किसान, वड़े कोठे में कुंभ प्रमाण अन्न डाले और छोटे प्याले के वरावर निकाले, वैसे ही मिथ्यादृष्टि को वन्ध अधिक और निर्जरा कम होती है।

२ जो प्रमत्तसंयत हैं, वे वन्ध थोड़ा और निर्जरा अधिक करते हैं। जैसे—किसान, प्याला भर के धान्य कोठे में डालता रहे और घड़ा भर कर निकालता रहे।

३ जो अप्रमत्तसंयत हैं, वे निर्जरा ही करते हैं—वन्ध नहीं करते*। जैसे—किसान अपने कोठे में से धान्य निकालता ही जाता है, परन्तु डालता कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि, प्रथम भेद के अनुसार प्रतिसमय वन्ध तो अधिक करता है और निर्जरा थोड़ी ही करता है। फिर आप उलटी वात कैसे वता रहे हैं?

गुरु महाराज उत्तर देते हैं—"वत्स! यह एकान्त नियम नहीं है कि—असंयत, अविरत एवं मिथ्यादृष्टि को वन्ध अधिक और निर्जरा कम ही होती हो। यदि ऐसा ही नियम हो, तो वहुलकर्मी जीव को कभी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सके। वास्तव में सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व वहुत अधिक (६९ कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण) कर्मों का क्षय हो जाता है, तभी वह सम्यक्त्व प्राप्त करता है। यदि मिथ्या-दृष्टि सदासर्वदा अधिक प्रमाण में ही वन्ध करता रहे, तो कालक्रम से उसे सभी पुद्गल-राशि को कर्म रूप में संग्रहित करने का प्रसंग आ सकता है, जिससे एक भी पुद्गल उससे अलग नहीं रहे, किन्तु ऐसा नहीं होता है। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि स्तंभ, कुंभ, वादल, पृथ्वी, गृह, शरीर, वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्रादि भाव से परिणत हुए पुद्गल, सदैव भिन्न रहते ही हैं। इसलिए वन्ध और निर्जरा के विषय में ये तीन भंग समझने चाहिए—

१ किसी को उत्कृष्ट कर्म-वन्ध के हेतु से और पूर्ववद्ध कर्मों की थोड़ी निर्जरा के हेतु से वन्ध

* सकषायी सयोगी अप्रमत्त अनगार के भी वन्ध तो होता है, किंतु अल्प-अल्पतरा आचार्यश्री ने यहाँ अल्प वन्ध की उपेक्षा की है।

अधिक और निर्जरा थोड़ी होती है, २ किसी को वन्ध और निर्जरा समान होती है और ३ किसी को बन्ध थोड़ा और निर्जरा अधिक होती है। इन भंगों में से कोई मिथ्यादृष्टि, जब तीसरे भंग में रहता है, तब उसे वन्ध थोड़ा और निर्जरा बहुत होती है। इससे वह ग्रंथिदेश को प्राप्त हो जाता है।

अनाभोग-अनिच्छापूर्वक इतने अधिक कर्मों की निर्जरा कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान करने के लिए आचार्य श्री पर्वतीय नदी में रहे हुए पाषाणखंड का उदाहरण देते हैं।

२ नदी का पत्थर—जिस प्रकार पर्वत से गिरने वाली नदी के प्रवाह को झेलने वाला अथवा प्रवाह से परस्पर टकराकर गोल होने वाला पत्थर अपने आप घिस कर गोल तथा त्रिकोणादि बन जाता है और कोमल स्पर्श वाला हो जाता है, वैसे ही कर्मजनित दुखों को भोगता हुआ जीव, हलका होकर यथाप्रवृत्तिकरण करते हुए ग्रंथिदेश को प्राप्त कर लेता है।

३ चींटियाँ—जिस प्रकार कुछ चींटियाँ, पृथ्वी पर स्वाभाविक रूप से चलती हैं, कुछ ठूंठ पर चढ़ती हैं, कुछ दीवाल पर चढ़ती है, कुछ खूंटे पर चढ़ कर उड़ जाती हैं, कुछ खूंट पर ही रह जाती हैं और कुछ खंभे पर चढ़कर पुनः नीचे उतर आती हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। चींटियों के स्वाभाविक रूप से पृथ्वी पर चलने के समान पहला यथाप्रवृत्तिकरण है। खूंट पर चढ़ने के समान अपूर्वकरण है। खूंट पर से उड़ने के समान अनिवृत्तिकरण है। जिसने ग्रंथि का भेदन नहीं किया—ऐसे ग्रंथिसत्व को खूंट पर ठहर जाने की तरह रुकना होता है और वहाँ से पुनः लौटने रूप कर्म-स्थिति की वृद्धि होती है।

४ मुसाफिर—तीन मुसाफिर स्वाभाविक गति से अटवी में जाते हुए वहुत-सा मार्ग उल्लंघ गये, किन्तु संध्या हो जाने से वे भयभीत हो गये। इतने में उन्हें दो चोर मिले। चोरों को देख कर उन तीन पथिकों में से एक तो पीछा लौट कर जिधर से आया था, उधर ही चला गया। दूसरे को एक चोर ने पकड़ लिया और तीसरा चोर से लड़ता हुआ हिम्मत पूर्वक, उसे हराकर आगे बढ़ गया और इच्छित स्थान पर पहुँच गया।

संसार रूपी अटवी में जीव रूपी पथिक चलते रहे। उन्हें राग-द्वेष रूपी चोरों का सामना हुआ। उनमें से एक जो चोरों को देख कर वापिस लौट गया, उसके समान ग्रंथि-देश से वापिस लौटने वाला है, उलटा लौटने से उसने अपनी कर्मस्थिति बढ़ा दी है। जिसे चोर ने पकड़ लिया, उसके समान ग्रंथि-देश में रहा हुआ जीव है और जो चोर का सामना करता हुआ आगे बढ़ा, उस के समान है। वह ग्रंथि को भेद कर सम्यक्त्व रूपी नगर में पहुँचने वाला है।

ग्रंथिदेश तक यथाप्रवृत्तिकरण लाता है, चोर का सामना करके—उसे पराजित करके आगे बढ़ने के समान अपूर्वकरण है और सम्यक्त्व रूपी नगर की प्राप्ति रूप—अनिवृत्तिकरण है।

५ मार्ग–शिष्य पूछता है–"भगवन् ! जीव ग्रंथि-भेद करके सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष-मार्ग को प्राप्त करता है, तो क्या किसी के द्वारा उपदेश देने पर प्राप्त करता है अथवा स्वाभाविक रूप से, या फिर दोनों प्रकार का योग मिलने पर भी प्राप्त नहीं कर सकता ?"

आचार्य कहते हैं–"वत्स ! जिस प्रकार वन में इधर-उधर भटकते हुए कोई जीव, अपने आप ही योग्य मार्ग प्राप्त कर लेता है, तो कोई दूसरों के मार्ग वतलाने से मार्ग पर आता है, किन्तु कई ऐसे भी होते हैं, जो किसी भी प्रकार से मार्ग नहीं पा कर भटकते ही रहते हैं। इसी प्रकार कोई भव्यात्मा, संसार रूपी वन में भटकते हुए अपने आप सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, तो कोई गुरु आदि के सदुपदेश से सम्यक्त्व पाता है, तो कई अभव्य अथवा दुर्भव्य जीव, सम्यक्त्व प्राप्त कर ही नहीं सकते। वे संसाराटवी में भटकते ही रहते हैं और ग्रंथिदेश तक आ कर वापिस लौट जाते हैं।

६ ज्वर–जिस प्रकार किसी व्यक्ति का ज्वर, विना औषधी के अपने आप उतर जाता है, किसी का औषधोपचार से छूटता है, तो किसी (तपेदिकादि) का औषधोपचार करते हुए भी नहीं छूटता, इसी प्रकार किसी भव्यात्मा का मिथ्यात्व रूपी ज्वर, विना प्रयत्न के अपने-आप छूट जाता है, तो किसी का गुरु के उपदेश रूपी औषधी के योग से छूटता है, और किसी अभव्य अथवा दुर्भव्य का मिथ्यात्व रूपी महाज्वर, किसी भी उपाय से नहीं छूटता है।

७ कोद्रव–एक प्रकार के 'कोद्रव' नामक धान्य की मादकता (कालान्तर से) स्वभाव से ही नष्ट हो जाती है, दूसरे प्रकार के कोद्रव की मादकता प्रयोग करने पर दूर होती है, किन्तु एक तीसरा प्रकार ऐसा भी होता है कि जिसकी मादकता वनी ही रहती है, प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटती। इसी प्रकार कुछ जीवों का मिथ्यात्व अपने-आप छूट जाता है, कुछ जीवों का उपदेशादि के योग से दूर होता है, तो कुछ जीव ऐसे भी होते हैं–जिनका मिथ्यात्व प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटता और वना ही रहता है।

मिथ्यात्व की शुद्धि इस प्रकार से होती है।

जिस प्रकार कोद्रव की शुद्धि करने से तीन प्रकार के वन जाते हैं। जिसमें कुछ कोद्रव सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं, कुछ अर्ध शुद्ध होते हैं, और कुछ शुद्ध होते ही नहीं–अशुद्ध ही रहते है। उसी प्रकार जीव, मिथ्यात्व के दलिकों को शुद्ध करते हुए उसके तीन पुञ्ज करता है–शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। इनमें से सम्यक्त्व को आवरित करने वाले रस को नष्ट कर के शुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों का जो पुञ्ज है, वह जिनोक्त तत्त्व-रुचि को आवरित नहीं करता, इसलिए उसे उपचार से 'सम्यक्त्व' कहते हैं। अर्धशुद्ध मिथ्यात्व-दलिकों के पुञ्ज को सम्यग्मिथ्यात्व–मिश्र–कहते हैं और जो सर्वथा अशुद्ध पुद्गलों का पुञ्ज है–वह मिथ्यात्व कहलाता है। इस प्रकार अपूर्वकरण से मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज हो जाते हैं,

किन्तु अनिवृत्तिकरण विशेष से जीव, सम्यक्त्व पुञ्ज मय हो जाता है। फिर दूसरे दो पुञ्ज मय नहीं रहता। जब सम्यक्त्व से पतित होकर पुनः सम्यक्त्व लाभ करता है, तब भी अपूर्वकरण से तीन पुञ्ज करके अनिवृत्तिकरण से सम्यक्त्व लाभ करता है।

शंका—दूसरी बार सम्यक्त्व लाभ करते समय 'अपूर्वकरणता' क्यों कही जाती है ? वह अपूर्व तो रहा ही नहीं, क्योंकि वह दूसरी बार सम्यक्त्व प्राप्त कर रहा है ?

समाधान—सिद्धांतवादी और वृद्ध आचार्य कहते हैं कि स्वल्प समय तक ही उसका लाभ होता है। इसलिए अपूर्व के समान होने से उसे अपूर्वकरण कहते हैं। किन्तु कर्मग्रंथ का मत है कि 'अन्तर-करण' करते हुए जीव, उपशम सम्यक्त्व लाभ करता है और उसीसे तीन पुञ्ज करता है। उसके बाद क्षायोपशमिक पुञ्ज के उदय से क्षयोपशम सम्यक्त्व पाता है।

अब ग्रंथिदेश तक आये हुए अभव्य की दशा बताई जाती है।

तीर्थंकर भगवंत की महिमा पूजा (भक्ति) देख कर अभव्य मनुष्य अपने मन में विचार करता है कि—"इस धर्म से ऐसा सत्कार होता है, राज्यऋद्धि अथवा दैविक सुख प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार की इच्छा से, ग्रंथिदेश को प्राप्त हुआ अभव्य, ऋद्धि आदि के लोभ से, कष्टकारी धर्मानुष्ठान करता है। किन्तु मोक्ष की श्रद्धा से रहित होने से वह सम्यक्त्व सामायिक से सर्वथा शून्य होता है। उसे अज्ञान रूप श्रुत सामायिक का लाभ हो सकता है, क्योंकि अभव्य को भी ग्यारह अंगों का अध्ययन होना शास्त्र में माना है ×।

जिस प्रकार प्रयोग करने से कोद्रव धान्य अशुद्ध, अर्धशुद्ध और शुद्ध होता है, उसी प्रकार अपूर्व-करण रूप परिणाम से मिथ्यात्व भी शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध, यों तीन प्रकार का हो जाता है।

८-९ जल वस्त्र—पानी और वस्त्र मलिन होता है, तब शुद्ध करने से कुछ पानी और वस्त्र शुद्ध हो जाता है, कुछ अर्ध शुद्ध होता है, तो कुछ अशुद्ध ही रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपूर्वकरण रूप परिणाम से, दर्शनमोहनीय कर्म को शुद्ध करते हुए कुछ अशुद्ध—मिथ्यात्व, कुछ अर्धशुद्ध—मिश्र और कुछ शुद्ध—सम्यक्त्व, यों तीन प्रकार बन जाते हैं। किन्तु अनिवृत्तिकरण करने पर मिथ्यात्व और मिश्रपुञ्ज नहीं रहते, केवल शुद्ध सम्यक्त्व ही रहता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति बड़े पराक्रम से होती है। यथाप्रवृत्तिकरण तो जीव ओघसंज्ञा से भी कर लेता है, किन्तु अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण प्रबल पुरुषार्थ से होता है। मिथ्यात्व की अनादि काल की बँधी हुई और कठोरतम बनी हुई ग्रंथि को भेदना सरल नहीं है। जिन्हें सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न प्राप्त हो गया, वे महान् भाग्यशाली हैं। उन्हें अपने महान् रत्न की प्राणपण से सुरक्षा करनी चाहिए, और विरति के द्वारा आत्मविकास करते हुए अजरामर पद प्राप्त करना चाहिए।

× यहां मतभेद है, क्योंकि अभव्य को नौवें पूर्व से अधिक तक का श्रुत होना शास्त्र मान्य है।

सम्यक्त्व

हां, तो धर्म का उद्‌गम स्थान परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् है। उन्होंने आत्मा के लिए उत्थान का सबसे पहला कदम 'सम्यग्दर्शन' बतलाया है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—यथार्थदृष्टि= सत्य दृष्टि, तत्त्व विषयक वास्तविक विश्वास अथवा ध्येय-शुद्धि। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने वाले की सफलता का मूल आधार ही यथार्थ-दृष्टि होती है। दृष्टि विकार के चलते कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती। जन्म, जरा, रोग, शोक आदि दुःखों से सर्वथा छूट कर, शाश्वत परम सुख की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। उस मोक्ष को उसके रूप, उपाय आदि तथा अपने स्वरूप आदि की सत्य समझ का नाम ही सम्यग्दर्शन है। उत्तराध्ययन अ० २८ गा० १५ में लिखा है कि—

"तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं" ॥

—जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के उपदेश का अन्तःकरण से विश्वास करने वाले को सम्यग्-दर्शन होता है—ऐसा जिनेश्वर देवों ने कहा है। यही बात संक्षेप में तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन शब्दों में कही है—"**तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**"—तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन।

सम्यक्त्व के चार अंग

अब सम्यग्दर्शन की आराधना का स्वरूप समझ लेना चाहिए। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० २८ में दर्शनाराधना का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

"परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठ-परमत्थ-सेवणा वा वि।
वावण्ण-कुदंसण-वज्जणा, य सम्मत्त-सद्दहणा।" ॥

अर्थात्–१ परमार्थ का कीर्त्तन करना, विशेष मनन करना, २ सम्यग्दर्शनी–परमार्थ के ज्ञाता की सेवा करना ३ सम्यक्त्व से पतित हुए की संगति का त्याग करना और ४ मिथ्यादर्शनी की संगति का त्याग करना, यह सम्यक्त्व की श्रद्धान है।

१ परमार्थ संस्तव–परमार्थ का अर्थ 'मोक्ष' होता है और मोक्ष के कारणभूत तत्त्व-ज्ञान=नव तत्व, जिनवाणी, देव, गुरु और धर्म, इनका परिचय करना, गुण कीर्त्तन करना, हृदय के पूर्ण उल्लास के साथ निर्ग्रंथ-प्रवचन का आदर करना–'**सद्दहामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं**' इस प्रकार अन्तस्तल से मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों के प्रति आदर-भाव व्यक्त करना। मोक्ष के उत्तम निमित्त देव गुरु और धर्म के प्रति बहुमान रखते हुए गुण-गान करना, जैसे कि–

"अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं" (आवश्यक सूत्र)

–इस जीवन में अरिहंत भगवान् ही मेरे देव हैं, सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिनेश्वर प्रणीत तत्त्व ही मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैंने जीवनपर्यन्त के लिए ग्रहण किया है। इस प्रकार की हार्दिक अभिव्यक्ति, परमार्थ-संस्तव है।

२ सुदृष्ट परमार्थ सेवन–जो सम्यग्दृष्टि और परमार्थ की आराधना करने वाले हैं, उन आचार्य, उपाध्याय और साधु तथा महासतीजी की सेवा करना।

३ व्यापन्न वर्जन–जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया, जिनकी दृष्टि बदल गई, जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो चुके, ऐसे निन्हव अथवा अन्य मत को ग्रहण करने वालों की संगति का त्याग करना।

४ कुदर्शन वर्जन–कुदर्शनी= अन्य मतावलम्बी की संगति का त्याग करना।

पुर्वोक्त चार नियमों में पिछले दो तो 'रक्षा-कवच' के समान है, और पहले दो उन्नति के साधन हैं। रक्षाकवच–पिछले दो नियमों का पालन करते हुए, पहले के दो नियमों द्वारा दर्शन आराधना करते रहने वाला, उत्तरोत्तर उन्नत होता हुआ, क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन सकता है।

इस दर्शनाचार को पालन करने के निम्न आठ नियम श्री उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ३१ से इस प्रकार बताये हैं–

१ निःशंकित–जिनेश्वर भगवंतों के वचनों में शंका रहित होना और हृदय में दृढ़ विश्वास होना कि–"**तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं**"–जिनेश्वर भगवंतों ने कहा, वह सर्वथा सत्य और शंका रहित है।

(आचारांग १–५–५ तथा भगवती १–३)

२ निःकांक्षित—जिनधर्म=निर्ग्रंथ-प्रवचन में दृढ़ रहना, पर दर्शन की इच्छा नहीं करना और यह विश्वास रखना कि—

"कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे।" (उत्त० अ० २३-६३)

पहले के श्रावक एक दूसरे से मिलते, तब आपस में अपने भावों को व्यक्त करते हुए कहते कि—
"अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे," (भगवती २-५ तथा सूयग० २-२) इस प्रकार हमें भी अपने धर्म में विशेष दृढ़ रह कर कांक्षारहित होना ही चाहिए।

३ निर्विचिकित्सा—धर्म आराधना=संयम और तप के फल के विषय में शंकाशील नहीं होना। जो भी क्रिया की जाती है, उसका फल अवश्य मिलता है। वर्त्तमान में जो सुख-दुःख दिखाई देता है, वह पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। इस समय जो आतम-साधना की जा रही है, उसका फल अवश्य मिलेगा।

इसका दूसरा अर्थ—निर्ग्रंथों के मलिन वस्त्र और मैला शरीर देख कर घृणा नहीं करना।

४ अमूढ़दृष्टि—अन्यदर्शनी को विद्या, बुद्धि और धन-सम्पत्ति में बढ़ा-चढ़ा देख कर भी विचलित नहीं होना और अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखना।

५ उपबृंहण—गुणवानों के गुण की प्रशंसा करना, उनके गुणों में वृद्धि करना और स्वयं भी उन गुणों को प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना।

६ स्थिरीकरण—धर्म से डिगते हुए को धर्म में स्थिर करना और स्वयं भी स्थिर होना।

७ वात्सल्य—सार्धमियों के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना। उनके दुःखों को मिटाने का यथाशक्ति प्रयत्न करना।

८ प्रभावना—जिनधर्म की उन्नति करने में प्रयत्नशील रहना, प्रचार करना, जिससे दूसरे लोग भी धर्म के सम्मुख होकर आत्म-कल्याण करे। इसके भेद आगे बताये जावेंगे।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की आराधना से जीव, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से बढ़ कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और बढ़ते-बढ़ते केवलदर्शन प्राप्त करके सर्वदर्शी हो जाता है।
(उत्तरा० २९-६०)

लक्षण

सम्यग्दृष्टि के पाँच लक्षण होते हैं—१ सम अथवा शम—इतना विषम नहीं बनना कि जिससे

अनन्तानुवन्धी कषाय के उदय में कारण वनजाय। विपम स्थिति को कर्मपरिणाम मान कर शान्त रहना। २ संवेग–धर्म के प्रति प्रेम रखना–मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखना। ३ निर्वेद–संसार के प्रति उदासीन रहना। ४ अनुकम्पा–दुःखी जीवों पर अनुकम्पा करना। ५ आस्तिक्य–जिनेन्द्र भगवान् के वचनों पर विश्वास रखना। ये सम्यग्दृष्टि के पाँच लक्षण हैं।

ये ही लक्षण पश्चानुपूर्वि ढंग से समझना अधिक उपयुक्त होगा, जैसे–सवसे पहले आस्तिक्य=श्रद्धा होती है। "**पढमंनाणं तओ दया**" प्रथम ज्ञान-दर्शन, फिर दया = अनुकम्पा तथा "जो जीवाजीव को जानता है, वही संयम पाल सकता है" (दशवै० ४ गा० १०–१३) अर्थात् दर्शन युक्त ज्ञान (आस्तिक्य) पहले हो, उसके वाद अनुकम्पा होती है। वह सम्यग्दृष्टि पूर्वक अनुकम्पा है। श्रद्धालु की अनुकम्पा स्व-परानुकम्पा होगी, वह हिंसा को अपने लिए भी दुःखदायक मानेगा। उसकी संसार के प्रति उदासीनता = निर्वेद होगा। जव संसार से उसकी प्रीति हटेगी, तो मोक्ष में प्रीति = संवेग वढ़ेगा। इस प्रकार निर्वेद पूर्वक संवेग वाली आत्मा में 'समत्व' विशेप रूप से आ सकेगा, क्योंकि वह सुख-दुःख को पूर्वकृत कर्मों का फल मान कर संसार के प्रति = भौतिक सुखों के प्रति, उदासीन रहेगा। समत्व को विशेष रूप से प्राप्त करने वाली आत्माएँ ही स्वावलम्वी होती है और 'असहेज्जदेवासुरनाग......... जैसी दृढ़तम स्थिति को प्राप्त होकर प्रशंसित होती है। वह समत्ववाली आत्मा, विरति के द्वारा अशुभ प्रवृत्ति पर अंकुश लगा कर पाँचवें सातवें और क्रमशः आगे के गुणस्थानों में प्रवेश करती है।

(ये पाँचों लक्षण 'धर्मसंग्रह' में लिखे हैं और आगमानुकूल है। अनन्तानुवन्धी के क्षयोपशमादि रूप समत्व, स्थानांग ४ में, संवेग निर्वेद और आस्तिक्य उत्त० २९ में तथा अनुकम्पा ज्ञाता अ० १ प्रश्नव्या० २–१ में है)

सम्यक्त्व के ६७ अंग

सम्यग्दर्शन की आराधना के विषय में पूर्वाचार्यों ने 'सम्यक्त्व के ६७ वोल वतलाये हैं, जो अवश्य ही पालने योग्य हैं। उनमें से चार श्रद्धान और पाँच लक्षण का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। शेष आगे दिये जा रहे हैं,–

तीन लिंग–१ प्रवचन प्रेम–जिनवाणी के प्रति अतिव प्रेम होना, शास्त्र श्रवण, स्वाध्याय, धर्म-चर्चा में इस प्रकार उत्कट अनुराग होना कि जिस प्रकार तरुण पुरुष का रंग-राग में होता है। उववाई में वीरवाणी सुनते समय कुणिक नरेश का ऐसा ही अनुराग व्यक्त हुआ है २ धर्मप्रेम–चारित्र धर्म के प्रति प्रेम होना, जिस प्रकार तीन दिन का भूखा मनुष्य, भोजन में विशेष रुचि रखता है, उसी प्रकार चारित्र धर्म की विशेष इच्छा रखना। '**पेमाणुराग रत्त**' का यह लक्षण है और संवेग में भी इसकी

गणना हो सकती है ३ देव गुरु की वैयावृत्य–देव-गुरु में आदर, बहुमान, सत्कार संमानादि वैयावृत्य करना। इससे सम्यक्त्वी की पहिचान होती है।

दस प्रकार का विनय–१ अरिहन्तों का विनय २ अरिहन्त प्ररूपित धर्म का विनय ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ स्थविर ६ कुल ७ गण ८ संघ ९ चारित्र धर्म और १० साधर्मी का विनय। इनसे दर्शन में दृढ़ता आती है। भगवती सूत्र श० २५ उ० ७ में दर्शन-विनय के दो भेद आये हैं, उनमें इनका समावेश हो जाता है।

तीन शुद्धि–जिनेश्वर देव, उनका प्रवचन = जिनागम और उनकी आज्ञानुसार चलने वाले साधु, इन तीनों को विश्व में सारभूत मानना यह–१ मन शुद्धि २ गुणग्राम करना वचनशुद्धि और ३ काया से नमस्कार करना आदि कायशुद्धि है (उववाई)।

पाँच दूषण त्याग–१ शंका–श्री जिनवचनों की सत्यता में सन्देह करना २ कांक्षा–बौद्धादि अन्य दर्शन की इच्छा करना ३ विचिकित्सा–संयम तप आदि आज्ञायुक्त करणी के फल में सन्देह करना ४ परपाषंडी प्रशंसा–सर्वज्ञ भगवान् प्रणीत जिनधर्म के सिवाय दूसरे मतवालों की प्रशंसा करना और ५ परपाषंडी संस्तव–अन्य मतावलम्बियों के साथ रहना, अलाप-संलाप आदि परिचय करना। ये सम्यक्त्व के पाँच दोष हैं। इससे सम्यक्त्व मलिन होती है (उपासकदसांग अ० १) यदि विशेष परिचय बढ़ाया जाय, तो सम्यक्त्व का वमन हो कर मिथ्यात्व में चला जाता है। इसलिए इन अतिचारों (दोषों) से सदैव बचते रहना चाहिए।

आठ प्रभावना–धर्म प्रचार जिससे हो वह 'प्रभावना' कहलाती है और प्रचारक को 'प्रभावक' कहते हैं। यह प्रचार आठ प्रकार से होता है।

१ जिनेश्वरों के उपदेश का सर्वत्र प्रचार करना २ हेतु व दृष्टांत सहित समझाना ३ वाद प्रभावना–अन्य मतावलम्बियों के असत्य सिद्धांत या आक्षेप को वाद द्वारा हटा कर धर्म की प्रभावना करना ४ निमित्त द्वारा–यदि भूत-भविष्य का ज्ञान हो, तो उससे धर्म पर आने वाली आपत्ति से बचाव करते हुए सावधानी पूर्वक धर्म का आचरण करे, जिससे लोग प्रभावित हों, ५ उग्रतप करके ६ विद्या द्वारा ७ प्रसिद्ध व्रत ग्रहण करे और ८ कवित्व शक्ति के द्वारा लोगों को प्रभावित करके धर्म का प्रचार करना।

पाँच भूषण–१ जिन-शासन में निपुण होना २ जिन-धर्म के गुणों की महत्ता प्रकट करना ३ साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थ की सेवा करना ४ धर्म से डिगते हुए को स्थिर करना और ५ महापुरुषों का विनय करना।

छः यतना–सम्यक्त्व को सम्हाल कर सावधानीपूर्वक सुरक्षित रखने के उपाय को यतना कहते

हैं, जो छः प्रकार की है—१ सम्यग्दृष्टि गुणज्ञों को वन्दना करना, प्रशंसा करना २ नमस्कार करना ३ अलाप—वातचीत करना, प्रेम पूर्वक आदर देना ४ संलाप—वार-वार मिष्ठ वचन वोलना, धर्मचर्चा करना, क्षेम-कुशल पूछना ५ आहारादि आवश्यक वस्तु देना और ६ सम्मान करना।

स्थान छः—सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा उसी आत्म-मन्दिर में हो सकती है—जहाँ उसके योग्य स्थान हो। जिस भव्य आत्मा में—१ आत्मा है, २ वह शाश्वत नित्य एवं उत्पत्ति और विनाश रहित है, ३ वह कर्म का कर्त्ता है, ४ कर्म का भोक्ता भी वही है, ५ मोक्ष है और ६ मोक्ष का उपाय भी है। इस प्रकार की मान्यता को जिस आत्मा में स्थान है, वही सम्यक्त्व का निवास-स्थान है। इस प्रकार की मान्यता रखने का विधान सूयग० २—५ में और उववाई सूत्र में है।

भावना छः—सम्यक्त्व को अपने आत्म-मन्दिर में सुरक्षित रखते हुए दृढ़ीभूत करने की छः भावनाएँ हैं। सम्यक्त्वी आत्मा यह भावना करे कि मेरी सम्यक्त्व १ धर्म रूपी वृक्ष का मूल है २ धर्म रूपी नगर का द्वार है ३ धर्म रूपी महल की नींव है ४ धर्म रूपी जगत् का पृथ्वी रूपी आधार है ५ धर्म रूपी महा रसायन को धारण करने वाला उत्तम पात्र है और ६ चारित्र रूपी महान् निधि को सुरक्षित रखने वाला खजाना (तिजोरी) है। इन भावनाओं के वल से आत्मा सर्वदर्शिता के निकट पहुँचती है।

आगार छः—विकट परिस्थिति उत्पन्न होने पर अधोमार्ग अपनाकर दोप सेवन करना, आत्म-वल की कच्चाई है, किन्तु गृहस्थ साधकों में अधिकांश आत्म-वल के धनी नहीं होते। उनके लिए निम्न छः आगार—छूट—रखी गई है, जिससे वे रुक्ष-भाव से दोषों का सेवन करके पुनः अपने सम्यक्त्व में स्थिर हो सके। ये आगार श्रमणों के लिए नहीं है। श्रावक भी दूसरों के दवाव या विकट परिस्थिति के कारण ही इन अपवादों का सेवन करता है।

१ राजा के दवाव से, २ गण = संघ—समूह के दवाव से, ३ वलवान के भय से, ४ देव के भय से, ५ माता-पितादि ज्येष्ठ जन के दवाव से और ६ अटवी में भटक जाने पर अथवा आजीविका के कारण कठिन परिस्थिति को पार करने के लिए, किन्हीं मिथ्यादृष्टि देवादि को वन्दनादि करनी पड़े, तो इसकी छूट रखी गई है। (उपासक दशांग अ. १)

इस प्रकार सम्यक्त्व = दर्शन की आराधना की जाती है। इसकी प्राप्ति निम्नलिखित दस प्रकार से होती है।

सम्यक्त्व रुचि

१ निसर्ग रुचि—मति—ज्ञानावरण एवं दर्शन-मोहनीय का क्षयोपशम हो जाने से जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा अपने-आप ही—विना उपदेश या शास्त्र पठन के, सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाना।

२ उपदेश रुचि–सर्वज्ञ अथवा छद्मस्थ मुनिवरों के उपदेश के निमित्त से सम्यक्त्व लाभ होना।

३ आज्ञारुचि–वीतराग भगवान् अथवा गुरु की आज्ञा से ही जिनप्ररूपित तत्त्वों पर रुचि होना।

४ सूत्र रुचि–आचारांगादि अंग-प्रविष्ट तथा उववाई आदि अंग-बाह्य सूत्रों के अध्ययन से तत्त्व श्रद्धान होना।

५ बीज रुचि–जिस प्रकार एक बीज से अनेक बीज उत्पन्न होते हैं और जल में डाली हुई तेल की बूंद फैल जाती है, उसी प्रकार एक पद से अनेक पदों को समझना और श्रद्धा करना–संकेत से समझ कर श्रद्धा करना–बीज-रुचि सम्यक्त्व कहलाती है।

६ अभिगम रुचि–ग्यारह अंग, दृष्टिवाद तथा अन्य सूत्र ग्रंथों को अर्थयुक्त पढ़ने से श्रद्धा का होना।

७ विस्तार रुचि–द्रव्यों के सभी भावों और सभी प्रमाणों तथा नयनिक्षेपादि विस्तार से जानने के बाद होने वाली श्रद्धा।

८ क्रिया रुचि–ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, विनय, वैयावृत्य, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रिया करते हुए या इन क्रियाओं के निमित्त से होने वाली श्रद्धा।

९ संक्षेप रुचि–जो जिन-प्रवचन को विस्तार से नहीं जानता है और ज्ञानावरणीय के उदय के कारण मंद-बुद्धि होने से विशेष समझ नहीं सकता, किन्तु जिसने मिथ्या-मत को भी ग्रहण नहीं किया है और केवल यही जानता है कि "जो जिनेश्वर के वचन हैं, वे सर्वथा सत्य हैं," इस प्रकार की संक्षेप रुचि।

१० धर्म रुचि–सर्वज्ञ वीतराग प्ररूपित धर्मास्तिकायादि द्रव्य और श्रुत-चारित्र धर्म की प्रतीति होना, धर्म रुचि है। (उत्तराध्ययन अ० २७)

उपरोक्त दस भेदों का स्थानांग स्थान २ में 'निसर्ग सम्यक्त्व' और 'अधिगमिक सम्यक्त्व' में समावेश हुआ है। इस जमाने में दर्शन प्राप्ति और स्थिरता के मुख्य निमित्त सद्गुरु सेवा, वाणीश्रवण, सूत्रस्वाध्याय, सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग् साहित्य का परिचय है। इससे क्षयोपशम में सहायता होती है और सम्यक्त्व सुरक्षित रहती है।

सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व का अर्थ–'तत्त्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान' है और जिसमें यह हो, वही सम्यक्त्वी है। फिर भी विशेष अपेक्षा से इसके निम्न भेद किये गये हैं–

१ उपशम सम्यक्त्व–मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, इन सात के उपशम–अनुदय से होने वाली तत्त्वरुचि। मिथ्यात्व प्रेरक कर्म-पुद्गलों के

सत्ता में रहते हुए भी उदय में नहीं आना और राख में दबी हुई अग्नि की तरह उपशान्त रहना—उपशम सम्यक्त्व है। (अनुयोगद्वार सूत्र)

विशेषावश्यक भाष्य गा० २७३५ के अनुसार यह सम्यक्त्व या तो उपशम-श्रेणी प्राप्त जीव को होता है, या फिर अनादि मिथ्यात्वी को, यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, एवं अनिवृत्तिकरण द्वारा होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त का है। यह ग्रंथिभेद = अनादि मिथ्यात्व के नष्ट होने पर होता है।

२ क्षायिक सम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय कर्म की तीनों प्रकृति और अनन्तानुबन्धी कषाय का चोक, इन सातों प्रकृतियों के सर्वथा क्षय हो जाने से होने वाला सम्यक्त्व। यह सम्यक्त्व, सर्वथा निर्मल—दोष रहित होता है और होने के बाद सदाकाल स्थायी रहता है, फिर कभी नहीं छूटता, क्योंकि मिथ्यात्व का बीज समूल नष्ट कर देने से फिर उसके उदय का कोई कारण ही नहीं रहता (अनुयोगद्वार सूत्र)।

३ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी चोक के क्षयोपशम से होने वाली तत्त्वरुचि।

उदय में आये हुए मिथ्यात्व के कर्म-दलिकों का क्षय कर देना और उदय में नहीं आये हुए को उपशान्त करना—'क्षयोपशम' कहलाता है। (अनुयोगद्वार सूत्र)

यद्यपि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय की—मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय, इन दो तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के चोक का—यों छः प्रकृति का क्षयोपशम होता है और सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय चालू रहता है और इसमें मिथ्यात्व के शुद्ध दलिक उदय में रहते हैं, फिर भी वे इतने सबल नहीं होते कि जिससे सम्यक्त्व का घात कर दें। उनसे रसोदय नहीं होता, प्रदेशोदय होता रहता है। इसके कारण अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार दोष लगने की सम्भावना है। (अनाचार में रसोदय होता है)

उपशम सम्यक्त्व में न तो रसोदय होता है और न प्रदेशोदय होता है। किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेशोदय होता है। यही इन दोनों में भेद है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है।

४ सास्वादन सम्यक्त्व—सम्यक्त्व का मिटता हुआ आस्वाद = परिणाम। उपशम सम्यक्त्व से गिरते हुए और मिथ्यात्व को प्राप्त करने के पूर्व की स्थिति। यह स्थिति चौथे गुणस्थान से गिर कर प्रथम गुणस्थान में पहुँचने के बीच की है। इसका गुणस्थान दूसरा है और इसकी स्थिति भी जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका की होती है। (विशेषावश्यक गा० ५३१)

जिस प्रकार क्षीर का भोजन करने के बाद किसी को वमन होने पर भी कुछ समय तक क्षीर का स्वाद जिव्हा पर रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के वमन होने पर उसका किंचित्—नष्ट होता हुआ, प्रभाव आत्मा पर होता है।

इस स्थिति में तत्त्व के प्रति अरुचि अव्यक्त रूप से रहती है और अनन्तानुबन्धी चोक का उदय हो जाता है।

इस दशा का दूसरा उदाहरण यह भी है—वृक्ष से टूट कर पृथ्वी पर गिरने वाले फल की मध्य अवस्था। फल वृक्ष से तो टूट चुका, किन्तु अभी पृथ्वी पर नहीं गिर कर, नीचे आ रहा है, यह मध्य की दशा जैसी स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व की है।

५ वेदक सम्यक्त्व—क्षपक श्रेणी अथवा क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व, अनन्तानुवन्धी चतुष्क और मिथ्यात्व-मोहनीय तथा मिश्रमोहनीय को क्षय कर चुकने पर तथा सम्यक्त्वमोहनीय के अधिकांश दलिकों को क्षय कर देने पर, अन्तिम पुद्गल जो रहते हैं, उन्हें नष्ट करते समय अन्तिम एक समय में जो सम्यक्त्व वेदनीय का वेदन होता है, वह 'वेदक सम्यक्त्व' है अर्थात् क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त होने के एक समय पूर्व की स्थिति—जिसमें नष्ट होते हुए दर्शनमोहनीय के दलिकों का वेदन करना। ('संवोध प्रकरण' सम्यक्त्वाधिकार गा० २१ तथा कर्मग्रंथ भा. १ गा० १५)

६ कारक सम्यक्त्व—जिस श्रद्धान के कारण चारित्र में परिणति हो अथवा जिस आचरण से दूसरों में सम्यक्त्व का आविर्भाव हो, वह कारक—क्रियाशील सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व विशुद्ध चारित्र-वान में होती है। (विशेषावश्यक गा० २६७५)

आचारांग सूत्र अ० ५ उ० ३ का—'**जं सम्मंति पासह तं मोणंति पासह**'—कारक सम्यक्त्व के भाव को प्रकट करता है।

७ रोचक सम्यक्त्व—रुचि मात्र की उत्पादक, जिसके कारण चारित्र में मात्र रुचि ही हो, वह अविरत सम्यग्दृष्टि का—चौथे गुणस्थान का सम्यक्त्व।

८ दीपक सम्यक्त्व—जिस प्रकार दीपक अपने में अन्धकार रख कर, पर को प्रकाशित करता है, अपने नीचे अन्धेरा होते हुए दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त करले, किन्तु स्वयं सम्यक्त्व से वंचित ही रहे, ऐसे अन्तरंग में मिथ्यादृष्टि, किन्तु वाहर से यथार्थ प्रतिपादन करके जिनोपदेश के अनुसार उपदेश करता है और उसके यथार्थ उपदेश से दूसरे जीवों को सम्यक्त्व लाभ होता है, ऐसे जीव की यथार्थ प्ररूपणा, दूसरे में सम्यक्त्व जगाने का कारण होने से उपचार से सम्यक्त्व कहा है। (विशेषावश्यक भा० गा० २६७५)

९ निश्चय सम्यक्त्व—जिसके कारण आत्मा का ज्ञान-गुण निर्मल हो और वह अपनी आत्मा को ही देव स्वरूप, गुरु रूप और धर्म मय माने, अनन्तगुणों का भण्डार समझे, आत्मा को ही सामायिक, संवर आदि रूप माने—वह निश्चय सम्यक्त्व है।

१० व्यवहार सम्यक्त्व—अरिहन्त भगवान् को सुदेव, निर्ग्रन्थ श्रमण को सुगुरु और केवली प्ररू-

पित धर्म को सद्धर्म माने, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म की तथा नवतत्त्वादि जिन-प्रवचन की यथार्थ श्रद्धा करे, वह व्यवहार सम्यक्त्व है। इसके ६७ भेद पृ० ५० में दिये गए हैं।

११ द्रव्य सम्यक्त्व-विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों को 'द्रव्य सम्यक्त्व' कहते हैं।

१२ भाव सम्यक्त्व-केवली प्ररूपित धर्म में श्रद्धा, रुचि और प्रतीति होना।

(आवश्यक सूत्र तथा कर्मग्रंथ भा० १ गा० १५)

प्रवचनसारोद्धार गा० ९४२ से सम्यक्त्व के निम्न भेद भी दिये गए हैं–

एक भेद–तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्व। यह सभी भेदों में रहता है।

दो भेद–१ निसर्गज = अपने आप विशुद्धि होने से या जातिस्मरण ज्ञानादि से होने वाला।

२ अधिगम = गुरु के उपदेश से अथवा आगमों के अध्ययन से होने वाला।

तथा–१ द्रव्य स० २ भाव स० अथवा–१ निश्चय स० २ व्यवहार स०।

तीन भेद–१ कारक २ रोचक ३ दीपक।

अथवा–उपशम २ क्षायिक ३ क्षायोपशमिक।

चार भेद–उपरोक्त तीन में 'सास्वादन सम्यक्त्व' मिलाने से।

पाँच भेद–उपरोक्त चार में 'वेदक सम्यक्त्व' मिलाने पर।

दस भेद–उपरोक्त पांचों को निसर्ग और अधिगम से गुणने पर दस भेद हुए अथवा निसर्गरुचि आदि १० प्रकार की रुचि से दस भेद हुए।

सम्यक्त्व के नौ भंग

चारित्र-मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी–१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ और दर्शन-मोहनीयकर्म की ५ मिथ्यात्वमोहनीय ६ मिश्रमोहनीय और ७ सम्यक्त्वमोहनीय, इन सातों प्रकृतियों के उदय में मिथ्यात्व रहता है और क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से सम्यक्त्व होता है।

इनके नौ भंग इस प्रकार है–

(१) सातों प्रकृतियों का क्षय हो जाना-क्षायिक सम्यक्त्व है।

(२) सातों प्रकृतियों का उपशम होना–औपशमिक सम्यक्त्व है।

(३) प्रथम की चार का क्षय और तीन का उपशम
(४) " पाँच " दो "
(५) " छः " एक "
} क्षयोपशम सम्यक्त्व है।

(६) प्रथम की चार का क्षय, दो उपशम और एक का उदय। } क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व है।
(७) " पाँच का क्षय, एक का उपशम और एक का उदय। }
(८) " छः का क्षय, एक का उदय—क्षायक वेदक सम्यक्त्व है।
(९) " छः का उपशम, एक का उदय—ओपशमिक वेदक सम्यक्त्व है।

उपरोक्त ९ भंगों में से प्रथम के दो भंगों को छोड़ कर शेष सात भंग से होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी कहते हैं। इन नौ भंग में से दूसरे और नौवें भंग के स्वामी, अवश्य ही पड़वाई (मिथ्यात्व में गिरने वाले) होते हैं। (गुणस्थानद्वार)

समकिती की गति

'सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव की गति कौन-सी होती है'—इस विषय पर विचार करना भी आवश्यक है। जिस जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व, मिथ्यात्व अवस्था में ही आयु का बन्ध कर लिया है, वह तो अपने बन्ध के अनुसार चारों गति में से किसी भी गति में जा सकता है, किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद—सम्यक्त्व के सद्भाव में, यदि वह मनुष्य या तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय है, तो वह मात्र वैमानिक देव का ही आयुष्य बाँधता है। इसके अतिरिक्त किसी दूसरी गति का आयुष्य बाँध ही नहीं सकता और यदि वह जीव देव या नारक है, तो मनुष्य आयु का बन्ध करता है।

श्री भगवती सूत्र श० ३० उ० १ में लिखा है कि—"सम्यग्दृष्टि—क्रियावादी जीव, नैरयिक और तिर्यंच आयु का बन्ध नहीं करते, वे मनुष्य और देवायु का बन्ध करते हैं।"

उपरोक्त विधान का तात्पर्य यह है कि—जो देव और नारक हैं, वे तो मनुष्य आयु का ही बन्ध करते हैं, क्योंकि न तो देव मर कर पुनः देव हो सकता है और न नारक मर कर सीधा देव हो सकता है। इसलिए देव और नारक सम्यग्दृष्टि जीव, एकमात्र मनुष्यायु का ही बन्ध करते हैं अर्थात् वे मनुष्य गति ही प्राप्त कर सकते हैं और मनुष्य तथा तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव, एक मात्र देवायु का ही बन्ध करते हैं। इसी बात को निम्न विधान भी स्पष्ट करता है,—

"कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले क्रियावादी, केवल मनुष्यायु का ही बन्ध करने हैं +।"

उपरोक्त विधान नारक और भवनपति तथा व्यन्तर देवों की अपेक्षा से है। इसका सम्बन्ध मनुष्य तथा तिर्यंच पंचेन्द्रिय से नहीं है, क्योंकि—मनुष्य और तिर्यच पंचेन्द्रिय क्रियावादी—जो कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में हैं, वे किसी भी गति का आयु (तीन अशुभ लेश्या में) नहीं बांधते हैं, क्योंकि

इनको इन तीन लेश्या में आयु-बन्ध के योग्य परिणाम नहीं होते। आगे चल कर यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि–

"क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के विषय में मनःपर्यवज्ञानी के समान जानना चाहिये।"

और निम्न विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि–

"कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले क्रियावादी मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय, किसी भी गति का आयुष्य नहीं बाँधते हैं●।"

इस विधान की टीका में श्री अभयदेवसूरिजी ने लिखा है कि–वे क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्च, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या में ही आयु का बन्ध करते हैं और वैमानिक देवों में ये तीन शुभ लेश्याएँ ही हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यंच के विषय में मूल पाठ में यह स्पष्ट लिखा है कि–

"सम्मदिट्ठी जहा मणपज्जवणाणी तहेव वेमाणियाउयं पकरेइ।"

अर्थात्–सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यञ्च, मनःपर्यवज्ञानी के समान वैमानिक देव का ही आयु बाँधते हैं।

यदि मनुष्य और तिर्यंच, मनुष्य और तिर्यंच का ही आयु बाँधे, तो उसमें आयु-बन्ध के समय मिथ्यादृष्टि होती है। क्योंकि इस प्रकार के मरण को 'तद्भवमरण' कहा है और यह बालमरण है (भगवती श० २ उ० १) और प्रथम गुणस्थान में होता है। कर्मग्रंथ के मत से ऐसा मरण प्रथम और द्वितीय गुणस्थान में भी माना है (कर्मग्रन्थकार तो प्रथम के तीनों गुणस्थानों में अज्ञान ही मानते हैं। वे दूसरे गुणस्थान में ज्ञान नहीं मानते हैं)। जो कि मिथ्यात्व के सम्मुख हो रहा है, किन्तु सिद्धांत और कर्मग्रंथ के मत से यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य और तिर्यंच का आयुष्य बाँधने वाले मनुष्य और तिर्यंच, सम्यग्दृष्टि नहीं होते।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च, एक मात्र देवायु का ही बन्ध करते हैं और यह देवायु भी भवनपत्यादि तीन का नहीं, किन्तु एक मात्र वैमानिक का ही। यह बात निम्न मूल पाठ से सिद्ध होती है,–

"नो भवणवासिदेवाउयं पकरेइ, नो वाणमंतर० नो जोइसिय० वेमाणिय देवाउयं पकरेइ ※।"

यदि कहा जाय कि 'यह विधान विशेष प्रकार के सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से किया गया है, सामान्य सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंच तो मनुष्यायु भी बाँध सकते हैं,'–तो यह ठीक नहीं है।

भगवती सूत्र श० ३० उ० १ पृ. ३०७ कंडिका २८

● " " पृ. ३०७ कंडिका २९

※ " " पृ. ३०५ कंडिका २२

विशेष रूप से विरति का पालन करने वाला तो वैमानिक के ऊँचे देवलोक में जा सकता है और सामान्य पालक—अविरत सम्यग्दृष्टि, सौधर्म-ईशान आदि नीचे के वैमानिक देवों में जाते हैं। इसमें कोई वाधा नहीं है, किन्तु उनका अन्य स्थान का आयुष्य वाँधने का कहना सिद्धांत के अनुकूल नहीं है। भगवती सूत्र में तीन विकलेन्द्रियों को (जो कुछ समयों में ही—उत्पत्ति के वाद—मिथ्यात्वी होने वाले हैं। वे इस पतनावस्था में आयु का वन्ध नहीं कर सकते, इसलिए इन्हें) छोड़ कर शेष सभी सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी—जो नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव हैं, क्रियावादी में गिना है और उनके आयुष्य-वन्ध का निर्णय कर दिया है। वहाँ सामान्य विशेष का भेद नहीं रहा है।

भगवतीसूत्र श० १ उ० ८ में—१ एकान्तवाल को चारों गति के आयु का वन्ध करने वाला वताया है, शेष—२ एकान्त पण्डित और ३ वालपण्डित को देवायु का वन्धक माना है। अविरत सम्यग्दृष्टि एकान्तबाल नहीं होते, इसलिए वे भी देवायु का ही वन्ध करते है। टीका में लिखा है कि—

"अतएव बालत्वे समानेऽपि अविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो देवायुरेव प्रकरोति न शेषाणि।'

श्री भगवती सूत्र श० २६ उ० १ (वन्धी शतक) में मनःपर्यवज्ञानी और नोसंज्ञोपयुक्त जीव में, आयुकर्म की अपेक्षा दूसरे भंग को छोड़ कर शेष तीन भंग वताये, तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय के—१ सम्यग्दृष्टि २ सज्ञानी ३ मतिज्ञानी ४ श्रुतज्ञानी, और ५ अवधिज्ञानी, इन पाँच वोलों में तीन ही भंग होते हैं। मनुष्यों में समुच्चय वोल होते हुए भी उपरोक्त पाँच बोलों या इनमें से किसी भी वोल के सद्भाव में तीन भंग+ ही पाते हैं। इनमें मनुष्यायु नहीं वँधता है, इसीसे दूसरा भंग छोड़ा है। इस दृष्टि से भी देवायु का ही वन्ध होता है।

श्री भगवती सूत्र श० ६ उ० ४ में लिखा कि—"वैमानिक देवों में ही प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान से निवद्ध आयु वाले होते हैं, शेष अप्रत्याख्यान निवद्ध आयु वाले होते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि जिसमें किञ्चित् भी विरति होती है, वह उस अवस्था में वैमानिक देव का ही आयु वाँधता है।

यदि कहा जाय कि 'सुमुख गाथापति' ने संसार परिमित किया, तो वे सम्यग्दृष्टि थे और उन्होंने मनुष्यायु का वन्ध किया था। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्यायु का वन्ध कर सकता है? इसका समाधान यह है कि—आयु तो जीवनभर में केवल एक वार ही वँधता है और क्षायोपशमिक

+ ये चार भंग इस प्रकार हैं—

१ पाप-कर्म या आयु-कर्म, भूतकाल में वांधा, वर्त्तमान में बांधना है और भविष्य में वांधेगा।

२ वांधा, वांधता है और आगे नहीं वांधेगा।

३ वांधा, नहीं वांधता है और आगे पर वांधेगा।

४ वांधा, नहीं वांध रहा है और आगे भी नहीं वांधेगा।

सम्यक्त्व तो जीवन में प्रत्येक हजार वार तक आ जा सकती है (अनुयोगद्वार) तव यह कैसे कहा जाय कि आयु का वन्ध होते समय 'सुमुख' सम्यग्दृष्टि ही था ? हां, संसार परिमित करते समय वह अवश्य सम्यग्दृष्टि था, क्योंकि समकिती ही संसार परिमित कर सकते हैं। इसलिए यह मानना चाहिए कि सुमुख गाथापति के आयुष्य का वन्ध, सम्यक्त्व के छुटने के वाद हुआ था। इसी प्रकार मेघकुमार के विषय में भी समझना चाहिए।

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र दशा ६ में सम्यग्दृष्टि क्रियावादी के नरक में जाने का उल्लेख है, किन्तु उसका आशय यह नहीं कि उन्होंने सम्यक्त्व अवस्था में ही नरकायु का वन्ध किया हो। यदि ऐसा माना जाय, तो भगवती श. ३० उ. १ में जो कहा है कि–"कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले क्रियावादी मनुष्य और तिर्यंच, किसी भी गति के आयुष्य का वन्ध नहीं करते"–इस विधान का विरोध होगा, क्योंकि नरक में तो ये तीन लेश्या ही है और जिस लेश्या में आयुष्य वांधते हैं, उसी लेश्या में आयु पूर्ण करके दूसरे भव में उत्पन्न होते हैं। यदि सम्यग्दृष्टि एवं क्रियावादी अवस्था में नरकायु का वन्ध होना माना जाय, तो कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में भी आयु-वन्ध होना मानना पड़ेगा, जो सिद्धांत से विरुद्ध होता है। अतएव दशाश्रुतस्कन्ध लिखित सम्यग्दृष्टि क्रियावादी के नरकायु का वन्ध, सम्यक्त्व के सद्भाव में नहीं, किन्तु मिथ्यात्व के सद्भाव में होना मानना चाहिए।

यों तो सम्यक्त्व को लेकर छठी नरक तक जा सकते हैं, इतना ही नहीं, कोई-कोई मनःपर्यवज्ञान पाया हुआ जीव, मनःपर्यवज्ञान से गिर कर, उस भव को छोड़ कर नरक में जा सकता है (भगवती श. २४–१) तो इसका मतलव यह तो नहीं कि उन्होने सम्यक्त्व अवस्था में नरक के योग्य आयुकर्म का वन्ध किया हो। अतएव आगमानुसार यही मानना उचित है कि सम्यक्त्व के सद्भाव में मनुष्य और तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय जीव, केवल वैमानिक देव का ही आयु वांधते हैं।

सम्यक्त्व को साथ लेकर जीव, इतने स्थानों में उत्पन्न नहीं होता–१५ परमाधामी देव, तीन किल्विषी देव, पाँच स्थावरकाय, सातवीं नरक में, छप्पन अन्तरद्वीप के मनुष्यों में, और सर्मूच्छिम मनुष्यों में। इनके सिवाय सर्वत्र जा सकता है।

सम्यक्त्व की स्थिति

सम्यग्दर्शन व्यक्ति की अपेक्षा अनादिअपर्यवसित तो हो ही नहीं सकता। वह सादिसपर्यवसित (आदि अंत सहित) या सादिअपर्यवसित (सादि अनन्त) होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व सादिअपर्यवसित होता है। वह एक वार प्राप्त होने के वाद फिर नहीं जाता (प्रज्ञापना पद १८ और जीवाभिगम–समुच्चय जीवाधिकार) क्षायिसम्यक्त्वी का दर्शन सर्वथा विशुद्ध

होता है, उसमें अतिक्रमादि दोष लगते ही नहीं है (व्यवहारसूत्र उ० २ भाष्य गा० ७ टीका)।

उपशमसम्यक्त्व अवश्य छूटता है। इसकी स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। उपशमचारित्र भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहता है, अर्थात् मोह का उपशम अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहता है। इसके वाद अवश्य उदय हो जाता है।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल की है। ये छासठ सागरोपम, यदि विजयादि चार अनुत्तर विमान के हों तो दो वार और अच्युत कल्प के हों तो तीन वार में पूरे होते हैं। इनमें जो मनुष्य के भव होते हैं, उतना काल अधिक होता है (प्रज्ञापना पद १८ तथा जीवाभिगम)। इसके वाद या तो जीव मुक्त हो जायगा या फिर मिथ्यात्व में गिर जायगा, भले ही अन्तर्मुहूर्त मिथ्यात्व में रहकर फिर सम्यक्त्व प्राप्त कर ले।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के उदय का पूरा अवकाश रहता है। यह एक भव में अधिक से अधिक नौ हजार वार तक आ जा सकता है।

सास्वादन सम्यक्त्व उस समय होता है जब जीव सम्यक्त्व का वमन करता है। इसका गुणस्थान दूसरा है। जिन विकलेन्द्रियों में अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व का सद्भाव माना है, वह यही है। इसकी स्थिति छः आवलिका और सात समय से अधिक नहीं है।

वेदक सम्यक्त्व की स्थिति—क्षपक-वेदक और उपशम-वेदक की तो एक समय की है, किन्तु क्षायोपशमिक-वेदक सम्यक्त्व की क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के अनुसार—अधिक से अधिक छासठ सागरोपम से अधिक है। यह सम्यक्त्व-मोहनीय की प्रकृति का वेदन है।

जिस भव्यात्मा ने एक वार सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, वह मोक्ष का अधिकारी अवश्य ही होगा।

दुर्लभवोधि के कारण

जिन दुष्कृत्यों से धर्म को प्राप्त करना, समझना और श्रद्धा करना कठिन हो जाता है, उन्हें दुर्लभवोधि के कारण कहते हैं। वे पाँच कारण इस प्रकार हैं।

१ अरिहंत भगवान् के विपरीत वोलना। जैसे कि अरिहंत सर्वज्ञ नहीं होते। सभी पदार्थों का त्रिकालज्ञ—पूर्णज्ञाता एक व्यक्ति कदापि नहीं हो सकता। शास्त्रों में अरिहंतों के अतिशय तथा ज्ञान की झूठी प्रशंसा की गई है, इत्यादि।

२ अरिहंत-प्रणीत धर्म का अवर्णवाद वोलना। जैसे—कि विद्वद्भोग्य संस्कृत भाषा को छोड़ कर प्राकृत जैसी तुच्छ भाषा में आगमों का होना प्रशंसनीय नहीं है। जैनियों के श्रुतज्ञान, देव, नारक और मोक्ष

आदि का ज्ञान किस काम का है ? साधुओं को जन-सेवा करनी चाहिए । परिश्रम करके अपना पेट भरना चाहिए । साधुओं का चारित्र, जड़ क्रिया है । इससे जनता का कोई लाभ नहीं होता, इत्यादि ।

३ आचार्य-उपाध्याय के अवर्णवाद बोलना—आचार्य-उपाध्याय कुछ भी नहीं समझते । इन्हें संसार का कोई अनुभव नहीं है । अभी इनकी उम्र ही क्या है ? आदि ।

४ संघ की निन्दा करना—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ होता है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप गुणों के समूह ऐसे संघ की निन्दा करना । उसे मूर्खों या पशुओं का संघ कहना आदि ।

५ जो तप और ब्रह्मचर्य का पालन करके देव हुए हैं, उनकी निन्दा करना । जैसे कि 'भोग के अभाव में, उत्कृष्ट भोग प्राप्ति के लिए अर्थात् कामेच्छा से मुक्त हो कर और तप आदि करके देव होकर ये देवांगनाओं के साथ भोग कर रहे हैं,' इत्यादि ।

इस प्रकार धर्म, धर्मदाता, धर्म-प्रवर्त्तक और धर्म-पालकों की निन्दा करने वाले, अपने दुष्कृत्यों से मोहनीय कर्म का ऐसा दृढ़तर बन्धन कर लेते हैं कि जिससे भविष्य में उन्हें धर्म की प्राप्ति होना कठिन हो जाती है । सम्यग्ज्ञान के निकट आना उनके लिए असंभव-सा बन जाता है । इसलिए दुर्ल-भबोधि के उपरोक्त कारणों से सदैव दूर ही रहना चाहिए । (ठाणांग ५—२)

सुलभबोधि के कारण

जिस सत्कार्यों से जीव का धर्म प्राप्त करना सरल हो जाता है, और बिना कठिनाई के धर्म को समझ कर स्वीकार किया जा सकता है, उन्हें सुलभ-बोधि के कारण कहते हैं । ये कारण दुर्लभ-बोधि के कारण से उलटे हैं । यथा—

१ अरिहंत भगवान् का गुणगान करना । जैसे—अरिहंत भगवान्, राग-द्वेष को नष्ट करके वीत-राग हुए हैं, वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं । देवेन्द्र भी उनकी वन्दना करते हैं । उनकी वाणी पूर्ण सत्य और परम हितकारी है । वे मोक्षगामी हैं । उन्हें मेरा नमस्कार है ।

२ अरिहंत प्रणीत धर्म के गुणग्राम करना । वस्तु-स्वरूप को प्रकाशित करने में सूर्य के समान, गुणरत्नों का समुद्र, सभी जीवों का परम हितैषि बन्धु—ऐसा श्रुतचारित्र रूप जिनधर्म जयवन्त वर्तो ।

३ आचार्य उपाध्याय के गुणगान करना । परहित में रत पाँच आचार के पालक और प्रवर्तक, चतुर्विध संघ के नायक, मोक्ष मार्ग के नेता—ऐसे आचार्य उपाध्याय को नमस्कार हो ।

४ संघ की स्तुति करना—संसार में सर्वोत्तम गुणों का भंडार, जिनधर्म को धारण करके प्रवर्तन करने वाला, ऐसा जंगम तीर्थ रूप संघ, प्रतिदिन उन्नत होता रहे ।

५ तप और ब्रह्मचर्यादि शील का पालन कर के देव हुए, उनकी प्रशंसा करना—जैसे अहो ! शील का कैसा उत्तम प्रभाव है। जिन्होंने काम पर विजय पाई, जो भोग को रोग मान कर त्याग चुके थे और तप के द्वारा कर्मों को क्षय करते थे, वे कर्मों के शेष रहने से महान ऋद्धिशाली देव हुए हैं, इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, धर्मदाता, धर्मनेता आदि का गुणगान करने से भविष्य में—परभव में, धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है। इसलिए दुर्लभवोधि के कारणों को त्याग कर सुलभवोधि के कारणों का विशेष रूप से पालन करना चाहिए। (ठाणांग ५—२)

उत्थान क्रम

संसार से मुक्त होने की योग्यता उसी जीव में होती है, जो भवसिद्धिक=भव्य हो, जिसका स्वभाव वैसा हो, जिसमें वैसी योग्यता हो। इस प्रकार की योग्यता जीव में स्वभाव से ही होती है। यह अनादि पारिणामिक भाव है (अनुयोगद्वार) किन्तु जीव की अनादिकाल से मिथ्या परिणति चालू ही रही, जिसके कारण वह अपने स्वभाव का प्रकटीकरण नहीं कर सका। उसकी दशा काली—अन्धकारमयी ही रही, वह 'कृष्णपक्षी' ही वना रहा। अनादिकाल से वह कृष्णपक्षी रहा। किन्तु जव उत्थानकाल प्रारंभ होता है, तो सर्वप्रथम वह कृष्णपक्षी मिट कर 'शुक्लपक्षी' होता है। इस प्रकार की अवस्था भी अनन्तकाल—अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी एवं क्षेत्र से देशोन अर्ध पुद्गल-परावर्त्तन तक रहती है, अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के इतने काल पहले से वह शुक्लपक्षी वन जाता है। कई जीव शुक्लपक्षी वनने के साथ सम्यगदृष्टि भी हो जाते हैं और कई मिथ्यादृष्टि अवस्था में ही रहते हैं। जो सम्यगदृष्टि हो जाते हैं, वे वाद में सम्यक्त्व का वमन कर पुनः मिथ्यादृष्टि होते ही हैं। क्योंकि देशोन अर्ध पुद्गल परावर्त्तन तक उन्हें संसार में रहना होता है और इतना समय सम्यक्त्व अवस्था में नहीं रह सकते।

शुक्लपक्षी के लिए अर्ध पुद्गल-परावर्त्तन वताया, उसी प्रकार सम्यक्त्व का अन्तर अथवा सादि-सान्त मिथ्यात्व का काल भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल यावत् देशोन अर्ध पुद्गल-परवर्त्तन है। (जीवाभिगम सूत्र समुच्चय जीवाधिकार) इसलिए कोई जीव शुक्लपक्षी होने के साथ ही सम्यक्त्व भी पा लेता है और फिर कालान्तर में छोड़ देता है। जव चारित्र—यथाख्यात चारित्र का भी व्यक्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर इतना हो सकता है, तव सम्यक्त्व का हो—इसमें तो असंभव जैसी वात ही नहीं है।

शुक्लपक्षी होने के वाद जीव सम्यक्त्वी होता है और सम्यक्त्वी के वाद परिमित संसारी होता है। कई जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर के भी उसे सुरक्षित नहीं रख सकते और मिथ्यात्व के झपट्टे में आ कर

खो देते हैं, वे अनन्त संसारी भी वन जाते हैं। किन्तु जो सम्यक्त्व को सुरक्षित रखते हैं, वे परिमित संसारी* वन जाते हैं, फिर उनका निस्तार शीघ्र हो जाता है। इसके बाद सुलभबोधि होना है, जिससे भावान्तर में धर्म प्राप्ति सरलता से हो सके। इसके बाद आराधक होना आवश्यक है। जो आराधक हो चुका, वह १५ भव से अधिक संसार में नहीं रहता (भगवती ८-१०) और चरिम भववर्ती का तो वह भव ही अन्तिम होता है। यदि वह देव हुआ, तो फिर देवभव नहीं पाएगा और मनुष्य भव पा कर मुक्त हो जायगा और मनुष्य हुआ तो उसी भव में मुक्त हो जाएगा। (रायपसेणी सूत्र)

इस प्रकार जो भव्य जीव होते हैं, वे पहले कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी होते हैं, फिर सम्यक्त्वी, परिमित संसारी, सुलभबोधि, और आराधक होते हैं और अंत में चरम-शरीरी होकर मुक्त हो जाते हैं।

जीव, मिथ्यात्व से चौथे गुणस्थान में पहुंच कर सम्यग्दृष्टि होते हैं। कोई जीव मिथ्यात्व छोड़ने के साथ ही सम्यक्त्व और अप्रमत्त संयत एक साथ बन जाते हैं, तो कोई सम्यक्त्व और देशविरत होने के बाद, अप्रमत्त गुणस्थान स्पर्श कर फिर प्रमत्त होते हैं। अप्रमत्त गुणस्थान से आगे बढ़ कर, क्षपक श्रेणी प्राप्त कर, क्रमशः अयोगी अवस्था पा कर मुक्त हो जाते हैं।

इस उत्थान क्रम से जीव, जिनेश्वर वन कर सिद्ध हो जाता है। मैं भी इस पद को प्राप्त करूं और सभी आत्माएँ परम पद को प्राप्त कर परम सुखी बने।

निगोद से खिंच कर लाने वाला

मिथ्यात्व के उदय से जीव, सम्यक्त्व से पतित हो जाता है। ऐसे जीवों में से कुछ जीवों की दशा इतनी बिगड़ जाती है कि वे निगोद में जा कर उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। उस शरीर में ऐसे जीव भी होते हैं, जो अभव्य तथा कृष्णपक्षी होते हैं। ऐसे जीवों के साथ एक ही शरीर में वह जीव रहता है। उनका आहार और श्वासोच्छ्वास भी एक साथ होता है। भौतिक सुख दुःख समान होते हैं। इस प्रकार वह निकृष्टतम दशा में पड़ा हुआ होने पर भी उसमें विशेषता है। एक वार के सम्यक्त्व के स्पर्श ने उसमें इतनी योग्यता तो ला ही दी कि वह शुक्लपक्षी ही रहता है। उसके सम्यक्त्व के वे संस्कार उसे निगोद से निकाल कर पुनः सम्यक्त्व की ओर आकर्षित करते हैं और वह सम्यक्त्व और विरति पा कर परम पद को प्राप्त कर लेता है। ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है—सम्यक्त्व-रत्न का। इसलिए परम कृपालु गुरुदेव कहते

---

* परिमित्त संसारी का अर्थ जीवाभिगम मूल पाठ से तो उत्कृष्ट देशोन अर्ध पुद्गल-परावर्त्तन होता है, किन्तु यहाँ मध्यम काल—स्वल्प संसार (लगभग १५ भव) ही उपयुक्त लगता है।

हैं कि-"हे जीव ! सम्यग्दृष्टि बन-बुज्झ, बुज्झ, बुज्झ।"

केवलज्ञान के समान

सम्यक्त्व का प्रभाव शक्ति और परिणाम का विचार करते ज्ञात होता है कि यह महान् निधि है। जीव की वह दशा है कि जिससे वह अनन्त अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आ जाता है। यह केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान है। सम्यक्त्व, केवलज्ञान की माता के समान है। इसकी प्राप्ति सर्व सुलभ नहीं है। संसार में इसके पात्र जीव थोड़े ही होते हैं। जब तीर्थंकर, गणधर, पूर्वधर, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी जैसे महान् प्रभावशाली निमित्त होते हैं, उस समय सम्यक्त्व की प्राप्ति भी कुछ सुलभ हो जाती है। किन्तु इस समय वैसे उत्तम निमित्तों का तो अभाव ही हो गया है। इस समय उन महान् पूर्वजों के वंशज मुनिवरों और उनकी परम पावनी वाणी का ही आधार है। इसी के अवलम्बन से जीव यथार्थ दृष्टि प्राप्त कर सकता है। लेकिन परिस्थिति में परिवर्त्तन बहुत हो गया है। उस समय निर्ग्रंथों और निर्ग्रंथ-धर्म का प्रभाव अधिक था। उस उत्कृष्ट प्रभाव के आगे मिथ्यात्व का प्रभाव दब गया था, कुछ हलका हो गया था। सांख्यदर्शनी परिव्राजकाचार्य शुकदेव जैसे अनेक अन्यतीर्थी आचार्य, यथार्थ-दृष्टि प्राप्त कर एक बड़े परिवार के साथ निर्ग्रंथ-धर्म को स्वीकार कर चुके थे। अनेक राजा महाराजा और चक्रवर्ती नरेन्द्र, निर्ग्रंथ-प्रवचन के आराधक थे। जहाँ केवलज्ञानी वीतराग भगवंत जैसे परमात्मा हो और महाराजाधिराज जैसे श्रमणोपासक हो, उस समय की अनुकूलता का तो कहना ही क्या। अंग्रेजों के हाथ में राज्यसत्ता रही, तो करोड़ों भारतीय इसाई हो गये। इस प्रकार की अनुकूलता उस समय निर्ग्रंथ-धर्म के लिए थी। वह समय इसके उदयकाल का था।

यद्यपि उस समय वीतराग भगवंत और उत्तम अनगार भगवंतों का योग था और नरेन्द्र यावत् इभ्य-सेठ जैसे महान् ऋद्धिशाली श्रमणोपासक थे। उस समय धर्म प्रचार किया जाता था, तथापि निर्ग्रंथ अनगारों में, राजाओं, अधिकारियों और जनता को आकर्षित करने की लालसा, अपना मत फैलाने की तालावेली और संख्याबल बढ़ाने की चिन्ता नहीं थी। वे अपनी आत्म-साधना में लीन रहते थे। कोई चल कर उनके पास आता, तो उसे निर्ग्रंथ-धर्म का उचित शब्दों में उपदेश करते, अन्यथा अपने स्वाध्याय ध्यानादि में लगे रहते थे। यदि कभी कोई ऐसा उत्तम पात्र उनकी दृष्टि में चढ़ता, तो कोई आचार्य स्वाभाविक रूप से, श्री केशीकुमार श्रमण की तरह उसे सम्बोधित करने जाते थे-वह भी परमार्थ बुद्धि से। उनके मन में मान-प्रतिष्ठा पाने की इच्छा लेश-मात्र भी नहीं रहती थी। वे उस विशेष व्यक्ति की गरज करने वाले नहीं थे। स्वाभाविक और अपने-आप में विश्वस्त रहते हुए वे उपदेश

जाता है ? शास्त्रकार "सद्धा परम-दुल्लहा" कह कर सम्यक्त्व की महान् दुर्लभ्यता बताते हैं, यह यथार्थ है। अनादिकाल से जीव, मिथ्यात्व में ही गोते लगाता रहा और सम्यक्त्व के अभाव में उसका भावी अनन्त भव-भ्रमण भी कायम रहा। यह सम्यक्त्व-रत्न उस अनन्त भव-भ्रमण की जड़ को काट कर फेंक देता है। अनन्तानुबन्धी आदि का उच्छेद अथवा उपशम-क्षयोपशम हो, तभी सम्यक्त्व की प्राप्ति संभव होती है। इस प्रकार इसकी दुर्लभता अपने आप सिद्ध है। जब सम्यक्त्व-रत्न के पुरस्कर्त्ता महर्षियों के समय भी यह दुर्लभ था, तो आज के विषम जमाने में (-जब कि इसके बाधक कारण विशेष रूप से बढ़ गये हैं) इसकी प्राप्ति असंभवसी कही जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है।

जितना दुर्लभ उस जमाने में केवलज्ञान नहीं था, उतना दुर्लभ आज सम्यग्दर्शन हो गया है। केवलज्ञान पर डाका नहीं पड़ सकता-लूट नहीं चलती, क्योंकि वह परिपूर्ण है, परन्तु सम्यक्त्व-रत्न की लूट तो हो सकती है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वापिस जा सकता है। अभी तो सम्यक्त्वी कहे जाने वालों के द्वारा ही विशेष रूप से लूट हो रही है। ऐसे विकट समय में सम्यक्त्व की प्राप्ति, केवलज्ञान के बराबर दुर्लभ मानी जाय, तो क्या बाधा हो सकती है ? आज के मिथ्यात्व-प्रधान युग में यदि कोई व्यक्ति यथार्थ दृष्टि प्राप्त कर सके और प्राप्त सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सके, तो यह उसकी महान् सफलता, केवलज्ञान प्राप्ति के समान मानी जानी चाहिए। क्योंकि सम्यक्त्व, केवलज्ञान के मूल के समान है-बीज के सदृश है। यह प्राप्त हुई और कायम रही, तो विरति का अंकुर उत्पन्न होगा और उसमें अप्रमत्तता का पुष्प और वीतरागता सर्वज्ञता का फल प्राप्त हो सकेगा। बीज की प्राप्ति को फल की प्राप्ति के समान मानना, नई बात नहीं है।

पाठक समझ गए होंगे कि सम्यक्त्व कितना दुर्लभ है। इस समय केवलज्ञान तो अलभ्य है ही। उस उदय-काल में केवलज्ञान जितना दुर्लभ नहीं था, उतना दुर्लभ आज सम्यग्दर्शन हो गया है। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य आज से ९०० वर्ष पूर्व कह गए हैं कि-'**इस समय सम्यक्त्व की प्राप्ति केवलज्ञान के समान माननी चाहिए।**' आज का जमाना उससे भी अधिक हीन हो रहा है। इसलिए निर्ग्रंथ-प्रवचन के रसिकों को, सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न को सुरक्षित रखने की पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

इस अनमोल रत्न की रक्षा करो

यह सम्यग्दर्शन ऐसा अनमोल रत्न है कि इसके धारक की सभी मनोकामनाएं पूर्ण होती है। यह चिंतामणि-रत्न से भी अधिक मूल्यवान् है। चिंतामणि-रत्न भौतिक वस्तु देता है, किंतु सम्यक्त्व रत्न तो आत्मा को अखण्ड सुख देता है-मोक्ष प्रदान करता है। ऐसे विश्वोत्तम अनमोल रत्न की बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। मूल्यवान् वस्तु को लूटने वाले भी बहुत होते है, तदनुसार इस

से दूषित होने पर ज्ञान और चारित्र प्रशंसित नहीं होते।

एक आचार्य ने सम्यक्त्व का महत्व वताते हुए लिखा है कि–

असमसुखनिधानं, धाम संविग्नतायाः,
भवसुख-विमुखत्वो,–द्दीपने धाम सद्विवेकः।
नरनरकपशुत्वो–च्छेदहेतुर्नराणाम्,
शिवसुखतरुबीजं, शुद्धसम्यक्त्वलाभः॥

–शुद्ध सम्यक्त्व, अतुल सुख का निधान है, वैराग्य का धाम है, संसार के क्षणभंगुर और नाशवान सुखों की असारता समझने के लिए सद्विवेक रूप है, भव्य जीवों के नरक, तिर्यंच और मनुष्य सम्वन्धी दुःखों का नाश करने वाला है और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति ही मोक्ष रूप महावृक्ष के वीज के समान है।

दिगम्वर आचार्य श्री शुभचन्द्रजी ने ज्ञानार्णव में कहा है कि–

सद्दर्शनं महारत्नं, विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्ति पर्यन्त कल्याण, दानदक्षं प्रकीर्तितम्॥

सम्यग्दर्शन सभी रत्नों में महान् रत्न है, समस्त लोक का भूषण है। आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण–मंगल देने वाला चतुर दाता है।

चरणज्ञानयोर्बीजं, यम प्रशम जीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठानं, सद्भिःसद्दर्शनं मतम्॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का वीज है, व्रत, महाव्रत और उपशम के लिए, जीवन स्वरूप है, तप और स्वाध्याय का यह आश्रय दाता है। इस प्रकार जितने भी शम, दम, व्रत, तप आदि होते हैं, उन सव को यह सफल करने वाला है।

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं, चरणज्ञानविच्युतम्।
न पुनः संयमज्ञाने, मिथ्यात्व-विषदूषिते॥

ज्ञान और चारित्र के नहीं होने पर भी अकेला सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय होता है। इसके अभाव में संयम और ज्ञान, मिथ्यात्व रूपी विप से दूषित होते हैं।

आराधनासार में लिखा है कि–

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना, प्रोक्तं जिनेन स्वयं।
सम्यक्त्वाद्भुत-रत्नमेतदमलं, चाभ्यरतमप्यादरात्॥
भंक्त्वासंप्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्याच सम्यक्पर–
ब्रह्माराधनमद्‌भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते॥

जो मनुष्य तीन जगत् के नाथ ऐसे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित, सम्यक्त्व रूप अद्‌भुत रत्न का आदर सहित अभ्यास करता है, वह निन्दित कर्मों को बलपूर्वक समूल नष्ट कर के विलक्षण आनन्द प्रदान करने वाले परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

दर्शनपाहुड में लिखा कि—

दंसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेंहि सिस्माणं।
तं सोउण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

जिनेश्वर भगवान् ने शिष्यों को उपदेश दिया है कि 'धर्म, दर्शन मूलक ही है। इसलिए जो सम्यग्‌दर्शन से रहित है, उसे वंदना नहीं करनी चाहिए। अर्थात्—चारित्र तभी वंदनीय है जब कि वह सम्यग्‌दर्शन से युक्त हो।

चारित्र पालने में असमर्थ जीवों को उपदेश करते हुए पूर्वाचार्य 'गच्छाचारपइन्ना' में लिखते हैं कि—

जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं पणुट्ठाणं।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागेहि।
ओसन्नेऽविविहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही अ।
चरणकरण-विसुद्धं, अववूहितो परूवितो ॥

—यदि तू भगवान् के कथनानुसार चारित्र नहीं पाल सकता, तो कम से कम जैसा वीतराग भगवान् ने प्रतिपादन किया है, तुझे वैसा ही कथन करना चाहिए। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्ध मार्ग का, यथार्थ रूप से बलपूर्वक निरूपण करता है, तो वह अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य में सुलभबोधी होगा।

इस प्रकार सम्यग्‌दर्शन की महिमा अपरंपार है। सभी जैनाचार्यों ने एकमत से इस बात को स्वीकार की है। किन्तु उदय के प्रभाव से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो "तत्त्वार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्‌दर्शन" को नहीं मान कर, अपनी मति-कल्पना से सिद्धांत को दूषित करते हैं और अपनी समझ में आवे उसको ही सत्य मानने को सम्यक्त्व कहते हैं, भले ही वे खुद भूल कर रहे हों। कुछ ऐसे भी हैं जो आगमों का अर्थ अपनी इच्छानुसार—विपरीत—करके मिथ्या प्रचार करते हुए सम्यक्त्व को दूषित करते हैं और उपासकों की श्रद्धा बिगाड़ कर उन्हें धर्म से विमुख बनाते हैं। ऐसे ही लोगों का परिचय देते हुए सूत्रकृतांग १–१३–३ में गणधर महाराज ने फरमाया है कि—

विसोहियं ते अणुकाहयं ते, जे आतभावेण वियागरेज्जा।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा ॥

—जो निर्दोष वाणी को विपरीत कहते हैं, उसकी मनचाही व्याख्या करते हैं और वीतराग

वचनों में शंका करके झूठ बोलते हैं, वे उत्तम गुणों से वंचित रहते हैं। ऐसे लोगों से सावधान करते ए विशेषावश्यक में आचार्यवर ने बताया कि–

सव्वण्णुप्पामण्णा दोसा हु न संति जिणमए केई।
जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा ॥१४६६॥

–सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग प्रभु के द्वारा प्रवर्तित होने से, श्री जिनधर्म में किंचित् मात्र भी दोष हीं है। यह धर्म सर्वथा शुद्ध, पूर्णरूप से सत्य और उपादेय है, किन्तु अनुपयोगी गुरुओं के कथन से थवा अयोग्य शिष्यों से जिनशासन में दोष उत्पन्न होते हैं। यह सारा दोष उन दूषित व्यक्तियों का जो अपने दोषों से जिनमत को दूषित करते हैं। इसलिए व्यक्तियों के दोष को देख कर धर्म को षेत नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार दूषित श्रद्धा वालों से वच कर, सम्यग्श्रद्धान को दृढ़ीभूत करने का ही प्रयत्न रना चाहिए। सम्यक्त्व को दृढ़ीभूत करने के लिए शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं कि–

मेरुव्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठ–मलं तिमूढ उम्मुक्कं।
सम्मद्दंसणमणुवमसुप्पज्जइ पवयणब्भासा ॥

–प्रवचन (जिनागम) के अभ्यास से आठ प्रकार के मल से रहित, तीन प्रकार की मूढ़ता से त और मेरु के समान निष्कम्प ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए आत्मार्थीजनों को य ही जिन-प्रवचन का श्रवण-पठन करते ही रहना चाहिए।

सुलभमिह-समस्तं वस्तुजातं जगत्या-मुरगसुरनरेन्द्रैः प्राथितं चाधिपत्यम्।
कुलवलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत् किमुत तदिदमेकं दुर्लभं वोधिरत्नम् ॥१३॥

–इस जगत् में समस्त द्रव्यों का समूह प्राप्त होना सुलभ है और धरणेन्द्र, नरेन्द्र और सुरेन्द्र प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपन भी सुलभ है। क्योंकि इनकी प्राप्ति कर्मों के उदय से होती है। । कुल, वल, सुभगता, सुन्दर स्त्री आदि सभी पदार्थ सुलभ है, किन्तु एक वोधिरत्न की प्राप्ति होना त दुर्लभ है।

अतुलसुखनिधानं, सर्वकल्याणवीजं।
जननजलधिपोतं, भव्यसत्वैकपात्रम् ॥
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं,
पिवत जित विपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्वुम् ॥५९॥

–हे भव्य जीवों! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करो। यह सम्यग्दर्शन, अतुल्य सुख का न है। सभी प्रकार के कल्याणों का कारण है। संसार समुद्र से तिराने वाला जहाज है। इसे केवल जीव ही प्राप्त कर सकते हैं। यह पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है। पवित्र

तीर्थों में यह प्रधान है और अपने विपक्ष ऐसे मिथ्यादर्शन रूपी शत्रु को जीतने वाला है। इसलिए सबसे पहले इस अमृत को ही ग्रहण करना चाहिए।

लहिऊण मोहजयसिरि, मिच्छह जई सिद्धिपुरवरे गंतुं।
अक्खयसुहमणुभविउं, ता वरदंसणरहं मयह ॥१॥
सुअचरणवसहजुत्तो, आवस्सग-दाणमाइपत्थयणो।
निच्छयववहारचक्को, दंसणरहु नेइ जणु रिद्धि ॥२॥

—यदि तुम मोह-विजयरूप लक्ष्मी को प्राप्त करके उत्तम स्थान सिद्धिपुर में जाना और अक्षय सुख का अनुभव करना चाहते हो, तो सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रथ में बैठो, जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपी बैलों से युक्त है, षडावश्यक और दान आदि रूप पाथेय सहित तथा निश्चय और व्यवहार रूपी चक्र (पहियों) वाला है। यह दर्शन रथ, मनुष्य को मोक्षपुरी में ले जा कर महान् ऋद्धि का स्वामी बनाता है।

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिकंपं।
तंझाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खखयट्ठाए॥

—श्रावक को सम्यक्त्व प्राप्त करके उसे निर्मल, निष्कम्प और मेरु पर्वत की तरह अचल रखना चाहिये और समस्त दुखों का नाश करने के लिए सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥

वे मनुष्य धन्य हैं कि जिनके पास मुक्ति प्रदान कराने वाला सम्यक्त्व है और उस सम्यक्त्व रूपी महारत्न को वे स्वप्न में भी मलिन नहीं होने देते। वे ही मनुष्य कृतार्थ हैं और वे ही पंडित (समझे हुए) एवं शूरवीर हैं।

मिथ्यात्वरूपी महाशत्रु का प्रबल आक्रमण होते हुए भी जिन्होंने अपने सम्यक्त्व रत्न को नहीं खोया और सुरक्षित रखा, वे वास्तव में शूरवीर हैं और जिन्होंने अनेक प्रकार के वादों, तर्कों और प्रलोभनों के होते हुए भी अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल एवं निष्कम्प रखा, वे यथार्थ ही पंडित—समझदार हैं।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गएकाले।
सिज्झिहहि जे भविया, तं जाणइ सम्मत्तं माहप्पं।

—अधिक क्या कहें, जो उत्तम पुरुष, भूतकाल में सिद्ध हुए हैं वे, और जो भविष्य में सिद्ध होंगे, वे सम्यक्त्व के बल से सिद्ध होते हैं। सम्यक्त्व के इस माहात्म्य को समझना चाहिये।

आत्म वन्धुओं ! समझो। यह सम्यग्दर्शन ऐसी चीज नहीं है जो सव की अपनी मनमानी और घर जानी हो। थोड़ी-सी विपरीतता के कारण, जमाली मिथ्यादृष्टि वन गया, तो अपन किस हिसाव में हैं। पूर्वों का ज्ञान धराने वाले भी मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं, तो आजकल के थोथे विद्वान और कुतर्की पण्डितों पर विश्राम कर के अपने दर्शन गुण से भ्रष्ट क्यों होते हो ? सम्यक्त्व, इन लौकिक पण्डितों या बड़े-बड़े नेताओं की जेवों में—स्वच्छन्द मस्तिष्क में, या वाक्पटुता में नहीं भरी है। वह है निर्ग्रन्थ-प्रवचन में। "सद्धा परमदुल्लहा" (उत्तरा० ३–९) सम्यग् श्रद्धान की प्राप्ति परम दुर्लभ है। इस महान् रत्न को सम्हाल कर रक्खो। तुम्हारी बुद्धि पर डाका डाल कर इस रत्न को लूटने वाले लुटेरे साहुकारों के रूप में कई पैदा हो गए हैं। उनकी मोहक और धर्म के लेवलवाली मीठी शराव मत पी लेना। असल नकल की परीक्षा, निर्ग्रन्थ-प्रवचन अथवा ज्ञानी गुरु से करना। श्री आचारांग सूत्र १–५–६ में लिखा है कि "पर प्रवाद तीन तरह से तपासना चाहिए—१ गुरु परम्परा से २ सर्वज्ञ के उपदेश से ३ या फिर अपने जातिस्मरण ज्ञान से। अभी तीसरा साधन प्रायः नहीं है। दो साधनों से ही परीक्षा करनी चाहिए, अन्यथा धोखा खाओगे और खो वैठोगे—इस दुर्लभ रत्न को।

धन्य है वे प्राणी, जो अपने सम्यक्त्वरूपी रत्न की रक्षा करते हुए दृढ़ रहते हैं और दूसरों को भी दृढ़ वनाते हैं। उन्हें वार-वार धन्यवाद है।

सम्यक्त्व रत्न की दुर्लभता

संसार में सभी वातें सुलभ है। धन, सम्पत्ति, कुटुम्व, परिवार, राज्याधिकार, दैविक ऋद्धि, तीर्थंकर भगवान् से साक्षात्कार, निर्ग्रंथ-प्रवचन का श्रवण एवं द्रव्य-संयम की प्राप्ति भी जीव को कभी हो सकती है। पूर्वों तक का श्रुत भी प्राप्त हो सकता है और अनेक प्रकार की आश्चर्यजनक लब्धियां भी मिल जाती है, किन्तु सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति महान् दुष्कर है। जो अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि, चारित्र-क्रिया का उत्तम रीति से पालन कर अहमेन्द्र वन जाते हैं, वे भी इस रत्न से वञ्चित होने के कारण वहाँ से नीचे गिर कर फिर चौरासी के चक्कर में भटकते रहते हैं। यदि उनकी आत्मा में श्रद्धा का निवास होता, तो उनकी मुक्ति में कोई सन्देह नहीं था।

यों तो मनुष्य-भव की प्राप्ति भी दुर्लभ है और आर्य-क्षेत्र भी दुर्लभ है, किन्तु श्रद्धा तो 'परम दुर्लभ' है। भगवान् ने फरमाया है—"सद्धा परम दुल्लहा" (उत्तरा० ३–९) इसलिए सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति और रक्षण में पूर्ण रूप से सावधानी रखनी चाहिए। जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, वह जीव, निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करेगा। 'नवतत्त्व प्रकरण' में कहा है कि—

"अंतो मुहुत्तंपि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं
तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ॥

अर्थात्-जिस जीव ने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया हो, उसका संसार भ्रमण अर्ध पुद्गल-परावर्त्तन से विशेष नहीं होता। इसके पूर्व ही वह मुक्त हो जाता है।

इतना तो करो

परम तारक जिनेश्वर भगवान् फरमाते हैं कि हे जीव! यदि तू धर्म का आचरण बराबर नहीं कर सकता, तो कम से कम श्रद्धा और प्ररूपणा तो शुद्ध कर, जिससे तेरी आत्मा भविष्य में भी सुलभबोधि बने। 'गच्छाचारपइन्ना' में लिखा है कि-

"जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागे हिं ॥
ओसन्नोऽवि विहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोहीअ।
चरण-करण-विसुद्धं उववूहितो परूवितो ॥

अर्थात्-यदि तू भगवान् के कथनानुसार चारित्र का पालन नहीं कर सकता, तो कम से कम प्ररूपणा तो वैसी ही कर-जैसी वीतराग भगवान् ने बतलाई है। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्ध मार्ग का यथार्थ रूप से, बलपूर्वक प्रतिपादन करता है, तो वह अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य में अवश्य ही सुलभबोधि होगा।

आचारांग श्रु० १ अ० ६ उ० ४ में भी कहा है कि-"**नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति,**" अर्थात् कई साधु आचार से = संयम से पृथक् हो जाने पर भी आचार-गोचर का यथार्थ प्रतिपादन करते हैं। व्यवहार सूत्र में बताया है कि-यदि सुसाधु नहीं मिले, तो चारित्र से शिथिल किन्तु बहुश्रुत (एवं यथार्थ कहने वाले) साधुवेशी के संमुख आलोचना करे। यदि उसका भी योग नहीं मिले, तो साधुता छोड़े हुए बहुश्रुत श्रावक के संमुख आलोचना करे। इनके संमुख आलोचना भी तभी हो सकती है जब कि वे चारित्र युक्त नहीं होने पर भी सम्यक्त्व युक्त रहे हों। सम्यक्त्व के अभाव में उनकी उपयोगिता नहीं है।

हां, तो कहने का तात्पर्य यह कि लाख-लाख प्रयत्न करके भी सम्यक्त्व को स्थित रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन कायम रहा, तो सम्यक्चारित्र अवश्य प्राप्त होगा और यदि सम्यग्दर्शन कायम नहीं रहा, तो फिर उसके अभाव में चारित्र का वस्तुतः कोई मूल्य नहीं है। सम्यक्त्व शून्य चारित्र, संसार का ही कारण बनता है। इसलिए प्रत्येक भव्य जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति और रक्षा का पूर्ण

प्रयत्न करना चाहिए।

आस्तिकता

सम्यग्दृष्टि का मूल लक्षण ही श्रद्धा–आस्तिकता है। इसी पर धर्म का आधार है। यह आस्तिकता वास्तविक होनी चाहिए। इसका स्वरूप इस प्रकार है–

आस्तिक्यवादी–१ आत्मा है, २ आत्मा अनादिकाल से है और अनन्तकाल–सदा ही रहेगा ३ आत्मा कर्म का कर्त्ता है, ४ आत्मा कर्म का भोक्ता भी है ५ मोक्ष है और ६ मोक्ष का उपाय–सम्यग्ज्ञानादि भी है–इस प्रकार मानने वाला।

आस्तिक प्रज्ञ–आस्तिक बुद्धिवाला। परलोक–स्वर्ग, मोक्ष आदि को समझने वाला।

आस्तिक दृष्टि–जिसकी आस्तिक बुद्धि श्रद्धा से युक्त है।

सम्यग्वादी–तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा के साथ उसका वाद–अभिप्राय भी सम्यग् ही व्यक्त होता है।

नित्यवादी–द्रव्य तथा उसके गुण की ध्रुवता–नित्यता का हामी होता है।

परलोकवादी–स्वर्ग, नरक, मोक्ष और पूर्वजन्म, पुनर्जन्म को मानने वाला होता है।

(दशाश्रुतस्कन्ध–६)

आत्मवादी–आत्मा का अस्तित्त्व, उसके स्वभाव, उसकी शुद्ध एवं अशुद्ध दशा को माननेवाला।

लोकवादी–आत्मा को एक ही नहीं मानकर अनेक मानने वाला अथवा जीव-अजीवात्मक अथवा षट्द्रव्यात्मक लोक को मानने वाला। अधोलोक–नरक, भवनपत्यादि युक्त, तिर्यग् लोक–मनुष्य, तिर्यञ्ज व्यन्तर, ज्योतिषी आदि युक्त, ऊर्ध्व लोक–वैमानिक तथा सिद्ध गति मय लोक का स्वीकार करने वाला।

कर्म वादी–ज्ञानावरणादि आठ कर्म, इसका आत्मा के साथ बन्ध, फल आदि को मानने वाला।

क्रियावादी–आत्मा के शुभाशुभ व्यापार, जिनसे कर्म-बन्ध हो अथवा क्षय हो। कर्म-बन्ध की कारण क्रिया और कर्म क्षय करने की क्रिया को मानने वाला। (आचारांग १–१–१)

इस प्रकार आस्थावान प्राणी सम्यक्त्व का पात्र होता है। वह आस्रव, संवर और निर्जरा, मोक्ष, उत्तम आचार का उत्तम फल, दुराचार का दुःखदायक फल, तीर्थंकर, सिद्ध, अनगार, सम्यक्त्व, विरति आदि को यथातथ्य मानने वाला होता है। इस प्रकार सभी सम्यक् भावों की श्रद्धा करने वाला ही सच्चा आस्तिक है और सच्चा आस्तिक ही जैन होता है।

षड् द्रव्य

यह संसार छः द्रव्य मय है। जिसमें गुण और उसकी पर्याय रहे वह द्रव्य है। द्रव्य के आधार से ही गुण रहते हैं और गुण की विभिन्न अवस्था 'पर्याय' कहलाती है। ये द्रव्य इस प्रकार हैं,–

१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ जीवास्तिकाय ५ पुद्गलास्तिकाय

और ६ काल। इनमें से जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल—ये तीन द्रव्य अनन्त हैं, शेष तीन द्रव्य केवल एक एक ही हैं।

काल द्रव्य की सीमा मनुष्य क्षेत्र अथवा चर-ज्योतिषी विमानों तक ही है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय, असंख्येय योजन प्रमाण लोकव्यापी हैं, और आकशास्तिकाय, लोक के अतिरिक्त अनन्त अलोक में भी है। लोक में छः द्रव्य हैं, किन्तु अलोक में तो एक आकाश मात्र ही है। इस लोक के चारों ओर अलोक रहा हुआ है। अलोक, लोक से अनन्त गुण बड़ा है। चारों ओर तथा ऊपर नीचे फैले हुए अलोक में यह लोक, सिन्धु में विन्दु के समान है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के जितने (असंख्य) प्रदेश हैं, उतने ही एक जीव के आत्म-प्रदेश हैं। (ठाणांग ४–३ तथा भगवती ८–१०)

जीवास्तिकाय का स्वरूप जीव-तत्त्व में और शेष पांच द्रव्य का स्वरूप, अजीव तत्त्व में बताया गया है।

जीव अनन्त हैं और पुद्गल भी अनन्त हैं, किन्तु जीव की अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुण अधिक है। क्योंकि प्रत्येक संसारी जीव के प्रत्येक प्रदेश पर, कर्म पुद्गल के अनन्त आवरण लगे हुए हैं। इसके सिवाय अवद्ध पुद्गल भिन्न है। पुद्गल से भी काल अनन्त गुण है, क्योंकि काल जीव और अजीव पर प्रति समय वर्त्तता है। अनन्तकाल वीत चुका और अनन्त वीतेगा। (प्रज्ञापना ३)

नौ तत्त्व

तत्त्व का यथातथ्य श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। जिनेश्वर भगवान् ने तत्त्वों का जैसा स्वरूप बताया, उस पर पूर्णरूप से श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है और यही जैनत्त्व का मूल आधार है। तत्त्व नौ हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आश्रव ६ संवर ७ निर्जरा ८ वंध और ९ मोक्ष।

(उत्तराध्ययन २८, स्थानांग ९)

इन नौ तत्त्वों का विस्तृत स्वरूप बताने के लिए स्वतन्त्र ग्रंथ की आवश्यकता है। यहां संक्षेप में उनका स्वरूप बताया जाता है।

जीव तत्त्व

जीव—जो जीता है, जिसमें ज्ञान है, उपयोग है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, प्राण युक्त है। जो वीर्य (शक्ति) वाला है, प्रयत्नशील है—वह जीव कहलाता है। आत्म-शक्ति से सभी जीव समान

है, किन्तु संसार में रहा हुआ जीव, विविध स्वरूपों से पहचाना जाता है। अतएव जीव के विविध भेद इस प्रकार हैं–

एक भेद–सभी जीव, चेतना एवं उपयोग लक्षण युक्त हैं। सभी में आत्मा का ज्ञान-दर्शनादि गुण विद्यमान रहता है। अतएव संग्रहनय की अपेक्षा जीव का भेद एक है।

दो भेद–सिद्ध और संसारी–मुक्त और बद्ध।

तीन भेद–सिद्ध, त्रस और स्थावर।

चार भेद–स्त्री वेदी, पुरुष वेदी, नपुंसक वेदी और अवेदी।

पाँच भेद–नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध।

छः भेद–एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय।

सात भेद–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय और अकाय (सिद्ध)।

आठ भेद–नारक, तिर्यंच, तिर्यंचिनी, मनुष्य, मनुष्यिनी, देव, देवी और सिद्ध।

नौ भेद–नारक, तिर्यंच, मनुष्य, और देव, इन चार के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से ८ भेद और ९ सिद्ध।

दस भेद–पृथ्वीकाय से वनस्पति काय तक के पाँच, ६ बेइन्द्रिय ७ तेइन्द्रिय ८ चतुरिन्द्रिय ९ पंचेन्द्रिय और १० सिद्ध।

ग्यारह भेद–एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दस भेद हुए और सिद्ध।

बारह भेद–पाँच स्थावर के सूक्ष्म और बादर–ये दस भेद, त्रस (ये बादर ही हैं) और सिद्ध।

तेरह भेद– छः काय के पर्याप्त और अपर्याप्त–ये १२ भेद और सिद्ध।

चौदह भेद–१ नारक २ तिर्यंच ३ तिर्यंचिनी ४ मनुष्य ५ मनुष्यिनी ६ भवनपति ७ वाणव्यन्तर ८ ज्योतिषी ९ वैमानिक १०–१३ चारों निकाय की देवियाँ और १४ सिद्ध।

पन्द्रह भेद–१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २ बादर एकेन्द्रिय, ३ बेइन्द्रिय ४ तेइन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रिय ६ असंज्ञी पंचेन्द्रिय ७ संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त यों १४ हुए और १५ सिद्ध।

इस प्रकार समस्त जीवों के भेद किये गये हैं। सिद्ध भगवंत को छोड़ कर संसारी जीवों के विशेष भेद किये जाने पर कुल ५६३ भेद होते हैं।

संसारी जीवों के ५६३ भेद

१४ नारक के भेद–

१ रत्नप्रभा २ शर्कराप्रभा ३ वालुकाप्रभा ४ पंकप्रभा ५ धूमप्रभा ६ तमःप्रभा और ७ तम-स्तमःप्रभा। इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त यों १४ भेद हुए।

४८ तिर्यंच के भेद–

२२ पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेउकाय और वायुकाय, इन चारों के प्रत्येक के–१ सूक्ष्म २ बादर ३ पर्याप्त और ४ अपर्याप्त, यों १६ भेद हुए। वनस्पतिकाय के–१ सूक्ष्म २ प्रत्येक और ३ साधारण, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त यों ६ भेद हुए। ये एकेन्द्रिय जीवों के २२ भेद हुए।

६ बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, इन तीन विकलेन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त यों ६ भेद हुए।

२० पंचेन्द्रिय तिर्यंच के–१ जलचर २ स्थलचर ३ खेचर ४ उरगरिसर्प ५ भुजपरिसर्प, इन पाँच के संज्ञी और असंज्ञी यों १० भेद हुए, और इन दस के पर्याप्त और अपर्याप्त–कुल २० भेद हुए।

३०३ मनुष्य के भेद–

१५ कर्मभूमिज मनुष्य के–५ भरत ५ ऐरावत और ५ महाविदेह के–कुल १५ भेद।

३० अकर्मभूमिज के–५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवास, ५ रम्यक्‌वास ५ हेमवत और ५ हैरण्य-वत। इन क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों के कुल ३० भेद हुए।

५६ छप्पन अन्तरद्वीपों में उत्पन्न मनुष्यों के ५६ भेद।

ये कुल भेद १०१ हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से २०२ गर्भज मनुष्य के हुए और १०१ भेद सम्मुर्च्छिम मनुष्य के। इस प्रकार कुल ३०३ भेद हुए।

१९८ देवों के भेद–

१० भवनपति देव–१ असुरकुमार २ नागकुमार ३ सुवर्णकुमार ४ विद्युत्‌कुमार ५ अग्निकुमार ६ उदधिकुमार ७ द्वीपकुमार ८ दिशाकुमार ९ पवनकुमार और १० स्तनित-कुमार।

१५ परमाधार्मिक देव–१ अम्ब २ अम्बरीष ३ श्याम ४ शबल ५ रौद्र ६ अवरुद्र ७ काल ८ महा-काल ९ असिपत्र १० धनुष ११ कुम्भ १२ वालुका १३ वैतरणी १४ खरस्वर और १५ महाघोष।

२६ वाणव्यन्तर देव- १ पिशाच २ भूत ३ यक्ष ४ राक्षस ५ किन्नर ६ किंपुरुष ७ महोरग ८ गंधर्व ९ आणपन्नीय १० पाणपन्नीय ११ इसिवाई १२ भूयवाई १३ कन्दे १४ महाकन्दे

१५ कुम्हण्डे १६ पयंगदेवे–ये सोलह। और १० प्रकार के जृम्भक देव–१ अन्न–जृम्भक २ पान जृम्भक ३ लयन जृम्भक ४ शयन जृम्भक ५ वस्त्र जृम्भक ६ फल जृम्भक ७ पुष्प जृम्भक ८ फलपुष्प जृम्भक ९ विद्या जृम्भक और १० अग्नि जृम्भक।

१० ज्योतिषी देव–१ चन्द्र २ सूर्य ३ ग्रह ४ नक्षत्र और ५ तारा, ये पाँच चर विमान वाले (चलते फिरते) और पाँच स्थिर विमान वाले– यों दस भेद हुए।

३ किल्विषी देव–१ तीन पल्योपम की स्थिति वाले (ये प्रथम और दूसरे देवलोक के नीचे रहते हैं) २ तीन सागर की स्थिति वाले (ये तीसरे और चौथे देवलोक के नीचे रहते हैं) ३ तेरह सागरोपम की स्थिति वाले (ये छठे देवलोक के नीचे रहते हैं)।

३५ वैमानिक देव–

१२–कल्पोत्पन्न–१ सौधर्म २ ईशान ३ सनत्कुमार ४ माहेन्द्र ५ ब्रह्म ६ लान्तक ७ महाशुक्र ८ सहस्रार ९ आणत १० प्राणत ११ आरण और १२ अच्युत।

१४ कल्पातीत–

९ नौ ग्रैवेयक–ग्रैवेयक के तीन त्रिक हैं। प्रत्येक त्रिक के नीचे, मध्य में और ऊपर–यों तीन-तीन भेद से कुल ९ भेद हुए। इनके नाम इस प्रकार हैं–१ भद्र २ सुभद्र ३ सुजात ४ सुमनस ५ सुदर्शन ६ प्रियदर्शन ७ आमोह ८ सुप्रतिबद्ध और ९ यशोधर।

५ अनुत्तर—१ विजय २ वैजयन्त ३ जयंत ४ अपराजित और ५ सर्वार्थसिद्ध।

९ लोकान्तक–१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ वरुण ५ गर्दतोयक ६ तुषित ७ अव्याबाध ८ आग्नेय और ९ अरिष्ट।

ये कुल ९९ भेद हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त, इन दो भेदों से कुल १९८ भेद हुए।

इस प्रकार नारक के १४, एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६, तिर्यंच पंचेन्द्रिय के २०, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८, यों कुल भेद ५६३ हुए।

जीवों के भेदों का वर्णन प्रज्ञापना, जीवाभिगम उत्तराध्ययन अ० ३६ आदि में है।

गुणस्थान

जीव, कर्म के संयोग से बन्धन में पड़ा हुआ है। इसीलिए उसकी दशा विचित्र एवं विभिन्न प्रकार की दिखाई देती है। जब पाप-कर्मों का उत्कृष्ट उदय होता है, तब आत्मा की निज शक्ति अत्यन्त दब जाती है। उसे अपनी दशा तथा शक्ति का भी भान नहीं होता। वह स्वयंभू=सर्वसत्ताधिकारी होते हुए भी अपने को नहीं पहिचान सकता और अपना स्वरूप परमय-पुद्गल रूप ही समझता है। किन्तु जब उस पर से पाप का भार कुछ हलका होता है, तब वह अपने को पहिचानता है और निज गुणों को विकसित कर के परमात्मदशा को प्राप्त कर लेता है। आत्मा के इस क्रमिक विकास को जैन दर्शन में "गुणस्थान" के रूप में बताया है। समवायांग १४ में इन्हें 'जीवस्थान' संज्ञा दी गई है। इनका संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है—

१ मिथ्यात्व गुणस्थान—मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से, जीव की उलटी (विकृत) दृष्टि होना। इस गुणस्थान में रहे हुए जीवों की मान्यता—श्रद्धा यथार्थ नहीं होती। वे या तो किसी दर्शन को मानते ही नहीं, यदि मानते हैं, तो कुदर्शन = असत्य पक्ष के मानने वाले होते हैं। इस गुणस्थान में अनन्त जीव, सदाकाल बने रहते हैं। अनन्त स्थावर और असंख्य विकलेन्द्रिय जीव, इसी गुणस्थान में रहते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में से भी मिथ्यादृष्टि जीव ही सदैव असंख्य गुण होते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति भी बहुत लम्बी है। अनन्तकाल तक इसमें पड़े रहें, तो भी छुटकारा नहीं। विश्व में ऐसे अनन्त जीव हैं जो इस मिथ्यात्व गुणस्थान को कभी नहीं छोड़ सकते और सदा-सर्वदा इसी में रहते हैं। मिथ्यात्व की उत्कृष्ट बन्ध-स्थिति तो सित्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है, किन्तु प्रवाह के कारण यह चलती ही रहती है—कूप जल की आवक के समान चालू ही रहती है।

२ सास्वादन गुणस्थान—उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने के बाद जब जीव मिथ्यात्व में आता है, तब सम्यक्त्व छूटने के बाद और मिथ्यात्व में पहुँचने के पूर्व, इस गुणस्थान को प्राप्त होता है। उसकी दशा ऐसी होती है कि जिसमें जीव में सम्यक्त्व का कुछ आस्वाद, वमन की हुई खीर के स्वाद के समान बना रहता है। इसका काल बहुत कम है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका।

३ मिश्र गुणस्थान—सादि मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यात्व को छोड़ कर, सम्यक्त्व को प्राप्त करते समय अथवा सम्यक्त्व को छोड़ कर मिथ्यात्व को प्राप्त करते समय जीव, मिश्र दशा युक्त होता है। इस स्थिति में जीव की ऐसी दशा होती है कि जिससे वह किसी एक निश्चय पर नहीं आ कर दुविधा में रहता है। वह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दो में से एक को भी स्वीकार नहीं करके दोनों का कुछ अंश अपने में पाता है। जिस प्रकार शक्कर मिला हुआ दही खाने से, खट्टा और मीठा दोनों प्रकार

का स्वाद मुंह में रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का असर वना रहना– मिश्र गुणस्थान है। इस गुणस्थान में अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय नहीं हो, तो वह शुद्धता की ओर बढ़ कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय हो, तो मिथ्यात्व में चला जाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान–उपरोक्त दशा से आगे वढ़ने पर–अर्थात् अनन्तानुवन्धी कषाय चौक और दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशमादि होने पर, जीव यथार्थ दृष्टि को प्राप्त करता है। उसमें स्व-पर तथा हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक जाग्रत होता है। वह तत्त्व के वास्तविक स्वरूप पर विश्वास करता है। किन्तु श्रद्धा के अनुसार पालन नहीं कर सकता। रुचि होते हुए भी चारित्र-मोहनीय कर्म–अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से, वह विरति का पालन नहीं कर सकता। सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट (अपतन अवस्था में या क्षायक समकित की) सादि-अपर्यवसित–अनन्त काल, और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की छासठ सागरोपम से कुछ अधिक है। यह स्थिति सम्यक्त्व की है। इस गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति तो ३३ सागरोपम से कुछ अधिक है। ऐसा कर्मग्रंथ २ गा. २ के अर्थ में तथा पंचसंग्रह में लिखा है। इसके वाद विरति आने पर आगे वढ़ सकता है। यह मान्यता ठीक लगती है।

५ देशविरत गुणस्थान–प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो जीव, सावद्य क्रियाओं अर्थात् असंयमी जीवन का सर्वथा त्याग तो नहीं कर सकता, किन्तु देश से–कुछ अंशों में, त्याग करके श्रावक के व्रतों का पालन करता है। कोई एक व्रत का या उसके अंश का पालन करता है, तो कोई पूर्ण वारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करता है। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व की है।

६ प्रमत्तसंयत गुणस्थान–जिन जीवों के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता, किन्तु संज्वलन कषाय चतुष्क का उदय होता है, वे सभी पाप प्रवृत्ति का त्याग कर देते हैं और साधु धर्म–पांच महाव्रत आदि का पालन करते हैं। इस गुणस्थान में निद्रा, विषय, कषाय आदि का अवकाश रहता है। इसलिए इस गुणस्थान को 'प्रमत्त संयत' कहा है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व की है।

७ अप्रमत्त संयत गुणस्थान–इस गुणस्थान वाले जीव निद्रा, विकथा, विषय, कषाय आदि प्रमाद का सेवन नहीं करते और धर्मध्यान में ही रहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

८ निवृत्ति वादर गुणस्थान- जिस अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण–इन तीन चौक रूपी वादर कषाय की निवृत्ति हो चुकी, वह 'निवृत्ति वादर गुणस्थान' का

स्वामी है। क्षपक-श्रेणी में वह इन कषायों को समूल नष्ट करना प्रारम्भ करता है। यहाँ उसकी एक धारा जम जाती है, या तो क्षपक या फिर उपशमक। क्षपकश्रेणी में वह कषायों को नष्ट करने लगता है। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त है।

९ अनिवृत्ति बादर गुणस्थान–यहाँ संज्वलन के क्रोधादि की पूर्ण निवृत्ति नहीं हुई, इसलिए इसे 'अनिवृत्ति-बादर-सम्पराय गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान में रहा हुआ जीव पुरुष हो, तो सत्ता की अपेक्षा पहले नपुंसकवेद, फिर स्त्रीवेद और बाद में* हास्यादि छः, इसके बाद पुरुषवेद तथा संज्वलन के क्रोध मान और माया को नष्ट कर देता है। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त है।

१० सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान–यहाँ संज्वलन के लोभ के दलिकों का सूक्ष्म रूप से उदय होता है। इसकी स्थिति ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त की है।

११ उपशान्त–कषाय वीतराग गुणस्थान–जिसने उपशम श्रेणी प्रारम्भ की हो, वह सभी कषायों को उपशान्त करके इस गुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान में किसी भी कषाय=मोह का किञ्चित् भी उदय नहीं रहता, सर्वथा उपशम हो जाता है। ऐसी आत्मा, वीतराग दशा में होती है। किन्तु यह स्थिति थोड़ी ही देर रहती है। अन्तर्मुहूर्त में ही वह उस दशा से वापिस लौटती है। जिस प्रकार वह ऊपर चढ़ी थी, उसी प्रकार नीचे उतरती है। होते-होते कोई आत्मा मिथ्यात्व में भी पहुँच जाती है। यदि जीव क्षायक समकिति हुआ हो, तो वह चौथे गुणस्थान से नीचे नहीं जाता। इस गुणस्थान से आगे बढ़ने का तो कोई मार्ग ही नहीं है, केवल नीचे ही उतरना पड़ता है। जो क्षपकश्रेणी वाले जीव हैं, वे इस गुणस्थान का स्पर्श ही नहीं करते। वे दसवें से सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त की है।

१२ क्षीणमोहवीतराग गुणस्थान–सभी कषायों को सर्वथा क्षय करके–कर्म-सेना के महारथी मोहराज को नष्ट करके, आत्मा इस गुणस्थान को प्राप्त होती है। इसकी स्थिति मात्र अन्तर्मुहूर्त की ही है।

१३ सयोगी केवली गुणस्थान–मोहनीय कर्म के बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म को सर्वथा क्षय करके आत्मा इस गुणस्थान को प्राप्त कर, सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाती है। यहाँ जो भी प्रवृत्ति होती है, वह कषाय–इच्छा से नहीं, किन्तु मन, वचन और काया के योग के कारण होती है। इसलिए इसे सयोगी-केवली गुणस्थान कहा है। इसकी स्थिति ज० अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम

---

* यदि वह स्त्री हुई, तो पहले नपुंसक वेद, फिर पुरुष वेद और उसके बाद हास्यादि ६ और उसके बाद स्त्री वेद को क्षय करेगा अर्थात् निज वेद बाद में क्षय होता है।

एक करोड़ पूर्व की है।

१४ अयोगी केवली गुणस्थान—सयोगी-केवली भगवान् के मन, वचन और काया के योगों का व्यापार रुक कर अयोगी हो जाना, इस गुणस्थान में प्रवेश करना है। जब केवलज्ञानी भगवान् के आयुकर्म का क्षय होने का समय आता है, तब वे योगों का निरुंधन करके इस गुणस्थान में आते हैं और शैलेशीकरण करके, देह छोड़ कर सिद्धस्थान पर पहुँच जाते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति केवल पाँच लघु अक्षर (अ. इ. उ. ऋ. लृ.) के उच्चारण जितनी ही है। इसके बाद देह छोड़ कर सिद्ध हो जाते हैं।

सभी जीव मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्वी बने। सम्यक्त्वी, देश-विरत बने। देश-विरत, सर्व-विरत बने। सर्व-विरत, अप्रमत्त बने। अप्रमत्त, अकषायी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन कर सिद्ध दशा को प्राप्त करें और हम भी इस दशा को प्राप्त करें।

अजीव तत्त्व

जिस तत्त्व में जीव नहीं हो, जो जड़ स्वभाव वाला हो, वह 'अजीव' कहलाता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—१ रूपी २ अरूपी।

१० अरूपी अजीव के दस भेद हैं। जैसे—

३ धर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल के गति करने में सहायक होने वाला अरूपी अजीव द्रव्य। इसके तीन भेद हैं—१ धर्मास्तिकाय स्कन्ध २ धर्मास्तिकाय के देश और ३ प्रदेश।

३ अधर्मास्तिकाय—स्थिर होने—ठहरने में सहायक होने वाला उदासीन द्रव्य, इसके भी १ अधर्मास्तिकाय स्कन्ध २ देश और ३ प्रदेश—ये तीन भेद हैं।

३ आकाशास्तिकाय—जीव और अजीव द्रव्य को अवकाश देने वाला द्रव्य। इसके भी १ स्कन्ध २ देश और ३ प्रदेश भेद हैं।

१ काल—वर्त्तना लक्षण वाला—भूत-भविष्यादि तथा समयादि रूप।

४ रूपी अजीव के चार भेद हैं—१ स्कन्ध २ स्कन्धदेश, ३ स्कन्ध प्रदेश और ४ परमाणु पुद्गल।

अजीव के ये १४ भेद हैं। इन्हीं के विस्तार से ५६० भेद होते हैं।

अजीव के ५६० भेद

३० अरूपी अजीव के भेद ।

१० भेद तो ऊपर बताये हैं । शेष २० भेद इस प्रकार हैं–

५ धर्मास्तिकाय–१ द्रव्य से एक द्रव्य, २ क्षेत्र से सम्पूर्ण लोक में व्याप्त, ३ काल से अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण से चलन-सहायक गुण ।

५ अधर्मास्तिकाय–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तो धर्मास्तिकाय के जैसे ही हैं, किन्तु गुण से स्थिति-सहायक होना है ।

५ आकाशास्तिकाय–१ द्रव्य से एक, २ क्षेत्र से लोक और अलोक में व्याप्त, ३ काल से अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण से अवगाहन गुण ।

५ काल– १ द्रव्य से अनेक (समय आवलिकादि रूप) २ क्षेत्र से ढ़ाई द्वीप प्रमाण (क्योंकि चर चन्द्र-सूर्य का प्रभाव वहीं तक है, जिससे मुहूर्त, दिन, वार आदि की गणना भी वहीं तक है) ३ काल से अनादि अनन्त ४ भाव से अरूपी ५ गुण से पर्याय परिवर्त्तन ।

इस प्रकार अरूपी अजीव के कुल ३० भेद हुए ।

५३० रूपी अजीव के भेद–

१०० संस्थान–आकृति विशेष । ये पांच प्रकार के होते हैं, जैसे–१ परिमंडल (चूड़ी के समान गोल) २ वृत्त (कुम्हार के चक्र जैसा) ३ त्र्यस्र (त्रिकोण) ४ चतुरस्र (चार कौने वाला) और ५ आयत (दंड की तरह लम्बा) इन पांचों संस्थानों में से प्रत्येक में ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, और ८ स्पर्श होते हैं । एक संस्थान में ये २० भेद पाते हैं, तो पाँचों संस्थान के १०० भेद हुए ।

१०० वर्ण के–काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत, ये पांच वर्ण होते हैं । प्रत्येक वर्ण में २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान–ये २० भेद होते हैं । इस प्रकार पाँच वर्ण के १०० भेद हुए ।

४६ गंध के–१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध । इन दो भेदों में से प्रत्येक में ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान–यों २३ भेद होते हैं । दोनों प्रकार की गन्ध के कुल ४६ भेद हुए ।

१०० रस के–१ तिक्त २ कटु ३ कषाय ४ खट्टा और ५ मीठा । ये पाँच प्रकार के रस हैं । प्रत्येक रस में ५ वर्ण, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ये २० भेद होते हैं । पाँचों रस के कुल १०० भेद हुए ।

१८४ स्पर्श–१ खर २ कोमल ३ हल्का ४ भारी ५ शीत ६ उष्ण ७ स्निग्ध और ८ रुक्ष । ये

आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं। प्रत्येक के ५ संस्थान, ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध और ६ स्पर्श (एक स्वयं व एक विरोधी स्पर्श को छोड़ कर) ये २३ भेद हुए। इस प्रकार आठ स्पर्श के २३×८=१८४ भेद हुए।

ये रूपी अजीव के ५३० भेद हुए। इस प्रकार रूपी और अरूपी अजीव के कुल ५६० भेद हुए।

पुण्य तत्त्व

पुण्य–जो आत्मा को पवित्र करे, जिससे सुख रूपी फल की प्राप्ति हो, वह पुण्य कहलाता है। इसके ९ भेद हैं।

१ **अन्न पुण्य**–अन्नदान करने से होने वाला शुभ परिणाम।

२ **पान पुण्य**–पानी अथवा पीने की वस्तु देने से शुभ प्रकृति का बँधना।

३ **वस्त्र पुण्य**–कपड़ा देने से होने वाला शुभ बँध।

४ **लयन पुण्य**–स्थान देने से होने वाला शुभाश्रव।

५ **शयन पुण्य**–बिछाने के लिए साधन देने से होने वाला लाभ।

६ **मनः पुण्य**–गुणवानों को देख कर प्रसन्न होना, आदरभाव रखना तथा दूसरों का हित चाहना।

७ **वचन पुण्य**–वाणी के द्वारा गुणवानों की प्रशंसा करना, मीठे वचनों से दूसरों को सुख-संतोष देना।

८ **काय पुण्य**–शरीर से दूसरों की सेवा-भक्ति करना।

९ **नमस्कार पुण्य**–बड़ों को और योग्य पात्र को नमस्कार करने से होने वाला शुभबन्ध।

(ठाणांग ९)

उपरोक्त नौ प्रकार से पुण्य का संचय होता है। इस पुण्य-बन्ध का फल, नीचे लिखे ४२ प्रकार से मिलता है।

१ सातावेदनीय २ उच्चगोत्र ३ मनुष्यगति ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ मनुष्यायु ६ देवगति ७ देवानुपूर्वी ८ देवायु ९ पञ्चेन्द्रिय जाति १० औदारिक शरीर ११ वैक्रिय शरीर १२ आहारक शरीर १३ तेजस् शरीर १४ कार्मण शरीर १५ औदारिक अंगोपांग १६ वैक्रिय अंगोपांग १७ आहारक अंगोपांग १८ वज्र-ऋषभनाराच संहनन १९ समचतुरस्र संस्थान २० शुभ वर्ण २१ शुभ गन्ध २२ शुभ रस २३ शुभ स्पर्श २४ अगुरुलघु २५ पराघात २६ श्वासोच्छ्वास २७ आतप २८ उद्योत २९ शुभविहायोगति २० निर्माण ३१ तीर्थंकर ३२ तिर्यचायु ३३ त्रसनाम ३४ बादर नाम ३५ पर्याप्त नाम ३६ प्रत्येक नाम ३७ स्थिर नाम ३८ शुभ नाम ३९ सुभग नाम ४० सुस्वर नाम ४१ आदेय नाम और ४२ यशःकीर्ति नाम।

(प्रज्ञापना २३)

इस प्रकार नौ प्रकार से किये हुए पुण्य का ४२ प्रकार से शुभ फल प्राप्त होता है।

पाप तत्त्व

पुण्य से उल्टा पाप तत्त्व है। इससे आत्मा भारी एवं मैली होती है और इससे अशुभ कर्म का बन्ध होकर दुःख रूपी फल की प्राप्ति होती है। पाप के १८ प्रकार इस प्रकार हैं–

१ प्राणातिपात–प्राणों का अतिपात करना–आत्मा से द्रव्य प्राणों को भिन्न (पृथक्) करना अर्थात् हिंसा करना। इसके तीन भेद हैं–१ परिताप–दुःख देना २ संक्लेश–क्लेश उत्पन्न करना और ३ विनाश–मार डालना।

२ मृषावाद–झूठ बोलना।

३ अदत्तादान–बिना दी हुई वस्तु लेना।

४ मैथुन–स्त्री, पुरुष या नपुंसक सम्बन्धी भोग।

५ परिग्रह– ममत्व एवं आसक्तिपूर्वक धन आदि का रखना।

६ क्रोध–अप्रसन्न होना, तप्त हो जाना।

७ मान–अहंकार करना।

८ माया–कपटाई करना।

९ लोभ–द्रव्य आदि प्राप्त करने की इच्छा।

१० राग–प्रिय वस्तु पर आसक्ति होना।

११ द्वेष–अप्रिय वस्तु पर दुर्भाव होना।

१२ कलह–लड़ाई-झगड़ा करके क्लेश करना।

१३ अभ्याख्यान–झूठा कलंक लगाना।

१४ पैशुन्य–चुगली करना।

१५ परपरिवाद–दूसरों की निन्दा करना।

१६ रति अरति–अनुकूल विषयों में रुचि और प्रतिकूल विषयों में अरुचि होना।

१७ मायामृषा–कुटिलतापूर्वक झूठ बोलना।

१८ मिथ्यादर्शन शल्य–झूठे–असत्य मत के शल्य को हृदय में स्थान देना।

(ठाणांग १ भगवती १–९

उपरोक्त अठारह प्रकार से सेवन किये हुए पाप के अशुभ कर्मों का फल, नीचे लिखे ८२ प्र से भुगतना पड़ता है।

५ आत्मा के ज्ञान गुण का घात करने वाली ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ (१ मति ज्ञानावरणीय, २ श्रुत० ३ अवधि० ४ मनःपर्यव० और ५ केवलज्ञानावरणीय)। ६–१४ दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियाँ (१ चक्षुदर्शनावरणीय २ अचक्षु० ३ अवधि० ४ केवलदर्शनावरणीय ५ निद्रा ६ निद्रानिद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला और ९स्त्यानगृद्धि) और १५ असातावेदनीय।

२६ मोहनीय कर्म की–१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ–ये चार अनन्तानुबन्धी, ५–८ ये ही चार अप्रत्याख्यान ९–१२ प्रत्याख्यानावरण १३–१६ संज्वलन, ये सोलह प्रकृतियाँ चार कषाय की हुई। १७–२५ नोकषाय के ९ भेद (१ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ दुगुन्छा ७ स्त्रीवेद ८ पुरुष वेद और ९ नपुंसक वेद) और २६ मिथ्यात्व-मोहनीय। ये ४१ हुई।

नामकर्म की ३४ प्रकृत्तियाँ १–५ वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन को छोड़ कर शेष पाँच संहनन (१ ऋषभनाराच २ नाराच ३ अर्धनाराच ४ कीलक और ५ सेवार्त) ६–१० समचतुरस्र को छोड़ कर पाँच संस्थान (१ न्यग्रोधपरिमण्डल, २ स्वाति ३ वामन ४ कुब्ज और ५ हुंडक) ११–२० स्थावर दसक (१ स्थावर नाम २ सूक्ष्म नाम ३ साधारण नाम ४ अपर्याप्त ५ अस्थिर ६ अशुभ ७ दुर्भग ८ दुःस्वर ९ अनादेय और १० अयशःकीर्ति नाम) २१–२२ नरक द्विक (१ नरकगति २ नरकानुपूर्वी)२३ तिर्यंच गति २४ तिर्यंचानुपूर्वी, २५ एकेन्द्रिय जाति २६ द्वीन्द्रिय जाति २७ त्रीन्द्रिय २८ चौरिन्द्रिय जाति २९ अशुभ वर्ण ३० अशुभ गन्ध ३१ अशुभ रस ३२ अशुभ स्पर्श ३३ उपघात नाम और ३४ अशुभ-विहायोगति।

१ आयुकर्म की–नरकायु। १–गोत्रकर्म की–नीचगोत्र और ५ अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ –दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की १, मोहनीय की २६, नामकर्म की ३४, आयुकर्म की १, गोत्रकर्म की १ और अन्तराय कर्म की ५। इस प्रकार ८२ प्रकार से पाप का फल भोगना पड़ता है।

आश्रव तत्त्व

आश्रव=आत्मा में कर्म-पुद्गलों के प्रवेश करने का मार्ग। कषाय और योग के द्वारा आत्मा में कर्म की आवक को 'आस्रव' कहते हैं। इसके २० भेद इस प्रकार हैं–

१ मिथ्यात्व २ अविरति ३ प्रमाद ४ कषाय और ५ अशुभ योग ६ प्राणातिपात ७ मृषावाद ८ अदत्तादान ९ मैथुन १० परिग्रह ११–१५ पाँच इन्द्रियों को विषय सेवन में स्वच्छन्द रखना (निग्रह

नहीं करना) १६-१८ मन, वचन और काया के योगों की अशुभ प्रवृत्ति करना १९ भण्डोपकरण अयतना से लेना और रखना और २० सूचीकुशाग्र (घास का तिनका भी) अयतना से लेना और रखना।

इस प्रकार आस्रव के २० भेद हुए। दूसरी अपेक्षा से आश्रव के ४२ भेद इस प्रकार होते हैं-

५ इन्द्रिय ६-९ चार कषाय १०-१४ प्राणातिपातादि पांच अव्रत १५-१७ तीन योग और १८-४२ पच्चीस क्रियाएँ (इनका स्वरूप आगे बताया जायगा)।

दूसरी गणना में उपरोक्त भेदों में से पाँच इन्द्रियों के ५ भेद नहीं दिये हैं, किन्तु मिथ्यात्व आदि पाँच भेद दिये हैं। ये सब कर्म-पुद्गलों के आत्मा में प्रवेश करने के मार्ग हैं।

संवर तत्त्व

संवर-कर्म आने के मार्गों को रोक देना। संवर तत्त्व के २० भेद, आस्रव के २० भेदों से उलटे हैं। जैसे-

१ सम्यक्त्व २ विरति ३ अप्रमत्तता ४ कषाय त्याग ५ अशुभ योगों का त्याग ६-१० प्राणातिपात विरमण यावत् परिग्रह विरमण, ११-१५ पाँच इन्द्रियों का संवरण १७-१८ मन वचन और काया के योग को वश में रखना १९ भण्डोपकरण को यतना से उठाना और रखना और २० सूचीकुशाग्र मात्र यतना से लेना रखना।

दूसरी अपेक्षा से संवर के ५७ भेद इस प्रकार हैं-

५ समिति, ६-८ तीन गुप्ति, ९-३० बावीस परीषह, ३१-४० दस यति धर्म, ४१-५२ अनित्यादि बारह भावना और ५३-५७ सामायिकादि पाँच चारित्र।

यह संवर धर्म, आत्मा का परम रक्षक एवं उपकारी है।

निर्जरा तत्त्व

आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म-मल को नष्ट करने वाली साधना को 'निर्जरा' कहते हैं। इसके अनशनादि बारह भेद हैं। इनका वर्णन 'तप धर्म' में विस्तार से किया जायगा।

बन्ध तत्त्व

आत्मा के साथ कर्मदलिक का बन्ध जाना-सम्बन्ध हो जाना,-'बन्ध' कहलाता है। जिस प्रकार दूध में पानी मिल जाता है, सोने के साथ मिट्टी रहती है, तिल में तेल होता है, उसी प्रकार आत्मा के

साथ कर्म-पुद्गलों का वन्ध होता है। आत्मा के कषाय-भाव और योग से आकर्षित होकर वँधने वाले मूल कर्म आठ प्रकार के होते हैं। यथा–

१ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय कर्म।

उपरोक्त आठ प्रकार के कर्म की उत्तर प्रकृत्तियां इस प्रकार है।

(१) **ज्ञानावरणीय कर्म**–आत्मा के ज्ञान गुण को दवाने वाला कर्म। इसकी पाँच प्रकृतियाँ है।

१ मतिज्ञानावरणीय–मति विभ्रम होना, सोचने-विचारने और स्मृति रखने की शक्ति का दवना।

२ श्रुतज्ञानावरणीय–सुनने या पढ़ने से होने वाले ज्ञान का रुकना।

३ अवधिज्ञानावरणीय–निकट या दूर के रूपी पदार्थों को इन्द्रियों और मन की सहायता के विना ही,प्रत्यक्ष देखने की शक्ति का अवरुद्ध होना।

४ मन:पर्यवज्ञानावरणीय–दूसरों के मनोगत भावों को जानने वाला ज्ञान नहीं होना।

५ केवलज्ञानावरणीय–सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होना।

इस कर्म के वन्धने के कारण ६ हैं। यथा–

१ ज्ञान और ज्ञानी की निन्दा करने से, २ ज्ञान का अथवा ज्ञानदाता का अपलाप करने से, ३ आशातना करने से, ४ ज्ञान देते-लेते हुए के लिए वाधक वनने से, ५ ज्ञान या ज्ञानी पर द्वेष रखने और ६ ज्ञानी के साथ झगड़ा करने से। इन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का वन्ध होता है।

इस कर्म का फल दस प्रकार से भुगतना पड़ता है। यथा–

५ मतिज्ञानादि पाँच प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होना, ६ वहिरापन, ७ अन्धा होना, ८ सूंघने की शक्ति नहीं मिलना, ९ गूंगा होना और १० स्पर्श का अनुभव नहीं होना।

दूसरी प्रकार से इसका फल इस प्रकार है,–श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों का वेकार होना और इन पांचों इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का रुकना।

(२) **दर्शनावरण**–वस्तु के प्रारंभिक अथवा सामान्य ज्ञान को 'दर्शन' कहते हैं। इस दर्शन-शक्ति को रोकने वाला–दर्शनावरण कर्म है। इस के नौ भेद इस प्रकार हैं,–

१ चक्षुदर्शनावरण–आंख तथा आंख से देखने की शक्ति को दवाने वाला।

२ अचक्षुदर्शनावरण–कान, नाक, जिव्हा और स्पर्श तथा मन से होने वाले दर्शन–सामान्य ज्ञान का वाधक।

३ अवधिदर्शनावरण–रूपी पदार्थों के इन्द्रिय और मन की सहायता के विना ही होने वाले दर्शन को रोकने वाला।

४ केवल दर्शनावरण–सर्वदर्शिता को अवरुद्ध करने वाला।

५ निद्रा–नींद आ जाने से दर्शन में रुकावट होना।

६ निद्रानिद्रा–गाढ़ नींद आ जाना।

७ प्रचला बैठे हुए ऊँघने से।

८ प्रचलाप्रचला–रास्ते चलता हुआ घोड़ा नींद लेता है, वैसी नींद लेना।

९ स्त्यानगृद्धि–अत्यन्त गाढ़ निद्रा, जिसमें दिन में सोचा हुआ काम, निद्रावस्था में किया जाता है–एकदम बेहोश की तरह। इसमें शक्ति के अनुसार बड़े साहस के काम भी किये जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव तो इसी निद्रा में होते हैं। इसका विशेष स्वरूप अन्य ग्रंथों से जानना चाहिए।

ज्ञानावरणीय के समान इसका बन्ध भी छः प्रकार से होता है। इसमें दर्शन और दर्शनी की निन्दा करना आदि, ज्ञान के स्थान पर दर्शन का व्यहार करना चाहिए।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

(३) **वेदनीय कर्म**–जिसके निमित्त से सुख और दुःख का वेदन–अनुभव हो, वह वेदनीय कर्म है। इसके सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो भेद हैं।

सातावेदनीय–जो सुखपूर्वक वेदा (भोगा) जाय–जिससे सुख की प्राप्ति हो, इच्छानुकूल संयोग मिले।

सुखप्रद कर्म का उपार्जन निम्नलिखित शुभ क्रियाओं से होता है।

एकेन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक के प्राण, भूत, जीव और सत्व की अनुकम्पा करने, उन्हें दुःख नहीं देने, शोक नहीं पहुँचाने और ताड़ना नहीं करने, नहीं रुलाने से, त्रास नहीं देने से और नहीं मारने से, सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। (भगवती ८–९)

सातावेदनीय कर्म का फल आठ प्रकार से मिलता है। जैसे–

१ मन को आनन्द देने वाले मधुर एवं कोमल शब्द–स्वजन परिजनों की ओर से प्रेम एवं आदर युक्त वचनों का सुनना, कर्ण-प्रिय गान-वादिन्त्रादि की प्राप्ति।

२ मोहक रूपों–दृश्यों की प्राप्ति–जितने भी दृश्य प्राप्त हों, वे सुन्दर हों।

३ मनोहर गन्धों की प्राप्ति, ४ स्वादिष्ट रसों की प्राप्ति, ५ समयानुसार इच्छित स्पर्शों की प्राप्ति, ६ मनःसुख–स्वयं का मन सुखकारी होना, ७ वचन सुख–अपना वचन ऐसा होना कि जिससे सुनने वाले अनुकूल हो जायँ और ८ काय सुख–नीरोग तथा सुन्दर शरीर की प्राप्ति। (प्रज्ञापना २३)

असातावेदनीय–जो दुःखपूर्वक भोगा जाय, जिससे प्रतिकूल विषय और अवस्था की प्राप्ति हो,

वह असातावेदनीय है। इसका बन्ध, सातावेदनीय से उलटी क्रिया-जीवों पर क्रूरता आदि से होता है और इसका फल भी अशुभ शब्दादि रूप में दुःखदायक ही होता है।

वेदनीय कर्म की स्थिति जघन्य १२ मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। यह साम्परायिक बन्ध की अपेक्षा से है। उच्च चारित्रियों की अपेक्षा तो ईर्यापथिक बन्ध की स्थिति (जघन्य) दो समय की है।

(४) **मोहनीय कर्म**-आत्मा को विवेक-विकल बनाने वाला। जिस प्रकार मदिरा के मद से मनुष्य हिताहित का विवेक नहीं रख कर अन्धाधुन्धी प्रवृत्ति करता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के वश हो कर आत्मा, अपने स्वरूप को भी भूल जाता है और दुराचार करता है। इसके मुख्य भेद २ और उत्तर भेद २८ हैं।

१ दर्शनमोहनीय-आत्मा के सत्य विवेक-यथार्थ समझ का बाधक। मिथ्या विश्वास में फँसाने वाला, मिथ्या तत्त्वों पर विश्वास करने और सत्य सिद्धांतों से विमुख रखने वाला। अथवा हिताहित का विचार करने की शक्ति को ही दबा देने वाला। इसकी तीन प्रकृत्ति हैं,-

मिथ्यात्वमोहनीय-सम्यक्त्व की विरोधी, यथार्थ श्रद्धान् नहीं होने देने वाली। लोक में जितने भी जीव हैं, उनमें से अनन्तवाँ भाग ही इस मिथ्यात्वमोहनीय (दर्शन मोहनीय) के प्रभाव से वंचित है और जो वंचित है, उनसे अनन्तगुण जीव इसके फन्दे में फँसे हुए हैं। अनन्त जीव ऐसे भी हैं, जो इस दर्शनमोहनीय के फन्दे से न तो कभी निकले और न कभी निकलेंगे ही। वे सदा-सर्वदा इसी के अधिकार में बने रहेंगे। इसके विशेष भेद 'मिथ्यात्व' प्रकरण में बताये गये हैं।

मिश्रमोहनीय-अधकचरापन-कुछ सम्यक् कुछ मिथ्या परिणति। न तो एकदम मिथ्यात्वी होना और न सम्यक्त्वी ही। दोनों प्रकार का असर-ढिलमिल वृत्ति। यह स्थिति थोड़ी देर-अन्तर्मुहूर्त ही रहती है। इसके बाद या तो आत्मा मिथ्यात्व-मोहनीय में चला जाता है या फिर सम्यक्त्वी हो जाता है। सादि मिथ्यात्वी का मिथ्यात्व गुणस्थान से ऊपर चढ़ते या चौथे गुणस्थान से नीचे उतर कर पहले में जाते समय-मध्य में यह स्थिति रहती है।

सम्यक्त्व मोहनीय-क्षायिक सम्यक्त्व को रोकने वाली। इसके उदय से तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धान् तो होती है। यह सम्यक्त्व में बाधक नहीं है, किन्तु यह वह स्थिति है कि जिसमें मिथ्यात्व के दलिक सर्वथा नष्ट नहीं होकर स्वच्छ रूप में भी कायम रहते हैं और जिनके कारण सम्यक्त्व में अतिचार लगते हैं।

इस प्रकार दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृति है। इसमें से मिथ्यात्व मोहनीय का तो बन्ध होता है, किन्तु मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय का बन्ध नहीं होता, क्योंकि ये दोनों प्रकृतियां मिथ्यात्व

के दलिक शुद्ध शुद्धतर होने से, विशुद्धि की अवस्था स्वरूप मानी गई है। अतएव बन्ध तो केवल एक मिथ्यात्व-मोहनीय का ही होता है +।

२ चारित्र-मोहनीय–इससे सदाचार–शुद्धाचार–उत्तम आचार में रुकावट होती है। इसके मुख्य तीन भेद हैं,–१ कषाय-मोहनीय २ नो-कषाय मोहनीय और ३ वेद-मोहनीय। (प्रज्ञापना २३–२ में नो-कषाय और वेद को मिला कर नो-कषाय के ९ भेद किये हैं)

कषाय-मोहनीय–कष का अर्थ संसार होता है और 'आय' का अर्थ लाभ। जो संसार की आवक करे–संसार में परिभ्रमण करावे, उसे 'कषाय' कहते हैं। अथवा–जो आत्मा को कषैला–मलिन–विद्रूप करे, उसे कषाय कहते हैं। कषाय चार हैं–१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ। इन चार कषायों की चार चौकड़ी होती है, जिससे सोलह भेद बनते हैं। जैसे–

१ अनन्तानुबन्धी चौक–इसमें चारों कषाय का ऐसा प्रभाव होता है कि जिससे आत्मा का अनन्त संसार बढ़ता है। जबतक इसका उदय रहता है, तबतक वह मिथ्यात्वी ही रहता है। यह उग्र-रूप में होता है, तब नरक गति का कारण है। इसके उग्रतम स्वरूप का स्थानांग ४ में इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध–पर्वत की दरार के समान होता है, जो फटने के बाद फिर नहीं मिलती।
मान–पत्थर के स्तंभ के समान होता है, जो टूट जाय पर झुके नहीं।
माया–बांस की कठिन टेढ़ी जड़ के समान जो कभी सीधी नहीं हो सकती।
लोभ–किरमची ❀ रंग के समान पक्का, जो कभी नहीं छूटता।

२ अप्रत्याख्यान चौक–इस चौक के उदय वाले के सम्यक्त्व हो भी सकता है, किन्तु देश-विरति प्राप्त नहीं होती। इसके विशेष रूप से उदय होने पर तिर्यंचगति का कारण होता है। इस चौक की दशा के लिए निम्न उदारहण है,–

क्रोध–सूखे हुए तालाब में पड़ी हुई दरार के समान जो वर्षा होने पर पुनः मिल जाती है। इस प्रकार का क्रोध, प्रयत्न करने पर शान्त हो सकता है।
मान–हड्डी के समान जो विशेष प्रयत्न से नमती है।
माया–मेढ़े के टेढ़े सींग के समान जो कठिनाई से सीधा होता है।

+ प्रज्ञापना २३–२ में मिश्र-मोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय का भी बन्ध होना लिखा है, किन्तु वह स्थिति की अपेक्षा से है।

❀ कृमिरागरक्त का अर्थ ठाणांग ४–२ की टीका में–'रक्त मिला कर पाले हुए कीड़े की लार के रंग के समान' लिखा है।

लोभ–कर्दमराग–हरा घास खा कर किया हुआ पशुओं का गोबर, कीचड़ में मिल जाय और वह वस्त्र के लग जाय, तो उसका रंग छूटना कठिन होता है।

३ प्रत्याख्यानावरण चौक–जिसके उदय से श्रावक के देश-व्रतों में तो रुकावट नहीं होती, किन्तु सर्व-त्यागी श्रमण-धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह मनुष्य गति तक ले जा सकता है। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

क्रोध–बालू में खींची हुई लकीर के समान, जो वायु के चलने से पुनः मिल जाती है। इस प्रकार का क्रोध थोड़े प्रयत्न से ही शान्त हो जाता है।

मान–उस लकड़ी के समान है जो थोड़े प्रयत्न में ही सीधी हो जाती है।

माया–चलते हुए बैल के मूत्र के समान, जो टेढ़ा गिरते हुए भी थोड़ी देर में सूख जाने से या वायु से उस पर धूल आ जाने से मिट जाता है।

लोभ–दीपक के धूएँ से जमे हुए कोरे काजल की तरह, जिसकी कालिमा थोड़े प्रयत्न से ही छूट जाती है।

४ संज्वलन चौक–जिसके उदय से श्रमण-निर्ग्रंथ में भी किञ्चित् कषाय की परिणति हो जाती है। यह स्थिति साधु-धर्म के लिए बाधक नहीं होती। इसमें रहते हुए प्रथम के चार चारित्र तक की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। इसमें रहे हुए जीव के देवगति के योग्य वन्ध होता है। इसका परिचय इस प्रकार है।

क्रोध–पानी में खिंची हुई लकीर के समान, जो खिंचने के साथ ही मिल जाती है।

मान–बेंत की लकड़ी के समान, जो सहज ही नम जाती है।

माया–बांस की लकड़ी के छिलके के समान, शीघ्र सीधी होने वाली।

लोभ–हल्दी के रंग की तरह सहज ही में मिट जाने वाला।

इस प्रकार चारों कषाय के चार चौक के १६ भेद हुए।

कषायों के उदय की स्थिति–अनन्तानुबन्धी की जीवन पर्यन्त, अप्रत्याख्यानी की एक वर्ष, प्रत्याख्यानी की चार महीने और संज्वलन की पन्दह दिन की बताई जाती है, वह 'कर्मग्रंथ' भाग १ गा० १८ के अनुसार है। यह स्थिति व्यवहार नय से बताई होगी। निश्चय से तो प्रत्येक कषाय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है–ऐसा प्रज्ञापना पद १८ में लिखा है।

संज्वलन कषाय की उत्कृष्ट स्थिति, परिवर्तित रूप में देशोन करोड़ पूर्व की–सामायिक आदि चारित्र के समान है।

संज्वलन के क्रोध की वन्ध-स्थिति जघन्य दो महीने की, मान की एक महीने की, माया की

पन्द्रह दिन की और लोभ की अन्तर्मुहूर्त की-पन्नवणा पद २३ में लिखी है।

नोकषाय मोहनीय-जिसका उदय कषाय के उदय के साथ होता है, अथवा जो कषाय का उत्तेजित करने वाली है, उसे 'नोकषाय' कहते हैं। इसके ६ भेद इस प्रकार हैं-

१ हास्य-मोहनीय (हँसी लाने वाली) २ रति मो० (अनुराग होना) ३ अरति मो० (अप्रीतिकारक-अरुचि) ४ भय मो० ५ शोक मो० और ६ जुगुप्सा मोहनीय-घृणा।

वेद मोहनीय-भोगेच्छा। इसके तीन भेद हैं,-१ स्त्री वेद-पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा २ पुरुषवेद-स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा और ३ नपुंसक वेद-स्त्री तथा पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा।

उपरोक्त तीन वेद को भी 'नोकषाय मोहनीय' में गिन कर, नोकषाय मोहनीय के कुल ९ भेद, स्थानांग ९ तथा समवायांग २८ में बताये हैं। इस प्रकार चारित्रमोहनीय के २५ भेद हुए। इनमें दर्शन मोहनीय के ३ भेद मिलाने से, मोहनीय कर्म के कुल २८ भेद हुए। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

मोहनीय कर्म का बन्ध, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, तीव्र दर्शनमोहनीय और तीव्र चारित्र मोहनीय से होता है और इसके फल स्वरूप जीव सम्यक्त्व तथा चारित्र से वंचित रहता है।

(५) **आयु कर्म**-जिस कर्म के उदय से जीव, किसी शरीर में रह कर जीता रहता है और क्षय होने पर मर जाता है, उसे 'आयु कर्म' कहते हैं। अथवा आयु कर्म वह है, जिसके उदय से जीव, एक गति से दूसरी गति में जा कर शरीर धारण करता है। यह कर्म कारागार के समान है, जहाँ न तो अपनी इच्छा से रहा जाता है, न छुटकारा ही होता है। गति में गमन एवं जन्म भी आयुकर्म के उदय से होता है और मरण, आयु के क्षय होने से होता है। गति की अपेक्षा इसके चार भेद हैं।

१ नरकायु २ तिर्यंचायु ३ मनुष्यायु और ४ देवायु।

चारों प्रकार का आयु-बन्ध, निम्न कारणों से होता है।

नरकायु का बन्ध-१ महान् आरम्भ करने से, जिससे बहुत से प्राणियों की हिंसा हो। हिंसा के तीव्र परिणाम हो।

२ महान् परिग्रह-असीम लोभ। अत्यन्त तृष्णा।

६ पञ्चेन्द्रिय वध-पाँच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा करना।

४ कुणिमाहार-मांस भक्षण करना।

तिर्यञ्चायु बन्ध-१ मायाचार-मनमें कुटिलता और मुंह से मीठापन।

२ निकृतिवाला-दांभिक प्रवृत्ति से दूसरों को ठगना।

३ झूठ बोलना ।
४ खोटे तोल-माप करना ।

मनुष्यायु बन्ध–१ भद्र प्रकृति २ विनीत स्वभाव ३ करुणा भाव ४ अमत्सर (ईर्षा एवं डाह नहीं करना) ।

देवायु के कारण–१ सराग संयम २ देश-विरति ३ अकाम-निर्जरा–पराधीन होकर कष्ट सहन करना और ४ अज्ञान तप । (ठाणांग ४–४ तथा उववाई)

आयुकर्म की स्थिति, देव और नारक की अपेक्षा, जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है, तथा मनुष्य और तिर्यंच की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

(६) **नाम कर्म**–जिसके कारण जीव, भिन्न-भिन्न नामों से पहिचाना जाता है, जिसके कारण उसकी आकृति आदि में भिन्नता होती है, जो कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार–चित्र-कलाविद् के समान जीव को बाहरी साज सजाता है, वह 'नाम कर्म' कहलाता है। नाम-कर्म के मूल ४२ भेद इस प्रकार हैं;–

चौदह पिण्ड-प्रकृतियाँ

१ गति नाम–नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ।

२ जातिनाम–एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जाति ।

३ तनुनाम–औदारिक शरीर, वैक्रेय शरीर, आहारक शरीर, तैजस् शरीर और कार्मण शरीर ।

४ अंगोपांग नाम-शरीर के मस्तक आदि अंग और उंगली आदि उपांग । ये तैजस् और कार्मण शरीर के नहीं होते, शेष तीन के ही होते हैं ।

५ बन्धन नाम–पाँचों प्रकार के शरीर के पूर्व ग्रहण किये हुए पुद्गलों के साथ वर्त्तमान पुद्गलों का बन्धना ।

६ संघात नाम–औदारिकादि शरीर परिणत पुद्गलों को बन्धन के योग्य स्थान के निकट ला कर रखने वाला, जिससे बन्धन को प्राप्त हो सके ।

७ संहनन नाम-इसके छः भेद इस प्रकार हैं;–

१ वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन –वज्र=खीला, ऋषभ=पाटा, नाराच=वेष्टन अर्थात्–मर्कट बँध से बँधी हुई दो हड्डियों के ऊपर वेष्टन हो कर, खीले से मजबूत बना हुआ शरीर ।

२ ऋषभ-नाराच संहनन–इसमें वज्र=खीला नहीं होता, शेष प्रथम के अनुसार ।

३ नाराच संहनन–दो हड्डियों का केवल मर्कट-बन्ध ही होता है ।

४ अर्ध नाराच–एक ओर मर्कट-बन्ध और दूसरी ओर खीला हो ।

५ कीलिका–जिस शरीर की हड्डियां खीले से जुड़ी हुई हों।
६ सेवार्त–विना कील के योंही जुड़ी हुई हड्डियां।

८ संस्थान नाम–इसके भी ६ भेद हैं,–

१ समचतुरस्र संस्थान (चोकोण आकृति वाला) अर्थात् सर्वांग सुन्दर हो।
२ न्यग्रोध परिमण्डल–जिसमें नाभि के ऊपर के अंग पूर्ण हों और नीचे के हीन हों।
३ सादि संस्थान–नीचे के अंग पूर्ण हों और ऊपर के हीन हों।
४ कुब्ज संस्थान–जिसकी छाती, पीठ और पेट हीन हो।
५ वामन संस्थान–हाथ आदि अंग हीन हों, जिसमें हाथ पैर छोटे हों और बीच का अंग पूर्ण हो।
६ हुण्ड संस्थान–जिसके सभी अवयव वेडौल हों।

९ वर्ण नाम–१ काला २ नीला ३ लाल ४ पीला और ५ श्वेत। इन वर्णों वाला शरीर होना।
१० गन्ध नाम–१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध वाला शरीर होना।
११ रस नाम–१ तिक्त २ कटु ३ कसैला ४ खट्टा और ५ मीठा, इन रसों वाला शरीर होना।
१२ स्पर्शनाम–१ खर २ कोमल ३ हल्का ४ भारी ५ शीत ६ उष्ण ७ स्निग्ध और ८ रुक्ष, स्पर्श होना।
१३ आनुपूर्वी नाम–एक भव से दूसरे भव में ले जाने वाला कर्म। इसके चार भेद हैं–१ देवानुपूर्वी २ मनुष्यानुपूर्वी ३ तिर्यञ्चानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी। (सरल–ऋजु गति से जाने वाले के यह कर्म नहीं होता।)
१४ विहायोगति–चाल, जो शुभ और अशुभ–यों दो प्रकार की होती है।

उपरोक्त चौदह पिण्ड प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियाँ ६५ है। जैसे–

गति,	जाति,	तनु,	अंगोपांग,	बन्धन,	संघातन,	संहनन,	संस्थान,	वर्ण,	गंध,	रस,	स्पर्श,
४	५	५	३	५	५	६	६	५	२	५	८

आनुपूर्वी,	और विहायोगति। ये कुल ६५ हुई।
४	२

प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ

१ पराघात नामकर्म—बलवानों पर भी विजय प्राप्त कराने वाला।
२ उच्छ्वास नाम—श्वासोच्छ्वास-लब्धि युक्त होना।
३ आतप नाम—विना उष्ण स्पर्श के भी उष्ण प्रकाशक शरीर होना। सूर्य-मण्डल के बादर पृथ्वीकाय के शरीर को ही यह कर्म होता है।
४ उद्योत नाम—शीतल प्रकाश फैलाने वाला। यह कर्म लब्धिधारी मुनि के वैक्रेय शरीर बनाने पर, देवों के उत्तर वैक्रेय शरीर और चन्द्र तथा तारा-मण्डल के पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर में होता है। जुगनू, रत्न तथा प्रकाशवाली औषधी के भी इस कर्म का उदय होता है।
५ अगुरुलघु नाम—जिससे शरीर न तो भारी हो और न हलका हो।
६ तीर्थंकर नाम—तीर्थंकर पद की प्राप्ति कराने वाला। इसके २० कारण अन्यत्र बताये हैं।
७ निर्माण नाम—अंग और उपांग का अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित होना।
८ उपघात नाम-अपने ही अवयवों से दुःख पाना, जैसे—पट-जीभ, चोर-दांत, छठी अंगुली, आदि।

त्रस दशक

१ त्रस नाम २ बादरनाम ३ पर्याप्त ४ प्रत्येक ५ स्थिर ६ शुभ ७ सुभग—सौभाग्य ८ सुस्वर ९ आदेय—जिसके वचन मान्य करने योग्य हों और १० यशःकीर्ति नाम कर्म।

स्थावर दशक

१ स्थावर नाम २ सूक्ष्म ३ अपर्याप्त ४ साधारण ५ अस्थिर ६ अशुभ ७ दुर्भग—दुर्भाग्य—जिससे उपकार करते हुए भी अप्रिय लगे, ८ दुःस्वर ९ अनादेय—जिसकी खरी बात भी कोई नहीं माने और १० यशःकीर्ति नाम कर्म।

इस प्रकार पिण्ड प्रकृति, प्रत्येक प्रकृति, त्रस-दशक, स्थावर-दशक, ये ४२ प्रकृतियां हुई। पृथक-
१४ ८ १० १०

पृथक गिनने पर ये ही प्रकृतियाँ ९३ होती है। जैसे—चौदह पिण्ड प्रकृतियों की उत्तर-प्रकृतियां, प्रत्येक, त्रस दशक, स्थावर दशक। ६५ ८
१० १०

अन्य गणना के अनुसार १०३ प्रकृतियाँ होती है, वे इस प्रकार हैं—

उपरोक्त ९३ प्रकृतियों में बन्धन नाम-कर्म की पांच प्रकृतियां हैं। यदि बन्ध की निम्न लिखित १५ गिनी जाय तो १०३ भेद होंगी।

१ औदारिक, औदारिक बन्धन नाम २ औदारिक तैजस बन्धन नाम ३ औदारिक कार्मण बन्धन नाम, ४ वैक्रिय वैक्रिय बन्धन नाम ५ वैक्रिय तैजस ६ वैक्रिय कार्मण ७ आहारक, आहारक ८ आहारक तैजस, ९ आहारक कार्मण, १० औदरिक तैजस कार्मण बन्धन ११ वंक्रिय तैजस कार्मण १२ आहारक तैजस कार्मण १३ तैजस, तैजस १४ तैजस कार्मण और १५ कार्मण कार्मण बन्धन नाम। पूर्वोक्त ८८ में, ये १५ जोड़ देने पर कुल १०३ भेद हुए।

अशुभ नाम कर्म का बन्ध, काया की वक्रता, भाषा की वक्रता और विसंवादन योग से होता है। और अशुभ नाम, कार्मण-शरीर प्रयोग नाम-कर्म के उदय से भी अशुभ नाम-कर्म का बन्ध होता है। शुभ नाम-कर्म का बन्ध, इससे उलटा—काया की सरलतादि कारणों से होता है।

शुभ नाम कर्म-का फल चौदह प्रकार का होता है—१ इष्ट शब्द २ इष्ट रूप ३ गंध ४ रस ५ स्पर्श ६ गति ७ स्थिति ८ लावण्य, ९ यशःकीर्ति १० उत्थान-बल-वीर्य-पुरुषकार पराक्रम ११ इष्ट स्वरता १२ कान्त स्वरता १३ प्रिय स्वरता और १४ मनोज्ञ स्वरता है। अशुभ नाम कर्म का फल इससे उलटा है।

(७) **गोत्र कर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव ऊँच या नीच माना जाय। यह कर्म कुम्भकार के बनाये हुए घड़े के समान है। एक ही प्रकार की मिट्टी से बना हुआ एक घड़ा, कलश के रूप में, अक्षत आदि से पूजा जाता है और दूसरा मदिरादि अपवित्र वस्तु भरने के काम में आने से निन्द्य होता है। अथवा बिना अपवित्र वस्तु भरे ही उस प्रकार का होने से निन्द्य कहलाता है। जाति कुल आदि की अपेक्षा से ऊँच नीच होना, इसी कर्म का फल है। इसके १ उच्च गोत्र और २ नीच गोत्र—ऐसे दो भेद हैं।

उच्च गोत्र के उदय से जीव, धन, रूप आदि से हीन होता हुआ भी ऊँचा माना जाता है और नीच गोत्र के उदय से धन, रूप, बल आदि होते हुए भी नीचा माना जाता है। गोत्र कर्म बन्ध के निम्न आठ कारण हैं;—

१ जाति, २ कुल, ३ बल, ४ रूप, ५ तप ६ श्रुत, ७ लाभ और ८ ऐश्वर्य। इन आठ का मद—घमण्ड करने वाले को नीच गोत्र की प्राप्ति के योग्य बन्ध होता है और मद नहीं करने वाले के ऊँच गोत्र का बन्ध होता है।

नाम-कर्म और गोत्र-कर्म की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

(८) **अन्तराय कर्म**-जिसके उदय से जीव की दान, लाभ, भोग आदि इच्छा तथा शक्ति में वाधा उत्पन्न होती है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। यह कर्म, राजा के कोषाध्यक्ष के समान है। राजाज्ञा होने पर भी कोषाध्यक्ष, वहाना बना कर टाल देता है। इसी प्रकार जीव की इच्छा होने पर भी अन्तराय कर्म वाधक वन जाता है। इसके पाँच भेद है।

१ दानान्तराय-दान करने की वस्तु और योग्य पात्र होते हुए, तथा दान का महत्त्व जानते हुए भी, जिस कर्म के उदय से दान नहीं दिया जा सके।

२ लाभान्तराय-दाता उदार हो, उसके पास वस्तु भी हो, याचक भी योग्य हो, तो भी लाभ प्राप्ति नहीं हो सकना, लाभान्तराय कर्म का उदय है।

३ भोगान्तराय-भोग के साधन उपस्थित हों, भोग की इच्छा भी हो-त्याग भाव नहीं हो, फिर भी भोग से वंचित रखने वाला कर्म।

४ उपभोगान्तराय-उपभोग में वाधक होने वाला कर्म।

५ वीर्यान्तराय-नीरोग, युवक और वलवान होते हुए भी, एक छोटे से छोटा काम भी नहीं कर सकना, वीर्यान्तराय कर्म के उदय का परिणाम है। इसकी अवान्तर प्रकृतियाँ तीन इस प्रकार हैं;-

वाल वीर्यान्तराय-इच्छा और सामर्थ्य होते हुए भी सांसारिक कार्य नहीं कर सकना।

पण्डित वीर्यान्तराय-सम्यग्दृष्टि और मोक्ष की अभिलाषा रखते हुए भी, साधना नहीं कर सके, ऐसा निर्ग्रंथ-धर्म की साधना में वाधक होने वाला।

वाल-पण्डित वीर्यान्तराय-देश-विरति रूप श्रावक-धर्म के पालन की इच्छा रखता हुआ भी जिसके उदय से पालन नहीं कर सके।

इस कर्म का वन्ध, दानादि पांच का वाधक होने-किसी को अन्तराय देने से होता है और उसका उपरोक्त फल होता है। इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

उपरोक्त आठ कर्मों का वन्ध चार प्रकार से होता है। जैसे;-

१ **प्रकृति वन्ध**-स्वभाव की भिन्नता, जैसे कोई कर्म ज्ञान गुण को ढकता है, तो कोई दर्शन गुण को और कोई सुख को। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकृति का वन्ध होना।

२ **स्थिति वन्ध**-आत्मा के साथ कर्म के रहने की काल मर्यादा।

३ **अनुभाग वन्ध**-इसे 'रस वन्ध' भी कहते हैं। इसके अनुसार फल का अनुभव-न्यूनाधिक रूप से होता है।

४ **प्रदेश वन्ध**-कर्म के दलिकों का न्यूनाधिक होना।

इस प्रकार चार प्रकार से बन्ध होता है। बन्ध होना, आत्मा के साथ कर्मों का दूध और पानी के समान अथवा मिट्टी और सोने के समान मिलना है। यह बन्ध तत्त्व, आत्मा की पराधीन दशा बताता है। कर्म-सिद्धांत इसी तत्त्व में रहा हुआ है। इसके प्रतिपादक तो अनेक ग्रंथ हैं। यहाँ संक्षेप में इतना वर्णन किया गया है।

मोक्ष तत्त्व

मोक्ष–आत्मा का जड़ कर्मों के बन्ध से मुक्त हो कर स्वतन्त्र रहना, परमात्म दशा को प्राप्त कर लेना–मोक्ष तत्त्व है। श्री सिद्ध भगवान् जैसी दशा की प्राप्ति मोक्ष तत्त्व में होती है। इसके निम्न लिखित चार कारण हैं।

१ सम्यग्ज्ञान २ सम्यग्दर्शन ३ सम्यक् चारित्र और ४ सम्यक् तप। इन चारों का विशद वर्णन ही इस ग्रन्थ का विषय है।

मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी

१ चार गति में से केवल मनुष्य गति ही मोक्ष के योग्य है।

२ त्रस काय ही मोक्ष के योग्य है। ३ पाँच जाति में से केवल पचेन्द्रिय ही। ४ संज्ञी जीव ही। ५ भव-सिद्धिक जीव ही। ६ क्षायिक सम्यक्त्वी ही। ७ अवेदी ही। ८ अकषायी ही। ९ यथाख्यात चारित्री ही। १० केवलज्ञानी ही। ११ केवल-दर्शी ही। १२ अनाहारक ही। १३ अयोगी ही और १४ अलेशी ही मोक्ष के योग्य है।

सिद्ध के पन्द्रह भेद

सिद्ध भगवान् नीचे लिखे पन्द्रह भेदों से सिद्ध होते हैं।

१ तीर्थ सिद्ध–जिनेश्वर भगवंत द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना और निर्ग्रंथ-प्रवचन का प्रवर्त्तन होने के बाद जो सिद्ध हों–तीर्थ की विद्यमानता में सिद्ध हों–वे तीर्थ सिद्ध हैं।

२ अतीर्थ सिद्ध तीर्थ स्थापना के पूर्व अथवा तीर्थ विच्छेद होने के बाद जो सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थ-सिद्ध कहलाते हैं। मरुदेवी माता, तीर्थ स्थापना के पूर्व ही सिद्ध हो गई थी और भगवान् सुविधिनाथ से लेकर भगवान् धर्मनाथ तक सात तीर्थंकरों के शासन में कुछ-कुछ समय के लिए तीर्थ विच्छेद हो

गया था, उन तीर्थ विच्छेदों के समय (भग० २०-८) जो सिद्ध हुए, वे अतीर्थ सिद्ध हैं।

३ तीर्थंकर सिद्ध—तीर्थंकर पद प्राप्त कर सिद्ध होने वाले।

४ अतीर्थंकर सिद्ध—तीर्थंकर पद प्राप्त किये विना ही सिद्ध होने वाले—सामान्य केवली।

५ स्वयंबुद्ध सिद्ध—विना किसी के उपदेश के अपने-आप धर्म को प्राप्त कर के सिद्ध होने वाले। ये तीर्थंकर भी होते हैं और दूसरे भी। इस भेद में तीर्थंकर व्यतिरिक्त ही लेने चाहिए।

६ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध—विना किसी के उपदेश से, किसी वाह्य निमित्त को देख कर संसार त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने वाले।

स्वयंबुद्ध सिद्ध को किसी वाहरी निमित्त की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु प्रत्येकबुद्ध किसी वाह्य निमित्त से प्रेरित हो कर दीक्षा लेते हैं। जैसे नमिराजर्षि कंगन से, समुद्रपालजी चोर से, इत्यादि। ये अकेले ही विचरते हैं।

७ बुद्ध-बोधित सिद्ध—गुरु के उपदेश से वोध प्राप्त कर के दीक्षित होकर सिद्ध होने वाले।

८ स्त्रीलिंग सिद्ध—स्त्रीलिंग से सिद्ध होने वाले। ऐसी आत्मा स्त्री, शरीर एवं वेश से सिद्ध होती है, किन्तु स्त्री-वेद से नहीं। क्योंकि जो सिद्ध होते हैं, वे अवेदी होने के वाद ही होते हैं, किसी भी प्रकार के वेद के उदय में सिद्ध नहीं हो सकते।

९ पुरुष-लिंग सिद्ध—पुरुषाकृति से सिद्ध होने वाले।

१० नपुंसक-लिंग सिद्ध—नपुंसक शरीर से सिद्ध होने वाले।

११ स्वलिंग सिद्ध—साधु के वेश-रजोहरण मुखवस्त्रिकादि युक्त सिद्ध होने वाले।

१२ अन्य-लिंग सिद्ध—परिव्राजकादि अन्य वेश में रहते हुए सिद्ध होने वाले। इनके द्रव्यलिंग दूसरा रहता है, परंतु भावलिंग=श्रद्धादि तो अवश्य स्व ही होता है। भावलिंग अन्य होने पर कदापि सिद्ध नहीं हो सकते। वे सम्यक्त्वी भी नहीं हो सकते, तब सिद्ध तो हो ही कैसे सकते हैं? द्रव्यलिंग भी जो अन्य रहता है, वह समय की स्वल्पता के कारण। जिन अन्यलिंगी मिथ्यादृष्टियों को सम्यक्त्व प्राप्त होते ही साधुता और क्षपक-श्रेणी का आरोहण, क्रमशः हो कर केवलज्ञान हो जाय और मोक्ष प्राप्त करले, वे अन्यलिंग सिद्ध होते हैं। उन्हें लिंग परिवर्तन की अनुकूलता और आवश्यकता नहीं रहती है। ऐसे पात्र 'असोच्चा केवली' भी कहलाते हैं और जब तक वे स्वलिंगी नहीं होते—व्यवहार धर्म में नहीं आते, तब वे उपदेश दान और प्रव्रज्या दान भी नहीं करते। यदि कोई उनके पास शिष्य बनने के लिए आवे, तो वे कह देते हैं कि 'अमुक के पास दीक्षा ग्रहण करो'। (भगवती ९-३१) इसका कारण यह कि व्यवहार धर्म का प्रचलन, व्यवहार के अनुरूप ही होना चाहिए, जिससे मोक्षमार्ग उज्ज्वल रहे—निर्मल रहे एवं प्रतिष्ठा के योग्य रहे। यदि इसका पालन नहीं हो और मिथ्यात्वियों के लिंग में

रह कर ही उपदेश और दीक्षा होती रहे, तो इससे व्यवहार धर्म का लोप होने के साथ ही मिथ्यात्व की अनुमोदना होती है। एक समझदार व्यक्ति, ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करता कि जिससे उसके अनुकरण से बुराई फैले, तब केवलज्ञानी भगवन्त, व्यवहार धर्म का लोप कैसे कर सकते हैं ? व्यवहार धर्म के निर्वाह के लिए ही तो भरतेश्वर ने गृहस्थावस्था में केवलज्ञान होने के बाद, सभी अलंकारों का त्याग किया, केशलुंचन और गृहत्याग कर दिया (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) यह व्यवहार धर्म के पालन का उत्तम उदाहरण है। अतएव इन सब अपेक्षाओं को छोड़ कर जो इस भेद को ले कर भ्रम फैलाते हैं, वे सुज्ञ नहीं है।

१३ गृहस्थलिंग सिद्ध–मरुदेवी माता के समान गृहस्थलिंग में रहते हुए सिद्ध होने वाले।

अन्यलिंग और गृहस्थलिंग–मोक्ष के लिए साधनभूत नहीं है, इसीलिए इन्हें मोक्ष के साधक ऐसे 'स्वलिंग' से भिन्न बतलाया। 'स्त्रीलिंग' का अर्थ ही मोक्ष साधना का अपना अंग है। इसकी उपयोगिता के कारण ही जिनेश्वर भगवंतों ने आगमों में इसका विधान किया और लोगों की प्रतीत, संयम-यात्रा तथा ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए स्वलिंग की आवश्यकता स्वीकार की है (उत्तरा० २३–३२)। 'स्वलिंग', राजमार्ग–धोरीमार्ग है, तब अन्यलिंग और गृहस्थलिंग आपवादिक- विकट और चलन में नहीं आने वाली उपेक्षणीय स्थिति है। अन्यलिंग विधवा के पुत्र के समान है और गृहलिंग कुमारिका के पुत्र की तरह है। स्वलिंग में एक समय में १०८ तक सिद्ध हो सकते हैं, तब अन्यलिंग में अधिक से अधिक १० तथा गृहस्थलिंग में ४ ही सिद्ध हो सकते हैं (उत्तरा० ३६)। यही इसकी आपवादिक स्थिति का प्रमाण है।

१४ एक सिद्ध-एक समय में एक ही सिद्ध होने वाले।

१५ अनेक सिद्ध–एक समय में एक से अधिक सिद्ध होने वाले। (प्रज्ञापना–१)

उपरोक्त भेद सिद्ध होते समय की अवस्था को बतलाते हैं। इससे सिद्ध भगवंतों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। सभी सिद्ध भगवन्त अपनी आत्म-ऋद्धि से समान ही हैं। उनके ज्ञान, दर्शन, उपयोग आदि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

सिद्ध भगवन्त, ऊर्ध्व लोक में–लोकाग्र पर स्थित हैं। 'सिद्धशिला' नाम की एक पृथ्वी जो मनुष्य क्षेत्र के अनुसार पेंतालीस लाख योजन विस्तार वाली है, उसके ऊपर, उत्सेधांगुल के नाप से देशोन एक योजन लोकान्त है। उस योजन के ऊपर के कोश के छठे हिस्से में (३३३⅓ धनुष्य परिमाण) लोकाग्र से सट कर सिद्ध भगवन्त रहे हुए हैं (भगवती १४–८) जिस स्थान पर एक सिद्ध है, उसी स्थान अनन्त सिद्ध हैं। सारा क्षेत्र सिद्धभगवन्तों से व्याप्त है। सभी सिद्ध भगवन्तों में पारिणामिक एवं क्षायिक भाव रहा हुआ है। शरीर एवं संसार सम्बन्धी, जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, आदि समस्त

दुःखों से रहित, अनन्त आत्मानन्द में सदा लीन रहते हैं।

यह मोक्ष तत्त्व अन्तिम है। मुमुक्षुओं के लिए आराध्य है। इसकी आराधना, संवर और निर्जरा तत्त्व के द्वारा होती है। जो आत्मार्थी, संवर और निर्जरा के साधन से मोक्ष की साधना करेंगे, वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करके आराधक से आराध्य बन जाएँगे।

इन नौ तत्त्वों में हेय, ज्ञेय और उपादेय की गणना भिन्न प्रकार से है। नव तत्त्व के विस्तृत वर्णन में अनेक दृष्टियों से इन पर विचार हुआ है। अभी नव तत्त्व के निम्न विभाग किये जाते हैं।

ज्ञेय-(जानने योग्य)-१ जीव २ अजीव और ३ बन्ध।

हेय-(त्यागने योग्य)-१ पुण्य २ पाप और ३ आश्रव।

उपादेय-(आदरने योग्य)-१ संवर २ निर्जरा और ३ मोक्ष।

किन्तु पूर्वाचार्य ने इसका विभाग निम्न प्रकार से भी किया है;-

'हेया बन्धासवपुन्नपावा, जीवाजीवा य हुंति विन्नेया।
संवरनिज्जरमुक्खो, तिन्नि वि एओ उवाचेया।"

इस गाथा के अनुसार ज्ञेय-१ जीव और अजीव ये दो तत्त्व ही हैं। यों तो सभी तत्त्व ज्ञेय हैं, हेय भी ज्ञेय और उपादेय भी ज्ञेय है। हेय-१ बन्ध २ आश्रव ३ पुण्य और ४ पाप हैं, तथा उपादेय-पूर्ववत्-१ संवर २ निर्जरा और ३ मोक्ष है। बन्ध को हेय कोटि में मानना अधिक संगत लगता है, क्योंकि निर्जरा द्वारा बन्ध को काटना, इसकी हेयता स्पष्ट बता रहा है।

पुण्य, मोक्ष साधना में हेय होते हुए भी प्रारम्भिक अवस्था में, धर्म और मोक्ष मार्ग की अनुकूलता कराने वाला होने के कारण अपेक्षापूर्वक उपादेय कोटि में माना जाता है। पुण्यानुबन्धी पुण्य, धर्म-साधना में उत्तरोत्तर सहायक होता है। पुण्यानुबन्धी पुण्य की प्राप्ति सराग दशा के चलते, धर्म-साधना करते करते, अपने आप हो जाती है। इसके लिए खास पृथक् रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। पुण्य को ही पाप-एकान्त पाप मानना मिथ्या श्रद्धान है।

उपरोक्त नव तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना, 'दर्शन धर्म' है। यह दर्शन धर्म, नींव के पत्थर के समान है। इसी पर चारित्र धर्म का विशाल भवन खड़ा होता है और उसी पर मोक्ष का आनन्द दायक शिखर विराजमान होता है। मुक्तात्मा का चारित्र और तप तो यहीं छूट जाता है, परन्तु दर्शन और ज्ञान तो सदा सर्वदा = सादि अपर्यवसित बना ही रहता है। ऐसा क्षायिक दर्शन प्राप्त कर सभी आत्मा परमात्म पद को प्राप्त करें।

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥

–इस जीव को सम्यक्त्व के समान तीन लोक और तीन काल में कोई भी कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई भी अकल्याणकारी–दुःखदायक नहीं है।

अतएव परम लाभदायक ऐसे सम्यक्त्व-रत्न को प्राप्त करने और प्राप्त की रक्षा कर के स्थायी–सादि अपर्यवसित बनाने का भरपूर प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः––

नमो नमो निम्मल दंसणस्स

मोक्ष मार्ग

द्वितीय खण्ड

×××

ज्ञान धर्म

ज्ञान, आत्मा का निज गुण है, स्व-पर प्रकाशक है। ज्ञानोपयोग, जड़ से जीव की भिन्नता का प्रधान लक्षण है। ज्ञान से रहित कोई जीव हो ही नहीं सकता। ज्ञान शून्य केवल जड़ ही हो सकता है। जिन जीवों की अत्यन्त हीनतम दशा है, जिन अनन्त जीवों का मिल कर एक शरीर बना है, जो हमारे चर्मचक्षु और दूरवीक्षण से भी दिखाई नहीं देते—ऐसे सूक्ष्म निगोद के जीवों में भी ज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म अंश (अनन्तवाँ भाग) रहा हुआ है। जिस प्रकार जीव, स्वयं अनादि अनन्त, अविनाशी एवं शाश्वत है, उसी प्रकार उसका निजगुण—ज्ञान भी सदा उसमें उपस्थित रहता है। फिर भले ही वह सुज्ञान हो या कुज्ञान—सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान।

"ज्ञान, आत्मा का निजगुण होते हुए भी आत्मा अज्ञानी क्यों कहलाती है? इसके सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ऐसे भेद क्यों बने? किसी में कम और किसी में अधिक और किसी महान् आत्मा में सम्पूर्ण ज्ञान होता है, इसका क्या कारण है"? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि यद्यपि ज्ञान आत्मा का निज गुण है, तथापि जीव के साथ जड़ का ऐसा अनादि संयोग-संबंध जुड़ा हुआ है कि जिसके कारण ज्ञान ढका हुआ है और उसमें विपरीतता—मिथ्या परिणमन होता है। जिस प्रकार मैल के चढ़ने से दर्पण की प्रति-बिंबक शक्ति ढक जाती है और सुन्दर चेहरा भी स्याही अथवा काजल पुतजाने पर कुरूप दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मा की ज्ञान शक्ति पर, ज्ञानावरणीय के आवरण (मैल) के थर पर के थर चढ़ जाने से एवं मोह कालिमा के कारण वह कुज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है।

सोना अपने आप में विशुद्ध है, मूल्यवान है, किन्तु अज्ञात काल से वह मिट्टी में ही दवा रहा, उसका असली रूप प्रकट ही नहीं हो सका। लाखों रुपयों की कीमत वाला हीरा, जब तक भूमि में मिट्टी और पत्थर के साथ पड़ा रहा, तव तक वह भी पत्थर ही के बराबर हीन दशा में था। उस समय उसका कुछ भी मूल्य नहीं था। वाल जीवों के हाथ में जाने पर भी वह खेलने तक ही काम में आता रहा और कुम्हार के हाथ में पड़ने पर गधे के गले में वांधा गया। इस प्रकार बुरी संगति से मूल्यवान हीरा भी हीन दशा में भटकता रहा, किन्तु ज्यों ही उसकी कुसंगति छूटी और वह जौहरी के सतसंग में आया कि उसका खरा मूल्य प्राप्त हो गया। फिर वह नरेन्द्र आदि के सिर के मुकुट में लग कर जगमगाने लगा। कुसंगति के कारण मिट्टी में दवा हुआ और गधे के गले में वँधा हुआ हीरा, सुसंगति के कारण नरेन्द्रादि के सिर पर शोभा पाने लगा। वस ऐसी ही दशा जीव के ज्ञान गुण की है। ज्ञानावरणीय के अनन्तानन्त पुद्गलों से आच्छादित ज्ञान, अत्यंत दव जाता है। सामान्य जनता कल्पना भी नहीं कर सकती कि पत्थर, पानी आदि स्थावर और अण्डे आदि में भी ज्ञान है।

सुन्दर चेहरेवाले ने कुकर्म किया, और कुकर्म के कारण राज्य-सत्ता के द्वारा उसका मुंह काला करवाया गया। वह कालापन उसका खुद का नहीं है। खुद तो सुन्दर है, गौर वर्ण युक्त सुरूप है। जब वह कालिमा छुट जायगी, तव उसका सुन्दर रूप निखर आयगा। इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा, अपने आपमें अनन्त ज्ञान की सत्ता धराता हुआ भी दुष्कर्म=ज्ञान को आवरण करने वाले खोटे कर्म, के कारण, अज्ञानी बना हुआ है। यदि वह भव्य हो, उसका कुज्ञान अनादि होते हुए भी सान्त (अन्तवाला) हो, तो आवरण नष्ट करके अपनी सत्ता में रहे हुए अनन्त ज्ञान को प्रकट कर सकेगा।

घर में लाखों की सम्पत्ति दवी पड़ी हो, किन्तु उसकी जानकारी नहीं हो, तो वह किस काम की? वह निधि वर्त्तमान दरिद्रता को नहीं मिटा सकती। उस निधि के ऊपर से सदैव चलते-फिरते रहने पर और उस पर अपना स्वामित्व होने पर भी वह अज्ञान के कारण काम में नहीं आती। जब यह ज्ञान हो जाय कि 'मेरे घर में अमुक स्थान पर लाखों की सम्पत्ति दवी पड़ी है,' तभी उसे प्राप्त कर सुखी बना जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा की अनन्त ज्ञान रूपी लक्ष्मी, आत्मा में होने पर भी ज्ञानावरणीय के कूड़े कर्कट रूपी दरिद्रता के नीचे दवी पड़ी है। जो अन्तर अन्धे और सूझतों में है, वही कुज्ञान और सम्यग् ज्ञान में है।

अज्ञान स्वयं अधर्म है, क्योंकि वह आत्मा के निज स्वरूप का भान नहीं होने देता और स्वभाव को नहीं जानने दे कर विभाव में ही उलझाये रहता है। इसलिए अज्ञान को हटा कर सम्यग्ज्ञानी होना परमावश्यक है। सम्यग्ज्ञान 'श्रुत-धर्म' है और चारित्र धर्म का कारण है। ज्ञान धर्म के कारण ही आत्मा हेयोपादेय को जानता है और उस पर श्रद्धान् कर के चारित्र धर्म का पालन करता है। जो

हेयोपादेय को जानता ही नहीं, वह दुष्कृत्य का त्याग और चारित्र का पालन कैसे कर सकता है ? चारित्र-धर्म की उत्पत्ति का कारण ज्ञान-धर्म है । ज्ञान-धर्म रूपी कारण की अनुपस्थिति में चारित्र-धर्म रूपी कार्य नहीं हो सकता–"**नाणेण विना न हुंति चरणगुणा**" (उत्तरा० २८। दर्शन सहचारी ज्ञान-धर्म–वह मूल है कि जिस पर चारित्र धर्म रूपी कल्पवृक्ष लहराता है और मोक्ष रूपी महान् उत्तम अमृत फल की प्राप्ति होती है ।

मोक्ष का साधक अनगार, अपने कर्म बन्धनों से मुक्त होने के लिए प्रतिज्ञा बद्ध होने के वाद अपनी साधना प्रारंभ करता है । वह शूरवीर योद्धा अपने शत्रुओं पर विजय पाने के लिए कमर कस कर तैयार होता है । उस की साधना के चार कारण है;–

"सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप । इनकी आराधना करने वाला मोक्ष प्राप्त करता है–ऐसा जिनेश्वर भगवतों ने कहा है" (उत्तराध्ययन अ० २८)।

ज्ञान के द्वारा जीव हिताहित को जानता है । लोकालोक के स्वरूप को समझता है और जड़ चैतन्य के भेद, संयोग-सम्बन्धादि तथा मुक्ति को जानता है । दर्शन द्वारा वह श्रद्धान करता है । वह अपने ध्येय और हेय ज्ञेय उपादेय में दृढ निश्चयी हो जाता है । फिर वह चारित्र के द्वारा हेय को त्याग कर उपादेय को अंगीकार करता है और अपनी आत्मा को वुराइयों से वचा लेता है, तथा तप के द्वारा आत्मा का मैल हटाता है । यही मोक्ष मार्ग है ।

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं–१ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मनःपर्यवज्ञान और ५ केवलज्ञान ।

मति ज्ञान

मतिज्ञान का दूसरा नाम आभिनिवोधिक ज्ञान भी है । पाँचों इन्द्रियों और मन के द्वारा योग्य देश में रहे हुए पदार्थों का ज्ञान हो, वह मतिज्ञान कहलाता है । यह मतिज्ञान दो प्रकार का होता है १ अश्रुत निश्रित और २ श्रुत निश्रित ।

अश्रुत–विना सुने अपनी वुद्धि द्वारा ज्ञान हो, वह अश्रुत निश्रित ज्ञान है । इसके चार भेद हैं ।

(१) **उत्पातिकी वुद्धि**–विना देखे जाने और विना सुने पदार्थों को तत्काल ही यथार्थ रूप से ग्रहण करने वाली वुद्धि ।

(२) **वैनयिकी वुद्धि**–विनय से उत्पन्न होने वाली वुद्धि ।

(३) **कर्मजा वुद्धि**–कार्य करते-करते अभ्यास और चिंतन से होने वाली, या कार्य के परिणाम को देखने वाली वुद्धि ।

(४) पारिणामिकी बुद्धि–अनुमान हेतु और दृष्टान्त से विषय को सिद्ध करनेवाली, परिपक्व अवस्था से उन्नत और मोक्ष रूपी फल देने वाली बुद्धि।

श्रुत निश्रित मतिज्ञान के चार भेद हैं।

(१) **अवग्रह**–सामान्यज्ञान।

(२) **ईहा**–विचार करना।

(३) **अवाय**–निश्चय करना।

(४) **धारणा**–याद रखना। इनके भी अवान्तर भेद नन्दीसूत्र में विस्तार से बताये हैं। जो इन्द्रियों और मन से संबंधित हैं।

श्रुत ज्ञान

श्रुत ज्ञान–शास्त्रों को सुनने और पढ़ने से इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान हो, उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। शब्द और अर्थ का विचार श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के निम्न चौदह भेद हैं,–

१ **अक्षर श्रुत**–जिसका कभी नाश नहीं हो, उसे 'अक्षर' कहते हैं। इसके तीन भेद हैं–१ संज्ञाक्षर-अक्षर की आकृति या रचना २ व्यञ्जनाक्षर–उच्चारण, और ३ लब्धि अक्षर–पांच इन्द्रिय और मन से होने वाला भाव-श्रुत।

२ **अनक्षर श्रुत**–उच्छ्वास, निःश्वास, थूंकना, खांसना, छींकना आदि संकेत से समझना।

३ **संज्ञी श्रुत**–इसके तीन भेद हैं–१ कालिकी उपदेश २ हेतु उपदेश और ३ दृष्टिवादोपदेश।

१ कालिकी उपदेश से जिस जीव को ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिंता और विमर्श होता है, वह संज्ञी श्रुत है।

२ जिसमें बुद्धिपूर्वक कार्य करने की क्षमता हो, वह हेतु उपदेश की अपेक्षा संज्ञी है।

३ सम्यग् दृष्टि के श्रुत का क्षयोपशम होता है, इसलिए वह दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा संज्ञी है।

४ **असंज्ञी श्रुत**–जिन में संज्ञी श्रुत नहीं है ऐसे जीव।

५ **सम्यग् श्रुत**-केवलज्ञान और केलवदर्शन के धारक, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, त्रिलोक पूज्य अरिहंत भगवान् प्रणीत तथा आचार्य के सर्वस्व समान द्वादशांग श्रुन। दश पूर्व के पूर्ण ज्ञाता से लगा कर चौदह पूर्व के पूर्ण ज्ञाता का श्रुत सम्यग् श्रुत है। इनसे कम ज्ञान वाले का श्रुत सम्यग् श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी।

६ मिथ्याश्रुत–इसका वर्णन आगे किया जायगा।

७ सादि श्रुत–जिसकी आदि हो। द्वादशांगी श्रुत, पर्यायार्थिक नय से सादि है। द्रव्य से–एक व्यक्ति की अपेक्षा सादि है। क्षेत्र से पाँच भरत और पाँच ऐरवत क्षेत्र में सादि है। काल से अवसर्पिणि उत्सर्पिणि काल में और भाव से जिन प्ररूपित भाव उपदेशे व कहे जाते हैं, तब आदि होती है। तथा भवसिद्धिक जीव के सम्यक् श्रुत की सादि होती है।

८ अनादि श्रुत–द्रव्यार्थिक नय से द्वादशांगी श्रुत अनादि है। द्रव्य से बहुत से मनुष्यों की अपेक्षा, क्षेत्र से पाँच महाविदेह, काल से नो–अवसर्पिणि-नोत्सर्पिणि काल तथा भाव से क्षायोपशमिक भाव से अनादि श्रुत है। अभवसिद्धिक जीव का मिथ्याश्रुत अनादि होता है।

९ सपर्यवसित–अंतवाला श्रुत। पर्यायार्थिक नय से द्वादशांगी श्रुत अंत वाला है। द्रव्य से केवलज्ञान होने पर, या मिथ्यात्व दशा प्राप्त होने पर, व्यक्ति विशेष के श्रुतज्ञान का अंत होता है। क्षेत्र से भरतैरवत में, काल से अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी में और भाव से जिनोपदेश के पश्चात् व मिथ्यात्व का उदय अथवा क्षायिक ज्ञान प्राप्त होने पर श्रुतज्ञान का अंत होता है।

१० अपर्यवसित–द्रव्यार्थिक नय से द्वादशांगी श्रुत अंत रहित है। द्रव्य से बहुत से श्रुतज्ञानियों की अपेक्षा, क्षेत्र से पाँच महाविदेह में, काल से नोअवसर्पिणि-नोउत्सर्पिणि में और भाव से क्षायोपशमिक भाव से अन्त रहित है तथा अभव्यों का मिथ्याश्रुत अन्त रहित है।

११ गमिक श्रुत–दृष्टिवाद के आदि मध्य और अन्त में कुछ विशेषता के साथ उसी सूत्र का बारंबार उच्चारण होता है।

१२ अगमिक श्रुत–आचारांगादि कालिक श्रुत।

१३ अंग प्रविष्ट–१ आचारांग सूत्र २ सूयगडांग ३ स्थानांग ४ समवायांग ५ विवाहप्रज्ञप्ति ६ ज्ञाताधर्मकथा ७ उपासकदशा ८ अंतकृद्दशा ९ अनुत्तरोपपातिकदशा १० प्रश्नव्याकरण ११ विपाक और १२ दृष्टिवाद।

१४ अंग बाह्य–इसके दो भेद हैं। १ आवश्यक और २ आवश्यक व्यतिरिक्त।

आवश्यक–इसके छह भेद हैं। यथा–१ सामायिक २ चोविसत्या ३ वंदना ४ प्रतिक्रमण ५ कायुत्सर्ग और ६ प्रत्याख्यान।

आवश्यक व्यतिरिक्त–इसके कालिक और उत्कालिक ऐसे दो भेद हैं।

१ कालिक–जो दिन और रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में पढ़े जायें। इनके अनेक भेद हैं। जैसे–१ उत्तराध्ययन २ दशाश्रुतस्कन्ध ३ कल्प–बृहत्कल्प ४ व्यवहार ५ निशीथ ६ महानिशीथ

७ ऋषिभाषित ८ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ९ द्वीपसागर प्रज्ञप्ति १० चन्द्रप्रज्ञप्ति ११ क्षुद्रिकाविमान प्रविभक्ति १२ महतिविमानप्रविभक्ति १३ अंगचूलिका १४ वर्गचूलिका १५ विवाहचूलिका १६ अरुणोपपात १७ वरुणोपपात १८ गरुडोपपात १९ धरणोपपात २० वेश्रमणोपपात २१ वेलन्धरोपपात २२ देवेन्द्रोपपात २३ उत्थान सूत्र २४ समुत्थान सूत्र २५ नागपरीक्षा २६ निरयावलिका २७ कल्पिका २८ कल्पावतंसिका २९ पुष्पिका ३० पुष्पचूलिका ३१ वृष्णिदशा ३२ आशीविष आदि ८४ हजार प्रकीर्णक भगवान् आदिनाथजी के शासन में थे। मध्य के तीर्थंकरों के शासन में संख्यात हजार थे और भगवान् महावीर के १४ हजार प्रकीर्णक थे। वर्त्तमान समय में हमारे दुर्भाग्य से बहुत थोड़े और संक्षेप रूप में रहे हैं। जिन के नाम नंदीसूत्र में लिखे हैं, उनमें से भी कई अप्राप्य हैं, और कई में अनिष्ट परिवर्तन हो गया है। इनमें से केवल १२ सूत्र स्थानकवासी समाज प्रामाणिक मानता है।

२ **उत्कालिक**—जो अस्वाध्याय काल छोड़ कर किसी भी समय पढ़े जा सकें, वे उत्कालिक सूत्र हैं। ये भी अनेक प्रकार के हैं। यथा—१ दशवैकालिक २ कल्पाकल्प ३ चुल्लकल्प ४ महाकल्प ५ औपपातिक ६ रायप्रसेणी ७ जीवा जीवाभिगम ८ प्रज्ञापना ९ महाप्रज्ञापना १० प्रमादाप्रमाद ११ नन्दी १२ अनुयोगद्वार १३ देवेन्द्रस्तव १४ तन्दुलवेयालिय १५ चन्द्रविद्या १६ सूर्यप्रज्ञप्ति १७ पौरुषीमंडल, १८ मंडल प्रवेश १९ विद्याचारण विनिश्चय २० गणिविद्या २१ ध्यानविभक्ति २२ मरण विभक्ति २३ आत्मविशुद्धि २४ वीतरागश्रुत २५ संलेखनाश्रुत २६ विहारकल्प २७ चरणविधि २८ आतुर प्रत्याख्यान २९ महा प्रत्याख्यान आदि। इन में से आठ सूत्रों को स्था० जैन समाज प्रामाणिक मानता है।

श्रुतज्ञान, वैसे तो द्वादशांगी पर्यन्त ही है, क्योंकि दृष्टिवाद में चौदह पूर्व का समावेश हो जाता है और दृष्टिवाद से अधिक श्रुतज्ञान है ही नहीं, फिर भी वे शास्त्र, ग्रंथ, पुस्तकें और साहित्य भी श्रुतज्ञान में ही समावेश हो जाते हैं, जो सम्यक् श्रुत के अनुकूल, पोषक और अविरुद्ध है। श्रुतज्ञान और मतिज्ञान दोनों साथ ही रहते हैं। श्रुतपूर्वक मतिज्ञान नहीं होता, किन्तु मतिपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। इस दृष्टि से मतिज्ञान को प्रथम स्थान मिला है। मति और श्रुत, ये दोनों ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। इन्द्रियों और मनके द्वारा इनका ज्ञान होता है। परोपकार और देन-लेन के काम में श्रुतज्ञान ही आता है। मति, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान किसी को दिया-लिया नहीं जाता। तीर्थंकर भगवान् केवलज्ञान से समस्त पदार्थों की सभी अवस्थाएँ, एक साथ, एक समय में जानते हैं, किन्तु इससे किसी का उपकार नहीं होता। केवलज्ञान से जानी हुई बात वे अपने उपदेश में कहेंगे, वह श्रोता के लिए श्रुतज्ञान ही है और उसीसे प्रतिबोध पा कर जीव मोक्षाभिमुख होते हैं।

यह सम्यक् श्रुत, मोक्षाभिलाषियों के लिए सर्वस्व के समान है। आगमकारों ने इसे '**गणिपिटक**' अर्थात्—'**आचार्य की सर्वस्वनिधि**' के समान बताया है। हमें इस निधि की रक्षा करनी चाहिए।

किंतु दुःख है कि इस अमूल्य निधि की उपेक्षा कर के आज कई संत और सतियें, मिथ्याश्रुत की ओर (जो पत्थरऔर मैले के समान त्यागने योग्य है) आकर्षित हो रहे हैं और कोई-कोई मिथ्या ज्ञान से प्रभावित श्रमण, सम्यग्ज्ञान के प्रति अविश्वासी हो कर विपरीत प्रचार करते हैं। श्रोताओं को उलटा-सीधा समझा कर शुद्ध श्रद्धा से गिराते हैं। यह खेद की बात है।

श्रुतज्ञान के अवलम्बन से मन को वश में किया जा कर अशुभ दिशा में जाने से रोका जा सकता है। जिसे हम स्वाध्याय नामक तप कहते हैं–वह श्रुतज्ञान से संबंधित है। वाचना, पृच्छादि पाँचों भेद, श्रुतज्ञान से ही संबंधित है। धर्मध्यान तो श्रुतज्ञान से संबंधित है ही, किन्तु शुक्ल ध्यान के दो चरण भी श्रुतज्ञान से संबंधित रहते हैं। श्री उत्तराध्ययन अ० २९ प्रश्न ५९ के उत्तर में आगमकार फरमाते हैं कि–

"ज्ञान सम्पन्नता से सभी भावों का बोध होता है। जिस प्रकार धागे सहित सूई खो नहीं सकती, उसी प्रकार श्रुतज्ञान सहित आत्मा चतुर्गति रूप संसार में लुप्त नहीं होती। श्रुतज्ञानसे आत्मा विनय. तप और चारित्र को प्राप्त करती है। ऐसा मनुष्य, स्वसमय-परसमय में विशारद होकर प्रामाणिक पुरुष हो जाता है। बहुश्रुत पुरुष की प्रशंसा में आगमकार महाराजा ने उत्तराध्ययन का सारा ग्यारहवां अध्ययन रच दिया है। ऐसे श्रुतज्ञान की आराधना करना, सर्व प्रथम आवश्यक है।

श्रुतज्ञान (आगम) तीन प्रकार का होता है। सूत्र रूप अर्थ रूप और सूत्रार्थ रूप। ज्ञान की आराधना को हमारे निर्ग्रंथ महर्षियों ने आचार रूप माना है, और इसे पाँच आचार में सब से पहला स्थान दिया है, क्योंकि अनन्त भव-भ्रमण रूप अज्ञान अन्धकार और मोह को दूर करने में ज्ञान की सर्व प्रथम आवश्यकता है। ज्ञान सर्व प्रकाशित है–"**णाणस्स सव्वस्स पगासणाए**" (उत्तरा० ३२-२) ज्ञान के द्वारा ही जीव हेय और उपादेय को जानता है। जिसे–'**ज्ञ परिज्ञा**' कहते हैं। इसके बाद ही '**प्रत्याख्यान परिज्ञा**' होती है "**पढमंनाणं तओ दया**" (दशवै० ४-१०) ज्ञान को आचार रूप में मानना (ठा० ५-२) निर्ग्रंथ-धर्म की अनेक विशेषताओं में की एक विशेषता है। ज्ञानाचार निम्न आठ प्रकार का होता है।

१ कालाचार–अस्वाध्याय काल को छोड़ कर, कालिक उत्कालिक के काल के अनुसार पढ़ना।
२ विनयाचार–ज्ञान और ज्ञानदान देने वाले गुरु का विनय करना।
३ बहुमानाचार–ज्ञान, ज्ञानी और गुरु के प्रति हृदय में आदर और भक्ति रखना।
४ उपधानाचार–जिस सूत्र के पढ़ने का जो तप बतलाया गया है, वह तप करते हुए पढ़ना।
५ अनिन्हवाचार–ज्ञान और ज्ञान दाता के नाम को नहीं छुपाना और उनसे विपरीतता नहीं करना।

६ व्यञ्जनाचार—सूत्राक्षरों का शुद्ध उच्चारण करना।
७ अर्थाचार—सूत्र का सत्य अर्थ करना।
८ तदुभयाचार—सूत्र और अर्थ को शुद्ध पढ़ना और समझना।

ज्ञान के अतिचार

इस प्रकार ज्ञानाचार का पालन होता है। ज्ञानाचार को पालने वाले को निम्न चौदह अतिचारों (दोषों) को टालना आवश्यक है।

१ सूत्र के पदों या अक्षरों को आगे पीछे और उलटपलट कर पढ़ना।
२ सूत्र के भिन्न-भिन्न स्थानों पर आये हुए समानार्थक पदों को एक साथ मिला कर (बीच में के पदों को छोड़ कर) पढ़ना।
३ इस प्रकार पढ़ना कि जिससे अक्षर छूट जाय।
४ सूत्र पाठ में अपनी ओर से अक्षर बढ़ा कर पढ़ना।
५ पद को छोड़ते हुए पढ़ना।
६ ज्ञान और ज्ञानदाता का विनय नहीं करते हुए पढ़ना।
७ योग हीन—मन, वचन और काया की चंचलता से, अस्थिरता एवं अशुभ व्यापार में लगाते हुए पढ़ना।
८ भली प्रकार से उच्चारण नहीं करना।
९ शिष्य—पढ़ने वाले की शक्ति से अधिक ज्ञान पढ़ाना।
१० मान प्रतिष्ठादि की प्राप्ति आदि बुरे भावों से पढ़ना।
११ जिस सूत्र के पढ़ने का जो काल नहीं हो, उस समय पढ़ना।
१२ जिस सूत्र के लिए जो समय निश्चित है, उस समय स्वाध्याय नहीं करना।
१३ अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना।
१४ स्वाध्याय काल में स्वाध्याय नहीं करना।

ये चौदह अतिचार हैं, इनसे ज्ञानाचार में दोष लगता है (आवश्यक सूत्र)। सूयडांग सूत्र १-१४-१९ में लिखा है कि 'सूत्र के अर्थ को छुपावे नहीं और अपसिद्धांत का आश्रय लेकर सूत्र की व्याख्या नहीं करे'। तात्पर्य यह कि सभी प्रकार के दोषों से बचता हुआ ज्ञानाचार का पालन करना चाहिए।

अस्वाध्याय

सूत्र पठन में निम्न ३४ अनध्याय (अस्वाध्याय) को भी टालना चाहिए (ठाणांग सूत्र)

आकाश संबंधी अस्वाध्याय–१ बड़ा तारा टूटने पर (एक प्रहर) २ दिशाएँ लाल रंग की हो तब तक ३ अकाल में गाजना (२ प्रहर) ४ अकाल में विजली होना (एक प्रहर) ५ विजली की कड़-कड़ाहट हो तो (दो प्रहर) ६ बाल चन्द्र (शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से तृतीया तक छोटा चन्द्रमा रहे तब तक) ७ आकाश में यक्षाकार बादल हो ८ कुहरा या धुंअर छा जाने पर ९ तुषार-पात हो तब, और १० धूलि से आकाश ढक जाय तब।

औदारिक शरीर संबंधी अस्वाध्याय–१ हड्डी २ मांस ३ रक्त, ये तीनों तिर्यंच पंचेन्द्रिय की हों, तो ६० हाथ के भीतर और मनुष्य के हों तो १०० हाथ के भीतर अस्वाध्याय के कारण है। इनका काल तीन प्रहर का है, परन्तु हत्या करने से मरे हों, तो एक दिन रात का अस्वाध्याय काल है ४ विष्ठा आदि दिखाई देते हों, या दुर्गन्ध आती हो, ५ श्मशान के निकट ६ चन्द्र ग्रहण ७ सूर्य ग्रहण (८, १२ या १६ प्रहर) ८ राजा, मन्त्री या ठाकुर के मरने पर ९ युद्ध होने पर (उससे निकट रहे हों तो) १० उपाश्रय में या निकट, मनुष्य या पशु का शव पड़ा हो तो।

अस्वाध्याय जनक तिथियें-पांच पूर्णिमाएँ–१ आषाढ़ी, २ भाद्रपदी, ३ आश्विनी, ४ कार्तिकी और ५ चैत्री पूर्णिमा, तथा इन पाँचों पूर्णिमाओं के दूसरे दिन की कृष्ण प्रतिपदाएँ। ये दस दिन।

सन्धिकाल–१ सूर्योदय २ सूर्यास्त ३ मध्यान्ह और ४ मध्य रात्रि के समय, दो दो घड़ी तक।

नोट–इसमें जो काल का नियम बताया, उसमें आचार्यो में मत भेद है। हमने पूज्य श्री हस्ती-मलजी महाराज सा. के नन्दीसूत्र के परिशिष्ठ से काल का प्रमाण दिया है।

उपरोक्त अस्वाध्यायों को टाल कर भावपूर्वक सूत्र स्वाध्याय करना चाहिए। इससे कर्मों की निर्जरा होती है और ज्ञान की पर्यायें निर्मल होती जाती है।

श्रमण जीवन में स्वाध्याय का बड़ा भारी महत्व है। जिनागमों में विधान है कि 'साधु को दिन के प्रथम और चतुर्थ प्रहर में अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए (उत्तराध्ययन २६–१२) और रात को भी प्रथम और चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करना चाहिए (उत्तराध्ययन २६–१८, ४४) स्वाध्याय के–वाचना, पृच्छा, पुनरावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, ये पांच भेद हैं (उत्तराध्ययन ३०–३४, स्थानांग, उववाई आदि)। वही वाचना, पृच्छा आदि स्वाध्याय में मानी जा सकती है जो श्रुत-चारित्र धर्म के लिए अनुकूल और उपकारक हो। इसके सिवाय जितना भी वांचन, विचार, विवाद और कथन है, सब कर्म-बन्धन के साधन है, मिथ्या-श्रुत में गर्भित है। लौकिक ज्ञान देना, उनके लिए पाठशालादि खुलवाना, कला शिक्षण का प्रचार करना अथवा रोग निदान, औषधालयादि के विषय में प्रेरणा देना

तथा जड़-विज्ञान विषयक साहित्य पढ़ना-पढ़ाना ये सब मिथ्याज्ञान है। नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र में इन्हें मिथ्याश्रुत कहा है। मिथ्याश्रुत का पठन-पाठन उपदेशादि सावद्य क्रिया है और श्रमण-धर्म के विपरीत है।

हमारे पूर्वकाल के महर्षिगण, प्रव्रजित होने के साथ ही, सबसे पहले सामायिकादि ग्यारह अंग ही पढ़ते थे–"**सामाइयमाइयाइं एकारस्स अंगाइं**" विशेष पढ़ने वाले दृष्टिवाद भी पढ़ते थे। वर्त्तमान में यह प्रथा बहुत अंशों में छूट गई है और लौकिक ज्ञान की ओर झुकाव हो गया है। सबसे पहले स्व-समय का ज्ञान होना चाहिये। स्व-समय=अपने श्रुत-धर्म के ज्ञान में पारंगत होने के बाद पर-समय को देखना हितकर हो सकता है। ज्ञानियों को तो मिथ्याश्रुत, सम्यक् रूप में परिणत हो कर स्व-पर उपकारक हो सकता है, अन्यथा लाभ के बनिस्बत हानि ही अधिक होती है, जो वर्त्तमान में प्रत्यक्ष हो रही है। पूर्वाचार्यों ने '**नमो नाणस्स**' कह कर ज्ञान को नमस्कार किया है। वह सम्यग्ज्ञान को ही नमस्कार किया है, मिथ्याज्ञान को नहीं।

मिथ्या ज्ञान

मोक्ष की साधना करने वाला, वैसे ज्ञान से दूर ही रहता है–जिससे विषय-विकार की वृद्धि हो, कुज्ञान और मिथ्यात्व का पोषण हो, और संसार परिभ्रमण तथा कर्मों का बन्धन बढ़े। जिस ज्ञान से मिथ्यात्व, बुरी भावना, अविरति, कषाय और विषय-वासना की वृद्धि हो, वह ज्ञान नहीं, अपितु अज्ञान है और अज्ञान ही अहितकर्त्ता-दुःखदायक है (आचारांग १–३–१) सम्यग्ज्ञान के आराधक को अज्ञान=मिथ्याज्ञान=पापश्रुत से बचना चाहिए। पापश्रुत के समवायांग सूत्र में २९ भेद बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं।

१ भूमिकम्पादि निमित्त बताने वाले शास्त्र २ उत्पात के लक्षण और फल बताने वाले ग्रंथ ३ स्वप्न शास्त्र ४ अन्तरिक शास्त्र, जिनमें आकाश के ग्रहादि का फल बताया गया हो। ५ शरीर और उसके अंगोपांग के शुभाशुभ लक्षणादि बताने वाले ६ स्वर शास्त्र ७ शरीर पर के तिलमषादि का फल बताने वाले ८ लक्षण–स्त्री पुरुषों के लक्षण बताने वाले शास्त्र। इन आठों के सूत्र, वृत्ति और वार्तिक, यों २४ भेद हुए। २५ विकथानुयोग–अर्थ और काम के उपायों के बताने वाले, विषय वासना को जगाने वाले, स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा और राजकथादि साहित्य २६ विद्यासिद्धि का उपाय बताने वाले २७ मन्त्र शास्त्र २८ वशीकरणादि योग बताने वाले और २९ अन्य तीर्थिक प्रवर्तकानुयोग। ये पापश्रुत हैं।

उपरोक्त पापश्रुत के अतिरिक्त नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र में मिथ्याश्रुत के निम्न भेद बतलाये हैं।

१ भारत २ रामायण ३ भीमासुर कथित ग्रंथ ४ कौटिल्य-अर्थशास्त्र ५ शकटभद्रिका ६ खोड-मुख ७ कार्पासिक ८ नागसूक्ष्म ९ कनकसप्तति १० वैशेषिक ११ बुद्धवचन १२ त्रैराशिक १३ कापिलीय अंक शास्त्र १४ लोकायत १५ षष्ठितन्त्र १६ माठर १७ पुराण १८ व्याकरण १९ भागवत २० पातञ्जलि २१ पुष्यदैवत २२ लेख २३ गणित २४ शकुनरुत २५ नाटक अथवा ७२ कलाएँ और अंगोपांग सहित चार वेद। ये सब असम्यग् दृष्टि और छद्मस्थ द्वारा मति-कल्पना से रचे हुए मिथ्याश्रुत हैं। इनका समावेश ऊपर बताये हुए पापश्रुत में भी हो सकता है। विकथानुयोग और अन्यतीर्थिक प्रवर्तकानुयोग में उपरोक्त भेदों को गर्भित किये जा सकते हैं। संसार-व्यवहार चलाने, आजीविका में सहायक होने वाले और राजनीति आदि जितना भी ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान में सम्मिलित नहीं है। सम्यग् ज्ञान वही है जिससे आत्मा का शुद्धिकरण हो, मिथ्यात्व का मैल दूर हो। जिस ज्ञान से त्याग, तप, क्षमा और अहिंसा की भावना जगे;-

"**जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं**" (उत्तराध्ययन ३-८)

अज्ञान-मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का होता है-१ मति २ श्रुत और ३ विभंग। इसीसे मिथ्याश्रुत की रचना होती है। यह ठीक है कि उपरोक्त मिथ्याश्रुत, सम्यग्दृष्टि को सम्यग् रूप से परिणत हो सकता है, (श्री नन्दीसूत्र) किन्तु यह राजमार्ग नहीं है और इतने मात्र से वह श्रुत, सम्यग्श्रुत नहीं कहा जा सकता। उसे आगमकार महर्षि ने मूल में ही पापश्रुत एवं मिथ्याश्रुत कहा है। वास्तव में यह मिथ्याश्रुत ही है। ९९ प्रतिशत पर उसका मिथ्या प्रभाव होता है। कोई एकाध सम्यग्दृष्टि, मिथ्याश्रुत पढ़ कर सोचे कि 'अहो! कहाँ निर्ग्रंथ-प्रवचन! जिसमें संवर-निर्जरा द्वारा पाप कर्मों के नाश का ही उपदेश है-"**पावाणंकम्माणं णिग्घायणट्ठाए**" और कहाँ राग-द्वेष वर्धक, युद्धादि के प्रेरक, कनक-कामिनी और सांसारिक सुखों की कामना को जगाने वाले वचन! प्रकाश और अन्धकार जितना अन्तर'। इस प्रकार विचार करके प्राप्त सम्यक्त्व को दृढ़ीभूत कर सकता है, अथवा सम्यग्दृष्टि उन मिथ्याश्रुत से सम्यक् श्रुत की विशेषता बता कर श्रोताओं की सम्यग् परिणति में वृद्धि कर सकता है। अथवा उन मिथ्याश्रुत के अनुकूल अंश या अर्थ की सहायता से उसके अनुयायियों को समझा कर पाप परिणति छुड़ाने का प्रयत्न कर सकता है। योग्य वैद्य, विष का उपयोग करके भी रोगी को आराम पहुँचा सकता है। विष का सम्यग् उपयोग हितकर हो सकता है, किन्तु इससे विष स्वयं अमृत नहीं बन सकता। वह तो विष ही रहने का। साधारण जनता को उससे बचाते रहना ही हितकर है। इसी प्रकार मिथ्याश्रुत अपने-आपमें तो मिथ्या ही है, किन्तु किसी सम्यग्दृष्टि द्वारा सम्यग् उपयोग करने पर उसे सम्यग् रूप से परिणत हो सकता है।

आचारांग श्रुत. १ अ. ४ उ. २ में "जे आसवा ते परिसवा जे परिसवा ते आसवा," लिखा है। इसका मतलव भी यही है। आस्रव अपने आपमें तो आस्रव ही है और संवर संवर ही है। न तो आस्रव संवर हो सकता है और न संवर ही आस्रव वन सकता है, किन्तु क्षयोपशम भाववाला पवित्र आत्मा यदि संयोग से आस्रव के स्थान पर भी चला जाय, तो वह वहां उस कर्मवंध के निमित्त को भी संवर का कारण वना सकता है और उदय भाववाला व्यक्ति संवर के निमित्त से भी कर्मों का आस्रव कर लेता है। किन्तु आस्रव अपने आपमें तो आस्रव ही रहता है। उसी प्रकार मिथ्याश्रुत अपने आप में तो मिथ्याश्रुत ही रहता है। प्रत्येक हितैपीजन, अपने प्रिय को वुरी वस्तु से वचाने की शिक्षा देता है। इसी प्रकार आगमकार भी भव्य प्राणियों को मिथ्याश्रुत से वचने का उपदेश करते हैं। जो मिथ्याश्रुत को पढ़ कर पण्डित वनते हैं, उनमें अधिकांश सम्यग्ज्ञान से गिरे हुए ही मिलते हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञान के प्रभाव में वे आये हुए हैं। सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही भापा का विशिष्ठ ज्ञान, स्वपर का उपकारक हो सकता है, अन्यथा उलटा परिणाम होता है। विना सम्यक्त्व के भापा का विशिष्ठ ज्ञान और मिथ्याश्रुत, दोष वर्धक हो जाते हैं। कहा है कि–' जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्जदोपाणुगया परज्झा" अर्थात् जो निर्ग्रंथ प्रवचन को छोड़ कर आडम्वरी वचन में आकर्पित होते हैं और अन्य तीर्थियों के शास्त्रों की प्ररूपणा करते हैं, वे राग द्वेप से युक्त हैं। (उत्तरा० ४–१३) इसलिए मोक्षार्थि को मिथ्याज्ञान से दूर रह कर सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसी श्रुतज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसी श्रुत को पढ़ना चाहिए जिससे अपनी व दूसरों की आत्मा की मुक्ति हो। (उत्तरा० ११–३२)

अवधिज्ञान

मति और श्रुतज्ञान को 'परोक्ष ज्ञान' कहा है और अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान है (नन्दीसूत्र)। इनमें से एक मात्र केवलज्ञान ही सर्व-प्रत्यक्ष है, शेष दोनों ज्ञान देश-प्रत्यक्ष है। प्राप्त क्रमानुसार यहाँ अवधिज्ञान का कुछ वर्णन नन्दीसूत्रानुसार किया जाता है।

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है, एक तो भव-प्रत्ययिक–जो जन्म से ही देव और नारक जीवों को होता है और दूसरा क्षायोपशमिक, यह मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रियों को होता है। जिन मनुष्यों और पशु-पक्षियादि तिर्यंच पंचेन्द्रियों के, अवधिज्ञान को ढकने वाले कर्मों का क्षयोपशम होता है, उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। जो मुनिराज ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों से युक्त हैं, उन्हें ज्ञान और चारित्र गुण में रमण करते-करते तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। यह छः प्रकार का होता है। यथा–

१ आनुगामिक–इसके भी दो भेद हैं। जैसे–

अन्तगत–(१) पुरतोअन्तगत, जिस प्रकार कोई मनुष्य दीपकादि को आगे रख कर चलता है और उससे आगे-आगे प्रकाश होता है, उसी प्रकार आगे के क्षेत्र को प्रकाशित करने वाला। (२) मार्ग तो अन्तगत–पीछे के क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाला। (३) पार्श्व तो अन्तगत–बगल के–आसपास के क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाला।

मध्यगत–जिस प्रकार कोई मनुष्य रोशनी को मस्तक पर रख कर चलता है और उससे चारों ओर प्रकाश फैलता है, उसी प्रकार आगे, पीछे और अगलबगल की ओर के पदार्थों को दिखाने वाला।

उपरोक्त दोनों भेदों में यह विशेषता है कि अंतगत आनुगामिक अवधिज्ञान वाला एक ओर आगे, पीछे या आसपास के संख्यात अथवा असंख्यात योजना प्रमाण क्षेत्र की वस्तुओं को देखता है, किन्तु मध्यगत आनुगामिक भेदवाला–चारों ओर संख्यात या असंख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र को देख लेता है।

२ अनानुगामिक–जिस क्षेत्र में रहे हुए अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वहीं रह कर देख सके, वहाँ से अन्यत्र जाने पर नहीं दिखाई देने वाला।

३ वर्धमान–जो महात्मा, उत्तम और पवित्र विचारों में वर्त्तमान और वर्धमान चारित्र सम्पन्न हैं, परिणामों की विशुद्धि से जिनका चारित्र विशुद्धतर होकर आत्म-विकास हो रहा है, उनके अवधिज्ञान की सीमा चारों ओर बढ़ती जाती है। उसे वर्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।

४ हीयमान–अप्रशस्त–बुरे विचारों में रहने के कारण, उत्पन्न अवधिज्ञान में हीनता होती है, वह हीयमान है।

५ प्रतिपाति–उत्पन्न होने के बाद चला जाने वाला–गिरजाने वाला।

६ अप्रतिपाति–जो अवधिज्ञान कभी नहीं जाता और केवलज्ञान प्राप्त करता है, वह अप्रितिपाति है। इस अवधिज्ञान वाला समस्त लोक को देखता है। उसकी शक्ति लोक से अधिक, ऐसे असंख्य लोक-प्रदेश को देखने की होती है। ऐसा अवधिज्ञानी कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यों और उत्कृष्ट सभी रूपी द्रव्यों को देखता है। वह भूत भविष्य के असंख्य अवसर्पिणि उत्सर्पिणि काल के द्रव्यों को देख सकता है और अनन्त भावों को नजाता है।

परम अवधिज्ञानी को तो अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है (भगवती श. १८–८ टीका)।

मनःपर्यव ज्ञान

मति श्रुत और सामान्य अवधिज्ञान तो देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों को भी उत्पन्न हो सकता है, किन्तु मनःपर्यवज्ञान तो उन्हीं मनुष्यों को उत्पन्न होता है–जो कर्मभूमिज, गर्भज, पर्याप्त और संख्यात वर्ष की आयुवाले हों। जो सम्यग्दृष्टियुक्त संयती हैं, उन्हीं संयतों में से किसी को यह ज्ञान होता है। सतत साधनाशील–अप्रमत्त और विशिष्ट शक्ति सम्पन्न (ऋद्धि प्राप्त) मुनिवर ही इस ज्ञान को प्राप्त करते हैं। श्रावक और सामान्य साधु को यह ज्ञान नहीं होता है। इसके दो भेद हैं। यथा–

१ **ऋजुमति**–द्रव्य से अनन्त प्रदेशी, अनन्त स्कन्धों को जानता देखता है, क्षेत्र से जघन्य अंगुल के असंख्यात भाग और उत्कृष्ट नीचे–रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी प्रतर से नीचे के छोटे प्रतरों तक, ऊपर ज्योतिष्क विमान के ऊपर के तल तक (दोनों मिला कर १९०० योजन तक) तथा तिर्छेलोक में मनुष्य क्षेत्र के भीतर–ढ़ाई द्वीप समुद्र पर्यन्त अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर द्वीपों में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है। काल से जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण, भूत और भविष्य काल को जानता-देखता है। भाव से अनन्त भावों को और सभी भावों के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है।

२ **विपुलमति**–ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक प्रमाणों में, अधिक स्पष्ट और अधिक विशुद्ध जानते-देखते हैं। क्षेत्र से ढ़ाई अंगुल अधिक विस्तार से देखते हैं।

इस ज्ञान से मनुष्य क्षेत्रवर्ती संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन में सोचे हुए भूत-भविष्य के पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण भाव को प्रकट किया जा सकता है। यह केवल उन्हीं विशिष्ठ मुनिराजों को होता है जिनकी चारित्र-पर्याय विशुद्ध, विशुद्धतर हो। जो विशिष्ट शक्ति सम्पन्न हों।

ये चारों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। किसी-किसी को चारों भी होते हैं। तीर्थंकर भगवान् दीक्षा लेते हैं, तब तत्काल ही उन्हें मनपर्यवज्ञान होता है। जिन जीवों को तीन ज्ञान होते हैं, उन्हें या तो मति श्रुत और अवधि होता है, या फिर मति श्रुत और मनःपर्यव होता है (भग० ८–२) जो क्षायोपशमिक ज्ञान वाले सम्यग्दृष्टि हैं, उनमें मति श्रुत तो होते ही हैं।

केवलज्ञान

केवलज्ञान क्षायिक है। ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा नाश होने पर ही यह होता है। यह ज्ञान मोक्ष पाने वाले मनुष्यों को, ज्ञानावरणीयादि घातिकर्म के नष्ट होने पर होता है और सिद्ध अवस्था में सदाकाल रहता है। केवलज्ञानी द्रव्य से विश्व के समस्त द्रव्यों को, क्षेत्र से लोकालोक रूप समस्त क्षेत्र को, काल से सभी भूत, भविष्य, वर्त्तमान काल और भाव से अनन्त पर्यायात्मक समस्त द्रव्यों के समस्त भावों को जानते हैं। यह ज्ञान अप्रतिपाति–सदा काल कायम रहने वाला और एक ही प्रकार का है। अनन्त केवलज्ञानियों के केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं है।

तीर्थंकर भगवान् जो उपदेश देते हैं, वह केवलज्ञान से सभी पदार्थों को जान कर उनमें से जो वर्णन करने योग्य है, उन्हीं का वर्णन करते हैं। वह भाव शेष जीवों के वचन-योग से श्रुत रूप होता है।

सबसे थोड़ी पर्यायें मनःपर्यवज्ञान की है। इससे अनन्तगुण अधिक विभंगज्ञान की। विभंगज्ञान से अनन्त गुण अधिक पर्यायें अवधिज्ञान की है। अवधि से अनन्त गुण अधिक श्रुत अज्ञान की है। इनसे श्रुतज्ञान की पर्यायें विशेषाधिक हैं। इससे मति अज्ञान की पर्यायें अनन्त गुण हैं और इससे विशेषाधिक पर्यायें मतिज्ञान की हैं। केवलज्ञान की पर्यायें तो सभी से अनन्तगुण अधिक हैं। (भ० श० ८–२)

केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट और साध्य दशा है, इसके द्वारा लोकालोक और हिता-हित को जान कर भव्य प्राणियों को बोध कराया जाता है। केवलज्ञानियों के बताये हुए मार्ग से अनन्त जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है, वर्त्तमान में कर रहे हैं और भविष्य में भी करेंगे। फिर भी हमारे लिए तो मति और श्रुतज्ञान ही अभी उपकारी है। जिन जीवों को अज्ञान नहीं होकर सम्यग् मति-श्रुत ज्ञान होता है, वे ही तीर्थंकरों के वचनों की श्रद्धा करते हैं। आज हमारे सामने जो जिनागम हैं, वह भी श्रुतज्ञान रूप ही है। यदि हमने इसकी ठीक तरह से आराधना की, तो हमारे कर्म-बन्धन अवश्य ही कटेंगे और हम ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करते-करते, कभी केवलज्ञान प्राप्त करके साधक से सिद्ध बन सकेंगे। ऐसे परमोपकारी ज्ञान को हमारा बार-बार नमस्कार है।

प्रमाण

स्व और पर को निश्चित रूप से जानने वाला ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है और श्रुतज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थ का एक धर्म, अन्य धर्मों को गोण करके किसी अभिप्राय विशेष से जाना जाता है, वह 'नय' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि श्रुतज्ञान रूप प्रमाण, अनन्त धर्म वाली वस्तु को ग्रहण करता है, तब वस्तु के अनन्त धर्मो में से किसी एक धर्म को सापेक्ष जानने वाला ज्ञान 'नय' कहलाता है। प्रमाण के चार भेद हैं,–

१ प्रत्यक्ष २ अनुमान ३ आगम और ४ उपमान।

१ प्रत्यक्ष प्रमाण–जो स्पष्ट रूप से साक्षात्कार करावे, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं।

इंद्रिय प्रत्यक्ष–जो कानों से सुन कर, आंखों से देख कर, नासिका से सूंघ कर, जवान से चख कर और हाथ आदि से स्पर्श कर जाना जाय–वह 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' है। क्योंकि यह इन्द्रियों की सहायता से जाना जाता है।

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष–जो इन्द्रियों की सहायता के विना ही प्रत्यक्ष हो सके, वह नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इसके तीन भेद हैं–१ अवधिज्ञान, २ मनःपर्यवज्ञान और ३ केवलज्ञान। इन तीन में से अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान तो देश-प्रत्यक्ष है, क्योंकि ये सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। एक केवलज्ञान ही ऐसा है जो पूर्ण-प्रत्यक्ष–सर्व-प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को व्यवहार-प्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह प्रत्यक्ष भी देश-प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा भी वस्तु का एक देश–ऊपरी भाग ही जाना जाता है। हम अपनी आंखों से दवा की एक गोली देखते हैं, किन्तु वह किन चीजों की वनी है, उसमें क्या-क्या गुण है–यह प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। अतएव इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है। वास्तविक प्रत्यक्ष तो नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष है, जिसे निश्चय प्रत्यक्ष कहते हैं।

२ अनुमान प्रमाण–किसी साधन के द्वारा साध्य को जानना–अनुमान प्रमाण है। इसके तीन भेद हैं–

पूर्व अनुमान–पहले देखे हुए चिन्हों से पहिचानना, जैसे–किसी का पुत्र बाल्यावस्था में विदेश गया हो और जवान होने पर वापिस घर आवे, तो उसकी माता, उसके चेहरे, वर्ण, तिल-मसादि पहले के समान देख कर पहिचान लेती है। तात्पर्य यह कि पूर्वकाल में देखे हुए किसी खास चिन्ह को देख कर अनुमान करना।

शेष अनुमान–इसके पाँच भेद इस प्रकार हैं–

१ कार्य से–जैसे आवाज पर से पहिचानना कि यह मयूर बोल रहा है, पोपट या कोयल इस वृक्ष पर है, या बिना देखे ही आवाज पर से मनुष्य को पहिचान लेना।

२ कारण से–बादलों को देख कर वर्षा का अनुमान करना। आटा देख कर रोटी बनाने का अनुमान करना आदि।

३ गुण से गुणी का अनुमान करना, जैसे–क्षार से नमक का, सुगन्ध से पुष्प अथवा इत्र का।

४ अवयव से–एक अवयव देख कर अवयवी का अनुमान कर लेना, जैसे सिंग देख कर जान लेना कि यह भैंस है या गाय है। सूंड से हाथी और कलंगी से मुर्गे का अनुमान करना।

५ आश्रय से–धूम्र के आश्रय से अग्नि का अनुमान करना।

दृष्टि साम्य–इसके दो भेद हैं–१ सामान्य और २ विशेष।

सामान्य–एक वस्तु को देख कर वैसी ही दूसरी का अनुमान करना, जैसे एक रुपये को देख कर अन्य रुपयों का, मारवाड़ के एक धोरी बैल को देख कर, उस देश में वैसे अनेक बैल होने का अनुमान करना।

विशेष–विदेश जाने पर वहां हरियाली और गड्ढों में पानी भरा हुआ देख कर अच्छी वर्षा होने का अनुमान करना। यह भूत का अनुमान हुआ। फसलें अच्छी और लोगों को समृद्ध देख कर वर्त्तमान सुखी अवस्था का अनुमान लगाना। शुभ लक्षण देक कर उज्ज्वल भविष्य का अनुमान करना आदि।

३ आगम प्रमाण– आप्त पुरुषों-निर्दोष और परम मान्य महर्षियों के वचनों को 'आगम' कहते हैं। इसके तीन भेद हैं–१ सूत्रागम २ अर्थागम और ३ तदुभयागम। सूत्र, अर्थ और दोनों के विधान को स्वीकार करना–आगम प्रमाण है। इनका वर्णन पहले हो चुका है।

४ उपमान प्रमाण– किसी प्रसिद्ध एवं ज्ञात वस्तु की, अप्रसिद्ध एवं अज्ञात वस्तु को उपमा देना। इसके चार भंग है।

१ सत् की सत् से उपमा देना—जैसे आगामी प्रथम तीर्थंकर, भगवान् महावीर के समान होंगे या भगवान् की भुजा, अर्गला के समान है।

२ सत् की असत् से—जैसे 'नारकों और देवों की आयु पल्योपम सागरोपम की है,' यह बात सत्य है, किन्तु पल्योपम व सागरोपम का जो प्रमाण है, वह असत्कल्पना है, क्योंकि वैसा किसी ने किया नहीं, करता नहीं और करेगा नहीं।

३ असत् की सत् से—जैसे जुवार को 'मोती के दाने जैसी,' या किसी बड़ी भारी नगरी को देवपुरी जैसी कहना अथवा यह कल्पित वार्त्तालाप कि—पक कर खिरा हुआ पत्ता, नये पत्ते से कहता है कि 'कभी हम भी तुम्हारे जैसे थे,' या ठोकर खाई हुई हड्डी, ठोकर मारने वाले से कहती है कि 'मैं भी कभी तेरे जैसी थी'—यह असत् की सत् से उपमा है। जो अवस्था नष्ट हो कर असत् हो चुकी, उसको विद्यमान सत् वस्तु से उपमा देना।

४ असत् की असत् से—जैसे यह कहना कि 'गधे के सींग कैसे होते हैं, तो कहे कि घोड़े के सींग जैसे,' फिर पूछा कि 'घोड़े के सींग कैसे ? तो उत्तर दिया कि 'गधे के सींग जैसे।' ये दोनों बातें झूठी है।

इस प्रकार प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से वस्तु को जान कर सम्यग् उपयोग करना चाहिए।

(भगवती ५-४ अनुयोगद्वार)

निक्षेप

किसी भी वस्तु को समझने के लिए उसके नाम, आकृति, आधार और गुण अथवा विशेषता तो जाननी ही पड़ती है। यदि विशेष विस्तार में नहीं जा सके, तो कम से कम ये चार बातें तो जाननी ही पड़ती है, जिन्हें चार 'निक्षेप' कहते हैं। चार निक्षेप ये हैं–

१ नाम २ स्थापना ३ द्रव्य और ४ भाव।

(१) **नाम निक्षेप**–जिस जीव, अजीव और जीवाजीव का जो नाम हो, उसे नाम निक्षेप कहते हैं। जैसे किसी जीव या अजीव का 'आवश्यक' ऐसा नाम दिया जाय, तो वह नाम निक्षेप हैं। नाम जाति-वाचक, व्यक्ति वाचक, गुण वाचक, आदि कई प्रकार के हो सकते हैं।

जाति वाचक–एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय आदि अथवा मनुष्य, गाय, भैंस, घोड़ा आदि।

व्यक्ति वाचक–जिनदत्त, ऋषभदेव, महावीर, धनराज, सुखलाल आदि।

गुण वाचक–मुनि, तपस्वी, श्रावक, मन्त्री, आचार्य, आदि।

नाम के तीन भेद इस प्रकार हैं–

यथार्थ नाम–गुण के अनुसार नाम होना यथार्थ नाम है। जैसे–चेतना सहित को 'जीव,' अचेतन को जड़, धनवान को लक्ष्मीचन्द्र, असत्यवक्ता को झूठाभाई आदि।

अयथार्थ नाम–गुण-शून्य नाम अयथार्थ होता है, जैसे दरिद्री को धनपाल, ग्वाले को इन्द्र, मजदूर को जगदीश, तृष्णावान को संतोषचन्द्र, आदि।

अर्थशून्य–जिसके नाम का कोई अर्थ ही नहीं हो, जैसे–डित्थ, डवित्थ, खुन्नी आदि।

नाम निक्षेप का सम्बन्ध वस्तु के नाम से ही है, गुण-अवगुण से नहीं, और यह आयु पर्यन्त अथवा वस्तु की उसी रूप में स्थिति रहे–वहां तक रहता है।

(२) **स्थापना निक्षेप**–किसी मूल वस्तु का, प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र में आरोप करना–स्थापना निक्षेप है। यह आरोप विना मूर्ति और चित्र के भी हो सकता है। इसलिए स्थापना निक्षेप के दो भेद किये हैं,–१ सद्भाव स्थापना और २ असद्भाव स्थापना।

सद्भाव स्थापना-काष्ठ, पाषाण, धातु, मिट्टी, वस्त्र या कागज आदि की, किसी मूल वस्तु की मूर्ति बनाई जाय, असल वस्तु की आकृति अंकित की जाय, अथवा कागज वस्त्र या काष्ठफलक पर चित्र उतारा जाय, तो वह सद्भाव (मूल की आकृति के अनुसार) स्थापना है। तोलने के माशा, तोला, सेर, मन आदि के अंक, लोह आदि के बाट पर अंकित हो, सिक्के पर 'एक रुपया' आदि अंकित हो, अथवा दस्तावेज, पर १, १०, १००, १०००, आदि अंकित होना और द्वीप-समुद्रादि के नक्शे-ये सब सद्भाव स्थापना है।

असद्भाव स्थापना-बिना मूल की आकृति के यों ही किसी काष्ठखण्ड, पत्थर, ईंट, आदि किसी भी वस्तु में मूल वस्तु का आरोप करना, जैसे कि-बालक, लकड़ी को अपना 'घोड़ा' कह कर खुद अपने ही पैरों से दौड़ता है। लोग किसी पत्थर आदि को यों ही रख कर, उसे भैरवादि देव रूप मानते हैं, या अनपढ़ लोग, कंकर, अथवा धान्य के दाने रख कर, रुपयों का हिसाब लगाते हैं, उस समय कंकर या दानों में रुपयों की स्थापना करते हैं, अथवा शतरंज के खेल में खेल की गोटों को राजा, वजीर, हाथी, घोड़ा आदि कहते हैं-यह सब असद्भाव स्थापना है।

स्थापना थोड़े काल तक भी रहती है और स्थिति पर्यन्त भी रहती है।

(२) **द्रव्य निक्षेप**-गुण के उस आधार (पात्र) को द्रव्य कहते हैं कि जिसमें भविष्य में गुण उत्पन्न होने वाला हो, अथवा भूतकाल में उत्पन्न होकर नष्ट हो चुका हो और खाली पात्र रह गया हो। उपयोग रहित क्रिया भी द्रव्य-निक्षेप में मानी गई है। यह द्रव्य-निक्षेप दो प्रकार का है। यथा-

आगमतः-बिना उपयोग के आगमोक्त क्रिया करना, अथवा आगमों का पठन, वाचन, पृच्छा, परावर्तना और धर्मकथन करना-आगम से द्रव्य-निक्षेप है। इसमें स्वाध्याय के चार भेद ही लिये हैं, 'अनुप्रेक्षा' नहीं ली गई है। क्योंकि अनुप्रेक्षा तो उपयोग-भावपूर्वक ही होती है। जो व्यक्ति आवश्यक करता है, उसका उच्चारणादि शुद्ध एवं ज्ञानातिचार से रहित है, किन्तु उस आवश्यक में उसका उपयोग नहीं है और भाव अन्यत्र लगा हुआ है-वह बिना भाव के उच्चारणादि कर रहा है, तो यह आगमतः द्रव्य-निक्षेप है।

नो आगमतः-जिसमें आगमोक्त क्रिया नहीं हो रही है, वह नो आगमतः द्रव्य-निक्षेप है। इसके तीन भेद है,-१ ज्ञशरीर २ भव्य शरीर और ३ तद्व्यतिरिक्त।

१ ज्ञ शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप-आगम का ज्ञाता आत्मा के शरीर से निकलजाने पर शेष रहा मुर्दा शरीर-नोआगम ज्ञायक शरीर द्रव्य है। उसमें भूतकाल में आगमज्ञ आत्मा निवास करती थी। अब वह गत-भाव होने से खाली पात्र रह गया है-घृत निकल जाने के बाद खाली रहे हुए घड़े के समान। तीर्थंकर भगवान् अथवा साधु या श्रावक का निर्जीव शरीर इसी भेद में आता है।

भव्य-शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप–भविष्य में आगम का ज्ञाता होने वाला द्रव्य। जिसने सुश्रावक के घर में जन्म लिया है–ऐसा बालक, जो भविष्य में श्रावक-धर्म का ज्ञाता होगा। जैसे कि किसी ने घृत भरने के लिए घड़ा बनाया या खरीदा, वह भविष्य में उसमें घृत भरेगा, किन्तु अभी खाली है। वह घड़ा भी इस भेद में गिना जाता है।

तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित कर के, देव या नरक भव में जा कर वहाँ से माता के गर्भ में आने वाले और जन्म ले कर तीर्थंकर पद प्राप्त करने के पूर्व की सभी अवस्था–द्रव्य तीर्थंकरत्व की ही हैं। इस भेद में वास्तविक गुण उत्पन्न होने के पूर्व की अवस्था ग्रहण की गई है।

ज्ञ-भव्य-व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेप–इसके तीन भेद हैं–१ लौकिक २ लोकोत्तर और ३ कुप्रावचनिक।

लौकिक–संसारी लोग, अपना नित्य–लौकिक कार्य करते हैं, जैसे–प्रातःकाल उठ कर शौच जाना, हाथ-मुंह धोना, स्नान करना, केश सँवारना और वस्त्राभूषण पहन कर अपना-अपना कार्य करते हैं, यह उनकी लौकिक नित्य क्रिया है। इसलिए यह उनका लौकिक द्रव्यावश्यक है। तात्पर्य यह कि लोक सम्बन्धी जितनी भी क्रिया की जाय, वह लौकिक नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

लोकोत्तर–लोक से परे–परभव के उद्देश्य से क्रिया करने वाले, श्रमण के गुण से रहित, जीवों की अनुकम्पा जिनमें नहीं है, जो स्वच्छन्द हैं, मदोन्मत्त तथा निरंकुश होकर विचरते हैं, जिनमें शरीर और वस्त्रादि की सफाई की ही विशेष रुचि रहती है, जो जिनाज्ञा के विराधक हैं, ऐसे साधु आदि कहे जाने वाले और धार्मिकपन का–लोकोत्तर साधक का डौल करने वाले की क्रिया, लोकोत्तर नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

कुप्रावचनिक–निर्ग्रंथ-प्रवचन के अतिरिक्त दूसरे प्रवचन को मानने वाले, तदनुसार मृगछाला अथवा व्याघ्रचर्म धारण करने वाले, गेरुए वस्त्र धारण करने वाले, शरीर पर भस्म लगाने वाले, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से रहित, गृहस्थधर्म के उपदेशक, गृहस्थ-धर्म के चिंतक आदि पाखण्डी लोग, प्रातःकाल होते ही इन्द्र, स्कन्ध वैश्रमण आदि कुप्रावचनिक देवों की पूजा वन्दनादि करते हैं। इनकी इस प्रकार की सभी क्रिया 'कुप्रावचनिक-लोकोत्तर-नोआगम-द्रव्यावश्यक' द्रव्य-निक्षेप में हैं।

नाम, स्थापना और द्रव्य–ये तीनों निक्षेप अवस्तु है। क्योंकि इनमें गुण=भाव=वास्तविकता की अपेक्षा नहीं होती।

(४) **भाव निक्षेप**–जो गुण युक्त हों, सार्थक हों, जिसमें अपने अर्थ की संगति यथार्थ रूप से होती है,–वह भाव निक्षेप है। इसके दो भेद हैं;–

आगमतः-जिसका आगम में उपयोग लगा हुआ हो, अथवा जो उपयोग पूर्वक आगमोक्त क्रिया कर रहा हो। इस प्रकार भावपूर्वक आगमों का पठन-स्वाध्याय कर रहा हो, अनुप्रेक्षा युक्त हो-वह आगमतः भाव निक्षेप है।

नोआगम से-इसके तीन भेद हैं।

लौकिक-अजैन लोग, अपने मतानुसार प्रातःकाल भारत आदि और सायंकाल रामायणादि का भावपूर्वक वाचन अथवा श्रवण करते हैं, वह लौकिक नोआगम भाव निक्षेप है।

लोकोत्तर-निर्ग्रंथ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, आत्म-कल्याण के लिए उपयोगपूर्वक और यथाकाल जो जो आराधना करते हैं, वह लोकोत्तर नोआगम भाव निक्षेप है। भावपूर्वक उभय-काल किये हुए आवश्यक को लोकोत्तर नोआगम भावावश्यक कहते हैं।

कुप्रावचनिक-अन्य मतावलम्बी चरक आदि अपने इष्ट देव को भावपूर्वक अर्घ्य देते हैं, प्रणाम करते हैं, हवन करते हैं और मन्त्र का जाप आदि अनेक क्रियाएँ करते हैं। ये सब कुप्रावचनिक नोआगम भाव आवश्यक है। कुप्रवचन सम्बन्धी सभी क्रियाएँ जो भावपूर्वक की जाती है, वे सभी इस भेद में आती है। (अनुयोगद्वार)

ये चारों निक्षेप, वस्तु को समझने के लिए है। यह ज्ञान का विषय है। ज्ञान से वस्तु का स्वरूप जानना और फिर हेय को त्याग कर उपादेय को स्वीकार करना, प्रत्येक आत्मार्थी का कर्त्तव्य है।

निक्षेपों की भी मर्यादा है। दूर रहे हुए मनुष्य को पुकारने अथवा पता लगाने के लिए नाम-निक्षेप उपयोगी है। उसे ऊपर से पहिचानने के लिए स्थापना-निक्षेप (आकृति) आवश्यक है। नाम-निक्षेप देखने का विषय नहीं, किन्तु पुकारने या सुनने से सम्बन्ध रखता है, तब आकृति-स्थापना, आँखों से देखने या दिखाने से सम्बन्ध रखती है। ये दो निक्षेप मूल वस्तु में खुद में भी होते हैं और इनका आरोप दूसरे में भी किया सकता है। इनका भिन्न वस्तु में निक्षेप हो सकता है। किन्तु द्रव्य तो द्रव्य की (उपयोग एवं गुण रहित) क्रिया होने पर ही होता है और भाव तो मूल वस्तु ही है।

पूर्ण रूप से उपयोगी भाव है। उससे द्रव्य कम उपयोगी है और नाम स्थापना तो बहुत कम उपयोगी है। वस्तु का उतना ही उपयोग होना चाहिए, जितने के वह योग्य हो। योग्यता से अधिक महत्व देना समझदारी नहीं है।

जिस प्रकार संसार पक्ष में, भाव रहित (असलियत से भिन्न) नाम, स्थापना, असली वस्तु के समान स्वीकार नहीं की जाती, उसी प्रकार धर्म पक्ष में भी भाव-शून्य नामादि तीन निक्षेप, भाव के समान वन्दनीय पूजनीय नहीं होते।

नय

श्रुतज्ञान, नय युक्त होता है। श्रुत के प्रमाण से विषय किये हुए पदार्थ का किसी अपेक्षा से कथन करना, दूसरी अपेक्षाओं का विरोध नहीं करते हुए, अपने दृष्टि के अनुसार, अभिप्राय व्यक्त करना—नयवाद है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्यता से जानने वाला ज्ञान, 'नय ज्ञान' कहलाता है। नय प्रमाण का एक अंश होता है।

'जितने वाक्य उतने ही नय'—इस प्रकार नय के अनेक भेद होते हैं। और ये अनेक नय सुनय और दुर्नय—ऐसे दो भेद में बट जाते है।

जो नय सम्यग्दृष्टि पूर्ण हो, जिसमें अभिप्रेत नय के अतिरिक्त दृष्टियों का विरोध नहीं होता हो, और जिसमें विषमता नहीं हो, वह सुनय कहलाता है। इसके विपरीत जो अभिप्रेत दृष्टि के अतिरिक्त सभी दृष्टियों का विरोध करता हो, जिसकी विचारधारा में विषमता हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि पूर्ण एकान्तिक अभिप्राय को 'दुर्नय' कहते हैं।

सुनय के संक्षेप में दो भेद हैं। १ द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक।

द्रव्यार्थिक—द्रव्य—सामान्य वस्तु को विषय करने वाले नय को—द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—१ नैगम २ संग्रह ३ व्यहार *।

पर्यायार्थिक—पर्याय विशेष—द्रव्य की परिवर्तनशील अवस्थाविशेष को विषय करने वाले नय को 'पर्यायार्थिक नय' कहते हैं। इसके चार भेद हैं—१ ऋजुसूत्र २ शब्द ३ समभिरूढ़ और ४ एवंभूत।

उपरोक्त दोनों भेदों में सात नय माने गये हैं। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

१ नैगम नय-जिसके अनेक गम—अनेक विकल्प हों, जो अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता हो, वह नैगम नय है।

दो द्रव्यों, दो पर्यायों, और द्रव्य और पर्याय की प्रधानता तथा गौणता से विवक्षा करने वाला—नैगम नय है। इसका क्षेत्र, अन्य नयों की अपेक्षा अधिक विशाल एवं सर्व व्यापक है।

---

* इसमें मत भेद भी है। विशेषावश्यक मे द्रव्यार्थिक नय में 'ऋजुसूत्र' सहित चार नय माने हैं और पर्यायार्थिक नय में शब्दादि तीन नय माने है।

जिस देश में जो शब्द, जिस अर्थ में प्रचलित हो, वहां उस शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानना भी नैगम नय है।

निगम का अर्थ है 'संकल्प,' जो संकल्प को विषय करता है, वह नैगम नय कहलाता है। यह संकल्प के अनुसार एक अंश को ग्रहण करके वस्तु को पूर्ण मान लेता है।

जैसे एक स्थान पर कई व्यक्ति बैठे हैं। वहां कोई आकर पूछे कि "आप में से बंबई कौन जा रहा है," तो उसमें से एक व्यक्ति कहता है कि "मैं जा रहा हूं," वास्तव में वह बैठा है–जा नहीं रहा है, किन्तु जाने के संकल्प मात्र से जाने का कहा। यह नैगम नय की अपेक्षा से सत्य है।

यह नय, कार्य का एक अंश उत्पन्न होने से ही वस्तु को पूर्ण मान लेता है। जैसे–

किसी कुंभकार को घड़ा बनाने की इच्छा हुई। वह मिट्टी लेने को वन में जाने लगा। पड़ोसी ने पूछा–'कहाँ जाते हो'? उसने कहा–'घड़ा लेने जाता हूँ'। मिट्टी खोदते समय किसी ने पूछा–'क्या करते हो? कहा–'घड़ा लेता हूं'। मिट्टी लेकर घर आने पर किसी ने पूछा, तो कहा–'घड़ा लाया हूँ'। इस प्रकार घड़े के विचार–संकल्प तथा उस दिशा में किञ्चित् प्रवृत्ति प्रारंभ करने पर उस कार्य को सम्पूर्ण मान लेना, नैगम नय का अभिप्राय है।

नैगम नय के दो भेद हैं–१ सामान्य और २ विशेष। सामान्य में पर्याय का ग्रहण नहीं होता। यह नहीं कहा जाता है कि घट किस रंग का, किस आकृति का, कितना बड़ा, मिट्टी का, ताम्बे का, पीतल का या चाँदी आदि का। मात्र 'घट' कहा जाय तो उसे सामान्य अंश रूप नैगम कहते हैं। किन्तु जिसमें उसकी पर्याय–रंग, आकृति तथा छोटे-बड़े आदि का वर्णन हो, उसे विशेष अंश रूप नैगम कहते हैं।

इसके अतिरिक्त काल की अपेक्षा नैगम के तीन भेद होते हैं,–१ भूत नैगम, २ भविष्य नैगम और ३ वर्तमान नैगम।

भूतकाल में वर्तमान् काल का संकल्प करना–भूत नैगम नय है। जैसे दीवाली के दिन कहना कि 'आज भगवान् महावीर मोक्ष पधारे थे,' जबकि उन्हें मोक्ष पधारे हजारों वर्ष बीत गये। इस वाक्य में आज का संकल्प, हजारों वर्ष पहले–भूतकाल में किया गया है।

भावी नैगम–अरिहंत को सिद्ध कहना, बछिया को गाय कहना, बछड़े को बैल कहना, अधिकार रहित राजपुत्र (युवराज) को राजा कहना, अर्थात् भविष्य में उत्पन्न होने वाली पर्याय में, भूत का संकल्प करना, भावी नैगम है।

वर्तमान नैगम–जैसे भोजन बनाना प्रारंभ कर दिया हो, किन्तु उसके बन जाने के पूर्व ही कह देना कि 'आज तो भात बनाया है'।

२ संग्रहनय—यह नय विशेष (भेदों) को छोड़ कर सामान्य–द्रव्यत्व को ग्रहण करता है। एक जाति में आने वाली समस्त वस्तुओं में एकता लाना इसका अभिप्राय है। यह एक शब्द मात्र से उन सभी अर्थों को ग्रहण कर लेता है, जो इससे सम्बन्ध रखते हैं। जैसे किसी ने अपने सेवक को आज्ञा दी कि–"जाओ दातुन लाओ।" वह सेवक एक 'दातुन' शब्द से वे सभी वस्तुएँ–मंजन, कूची, जीभी, पानी का लोटा, तौलिया आदि ले आता है।

संग्रह नय के भी दो भेद हैं, एक पर-संग्रह और दूसरा अपर-संग्रह। पर संग्रह सामान्य ग्राहक है। यह सत्ता मात्र को ग्रहण करता है। 'द्रव्य' शब्द से यह जीव अजीव का भेद नहीं करके सभी द्रव्यों को ग्रहण करता है। अपर संग्रह उसे कहा गया है कि जो अपने में विषयभूत होने वाले द्रव्य विशेष को ही ग्रहण करके दूसरे द्रव्य को छोड़ देता है। जैसे–'जीव' शब्द से यह सभी जीवों को ग्रहण करके अजीव को छोड़ देता है। इसलिए इसे अपर संग्रहनय कहते हैं।

शब्द के समस्त अर्थों का विना किसी भेद के ग्रहण करना–संग्रहनय का अभिप्राय है।

३ व्यवहारनय–संग्रह किये हुए पदार्थों में, लोक व्यवहार के लिए विधिपूर्वक भेद करना, जैसे–द्रव्य के छः भेद, फिर प्रत्येक द्रव्य के अन्तर्भेद करना। पर्याय के सहभावी और क्रमभावी तथा जीव के संसारी और मुक्त, इस प्रकार भेद करना, व्यवहारनय का कार्य है। यह नय सामान्य की उपेक्षा करके विशेष को ग्रहण करता है।

यह नय निश्चय की उपेक्षा करता है और लोक-व्यवहार को ग्रहण करता है। जैसे निश्चय से घट-पटादि वस्तुओं में आठ स्पर्श, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस पाये जाते हैं, किन्तु व्यवहार एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और एक स्पर्श का होता है। जैसे–कोयल काली है, फूल सुगन्धी है, मिश्री मीठी है, मक्खन कोमल है। इस प्रकार एक-एक वर्णादि को ग्रहण करके शेष को छोड़ देना, व्यवहार नय का विषय है।

यह नय प्रायः उपचार में ही प्रवृत्त होता है। इसके ज्ञेय विषय भी अनेक हैं, इसलिए इसे विस्तृतार्थ भी कहते हैं। लोक-व्यवहार अधिकतर इसीसे सम्बन्धित होता है। बोलचाल में जो यह कहा जाता है कि 'घड़ा चूता है, मार्ग चलता है, गाँव आ गया, चूल्हा जलता है'–ये सब औपचारिक शब्द हैं। वास्तव में चूता है पानी, घड़ा नहीं चूता, चलता है मनुष्य, मार्ग नहीं चलता, आता है मनुष्य, गाँव नहीं आता और जलती है लकड़ियाँ, चूल्हा नहीं जलता, किन्तु लोग जो इस प्रकार का उपचार करते हैं–यह व्यवहारनय के अनुसार है।

व्यवहारनय के भी सामान्यभेदक और विशेषभेदक–ऐसे दो भेद हैं। सामान्य संग्रह में भेद करने वाले नय को सामान्यभेदक कहते हैं, जैसे–द्रव्य के दो भेद–१ जीव द्रव्य और २ अजीव द्रव्य।

और विशेष संग्रह में भेद करने वाले नय को 'विशेषभेदक' कहते हैं, जैसे—जीव के दो भेद १ सिद्ध और २ संसारी।

जीव के ५६३, अजीव के ५६०, चौदह गुणस्थान, पांच चारित्र आदि विषय व्यवहार नय के अन्तर्गत होते हैं, निश्चय नय से नहीं।

४ ऋजुसूत्र नय—द्रव्य की पर्याय—वर्त्तमान पर्याय को ग्रहण करके भूत और भविष्य की उपेक्षा करने वाला यह नय है। वर्त्तमान में यदि आत्मा सुख का अनुभव करती है, तो यह नय उसे सुखी कहेगा और बाह्य रूप से अनेक प्रकार की अनुकूलता होने पर भी यदि आत्मा में किसी प्रकार का खेद वर्त्तमान हो, तो यह नय उसे दुखी कहेगा।

एक सेठ सामायिक में बैठे थे। उस समय बाहर के किसी व्यक्ति ने आकर पुत्रवधू से पूछा—'सेठ कहाँ है?' उसने कहा—'चमार के यहाँ गये हैं।' उसने वापिस लौट कर कहा—'चमार के यहाँ तो नहीं है,' तब उसने कहाँ—'पंसारी की दुकान पर गये हैं।' वह वहां से भी खाली लौट कर आया, तब उसे दुकान पर जाने का कहा। दुकान पर नहीं मिलने पर वह फिर घर आया। इतने में सेठ ने सामायिक पार ली थी। उन्होंने पुत्रवधू से पूछा—'तुझे मालूम था कि मैं सामायिक कर रहा हूँ, फिर तेने उसे झूठा उत्तर क्यों दिया?' पुत्रवधू बुद्धिमती और मानस-विज्ञान की ज्ञाता थी। उसने कहा 'पिताजी! आप ऊपर से तो सामायिक में थे, किन्तु उस समय आप विचारों से चमार की दुकान पर जूते खरीद रहे थे, इसलिए मैंने आपके विचारों के अनुसार ही आपकी उपस्थिति बताई। दूसरी बार वह आया, तब आप पंसारी की दुकान पर सोंठ खरीदने के विचारों में लगे हुए थे और तीसरी बार आपकी विचारणा में दुकान का कार्य चल रहा था। इसलिए मैंने आपके विचारों के अनुसार ही उपस्थिति बताई।' सेठ यह बात सुन कर समझ गये की बहू ने व्यवहार की उपेक्षा करके वर्त्तमान पर्यायग्राही ऋजु-सूत्र नय के अनुसार उत्तर दिये, जो ठीक ही हैं।

इस नय के भी दो भेद हैं—१ सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय और २ स्थूल ऋजुसूत्र नय। सूक्ष्म ऋजुसूत्र एक समय मात्र की पर्याय को ग्रहण करता है, जैसे—'शब्द क्षणिक है।' जो अनेक समयों की वर्त्तमान पर्यायों को ग्रहण करे, वह स्थूल ऋजुसूत्र नय है। जैसे—'मनुष्य पर्याय सौ वर्ष से कुछ अधिक है।'

व्यवहार में साधु का वेश धारण किये हुए होने पर भी यदि किसी का मन सांसारिक विषयों में लगा हो, तो यह नय उस समय उसे साधु नहीं मानता। तात्पर्य यह कि यह नय व्यवहार की उपेक्षा करके वर्त्तमान अभिप्राय अथवा वस्तु की पर्याय को ही ग्रहण करता है।

५ शब्द नय—यह नय शब्द-प्रधान है। काल, कारक, लिंग, वचन, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थ-भेद करने वाला है। जैसे—'सुमेरु था, सुमेरु है, सुमेरु होगा।' इन शब्दों में

काल भेद से सुमेरु के तीन भेद बन गये। 'घड़े को करता है,' 'घड़ा किया जाता है,'–इस प्रकार कारक भेद से घड़े के भेद होते हैं। पुल्लिंग आदि लिंग भेद, एक वचनादि वचन भेद और इस प्रकार अन्य शब्द-भेद से अर्थ-भेद व्यक्त करने वाला शब्द नय है।

ऋजुसूत्र नय शब्द भेद की उपेक्षा करता है। वह कहता है कि 'शब्द भेद भले ही हो, उससे वाच्य पदार्थ में भेद नहीं होता। इसलिए वह शब्द की उपेक्षा करता है, किन्तु शब्द नय काल आदि भेद से अर्थ-भेद मान कर तदनुसार ग्रहण करता है। यदि काल, लिंग और वचनादि भेद नहीं हो, तो यह नय, भिन्न अर्थ होने पर भी शब्द के भेद नहीं करता, जैसे–'इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, इन तीनों शब्दों का वाचक, विना काल, लिंग और वचनादि भेद के 'प्रथम स्वर्ग का इन्द्र' ही होता है। इसलिए यह नय एकार्थवाचक भिन्न शब्दों में भेद नहीं करता। यह नय शब्द प्रधान है।

६ समभिरूढ़ नय–यह शब्द नय से भी सूक्ष्म है। शब्द नय अनेक पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ मानता है, उनमें भेद नहीं करता है, तब समभिरूढ़ नय पर्यायवाची शब्द के भेद से अर्थ-भेद मानता है। इसके अभिप्राय से कोई भी दो शब्द, एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। जैसे–इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं, फिर भी इनके अर्थ में अन्तर है। 'इन्द्र' शब्द से 'ऐश्वर्यशाली' का बोध होता है और 'पुरन्दर' शब्द से 'पुरों अर्थात् नगरों का नाश करने वाले' का ग्रहण होता हैं। दोनों शब्दों का आधार एक होते हुए भी अर्थ भिन्नता है ही। प्रत्येक शब्द का अर्थ, मूल में तो अपना पृथक् अर्थ ही रखता है, किन्तु कालान्तर में व्यक्ति या समूह द्वारा प्रयुक्त होते-होते वह पर्यायवाची बन जाता है। यह नय शब्दों के मूल अर्थों को ग्रहण करता है–प्रचलित अर्थ को नहीं। इस प्रकार अर्थ भिन्नता को मुख्यता दे कर समभिरूढ़ नय अपना अभिप्राय व्यक्त करता है।

७ एवंभूत नय–शब्दों की स्वप्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही उनका वाच्य मानने वाला नय 'एवंभूत' नय है। यह नय, पूर्व के सभी नयों से अत्यन्त सूक्ष्म है।

समभिरूढ़ नय, शब्द के अनुसार अर्थ को ही स्वीकार करता है, तब एवंभूत नय कहता है कि 'खाली अर्थ को स्वीकार कर लेने से ही क्या होता है। जब इन्द्र ऐश्वर्य का भोग नहीं करके नगरों का नाश कर रहा हो, तब उसमें इन्द्रपना है ही कहां? उस समय उसमें इन्दन क्रिया नहीं होने से उसे इन्द्र मानना व्यर्थ ही है और जिस समय वह ऐश्वर्य भोग कर रहा हो, उस समय उसे 'पुरन्दर' मानना व्यर्थ है।' यह नय खाली घड़े को 'घट' नहीं मानना, किन्तु जब वह अपना कार्य कर रहा हो अर्थात् जल धारण कर रहा हो, तभी घट मानता है। इस नय में उपयोग युक्त क्रिया ही प्रधान है। यह वस्तु की पूर्णता को ही ग्रहण करता है। यदि उसमें कुछ भी खामी हो–एक अंश में भी न्यूनता हो, तो वह वस्तु, इस नय के विषय से बाहर रहती है। (स्थानांग ७ अनुयोगद्वार)

नय के निश्चय और व्यवहार–ये दो भेद भी होते हैं। निश्चय नय वस्तु की शुद्ध दशा को बतलाता है और व्यवहार नय अशुद्ध–संयोगजन्य दशा का प्रतिपादन करता है। यद्यपि व्यवहार नय दूसरी वस्तुओं के निमित्त से वस्तु को दूसरे ही रूप में बतलाता है, फिर भी वह असत्य नहीं है। जैसे कि हम व्यवहार में घृत से भरे हुए घड़े को 'घी का घड़ा' कहते हैं, किन्तु वस्तुत: घड़ा तो मिट्टी, तांबा या पीतल का बना होता है, घी का नहीं। इसलिए निश्चय नय के अनुसार घी का घड़ा नहीं है। व्यवहार नय उसे घी का घड़ा कहता है, वह इसलिए असत्य नहीं है कि उस घड़े का सम्बन्ध घृत से है–उसमें घी भरा हुआ है या घी भरा जाता है। तात्पर्य यह कि निश्चय नय वस्तु के मूल स्वरूप को ही ग्रहण करता है, निमित्त को नहीं और व्यवहार नय निमित्त अवस्था को ग्रहण करता है। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनो सत्य है। यदि एक दूसरे का विरोध करे, तो दोनों मिथ्या नय–कुनय बन जाते हैं। भाषा के भेद में सत्य और व्यवहार भाषा को सत्य रूप ही माना है और स्थानांग १० में व्यवहार को भी सत्य कहा है। व्यवहार नय में पर-दृष्टि मुख्य है, तब निश्चय नय में स्वदृष्टि ही है। नैगमादि तीन नय निमित्तग्राही हैं। सबसे विशेष अशुद्ध दशा नैगमनय की है। तब ऋजुसूत्रादि चार नय निश्चय-लक्षी हैं और एवंभूत नय परम विशुद्ध दशा का ग्राहक है। व्यवहार नय गुड़ को मीठा कहता है, किन्तु निश्चय नय उसमें पांचों रस मानता है। व्यवहार नय की अपेक्षा भौंरा काला और पोपट हरा है, किन्तु निश्चय नय इनमें पांचों वर्ण मानता है। अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनों सत्य है।

(भगवती १८–६)

व्यवहार भाष्य गा. ४७ में बताया है कि 'आदि के तीन नय अशुद्ध और बाद के चार नय शुद्ध हैं। वैनायिक मिथ्यादृष्टि आदि के तीन नय अपनाते हैं। वास्तव में किसी भी नय का एकान्त ग्रहण मिथ्यात्व युक्त होता है। जो एकान्त व्यवहार को पकड़ कर निश्चय का विरोध करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं और उसी प्रकार वे भी मिथ्यादृष्टि हैं जो एकान्त निश्चय को पकड़ कर व्यवहार का खण्डन करते हैं। निश्चय का लक्ष रख कर तदनुकूल व्यवहार के आश्रय से उन्नत होना और विशुद्ध दशा को प्राप्त करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है।

सप्तभंगी

अनेकान्तवाद का पहला रूप सप्तनय है, तो दूसरा है सप्तभंगी, जिसे 'स्याद्वाद' भी कहते हैं। सप्तनय में वस्तु की अपनी अपेक्षा से स्वरूप समझना मुख्य है, तव सप्तभंगी में स्वपर–उभय अपेक्षा से वस्तु को समझा जाता है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म रहे हुए हैं। सर्वज्ञों के ज्ञान में प्रत्येक वस्तु अपने में अनन्त धर्म रखती है। उसका परिचय भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से होता है। जैन दर्शन ने वस्तु स्वरूप समझने के लिए स्याद्वाद की दृष्टि प्रदान की है। इस दृष्टि से वस्तु का पूर्ण स्वरूप समझ में आ जाता है।

स्याद्वाद के मूल भंग तो दो हैं–१ स्याद् अस्ति=कथंचित् है. और २ स्यान्नास्ति=कथंचित् नहीं है। अर्थात् अपेक्षा भेद से अस्तित्व नास्तित्व वताने वाले दो भंग हैं, जैसे–जीव कथंचित् शाश्वत है और कथंचित् अशाश्वत है'। (भगवती ७–२) तथा लोक, क्षेत्र की अपेक्षा अन्त सहित है और काल की अपेक्षा अन्त रहित है,' आदि। इसमें लोक की सान्तता. अनन्तता की अस्ति नास्ति स्वीकार की गई है। इन दो भेदों के अतिरिक्त तीसरा 'अवक्तव्य' भंग भी मूल ही है, किन्तु यह उपरोक्त दोनों भंगों की अपेक्षा रखता है। 'स्याद् अवक्तव्य' भंग यह वताता है कि–अस्ति नास्ति भी पूर्ण रूप से नहीं कही जा सकती। वस्तु की कुछ ऐसी अवस्था भी होती है कि जिसका वर्णन कर सकना अशक्य होता है। आचारांग १–५ में लिखा है कि 'मुक्तात्मा का स्वरूप वताने में शब्द की भी शक्ति नहीं है।' इन तीन भंगों से दूसरे चार भंग उत्पन्न हुए, जिससे यह सप्तभंगी कहलाई। वे सात भंग इस प्रकार हैं।

१ **स्याद् अस्ति**–कथंचित् है।

२ **स्याद् नास्ति**–कथंचित नहीं है।

३ **स्याद् अस्ति नास्ति**–कथंचित् है और नहीं भी है।

४ **स्याद् अवक्तव्य**–कथंचित् कहा नहीं जा सकता।

५ **स्याद अस्ति अवक्तव्य**–कथंचित् है, पर कहा नहीं जा सकता।

६ **स्याद् नास्ति अवक्तव्य**–कथंचित् नहीं है, पर कहा नहीं जा सकता।

७ **स्याद् अस्तिनास्ति अवक्तव्य**–कथंचित है, नहीं है, फिर भी कहा नहीं जा सकता।

इन सात भंगों को ही 'सप्तभंगी' कहते हैं। प्रत्येक वस्तु पर सप्तभंगी लागू हो सकती है। जैसे–

१ जीव की जीव के रूप में अस्ति है।

२ जीव में जड़ की अपेक्षा नास्ति है, क्योंकि वह जड़ नहीं है।

३ इन दोनों भंगों के मिलने से तीसरा (मिश्रित) भंग बना अर्थात् 'जीव जीव है, जड़ नहीं है'।

४ 'जीव है, वह जड़ नहीं है,'–यह बात एक साथ नहीं कही जा सकती, क्योंकि जिस समय अस्तित्व कहा जाता है, उस समय नास्तित्व नहीं कहा जाता और जिस समय नास्तित्व कहा जाता है उस समय अस्तित्व नहीं कहा जाता। एक ही वस्तु कही जाती है और दूसरी रह जाती है। इसलिए 'अवक्तव्य' नाम का भेद हुआ।

५ जीव है, फिर भी कहा नहीं जा सकता। यह भंग बताता है कि जीव अनन्त धर्मों का भण्डार है। उन सभी धर्मों को बतानेवाले न तो पूरे शब्द हैं और न कह सकने की शक्ति ही है। थोड़े कहे जाते हैं, और बहुत-से रह जाते हैं। कितने ही गुण ऐसे हैं, जो अनुभव तो किए जाते हैं, किन्तु कहने में नहीं आते। जैसे 'घृत' के स्वाद का अनुभव तो होता है, किन्तु उसका स्वाद शब्द द्वारा बताया नहीं जाता, न मानसिक सुख-दुःख आदि का पूरा वर्णन किया जा सकता है। इसलिए अस्तित्व के अवक्तव्य को बताने वाला यह पाँचवाँ भेद है।

६ इसी प्रकार जीव की, जड़ की अपेक्षा नास्ति भी सम्पूर्ण रूप से नहीं कही जा सकती।

७ अस्ति नास्ति भी एक समय में एक साथ नहीं कही जा सकती।

अस्ति और नास्ति ये दो परस्पर विरोधी धर्म हैं। विरोधी धर्म, एक वस्तु में कैसे रह सकते हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु ऊपर बताये अनुसार अपेक्षा भेद से दोनों विरोधी धर्म, एक वस्तु में घटित हो सकते हैं।

प्रत्येक वस्तु की 'स्व-चतुष्ट्य' (अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा अस्ति है और 'पर-चतुष्ट्य' की अपेक्षा नास्ति है। जैसे–१ द्रव्य से–जीव, जीवद्रव्य रूप से अस्तित्व रखता है, २ क्षेत्र से–वह असंख्यात प्रदेश वाला और असंख्य आकाश प्रदेश में रहा है, ३ काल से–जीव भूतकाल में भी था, वर्त्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा और जीव का जीवत्व रूप है–परिणमन, पर्याय परिवर्त्तन, विविध पर्यायों की वर्त्तना, गति, जाति, आयु, स्थिति आदि का प्रारम्भ, मध्य और अन्तकाल, सिद्धों का 'प्रथम समय सिद्ध, अप्रथम समय सिद्ध, सादि सपर्यवसित, सादि अपर्यवसित आदि जीव की स्वकाल की अपेक्षा अस्ति है और ४ भाव से–जीव की अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द अथवा औदयिकादि छः भाव से अस्ति है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की स्व द्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति और पर द्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति है।

एक वस्तु में दूसरी अनेक दृष्टियों से अनेक प्रकार का अस्तित्व नास्तित्व रह सकता है। जैसे एक व्यक्ति पूर्व में भी है, पश्चिम में भी है, उत्तर में भी है और दक्षिण में भी है। जो उसके पीछे खड़ा है, उसकी अपेक्षा वह पूर्व में है और जो आगे खड़ा है उसकी अपेक्षा पश्चिम में है। दाहिनी ओर खड़े व्यक्ति की अपेक्षा उत्तर में और बायीं ओर खड़े व्यक्ति की अपेक्षा दक्षिण में है। पर्वत पर खड़े व्यक्ति की अपेक्षा नीचे, कूएँ या खदान वाले की अपेक्षा ऊर्ध्व-दिशा में और समभूमि पर तिर्छी दिशा में माना जाता है। ये सभी अपेक्षाएँ भिन्न दृष्टियों से सही है।

एक व्यक्ति स्वयं बेटा भी है, बाप भी है, काका, मामा, भानजा, भतीजा, भाई, ससुर, साला, जमाई, पति, बहनोई, फूफा आदि अनेक सम्बन्ध रखता है और सभी सम्बन्ध अपेक्षा-भेद से सत्य है, अस्तियुक्त है। किन्तु ये ही अपेक्षा-भेद से नास्ति रूप बन जाते हैं, जैसे—वह अपने बाप की अपेक्षा बेटा है, किन्तु पुत्र की अपेक्षा नहीं। मामा की अपेक्षा भानजा है, काका की अपेक्षा नहीं। इस प्रकार अपेक्षा भेद से प्रत्येक वस्तु अस्ति नास्ति युक्त सिद्ध होती है।

धर्मास्तिकाय अरूपी ही है और चलन गुण युक्त ही है, वह रूपी और स्थिर गुण वाला नहीं है। इसमें अस्ति भी निश्चित है और नास्ति भी निश्चित है। दोनों दृष्टियां भिन्न होने से अनेकान्त है और यही सम्यग् एकान्त भी है, क्योंकि धर्मास्तिकाय में अरूपी और चलन-सहाय गुण का निश्चित रूप से स्थापन और रूप तथा स्थिरत्व गुण का निषेध कर रहा है, जो सत्य ही है।

जीव, ज्ञान गुण युक्त है। जड़ में न तो ज्ञान है, न वह आत्मा ही है। जीव कभी भी जीवत्व का त्याग कर सम्पूर्ण जड़ रूप नहीं बन सकता और जड़ कभी जीव नहीं बन सकता। मोक्ष अक्षय अनन्त सुखों का भण्डार है, वहाँ दुःख का लेश भी नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तवाद, सत्य निर्णय देने वाला, सम्यग् एकान्त से युक्त है। हाँ, इसमें मिथ्या एकान्त को स्थान नहीं है।

वास्तव में वस्तु को सही रूप में विभिन्न दृष्टियों से समझाने के लिए अनेकान्त एक उत्तमोत्तम सिद्धांत है। इसे संशयवाद कहना भूल है और इसका दुरुपयोग करना मिथ्यात्व है। आजकल अनेकान्त का दुरुपयोग करके भ्रम फैलाया जा रहा है। यह मिथ्या प्रयत्न है।

अनेकान्तवाद वस्तु को विविध अपेक्षाओं से जानने के लिए उपयोगी है, किन्तु आचरण में अनेक दृष्टियाँ नहीं रहती। वहाँ तो एक लक्ष्य, एक पथ, एक साधना, एक आराध्य और एकाग्रता ही कार्य साधक बनेगी। यदि संयम पालन में एक लक्ष नहीं रहा और आचरण में अनेकान्तता अपनाई, तो लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अनेकान्त के नाम पर मिथ्यात्व, अविरति असाधुता और ध्येय की विपरीतता नहीं चलाई जा सकती। हेय, हेय है और उपादेय, उपादेय है। अनेकान्त के नाम पर हेय को उपादेय बताने वाले के विचार स्वीकार करने के योग्य नहीं है। एक की आराधना ही सफलता प्राप्त

करवाती है। गुणस्थानों को चढ़ कर और श्रेणि का आरोहण कर, वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तथा सिद्ध दशा वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जो अपने ध्येय में दृढ़–निश्चल–कट्टर रह कर प्रगति करते हैं।

अनेकान्त के नाम पर "सर्व धर्म समभाव" का प्रचार करने वाले स्वयं भ्रम में हैं। वास्तव में मोक्षार्थियों के लिए–सम्यग्दृष्टियों के लिए जिनेश्वर भगवंत का मार्ग ही उपादेय है। इसी मार्ग से शाश्वत सुखों की प्राप्ति हो सकती है, अन्य मार्गों से नहीं। इसमें भी सम्यग् अनेकान्त रहा हुआ है। जैसे–जिनमार्ग में धर्म की अस्ति, अधर्म की नास्ति, उत्थान की अस्ति, पतन की नास्ति, इत्यादि। इस प्रकार सम्यग् रूप से अनेकान्त का उपयोग कर जीवन को उन्नत बनाना चाहिए।

अन्नाण संमोह तमोहरस्स, नमो नमो नाणदिवायरस्स

नमो नमो नाण दिवायरस्स

मोक्ष मार्ग

तृतीय खण्ड

×××

अगार धर्म

ज्ञानधर्म और दर्शनधर्म युगपत् होते हैं। जहाँ ज्ञान धर्म है, वहाँ दर्शनधर्म भी होता है और जहाँ दर्शनधर्म है, वहाँ ज्ञानधर्म भी होता है। प्ररूपणात्मक ज्ञान तो कभी मिथ्यादृष्टि में भी हो सकता है। उसके द्वारा वह सामान्य लोगों को सम्यक्त्वी दिखाई देता है और वह दूसरों में सम्यक्त्व जगा भी सकता है। इस कारण वह दीपक–प्रकाशक सम्यक्त्वी माना जाता है। किन्तु वह प्रकाश केवल दूसरों को प्रभावित करने वाला ही होता है, खुद तो उससे शून्य ही है। 'दीपक तले अन्धेरा'–इस उक्ति के अनुसार खुद में अन्धकार रहता है। हमारे जैसे छद्मस्थों की दृष्टि में ऐसा प्रचारक, सम्यक्त्वी लग सकता है, किन्तु सर्वज्ञों के ज्ञान से तो वह मिथ्यात्वी ही होता है। उसे दर्शनधर्म का आराधक नहीं माना जाता और जो दर्शनधर्म का आराधक नहीं है, वह ज्ञानधर्म का भी आराधक नहीं है। श्रद्धा के अभाव में उसका ज्ञान, मात्र "विपय प्रतिभास" ज्ञान ही माना जाता है। जिससे वह विपय का प्रतिपादन कर सके। इस प्रकार का विपय प्रतिभास ज्ञानवाला वस्तुतः मिथ्यादृष्टि ही है। जव तक उस ज्ञान के साथ श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं होती, तव तक वह "आत्म-परिणत" ज्ञान नहीं होता और जव तक आत्म-परिणत ज्ञान नहीं होता, तव तक दर्शन-श्रावक भी नहीं हो सकता।

मार्गानुसारी के ३५ गुण

सैद्धांतिक दृष्टि से अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्र मोहनीय कर्म का उदय साधारण भी होता है और जोरदार भी। जिसके कारण वह किसी प्रकार का त्याग नहीं कर सकता और मिथ्यात्व के सिवाय उसकी सभी वृत्तियाँ खुली रहती है।

साधारणतया पूर्वाचार्यों ने सम्यक्त्व प्राप्ति की सुलभता, उन मनुष्यों में मानी है कि जिनका गृहस्थ जीवन अनिन्दनीय हो। इस प्रकार की दशा को 'मार्गानुसारिता' के नाम से बताया गया है। मार्गानुसारी के ३५ गुण इस प्रकार बतये गये हैं–

१ न्याय सम्पन्न विभव–जिसकी आजीविका के साधन न्याय के अनुकूल तथा सच्चाई से युक्त हो।

२ शिष्टाचार प्रशंसक–जिसका आचरण उत्तम लोग करते हैं, उस आचार की प्रशंसा करना। जैसे–लोकापवाद से डरना, दुखियों की सेवा करना। तात्पर्य यह है कि बुरे कर्मों और खोटे रीति-रिवाजों की प्रशंसा करने वाला नहीं होकर उत्तम आचार की प्रशंसा करने वाला हो।

३ समान कुल-शील वाले अन्य गोत्रीय के साथ विवाह सम्बन्ध करने वाला। जिनके आचार विचार और संस्कार ही भिन्न हो, उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने से आगे चल कर क्लेशमय जीवन बन जाता है और खानदानी उत्तम संस्कार बिगड़ कर पतन होने की सम्भावना रहती है।

४ पाप भीरु–पाप जनक कार्यों से डर कर अलग रहने वाला।

५ प्रसिद्ध देशाचार का पालक–खान, पान, वेश-भूषा और भाषा आदि का पालन, अपने देश के उत्तम व्यक्तियों द्वारा मान्य हो वैसा ही करना।

६ अवर्णवाद त्याग–पर निन्दा का त्यागी हो।

७ घर की व्यवस्था–रहने के लिए घर ऐसा हो कि जिसमें चोरों अथवा दुराचारियों का प्रवेश सुगम नहीं हो सके। क्योंकि इससे शांति भंग होने की सम्भावना है। पड़ोस भी भले और उत्तम लोगों का ही होना, घर सम्बन्धी सुरक्षा और आत्मिक सुरक्षा का कारण होता है। नीचजनों के मध्य में रहने से और कुछ नहीं तो साथ खेलने आदि से बाल-बच्चों के संस्कार बिगड़ना अधिक सम्भव हो जाता है।

८ सत्संग–भले और सदाचारियों की संगति करे और दुराचारियों से दूर रहे। सत्पुरुषों की संगति से सम्यक्त्व का प्राप्त होना सरल हो जाता है।

९ माता पिता की सेवा करे। यह सबसे पहला सदाचार है।

१० उपद्रव युक्त स्थान का त्याग करे। जहाँ विग्रह, बलवा अथवा महामारी, दुष्काल आदि की

संभावना हो, जिस स्थान पर युद्ध होने के लक्षण हो, वहाँ से हट कर निरापद स्थान पर चला जाय, जिससे शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत हो सके।

११ घृणित–निन्दनीय कृत्य नहीं करे।

१२ आय के अनुसार व्यय करे, अर्थात् आमदनी से अधिक खर्च नहीं करे। अधिक खर्च करने वाले कर्जदार होकर दुखी हो जाते हैं। इसलिए आमदनी से अधिक खर्च नहीं करे।

१३ अपना वेश, देश काल और अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार रखे।

१४ वुद्धिमान होवे। बुद्धि के नीचे लिखे आठ गुण धारण करे।

१ शुश्रूषा–शास्त्र सुनने की इच्छा।
२ श्रवण–शास्त्र सुने।
३ ग्रहण–अर्थ को समझे।
४ धारणा–स्मृति में रक्खे।
५ ऊह–तर्क करे।
६ अपोह–युक्ति से दूषित ठहरने वाली बात को त्याग दे।
७ अर्थविज्ञान–ऊह और अपोह द्वारा ज्ञान के विषय में हुए मोह अथवा सन्देह को दूर करे।
८ तत्त्वज्ञान–निश्चयात्मक ज्ञान करे।

उपरोक्त गुणों से विकसित वुद्धिवाला अकार्य से वंचित रह कर सदाचार में लगता है।

१५ प्रतिदिन धर्म श्रवण करे, क्योंकि धर्म श्रवण से ही उस पर श्रद्धा होकर सम्यक्त्व प्राप्त होती है।

१६ अजीर्ण होने पर भोजन नहीं करे, क्योंकि इससे रोग बढ़ते है और रोगी व्यक्ति का धर्म में रुचि रखना और सत्संगति आदि करना कठिन हो जाता है।

१७ यथा समय भोजन करे। समय चुका कर भोजन करने से भी मन्दाग्नि आदि रोग हो जाते हैं। भूख से अधिक भोजन भी नहीं करे, क्योंकि यह अजीर्ण का कारण होता है।

१८ अवाधित त्रिवर्ग साधन–अर्थ और काम की इस प्रकार साधना नहीं करे, जिससे कि धर्म वाधित हो। एकान्त काम साधना से तन, धन और धर्म नष्ट होकर दुखी जीवन बिताना पड़ता है। एकान्त अर्थ साधना करने से, धर्म का नाश होता है और काम का भी और अर्थ तथा काम को त्याग-कर एकान्त धर्म साधना करना सर्वोत्तम होते हुए भी अनगार भगवंतों के अथवा ब्रह्मचारी श्रावक के

योग्य है, यह स्थिति मार्गानुसारी से ऊपर की है। यदि तीन में से एक का त्याग करना पड़े तो काम को त्याग दे, अर्थ के सेवन में कमी करे और धर्म का सेवन करे। यदि दो का त्याग करना पड़े, तो काम और अर्थ का त्याग कर दे और धर्म का सेवन करे, क्योंकि वास्तविक धन तो धर्म ही है।

१९ साधु और दीन अनाथों को दान दे। अभय, सुपात्र और अनुकम्पा दान करना गृहस्थ का धर्म है।

२० दुराग्रह से रहित होना। अपना खोटा आग्रह चला कर दूसरों को अपमानित करने का प्रयत्न करना-दुराचार है। इसलिए खोटी बातों का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

२१ गुण पक्षपात-गुणवानों, सदाचारियों, धर्मीजनों और सज्जनों तथा अहिंसा, सत्यादि सद्गुणों का पक्ष करने वाला हो।

२२ निषिद्ध देशादि में नहीं जावे। जहां जाने से अपने सदाचार की सुरक्षा नहीं होती हो, जिस दशा में जाने से अपनी शान्ति और सदाचार का भंग हो, वहाँ नहीं जाना।

२३ अपनी शक्ति को तोल कर कार्य में प्रवृत्ति करे। यदि शक्ति से बाहर और सामर्थ्य से अधिक कार्य करना प्रारम्भ कर दिया और सफलता नहीं मिली, तो अशान्ति का कारण खड़ा हो जाता है।

२४ वृत्तस्थ ज्ञानवृद्धों की पूजा-दुराचार का त्याग करके सदाचार का पालन करने वाले, 'वृत्तस्थ' कहलाते हैं। ऐसे महात्माओं, ज्ञानियों और अनुभवियों की सेवा-भक्ति और विनय करना चाहिए।

२५ पोष्य पोषक-माता, पिता, पत्नी, पुत्रादि और आश्रितजनों का पोषण करना, उन्हें आवश्यक वस्तुएँ देना।

२६ दीर्घदर्शी-दूरदर्शिता पूर्वक भावी हानि-लाभ का विचार करके कार्य करना।

२७ विशेषज्ञ अपना ज्ञान बढ़ा कर कार्य, अकार्य एवं हेय उपादेय के विषय में अनुभव बढ़ाना चाहिए।

२८ कृतज्ञ-अपने पर किये हुए उपकारों को सदा याद रख कर उनका आभार मानते रहना चाहिए।

२९ लोकवल्लभ-विनय, सेवा, सहायतादि से लोकप्रिय होना चाहिए।

३० लज्जाशील-लज्जावान होना चाहिए। जिसमें लज्जा गुण होता है, वह अनेक प्रकार की बुराई से बच कर धर्म के संमुख हो सकता है।

३१ सदय-दुखी प्राणियों के दुःख देख कर हृदय का कोमल होना और उनके दुःख दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना।

३२ सौम्य–सदैव शान्त स्वभाव और प्रसन्न रहे। क्रूरता को अपने पास भी नहीं आने दे।

३३ परोपकार कर्मठ–दूसरों की भलाई करने में सदैव तत्पर रहे।

३४ क्रोध, लोभ, मद, मान, काम और हर्ष–इन छः अन्तरंग शत्रुओं का यथासम्भव त्याग करे।

३५ इन्द्रिय जय–इन्द्रियों पर यथाशक्ति अंकुश रखे। (योगशास्त्र प्रकाश १)

उपरोक्त ३५ गुण मार्गानुसारी के कहे गये हैं। ये प्रायः सुखी गृहस्थ के लिए आवश्यक है। इनमें बहुत-से गुण तो ऐसे हैं जो सम्यक्त्व के लिए भूमिका तैयार करने वाले हैं और कुछ सम्यक्त्वी अवस्था के। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जिनमें ये अथवा इनमें से अमुक गुण विद्यमान नहीं हो, वह सम्यक्त्व के योग्य हो ही नहीं सकता। क्योंकि थोड़ी देर पहले जो क्रूर, हत्यारा और महान् पापी था, वह भी अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यग्दृष्टि हो गया। जो महान् क्रूर कर्म करके और परम कृष्ण लेश्या के उदय से सातवीं नरक में गया, वह भी उत्पत्ति के अन्तर्मुहूर्त बाद–पर्याप्त होने के बाद–सम्यग्दृष्टि हो सकता है। किन्तु मनुष्यों को अपनी परिणति सुधार कर उत्थान करना हो, तो उसे उपरोक्त गुणों को अपने हृदय में टटोल कर देखना चाहिए कि मुझ में दर्शन-श्रावक बनने की योग्यता रूप मार्गानुसारी के गुण हैं या नहीं? यदि नहीं हो, तो प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और हों तो उनमें सम्यक्त्व रत्न को दृढ़तापूर्वक धारण करना चाहिए।

दर्शन श्रावक

दर्शन-श्रावक भी वही हो सकता है कि जिसकी निर्ग्रंथ-प्रवचन में पूर्ण श्रद्धा हो। वह हृदय से मानता हो कि–

"निर्ग्रंथ-प्रवचन ही सत्य है, सर्वोत्तम है, प्रतिपूर्ण है, न्याय युक्त है, शुद्ध है, शल्य को दूर करने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है और समस्त दुखों का अन्त करके परम सुख को प्राप्त करने का मार्ग है। इस निर्ग्रंथ-प्रवचन में रहा हुआ जीव, आत्मा से परमात्मा बन जाता है। मैं इस धर्म की श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता हूँ।" (भगवती ९-३३, आवश्यक तथा उववाई)

"जिनेश्वर भगवान् ने जो कुछ कहा है वह सब सत्य है। उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।" (आचारांग १–५–५ तथा भगवती १–३)

"अरिहंत भगवान् ही मेरे आराध्य देव हैं। निर्ग्रंथ श्रमण मेरे गुरु हैं और जिनेश्वर भगवंत का उपदेश किया हुआ तत्त्व ही मेरे लिए धर्म है। मेरा इन पर दृढ़ विश्वास है।" (आवश्यक सूत्र)

वह मानता है कि–

"आत्मा के लिए अरिहंत, सिद्ध, निर्ग्रंथ-साधु और धर्म ही मंगल रूप है। संसार के उत्तमोत्तम विशिष्ट पदों में, ये चार पद ही सर्वोत्तम हैं। संसार के सातों भयों से भयभीत बने हुए जीवों के लिए शान्ति एवं निर्भयता प्राप्त करने रूप आश्रय स्थान, ये अरिहंतादि चार ही हैं। इनका शरण ही जीवों को परम शान्ति प्रदान कर सकता है।" (आवश्यक सूत्र)

सम्यक्त्वी की षड्द्रव्य, नौतत्त्व और ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्षमार्ग में पूर्ण श्रद्धा होती है। (उत्तराध्ययन २८)

अविरत सम्यग्दृष्टि-दर्शन-श्रावक का गुणस्थान तो चौथा होता है, किन्तु इसमें परिणति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। कोई जघन्य दर्शन आराधना वाले होते हैं, तो कोई मध्यम और कोई उत्कृष्ट। प्रत्येक भेद में भी तरमता लिए हुए जीव होते हैं। सम्यक्त्व रूपी रत्न, अपने-आप में है तो एक ही प्रकार का (क्षायिक सम्यक्त्व) किन्तु पात्र-भेद से अथवा अवस्था भेद से, इसके तीन भेद किये हैं,-१ उपशम, २ क्षयोपशम और ३ क्षायिक। पूर्व के दो भेद, पात्र की कुछ मलीन अवस्था के कारण हुए हैं। जिस व्यक्ति का मिथ्यात्व, अन्तर्मुहूर्त के लिए एक दम दब गया हो-वह उपशम सम्यक्त्व वाला होता है और जिसका मेल प्रदेशोदय में ही रह कर रसोदय दब गया हो, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वामी होता है। उपशम और क्षायिक सम्यक्त्वी जीव, परिणति में समान ही होते हैं। उदयापेक्षा किसी में कोई तरतमता नहीं होती, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में वर्त्तमान जीवों की परिणति प्रत्येक की भिन्न प्रकार की होती है। क्षायिक सम्यक्त्वी, तो दर्शन के उत्कृष्ट आराधक ही होते हैं, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट-ऐसे तीन भेद हैं।

श्री भगवती सूत्र ८-१० में लिखा है कि उत्कृष्ट दर्शन आराधना वाला या तो उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, यदि उस भव में मुक्ति प्राप्त नहीं करे, तो दो भव करके तीसरे भव में तो अवश्य मुक्ति पा सकता है। मध्यम आराधना वाले जीव, उस भव में तो सिद्ध नहीं होते, किन्तु तीसरे भव में सिद्ध हो जाते हैं और जघन्य आराधना वाले यदि जल्दी सिद्ध हों तो तीसरे-मनुष्य-भव में अर्थात् पाँचवें भव में, अन्यथा अधिक से अधिक पन्द्रह भव कर के सिद्ध हो सकते हैं।

दर्शनश्रावक के किसी प्रकार की विरति नहीं होती, किन्तु यह दर्शन गुण, चारित्र गुण को प्राप्त करवा कर उन्नत कर देता है। दर्शनश्रावक का सबसे प्रथम और महत्व पूर्ण कर्त्तव्य यह होता है कि वह अपने दर्शन-रत्न को सुरक्षित रख कर मिथ्यात्व से बचाता रहे। यदि दर्शन गुण सुरक्षित रहा, तो दुर्गति का कारण नहीं रह कर अधिक से अधिक पन्द्रह भव में मुक्ति दिला ही देगा। यदि सम्यक्त्व रत्न को गँवा दिया, तो इसका पुनः प्राप्त करना कठिन हो जायगा। भाग्य प्रबल हो, तो पुनः अन्तर्मुहूर्त में ही प्राप्त हो सकता है और दुर्भाग्य में वृद्धि होती रहे, तो अनन्त भव-भ्रमण रूप देशोन अर्ध पुद्गल-परावर्तन तक जन्म-मरणादि के महान् दुखों को भुगतना पड़ता है।

दर्शन-सम्यक्त्व की उत्कृष्ट आराधना करने वाले दर्शन-श्रावक, बिना देश-चारित्र के ही अपूर्व स्थिति को प्राप्त करके तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन कर सकते हैं। श्री कृष्णवासुदेव और मगधेश्वर महाराज श्रेणिक, दर्शन-श्रावक ही थे। किन्तु जिनेश्वर भगवन्त और निर्ग्रन्थ प्रवचन पर अटूट श्रद्धा होने के कारण उन्होंने अविरत अवस्था में ही तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध कर लिया था।

चारित्र-मोहनीय कर्म के प्रगाढ़ उदय से जीव, विरति को आत्मा के लिए उपकारक मानते हुए भी अपने जीवन में उतार नहीं सकता। वह त्याग भावना रखते हुए भी अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से अविरत रहता है, फिर भी दर्शन-विशुद्धि इतनी जोरदार हो जाती है कि जिसके द्वारा अरिहंत, सिद्ध, निर्ग्रंथ-प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत, तपस्वी की सेवा, भक्ति, बहुमान, हित-कामनादि से तथा विशुद्ध श्रद्धान्, श्रुत-भक्ति और प्रवचन-प्रभावना से तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन करके तीसरे भव में तीर्थंकर भगवान् हो जाता है। (ज्ञाता ८)

चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों का है। किन्तु सभी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, 'दर्शन-श्रावक' नहीं कहे जाते, क्योंकि श्रावक तो वही माना जाता है जो निर्ग्रंथ-प्रवचन को सुने। निर्ग्रंथ-प्रवचन सुनने का सौभाग्य, कर्म-भूमि के कुछ मनुष्यों, तिर्यंचों और कुछ देवों को ही मिलता है। नारकों को तो ऐसा योग मिलता ही नहीं, अधिकांश तिर्यंचों और देवों को भी नहीं मिलता। इसलिए वे अविरत सम्यग्दृष्टि तो कहे जा सकते हैं, किन्तु 'दर्शन–श्रावक' नहीं कहे जाते।

अनन्त ज्ञानियों ने साधक भेद से धर्म के भी दो भेद किये हैं–१ अगार चरित्रधर्म और २ अनगार चरित्रधर्म। अनगार चरित्र धर्म, सर्वसाधक निर्ग्रंथ साधु-साध्वियों का है और अगार धर्म, देश-विरत श्रावक-श्राविकाओं का है। अगार धर्म के भी दो भेद हैं,–अविरत सम्यग्दृष्टि का ज्ञान और दर्शन की साधना रूप श्रुतधर्म–जिसमें श्रुत-सामायिक और सम्यक्त्व-सामायिक का पालन होता है। आवश्यक निर्युक्तिकार ने देशविरत श्रमणोपासक के दो भेद इस प्रकार किये हैं;–"**साभिग्गहा य णिरभिग्गहा य ओहेण सावया दुविहा।**"

–अभिग्रह युक्त और अभिग्रह रहित। इस प्रकार श्रावक दो प्रकार के होते हैं। अभिग्रह युक्त= व्रत सहित और अभिग्रह रहित=अविरत सम्यग्दृष्टि।

अविरत सम्यग्दृष्टि भी आस्तिक तो होता ही है। उसके सम्यक् आस्तिकवाद में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती। वह जीव का अस्तित्व, अनादिता, कर्म का कर्त्ता और भोक्तापन तथा मुक्ति और उसके उपाय में श्रद्धा रखता है। षट् द्रव्य, नौ तत्त्व, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, मुक्ति आदि विषयों में विश्वास रखता है। वह सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में दृढ़ विश्वास रखता है। यद्यपि वह विरत नहीं होता, देश-विरत भी नहीं हो सकता, किन्तु विरति में विश्वास रखता है। वह सोचता है कि–मैं पामर हूँ।

मोह के तीव्र उदय से मैं विरत नहीं हो सकता, मेरी इच्छा, विरति के नियन्त्रण में नहीं आ रही है। मैं अभी अपने मोहनीय कर्म के उदय से भोगेच्छा, भोग कामना एवं तृष्णा के बहाव में ही बहता जा रहा हूँ। किन्तु मेरी यह दुर्वृत्ति, मेरे ही लिये दुःखदायक होगी। मैं अपनी ही काली करतूतों से, अपने लिये दुःखदायक सामग्री जुटा रहा हूँ। मैं जानता हुआ भी अन्धा बन रहा हूँ। हा, नाथ! मुझ अधम का निस्तार कैसे होगा?" इस प्रकार उसके मन में कभी-कभी अपनी अविरत दशा पर असंतोष उठता रहता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि की आत्मा में, मोहनीय कर्म की विवेकान्ध बनाने वाली अनन्तानुबन्धी चौक और मिथ्यात्व-मोहनीय का उदय नहीं रहता। इससे उसकी निर्णायक दृष्टि खुली रहती है. परन्तु मोह पर आंशिक नियन्त्रण कर सकने की शक्ति भी उसमें नहीं रहती। वह केवल इतना ही जोर लगा सका कि जिससे उसकी दृष्टि खुली रहे। अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय से वह आंशिक विरत भी नहीं हो सकता। वह विषयासक्त, लोभासक्त, भोगासक्त और आरम्भ-परिग्रह में रत रहता है। यद्यपि कभी-कभी ज्ञपरिज्ञा के चलते विरति के भाव जाग्रत होते हैं, परन्तु वे स्थायी नहीं रह पाते। मोह का झोंका आते ही उसकी वह भावना लुप्त हो कर पुनः आरम्भादि में लग जाती है।

अविरत सम्यग्दृष्टि दशा या देशविरत सर्वविरत दशा की प्राप्ति तो शुभ भावों–प्रशस्त लेश्या में ही होती है, किन्तु स्थिति शुभ और अशुभ लेश्याओं में भी होती है। एक अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, अशुभ लेश्या वाला नारक भी है–कापोत, नील, कृष्ण और महाकृष्ण लेश्या वाला, तो अन्य शुक्ल लेश्या वाला देव भी है। अति आसक्त ऐसे भवनपत्यादि देवेन्द्र और चक्रवर्त्यादि नरेन्द्र भी हैं, तो दूसरी ओर प्रशान्त-मोही अहमेन्द्र भी–सर्वार्थसिद्धि के देव भी और गृहस्थावस्था में रहे हुए द्रव्य जिन भी हैं। इस प्रकार विभिन्न अवस्था के अविरत सम्यग्दृष्टि–चतुर्थगुणस्थानी जीव, यद्यपि जिनधर्मी एवं जिनोपासक कहलाते हैं, तथापि वे हैं बाल कोटि के जीव। उनमें से किन्ही की चर्या और आचरण असम्यग्दृष्टि, अज्ञानी एवं असदाचारी जैसा भी होता है। कई जीव ऐसे भी दिखाई देते हैं कि जिनके आचरण से भी अच्छा आचरण असम्यग्दृष्टि जीवों का होता है। आचरण में उनकी धार्मिकता दिखाई नहीं देती, इसीलिए ज्ञानियों ने उसे "बाल"–अज्ञानी जैसा कहा है।

कोई-कोई विचारक यों कहते हैं कि–"सम्यग्दृष्टि जीव, स्वयं चाह कर पाप नहीं करता, मोहनीय कर्म का उदय उससे पाप-कृत्य करवाता है।" किन्तु ऐसी दशा तो विवशता की स्थिति में हो सकती है, जिसमें व्यक्ति किसी के दबाव में आ कर अनिच्छा से प्रवृत्ति करता है। जब जीव स्वयं इच्छापूर्वक चाह कर अशुभ प्रवृत्ति करता है, उदय के साथ उसकी इच्छा, रुचि और लगन भी प्रवृत्ति में लगी हुई है, तब यह कैसे माना जाय कि वह खुद तो पाप नहीं करता, परन्तु उदयभाव उससे पाप

करवाता है ?

कई अविरत श्रावक ऐसे भी होते हैं कि जो त्रस जीवों की हिंसा चाह कर नहीं करते, फिर भी विरत नहीं बनते। कई भावावेग में विरत बन जाते हैं, तो बाद में विरति को बन्धन रूप मान कर अपने-आपको बन्दी समझने लगते हैं। यह उनके अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय का जोर है।

इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि अवस्था भी आचरण की दृष्टि से असम्यग्दृष्टि के समान बाल अवस्था है, फिर भी उसका सम्यग्दर्शन उसके लिए हितकारी है। वह श्रुतधर्मी, श्रुत सामायिक और सम्यक्त्व सामायिक का धारक है। उसको प्राप्त श्रुतधर्म, दुर्गति के द्वार बन्द कर देता है। सम्यक्त्व अवस्था में उस मनुष्य या तिर्यंच के नरक, तिर्यंच, मनुष्य, भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी के आयुष्य तथा स्त्री वेद और नपुंसकवेद का बन्ध नहीं होता और एक मात्र वैमानिक जाति के देव का आयुष्य ही बँधता है। यदि आत्मा, सम्यक्त्व के अवलम्बन का त्याग नहीं करे और उसे निरन्तर पुष्ट एवं दृढ़ बनाता रहे, तो वह सम्यग्दर्शन, अप्रत्याख्यानी कषाय का अन्त करके, सम्यक् चारित्र की प्राप्ति करा देता है और क्रमशः परमात्म दशा को प्राप्त हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि भी एक महान् उपलब्धि है। इसका साधक, अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। अपतित सम्यग्दृष्टि, जघन्य तीन और उत्कृष्ट पन्द्रह भव करके मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

किसी एक जीव को भी सम्यक्त्व प्राप्ति में सहायक बनने वाला धर्मात्मा, कितना उपकारी होता है, यह श्री हरिभद्राचार्य के शब्दों में पढ़िये;—

"**सयलमवि जीवलोए, तेण इह घोसिओ अमाघाओ।**
इक्क पि जो दुहत्तं, सत्तं बोहेइ जिणवयणे ॥९२॥
सम्मत्तदायगाणं, दुप्पडियारं भवेसु बहुएसु।
सव्वगुणमीलियाहि वि, उवयारसहस्सकोडिहिं ॥९३॥

—जो भव्यात्मा किसी एक भी दुःखार्त जीव को, श्री जिन-प्रवचन में प्रतिबोधित करे, तो उस जीव ने समस्त जीवलोक में अमारि-घोषणा करवाने का कार्य किया है—ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि वह प्रतिबोधित जीव, पूर्ण अहिंसक बन कर समस्त जीवों को अभयदान देने वाला होता है।

बहुत-से भवों में, समस्त गुणों से युक्त ऐसे करोड़ों (हजारों करोड़) प्रकार के उपकार करने पर भी, सम्यक्त्व प्राप्त कराने वाले परमोपकारी के उस परमोपकार का प्रत्युपकार होना अत्यंत कठिन है।

सम्यक्त्व दान, समस्त उपकारों में महान् उपकार है। यह भाव अभय-शाश्वत जीवन, परमानन्दमय अनन्त जीवन का दान है। इससे बढ़ कर कोई उपकार नहीं हो सकता। सभी प्रकार के दान,

सभी प्रकार की सेवा और सभी प्रकार के उपकार, सम्यक्त्व दान के करोड़वें अंश में भी नहीं आ सकते।

"लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुयत्तणं न संदेहो ।
एगं नवरि न लब्भइ, दुल्लहरयणं च सम्मत्तं ॥१०१॥"

—करोड़ों देवों का स्वामित्व—इन्द्र पद प्राप्त करना सरल है और प्रभुत्व प्राप्त करना भी सहज है, किन्तु एक सम्यक्त्व रूपी दुर्लभ रत्न ऐसा है कि जिसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

(सम्बोधप्रकरण, सम्यक्त्वाधिकार)

इतना दुर्लभ्य रत्न, जो अनादि काल से प्राप्त नहीं हो सका, वह जिस भव्यात्मा को प्राप्त हो जाय, वह कितना भाग्यशाली है ? फिर उसे किस बात की कमी है ? वह तो राजाधिराज, सम्राट और इन्द्र से भी उत्तमोतम श्रीमन्त है। अपनी इस अपूर्व सम्पदा के बल से वह भविष्य में परमात्म-पद प्राप्त करने वाला लोकोत्तम जीव है।

सम्यक्त्व-सामायिक=श्रुतधर्म से सन्मार्ग का दर्शन मात्र होता है और उस पर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है, आचरण नहीं होता। वह अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का त्यागी होता है और कुदेवादि से भी विरत रहता है। इसका सम्बन्ध सम्यक्त्व से है। किन्तु अन्य सतरह प्रकार के पाप से विरत नहीं रहता। चाहता हुआ भी वह उदय के प्रभाव से विरत नहीं बन सकता। अपनी आरम्भ-परिग्रह और भोग-विलास की इच्छा को नियन्त्रित नहीं कर सकता। उसकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी होती है—जो अपने सही अभिप्राय को भी कार्यान्वित करने में बड़ा कमजोर होता है। कोई-कोई आत्मा इतनी सामर्थ्यवान् होती है कि किसी टेक पर अड़ कर प्राणों को भी दाँव पर लगा देती है। परन्तु आत्मोत्थान के लिए किसी एक व्रत का भी पालन नहीं कर सकती। सभी वासुदेव, युद्ध में निडर एवं अडिग रह कर डट जाते हैं। परंतु जब विरति का प्रसंग आता है, तो वे अपने को असमर्थ पाते हैं। भौतिक हित के लिए तेले का कठोर तप करके देवाराधना में जुट जाते हैं, विद्या साधने के लिए वे दृढ़ आसन जमा कर ध्यानारूढ़ हो जाते हैं, प्राप्त उपसर्गों को धैर्यपूर्वक सहन कर सकते हैं, किंतु आत्म-हित के लिए आंशिक रूप में भी विरत नहीं हो सकते।

सुदर्शन सेठ, प्रभु महावीर के दर्शन-वन्दन की उत्कण्ठा में, मुद्गरपाणी यक्ष के प्राणहारक उपद्रव को सहन करने के लिए तत्पर हो गया और मृत्यु के साथ भिड़ गया, परन्तु उसने गृह-त्याग कर संयत बनना स्वीकार नहीं किया। आज भी कई जैनी, व्यापारादि में उलझ कर दिनभर भूखे रह सकते हैं, किन्तु पौरुषी और पूर्वार्द्ध या एकासन नहीं कर सकते। व्याधि-ग्रस्त हो कर कई दिनों और महीनों तक निराहार रह सकते हैं, किन्तु एक उपवास या आयंबिल उन्हें भारी पड़ता है। यह सब अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय का परिणाम है। अपनी आरम्भी-परिग्रही एवं भोगरुचि पर समझपूर्वक अंकुश रख कर

लोकोत्तम साधना में वे ही आत्माएँ लग सकती है, जिनका क्षयोपशम तथाप्रकार का हो, जो अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय को समाप्त कर आगे बढ़ गये हों। ऐसे ही श्रावक अपनी अविरत दशा से आगे बढ़ कर देशविरत हो सकते हैं।

आस्तिकवादी

श्रावक आस्तिकवादी होता है। वह जीव, जीव की शाश्वतता, जीव की कर्म-बद्धता, जीव को भोक्ता, मुक्ति और मुक्ति के उपाय को मानता है। वह आस्तिकज्ञान वाला है और आस्तिक दृष्टि युक्त होता है।

वह सम्यग्वादी–तत्त्वों का यथार्थ निरूपण करने वाला होता है।

वह नित्यवादी–आत्मा को शाश्वत, ध्रुव तथा मुक्ति को शाश्वत सुखदायक मानने वाला होता है।

वह सत्परलोकवादी–परलोक का सत्य स्वरूप कहने वाला होता है।

वह जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, इन सबका अस्तित्व और परिणाम को मानने और कहने वाला होता है।

वह पाप और पुण्य को तथा पाप का नरक रूप अशुभ फल और पुण्य का स्वर्ग रूपी शुभ फल मानता है। वह संवर और निर्जरा की क्रिया से मुक्ति मानता है। अतएव वह क्रियावादी है। वह इस लोक, परलोक और अलोक को भी मानता है।

वह माता-पिता और उनके साथ अपना कर्त्तव्य भी मानता है। वह अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव को भी मानता है।

वह समस्त अस्ति भावों का अस्तित्व स्वीकार करता है और सभी प्रकार के नास्ति भाव को नास्ति मानता है।

इस प्रकार सम्यक् श्रद्धान् वाला श्रावक, सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जिसकी उपरोक्त विषयों में पूर्ण आस्था नहीं है–वह जैनी नहीं है। (उववाई, दशा श्रु. ६)

सुश्रावक कभी जीवादि तत्त्वों से और अरिहंत भगवान्, उनकी परम वीतरागता, सर्वज्ञसर्वदर्शीता से इन्कार नहीं कर सकता। साधुओं को आगमानुसार निरवद्य आचरण, श्रावकों की विरति, सामायिक, पौषध आदि करणी और दीक्षा की उपादेयता के विषय में विपरीत भाव नहीं करता। इस प्रकार हेय को हेय और उपादेय को उपादेय मानने और कहने वाला श्रावक, आस्तिकवादी है, क्रियावादी है, सम्यग्ज्ञान सम्पन्न है और सम्यग्दृष्टि युक्त है।

अभिगम

तीर्थंकर देव अथवा धर्माचार्य की सेवा में, धार्मिक नियम के अनुसार ही जाना चाहिए। जिस प्रकार राजसभा आदि में उसके नियम के अनुसार जाना ही सभ्यता है, उसी प्रकार धर्म-स्थान पर भी धार्मिक नियमों का पूर्ण रीति से पालन करते हुए जाना, धार्मिकता का प्रथम कर्त्तव्य है। उन नियमों को आगमों में 'अभिगम' कहा है। अभिगम पाँच प्रकार का इस प्रकार है-

(१) सचित्त द्रव्य-पुष्प, ताम्बुल आदि का त्याग करना, साथ नहीं ले जाना +।

(२) अचित द्रव्य-वस्त्र आभूषण का त्याग नहीं करे। उन्हें व्यवस्थित रखे।

(३) एक वस्त्र वाले दुपट्टे का उत्तरासंग करे।

(४) धर्माचार्य अथवा मुनिराज को देखते ही दोनों हाथ जोड़ कर विनय बतावे।

(५) मन को एकाग्र करे। (भगवती २-५)

ये पाँच अभिगम है। इनका पालन अवश्य करे। यह धर्मस्थान सम्बन्धी मर्यादा है। इससे मुनिराज अथवा महासतीजी के प्रति अत्यन्त आदर व्यक्त होता है। श्रमण-निर्ग्रंथ, उपासक श्रावकों के लिए अत्यन्त आदरणीय होते हैं। उनका बहुमान, करना श्रावकों का प्रथम कर्त्तव्य है।

पर्युपासना

मर्यादानुसार धर्मस्थान में प्रवेश कर गुरुदेव को तीन बार आदान-प्रदक्षिणा करके वन्दना करनी चाहिए। इसके बाद नीचे लिखी तीन प्रकार की पर्युपासना करनी चाहिए।

१ कायिक पर्युपासना-मस्तक, दो हाथ और दोनों पाँव झुका कर नमस्कार करना और विनम्र हो कर दोनों हाथ जोड़ कर पर्युपासना करना।

२ वाचिक पर्युपासना-ज्यों-ज्यों भगवान् उपदेश करें, त्यों-त्यों उनकी वाणी का बहुमान करते हुए कहना कि 'भगवन् ! आप फरमाते हैं वह सत्य है, यथार्थ है, निःसंदेह सत्य है। इसमें रत्तिभर भी अन्तर नहीं है। मैं आपके उपदेश को चाहता हूँ, रुचि करता हूँ। आपके वचनों पर मुझे पूर्ण विश्वास है।' इस प्रकार अनुकूल शब्दों से पर्युपासना करना।

३ मानसिक पर्युपासना-हृदय में महान् संवेग लाना। गुरुदेव तथा धर्म के प्रति अत्यन्त प्रीति ला कर

+ मान प्रदर्शक आयुध (शस्त्र) छत्र, चामरादि तथा उपानह (पाँवपोश आदि) का भी त्याग करे (भगवती ९-३३ तथा उववाई ३२)

धर्म के तीव्र प्रेम में सराबोर हो जाना-मानसिक पर्युपासना है। (उववाई)

इस प्रकार उपर्युक्त तीन प्रकार की भक्तिपूर्वक सेवा करने वाले श्रमणोपासक, अशुभ कर्मों की निर्जरा और महान् पुण्यों का उपार्जन कर सुखी होते हैं। (उत्तरा. २९)

शुद्धचारित्र पालने वाले श्रमण-निर्ग्रंथों की पर्युपासना से-१ धर्म सुनने को मिलता है, २ धर्म सुनने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ३ ज्ञान प्राप्ति से विज्ञान (हेय ज्ञेय और उपादेय का विवेक जागृत) होता है, ४ विज्ञान से प्रत्याख्यान-हेय का त्याग होता है, ५ प्रत्याख्यान से संयम, ६ संयम से आश्रव की रोक-संवर की प्राप्ति होती है, ७ संवर से तप की, ८ तप से पूर्व कर्मों की निर्जरा, ९ निर्जरा से अक्रिया=योगों का निरोध और १० अंत में निर्वाण हो कर मोक्ष के सुख प्राप्त हो जाते हैं।

(ठाणांग ३-३, भग० २-५)

उपरोक्त फल, तथारूप के (वास्तविक) श्रमण-निर्ग्रंथ की पर्युपासना का है। जैसे-तैसे वेश-धारी और दुर्गुणी के दुर्गुणों को जानते हुए भी अज्ञान वश अथवा दब्बूपन से वन्दनादि करना, दुर्गुणों को आदर देना है।

श्रावक व्रत

देशविरत श्रावक के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं। विशेष साधना करने वाले, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का पालन भी करते हैं।

पाँच अणुव्रत--१ स्थूल प्राणातिपात विरमण २ स्थूल मृषावाद विरमण ३ स्थूल अदत्तादान विरमण ४ स्थूल मैथुन विरमण और ५ स्थूल परिग्रह विरमण व्रत।

प्राणातिपात विरमण व्रत

श्रावक का पहला अणुव्रत स्थूल प्राणातिपात विरमण है। प्राणधारी जीवों का प्राणों से वियोग कराना 'प्राणातिपात ❀'-हिंसा है। इस हिंसा का त्याग करना--'प्राणातिपात विरमण' व्रत है। प्राणातिपात विरमण व्रत, अनगार धर्म के साथ तो समस्त जीवों से सम्बन्धित होता है, चाहे स्थावर जीव हो या त्रस, किन्तु अगार धर्म में सर्वथा त्याग नहीं होता।

श्रावक की अहिंसा

श्रावक की अहिंसा का वर्णन करते हुए आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने सम्बोधप्रकरण गा. २ में लिखा है कि--

"जीवा थूला सुहुमा, संकप्पाऽऽरंभओ भवे दुविहा।
सावराहनिरवराहा, सविक्खा चेव निरविक्खा॥

--जीव सूक्ष्म (स्थावर) और स्थूल (त्रस) दो प्रकार के हैं। इसमें से स्थूल--त्रस जीव की हिंसा

❀ प्राण दस हैं--श्रोतेन्द्रिय आदि ५ इन्द्रिय बल ६ मन ७ वचन ८ काय ९ श्वासोच्छ्वास और १० आयु बल प्राण। एकेन्द्रिय में ४, बेइन्द्रिय में ६, तेइन्द्रिय में ७, चौरेन्द्रिय में ८, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के ९ और संज्ञी पंचेन्द्रिय के १० प्राण होते हैं। इन प्राणों से जीव को पृथक् करना--'प्राणातिपात' = हिंसा है।

दो प्रकार से होती है—१ संकल्प से और २ आरम्भ से। संकल्प हिंसा के भी दो भेद हैं—सापराधी की और २ निरपराधी की। निरपराधी जीव की हिंसा भी—१ सापेक्ष और २ निरपेक्ष—दो प्रकार से होती है।

अणुव्रत—निर्ग्रंथ श्रमण तो हिंसा आदि के सर्वथा त्यागी होते हैं। जीव त्रस हो या स्थावर, वे किसी भी जीव की हिंसा नहीं करते, दूसरे से नहीं कराते और हिंसा का अनुमोदन भी नहीं करते। हिंसादि का त्याग उनके तीन करण और तीन योग से होता है। जीवन भर के लिए हिंसादि का सर्वथा त्याग करने के कारण उनका यह त्याग "महाव्रत" कहलाता है। किन्तु श्रावक, स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, वह त्रस जीवों की हिंसा का त्याग कर सकता है। इसलिए श्रावक के व्रत को "अणुव्रत" (साधु के महाव्रत से छोटा व्रत) कहते हैं।

आरम्भजन्य हिंसा—गृहस्थ अपनी आवश्यकता से भूमि खोदते, मकान बनाते, पानी को काम में लेते, भोजन पकाते या अग्नि सम्बन्धी आरम्भ करते, वनस्पती का व्यवहार करते या उखाड़ते, काटते, वायुकाय का आरम्भ करते, झाड़ते-बुहारते, सफाई करते, घर को लीपते-पोतते या रंगते और व्यापार-व्यवसाय आदि कार्यों में, स्थावर जीवों तथा अजीवों को काम में लेते, ऐसे अनेक कार्यों में त्रस जीवों की घात अनायास हो जाती है। यह आरम्भ जन्य हिंसा है। ऐसी हिंसा का श्रावक त्यागी नहीं होता।

यद्यपि आरम्भजन्य हिंसा का त्याग श्रावक को नहीं होता, तथापि उसे इस बात की सावधानी तो रखनी ही चाहिए कि जिससे व्यर्थ की हिंसा (जो बचाई जा सके) नहीं हो जाय।

बिना देखे किसी वस्तु को ऊपर से नीचे डालने में, लकड़ी काटने में, चूल्हे में लकड़ी, कंडे, कोयले जलाते समय विवेक नहीं रखा जाय तो लकड़ी-कंडों आदि में रहे हुए जीव भी जल जाते हैं। पोली या सूली हुई लकड़ी और कंडों में जीव रहते हैं, सूले हुए धान्य में जीव होते हैं, दाल, चावल आदि में भी त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। बिना छने पानी को काम में लेते या छान कर जीवानी की रक्षा नहीं करने से भी त्रस जीवों की घात होती है। इस प्रकार अनेक कारणों से, स्थावर जीव या अचित पुद्गल को काम में लेते असावधानी से व्यर्थ ही त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार की असावधानी, अहिंसा पालक के लिए उचित नहीं है। व्रत के प्रति उपेक्षा से व्रत निर्बल एवं त्रुटिपूर्ण हो जाता है। अहिंसा व्रत के आराधक को सावधानी रखनी ही चाहिए और अकारण तो स्थावर जीवों का आरम्भ भी नहीं करना चाहिए।

संकल्पजन्य हिंसा—त्रस जीवों को देख कर, जान-बूझ कर मारने की इच्छा से ही = मारने का संकल्प करके मारना—'*संकल्प-जन्य हिंसा*' है। इस प्रकार की हिंसा का श्रावक को त्याग होता है।

अपराधी की हिंसा—संकल्पजा हिंसा भी दो प्रकार की होती है—१ अपराधी की और २ निरपराधी की। श्रावक संकल्पजा हिंसा का भी सर्वथा त्यागी नहीं होता। उसे अपने खुद के, कुटुम्ब के, आश्रित मनुष्यों और पशुओं, घर-बार, धन-सम्पत्ति आदि के लिए घातक, अपहारक या भयानक बनने

वाले आक्रामक, चोर या लम्पट अथवा हिंस्र पशु से रक्षा करने के लिए उसको दण्ड देना पड़े, शस्त्राघात करना पड़े या मारना पड़े, तो इससे श्रावक का व्रत भंग नहीं होता। न्यायाधिकारी होने पर वह न्याय की रक्षा के लिए कठोर दण्ड देता हुआ, राजा या सेनापति द्वारा राष्ट्र या राज्य रक्षार्थ और आरक्षक अधिकारी को जनता के जान-माल, सदाचार, न्याय एवं शान्ति रक्षा के लिए, असामाजिक एवं अपराधी मनुष्यों को दण्ड देना पड़े, तो यह उनका उत्तरदायित्व है। सामान्य श्रावक, अपराधी को दण्ड देने का त्याग नहीं कर सकता। उसके व्रत में निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा का त्याग होता है।

अपराधी को दण्ड देने में भी आवेश छोड़ कर न्यायोचित दण्ड दिया जाय, तो व्रत में बाधा नहीं आती। यदि थोड़े अपराध का अधिक दण्ड दिया जाय, तो वह आवेश से होता है या विवेक-हीनता से। आवेश और विवेक-हीनता, अहिंसा व्रत में त्रुटि उत्पन्न करती है।

श्रावक, अपराधी की हिंसा का त्यागी नहीं होता। उसके निरपराधी संकल्पी हिंसा का त्याग होता है।

सापेक्ष हिंसा—निरपराधी जीवों की हिंसा भी दो प्रकार की होती है—१ सापेक्ष और २ निरपेक्ष **अर्थात्**—१ सकारण और २ अकारण।

श्रावक, सापेक्ष (सकारण) निरपराध जीवों की हिंसा का भी त्यागी नहीं होता। वह कारण उत्पन्न होने पर निरपराध जीवों की हिंसा भी करता है। अपने खुद के, कुटुम्ब-परिवार और आश्रित के, अपने गाय, भैंस, घोड़ादि पशुओं के शरीर में उत्पन्न कृमि, गिडोले, नहारू आदि को निकालने, फोड़े, घाव अथवा पेट आदि के कष्ट का निवारण करने, जूं, लीख, खटमल को हटाने, धान्यादि में उत्पन्न जीवों से धान्य और चावल दालें आदि को साफ करते हुए निरपराध जीवों की भी सापेक्ष हिंसा हो जाती है। बैल, घोड़ा आदि को कार्य-साधक बनाने में, गाय-भैंस को वश में करने में और पुत्रादि को विद्या सिखाते या सन्मार्ग पर लाते समय ताड़नादि करना पड़े, तो यह सकारण हिंसा है। सकारण हिंसा भी जीवों के लिए परितापना तो उत्पन्न करती ही है। जूं, लीख, खटमल, धान्य में उत्पन्न घुन, खापरिया आदि को हटा कर एकान्त में छोड़ते, पशुओं को कार्य-साधक बनाते इत्यादि कार्यो में न्यूनाधिक परितापना तो होती ही है और धान्यादि की सफाई में छोटे जीवों का वध भी हो जाता है। यह सब सापेक्ष हिंसा है। सापेक्ष हिंसा का श्रावक के त्याग नहीं होता, निरपेक्ष (निःकारण) हिंसा का त्याग होता है।

सापेक्ष हिंसा में भी साधक को सावधानी तो रखनी ही चाहिए। असावधानी से व्रत मलिन होता है। असावधानी, व्रत की भावना में बाधक होती है। अतएव सावधानी तो रखनी ही चाहिए।

श्रावक की सवा बिस्वा दया

साधु-साध्वियों की दया सम्पूर्ण होती है। जिसे पूर्वाचार्यों ने पूरे "वीस विस्वा" मानी है। 'विस्वा' भूमि का नाप है। वीस विस्वा भूमि का एक 'वीघा' पूरा होता है। श्रमण-निर्ग्रंथों का अहिंसा महाव्रत भी पूरा वीस विस्वा है। किंतु श्रावक के इस व्रत को पूर्वाचार्यों ने केवल 'सवा विस्वा' ही माना है। वह गणना इस प्रकार है,–

श्रमण-निर्ग्रंथों की परिपूर्ण अहिंसा वीस विस्वा है। इसमें से श्रावक, स्थावरकाय के जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, वह त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है। इसलिए उसकी आधी अहिंसा कम हो कर दस विस्वा ही रह गई।

श्रावक, त्रस जीवों की आरम्भजन्य हिंसा का भी त्याग नहीं करके संकल्पजन्य हिंसा का त्याग करता है। इसलिए त्रस हिंसा की विरति रूप बचे हुए दस विस्वा में से आरम्भजा हिंसा के पाँच विस्वा कम हो कर शेष पाँच विस्वा ही व्रत रहा।

श्रावक, संकल्पजन्य हिंसा का भी सर्वथा त्याग नहीं करके अपराधी जीवों की विराधना करता है। इस प्रकार सापराधी हिंसा की विरति नहीं होने के कारण आधी अहिंसा और कम हो गई। पांच विस्वा में से केवल ढ़ाई विस्वा ही रही।

निरपराधी जीवों की हिंसा का त्याग भी श्रावक पूर्ण रूप से नहीं कर सकता। वह सापेक्ष निरपराध त्रस जीवों की विराधना करता है। इस प्रकार ढ़ाई विस्वा में से आधी और कम हो कर श्रावक की अहिंसा केवल 'सवा विस्वा' ही रही।

उपरोक्त कल्पना इस प्रथम व्रत की अपेक्षा से है। यद्यपि प्रथम अणुव्रत में श्रावक की अहिंसा, साधु की अपेक्षा सवा विस्वा वतलाई है, तथापि सजग एवं विवेकी श्रावक की अहिंसा में अनन्त जीवों का समावेश होता है और अनन्तवें भाग के जीवों की विराधना होती है।

श्रावक की सवा बिस्वा हिंसा

पूर्वोक्त विचारणा से श्रावक, साधु की अपेक्षा सवा विस्वा=सोलहवें हिस्से ही अहिंसा का पालक होता है, उसके पौने उन्नीस विस्वा हिंसा खुली रहती है। किन्तु दूसरी अपेक्षा से श्रावक के १८।।। विस्वा दया पलती है, हिंसा तो केवल सवा विस्वा ही खुली रहती है। यह अपेक्षा है–बारह व्रतधारी श्रावक के हिंसा-त्याग के विचार से।

जब श्रावक 'दिशापरिमाण' नामक छठा व्रत ग्रहण कर के दिशा की मर्यादा कर लेता है, तो

कुछ सैकड़ा या कुछ हजार गाउ की मर्यादा रख कर, शेष छहों दिशाओं की असंख्य योजन प्रमाण भूमि में रहे हुए, समस्त स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा से भी विरत हो जाता है। कितना बड़ा त्याग है–यह। प्रत्येक दिशा में असंख्य योजन (खुली भूमि से असंख्य गुण अधिक) में रहे हुए समस्त त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरति। कितनी विशाल विरति है ?

प्रथम व्रत में त्रस जीवों की हिंसा से विरति को दस बिस्वा दया मान कर, हिंसा का त्याग भी दस विस्वा ही माना है। अव इस छठे व्रत में असंख्य योजन में रहे त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग रूप, कम से कम आधी हिंसा फिर कम की जाय, तो पांच बिस्वा हिंसा और कम हो कर इतनी ही दया बढ़ गई। यहाँ दया १५ विस्वा हो गई।

सातवें भोगोपभोग की मर्यादा व्रत में श्रावक सचित्त वस्तु भोगने की थोड़ी-सी मर्यादा कर, शाष का उन रखे हुए कुछ सैकड़ों योजन में भी त्याग कर देता है। इस व्रत से उसकी शेष रही पाँच बिस्वा हिंसा में से आधी–ढ़ाई बिस्वा कम होगई और उतनी दया बढ़ कर १७॥ बिस्वा होगई।

आठवें व्रत में अनर्थदण्ड का त्याग करने से आधी और कम हो कर शेष सवा बिस्वा हिंसा रह गई और दया १८॥। बिस्वा होगई।

जो श्रावक 'देशावकासिक' नामक दसवां व्रत करता है या चौदह नियम रोज चितारता है, वह तो मेरु के समान हिंसा के भार से बहुत कुछ निवृत्त हो कर, राई वे दाने के समान थोड़ी-सी हिंसा ही रखता है। सामायिक और पौषध में तो हिंसा रहती ही कहाँ है ? बस विरति ही विरति है।

इस प्रकार बारह व्रत के धारक-पालक श्रावक की हिंसा अत्यंत सीमित होती है और दया व्यापक हो जाती है। इसलिए सूत्रकृतांग के अंतिम अध्ययन में श्रावक को–' **सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे**"–समस्त प्राणभूत जीव और सत्व के लिए क्षेमकारी–आनन्दकारी बतलाया है।

उपरोक्त विचारणा पूज्य बहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ से सुनी थी और इसका उल्लेख स. द. वर्ष ७ अंक ८ में किया था।

यद्यपि बारह व्रतधारी श्रावक, अहिंसा व्रत का बहुत कुछ पालन करता है और उसकी हिंसा अत्यंत अल्प रह जाती है, फिर भी साधु के महाव्रत की अपेक्षा श्रावक की अहिंसा अल्प है। साधु तो मन, वचन और काया से करण करावन और अनुमोदन के सर्वथा त्यागी होते हैं। उनकी हिंसा का त्याग ३३ के अंक के समान सम्पूर्ण रूप से–एक ही भंग से होता है। वे स्थावर जीवों की हिंसा के भी त्यागी होते हैं। उनके लिए न तो आरम्भजन्य हिंसा खुली रहती है, न संकल्पजा। अपराधी और सापेक्ष किसी भी प्रकार की हिंसा खुली नहीं रहती। वे अपराधी और मानव-समाज के लिए शत्रु रूप, आक्रामक एवं घातक की हिंसा का भी मन से अनुमोदन नहीं करते। किन्तु श्रावक के हिंसा-त्याग के अनेक विकल्प होते हैं। श्रावक एक करण एक योग से भी हिंसा का त्याग कर सकता है और श्रमणभूत

प्रतिमा में तीन करण-तीन योग से भी। श्रावक के लिए ४९ भंग–सभी विकल्प खुले हैं। वह चाहे जिस भंग से व्रत धारण कर सकता है।

हिंसा के भेद

हिंसा के २४३ भेद किये गये हैं, यथा–

पाँच स्थावरकाय और चार त्रसकाय, इन ९ की मन, वचन और काया, इन तीन योगों से हिंसा की जाती है। अतएव ९ प्रकार के जीवों की, प्रत्येक की तीन योग से हिंसा के २७ भेद हुए। इन २७ भेदों का करन, करावन और अनुमोदन से गुनने पर ८१ भेद हुए। हिंसा, भूतकाल में की, वर्त्तमान में की जा रही है और भविष्य में भी अविरत व्यक्ति हिंसा करेगा, इस प्रकार तीनों काल के गुणन से २४३ भेद हुए। अविरत जीवों को सभी प्रकार से हिंसा का पाप लगता है। जो श्रावक दो करण तीन योग से त्रस हिंसा का त्याग करते हैं, वे त्रस जीवों की हिंसा के ७२ भेदों से बच जाते हैं। उनके हृदय में स्थावर जीवों की भी अनुकम्पा होती है। वे स्थावर जीवों की निरर्थक हिंसा से भी बचते रहते हैं। अतएव उनके स्थावर जीवों की हिंसा के १३५ भेदों में भी सक्रिय आरम्भ करने-कराने में प्रवृत्ति थोड़ी ही–सीमित क्षेत्र में रहती है, शेष जीवों के प्रति वह क्षेम का इच्छुक रहता है। श्रावक की भावना रहती है कि स्थावरकाय के जीवों की भी विराधना नहीं हो तो अच्छा है। इस प्रकार की प्रशस्त भावना रखता हुआ, श्रावक भी प्रशस्त माना जाता है।

सम्यक्त्वी जीव वही है–जिसके हृदय में अहिंसादि धर्म–निवृत्तिमार्ग की प्रीति हो, मुक्त होने की अभिलाषा रूप संवेग हो और हिंसादि पापों से निर्वेद (अरुचि) हो, जीवों की अनुकम्पा हो। ऐसा अविरत सम्यग्दृष्टि भी हिंसा में प्रवृत्ति करते समय हिचकता है, तब अहिंसा व्रत का धारक विवेकी श्रमणोपासक, स्थावर जीवों की निरर्थक हिंसा कैसे करेगा ? श्रावक के स्थावर हिंसा का त्याग नहीं होते हुए भी उसकी विवेक बुद्धि, निरर्थक हिंसा से उसे बचाती रहती है। वह आरम्भजन्य हिंसा में विवेक रखता है।

असम्यग्दृष्टि अवस्था में आरम्भसमारम्भ मर्यादित हो, आजीविका के कार्य–व्यापार-कृषि-उद्योगादि व्यवसाय में जीवों की हिंसा अधिक होती हो, तो सम्यग्दृष्टि होने पर उसकी आत्मा में खेद होता है। उसे अपना वह महारम्भजन्य व्यवसाय खटकता है। जब वह अहिंसा व्रत धारण करता है, तो अपनी व्यावसायिक हिंसा में भी कमी करता है। यदि कमी नहीं कर सकता, तो चालू व्यवसाय तक सीमित रह कर रोक लगा देता है कि जिससे आरम्भ अधिक नहीं बढ़ सके। वह इस जीवन की भौतिक

समृद्धि एवं सुखोपभोग ही नहीं देखता, उसकी दृष्टि में इस जीवन के बाद का अनन्त जीवन भी रहता है। वर्त्तमान में गृद्ध बन कर वह भविष्य की उपेक्षा नहीं करता। उदय की प्रबलता से वह विशेष रूप से विरत नहीं हो सकता। उसकी विरति थोड़ी ही हो, तो भी उसके हृदय में इसकी खटक तो रहनी ही चाहिए कि—

"मैं कितना पामर हूँ कि साधना का उत्तम अवसर पा कर भी वंचित रहता हूँ। कितना भारी कर्मा हूँ मैं? कितनी कायरता है मुझ में? मेरी आत्मा इतनी पामर क्यों है? मैं श्रमण नहीं बन सकता, तो उत्तम श्रमणोपासक भी नहीं हो सकता? मेरी आत्मा में इतनी मलिनता क्यों है? हे प्रभो! कैसे उद्धार होगा मेरा?"

इस प्रकार आत्मा में असन्तोष हो और विरति की आकांक्षा हो, तो ऐसी आत्मा कालान्तर में क्षयोपशम का बल पा कर विकसित हो सकती है। अन्यथा पतन हो जाता है और मिथ्यात्व के गर्त में गिर कर फिर भटकन चालू हो जाती है।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को आगमकार, अज्ञानी नहीं मानते। उसे 'ज्ञानी' मान कर, उसमें तीन ज्ञान की भजना बतलाते हैं, फिर भी अविरति के कारण वह 'बाल'—अज्ञानी जैसा है। विरति—संयमित आचरण के अभाव में उसका जीवन मर्यादित नहीं होता। वह उपासना के कारण जैन श्रावक कहलाता है, क्योंकि उसके उपास्य—अरिहंत देव, निर्ग्रंथ गुरु और जिन-प्ररूपित धर्म है। उपासना के विषय में वह अज्ञानी जैसा आचरण नहीं करता। यदि वह मिथ्यात्वी के समान असम्यग्दृष्टि देव-गुरु-धर्म की उपासना करने लगे, तो फिर उसकी गणना जैनी, श्रावक या श्रमणोपासक में नहीं हो सकती।

अहिंसा व्रत के अतिचार

किसी भी व्रत को दूषित करने वाली चार कोटियाँ है—१ अतिक्रम २ व्यतिक्रम ३ अतिचार और ४ अनाचार।

अतिक्रम—व्रत को दूषित करने वाला विचार करना, संकल्प करना।

व्यतिक्रम—व्रत के विपरीत आचरण करने को तत्पर होना, प्रवृत्त होना।

अतिचार—व्रत भंग करने की सामग्री जुटाना।

अनाचार—विरुद्ध आचरण कर व्रत भंग कर देना।

अतिचार की तीसरी कोटि तक व्रत दूषित, मलिन एवं जर्जर हो जाता है। इस स्थिति में पुनः सम्भल कर और मलिनता हटा कर व्रत निर्मल किया जा सकता है। किन्तु अनाचार से तो व्रत नष्ट हो जाता है। अतिक्रमादि कोटियों का सम्बन्ध मन, वचन और काया—इन तीनों योगों से हैं। इनमें मन

सबसे बड़ा और बलवान कारण है। शरीर से अनाचार का सेवन नहीं भी हो और मन से ही अनाचार का सेवन किया हो, तो भी भावचारित्र तो नष्ट हो ही जाता है। अहिंसा अणुव्रत के पांच अतिचार इस प्रकार है;—

१ बन्ध—यदि किसी मनुष्य अथवा पशु को अपराध के कारण या सुधारने के लिए दण्ड देना पड़े, तो उस समय उसे क्रूरतापूर्वक गाढ़ बन्धनों से नहीं बांधना कि जिससे वह अपने हाथ-पांव ही नहीं हिला सके, उसका श्वास लेना कठिन हो जाय, अंगों में रक्त का संचालन रुक जाय और जीवन समाप्त होने की स्थिति बन जाय। इतना क्रूर बनने से अहिंसक भावना नष्ट हो जाती है। इसलिए दण्ड देने के लिए दृढ़ बन्धनों से नहीं बांधना चाहिए। यह पहला 'बन्ध' नामक अतिचार है।

अपने मौज-शौक के लिए तोता, मैना आदि पक्षियों को बन्दी बनाना, किसी मनुष्य पर अनुचित्त एवं अन्यायपूर्वक दबाव डाल कर उसे बन्दी बनाना, उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना आदि भी इस अतिचार में आ सकते हैं।

२ वध—वध दो प्रकार से होता है। एक तो अकारण और दूसरा सकारण। बिना कारण या अपने मनोरंजन अथवा बड़प्पन प्रदर्शित करने के लिए, किसी को मारना-पीटना तो निषिद्ध ही है, यदि सकारण किसी को मारना पड़े—दण्ड देना पड़े, तो इस प्रकार का प्रहार नहीं हो कि जिससे उसकी हड्डी-पसली टूट जाय, गहरे घाव लग जाय और अंग-भंग हो जाय। निर्दयतापूर्वक किया हुआ प्रहार, तत्काल नहीं, तो कालान्तर में भी प्राण-घातक हो सकता है। अतएव कठोर प्रहार नहीं करना चाहिए। किसी को वध करने की सलाह या आदेश देना और मर्मान्तिक आक्षेप करना भी इसमें आता है।

३ छविच्छेद—हाथ-पांव आदि अंगों का छेदन करना—'छविच्छेद' नाम का तीसरा अतिचार है। निष्कारण अंग का छेदन तो निषिद्ध ही है। सकारण में रोगी की चीरफाड़, अतिचार नही है, क्योंकि वह दण्ड नहीं, किन्तु रोगी के जीवन की रक्षा के लिए है। दण्ड देने के लिए अथवा स्वार्थवश पशुओं की नासिका का छेदन कर 'नाथ' डालना, सींग, पूंछ आदि काटना, कान चीरना और उन्हें खशी (नपुंसक) बनाना, ये सभी कार्य क्रूरता के हैं। अहिंसक भावना को नष्ट करने वाले हैं। मनुष्यों के नाक, कान या हाथ आदि काट देना, अन्तःपुर की रक्षा के लिए नपुंसक कर देना, ये कृत्य अहिंसा 'अणुव्रत' को सुरक्षित नहीं रहने देते। इसलिए ऐसे कार्य नहीं करना चाहिए।

४ अतिभार—गाड़ी, घोड़ा, बैल आदि पर, उसकी सामर्थ्य से अधिक भार लादना, तांगे या बग्घी में अधिक सवारियें बैठाना, मजदूरों या हमालों से ज्यादा बोझ उठवाना अर्थात् किसी भी मनुष्य अथवा पशु से उसकी शक्ति से अधिक काम लेना भी निर्दयता है। इस प्रकार की निर्दयता श्रावक को नहीं करनी चाहिए।

५ भक्त-पान विच्छेद—आश्रित मनुष्य अथवा पशुओं को भूखे-प्यासे रखना, उन्हें समय पर

भोजनादि नहीं देना। इस प्रकार का दण्ड भी क्रूरता से ही होता है। रोग के कारण लंघन कराना तो हित-वुद्धि है, इसलिए यह तो निषिद्ध नहीं है, किन्तु दण्ड देने के लिए अथवा स्वार्थ-बुद्धि से भूखों मारना, अथवा आजीविका के साधन नष्ट कर देना अतिचार है।

उपरोक्त पांच अतिचारों से श्रावक को सदैव बचते रहना चाहिए। ये पांच अतिचार तो प्रसिद्ध ही है। इनके अन्तर्गत अन्य अनेक बातें आ जाती है। इन सब का तात्पर्य यही है कि जिस प्रशस्त भावना से अहिंसा अणुव्रत स्वीकार किया गया, वह भावना कायम एवं स्थिर रहनी चाहिए। स्वार्थ अथवा क्रूरता के कारण अहिंसकता में मलिनता नहीं आनी चाहिए।

मृषावाद विरमण व्रत

श्रावक अपनी आत्मा को पाप से बचाने के लिए हिंसा का त्याग करता है। जिस प्रकार हिंसा स्व-पर विघातिनी है, उसी प्रकार मृषावाद भी स्व-पर विघातक है, दुःखदायक है। बिना असत्य का त्याग किये अहिंसा भी अधूरी रहती है। मृषावाद का त्याग, अहिंसा को सबल एवं पुष्ट बनाता है। मृषावाद=मिथ्या-भाषण होता है मुंह—वचन-योग से, फिर भी इसका मुख्य सम्बन्ध मनोयोग से है। झूठ, प्रायः इच्छापूर्वक बोला जाता है, इसलिए इसमें मनोयोग तो होता ही है। बिना मनोयोग के बोली हुई भाषा को 'व्यवहार भाषा' माना है। सर्व त्यागियों को भी मृषा—वचन-योग हो सकता है, किन्तु वह झूठ बोलने की इच्छा से नहीं होता, अन्यथा समझ से होता है। झूठ बोलने वाले के मन में सत्य को छुपाने की भावना होती है। वह राग-द्वेष के वशीभूत हो कर झूठ बोलता है। कोई क्रोधवश झूठ बोलता है, तो कोई अभिमानी बन कर झूठ बोलता है, किसी से छल-कपट मिथ्या-भाषण करवाता है, तो बहुत से लोग लालच के कारण झूठ बोलते हैं। अज्ञान अथवा मिथ्या विश्वास से मृषावादी बना हुआ तो संसार का बहुत बड़ा भाग है। शास्त्रकारों ने असत्य के चार प्रकार बताये हैं। यथा—

१ भूत-निन्हव—आत्मा, पुण्य, पाप, धर्म, मोक्ष, स्वर्ग, नरक, लोक, परलोक आदि सद्भाव तत्त्वों का निषेध करना। सद्गुणों का अपलाप करना। अस्ति को नास्ति कहना।

२ अभूतोद्भावन— असत्य को सत्य, अतत्त्व को तत्त्व और अवस्तु को वस्तु बताना। नास्तित्व को अस्तित्व कहना।

३ अर्थान्तर—अर्थ पलटना, एक भाव को अन्य भाव बतलाना। सोने को पितल और पितल को सोना कहना।

४ गर्हा—ऐसी प्रवृत्ति की आज्ञा अथवा परामर्श देना जो पापपूर्ण हो। जिससे जीवों की विराधना

होती हो। सुनने वाले को बुरे लगे—ऐसे अप्रिय वचन और आक्रोश, आघात एवं तिरस्कारयुक्त तथा दोषारोपण करने वाले वचन बोलना।

जिस प्रकार अनियन्त्रित शरीर, अधिकरण हो कर अन्य जीवों के लिए पीड़ाकारी एवं घातक होता है, उसी प्रकार संयम से रहित वचन भी पीड़ाकारी और घातक हो सकता है। झूठे आरोप से पारिवारिक क्लेश उत्पन्न हो कर सारे कुटुम्ब और सम्बन्धियों की शांति नष्ट हो जाती है, जाति, समाज, धर्म और राष्ट्र में विग्रह खड़ा हो जाता है और मार-काट, अग्निकाण्ड और युद्ध तक मच जाते हैं। अनियन्त्रित एवं कषाय से विषाक्त बना हुआ एक वाक्य भी, उस चिनगारी का रूप धारण कर लेता है जो बारूद के ढेर को सुलगा कर युद्ध की ज्वालाएँ भड़का देता है। महाभारत तथा चेड़ा-कुणिक युद्ध का कारण शब्दों का विषाक्त प्रयोग ही था, जिसने महान् हिंसा-काण्ड मचा दिया था। मृषावाद में लगा हुआ उग्र मनोयोग, अपने स्वामी का अधःपतन कर के नरक में डाल देता है। एक प्रभावशाली वक्ता और लेखक अपने शब्दों से लाखों-करोड़ों मनुष्यों में मिथ्या-प्रचार करके उन्हें भ्रम में डाल देता है और उन्मार्ग में धकेल कर सब के लिए दुःखदायक बन जाता है।

हिंसा के समान मृषावाद का पाप भी स्व-पर घातक होता है। वाणी के मिथ्या व्यवहार से मिथ्या दर्शनों और पाखण्ड मतों का प्रचार होता है। मोहक वचनों और गीतों से श्रोताओं की काम-वासना बढ़ती है, कामोद्दीपक साहित्य, भ्रष्टाचार फैलाता है। जासूसी साहित्य, मायाचार, छल, धोखा, चोरी, ठगाई आदि सिखाती है। संयम के अंकुश से रहित वचन-व्यवहार, पाप-वर्द्धक होता है। आत्मार्थी-जन इस पाप का सर्वथा त्याग कर देते हैं। जो सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, वे श्रावक का दूसरा अणु-व्रत धारण कर के इस पाप पर कुछ अंकुश लगा देते हैं।

मृषावाद के सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दो भेद 'सम्बोध प्रकरण' में किये हैं। सूक्ष्म मृषावाद—"**परिहासाइप्पभवो**"—हँसी-मजाक आदि में, बिना तीव्र संक्लेश के, साधारणतया बोला जाय, वह सूक्ष्म मृषावाद है और तीव्र कषाय के वश होकर बोला जाने वाला झूठ, स्थूल मृषावाद है। श्रावक को वैसे तीव्र संक्लेश युक्त वचन नहीं बोलना चाहिए कि जिससे अपने आपको या दूसरों को अतिशय व्याघात हो, क्लेश हो, हानि उठानी पड़े। ऐसे वचन सकारण हो या निष्कारण, कभी नहीं बोलना चाहिए। 'पच्चक्खाणावश्यक' में कहा है कि—

"**जेण भासिएण अप्पणो वा परस्स वा अतीव बाधाओ अइसंकिलेसो जायते, तं अट्ठाए वा अणट्ठाए वा ण वएज्ज त्ति।**"

—जिस वचन के बोलने से अपने को या दूसरों को अत्यंत व्याघात होता हो, विशेष क्लेश होता हो, ऐसा वचन सकारण या निष्कारण नहीं बोलना चाहिए।

इस मृषावाद विरमण व्रत मे निम्न लिखित पांच प्रतिज्ञाएँ होती हैं–

(१) कन्यालीक-कन्या=कुमारिका सम्बन्धी झूठ । राग-द्वेष के वश हो कर कन्या के विषय में असत्य बोलना । सदाचारिणी एवं सुलक्षणा को दुराचारिणी, दुर्भागिनी, गुप्त रोगिनी, कुलक्षणी, नष्ट-कौमार्य्य आदि बता कर, होते हुए वैवाहिक सम्बन्ध बिगाड़ना । इसी प्रकार दुराचारिणी और कुलक्षणी को किसी के गले मढ़ने के लिए सदाचारिणी, अखण्ड-कौमार्य, सद्भागिनी, सुलक्षणी आदि बताना–कन्या अलीक है ।

कन्या अलीक में सभी मनुष्यों का संग्रह हुआ है, चाहे स्त्री हो या पुरुष, दास-दासी ही हो, बच्चा हो या बूढ़ा । किसी के भी विषय में कषाय के वश हो कर अपने द्वेष-पात्र के सद्गुणों का अपलाप कर दुर्गुण बतलाना और रागी के दोष ढक कर अछते गुण बतलाना–स्थूल मृषावाद है ।

प्रायः कुमार-कुमारिका का सम्बन्ध जोड़ते समय इस प्रकार का मृषावाद चलता है । धोखा देकर अनुचित सम्बन्ध जोड़ने से, या झूठा कलंक लगा कर किसी का सम्बन्ध नहीं होने देने से उनका समस्त जीवन दुःखमय और क्लेशित हो जाता है । किसी भोगाकांक्षी का सम्बन्ध नहीं होने या बना हुआ सम्बन्ध टूट जाने से उनका सम्पूर्ण जीवन दुःखमय हो जाता है ।

मिथ्या दोषारोपण करके पति-पत्नी के सम्बन्ध में कटुता उत्पन्न करना, मित्रों और बन्धु-बान्धवों में भेद डालना, स्वामी-सेवक के आपसी सम्बन्ध बिगाड़ना, सदाचारी और साधु-साध्वियों पर झूठे आरोप लगाना, कषाय के वश हो कर संघ और समाज में कलह के बीज बोना इत्यादि पाप है + । तात्पर्य यह कि रागद्वेष के वश हो कर अपने दुर्गुणी रागी के विद्यमान दोषों को ढक कर अविद्यमान गुणों की प्रशंसा करना और जिस पर हमारा द्वेष है, ईर्षा है, जिसके प्रति मन में वैर भाव है, उसके या उसके सम्बन्धी के विद्यमान गुणों का अपलाप कर, अविद्यमान दुर्गुणों का आरोपण करके कलंकित करना कन्या अलीक है ।

'कन्या अलीक' मात्र कुमारिका से ही सम्बन्धित नहीं, किंतु 'कुमार' से भी सम्बन्ध रखता है । इतना ही नहीं, यह सभी द्विपद (मनुष्य) से सम्बन्धित है । कन्या को प्रमुखता देने का तात्पर्य यह है कि–वैवाहिक संबंध में कन्या के विषय में ऐसे झूठ बहुत चलते हैं । कन्या प्रायः घर में रहने वाली होती है, उसका संबंध बाहर के लोगों से कम होता है । इस स्थिति में कन्या विषयक झूठ चलता भी अधिक है । दूसरी बात यह कि स्त्री-जाति अबला है । उस पर आये हुए संकट की आग में वह जीवन

+ यह विषय मृषावाद से सम्बन्धित है । यदि सत्य या न्याय से सम्बन्धित हों, तो स्थिति दूसरी होती है । धर्म, सत्य एवं न्याय के लिए दृढ़ रह कर सहन करना आवश्यक है । संघभेद या फूट के आरोप से डर कर सत्य को छोड़ देना सत्व-हीनता है ।

भर जलती रहती है। पुरुष वर्ग का संबंध, व्यापारादि कई कारणों से बाहर के वर्ग से अधिक रहता है। इसलिए कुमार या युवक के सद्गुण-दुर्गुण विशेष छुपे नहीं रह सकते। पुरुष सबल भी होता है उसके लिए किसी के रक्षण की उतनी आवश्यकता नहीं रहती, जितनी स्त्री को रहती है। सामर्थ्य होने पर पुरुष दूसरी पत्नी भी ला सकता है। तात्पर्य यह कि आगमकार ने 'कुमार अलीक,' 'युवालीक' या 'पुरुष अलीक' नहीं कह कर 'कन्यालीक' कहा। इसका मुख्य कारण कुमारिका सम्बन्धी मृषावाद के दुःखद परिणाम विशेष होते हैं और उन्हें जीवन भर भोगना पड़ता है। उनकी अबला दशा भी इसमें मुख्य कारणभूत है।

(२) **गवालीक**–गाय विषयक झूठ बोलना। राग-द्वेष के वश हो कर गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, ऊँट आदि चतुष्पद पशुओं के विषय में, असद्भूत गुण-दोष आरोपित करना। धन-लाभ से अपनी वन्ध्या या अल्प दूध देने वाली गाय भैंस को अच्छी उपयोगी और अधिक दूध देने वाली बताना, पड़ेल बैल और दुष्ट अश्व आदि को उत्तम भारवाहक, वाहन योग्य एवं प्रशस्त बतलाना। तात्पर्य यह कि चतुष्पद पशुओं के विषय में स्वार्थ या द्वेषादि वश मृषा बोलना–गवालीक है।

(३) **भूम्यलीक**–भूमि सम्बन्धी झूठ। घर, भवन, हाट, खेत, बाग आदि के विषय में झूठ बोलना, दूसरे के स्वामित्व के हों, उन्हें अपने या किसी दूसरे के बतलाना, उपद्रवकारी मकानादि को सुखदायक, ऊसर भूमि को उपजाऊ आदि बताना। इसी प्रकार दूसरे के घर, हाट, खेत आदि कोई तीसरा ले रहा हो, तब अच्छी वस्तु को द्वेष वश बुरी बतलाना। इस प्रकार राग-द्वेष वश गुण को अवगुण में और अवगुण को गुण में बदल कर बताना–भूम्यलीक है।

भूम्यलीक में सभी अपद वस्तुओं का समावेश हो जाता है। जैसे–घर, हाट, खेत आदि के अतिरिक्त वृक्ष, वस्त्र, पात्र, धन, धान्य आदि सभी वस्तुएँ इस भेद में आ गई। तात्पर्य यह कि भूमि और भूमि से उत्पन्न सभी वस्तुएँ भूम्यलीक में समाविष्ठ है। 'सम्बोध प्रकरण' में कहा है कि–

"कण्णा गहणं दुपयाणं, सूअगं चउपयाण गोवयणं।

अपयाणं दव्वाणं, सव्वाणं भूमिवयणं तु।"

अर्थात्–कन्या शब्द का ग्रहण सभी द्विपदों के लिए, गो शब्द सभी चतुष्पदों का और भूमि शब्द सभी अपदों का सूचक है।

(४) **न्यासापहार**–किसी की धरोहर रख कर बदल जाना। विश्वासपात्र समझ कर किसी व्यक्ति ने अपना धन सुरक्षित रखने के लिए धरोहर के रूप में रखा हो, उसका अपहरण करना, वापिस माँगने पर मुकर जाना या उसमें से कुछ निकाल कर कम कर देना अथवा अच्छी वस्तु निकाल कर बुरी रख देना, सुरक्षा का आश्वासन देकर किसी पुरुष या स्त्री को उसके शत्रुओं को सौंप देना, गुप्त

का उदाहरण प्रस्तुत करके उसे असत्य की ओर प्रेरित करे अथवा दूसरे के द्वारा असत्य मार्ग का निर्देशन करावे, तो यह सब मृषोपदेश है।

यह भी अतिचार तब तक ही है, जब तक कि सहसा (बिना विचारे) किया हो।

(५) कूटलेखकरण–असत्य लेख लिखना। जिससे सत्य का अपलाप हो, न्याय, नीति, सदाचार एवं उत्तमता को क्षति पहुँचे, ऐसे मिथ्या लेख लिखना। झूठे दस्तावेज बनाना। नकली हस्ताक्षर बनाना, गुमनाम-पत्र भेजना या छपवाना, अपना आपत्तिजनक लेख दूसरों के नाम से या गलत नाम से छपवाना आदि।

यदि कूट-लेखकरण भी प्रमाद या हास्यादि से हो, या वैसी भावना से कि–'मेरे झूठ बोलने के त्याग है, लिखने के नहीं,'–ऐसा सोच कर व्रत पालन की बुद्धि से वैसा करे, तो अतिचार है, अन्यथा अनाचार है। क्योंकि जो त्याग असत्यभाषण का है, वही असत्य लेखन का भी है ही। वचन और काया के योग से करण, करावन और अनुमोदन का त्याग होता है। बोलने में वचन योग है, तो लिखने में काय योग है। अतएव कषाय की उग्रता में यह अनाचार है।

इन सभी दोषों से बचते हुए असत्य-भाषण त्याग रूप दूसरे अणुव्रत का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। सत्य का आश्रय लेने वाले सुश्रावक का यह लोक भी सुधरता है और परलोक भी सुधरता है। वह अनेक प्रकार के संताप और विपत्तियों से बचा रहता है। असत्य का सेवन करने वाले के हृदय में शान्ति नहीं रहती। उसे अपना झूठ खुल कर प्रकट होने का भय बना ही रहता है। झूठे व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता। उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। वह यहाँ भी दुखी रहता है और परभव में भी दुखी होता है। उसकी दुर्गति होती है। झूठ के पाप से भवान्तर में उसे मुँह (वचन योग) नहीं मिलता, यदि मिले तो वह गूँगा या अप्रिय वचन वाला होता है। उसकी बात तिरस्कार के योग्य होती है।

सत्य एक बल है। सत्यवादी निर्भय होता है। उसका वचन आदरणीय होता है। सत्यवादी उत्तरोत्तर उन्नत होता हुआ परमपद को प्राप्त करता है।

स्थूल अदत्त-त्याग व्रत

जो वस्तु अपने अधिकार की नहीं, जिसका कोई दूसरा स्वामी है, ऐसी वस्तु को बिना स्वामी की आज्ञा के ग्रहण करना–'अदत्तादान' है। इसे 'चोरी' भी कहते हैं।

स्वामी द्वारा सँभाल कर रखी हुई अथवा असावधानी से पड़ी हुई या भूली हुई, कोई सचित्त या अचित्त वस्तु, जिसे लेने से चोरी का आरोप लग सकता हो, उसे लेना, अशुभ भावों से ग्रहण करना–'स्थूल अदत्तादान' है।

हिंसा और मृषावाद का त्याग करने वाला यदि सोचे कि-'मैंने त्रस जीव की हिंसा का और झूठ बोलने का त्याग किया है। अदत्त ग्रहण से न तो मेरा अहिंसा व्रत टूटता है और न असत्य-त्याग व्रत को क्षति पहुँचती है। चुपके से वस्तु उठा कर दबा लेने में कौनसी हिंसा और झूठ लगती है ?" इस प्रकार का विचार कर कोई चोरी करे, तो यह उसकी भूल होगी। स्वामित्व की वस्तु पर, स्वामी का मोह होता है। अपनी प्रिय वस्तु, किसी के द्वारा चुराई जाय, तो इससे उसे दुःख होता है, आघात लगता है। उसकी शांति नष्ट हो जाती है, वह तड़पता है, उसे परिताप होता है और दुःख ही दुःख में घुल-घुल कर मर जाता है। इस प्रकार अदत्त ग्रहण-चौर्यकर्म, अहिंसा व्रत को भी खण्डित करता है। साथ ही चोरी करने वाले की आत्मा अत्यधिक कलुषित हो कर स्वयं के लिए घातक बन जाती है, पतन कर लेती है। चोरी करने वाला स्वयं लुप-छिप कर डरता हुआ वस्तु चुराता है। उसकी आत्मा स्वयं वह कृत्य करते समय डरती है, किंतु तृष्णा के वशीभूत हो कर जीव वह पाप करता है। अतएव अदत्तादान के पाप से बचने के लिए यह तीसरा अणुव्रत है।

अदत्त चार प्रकार का होता है। यथा-१ स्वामी अदत्त २ जीव अदत्त ३ तीर्थंकर अदत्त और ४ गुरु अदत्त (सम्बोध प्रकरण)।

(१) **स्वामी अदत्त**-वस्तु के स्वामी के दिये बिना या स्वामी की आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई वस्तु ग्रहण करना, भले ही वह वस्तु महत्वहीन व अल्पतम मूल्य की हो।

(२) **जीव अदत्त**-वस्तु का स्वामी यदि स्वेच्छा से कोई सचित्त वस्तु देना चाहे, तो भी उस वस्तु में रहे हुए एकेन्द्रियादि जीव की विराधना करना-जीव अदत्त है। किसी भी प्राणी के प्राणों का हरण करना-जीव अदत्त है।

(३) **तीर्थंकर अदत्त**-तीर्थंकर भगवान् द्वारा निषिद्ध वस्तु ग्रहण करना।

(४) **गुरु अदत्त**-वस्तु स्वामी द्वारा दी हुई, अचित्त एवं जिनाज्ञानुकूल होते हुए भी गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना, गुरु से छुपा कर ग्रहण करना।

उपरोक्त चार अदत्त में से, श्रावक का सम्बन्ध प्रायः स्वामी अदत्त से ही रहता है, अन्य तीन अदत्त सामान्य श्रावक के लिए गौण रहते हैं।

अदत्तादान भी दो प्रकार का है-१ सूक्ष्म और २ स्थूल। सूक्ष्म अदत्तादान-दुष्ट भावना के बिना साधारणतया तृण, मिट्टी, कंकर, राख आदि तुच्छ वस्तुएँ बिना आज्ञा के ली जाय, वह सूक्ष्म अदत्त है।

हँसी-मजाक में कुछ समय के लिए किसी की कुछ वस्तु-जूता, वस्त्र आदि चुराई जाय और बाद में लौटा दी जाय, तो वह भी सूक्ष्म अदत्त है।

सूक्ष्म अदत्त वह भी है-जो शुभ भावना से-हित-बुद्धि से कुछ छुपाने की प्रवृत्ति की जाती है। जैसे-बच्चे या रोगी से अपथ्यकारी वस्तु छुपाई जाती है। तीव्रतम कषाय या निराशा अथवा भावी अनिष्ट से बचने के लिए कोई जीवन समाप्त करना चाहता हो और समझाने पर भी नहीं मानता हो, तो उसकी मृत्यु का कारण विष या शस्त्र को छुपा देना भी सूक्ष्म अदत्त है। इसी प्रकार विकार-वर्द्धक साहित्यादि का अपने आश्रितों से हटाना भी सूक्ष्म अदत्त है।

स्थूल अदत्तादान-मूल्यवान वस्तु भले ही वह एक फूल, पान, फल आदि अल्प मूल्य की हो और किसी दूसरे के स्वामित्व की हो, उस वस्तु को बुरी भावना से, स्वामी की आज्ञा के बिना प्राप्त करना-स्थूल अदत्त है। श्रावक के लिए यह स्थूल अदत्तादान त्याज्य होता है। चौर्य-कर्म साधारणतया निम्न विधि से किया जाता है;-

१ भींत आदि में सेंध (खात) लगा कर चोरी करना।

२ गांठ, थैली या पार्सल खोल कर या तोड़ कर अथवा जेब काट कर चोरी करना।

३ ताला खोल कर या तोड़ कर धन चुराना।

४ दूसरों की असावधानी से गिरी हुई या भूली हुई वस्तु को अपनी बता कर ले लेना। धोका देकर माल उड़ाना।

५ मार्ग चलते पथिकों को लूटना।

तात्पर्य यह कि किसी भी प्रकार से दूसरों का धन-धान्य, पशु-पक्षी आदि अनीतिपूर्वक हरण करना, दबा लेना-चोरी है। इन पांच प्रकार की चोरियों में से प्रथम की चार प्रकार की चोरी तो स्वामी से छुपा कर, अनुपस्थिति में की जाती है, किंतु पांचवीं-जन-शून्य स्थान में पथिकों को लूटने या डाका डाल कर लूट मचाने का कार्य तो स्वामी के सम्मुख ही होता है। इसमें स्वामी को मारा-पीटा भी जाता है और कोई-कोई क्रूर चोर, स्वामी को मार भी देते हैं।

जो प्रवृत्ति स्वार्थ वश, स्वामी, अधिकारी या सम्बन्धित व्यक्ति से छुपा कर की जाय, दूसरे के अधिकारों का अपहरण करने के लिये की जाय और जिससे अनुचित लाभ प्राप्त किया जाय, वह सब अदत्तादान है, चोरी है।

राज्याधिकारी हो, किसी उद्योग या व्यापारिक व्यवसाय का संचालक हो, वह घूस लेकर स्वामी की हानि करता हो, तो वह भी चौर्य-कर्म का आरोपी है। कर्मचारी को जितने समय तक काम करना है और जितना काम करना है, उतने समय और उतना काम नहीं करने वाला-'काम-चोर' कहलाता है। मजदूर भी यदि किसी प्रकार समय व्यतीत कर, कम काम करने की भावना रखे, तो वह भी काम-चोर है। चोरी के अनेक प्रकार और विधियां संसार में चल रही है। तात्पर्य यह कि अनुचित स्वार्थ साधने

की दूषित भावना से जो भी प्रवृत्ति की जाय, वह स्थूल अदत्त-चोरी है।

सर्वप्रथम यह पाप मन में उत्पन्न होता है। मन में अनुचित स्वार्थ साधने की इच्छा है, तब वह मानसिक चोरी, कायिक योग से प्रवृत्ति में आती है। मानसिक चोरी सब से पहले अपना खुद का पतन करती है। जिस मन में पाप के भाव उत्पन्न होते हैं, वह अपनी आत्मा को उस अशुभ भावना से कलुषित कर लेता है। यह स्वात्म-हिंसा है। इससे आत्मा स्वयं अपने लिए दुःखदायक स्थिति उत्पन्न कर लेती है। संसार की दृष्टि में से यह पाप बच भी जाय, परन्तु कलुषित संकल्प से आत्मा की मलिनता नहीं रुक सकती। वह उसी समय-तत्काल अपने लिए दुःखदायक बीज बो लेती है। इन सभी अदत्तादानों का त्याग करना इस व्रत का उद्देश्य है।

अतिचार

अस्तेय व्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं;-

स्तेनाहृत-चुराई हुई वस्तु लेना। चोरी की वस्तु कम मूल्य में (बहुत सस्ती) मिलती हो या यों ही (मुफ्त) मिलती हो, तो वह व्रत को दूषित करने वाली है। यदि कोई सोचे कि "मेरे चोरी करने का त्याग है, भेंट लेना या मूल्य देकर लेना तो चोरी नहीं है। इसलिए यदि चोर मनुष्य मुझे भेंट देता है, या मैं मूल्य चुका कर लेता हूँ, तो इससे मेरे व्रत में कौनसी बाधा आती है ?" इस प्रकार सोचना अनुचित है। ऐसा करना चोरी जैसे निन्दनीय कृत्य को प्रोत्साहन देना है।

जान-बूझ कर चुराई हुई वस्तु लेना, व्रत को दूषित करने के साथ, नैतिक एवं न्यायिक अपराध भी है। चुराई हुई वस्तु स्वीकार करना, चोरी को स्वीकार करने के समान है। चोरी, समाज विरोधी अनैतिक कृत्य है और न्याय-विरुद्ध राजकीय अपराध भी है। नीति शास्त्र में सात प्रकार के चोर बतलाये हैं। यथा-

१ स्वयं चोरी करने वाला २ दूसरे से चोरी कराने वाला ३ चोरों के साथ गुप्त मन्त्रणा (सलाह) करने वाला ४ चोरी के भेद बताने वाला ५ चोरी का माल क्रय करने वाला ६ चोर को भोजन देने वाला और ७ चोर को आश्रय देने वाला।

प्रश्नव्याकरण सूत्र के तीसरे अधर्म द्वार की टीका में चौर्य-कर्म के अपराधी अठारह प्रकार के बतलाये हैं। यथा-

१ चोर को प्रोत्साहन देने वाला २ चोर की कुशल-क्षेम पूछने वाला ३ चोर को संकेत करने वाला ४ राज्य से छुपाने वाला ५ चोरी करते हुए देख कर भी चुप रहने वाला ६ चोर को पकड़ने के

लिए जाने वालों को सही मार्ग से हटा कर उन्मार्ग बताने वाला ७ आश्रय देने वाला ८ चोर के पद-चिन्ह मिटाने वाला ९ अपने घर विश्राम कराने वाला १० चोर को प्रणाम आदि करने वाला ११ आसन देने वाला १२ चोर को छिपाने वाला १३ स्वादिष्ट भोजन देने वाला १४ चोर के पास इच्छित सामग्री पहुँचाने वाला १५ थकावट दूर करने के लिए पानी या मालिश के लिए तेल देने वाला १६ भोजन बनाने आदि के लिए अग्नि देने वाला १७ पीने के लिए पानी और १८ पशु आदि बांधने के लिए रस्सी देने वाला। ये सब जान-बूझ कर, चोर होने के कारण देने वाले, चोर माने जाते हैं।

जो वस्तु बाजार-भाव से कम मूल्य में मिलती हो, तो उसका कारण यही होता है कि वह साहु-कारी की नहीं, चोरी की है—यह समझना सरल है। यदि कोई यह सोचे कि—"मैं स्वयं चोरी नहीं करता, इसलिए मेरे व्रत में दोष नहीं लगता। मैं तो मूल्य दे कर खरीदता हूँ, इसमें चोरी कौनसी है ?" इस प्रकार सोच कर चोरी की वस्तु लेता है, तो उसके मन में व्रत के प्रति आदर है। इसलिए इस कृत्य से व्रत का सर्वथा भंग नहीं मान कर, अतिचार रूप देश-भंग माना है। यदि मन में व्रत की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहे और तीव्र लोभ से चोरी की वस्तु लेवे, तो व्रत भंग होता है।

२ स्तेन प्रयोग—चोर को चोरी करने की प्रेरणा करना, उन्हें चोरी के साधन देना, भोजनादि वस्तुएँ देकर सहायक बनना, चोरी का माल बिकवाना, संरक्षण देना आदि।

३ विरुद्ध राज्यातिक्रम—राज्याज्ञा के विरुद्ध सीमा का उल्लंघन करना। शत्रु राज्यों या राष्ट्रों अथवा पर राज्यों में आने-जाने और व्यापारादि करने का राज्य ने निषेध किया हो, तो उस निषेधाज्ञा का उल्लंघन कर के दूसरे राज्य में गमनागमन करना, वस्तु लाना-लेजाना और राज्य द्वारा निषिद्ध वस्तु का व्यापार-व्यवहार करना।

४ कूट-तुला कूट-मान—धान्यादि अथवा चाँदी-सोना आदि तोली जाने वाली वस्तु के तोल में न्यूनाधिकता करना अर्थात् चालाकी से लेते समय अधिक और देते समय कम तोल कर देना। इसी प्रकार नापने योग्य वस्त्रादि के नाप में न्यूनाधिकता करना।

खोटे तोल और नाप से कम देना और अधिक लेना भी चतुराई अथवा चालाकीपूर्वक चोरी है। न्यूनाधिक तोल-नाप करने वाला अपने मन में ग्राहक या विक्रेता को गुप्त रूप से कम देने और अधिक लेने का प्रयत्न करता है। यह सेंध लगा कर, ताला तोड़ कर और डाका डाल कर की हुई चोरी तो नहीं है, परन्तु चालाकीपूर्वक भुलावा देकर की हुई ठगाई अवश्य है।

यह अतिचार वहीं तक है कि बिना लालच के मात्र गतानुगतिकता से या कला-चातुरी की भावना से की जाय। यदि लोभ से कूट-तुला कूट-मान किया जाय, तो अनाचार होता है।

५ तत्प्रतिरूपक व्यवहार—अच्छी वस्तु के समान दिखाई देने वाली बुरी वस्तु देना। किसी वस्तु

का सौदा करते समय अच्छी या असली वस्तु दिखा कर सौदा करना, किन्तु देते समय वैसी ही दिखाई देने वाली बुरी या नकली वस्तु देना, अथवा अच्छी में बुरी वस्तु मिला कर देना। जैसे–असली घृत में चरबी या वनस्पती घी मिला कर असली के रूप में देना। असली केसर, कस्तूरी आदि का मूल्य ले कर नकली देना, उच्चकोटि का नमूना दिखा कर हलका निम्नकोटि का माल देना, फिर चाहे वह धान्य, वस्त्र, तेल, गुड़, धातु, यंत्र आदि कुछ भी हो। कुरूप कन्या का सम्बन्ध करने के लिए दिखाते समय सुन्दर कन्या दिखाई जाय और फिर कुरूपा ब्याह दी जाय। नकली दवाइयाँ, नकली इंजेक्शन, नकली रुपया, नकली नोट आदि असली के समान दिखाई देने वाली नकली वस्तु देना। यह कृत्य धोखा है, विश्वासघात है। लोभवश यह कुकृत्य किया जाय तो अनाचार है। इससे व्रत ही नष्ट हो जाता है। किन्तु विना लोभ के किसी की आज्ञा के अधीन हो कर विवशतापूर्वक, उदासीन भाव से या वैसे ही अन्य कारण से करे, तो भी अतिचार दोष से तो व्रत दूषित होता ही है।

ये पाँचों दोष तभी अतिचार रह सकेंगे, जब कि लोभवश इनका सेवन नहीं किया गया हो। यदि लोभवश इन दोषों का सेवन किया जाय, तो ये अनाचार हो कर व्रत को ही नष्ट कर देते हैं। इसलिए इन अतिचारों से भी बच कर व्रत को सुरक्षित रखना चाहिए।

यह व्रत श्रावक की प्रामाणिकता, विश्वासपात्रता और प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला है। इस व्रत का निरतिचार यथावत् पालन करने से जीवन प्रभावशाली होता है। जीवन में शान्ति बनी रहती है और परलोक भी सुधरता है।

स्वपत्नी संतोष व्रत

श्रावक का चौथा व्रत है–'स्वपत्नी-संतोष।' संसारी जीवों के साथ आहारसंज्ञा के समान मैथुन-संज्ञा भी अनादि काल से लगी हुई है। काम-भोग की लालसा न्यूनाधिक परिमाण में सर्वव्यापक है। पाँच इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति, सिवाय त्यागी संतों के सभी जीवों में विद्यमान है।

चौथा व्रत ब्रह्मचर्य पालन करने का है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है–आत्म-निष्ठ रहना, इन्द्रियों के विषय-विकारों से विरत रहना। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में अनासक्त रहना। जो काम-भोग से विरत रहता है, वह ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से पालन कर सकता है। जो काम-भोग में आसक्त है, वह अब्रह्म-सेवी है। साधारणतया चौथे व्रत का सम्बन्ध, पुरुष स्त्री और नपुंसक सम्बन्धी मैथुन सेवन से है। अब्रह्म के भी दो भेद हैं;–१ सूक्ष्म और २ स्थूल। वेदमोहनीय कर्म के उदय से कामोद्दीपन हो कर मन

विजय पाना महा दुष्कर है (उत्तरा. १६-१४)। ब्रह्मचर्य की साधना, कामोद्दीपक निमित्तों के सम्पर्क में रह कर करना बड़ा कठिन है। इसके लिए उन सभी निमित्तों से पृथक् ही रहना चाहिए, जिनसे वेद-मोहनीय कर्म के उदय को प्रोत्साहन मिलता है।

सम्पूर्णरूप से मैथुन-कर्म का त्याग सर्वत्यागी निर्ग्रंथ तो करते ही हैं, परन्तु कई श्रावक भी ऐसे होते हैं, जो मैथुन के सर्वथा त्यागी होते हैं। मैथुन का त्याग तीन करण, तीन योग से भी होता है और कम से कम एक करण, एक योग से भी। साधारणतया मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का एक करण, एक योग से त्याग किया जाता है। साधारण मनुष्यों को पुत्र-पुत्री आदि का विवाह करना-कराना पड़ता है। इसलिए वे इससे अधिक का त्याग नहीं करते।

सदार-संतोष व्रत के अतिचार

स्थूल ब्रह्मचर्य के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) **इत्वरिका परिगृहीतागमन**—विवाहित पत्नी यदि इत्वरिका—अल्पवयस्का—भोग के अयोग्य हो, तो उसके साथ गमन करना अतिचार है। ऐसा करने से उस इत्वरिका के साथ अत्याचार होता हैं, उसे असह्य पीड़ा होती है और उसकी आरोग्यता नष्ट होती है। यह पाशविकता है। विधिवत् स्वदारा होते हुए भी वह भोग-योग्य नहीं है। अतएव उसके साथ गमन करना, व्रत को दूषित करना है।

कुछ शास्त्रकार इस अतिचार का अर्थ इस प्रकार करते हैं;—किसी अनाथ या स्वच्छन्द स्त्री को द्रव्यादि दे कर 'कुछ काल के लिए' स्वदारा वना कर, उसके साथ गमन करना—'इत्वरिका परिगृहिता-गमन' है। वे 'इत्वरिक' का अर्थ—'थोड़ी उम्र वाली' नहीं करके "थोड़े काल के लिए" करते हैं। किंतु यह अर्थ व्रत के अनुरूप नहीं है। क्योंकि ऐसी स्त्री विधिवत् स्वदारा (पत्नी) नहीं होती। पत्नी के साथ लग्न, जीवन-पर्यन्त के लिए होता है। इस अवैध सम्बन्ध के मूल में भोगभावना तीव्रतर होती है। अतएव यह अर्थ व्रत के भाव को ही गिराने वाला है।

(२) **अपरिगृहीतागमन**—योग्य वय और वाग्दत्ता होने पर भी विधिवत् लग्न होने के पूर्व गमन करना। जब तक विधिवत् लग्न नहीं हो जाय, तब तक वाग्दत्ता (सगाई की हुई) भी कुमारिका ही है, स्वदारा (पत्नी) नहीं। ऐसी कुमारिका के साथ गमन करना भी दूषण है, अनीति है और अनिष्ट परिणाम का कारण है।

कुछ शास्त्रकार इस 'अपरिगृहीता गमन' का अर्थ इस प्रकार करते हैं;—"जो स्त्री, किसी की गृहीता (पत्नी) नहीं है—अविवाहिता, पतिरहिता, विधवा, परित्यक्ता, स्वच्छन्दाचारिणी या वेश्या हो,

ऐसी स्त्री के साथ गमन करना।" वे सोचते हैं कि यह तो पति के साथ सम्बन्धित नहीं है–स्वतन्त्र है, यदि पति हो भी, तो यह उसका अधिकार नहीं मानती, ऐसी स्वच्छन्द स्त्री को अपनाने से व्रत का भंग नहीं होता। वह स्वेच्छा से ही मेरी होने को तत्पर है, इसलिए यह भी मेरी स्वदारा के समान है"–इस प्रकार सोचना भी अनुचित है। वास्तव में स्वदारा वही है जो नियमानुसार लग्न ग्रंथी से बँधी हो। भोग-लालसा से ऐसे अनैतिक गुप्त सम्वन्ध वनाना, व्रत की त्याग-भावना को नप्ट करना है।

कहा है कि उपरोक्त दोनों अतिचार तभी तक माने जाते हैं, जव तक कि इत्वरिका और अपरिगृहीता के साथ अलाप-संलापादि तक ही सीमित रहे, संभोग-सम्वन्ध नहीं वने। संभोग-सम्वन्ध बनने पर ये अनाचार हो कर व्रत-भंजक होते हैं।

यह भी कहा है कि जो व्रतधारी श्रावक ऐसा सोचता है कि–"मेरे स्वपत्नी के अतिरिक्त स्त्री से संभोग करने का त्याग है। मैं यदि किसी स्त्री को (–जो किसी की पत्नी नहीं है–स्वतन्त्र है) अपनी वना कर संभोग करूँ, तो भी मेरा व्रत अक्षुण्ण रहेगा,"–इस प्रकार सोच कर जो सेवन करता है, तो उससे व्रत भंग भी होता है और मन में व्रत की अपेक्षा रही हुई है, इसलिए अभंग (कायम) भी रहता है। इस प्रकार इस मत से ये दोनों अतिचार "भंगाभंग" रूप है।

वास्तव में व्रत के उद्देश्य पर ध्यान देने से ये व्याख्याएँ व्रतभावना को मन्द कर के गिराने वाली है। व्रत की परिधि में अतिचार, विधिवत् विवाहित-पत्नी से ही सम्वन्धित हैं।

(३) अनंग क्रीड़ा–१ कामक्रीड़ा–परस्त्री के साथ आलिंगन, चुम्वनादि क्रीड़ा, २ अनंग–जो अंग साधारणतया संभोग करने का है, उसे छोड़ कर अन्य अंगों (हाथ, मुंह, गुदा आदि या चमड़ा, रवर फल या वैसे ही किसी साधन) से क्रीड़ा करना। यदि व्रतधारी, मोहमत्त हो कर यह सोचे कि "मेरे परस्त्री के साथ–'सूची-सूत्र सम्वन्धवत्' संभोग के त्याग है, इसलिए मैं वैसा नहीं कर के परस्त्री के अन्य अंगों के साथ क्रीड़ा करूँ, तो मेरे व्रत में कोई वाधा नहीं आ सकती"–इस प्रकार सोच कर जो परस्त्री के अन्य अंगों से क्रीड़ा करे, तो यह अतिचार लगता है। तथा जिन पर्वतिथियों आदि में स्वपत्नी के साथ भी संभोग करने का त्याग है, उन तिथियों में स्वपत्नी के साथ भी अनंग-क्रीड़ा करना अतिचार है।

(४) पर-विवाहकरण–अपना और अपने भाई-वहिन और पुत्र-पुत्री आदि के अतिरिक्त दूसरों का सम्वन्ध जुड़ाना, विवाह करना-कराना, उन्हें मैथुन-कर्म रूपी पाप में जोड़ना है। कई लोग कन्यादान और दूसरे का घर वसाने में पुण्य समझते हैं और ऐसा समझ कर दूसरों का विवाह करते-कराते हैं। श्रावक, मैथुन कर्म को पाप समझ कर त्याग करता है, फिर दूसरों के विवाह कराने में पुण्य कैसे मान सकता है? अपने पुत्र-पुत्रादि का विवाह भी वह अपना उत्तरदायित्व समझ कर करता है। ऐसा नहीं

करने पर उनके उन्मार्ग-गमन की संभावना रहती है। इसलिए उन्हें मर्यादित रखने के लिए लग्न करते हैं, परंतु पुण्य या धर्म समझ कर लग्न नहीं करते। महाराजाधिराज चेड़ा, एक उत्तम श्रावक थे। उन्होंने तो अपनी सन्तान का विवाह करना भी त्याग दिया था।

(५) कामभोग तीव्राभिलाष-इन्द्रियों के विषय-भोग में अति आसक्त होना, गृद्ध बनना। आसक्ति, व्रत-भावना की उपेक्षा करवाती है। भोग में अधिक प्रवृत्त होने के लिए कई लोग कई प्रकार की उत्तेजक औषधियों का सेवन करते हैं। कामशास्त्र में बताये प्रयोगों से कामोद्दीपन करके रति-क्रीड़ा में रत रहते हैं। स्वपत्नी के साथ भी कामभोग में अति आसक्त रहना, व्रत को दूषित करना है-अतिचार है।

उपरोक्त पांच अतिचार स्वदार-संतोष व्रत धारक श्रावक के लिए त्यागने योग्य है। सम्बोध-प्रकरणकार श्री हरीभद्रसूरिजी का मत है कि ये पांच अतिचार स्वदारा-संतोषी के लिए है। 'परदारा विवर्जन' व्रत वाले के लिए प्रथम के दो अतिचारों को छोड़ कर शेष तीन अतिचार हैं। जो इत्वरिका-परिगृहीता गमन और अपरिगृहीता गमन अतिचार के अर्थ में, स्वपत्नी के सिवाय अन्य स्त्री को ग्रहण करते है, वे भी सदारसंतोषी के लिए तो ऐसी स्त्री के साथ संभोग करना, व्रत को नष्ट करना मानते हैं। वे कहते हैं कि इन अतिचारों का सम्बन्ध परदार-वर्जक श्रावक से है। अतएव उनके लिए यह अर्थ नही लेना ही उचित है।

उपरोक्त विचार, पुरुष वर्ग को लक्ष्य में रख कर किया गया है। स्त्रियां व्रत धारण करे, तब 'स्त्री,' 'दार' या 'पत्नी' के स्थान पर उन्हें 'पुरुष,' 'पति' या 'भर्त्ता' शब्द का व्यवहार करना चाहिए। स्त्रियों के लिए इस व्रत में केवल 'स्वपति-संतोष व्रत' ही है, 'पर पति त्याग' नहीं।

मैथुन क्रिया में ज्ञानियों ने जीवों की हिंसा बतलाई है। यथा-"**मेहुणसण्णारूढो हणेइ-णवलक्ख सुहुमजीवाणं।**"

-मैथुन सेवन करने वाला नौ लाख सूक्ष्म जीवों की हिंसा करता है। ये नौ लाख सूक्ष्म एकेन्द्रिय नहीं, परन्तु बादर नाम-कर्म के उदय वाले अचाक्षुष मनुष्य हैं। 'सम्बोधप्रकरण' के तीसरे अधिकार गा. ७३ से लिखा है कि-

इत्थिण जोणिमज्झे, गब्भगया चेव हुंति नवलक्खा।
इक्को व दो व तिण्णि व, * गब्भपुहुत्तं च उक्कोसं ॥७३॥
इत्थिण जोणिमज्झे, हवंति बेंदिया असंखाय।
उप्पज्जंति चयंति य, समुच्छिमा जे ते असंखा ॥७४॥

* मुद्रित प्रति में 'गब्भपुहुत्तं' है और 'संबोध सप्ततिका' आदि में 'लक्खपुहुत्तं'-नौ लाख है। भगवती सूत्रानुसार '**नौ लाख**' होना उचित है।

त्थीसंभोगे समगं तेसिं जीवाण हुंति उद्दवणं।

रुयगनलियाजोगप्पओगदिट्ठंतसब्भावा ॥७६॥

अर्थात्–स्त्रियों की योनि में नौ लाख गर्भज जीव (मनुष्य) होते हैं। इनमें से एक, दो, तीन और अधिक से अधिक गर्भपृथक्त्व पुत्र रूप में उत्पन्न होते हैं। स्त्रियों की योनि में बेइन्द्रियादि त्रस जीव असंख्य उत्पन्न होते हैं और मरते हैं और सम्मूर्च्छिम मनुष्य भी असंख्य उत्पन्न होते और मरते हैं। स्त्री-संभोग के समय 'रुई नलिका-योग प्रयोग' द्रष्टांत के सद्भाव से उन सभी जीवों का एक साथ विनाश हो जाता है।

'रुई-नलिका' न्याय, भगवती सूत्र श. २ उ. ५ में है। जैसे रुई से भरी हुई नलिका में तप्त लोह-सलाका डालने से रुई जल जाती है, उसी प्रकार मैथुन-क्रिया से, स्त्री-योनि में रहे हुए जीव मर जाते हैं। रुई-नलिका के साथ 'बुरनलिका' न्याय भी भगवती सूत्र में है।

इस प्रकार मैथुन-कर्म हिंसक है और मोह-मद में चूर करने वाला है। उत्तराध्ययन अ. ९ में कहा है कि–

"सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।

कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं" ॥५३॥

काम-भोग शल्य रूप है, काम-भोग विष रूप है, आशीविष सर्प के समान इस काम-भोग की अभिलाषा रखने वाला, विना काम-भोग भोगे भी दुर्गति में जाता है।

जो भव्य जीव ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करते हैं. वे निकट-भवी और देव-पूज्य होते हैं। जो पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी नहीं हो सकते, उन्हें स्वदार-संतोष व्रत धारण कर निर्दोष रीति से पालन करना चाहिए।

परिग्रह परिमाण व्रत

परिग्रह–छोटी या बड़ी किसी भी प्राप्य या अप्राप्य वस्तु पर ममत्व, आसक्ति एवं गृद्धिभाव रखना–परिग्रह है। यह परिग्रह दो प्रकार का है–१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का है। यथा–१ क्षेत्र (खेत) बाग-बगीचे २ वास्तु–घर गाँव ३ चाँदी ४ सोना ५ धन (१ गिनती के योग्य–नारियल, जायफल आदि तथा रुपये, पैसे, नोट आदि २ तोल में आने योग्य–गुड़-शक्कर आदि ३ नापा जाने वाला–घृत-तेल आदि और ४ परखे जाने वाले–रत्न, मणि और वस्त्र आदि यों चार प्रकार का धन) ६ धान्य–गेहूं, मक्का, जौ, जुआर, बाजरा, चना आदि ७ द्विपद–स्त्री-पुत्रादि, दास-दासी और

तोता-मैना आदि ८ चतुष्पद—गाय, भैंस, घोड़ा, बैल आदि और ९ कुप्य—तांबा, पीतल, कांसी आदि के बर्तन, मेज, कुर्सी, पलंग, बिस्तर, पहनने, ओढ़ने, बिछाने के वस्त्र और वाहन आदि घर की सभी वस्तुएँ।

आभ्यन्तर परिग्रह (आत्मा से ग्रहण किये जाने योग्य) चौदह प्रकार का है। यथा—१ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ मिथ्यात्व ६ हास्य ७ रति ८ अरति ९ भय १० शोक ११ घृणा १२ स्त्रीवेद १३ पुरुषवेद और १४ नपुंसकवेद।

उपरोक्त बाह्य परिग्रह का यथायोग्य परिमाण कर के शेष आशा, तृष्णा और मूर्च्छा को त्याग देना और लोभ पर अंकुश लगा कर मर्यादित रखना। यह त्याग भी जघन्य, मध्यम और उत्तम, यों तीन प्रकार का है। वर्त्तमान परिग्रह से कुछ विशेष (भविष्य में प्राप्त करने की इच्छा) रख कर शेष का त्याग करना—जघन्य कोटि का परिग्रह परिमाण व्रत है। प्राप्त परिग्रह में ही संतुष्ट रह कर विशेष बढ़ाने का त्याग करना, मध्यम-श्रेणी का व्रत है और प्राप्त में से भी त्याग कर अल्प रखना या सर्वथा त्याग देना, उत्तम कोटि का व्रत है।

आभ्यन्तर परिग्रह—अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व—इन पांच का त्याग (क्षयोपशमादि) होने पर इस व्रत की आराधना होती है। मिथ्यात्व (और अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क) का त्याग तो पहले ही हो जाता है, तभी चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है। अप्रत्याख्यानी चौक का क्षयोपशमादि होने पर ये प्रत्याख्यान होते हैं। इस व्रत के धारक में प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय-चतुष्क यथायोग्य उदय में रहती है। यही आभ्यन्तर परिग्रह इस व्रत में रहता है। देशविरत श्रावक के बाह्य परिग्रह का भी देश-त्याग होता है और आभ्यन्तर परिग्रह का भी इसी प्रकार देश-त्याग होता है। यदि कुटुम्ब आदि कारणों से बाह्य परिग्रह मर्यादानुसार रखते हुए भी आत्मा में आसक्ति नहीं रहे और रुक्ष भाव रखे तो आभ्यन्तर अलिप्तता विशेष रह सकती है।

यह व्रत लोभ-संज्ञा पर अंकुश रखता है। अपरिमित लोभ, नरक जैसी अधोगति का कारण है। आत्मा के लिये शत्रु के समान है। व्रत की मर्यादा में रह कर अनन्त लोभ का त्याग करना, आत्मा को हलकी बना कर उत्थान करना है। 'सम्बोधप्रकरण' में कहा है कि—

> "जह जह अप्पो लोहो, जह जह अप्पो परिग्गहारंभो।
> तह तह सुहं पवड्ढइ, धम्मस्स य होइ संसिद्धी" ॥६२॥

—ज्यों-ज्यों लोभ कम होता है और ज्यों-ज्यों परिग्रह का आरम्भ कम होता है (या आरम्भ और परिग्रह घटता है) त्यों-त्यों संतोष-जन्य सुख बढ़ता है और धर्म (आत्मा) की सिद्धि होती है।

अतिचार

परिग्रह-परिमाण व्रत की मर्यादा का अतिक्रमण करने से व्रत दूषित होता है। इस व्रत के पांच

अतिचार इस प्रकार है;-

(१) **क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम**-खेत बाग और घर दुकान आदि का जो परिमाण किया, उसे स्मरण नहीं रख कर अनुपयोग से मर्यादा से अधिक रखना। अथवा-खेत, घर आदि मर्यादा से अधिक बढ़ाना भी है और व्रत को भी कायम रखना है। इसलिए ऐसा सोचे कि-'पड़ोसी का खेत या मकान लेकर अपने पहले वाले खेत या मकान के बीच का अन्तर मिटा कर दोनों को एक कर दूं, जिससे खेत या मकान की संख्या व्रत के अनुसार रहे,'-इस प्रकार सोच कर वृद्धि करना अतिचार है।

वस्तुतः मर्यादित क्षेत्र-वास्तु के विस्तार और मूल्य में वृद्धि होने के कारण व्रत का भंग होता है, किन्तु व्रत की भावना से संख्या में वृद्धि नहीं होने के कारण व्रत का भंग नहीं हुआ। इस प्रकार यह भंगाभंग रूप अतिचार माना गया।

(२) **हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम**-चाँदी और सोने की सिल्लियाँ अथवा आभूषणों की मर्यादा करने के बाद कहीं से भेंट या पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हो, अथवा उत्तराधिकार में मिले और लोभवश उनका त्याग भी नहीं कर सके, तब व्रत को बचाने के लिए उसे किसी विश्वस्त स्थान पर धरोहर के रूप में रखे और बाद में अपने चाँदी-सोने या गहने को बेच कर या पत्नी-पुत्रादि अपने ही जन के नाम करके, उस आये हुए चाँदी-सोने को अपनी सम्पत्ति में मिला कर व्रत की सुरक्षा माने, तो अतिचार है। इस प्रकार करने से भी वह सभी सम्पत्ति उसीके स्वामित्व की होने से बढ़ी हुई सम्पत्ति से व्रत-भंग और व्रत की अपेक्षा रखने से अभंग, इस प्रकार भंगाभंग होने के कारण अतिचार है।

(३) **धन-धान्य प्रमाणातिक्रम**-मर्यादित धन-धान्य में किसी ऋणी (देनदार) से अथवा भेंट, पुरस्कार या उपहार से प्राप्त होने पर, उस बढ़े हुए धन-धान्य को भी रखने की भावना से कुछ काल के लिए उसे अपने ऋणी या दाता के यहां अथवा किसी अन्य विश्वस्त स्थान पर रख छोड़े और बाद में अपने पास का बेच कर या खर्च करके फिर उसे अपने धन-धान्य में मिलावे, तो यह भी भंगाभंग अतिचार है।

(४) **द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम**-व्रत की मर्यादा करते समय या बाद में दासी और पशु के गर्भ में जीव हो और उसके उत्पन्न होने से संख्या में वृद्धि हो, इस प्रकार बिना प्रयत्न के बढ़ी हुई सम्पत्ति पर स्वामित्त्व रखना भी अतिचार है।

(५) **कुप्य प्रमाणातिक्रम**-चाँदी और सोने के सिवाय अन्य धातुओं के बर्तन और गृहस्थोपयोगी अन्य साधनों के परिमाण का अतिक्रमण करना। परिमाण के उपरान्त दायज, उपहार या अन्य किसी प्रकार के लेन-देन के व्यवहार में आये हुए बर्तनादि को रखने की इच्छा से प्राप्त कर लेना और बाद में किसी टूटे-फूटे को निकाल देना या दो को तोड़ कर एक बनवा कर संख्या पूरी करना। यह भी भंगाभंग रूप अतिचार है।

सेवन, वह अपने घर-ग्रामादि में रह कर करता है। यद्यपि मनुष्य, लोक के सभी क्षेत्रों में नहीं जा सकता, परन्तु जब तक इच्छा को प्रतिबन्धित कर विरति की रोक नहीं लगा दे, तब तक समस्त लोक की क्रिया लगती है। वह मन-वचन से समस्त लोक का पाप करता है और पत्रादि प्रेषण से करवाता है। विरति के अभाव में वह लोभ या मनोरंजन (मौज-शौक) आदि के लिए कहीं भी जा कर हिंसा-असत्यादि की क्रियाएँ कर सकता है। इसलिए श्रावक, शेष बचे हुए आश्रव को निर्धारित योजनों, कोसों या मीलों में सीमित रख कर, शेष असंख्य-असंख्य योजनों में रहे हुए त्रस ही नहीं, स्थावर जीवों की हिंसा और असत्यादि पाप से निवृत्त हो जाता है। फिर उस त्यक्त क्षेत्र में अत्यधिक लाभ की स्थिति हो, तो भी वह नहीं जाता और उत्कृष्ट दृश्यों, शब्दों, रसों और भोगों का प्रलोभन हो, तो भी वह उपेक्षा कर देता है। यह व्रत, उसकी आशा-तृष्णा तथा भोगादि के क्षेत्र को सीमित करने के साथ मन में रही हुई विषय-कषाय की वृत्ति को भी कम कर के, आत्मा को उतने परिमाण में विशुद्ध बना देता है, संतोषित कर देता है। यह एक ही गुणव्रत असंख्य-असंख्य योजन प्रमाण क्षेत्र के पाप को समाप्त कर देता है। आत्मा का कितना उपकार करता है-यह प्रथम गुणव्रत ?

प्रथम गुणव्रत को धारण करता हुआ श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि-"हे भगवन् ! मैं ऊर्ध्व + अधो * और तिर्यक् ● दिशाओं में अमुक योजन प्रमाण क्षेत्र में ही अपनी प्रवृत्ति को सीमित कर शेष रहे हुए लोक में सावद्य प्रवृत्ति करने का दो करण और तीन योग से त्याग करता हूँ।"

इस प्रतिज्ञा के द्वारा जीवनभर के लिए अपनी देश-विरती युवत प्रवृत्ति की भी सीमा निश्चित् की जाती है और उसके आगे के छहों दिशा के असंख्य गुण क्षेत्र के पाप का त्याग किया जाता है।

अतिचार

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं-

१ **ऊर्ध्व-दिशा प्रमाणातिक्रम**-पर्वत, पहाड़ या वायुयानादि साधनों से ऊपर की ओर जाने की ऊँचाई का जो परिमाण किया है, उसका उल्लंघन करना।

२ **अधो-दिशा प्रमाणातिक्रम**-तलघर, कुआँ, खान आदि नीचे की ओर जाने का जो परिमाण किया है, उसका अतिक्रमण करना।

+ ऊँचा-पर्वत पर या वायुयान से ऊँचा जाने की सीमा निर्धारित करना।

* नीचा-कुआँ, तलघर, खान और समुद्र की गहराई में जाने की सीमा निर्धारित करना।

● तिरछा-गाँव, नगर, देश और राष्ट्रादि में चारों दिशाओं या विदिशा सहित आठों दिशाओं में जाने के योजनों, कोसों या मीलों की मर्यादा करना।

संख्या मर्यादित रहते हुए भी नई वस्तु, विशेष मूल्यवान् होने के कारण परिग्रह में वृद्धि होती है और नई मूल्यवान् वस्तु के प्रति विशेष राग होने के कारण आसक्ति भी बढ़ती है। इस दृष्टि से व्रत भंगरूप अनाचार होता है। किन्तु व्रत को कायम रखने की मति होने के कारण व्रत का सद्भाव मान कर अतिचार बतलाया है। वैसे अतिचार की सीमा संकल्प, तत्परता और सामग्री जुटाने तक मानी गई है। अतिक्रम तो मात्र संकल्प तक ही सीमित रहता है। मर्यादा तोड़ना अतिचार नहीं, अनाचार होता है।

कुछ ग्रंथकारों का मन्तव्य इस व्रत की मर्यादा जीवन पर्यन्त के अतिरिक्त कुछ निर्धारित काल (वर्ष, दो-तीन वर्ष आदि) के लिए भी होना मानते हैं। इसलिए अतिचारों के विवेचन में वे लिखते हैं कि—यदि धन-धान्यादि परिमाण से अधिक आ जाय, तो उन्हें तब तक के लिए उसी व्यक्ति के पास रख छोड़े जब तक व्रत की काल-मर्यादा पूरी न हो जाय। काल पूरा होने पर लेले, तो अतिचार लगे। इस प्रकार लिये हुए व्रत में भविष्य में अविरत होने की इच्छा रहती है। वास्तव में अणुव्रत-गुणव्रत तो जीवनपर्यन्त होना चाहिए।

धन का अत्यंत लोभ, झूठ, कपट, चोरी, हत्या, व्यभिचार, अन्याय, भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि कई पाप करवाता है और परिणाम में इस भव में निंदा, अप्रतिष्ठा, राज्यदण्ड, क्लेश आदि दुःख और परभव में दुर्गति होती है। इसलिए परिग्रह की मर्यादा कर के लोभ की मात्रा कम करनी चाहिए, जिससे यह भव भी सुधरे और आत्मा ऊर्ध्वगामी हो कर परभव में भी सुखी बने।

दिशा-परिमाण व्रत

पांच गुणव्रतों के वर्णन के बाद, क्रम प्राप्त तीन गुणव्रत बताये जाते हैं। गुणव्रत, अहिंसादि अणुव्रतों में विशेष गुण उत्पन्न करते हैं, शक्ति बढ़ाते हैं और आत्मा की सावद्य प्रवृत्तियों को सीमित कर, गुणों का विकास करते हैं।

प्रथम गुणव्रत है—दिशा-परिमाण व्रत। श्रावक ने हिंसा-असत्यादि का देश-त्याग किया है, किन्तु उसका कार्य-क्षेत्र सीमित नहीं है। यद्यपि वह लोक के कुछ भाग में ही रह कर अपनी प्रवृत्ति करता है, तथापि वह किसी भी सुदूर स्थान पर प्रवृत्ति करने में स्वतन्त्र है। उसके लिए सारा लोक खुला हुआ है। लोक का असंख्यात गुण क्षेत्र ऐसा होता है कि जिसमें प्रवृत्ति नहीं होते हुए भी अमर्यादित वृत्ति के कारण अविरती का पाप लगता ही रहता है। त्याग के अतिरिक्त जो और जितना आश्रव खुला रहा है, वह समस्त लोक और उसकी सभी दिशाओं में, असंख्य योजन प्रमाण क्षेत्र में खुला है। अवसर और अनुकलता मिलने पर, वह कहीं भी जा कर, उन पाँचों आश्रवों का सेवन कर सकता है कि जिनका

सेवन, वह अपने घर-ग्रामादि में रह कर करता है। यद्यपि मनुष्य, लोक के सभी क्षेत्रों में नहीं जा सकता, परन्तु जब तक इच्छा को प्रतिबन्धित कर विरति की रोक नहीं लगा दे, तब तक समस्त लोक की क्रिया लगती है। वह मन-वचन से समस्त लोक का पाप करता है और पत्रादि प्रेषण से करवाता है। विरति के अभाव में वह लोभ या मनोरंजन (मौज-शौक) आदि के लिए कहीं भी जा कर हिंसा-असत्यादि की क्रियाएँ कर सकता है। इसलिए श्रावक, शेष बचे हुए आश्रव को निर्धारित योजनों, कोसों या मीलों में सीमित रख कर, शेष असंख्य-असंख्य योजनों में रहे हुए त्रस ही नहीं, स्थावर जीवों की हिंसा और असत्यादि पाप से निवृत्त हो जाता है। फिर उस त्यक्त क्षेत्र में अत्यधिक लाभ की स्थिति हो, तो भी वह नहीं जाता और उत्कृष्ट दृश्यों, शब्दों, रसों और भोगों का प्रलोभन हो, तो भी वह उपेक्षा कर देता है। यह व्रत, उसकी आशा-तृष्णा तथा भोगादि के क्षेत्र को सीमित करने के साथ मन में रही हुई विषय-कषाय की वृत्ति को भी कम कर के, आत्मा को उतने परिमाण में विशुद्ध बना देता है, संतोषित कर देता है। यह एक ही गुणव्रत असंख्य-असंख्य योजन प्रमाण क्षेत्र के पाप को समाप्त कर देता है। आत्मा का कितना उपकार करता है—यह प्रथम गुणव्रत ?

प्रथम गुणव्रत को धारण करता हुआ श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि—"हे भगवन् ! मैं ऊर्ध्व + अधो * और तिर्यक् • दिशाओं में अमुक योजन प्रमाण क्षेत्र में ही अपनी प्रवृत्ति को सीमित कर शेष रहे हुए लोक में सावद्य प्रवृत्ति करने का दो करण और तीन योग से त्याग करता हूँ।"

इस प्रतिज्ञा के द्वारा जीवनभर के लिए अपनी देश-विरती युक्त प्रवृत्ति की भी सीमा निश्चित् की जाती है और उसके आगे के छहों दिशा के असंख्य गुण क्षेत्र के पाप का त्याग किया जाता है।

अतिचार

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—

१ **ऊर्ध्व-दिशा प्रमाणातिक्रम**—पर्वत, पहाड़ या वायुयानादि साधनों से ऊपर की ओर जाने की ऊँचाई का जो परिमाण किया है, उसका उल्लंघन करना।

२ **अधो-दिशा प्रमाणातिक्रम**—तलघर, कुआँ, खान आदि नीचे की ओर जाने का जो परिमाण किया है, उसका अतिक्रमण करना।

\+ ऊँचा—पर्वत पर या वायुयान से ऊँचा जाने की सीमा निर्धारित करना।

* नीचा—कुआँ, तलघर, खान और समुद्र की गहराई में जाने की सीमा निर्धारित करना।

• तिरछा—गाँव, नगर, देश और राष्ट्रादि में चारों दिशाओं या विदिशा सहित आठों दिशाओं में जाने के योजनों, कोसों या मीलों की मर्यादा करना।

३ तिर्यक्-दिशा प्रमाणातिक्रम—पूर्वादि दिशाओं में जाने के परिमाण का उल्लंघन करना।

ये अतिक्रमण बिना विचारे, भूल से या अचानक हो जाय, तभी अतिचार है। जान-बूझ कर अतिक्रमण करना अनाचार है। इन से व्रत भंग होता है। दो करण और तीन योग से त्याग करने वाला श्रावक, न तो स्वयं मर्यादित सीमा से बाहर जा सकता है और न किसी को भेज सकता है, तथा न कुछ वस्तु या पत्रादि ही भेज सकता या मँगवा सकता है।

४ क्षेत्र-वृद्धि—किसी एक दिशा में मर्यादित भूमि से आगे जाने की इच्छा हो, तब उतना क्षेत्र, उस दिशा की मर्यादा में बढ़ा कर, दूसरी दिशा में उतना क्षेत्र कम कर के, समन्वय रूप से अपने व्रत को सुरक्षित माने, तो यह अतिचार है। क्यों कि व्रत ग्रहण करते समय उस दिशा में जितनी सीमा रखी थी, उससे आगे तो गया ही है और यह आगे जाना व्रत-भंग करना ही हुआ। किन्तु व्रत को सुरक्षित रखने की भावना से अन्य दिशा में मर्यादित भूमि से उतनी सीमा कम कर दी। अतएव व्रत रखने की भावना के कारण इसे अतिचार माना गया है।

५ स्मृति-भ्रंश—व्रत में किये हुए दिशाओं के परिमाण को भूल जाना और सन्देहशील अवस्था में आगे बढ़ना। जैसे—कोई व्यक्ति जब कहीं दूर जा रहा है, तब वह विचार करे कि मेरी दिशा-मर्यादा कितनी है ?—सौ या पचास योजन ? ऐसी सन्देहावस्था में पचास योजन से आगे बढ़े तो अतिचार है और सौ योजन से आगे बढ़े, तो अनाचार है।

व्रत को सदैव स्मरण करते रहने से ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होती। यदि भावों में व्रत का आदर नहीं हो, तो अविरति रुकती नहीं। व्रत का भावपूर्वक पालन ही वास्तविक फल देता है।

शंका हो सकती है कि—जब हम अपना देश, प्रांत या राष्ट्र छोड़ कर, अन्य सुदूर राष्ट्रों में जाते ही नहीं, तो वहां का अविरतिजन्य पाप हमें लगे ही कैसे ? और ऐसे त्याग का महत्व ही क्या है ? समाधान है कि आज भले ही अनुकूलता के अभाव में कोई सुदूर क्षेत्रों (इंग्लैंड, अमेरिकादि) में नहीं जावे, किन्तु वहाँ के वर्णनों को सुन-पढ़ कर जाने की इच्छा अवश्य करे और आर्थिक या राजनैतिक अनुकूलता होने पर, अथवा रोगोपचारादि कारणों से जाने का प्रसंग भी उपस्थित हो सकता है। आर्थिक अनुकूलता नहीं हो, तो भी राज्य की सहायता से शिक्षा, अनुभव या किसी शिष्टमंडल के साथ भी जाने की अनुकूलता हो सकती है। इस प्रकार स्वेच्छा से कहीं भी जाया जा सकता है। यदि व्रत हो, तो वहां जाना रुक सकता है। यदि व्रत के कारण स्वेच्छा से नहीं जाय और विवश हो कर जाना पड़े, तो पाँचों आश्रवों का सर्वथा त्याग कर के, संवरमय जीवन बिताना पड़ता है। स्वदेश में भी सुदूर आसाम, मद्रास आदि प्रांतों में, किसी स्वजन के रोग-वियोगादि या किसी खास कार्य-प्रसंग से अथवा वहां के न्यायालय किसी की साक्षी देने के लिए जाने का प्रसंग हो और नहीं जाने पर वारंट से बरबस ले जाने की

स्थिति उत्पन्न हो सकती हो, या किसी षड्यन्त्र में उलझ जाने से राज्य द्वारा बरबस ले जाया जाय, तो ऐसी दशा में वहां संवर युक्त रह कर व्रत की रक्षा करनी होती है ।

यह व्रत साधुओं के लिए नहीं होता, क्योंकि वे तो सभी प्रकार के पापों के त्यागी होते हैं । वे कहीं भी जावें, कोई अन्तर नहीं आता । विचरने योग्य सभी क्षेत्रों में, अपनी मर्यादा के अनुसार विचरण करते हैं । श्रावक के लिए इस व्रत की खास आवश्यकता है । इस से अणुव्रतों में विशेषता उत्पन्न होती है और मोह का घेरा कम होता है ।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत

दूसरा गुणव्रत है –उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत । इस व्रत में मनुष्य के भोग में आने वाली वस्तुओं का परिमाण निश्चित किया जाता है । मनुष्य के खाने, पीने, पहिनने, ओढ़ने, नहाने, उबटन, विलेपन और वाहनादि सेवन में जो-जो वस्तुएँ काम में आती हैं, उन-उन वस्तुओं की मर्यादा कर के शेष सभी वस्तुओं का त्याग होता है ।

उपभोग–भोजन, पानी आदि जो एक बार भोगने में आवे ।

परिभोग–घर, वस्त्र, आभूषण, आसन आदि जो सतत भोगे जाते रहें ।

इस व्रत का दूसरा नाम–'भोगोपभोग परिमाण व्रत' है । भोग का अर्थ उपभोग के समान तथा उपभोग का परिभोग के समान है । प्रथम गुणव्रत में मनुष्य, मात्र क्षेत्र-मर्यादा ही निश्चित करता है । उस क्षेत्र में रही हुई भोग्य वस्तुओं की मर्यादा नहीं करता । उस क्षेत्र की सीमा में रही हुई सभी वस्तुएँ उसके लिए भोग्य रूप में खुली है, भले ही वह उन सभी का भोगोपभोग नहीं कर सके । कोई भी व्यक्ति, सभी प्रकार की सभी वस्तुओं का भोग नहीं कर सकता, किंतु मर्यादा नहीं करने से उसकी इच्छा एवं वृत्तियाँ अनियन्त्रित रहती है और इससे वह जब जो भी वस्तु मिले, उसका भोग कर लेता है। कोई विचार नहीं, काई मर्यादा नहीं। जब वह उपभोग-परिभोग व्रत स्वीकार कर मर्यादा कर लेता है, तो उन मर्यादित वस्तुओं के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का त्याग हो जाता है । उसकी विरति बहुत बढ़ जाती है । इस व्रत से पूर्व के सभी व्रतों में विशिष्टता आती है । आत्म-गुण अधिक विकसित होते हैं । जिस भव्य एवं हलुकर्मी आत्मा में अर्थ और काम की तीव्रता दूर हो कर मन्दता आती है, वही भोगोपभोग की मर्यादा कर सकती है । भोगोपभोग में अरुचि अथवा मन्द रुचि हुए बिना इस दूसरे गुणव्रत की पालना संभव नहीं होती ।

भोगोपभोग योग्य वस्तुएँ छब्बीस प्रकार की कही गई है । यथा–

को पोंछने के अंगोछे आदि का परिमाण।

२ दन्तणविहि–दतौन–दांत साफ करने के साधनों की मर्यादा।

३ फलविहि–मस्तक धोने के लिए आँवला आदि फलों की मर्यादा।

४ अब्भंगणविहि–शरीर पर मालिश करने के तैल आदि का परिमाण।

५ उवट्टणविहि–शरीर पर उबटन करने की पीठी आदि की मर्यादा।

६ मज्जणविहि–स्नान का और उसके लिए जल का परिमाण करना।

७ वत्थविहि–पहनने के वस्त्रों की मर्यादा।

८ विलेवनविहि–चंदन, केसर आदि विलेपन का परिमाण।

९ पुप्फविहि–पुष्पों के उपभोग की मर्यादा करना।

१० आभरणविहि–आभूषणों की मर्यादा करना।

११ धूवविहि–सुगन्धि के लिए धूप का उपयोग करने की मर्यादा।

१२ पेज्जविहि–पेय पदार्थों की मर्यादा।

१३ भक्खणविहि–भोजन में आने वाले पक्वान्न की मर्यादा।

१४ ओदणविहि–पके हुए चावल, खिचड़ी आदि का परिमाण।

१५ सूवविहि–अरहर, मूंग, उड़द आदि की दाल का परिमाण।

१६ विगयविहि–घृत, तेल आदि विगय का परिमाण।

१७ सागविहि–भींडी, तरोई आदि शाक का परिमाण।

१८ माहुरविहि–पके हुए रसीले फलों की तथा सूखे फलों की मर्यादा।

१९ जेमणविहि–भोजन के पदार्थों की मर्यादा।

२० पाणीयविहि–पीने के पानी का परिमाण।

२१ मुखवासविहि– + मुख को सुगन्धित करने के लिए एवं मुख-शुद्धि के लिए खाये जाने वाले लोंग, इलायची आदि का परिमाण।

२२ वाहणविहि–वाहन, घोड़ा, गाड़ी, साइकल, मोटर आदि, जिन पर सवार हो कर भ्रमण अथवा प्रवास किया जाय।

२३ उवाणहविहि–पाँव में पहनने के जूते, मौजे, चप्पल, खड़ाऊ आदि का परिमाण करना।

२४ सयणविहि–सोने के पलंग, विस्तरे आदि का परिमाण।

२५ सचित्तविहि–खाने-पीने और अन्य उपभोग में आने वाली सजीव वस्तुएँ जैसे–फल, वीज,

+ उपाशकदशा में ये २१ प्रकार ही उपभोग-परिभोग के लिखे हैं। श्रावक के आवश्यक में पूरे २६ हैं।

पानी, दत्तुन, पुष्प आदि वस्तुओं का परिमाण।

२६ **दव्वविहि**–खाने-पीने के द्रव्यों की मर्यादा करना।

उपरोक्त २६ बोलों में उपभोग-परिभोग की प्राय: सभी वस्तुएँ आ जाती है। जो इस व्रत को धारण करते हैं, उनका जीवन बहुत ही सात्विक हो जाता है। कुछ ग्रंथों में इन छब्बीस बोलों के बदले चौदह नियम + दिये गये हैं। उपरोक्त २६ बोलों का समावेश इन चौदह नियमों में भी हो जाता है। किंतु चौदह नियम का सम्बन्ध, दूसरे गुणव्रत की अपेक्षा दूसरे शिक्षाव्रत से अधिक संगत लगता है, क्यों कि गुणव्रत जीवन भर के लिए हैं और चौदह नियम दिन-रात के लिए। अतएव इसका उल्लेख दसवें व्रत में किया जायगा।

अतिचार

इस व्रत के अतिचार दो प्रकार के हैं, एक तो भोजन सम्बन्धी और दूसरे कर्म (आजीविका) सम्बन्धी।

भोजन संबंधी अतिचार इस प्रकार हैं।

१ **सचित्ताहार**–त्यागी हुई सचित वस्तु का भूल से अथवा परिमाण से अधिक आहार करना। यह उपयोग-शून्य होकर करे तभी अतिचार है, अन्यथा जान-बूझ कर करने से अनाचार हो जाता है।

२ **सचित्त प्रतिबद्धाहार**–सचित्त वृक्ष से लगा हुआ गोंद अथवा सचित्त बीज से संबंधित अचित्त फल आदि खाना।

३ **अपक्व औषधि भक्षण**– जिन वस्तुओं को पका कर खाया जाता है, उन्हें कच्चा ही खाना, जैसे–शालि, चने, तरोई, भिंडी आदि।

४ **दुष्पक्व औषधि भक्षण**–बुरी तरह से पकाये हुये, होला, भुट्टे आदि की तहर मिश्र (अर्धपक्व) हो उसे खाना। ये अतिचार सचित्त के त्यागी को लगते हैं।

५ **तुच्छौषधि भक्षण**–असार वस्तु–जिसमें खाना कम और फेंकना अधिक हो, जैसे–गन्ना, सीताफल, बेर आदि खाना। ये भोजन संबंधी पाँच अतिचार हैं। कर्म संबंधी पन्द्रह अतिचार इस प्रकार हैं।

१ **अंगार कर्म**–अग्नि के प्रयोग से आजीविका करना 'अंगार कर्म' है। जैसे कोयला बनाना, ईंट, चूना, सिमेंट, मिट्टी के बर्तन आदि बनाना, भट्टी के काम–लोहारपना कुंभकारपना आदि करना,

+ पू. श्री आत्मारामजी म. सा. (भू. पू. उपाध्याय) ने अपनी 'जैनतत्त्वकलिकाविकास' में दूसरे गुणव्रत में इन चौदह नियमों को दिया है।

* 'श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र' के वृत्तिकार श्री श्रीचन्द्राचार्य अपक्व धान्यादि का अर्थ इस प्रकार बताते हैं, जैसे–

इससे अग्नि का अति आरंभ होता है।

२ वन कर्म–वन कटवा कर आजीविका करना। जंगल के ठेके लेना, लकड़ी काट कर अथवा कटवा कर बेचना, पत्तों को तुड़वा कर बेंचना, पुष्प, फल, कन्दादि से अथवा वन काट कर साफ करने का धन्धा करना।

३ शकट कर्म–गाड़ी, इक्के, बग्घी, रथ, नाव, जहाज, मोटर आदि बना कर बेचना और इस प्रकार आजीविका करना।

४ भाटि कर्म–गाड़ी, घोड़े, ऊँट, बैल, मोटर आदि और यन्त्रादि भाड़े चला कर उससे अपनी आजीविका करना।

५ स्फोटक कर्म–सजीव वस्तु को तोड़-फोड़ और खोद कर आजीविका चलाना। जैसे–हल, कुदाली आदि से भूमि फोड़ कर आजीविका करना। कुएँ, तालाब आदि खोद कर, खाने खोद कर, और पत्थर निकाल कर आजीविका करना। धान्य की दालें बना कर, आटा पिसवा कर और चावल बना कर बेचने का धन्धा करना +।

"शालिगोधूमादिधान्यरूपाया भक्षणता भोजनमतिचारः। इदमुक्तं भवति–पिष्टत्वादचेतनमिदमितिसम्भावनया सम्भवत्सचितावयवं" वन्ह्यसंस्कृतं सद्यः पिष्टकणिक्वादिकं भक्षयतोऽतिचारः।

+ '**स्फोटक कर्म**' के विषय में कुछ वर्षों से एक विवाद उठ खड़ा हुआ है। कुछ विद्वान कहते हैं कि–स्फोटक कर्म का अर्थ–'**खेती करना**' नहीं होता। किंतु प्राचीन आचार्यों ने यह अर्थ भी किया है। जैसे–

(१) भगवतीसूत्र श. ८ उ. ५ की टीका में आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने यह अर्थ किया है;–"**फोडीकम्मेत्ति स्फोटिः–भूमेः स्फोटनं हलकुद्दालादिभिः सैव कर्म्म स्फोटिकर्म्म।**"

(२) उपासकदशांग में भी ऐसा अर्थ किया है।

(३) श्रावकधर्म प्रज्ञप्ति' में–"**फोडीकम्मं उडत्तेणं हलेणं वा भूमिफोडओ।**"

(४) श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र की वृत्ति में श्रीचन्द्राचार्यजी ने लिखा कि–'**स्फोटीकर्म उड्ड (त्तणगं) त्वं, यद्वा हलेन कुद्दालादिना वा भूमिदारणेन जीवनम् यवादिधान्यानां सक्त्वादेः करणेन विक्रयो वा। "जवचणया गोहुम-मग्ग-मास-करटिप्पभीणधन्नाणं। सत्तुयदालिकणिक्कातंदुल-करणाई फोडणयं ॥९१॥**

इस प्रकार अन्य अनेक ग्रंथों में स्फोट-कर्म का एक अर्थ, हल से भूमि खेड़ना भी है।

कृषि-कर्म अनन्त स्थावर और असंख्य त्रस जीवों का घातक है। जिस प्रशस्तात्मा श्रावक की अर्थ-काम लालसा तीव्र नहीं, जो इस गुणव्रत का पालक है, वह ऐसे महारंभ का कार्य क्यों करे? श्रावक को अल्प आरंभ का धन्धा करना चाहिए। कृषि में महारंभ रहा हुआ है। यह बात शास्त्रकारों ने भी स्वीकार की है। यथा–

(१) दशवैकालिक सूत्र की प्रथम चूलिका गा. १४ के दूसरे चरण में–"**तहाविहं असंजमं बहुं**" की अवचूरी में–

"तथाविधंकृत्वाऽसंयमं कृष्यादिरूपं बहुम् असंतोषारत्नभूतं ।"

(२) भगवती श. ८ उ. ९ टीका "महारंभयाएत्ति अपरिमितकृष्याद्यारम्भतयेत्यर्थ,"—यह उल्लेख आरंभ में कृषि का नाम प्रमुख बता रहा है।

(३) श्रीमज्जवाहिराचार्य के तत्त्वाधान में सम्पादित सूत्रकृतांग श्रु. १ अ. १ उ. १ गा. १० की टीका में—"प्राणिनः कृषीवलादयः 'एके' आरम्भे प्राण्युपमर्दनकारिणी व्यापारेनिःश्रिता आसक्ताः सम्बद्धा अध्युपपन्नाः ते च संरम्भसमारम्भारम्भैः कृत्वा उपादाय स्वयमात्मना पापमशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रं दुखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं नियच्छितीति ।" इसके अर्थ में लिखा कि—

"प्राणियों के विनाश रूप व्यापार में आसक्त जो किसान आदि प्राणी हैं, वे संरम्भ, समारम्भ और आरंभ के द्वारा जो स्वयं पाप उपार्जन कर के अशुभ प्रकृतिरूप असाता का उदयरूप तीव्र दुःख को अथवा तीव्र दुःख के अनुभव-स्थान नरक आदि को प्राप्त करते हैं।" (पृ. ३३)

इसमें किसान को कृषि-कर्म के कारण प्राणियों के विनाशरूप व्यापार से अशुभ बन्ध और फल होना बताया है। यह कृषि-कर्म की प्रचुर हिंसा को व्यक्त कर रहा है।

अजैन शास्त्र मनुस्मृति अ. ३ श्लोक १६५ में श्राद्ध-कर्म में वर्जित ब्राह्मण का लक्षण बताते हुए "कृषिजीवी" ब्राह्मण को भी वर्जित बतलाया है और अ. १० में ब्राह्मण और क्षत्रीय के लिए कृषि-कर्म वर्जित बतलाया है। यथा—

"वैश्यवृत्यापि जीवंस्तु, ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां, कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥८३॥
कृषिं साध्वितिमन्यन्ते, सा वृत्ति सद्विगर्हिता ।
भूमिं भूमिशयांश्चैव, हन्ति काष्ठमयो मुखम् ॥८४॥

—ब्राह्मण और क्षत्रीय, वैश्य जीविका करता हुआ भी खेती कभी नहीं करे। कोई खेती को अच्छी मानते हैं, परन्तु यह सत्पुरुषों में निन्दित है, क्योंकि इसमें हल से जीव हिंसा होती है और अवर्षा-सूखा आदि का डर है। यह पराधीनता कर्म है।

इस प्रकार जैन और वैदिक धर्म ने कृषि को अत्यधिक हिंसा का कारण होने से त्याज्य बतलाया है। वैसे कृषि में होती हुई हिंसा प्रत्यक्ष दिखाई देती है और इस युग में तो जन्तु-मारक औषधियों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग कर, असंख्य जीवों की हिंसा विशेष बढ़ गई है। वायुयानों से और मनुष्यों के द्वारा टिड्डी-दल का भारी संहार किया कराया जाता है। पहले की अपेक्षा इस युग में, कृषि में जीवों का कई गुणा अधिक संहार होता है।

गत ५०, ६० वर्षों से ही कृषि को स्फोटक-कर्म और महारंभ में न मान कर, अल्प आरंभ में माना जाने लगा है। इसके पूर्व कृषि-कर्म, स्फोटक-कर्म और महारंभ में ही माना जाता रहा। यदि विचार किया जाय, तो कृषि-कर्म कर्मादान और महारंभ ही है। जब शकटकर्म (गाड़ी, रथ, इक्के, मोटर आदि बना कर बेचना) रसवाणिज्य (घृत, तेल आदि का व्यापार) यन्त्रपीडन कर्म (गन्ना पैरना, तेल निकालना आदि) को भी कर्मादान माना है, (—जिनमें कृषि की अपेक्षा अधिक आरंभ नहीं होता) उस समय यन्त्रों में विशेष कर गन्ना पैरने का कोल्हू, तेल निकालने का घाना आदि विशेष

रौद्रध्यान–क्रोध, द्वेष या वैर से दूसरे का अनिष्ट करने की भावना। दूसरे को मारने, पीटने, दुःखी करने, हानि पहुँचाने और ठगने आदि के विचार। किसी की वस्तु चुराने, अपहरण करने, लूटने या नष्ट करने की दुष्टवृत्ति।

आर्त्तध्यान का एक अर्थ–स्वयं रोना और रौद्र का–दूसरे को रुलाना है। यह सब दुर्ध्यान है। दुर्ध्यान में रत रहना–'अपध्यानाचरण' नामक प्रथम अनर्थदण्ड है।

२ **प्रमादाचरण**–मद्यपान, विषयभोग, क्रोधादि कषाय, अति निद्रा लेना और विकथा करना, गान-तान वाद्य, नृत्य, नाटक, खेल, क्रीड़ा आदि प्रमाद सेवन तथा आलस्य करना। उपेक्षा भाव से घृत, तेल, पानी आदि के वर्तन खुले रख छोड़ना। अयतना एवं अविवेक पूर्वक प्रवृत्ति करना–प्रमादाचरण है।

३ **हिंसा प्रदान**–जिन साधनों से हिंसा होती है, ऐसे–हल, मूसल, कुल्हाड़ी, तलवार, बन्दूक, छुरी, विष और अग्नि आदि किसी को देना। आवश्यकता होने पर अपने स्वजन को देना पड़े तो वह अर्थ-दण्ड है। किंतु यों ही–भले वनने के लिए किसी को हिंसा के साधन देना–'हिंसा प्रदान' नामक तीसरा अनर्थ दण्ड है।

लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि–

"न ग्राह्याणि न देयानी, पञ्च द्रव्याणि पण्डितः।
अग्निर्विषं तथा शस्त्रं, मद्यं मांसं च पञ्चमम् ॥"

–पण्डित पुरुषों को चाहिए कि वे ये पांच द्रव्य–१ अग्नि २ विष ३ शस्त्र ४ मदिरा और ५ मांस, ये न तो किसी को दे और न स्वयं किसी से ले।

४ **पापकर्मोपदेश अनर्थदण्ड**–दाक्षिण्यता वश हो कर दूसरों को पाप-मूलक उपदेश देना। जैसे कि–'तुम्हारी लड़की या लड़के की शादी क्यों नहीं कर देते? तुम्हारी गाय का वछड़ा वड़ा हो गया है, अब इसे गाड़ी में क्यों नहीं चलाते। इस जमीन पर खाली घास ही होती है, इसलिए इस पर खेती करो, हल से नहीं, टेक्टर ला कर खेतों में चलाओ। कीड़ों को मारने के लिए दवाई ला कर छिड़को, टिड्डियों को मारो। तुम्हें वहुत लाभ होगा। वैलों के नाक में नाथें डालो। वैलों और घोड़ों को खसी (अखते) कराओ। इस पुराने मकान को गिरा कर नया वना लो, अभी सामान और मजदूरी भी सस्ती है। थोड़े खर्चे में बन जाय गा।' इत्यादि अनेक प्रकार से व्यर्थ ही पापकारी सलाह दे कर अनर्थदण्ड करना।

यह सब अनर्थदण्ड है। जिस भव्यात्मा श्रावक के हृदय में धर्म वसा हुआ है, वह अनर्थदण्ड से **सदैव बचता रहता है।** अनर्थदण्ड के त्यागी श्रावक की आत्मा व्यर्थ के पाप-वन्ध से वची रहती है।

अतिचार

इस व्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचार ये हैं;-

१ **कन्दर्प**-विषय-वासना जाग्रत हो, मोह को बढ़ा कर शब्दादि विषयों में प्रवृत्ति हो, ऐसी बातें करना, कहानियें कहना और हँसी-मजाक करना। इस प्रकार की वचन-प्रवृत्ति स्व और पर को पाप की ओर बढ़ाने वाली है। दूषित मन से ऐसी प्रवृत्ति होती है। भोगोपभोग की मर्यादा करने वाले सुश्रावक को, दूसरों को कामभोग की ओर बढ़ाने वाली बातें नहीं कहनी चाहिए और न वैसे लेख लिखना चाहिए। जिसके स्वतः के भोग की मर्यादा है, वह यदि दूसरों को भोग में प्रेरित करे, तो यह अनर्थ-निष्प्रयोजन प्रवृत्ति है। इससे यह व्रत दूषित होता है। यह अतिचार, प्रमादाचरण अनर्थदण्ड से विशेष सम्बन्धित है।

२ **कौत्कुच्य**-भांड एवं विदूषक के समान मुख, नेत्र और हाथ आदि से कुचेष्टा कर, लोगों को मोहित करना, हँसाना, विकार उत्पन्न करना। यह अतिचार भी विशेषकर प्रमादाचरण अनर्थदण्ड व्रत को दूषित करता है।

३ **मौखर्य**-आवश्यकता से अधिक बोलना, अनर्गल बातें कहना, असम्बद्ध, क्लेशवर्द्धक और कामोत्तेजक वचन बोलना। बिना विचारे यद्वातद्वा बोलने से अकारण ही पाप का उपार्जन हो जाता है। श्रावक को ऐसे दोष से बचना चाहिए। इस अतिचार का विशेष सम्बन्ध पापकर्मोपदेश अनर्थदण्ड से है।

४ **संयुक्ताधिकरण**-अधिकरण=पाप उपार्जन करने के साधन-ऊखल, मूसल, हल, कुदाल, कुल्हाड़ी फावड़ा आदि के भिन्न अवयव (हिस्से) को जोड़ कर संयुक्त करना। जैसे ऊखल और मूसल को साथ रखना, हल में फाल लगा कर रखना, शिला और लोढ़ा साथ रखना, कुदाल, कुल्हाड़ा आदि के डंडा लगा कर-काम में आने योग्य बना कर रखना, धनुष और बाण साथ ही रखना, गाड़ी और जूआ, पहिये और धुरी, चक्की और हाथा आदि जोड़ कर रखना, तलवार, छुरी, भाला, बर्छी आदि शस्त्रों को काम में आने योग्य बना कर रखना। इस प्रकार जीव-हिंसा के साधनों को काम में आने योग्य बना कर रखना, जिससे कोई भी व्यक्ति काम में ले ले।

गृहकार्य के लिए ऐसी वस्तुएँ या इनमें से कुछ रखनी पड़ती है, किंतु उन्हें असंयुक्त रखी जाय तो अन्य कोई काम में नहीं ले सकता और दूसरा कोई मांगने आवे, तो असंयुक्त देख कर बिना लिये ही लौट जाता है। मुकरने का प्रसंग ही नहीं आता। यदि संयुक्त हो और माँगने वाले को नहीं देवे, तो रुष्ट हो जाता है और निन्दा करता है। इसलिये अधिकरणों को संयुक्त करके नहीं रखना चाहिए।

यह हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड का अतिचार है।

५ उपभोगपरिभोगातिरिक्त–भोगोपभोग के साधनों का अधिक संग्रह करना। भोगोपभोग में जितनी मर्यादा की, उससे अधिक सामग्री का संग्रह करना। स्वयं की मर्यादा के उपरांत तो कोई भी वस्तु नहीं रखना, परन्तु कुटुम्ब के लिए भी आवश्यक सामग्री से अधिक नहीं लेना। नये-नये आविष्कार से उत्पन्न मोहक वस्तुएँ, आकर्षक एवं सुन्दर दृश्यों के चित्र, वाद्यादि तथा सुगन्धित तेल, पाउडर, इत्र, साबुन आदि साधन संग्रहित कर के रखना। मर्यादित स्नान करने में भी विवेक नहीं रख कर सारे सरोवर को आडोलित करना और तेल, साबुन आदि का स्पर्श सारे सरोवर में पहुँचाना, जिससे सरोवर गत प्राणियों की विराधना हो। इस अतिचार का मुख्य सम्बन्ध प्रमादाचरण अनर्थदण्ड से है।

मर्यादा की सीमा में रुका हुआ पापरूपी साँप, जिन कारणों से विरति की सीमा तोड़ कर बाहर निकले, उन विकार-वर्द्धक निमित्तों से बच कर रहने से, अनर्थदण्ड के पाप से श्रावक बचा रहता है। अनर्थदण्ड के पाप से बची हुई आत्मा, हिंसा के मेरु-पर्वत जितने बड़े पाप से निवृत्त हो कर, राई के दाने जितने थोड़े पाप तक ही सीमित रह जाती है। बीस बिस्वा दया में से १८॥ बिस्वा दया की वह पालक होती है। वह प्रशस्तात्मा मोक्ष के निकट होती है।

ये तीनों गुणव्रत, पाँचों अणुव्रतों को विशुद्ध रखते हुए गुणों में अभिवृद्धि करते हैं।

सामायिक व्रत

आत्मा को विशेष उन्नत बनाने के लिए जिन व्रतों का बार-बार पालन किया जाता है और जो ध्येय प्राप्ति में विशेष सहायक होते हैं, तथा जिनसे अनगार धर्म की शिक्षा मिल सके, उन्हें 'शिक्षा व्रत' कहते हैं। अणुव्रत और गुणव्रत तो जीवनभर सतत् पालन किये जाते हैं, किन्तु शिक्षाव्रत यथाशक्य अमुक समय पालन किये जाते हैं। इनसे सर्वविरति रूप यावज्जीवन सामायिक की शिक्षा प्राप्त की जाती है। शिक्षाव्रत चार हैं। यथा–१ सामायिक २ देशावकाशिक ३ पौषधोपवास और ४ अतिथि-संविभाग व्रत। इनका क्रमशः वर्णन किया जाता है। सामायिक का स्वरूप इस प्रकार है–

'सम'=रागद्वेष की विषमता रहित–समभाव का 'आय'=लाभ, अर्थात्–समभाव की प्राप्ति, अथवा–समभाव पूर्वक ज्ञानादि की प्राप्ति को 'सामायिक' कहते हैं।

"समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभभावना।
आर्त्त-रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥१॥

–सभी जीवों पर समभाव रखना, मन, वचन और काया को संयम में रखना, आर्त्त और रौद्र ध्यान का त्याग कर के शुभ भावना में लीन रहना–सामायिक व्रत है।

आत्मा में होती हुई विषय-कषाय की विषम परिणति को हटा कर धर्म-ध्यान के अवलम्बन से समभाव जगाना–सामायिक है। जिस आत्मा की सावद्य प्रवृत्ति बन्द हो कर, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप निरवद्य प्रवृत्ति विद्यमान है, वह व्यवहार-सामायिक व्रत की पालक है। निश्चय से तो पर-लक्ष से हट कर अपने आत्म-स्वरूप में रमण करने वाली आत्मा स्वयं सामायिक रूप है। जहाँ विभाव दशा छूटी और स्वभाव में स्थिरता हुई अर्थात् आत्मानन्द में लीनता आई कि आत्मा स्वयं सामायिक रूप बन जाती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यवहार-सामायिक की जाती है।

व्यवहार-सामायिक चार प्रकार की होती है।

१ **श्रुत सामायिक**–सम्यग् श्रुत का अभ्यास करना।

२ **सम्यक्त्व सामायिक**–मिथ्यात्व की निवृत्ति और यथार्थ श्रद्धान के प्रकटीकरण रूप चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति।

३ **देश-विरत सामायिक**–श्रावकों के देश-व्रत। पंचम गुणस्थान की प्राप्ति।

४ **सर्व-विरत सामायिक**–साधुओं की सर्व-विरति रूप महाव्रतादि छठे गुणस्थान और इससे आगे के गुणस्थान की उन्नत दशा। (विशेषावश्यक भाष्य गा. २६७३ से)

तात्पर्य यह है कि जैनत्व प्राप्ति रूप चतुर्थ गुणस्थान से सामायिक का प्रारम्भ हो कर सिद्धत्व तक उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और अंत में आत्मा स्वयं सामायिकमय हो कर सदाकाल उसी रूप में स्थित रहती है। वास्तव में जैनत्व की प्राप्ति और जिनत्व तथा सिद्धत्व, सभी सामायिकमय ही है। यहाँ जिस सामायिक का वर्णन किया जा रहा है, वह 'देश-विरत सामायिक'–श्रावक का नौवाँ व्रत है।

इसकी साधना नीचे लिखी चार प्रकार की शुद्धिपूर्वक की जाती है–

द्रव्य शुद्धि–सामायिक के उपकरण–आसन, प्रमार्जनी, मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि ऐसे साधन हों जो साधना के अनुकूल हों। सामायिक में ऐसी कोई वस्तु नहीं हो–जो राग-द्वेष के उदय में कारण-भूत बने। जैसे–विषय-वर्द्धक पुस्तकें, कषाय-वर्द्धक समाचार-पत्र, सावद्य परिणति को जगाने वाले साधन, अहंकार वर्द्धक बहुमूल्य वस्त्राभरण।

क्षेत्र शुद्धि–स्थान एकान्त और शान्त हो। जहाँ सांसारिक कोलाहल और राग-द्वेष वर्द्धक दृश्य तथा शब्द से बचा जा सके। जिस स्थान पर कोई सांसारिक क्रिया अथवा विचार आदि नहीं होते हों. जहाँ त्रस स्थावर जीवों की बहुलता नहीं हो और जो खाद्य, अलंकार, शस्त्र तथा शृंगारादि सामग्री से रहित हो। सामायिक के लिए धर्मस्थान अधिक उपयुक्त होता है।

काल शुद्धि–सामायिक, मल-मूत्रादि की बाधा आदि से रहित किसी भी समय की जा सकती है। सामायिक के लिए कोई भी काल अशुद्ध नहीं है। कोई किसी भी समय सामायिक करे और वह

शुद्धतापूर्वक की जाय, तो हो सकती है। अतएव सामायिक अधिक से अधिक करनी चाहिए। विशेषावश्यक भाष्य गा. २६९० में कहा है कि–

"सामाइयम्मि उ कए, समणोइव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा॥"

श्रावक, सामायिक करने पर साधु के समान हो जाता है। इसलिए श्रावकों को अधिक से अधिक सामायिक करनी चाहिए।

यदि किसी को दिन-रात में थोड़ा-सा समय धर्म-करणी के लिए निकलता हो, तो उसमें प्रातः-काल का समय अति अनुकूल रहता है, क्योंकि प्रातःकाल का समय शान्त होता है। उस समय मनुष्य का मानस और मस्तिष्क भी ठण्डा रहता है। उस समय शुभ परिणति के लिए अधिक अनुकूलता होती है। उसके बाद संध्याकाल भी लिया जा सकता है। काल नियत करने के बाद उसका तत्परता से पालन करना चाहिए।

सामायिक का काल एक मुहूर्त–दो घड़ी* (४८ मिनट) का नियत है। कम से कम एक मुहूर्त की सामायिक तो होनी ही चाहिए। यद्यपि सामायिक का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त का आगमों में माना है, किन्तु अन्तर्मुहूर्त, एक सेकण्ड से कम का भी होता है और ४८ मिनट से एक दो समय कम का भी। पूर्वाचार्यों ने कम से कम एक मुहूर्त का काल नियत किया है, यह उचित ही है। यदि यह नियम नहीं होता, तो बड़ी भारी अव्यवस्था होती।

भावशुद्धि–आर्त्त और रौद्र के अंग ऐसे किसी भी औदयिक भाव को नहीं ला कर, धर्मध्यान के अंग ऐसे स्मरण, स्तुति, अनित्यादि भावना, शास्त्र-स्वाध्याय तथा आलोचनादि शुभ भाव का अवलम्बन

---

* श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र में लिखा है कि–

"मण-वय-तणुहिं करणे, कारवणम्मि य सपावजोगाणं।
जं खलु पच्चक्खाणं, तं सामाइयं मुहुत्ताई॥१०९॥

–टीकाकार श्रीचन्द्राचार्य लिखते हैं कि–

"अत्र कश्चिद् ब्रूते-कियान्निप्सितकालः? हन्त! उक्ते यावन्नियमं पर्युपासे इति नियमश्च जघन्य-तोऽपि द्विघटिकामानः काल उत्कृष्ट तोऽहोरात्रमानो नियमः अतः सामायिके जघन्योऽपि घटिका द्वयं स्थातव्यं अन्यथाऽतिचारः। जघन्य तो द्विघटिकः कुतो लभ्यते? इतिचेद् उच्यते परिणामवशाद् हि सामायिकसौ करोति परिणामस्तूत्पन्नो गुणस्थानकमारोहति तच्च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त घटिका द्वयमानः कालः पालनीय," इत्यादि। तथा–

"सावद्यकर्ममुक्तस्य, दुर्ध्यान रहितस्य च।
समभावो मुहूर्त्तं तद्, व्रत सामायिका ह्वयम्॥

करके आत्मा को उज्ज्वल तथा शान्त बनाना, भाव शुद्धि है। स्वार्थ, प्रतिष्ठा अथवा प्रदर्शन आदि दूषित भावों को सामायिक में आने ही नहीं देना चाहिए।

सामाइयं तु काउं गिहकज्जं जो य चिंतए सड्ढो।

अट्टवसट्टोवगओ निरत्थयं तस्स सामाइयं ॥१०९॥

—सामायिक करके भी जो श्रावक, गृहकार्य का चिन्तन करता है और आर्त्तध्यान में लग जाता है, तो उसकी सामायिक निष्फल (व्यर्थ) है।

न सरइ पमायजुत्तो, जो सामाइयं कया य कायव्वं।

कयमकयं वा तस्स हु कयं पि विहलं तयं नेयं ॥११०॥

—जिस प्रमादी को यह भी स्मरण नहीं रहता कि 'मुझे कब सामायिक करनी है, अथवा मैंने सामायिक की है या नहीं; उसकी की हुई सामायिक निष्फल होती है। (सम्बोधप्रकरण)

भावशुद्धि, उपरोक्त तीनों शुद्धि में प्रधान है। कदाचित् प्रथम की तीन शुद्धि नहीं हो और भाव-शुद्धि हो, तो सफलता मिल सकती है। किन्तु भाव-शुद्धि के अभाव में तीनों प्रकार की शुद्धि सफल नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पूर्वोक्त तीनों प्रकार की शुद्धि अनावश्यक है। सरलता एवं धोरी-मार्ग तो चारों प्रकार की विशुद्धि युक्त ही है। अतएव द्रव्य-भाव विशुद्धिपूर्वक तथा निश्चय सामायिक के ध्येय युक्त, व्यवहार सामायिक करनी चाहिए।

"जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे। तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥१॥

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य। तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं ॥२।"

—जिस साधक की आत्मा संयम, तप और नियम में रत रहती है, उसे ही सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवान् ने कहा है ॥१॥

—जो साधक त्रस और स्थावर—सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसी को सामायिक प्राप्त होती है—ऐसा केवली भगवान् ने कहा है ॥२॥

(अनुयोगद्वार सूत्र)

"जीवो पमायबहुलो, बहुसो वि य बहुविहेसु अत्थेसु।

एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥१११२॥

—बहुत से विषयों में, बहुत बार जीव बहुत प्रमादी हो जाता है, इसलिए (प्रमाद से बचने के लिए) बहुत बार सामायिक करनी चाहिए। (सम्बोधप्रकरण)

शुद्धतापूर्वक की जाय, तो हो सकती है। अतएव सामायिक अधिक से अधिक करनी चाहिए। विशेषावश्यक भाष्य गा. २६९० में कहा है कि—

"सामाइयम्मि उ कए, समणोइव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥"

श्रावक, सामायिक करने पर साधु के समान हो जाता है। इसलिए श्रावकों को अधिक से अधिक सामायिक करनी चाहिए।

यदि किसी को दिन-रात में थोड़ा-सा समय धर्म-करणी के लिए निकलता हो, तो उसमें प्रातःकाल का समय अति अनुकूल रहता है, क्योंकि प्रातःकाल का समय शान्त होता है। उस समय मनुष्य का मानस और मस्तिष्क भी ठण्डा रहता है। उस समय शुभ परिणति के लिए अधिक अनुकूलता होती है। उसके बाद संध्याकाल भी लिया जा सकता है। काल नियत करने के बाद उसका तत्परता से पालन करना चाहिए।

सामायिक का काल एक मुहूर्त—दो घड़ी* (४८ मिनट) का नियत है। कम से कम एक मुहूर्त की सामायिक तो होनी ही चाहिए। यद्यपि सामायिक का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त का आगमों में माना है, किन्तु अन्तर्मुहूर्त, एक सेकण्ड से कम का भी होता है और ४८ मिनट से एक दो समय कम का भी। पूर्वाचार्यों ने कम से कम एक मुहूर्त का काल नियत किया है, यह उचित ही है। यदि यह नियम नहीं होता, तो बड़ी भारी अव्यवस्था होती।

भावशुद्धि—आर्त्त और रौद्र के अंग ऐसे किसी भी औदयिक भाव को नहीं ला कर, धर्मध्यान के अंग ऐसे स्मरण, स्तुति, अनित्यादि भावना, शास्त्र-स्वाध्याय तथा आलोचनादि शुभ भाव का अवलम्बन

* श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र में लिखा है कि—

"मण-वय-तणुहिं करणे, कारवणम्मि य सपावजोगाणं।
जं खलु पच्चक्खाणं, तं सामाइयं मुहुत्ताई ॥१०९॥

—टीकाकार श्रीचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

"अत्र कश्चिद् ब्रूते-कियान्निप्सितकालः ? हन्त ! उच्यते यावन्नियमं पर्युपासे इति नियमश्च जघन्य-तोऽपि द्विघटिकामानः काल उत्कृष्ट तोऽहोरात्रमानो नियमः अतः सामायिके जघन्योऽपि घटिका द्वयं स्थातव्यं अन्यथाऽतिचारः। जघन्य तो द्विघटिकः कुतो लभ्यते ? इतिचेद् उच्यते परिणामवशाद् हि सामायिकसौ करोति परिणामस्तूत्पन्नो गुणस्थानकमारोहति तच्च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त घटिका द्वयमानः कालः पालनीय," इत्यादि। तथा—

"सावद्यकर्ममुक्तस्य, दुर्ध्यान रहितस्य च।
समभावो मुहूर्त्तं तद्, व्रत सामायिका ह्वयम् ॥

करके आत्मा को उज्ज्वल तथा शान्त बनाना, भाव शुद्धि है। स्वार्थ, प्रतिष्ठा अथवा प्रदर्शन आदि दूषित भावों को सामायिक में आने ही नहीं देना चाहिए।

सामाइयं तु काउं गिहकज्जं जो य चिंतए सड्ढो।
अट्टवसट्टोवगओ निरत्थयं तस्स सामाइयं ॥१०९॥

—सामायिक करके भी जो श्रावक, गृहकार्य का चिन्तन करता है और आर्त्तध्यान में लग जाता है, तो उसकी सामायिक निष्फल (व्यर्थ) है।

न सरइ पमायजुत्तो, जो सामाइयं कया य कायव्वं।
कयमकयं वा तस्स हु कयं पि विहलं तयं नेयं ॥११०॥

—जिस प्रमादी को यह भी स्मरण नहीं रहता कि 'मुझे कब सामायिक करनी है, अथवा मैंने सामायिक की है या नहीं; उसकी की हुई सामायिक निष्फल होती है। (सम्बोधप्रकरण)

भावशुद्धि, उपरोक्त तीनों शुद्धि में प्रधान है। कदाचित् प्रथम की तीन शुद्धि नहीं हो और भाव-शुद्धि हो, तो सफलता मिल सकती है। किन्तु भाव-शुद्धि के अभाव में तीनों प्रकार की शुद्धि सफल नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पूर्वोक्त तीनों प्रकार की शुद्धि अनावश्यक है। सरलता एवं धोरी-मार्ग तो चारों प्रकार की विशुद्धि युक्त ही है। अतएव द्रव्य-भाव विशुद्धिपूर्वक तथा निश्चय सामायिक के ध्येय युक्त, व्यवहार सामायिक करनी चाहिए।

"जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे। तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥१॥
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य। तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं ॥२।"

—जिस साधक की आत्मा संयम, तप और नियम में रत रहती है, उसे ही सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवान् ने कहा है ॥१॥

—जो साधक त्रस और स्थावर—सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसी को सामायिक प्राप्त होती है—ऐसा केवली भगवान् ने कहा है ॥२॥

(अनुयोगद्वार सूत्र)

"जीवो पमायबहुलो, बहुसो वि य बहुविहेसु अत्थेसु।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥११२॥

—बहुत से विषयों में, बहुत बार जीव बहुत प्रमादी हो जाता है, इसलिए (प्रमाद से बचने के लिए) बहुत बार सामायिक करनी चाहिए।

(सम्बोधप्रकरण)

सामायिक का उत्कृष्ट फल

दिवसे-दिवसे लक्खं देइ सुवण्णरस खंडियं एगो ।
एगो (इयरो) पुण सामाइयं करेइ ण पहुप्पए तस्स ॥११३॥

—कोई दानेश्वरी, प्रतिदिन लाख-लाख खांडी सोने का दान करे और कोई अन्य जीव, सामायिक करे, तो दानेश्वरी का वह दान, सामायिक से बढ़ कर नहीं होता ।

सामाइयं कुणंतो समभावं, सावओ य घडियदुगं ।
आउं सुरेसु बंधइ, इत्तियमित्ताइं पलियाइं ॥११४॥

दो घड़ी समभावयुक्त सामायिक करने वाला श्रावक, आगे कहे हुए पल्योपम जितने देव का आयुष्य बाँधता है ।

बाणवईकोडीओ लक्खा गुणसट्ठि सहस्स पणवीसं ।
णवसय पणवीसाए सतिहा अडभागपलियस्स ॥११५॥

—बाणु करोड़ उनसठ लाख पच्चीस हजार नौ सौ पच्चीस पल्योपम और एक पल्योपम के आठ भाग में के तीन भाग सहित (आयुकर्म बाँधे)

तिव्वतवं तवमाणो जं न वि निट्ठवइ जम्मकोडीहिं ।
तं समभावियचित्तो खवेइ कम्मं खणद्धेणं ॥११६॥

—कोटि जन्म तक तीव्र तपश्चर्या से तपता हुआ जीव, जितने कर्मों का क्षय नहीं कर सकता, उतने कर्म समभावयुक्त (सामायिक सहित) चित्तवाला जीव, अर्द्ध क्षण में क्षय कर देता है ।

जे के वि गया मोक्खं जे वि य गच्छंति जे गमिस्संति ।
ते सव्वे सामाइयमाहप्पेणं मुणेयव्वं ॥११७॥

—भूत काल में जो जीव मोक्ष में गये, अभी जा रहे हैं और भविष्य में मुक्त होंगे, वे सब सामायिक के महत्व से ही समझना चाहिए ।

अतिचार

इस सामायिक व्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—

१ मनोदुष्प्रणिधान—मन को दुश्चिन्तन में लगा देना । घर, व्यापार, कुटुम्ब, देश, राष्ट्र तथा विषय-विकार में मन को जोड़ना—मन का दुष्ट प्रयोग है । पूर्वाचार्यों ने मानसिक दोष के दस भेद इस प्रकार बताये हैं—

१ अविवेक-सावद्य निरवद्य का विवेक नहीं रखना।

२ यशोकीर्ति-यश एवं प्रतिष्ठा की इच्छा से सामायिक करना।

३ लाभार्थ-द्रव्यादि लाभ की भावना से सामायिक करना।

४ गर्व-धर्मात्मापन का गौरव रख कर सामायिक करना।

५ भय-किसी प्रकार के भय से बचने के लिए सामायिक करना।

६ निदान-सामायिक का भौतिक फल चाहने रूप निदान करना।

७ संशय-सामायिक के फल के विषय में शंकाशील रहना।

८ रोष-रागद्वेषादि के कारण सामायिक करना अथवा सामायिक में रागद्वेष करना।

९ अविनय-देव, गुरु और धर्म का विनय नहीं करना अथवा आशातना करना या विनय भाव रहित सामायिक करना।

१० अबहुमान-सामायिक के प्रति आदर भाव नहीं रखते हुए बेगार टालने की तरह काल पूरा करना।

उपरोक्त दस दोषों से बचने पर मनोदुष्प्रणिधान रूप अतिचार टलता है।

२ वचन दुष्प्रणिधान-वाणी का दुरुपयोग करना। कर्कश, कठोर एवं सावद्य वचन बोलना। इस अतिचार के भी दस भेद नीचे लिखे अनुसार हैं-

१ कुवचन-सामायिक में बुरे-विषय-कषाय जनक अथवा तुच्छता युक्त वचन बोलना।

२ सहसाकार-बिना विचारे इस प्रकार बोलना कि जिससे किसी की हानि हो, अप्रतीति कारक हो और सत्य का अपलाप हो।

३ स्वच्छन्द-रागद्वेष-वर्धक एवं धर्म-विरुद्ध मनमाने वचन बोलना अथवा राग अलापना अथवा अव्रति से अकारण बोलना।

४ संक्षेप-सामायिक के पाठ को संक्षिप्त-संकुचित करके बोलना।

५ कलह-क्लेशकारी वचन बोलना।

६ विकथा-स्त्रीकथा आदि सांसारिक बातें करना।

७ हास्य-हँसी मजाक अथवा व्यंग वचन बोलना।

८ अशुद्ध-गलत बोलना, शीघ्रतापूर्वक शुद्ध-अशुद्ध का ध्यान रखे बिना बोलना।

९ निरपेक्ष-असंबद्ध, अपेक्षा रहित एवं उपयोग-शून्य हो कर बोलना।

१० मुणमुण-स्पष्टतापूर्वक नहीं बोल कर गुनगुनाना।

इस प्रकार वचन संबंधी दोषों को समझ कर इनका त्याग करने से वचन संबंधी अतिचार नहीं लगता।

३ कायदुष्प्रणिधान–शरीर सम्बन्धी बुरी क्रिया करना। बिना पुंजी जमीन पर बैठना, शरीर से सावद्य क्रिया करना। इस अतिचार के बारह भेद इस प्रकार हैं।

१ कुआसन–पाँव पर पाँव चढ़ा कर इस प्रकार बैठना, जिससे गुरुजनों का अविनय हो और अभिमान प्रकट हो।

२ चलासन–अस्थिर आसन, बारबार आसन बदलना।

३ चलदृष्टि–दृष्टि को स्थिर नहीं रख कर इधर-उधर देखते रहना।

४ सावद्यक्रिया–पापकारी क्रिया करना, संकेत करना, सांसारिक कार्य अथवा घर की रखवाली आदि करना।

५ आलम्बन–अकारण दिवाल, खंभा आदि का सहारा ले कर बैठना।

६ आकुंचनप्रसारण–बिना कारण हाथ-पाँव फैलाना और समेटना।

७ आलस्य–आलस्य से शरीर को मोड़ना और आलस्य में समय बिताना।

८ मोडन–हाथ-पाँव की अंगुलियाँ चटकाना।

९ मल–शरीर का मैल उतारना।

१० विमासन–गाल पर हाथ रख कर अथवा घुटनों में सिर झुका कर, शोक-सूचक आसन से बैठना अथवा विना पुंजे खुजालना।

११ निद्रा–सामायिक में नींद लेना, ऊँघनां।

१२ वैयावृत्य–निष्कारण दूसरों से सेवा करवाना। (अथवा सर्दी लगने से अंगों को विशेष रूप से ढकना–ऐसा अर्थ भी कुछ ग्रंथकार करते हैं।)

उपरोक्त बारह दोषों को टालते हुए सामायिक करने से 'कायदुष्प्रणिधान' अतिचार नहीं लगता।

४ सामायिक का स्मृत्यकरण–सामायिक की स्मृत्ति (याद) नहीं रख कर भूल जाना। अन्यत्र उपयोग लगने से सामायिक की ओर उपयोग नहीं रहना। "मैं सामायिक में हूँ"–इस प्रकार की स्मृति नहीं रखना। 'सामायिक का समय हो गया'–आदि अनुपयोगजन्य स्थिति होना।

५ अनवस्थित करण–अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना, काल पूर्ण होने के पूर्व सामायिक पार लेना। उतावल से अविधिपूर्वक पारना।

उपरोक्त अतिचारों से बच कर सामायिक करते रहने से आत्मा हलकी हो कर उन्नत होती जाती है। अधिक हो, तो अच्छा ही है, अन्यथा प्रत्येक श्रावक को नित्य एक मुहूर्त की सामायिक तो अवश्य ही करनी चाहिए।

वहुत से भाई कहा करते हैं कि हमारा मन स्थिर नहीं रहता, अभी हममें ईमानदारी, सचाई, सेवा आदि के भाव तो आये ही नहीं, फिर हम सामायिक के अधिकारी कैसे हो गये ? जव अहिंसा-सत्यादि मूल व्रतों का ही पता नहीं, तो सामायिक जैसे उच्च व्रत की साधना की योग्यता कैसे आ सकती है ?

समाधान—१ मन स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिए। यदि सामायिक के माध्यम से मन स्थिर करने का प्रयत्न किया जाय, तो अभ्यास वढ़ते-वढ़ते स्थिरता की स्थिति भी प्राप्त हो सकती है ? जिस प्रकार अभ्यास करते-करते मनुष्य, उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकना है, उसी प्रकार सामायिक में अभ्यास के द्वारा क्रमशः स्थिरता लाई जा सकती है। इसके लिए अवलम्वन भी कई हैं। स्मरण करते-करते मन उचट जाय तो स्तुति, स्तोत्र, आलोचना, भावना और शास्त्र-पठन श्रवण के द्वारा मन को अशुभ दिशा में जाने से रोका जा सकता है। सवसे पहले अशुभ दिशाओं में जाते हुए मन को रोक कर शुभ में जोड़ने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इसमें केवल दिशा वदलनी होनी है। इसके वाद किसी एक विषय पर स्थिरता वढ़ाने का प्रयत्न किया जाय, तो क्रमशः सफलता प्राप्त हो सकती है। उत्तम वस्तु की प्राप्ति विशेष प्रयत्न से होती है। अतएव लम्वे अभ्यास से घवराने की आवश्यकता नहीं। निरन्तर प्रयास करते रहने से सफलता की शुभ घड़ी भी प्राप्त की जा सकती है।

स्थिरता का ध्येय रख कर सामायिक करने से यदि एक मुहूर्तकाल में एक मिनट भी सफल हुआ तो ४८ सामायिक में एक मुहूर्त जितना काल सफल हो जायगा। यह सफलता भी नगण्य तो नहीं है। तात्पर्य यह कि ध्येय-शुद्धि के साथ प्रयत्न करते रहने से सफलता की ओर वढ़ा जा सकता है।

२ ईमानदारी, सचाई आदि शुभ गुणों का होना साधारण मनुष्य के लिए भी आवश्यक है, तव जैनी में तो ये शुभ गुण तो होना ही चाहिए। यदि कोई अन्य समय में ईमानदारी आदि नहीं रख सके, तो सामायिक में तो रखेगा ही। वह जितनी देर सामायिक में रहेगा, उतनी देर तो झूठ, ठगाई, वेईमानी से वचता रहेगा। गृहस्थ जीवन में यदि वह एक मुहूर्त मात्र भी सामायिक में रहा और अभ्यास करता रहा, तो उसकी आत्मा का हित ही होगा। कम से कम एक मुहूर्त वुराइयों से वचना भी कुछ न कुछ लाभ का कारण तो होगा ही।

अभ्यास के द्वारा अनधिकारी भी अधिकारी वन सकता है। अनधिकारियों के लिए सामायिक का अभ्यास, योग्य अधिकारी वनाने का कारण हो सकता है

३ अहिंसादि मूल-व्रतों की आराधना भी अवश्य होनी ही चाहिए। किन्तु—कोई मूल व्रतों को ग्रहण नहीं करे, तो वह सामायिक का अधिकारी ही नहीं हो सकता'—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि

कि सामायिक के पूर्व के आठ व्रत जीवन पर्यंत के लिए स्वीकार किये जाते हैं। इससे हिचकिचा कर कोई एक मुहूर्त के लिए सामायिक करे, तो स्वल्पकालीन नियम होने से वह सरलता से कर सकता है, तथा जिस समय वह सामायिक व्रत का पालन करता है, उस समय उसके पूर्व के आठों व्रत अपने आप पलते ही हैं, क्यों कि सामायिक के समय पाँचों अणुव्रत और तीनों गुणव्रत, पूर्ण रूप से ही नहीं बल्कि अधिक रूप से पलते हैं। उस समय वह त्रस तो क्या, पर स्थावर जीव की भी हिंसा नहीं करता, छोटा झूठ भी नहीं बोलता, छोटा अदत्त भी नहीं लेता, और स्वदारा से भी मैथुन नहीं करता। इस प्रकार सभी व्रतों का पालन अधिक रूप से होता है। सामायिक में वह इस व्रत के योग्य ही प्रतिज्ञा करता है, किंतु उसमें सभी व्रतों का विशेष रूप से—अपने आप समावेश हो जाता है। अतएव पृथक् से अहिंसादि अणुव्रतों को स्वीकार नहीं करने वाला भी सामायिक कर सकता है और उससे उस समय पूर्व के सभी व्रत पलते हैं।

जब विना श्रावक व्रतों का स्वीकार और पालन किए भी साधुता (जीवनभर की सर्व-सामायिक) आ सकती है, तो स्वल्पकालीन देश-सामायिक प्राप्त हो सके, इसमें शंका ही क्या हो सकती है?

शंका—दोषरहित शुद्ध सामायिक होना बहुत कठिन है। सामायिक में कुछ न कुछ दोष लग ही जाते हैं। इसलिए दूषित सामायिक करने से तो नहीं करना ही अच्छा है?

समाधान—निर्दोष सामायिक करने का ध्यान तो रखना ही चाहिए। ध्यान रखते हुए भी यदि असावधानी हो जाय और दोष लग जाय, तो उसके लिए शुद्धि का उपाय (आलोचना—'एयस्स नवमस्स सामाइयवयस्स पंच अइयारा' आदि पाठ द्वारा) भी है, किंतु दोष के भय से सामायिक ही नहीं करना, यह तो बहुत बड़ी भूल है। दोष लगने से लाभ में कुछ कमी रह सकती है, किंतु सर्वथा नहीं करने से तो थोड़े लाभ से भी सर्वथा वंचित रहना पड़ता है। अतएव सामायिक तो करनी ही चाहिए और सावधानीपूर्वक दोषों से बचते रहने का ध्यान भी रखना चाहिए।

शंका—वह सामायिक ही क्या कि जिसका प्रभाव वहां से हटते ही नष्ट हो जाय और कूड़, कपट, झूठ, लोभ आदि का सेवन चलता रहे? जो ऐसा करता है, उसका सामायिक करना दंभयुक्त नहीं है क्या?

समाधान—यदि आप यह सोचते हैं कि जो जीवनभर के लिए त्याग नहीं कर सकता, वह दो घड़ी के लिए भी त्यागी नहीं हो सकता, तो आपका ऐसा सोचना उचित नहीं। यदि वह जीवनभर के लिए उस दशा का पालन कर सकता, तो साधु ही क्यों नहीं बन जाता?

यह ठीक है कि उसे जीवन में अधिक से अधिक सद्गुणी बनना चाहिए, किन्तु यह कहना तो झूठ ही है कि जो अन्य समय में झूठ बोलता है, हँसी करता है, मैथुन तथा व्यापारादि करता है, वह

उन वृत्तियों का दो घड़ी के लिए भी त्याग नहीं कर सकता, और उसका वह दो घड़ी का त्याग केवल दंभ ही है। जिस प्रकार वर्षभर खाने वाला, साम्वत्सरिक उपवास भावपूर्वक कर सकता है। उसका वह उपवास दांभिक नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यह भी समझना चाहिए।

सामायिक करते समय श्रावक का उपयोग धर्म-साधना का होता है और शेष समय में संसार साधना का। यह स्वाभाविक ही है कि जो जिस प्रवृत्ति में रहता है, वह उसी के अनुसार चलता है। इसलिए वाद में सांसारिक प्रवृत्ति में लगे रहने के कारण उसकी की हुई सामायिक व्यर्थ अथवा दंभ युक्त नहीं हो जाती। हाँ, यह ठीक है कि श्रावक को जितना भी वन सके, दुर्गुणों से वचना चाहिए।

देशावकासिक व्रत

श्रावक के दूसरे शिक्षाव्रत का नाम "देशावकासिक व्रत" है। इस व्रत से त्याग और साधना की विशेष शिक्षा प्राप्त होती है। यह व्रत पूर्व के पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत में खुले रहे आश्रव को विशेष रूप से संकुचित कर के संवर का क्षेत्र वढ़ा देता है। वैसे यह व्रत छठे 'दिशा परिमाण व्रत' को मुख्य विषय करता है। दिशा-गमन परिमाण व्रत में व्यक्ति जीवनभर के लिए अपने गमना-गमन के लिए सैकड़ों-हजारों योजन क्षेत्र रखता है, भले ही उतना जाने का कभी काम नहीं पड़े। किंतु इस व्रत में वह कुछ काल के लिए गमनागमन का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित कर लेता है। कई साधक अपने गाँव की एक दिशा में शौच-स्थान तक की सीमा रख कर शेष भूमि में गमनागमन का त्याग कर देते हैं और कुछ ५–१० मील तक की भूमि रखते हैं। कोई साधक तो अमुक मार्ग या मुहल्ले और स्थण्डिल-भूमि तक की सीमा के अलावा सभी वाजारों, गलियों और शेष समस्त भूमि में गमनागमन का त्याग कर देते हैं। उनका गमनागमन भी विवेकयुक्त एवं यतना सहित होता है।

इस व्रत में दिशाओं के संकोच के अतिरिक्त सभी व्रतों की छूटों का भी उतने समय के लिए संक्षेपीकरण किया जाता है। प्रथम व्रत के स्थावर जीवों का आश्रव भी या तो रोक दिया जाता है या अत्यन्त स्वल्प रह जाता है। व्यापारादि और भोगोपभोग के साधन भी नहींवत् रह जाते हैं। इस व्रत से थोड़े समय के लिए साधुता के निकट की साधना की जाती है।

हमारे समाज में प्रचलित दयाव्रत या देश-पौषध भी इसके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है, जिसमें छहकाय के आश्रव सेवन का त्याग किया जाता है। वैसे इस व्रत की साधना एक या अधिक मुहूर्त का संवर कर के भी की जा सकती है और कई दिनों के लिए भी। संध्या-काल या शयन-काल से सूर्योदय पर्यन्त तो कई सुश्रावक संवर में रहते हैं। कई धर्मप्रिय साधक, पर्युषण पर्वाधिराज के पूरे आठ

दिन तक आश्रव का त्याग कर संवर का पालन करते हैं। उनकी धर्म-साधना, ध्येय के अनुकूल होती है। किंतु जो लोग इस लोकोत्तम पर्व के दिनों में अकेले ही या संघवद्ध हो कर दर्शन-यात्रा के लिए निकलते हैं, वे तो धर्म के विपरीत कार्य—आश्रव सेवन करते हैं। सुज्ञजन, सामान्य पर्व (अष्टमी, चतुर्दशी, पाक्षिकादि) पर भी आश्रव सेवन का त्याग करते हैं, तो महापर्व के प्रसंग पर धर्म के नाम पर विशेष आश्रव सेवन करना और उसमें धर्म-साधना का संतोष मानना तो अज्ञानता ही है। ऐसे भोले लोगों का मुनिदर्शन भी, मन्दिर के भगवान् के दर्शन के समान है। वे लोग भी आकृति का दर्शन करते हैं और ये भी मुनि आकृति के दर्शन करते हैं। संत-समागम से ज्ञानादि का लाभ प्राप्त करने की चेष्टा उनमें कम होती है। ऐसे लोग, आठ दिन में चार-पाँच और कोई संघ तो १०-१५ स्थानों तक भटक कर अधिकाधिक लाभ प्राप्त होना मान लेते हैं, और अपने इस कार्य का समाचार-पत्रों द्वारा प्रचार कर के दूसरों को भी प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार आश्रव का सेवन कर संवर मानना अज्ञान है।

उपवास कर के भी यह व्रत किया जा सकता है और खा-पी कर भी। इनमें आवश्यकतानुसार छूट रखी जा सकती है। गृहकार्य करते हुए चौदह नियम की मर्यादा रख कर भी इस व्रत का पालन हो सकता है, लक्ष्य रहना चाहिए आश्रव सेवन से अधिकाधिक बचने का।

श्री हरिभद्रसूरिजी 'सम्बोधप्रकरण' के श्रावकाधिकार गा० १२० में लिखते हैं कि—

"एगमुहुत्तं दिवसं, राई पंचाहमेव पक्खं वा।
वयमिह धरेह दढं, जावइअं उच्छोहे कालं ॥१२०॥"

अर्थात्—एक मुहूर्त, दिवस, रात्रि, पाँच रात्रि-दिवस, एक पक्ष अथवा जितने काल तक पाला जा सके उतने काल का यह व्रत हो सकता है।

गाथा १२२ में लिखा है कि—

"देसावगासिअं पुण, दिसिपरिमाणस्स निच्चं संखेवो।
अहवा सव्ववयाणं, संखेवो पइदिणं जो उ ॥१२२॥"

अर्थात्—प्रतिदिन दिशागमन परिमाण का अथवा सभी व्रतों की मर्यादा को संक्षेप करना (कम करना) दिशावकासिक व्रत है।

चौदह नियम

सदैव प्रातःकाल धारण करने के चौदह नियम इस प्रकार हैं—

१ सचित—पृथ्वी, पानी, वनस्पति, फल, फूल, शाक आदि सचित वस्तुओं के सेवन की मर्यादा

कर के शेष का त्याग करना ।

२ द्रव्य—खाने-पीने की वस्तुओं की संख्या नियत करना । जिसका स्वाद तथा स्वरूप भिन्न-भिन्न हो, वह मूल में एक वस्तु की होने पर भी भिन्न द्रव्य है । जैसे—गेहूँ से रोटी भी बनती है और थूली, हलुआ आदि भी । दूध से दही भी बनता है और खीर भी । इस प्रकार भिन्न स्वाद वाली वस्तुओं के खान पीने की गिनती रख कर शेष का त्याग करना ।

३ विगय—शरीर में विकृति (विकार) उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को 'विगय' कहते हैं । दूध, दही, घृत, तेल और गुड़-शक्कर आदि मिठाई को 'सामान्य विगय' कहते हैं । इनमें अमुक विगय का परिमाण कर के शेष का त्याग करना । मधु और मक्खन विशेष विगय हैं । इनके निष्कारण उपयोग का त्याग करना चाहिए । (मांस और मदिरा महान् विगय है । श्रावक इनका सर्वथा त्यागी होता ही है ।)

४ पन्नी—पाँवों में पहनने के जूते, मौजे, चप्पल आदि की मर्यादा करना ।

५ ताम्बूल—मुखवास के लिये सुपारी, इलायची, सौंफ आदि लिये जायँ, उनकी मर्यादा करना ।

६ वस्त्र—पहनने-ओढ़ने के वस्त्रों की मर्यादा करना ।

७ कुसुम—सुगन्ध के लिए पुष्प, इत्र आदि की मर्यादा करना ।

८ वाहन—सवारी के ऊँट, हाथी, घोड़ा, साइकल, मोटर, ताँगा, गाड़ी आदि ।

९ शयन—शयन करने के पलंग, पाट, बिस्तर आदि ।

१० विलेपन—केसर, चन्दन, तैल, साबुन, अंजन आदि ।

११ ब्रह्मचर्य—चौथे अणुव्रत को भी संकुचित करना ।

१२ दिग्—छठे व्रत में की हुई दिशाओं की सीमा को संकुचित करना ।

१३ स्नान—देश-स्नान अथवा सर्व-स्नान की मर्यादा करना ।

१४ भक्त—भोजन-पानी की मर्यादा करना । एक बार या दो बार तथा वस्तु का परिमाण करना ।

इसके उपरान्त आजीविका सम्बन्धी प्रवृत्ति की भी मर्यादा की जाती है । जैसे—

असि—शस्त्र अथवा हथौड़ादि औजारों द्वारा आजीविका करना—असि कर्म है । इसकी भी मर्यादा करना ।

मसि—स्याही—कलम, दवात और कागज से आजीविका करने में कार्य एवं साधन की मर्यादा करना ।

कृषि—खेती सम्बन्धी साधनों, कार्यों और व्यवस्था की मर्यादा करना ।

इन तीनों में श्रावक को अपने योग्य साधन रख कर, उसमें किये जाते हुए आरंभादि को संकुचित करके शेष का त्याग करना ।

यह व्रत, प्रवृत्ति की विस्तृत धाराओं को संकोच कर निवृत्ति को अधिक विकसित करने वाला

है। इसके सदुपयोग से आत्मा अधिक विकसित होती है।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं;—

१ आनयन प्रयोग—मर्यादित भूमि से बाहर रही हुई किसी वस्तु को मँगवाने की आवश्यकता हो, तो विचार करे कि 'मेरे तो वहाँ तक जाने का त्याग है और कार्य आवश्यक है। यदि मैं जाऊँ तो मेरा व्रत टूटता है, इसलिए किसी अन्य जन या सेवक को भेज कर मँगवालूँ, तो काम भी बन जायगा और व्रत भी बच जायगा'—ऐसा सोच कर दूसरे व्यक्ति के साथ वह वस्तु मँगवाना अतिचार है। इससे व्रत दूषित होता है।

दो करण तीन योग से व्रत लेने वाले के लिए तो किसी से कोई वस्तु, मर्यादातीत भूमि से मँगाना भी नहीं कल्पता है। क्योंकि ऐसा करना व्रत की भावना और प्रतिज्ञा के विरुद्ध है। किंतु आवश्यकता के आवेग में करण-योग का विवेक भूल कर कोई मँगवाले। इतना होने पर भी मन में व्रत को बचाने की इच्छा होने के कारण अतिचार माना है।

२ प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित भूमि से बाहर कोई वस्तु किसी अन्य व्यक्ति के साथ भेजना। यह अतिचार भी प्रथम अतिचार के समान समझना चाहिए।

उपरोक्त दोनों अतिचार अनुपयोग से लगते हैं।

३ शब्दानुपात—मर्यादित स्थान से बाहर रहे हुए किसी व्यक्ति को शब्द-संकेत कर बुलाना। अपने स्थान के (जिसकी सीमा को मर्यादित किया है) बाहर कोई व्यक्ति दिखाई दे और उससे कुछ कार्य हो, तो उसे अपनी ओर आकर्षित करने के लिए खाँस कर, खखार कर या हुँकार आदि संकेत स्वर कर के बुलाना। व्रती श्रावक यह सोचे कि—'मेरे व्रत है, मैं उसे बुलाऊँ तो मेरा व्रत भंग हो जायगा। इसलिए आवाज दे कर तो नहीं बुलाऊँ, संकेत मात्र कर दूँ, तो कोई दोष नहीं'—ऐसा सोच कर यदि अनक्षर शब्दोच्चारण कर बुलावे तो अतिचार लगे। यद्यपि यह भी है तो अनाचार, किन्तु व्रत-रक्षा की भावना से युक्त होने के कारण अतिचार माना गया है।

४ रूपानुपात—नियत स्थान के बाहर कोई प्रयोजनभूत व्यक्ति हो और उसे अपने पास बुलाना हो, तो शब्दानुपात नहीं कर के अपना रूप दिखावे। ऐसे स्थान पर खड़ा हो जाय या घूमता रहे कि जिससे अनायास ही उसकी दृष्टि अपनी ओर हो जाय, अथवा अपनी कोई ऐसी वस्तु दिखावे कि जिसे देख कर वह निकट आ जाय। अपनी उपस्थिति जता कर अपनी ओर आकर्षित कर के बुलाने के लिए

अपना रूप बताने की चेष्टा करना, इस अतिचार का विषय है।

५ बहिर्पुद्गल प्रक्षेप–उपरोक्त उद्देश्य से कंकर, पत्थर आदि कोई वस्तु फेंक कर आकर्षित करना, अथवा मर्यादित भूमि से बाहर रही हुई वस्तु मँगवाने या भीतर की वस्तु बाहर भेजने के लिए उस वस्तु की ओर कंकरादि फेंक कर दूसरे व्यक्ति को उस कार्य का भान कराना। मर्यादित भूमि में भी त्याज्य विषय की कोई क्रिया करवाने के लिए कोई वस्तु गिरा कर संकेत से अनुमति देना।

इन तीनों अतिचारों में मुख्यतः माया-कषाय युक्त मनोयोग रहता है और मनोयोग को सफल करने के लिए काया और वचन योग भी अमुक मात्रा में सहयोगी रहता है। फिर भी व्रत-रक्षण की अपेक्षा रहने के कारण अतिचार माने गये हैं।

उपरोक्त अतिचारों का त्याग कर निर्दोष रीति से व्रत का पालन करने से महान् लाभ होता है। जो महानुभाव इसकी भली भांति आराधना करते हैं, उनके हजारों मेरु पर्वतों जितना पाप रुक जाता है और एक राई जितना शेष रहता है। वे असंख्य गुण त्यागी और असंख्यातवें भाग के भोगी रहते हैं। ऐसे श्रावकों को "**सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकर**" कहा है (सूत्र २–७)। इस व्रत की पालना करते हुए वे संसार के भार से हलके हो कर विश्राम का अनुभव करते हैं (ठाणांग ४–३)।

पौषधोपवास व्रत

श्रावक का तीसरा शिक्षा व्रत 'पौषधोपवास' है। इसे 'प्रतिपूर्ण पौषध' भी कहते हैं। पौषध का अर्थ है–'धर्म की पुष्टि (पोषण) करने वाला'। पौषधोपवास का अर्थ है–'आत्मा के साथ निवास करना।' संसार-लक्षी सभी प्रवृत्तियों को छोड़ कर आत्मा का पोषण एवं विकास करने वाले गुणों के साथ रहना। जिन खान-पान, शरीर-संस्कार, काम-भोग और व्यापार-उद्योगादि सावद्य प्रवृत्तियों के कारण आत्म-गुणों का शोषण होता रहा, उस शोषण को रोक कर पोषण करना। अपने-आप से दूर होती हुई आत्मा को अपने समीप–निजगुण में स्थापित करना। दोषों से आच्छादित–दोषों में बसी हुई आत्मा को गुणों के साथ जोड़ना और शोधक प्रक्रिया से आत्मा का शुद्धिकरण करना–पौषधोपवास है।

पौषध व्रत साधुता की विशेष शिक्षा देता है। यह साधुता के निकट की साधना है। संसार रत पाप एवं कर्म-भार से श्रमित साधक के लिए पौषध, विश्राम के समान सुखदायक है। कई भव्यात्मा श्रमणोपासक, प्रतिमास छह पौषध करते हैं। गृहस्थ के लिए पौषध, आत्मोत्थान की विशिष्ट साधना है। पौषध के चार भेद इस प्रकार हैं;–

१ आहार त्याग पौषध–चारों प्रकार के आहार का त्याग करना।

२ शरीर संस्कार त्याग पौषध–स्नान, मंजन, उबटन, पुष्प-माला तथा आभूषणादि का त्याग

करना—शरीर की शोभा बढ़ाने वाली प्रवृत्ति नहीं करना ।

३ ब्रह्मचर्य पौषध—मैथुन त्याग, उपलक्षण से श्रोतादि सभी इन्द्रियों के वैषयिक सुख का त्याग कर, ज्ञान-ध्यानादि में रमण करना ।

४ अव्यापार पौषध—आजीविका तथा संसार सम्बन्धी सभी सावद्य योगों का त्याग करना ।

इस प्रकार चार प्रकार का पौषध करके मन को शान्त बना लेना, सांसारिक सभी सावद्य कार्यों के भारी बोझ को एक दिन-रात के लिए उतार कर आत्म-शांति का अनुभव करना, और आत्मा में हल्कापन एवं शांति का अनुभव करना—संसार में तीसरा विश्राम है । (ठाणांग ४-३)

सामायिक की विधि के समान पौषध की विधि कर के स्वाध्याय, श्रवण, वाचन, पृच्छा, अनुप्रेक्षा, स्तुति, स्मरण, ध्यान, प्रतिक्रमण और अनित्यादि भावनाएँ आदि का चिन्तन करते हुए पौषध का काल आत्मा को धर्म में लगाये हुए ही पूरा करना चाहिए ।

देश पौषध

उपरोक्त विधि 'प्रतिपूर्ण पौषध' की है । ग्यारहवाँ व्रत प्रतिपूर्ण पौषध ही है । किन्तु ग्रंथकारों ने देश-पौषध का उल्लेख भी किया है । देश-पौषध की विधि इस प्रकार बताई है—

१ आहार आदि का देश से त्याग करना । तिविहार उपवास, आयंबिल, एकासन आदि कर के देश-आहार-पौषध करना ।

२ हाथ, पाँव, मुँह आदि धो कर या तेल, साबुन आदि लगा कर, शेष शरीर-सत्कार का त्याग करना ।

३ मन तथा दृष्टि-क्षेप आदि की छूट रख कर, देश ब्रह्मचर्य पौषध करना ।

४ व्यापार, गृहकार्य आदि की सलाह देने रूप सावद्य व्यापार की छूट रख कर, शेष सावद्य व्यापार का त्याग करना । इस प्रकार देश-पौषध होता है ।

द्रव्य पौषध—उपयोगी ऐसे आसन, प्रमार्जनी, पुस्तकादि साधनों को रख कर शेष वस्तुओं का त्याग करना ।

क्षेत्र पौषध—उपाश्रय तथा उच्चार-प्रस्रवण भूमि की मर्यादा रख कर, शेष क्षेत्र का त्याग करना ।

काल पौषध—कम से कम चार प्रहर का और मध्यम चार प्रहर अधिक का और उत्कृष्ट उपवास के साथ आठ प्रहर या छठ-भक्त के साथ सोलह प्रहर तथा अष्टम-भक्त के साथ २४ प्रहर का होता है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए । आठ प्रहर से कम हो, वह काल से देश-पौषध है ।

भाव पौषध—औदयिक भाव—राग-द्वेष अर्थात् आर्त्त-रौद्र ध्यान को त्याग कर धर्मध्यान में लीन

रहना।

श्रावकों का दया (छः काया) व्रत भी देश-पौषध रूप है। भगवती सूत्र १२-१ में शंख-पुष्कली प्रकरण में लिखित, भोजन कर के पौषध करने के प्रसंग से भी देश-पौषध की परिपाटी सिद्ध होती है। किंतु इसका समावेश देशावकाशिक व्रत में होना उचित है। ग्यारहवाँ व्रत तो 'प्रतिपूर्ण पौषध' का ही रहना चाहिए।

पौषध में सामायिक करना या नहीं?

पौषध लेने के बाद उसमें सामायिक करना या नहीं, यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, क्योंकि श्वे० मूर्ति-पूजक समाज में पौषध के साथ सामायिक करने का रिवाज है। इस विषय में 'धर्म संग्रह' की टीका में लिखा है कि-देश-पौषध वाला सामायिक नहीं करे, तो भी चल सकता है (क्योंकि उसने कुव्यापार=सावद्य व्यापार का त्याग भी देश से किया है) किन्तु सर्व-पौषध वाले को सामायिक अवश्य ही करनी चाहिए। यदि नहीं करे, तो वह सामायिक के फल से वंचित रहता है। 'योगशास्त्र' की टीका में लिखा है कि-

"यदि 'कुव्यापार-वर्जन' रूप पौषध भी 'अण्णत्थणा भोगेणं' आदि आगार सहित किया है, तब तो सामायिक करने की आवश्यकता रहती है और ऐसी दशा में सामायिक करना सार्थक भी है (क्योंकि सामायिक के समय वे आगार भी रुक जाते हैं-यह लाभ है) और सर्व-पौषध वाले को भी सामायिक करनी चाहिए, नहीं करने पर उसके लाभ से वंचित रहता है।" इसके आगे लिखा कि-

"यदि समाचारी की भिन्नता से जिसने पौषध भी सामायिक की तरह "दुविहं तिविहेणं" आदि भंगपूर्वक किया है, तो उसके लिए सामायिक का कार्य पौषध से ही हो जाता है। इसलिए उसकी सामायिक विशेष फल-दायक नहीं होती। हाँ, अपने उल्लास के लिए कि "मैंने सामायिक और पौषध दोनों किये"-करे, तो कर सकता है।

तात्पर्य यह कि देश-पौषध वाले के सावद्य-व्यापार किसी अंश में खुला हो अथवा सर्व-पौषध में एक करण एक योग आदि से प्रत्याख्यान हो, तो सामायिक करना सार्थक है, किन्तु दो करण तीन योग के सर्व-पौषध में, सामायिक का समावेश अपने-आप हो जाता है। जो इस प्रकार का पौषध करे, उसके लिए पृथक् रूप से बिना किसी विशेषता के सामायिक करना, कोई खास लाभप्रद नहीं होता।

निर्दोष रूप से पौषध करने के लिए, पौषध के पूर्व दिन, निम्नलिखित शुद्धता रखनी चाहिए-

१ जहाँ तक हो सके एकासना करे, यदि एकासना नहीं हो सके, तो पौषध निमित्त अधिक नहीं खावे।

२ 'कल पौषध होगा, इसलिए आज बाल बनवालूं या स्नान करलूं'—इस प्रकार सोच कर ये क्रियाएँ नहीं करे।

३ मैथुन सेवन नहीं करे।

४ वस्त्रादि नहीं बनावे, धुलवावे भी नहीं और रंगावे भी नहीं।

५ पौषध के निमित्त शरीर की साल-सम्भाल आदि नहीं करे।

६ पौषध के निमित्त आभूषण नहीं पहने।

उपरोक्त छह बातों का पालन करने से पौषध करने वाली आत्मा की क्षेत्र-शुद्धि होती है, अन्यथा ये दोष लगते हैं। इन दोषों से अवश्य ही बचना चाहिए।

अतिचार

पौषध व्रत के नीचे लिखे पाँच अतिचारों को टालना चाहिए।

१ **अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या-संस्तारक**—बिछौने, ओढ़ने तथा आसनादि की प्रतिलेखना नहीं करना अथवा ध्यानपूर्वक प्रतिलेखना नहीं करते हुए वेगारी की तरह करना।

२ **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक**—बिछौने आदि तथा भूमि आदि की प्रमार्जना नहीं करना और करना तो उपेक्षापूर्वक करना।

३ **अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार-प्रस्रवण भूमि**—मल-मूत्र आदि परठने के स्थान की प्रतिलेखना नहीं करना अथवा बुरी तरह से करना।

४ **अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि**—मल-मूत्रादि परठने के पूर्व उस स्थान को नहीं पूंजना अथवा बुरी तरह से पूंजना।

५ **पौषधोपवास का सम्यक् अपालन**—पौषध का विधिपूर्वक पालन नहीं करना।

उपरोक्त अतिचारों को सावधानी पूर्वक टालना चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्न दोषों से भी बचना चाहिए—

१ अव्रती से सेवा कराना २ शरीर का मैल उतारना ३ बिना पूंजे शरीर खुजालना ४ अकाल में निद्रा लेना अर्थात् दिन में सोना और रात में अधिक निद्रा लेना ५ निन्दा, विकथा तथा हँसी-मजाक करना ६ सांसारिक विषयों की बातें करना या सुनना अथवा अधार्मिक साहित्य पढ़ना ७ भय को हृदय में स्थान देना या दूसरों को डराना ८ क्लेश करना अथवा क्लेश में कारण भूत बनना ९ खुले मुँह बोलना, सावद्य वचन बोलना १० स्त्री का रूप निरखना ११ सांसारिक सम्बन्ध के अनुसार सम्बोधन

करना अथवा जिसके पौषध नहीं हो, ऐसे व्यक्तियों और सम्बन्धियों से बातें करना और १२ प्रमार्जना में प्रमाद करना।

इन दोषों से भी बचना आवश्यक है। पौषध की पूर्ति पर पालने की चपलता नहीं करना। समय पूर्ण होने के बाद कुछ समय बीतने पर विधिपूर्वक अतिचारों और अन्य दोषों की आलोचना करने के पूर्व पौषध नहीं पालना चाहिए।

पौषध में दोनों समय वस्त्र, पुस्तक तथा प्रमार्जनी आदि की प्रतिलेखना करे। बैठते, सोते, शरीर पर खाज खुजालते और ऐसे ही दूसरे कार्यों के पूर्व प्रमार्जन करे। यथासमय दोनों वक्त प्रतिक्रमण करे। करवट बदले तो पूंजने के बाद बदले। संयमियों और पौषध करने वाले श्रावकों की अनुमोदना करते हुए या संसार की अनित्यता का चिंतन करते हुए सोवे। प्रहर रात बीतने के बाद और रात्रि शेष रहे तब तक जोर से नहीं बोले। निद्रा त्यागने के बाद ईर्यापथिकी करके निद्रा-दोष निवृत्ति के लिए "पडिक्कमामि पगामसिज्जाए" का स्मरण करे।

जिस प्रकार शिथिल गात्र वाला वृद्ध, भारी बोझ के कारण थक कर, किसी वृक्ष की ठण्डी छाया और जलाशय को देख कर अपना भार रखता है और ठण्डा पानी पीकर तथा छाया में बैठ कर विश्राम लेता है-सुख का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार पौषध में रहा हुआ श्रावक, संसार के आरम्भ-परिग्रह तथा अठारह पाप के महान् बोझ से थका हुआ है। पोषध के समय वह इस भार से हलका होकर आत्मीय सुख का अनुभव करता है। आत्म-शान्ति का पोषक होने के कारण इस व्रत का नाम 'पौषध' है। पूर्वाचार्य कहते हैं कि जो श्रद्धालु श्रावक, भावपूर्वक शुद्ध व्यवहार प्रतिपूर्ण पौषध का पालन करता हुआ, विषय-कषाय की गर्मी को शांत करता है, 'वह सत्ताईस अरब, सतहत्तर करोड़, सतहत्तर लाख, सतहत्तर हजार, सात सौ सतहत्तर पल्योपम और एक पल्योपम का सप्तनवमांश (२७७७७७७७७७-$\frac{७}{९}$) परिमाण देवभव के आयुष्य का बन्ध करता है। (सम्बोधप्रकरण श्रावकाधिकार गा० १३४) यदि इसमें थोड़ी भी निश्चय सम्यक्त्व की लीनता हुई, तो उसके लाभ का तो कहना ही क्या?

अतिथि संविभाग व्रत

श्रावक का चौथा और अन्तिम शिक्षा व्रत 'अतिथि-संविभाग' + है। अतिथि=जिनके आगमन की कोई तिथि नहीं, कोई वार, पर्व अथवा उत्सव आदि नियत नहीं, जो अचानक ही आते हैं। कहा है कि-

+ इस व्रत का नाम 'यथा संविभाग' भी है (उपासकदशा, उववाई, भगवती)।

तिथि-पर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मनः ।
अतिथिं तं विजानीयात्, शेषमभ्यागतं विदुः ॥

—अतिथि वे महात्मा हैं जिन्होंने भिक्षा के लिए तिथि, पर्व या उत्सवादि लोक-व्यवहार के नियत समय के बन्धनों का त्याग कर दिया हो। उनके सिवाय शेष सभी भिक्षुओं को 'अभ्यागत' जानना चाहिए।

उद्दिष्ट त्यागी और श्रमणभूत प्रतिमा के धारक श्रावक भी अतिथि † हैं।

श्रावक के लिए निर्ग्रन्थ-श्रमण अतिथि हैं। सर्वस्व त्यागी (मोक्षाभिलाषी) पंच महाव्रतधारी निर्ग्रंथ साधुओं एवं साध्वियों को, अपने खानपानादि कार्य में आने वाली वस्तु में से, उनके कल्प के अनुसार निर्दोष अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन (रजोहरण) पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध, भेषज—इन चौदह प्रकार की वस्तुओं में से आवश्यकतानुसार भक्तिपूर्वक, संयम में सहायक होने की कल्याण कामना से अर्पण करना—'अतिथि संविभाग' व्रत है।

इन चौदह प्रकार की वस्तुओं में से आहार से लगा कर पादप्रोंछन तक आठ वस्तुएँ तो सर्वथा और पीठ आदि चार, कार्य होने तक रखने के लिए 'पडिहारी' दी जाती है।

संविभाग—उपरोक्त निर्दोष अतिथि को अपने लिए बनाये हुए आहार में से निर्दोष विधि से देना।

इस व्रत में तीन वस्तुओं का योग होता है—१ सुपात्र २ सुदाता और ३ सुद्रव्य।

सुपात्र—आगमों में इसे '**पडिगाहग**' कहा है—'**पडिगाहग सुद्धेणं**' अर्थात् शुद्धपात्र (भग० १५ तथा विपाक २-१) सुपात्र वह है, जो सभी प्रकार के आरंभ-परिग्रह तथा सांसारिक सम्बन्धों और कर्त्तव्यों का त्याग कर आत्म-कल्याण के लिए अग्रसर हुआ है। जो अनगार है और केवल संयम निर्वाह के लिए, शरीर को सहारा देने रूप आहारादि लेता है। जिसकी आहारादि लेने की विधि भी निर्दोष है। जो बिना पूर्व सूचना अथवा निमन्त्रण के अचानक आ कर निर्दोष आहारादि लेता है, वह सुपात्र है।

सुदाता—जिसे शास्त्र में '**दायगसुद्ध**' कहा है। सुदाता वही है, जो सुपात्रदान का प्रेमी हो।

---

† 'श्रावक धर्मप्रज्ञप्ति' में श्री उमास्वाति वाचकजी ने अतिथि में श्रावक-श्राविका को भी ग्रहण किया है। यथा—

"अतिथिसंविभागो नाम अतिथयः—'साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च' एतेषु गृहमुपागतेषु भक्त्याऽभ्युत्थानाऽऽसन (दान-) पादप्रमार्जननमस्कारादिभिरर्चयित्वा यथाविभवशक्ति अन्न-पान-वस्त्रौ-षधालयादिप्रदानेन संविभागः कार्यः।"

—अतिथि-संविभाग अर्थात् अतिथि रूप साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इन में से कोई भी जब अपने घर आवें, तो भक्तिपूर्वक खड़े हो कर आसन देना, पाँव प्रमार्जन करना, यथायोग्य नमस्कार करना और सत्कारपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार आहार, पानी, वस्त्र, औषधी और स्थानादि प्रदान कर संविभाग = सम्यक्—दोष रहित विभाग करना।

सुद्रव्य-'दव्वसुद्ध' दान की सामग्री निर्दोष हो। सुपात्र के अनुकूल एवं हितकारी हो। उद्गम उत्पादनादि दोष रहित * हो। ऐसी वस्तु नहीं देनी चाहिए जो दूषित हो और संयमी जीवन के लिए अनावश्यक हो।

इस प्रकार साधु-साध्वी को, प्रसन्न मन से निर्दोष आहारादि का दान करने से इस व्रत का पालन होता है।

अतिचार

इस व्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं-

१ **सचित्त निक्षेप**-साधु को नहीं देने की बुद्धि से, निर्दोष और अचित्त वस्तु को, सचित्त वस्तु पर रख देना, जिससे वे ले ही नहीं सके।

२ **सचित्त पिधान** कुबुद्धि पूर्वक अचित्त वस्तु को सचित्त से ढक देना।

३ **कालातिक्रम**-गोचरी के समय को चुका देना और बाद में शिष्टाचार साधने के लिए दान देने को तय्यार होना।

४ **परव्यपदेश**-नहीं देने की बुद्धि से अपने आहारादि को दूसरे का बतलाना।

५ **मत्सरिता**-दूसरे दाताओं से ईर्षा करना।

उपरोक्त अतिचारों में, देने की इच्छा नहीं होने पर, चाह कर दूषण लगाना बतलाया है। का कारण यह लगता है कि देने की भावना तो हो, किंतु प्रिय वस्तु को बचा कर दूसरी सामान्य तु देने की भावना से, उस प्रिय वस्तु को दूषित बना दे, तो अतिचार लगे-ऐसा संभव लगता है। द दान देने की बिलकुल ही रुचि नहीं हो, तो अतिचार ही क्यों, वहाँ तो अनाचार हो कर व्रत ही

* इन दोषों का विस्तृत स्वरूप 'मोक्षमार्ग' के 'अनगार धर्म' खण्ड में देखना चाहिए।

नहीं रहता। उपासकदसांगवृत्ति में तो लिखा है कि–दानान्तराय के उदय से स्वयं दान नहीं दे, दूसरा कोई देता हो तो रोके, और दूसरा दान देता हो तो जले, इस प्रकार की कृपणता से व्रत भंग होता है।

इन पाँचों अतिचारों को टाल कर शुद्ध भावना और बहुमानपूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा दान महान् फल वाला होता है। जहां द्रव्य शुद्ध और पात्र शुद्ध हो और उत्कृष्ट रस आ जाय, तो तीर्थंकर गोत्र का बंध हो जाता है (ज्ञाता ८) दिव्य-वृष्टि एवं देवदुंदभि तथा देवों द्वारा जय-घोष होता है। (भगवती १५, उत्तरा० १२ आदि)

"श्रमण-निर्ग्रंथों को अचित्त तथा निर्दोष आहारादि का प्रतिलाभ करने वाला श्रमणोपासक, श्रमणों को समाधि उत्पन्न करता है और इससे वह स्वयं समाधि लाभ करता है। वह जीवन के लिए आवश्यक, उपयोगी एवं दुष्त्याज्य वस्तु का मोह छोड़ कर त्याग करता है। इस त्याग से वह दुर्लभ ऐसे सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त कर विरत होता है और उन्नत होते हुए मुक्त हो जाता है।" (भगवती ७-१)

भगवती सूत्र ८ उ. ६ में–'श्रमण-निर्ग्रंथों को अप्रासुक और अनेषणीय आहारादि देने का फल, अल्प पाप और बहुत निर्जरा' बतलाया है। इस विधान का दुरुपयोग होता दिखाई दे रहा है। इसी विधान की ओट से आधाकर्मी आदि बहु दूषण युक्त आहारादि का प्रचलन हो गया है। किन्तु समझने की बात यह है कि अल्प पाप वहीं होगा, जहां दूषण भी स्वल्प हो। आधाकर्मी आदि विशेष दूषण युक्त दान से तदनुसार पाप होता है।

दोष युक्त आहार देना, साधुओं के संयम रूपी धन को लूटने के समान है। प्रत्येक श्रमणोपासक का कर्त्तव्य है कि वह श्रमण-निर्ग्रंथों को आहार, पानी, वस्त्र आदि ऐसी निर्दोष वस्तु दें कि जिससे उनके संयमी जीवन में दोष नहीं लगे और संयम का पोषण हो। दूषित वस्तु दे कर संयम को दूषित करना और खुद भी पाप कर्मों का वन्ध करना–मूर्खता का कार्य है।

"श्रमण-निर्ग्रंथों को अप्रासुक-अनेषणीय आहारादि देने वाला अल्प आयुष्य का (बचपन में या शैशव अथवा युवावस्था में ही मरने रूप) वन्ध करता है और निर्दोष आहार देने वाला दीर्घायु का बंध करता है। दूषित आहार देने से दुःखमय जीवन रूप दीर्घ आयु का वन्ध होता है और पथ्य कर आहार देने से शुभ दीर्घ आयु का बन्ध होता है" (भगवती श० ५ उ० ६)।

"श्रमण-निर्ग्रंथों को प्रासुक-एषणीय=अचित्त एवं निर्दोष आहारादि प्रतिलाभने वाला श्रमणोपासक अपने कर्मों की निर्जरा करता है" (भग० ८-६)।

यह बारहवाँ व्रत श्रमण जीवन की अनुमोदना रूप है। जो श्रमण को उत्तम और मंगल रूप मानता है, वही भावपूर्वक श्रमण को प्रतिलाभता है। उनकी पर्युपासना करता है। श्रमण-निर्ग्रंथ की पर्युपासना से धर्म-श्रवण करने को मिलता है। धर्म-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से क्रमशः विज्ञान, प्रत्याख्यान,

संयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, निष्कर्मता और मुक्ति होती है। अर्थात् श्रमण-निर्ग्रंथों की पर्युपासना का परम्परा फल मुक्ति प्राप्त होना है (भग० २-५) इसलिए अतिथि-संविभाग व्रत का पालन भाव पूर्वक करना चाहिए।

उपासक-प्रतिमा

देश विरत श्रावक के अभिग्रह विशेष को 'प्रतिमा' कहते हैं। देव और गुरु की उपासना करने वाला श्रमणोपासक, जब उपासक की प्रतिमा का आराधन करता है, तब वह 'प्रतिमाधारी श्रावक' कहलाता है। ये प्रतिमाएँ ग्यारह हैं। यथा-

१ **दर्शन प्रतिमा**-पहली प्रतिमा में श्रावक सम्यग्दर्शन की आराधना करता है। यों तो वह इसके पूर्व भी सम्यग्दृष्टि होता है, किन्तु उस अवस्था में राजाभियोग आदि छः कारणों से सम्यक्त्व में अतिचार भी लग सकता है। किन्तु इस प्रतिमा में वह सम्यग्दर्शन का अतिचार रहित-विशुद्ध पालन करता है। वह क्रियावादी, अक्रियावादी आदि मिथ्या-दर्शनों की मान्यता को हेय मान कर, विशुद्ध सम्यग्-दर्शनी होता है। उसकी क्षमा, निर्लोभता आदि दस धर्म, विरति, संवर तथा तप आदि सभी धर्मों में पूर्ण रूप से रुचि होती है, किन्तु उनका पालन (निरतिचार रूप से) नहीं होता। यह प्रतिमा एक मास की होती है।

२ **व्रत प्रतिमा**-प्रथम प्रतिमा की तरह धर्मरुचि पूर्णरूप से होती है। इसके सिवाय वह बहुत-से शीलव्रत-अणुव्रत, गुणव्रत तथा अनेक प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान का पालन करता है। किन्तु 'सामायिक' और 'देशावकासिक' व्रत का यथातथ्य पालन नहीं करता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३ **सामायिक प्रतिमा**-इस प्रतिमा में वह पूर्वोक्त सभी गुणों के अतिरिक्त सामायिक तथा देशाव-कासिक व्रत का पालन करता है, किन्तु अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्ण पौषधो-पवास नहीं करता। इस प्रतिमा का काल तीन मास का है।

४ **पौषधोपवास प्रतिमा**-पूर्वोक्त सभी नियमों के साथ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्णपौषध उपवास सहित करता है, किन्तु एक रात्रि की उपासक-प्रतिमा का पालन नहीं करता। यह प्रतिमा चार मास की है।

५ **दिवा ब्रह्मचारी रात्रि परिमाण प्रतिमा**-इसमें पूर्व प्रतिमाओं के सभी नियमों के साथ एक रात्रि की उपासक-प्रतिमा का पालन किया जाता है अर्थात् रात्रि को कायोत्सर्ग किया जाता है। इसके

सिवाय निम्न लिखित नियमों का पालन किया जाता है।

१ स्नान करने का त्याग किया जाता है।

२ रात्रि भोजन का त्याग किया जाता है।

३ धोती की लाँग खुली रखी जाती है।

४ दिन को ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।

५ रात्रि में मैथुन का परिमाण किया जाता है।

इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक दो या तीन दिन और उत्कृष्ट पाँच महीने तक किया जाता है।

६ ब्रह्मचर्य प्रतिमा–पूर्व प्रतिमाओं के सभी नियम पालने के साथ इस प्रतिमा में दिन और रात में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। इसमें सचित्ताहार का पूर्ण त्याग नहीं होता। इसका कालमान कम से कम एक दो या तीन दिन और अधिक से अधिक छः मास है।

७ सचित्त त्याग प्रतिमा–पूर्वोक्त छः प्रतिमाओं के साथ इस प्रतिमा में सचित्त वस्तु के आहार का त्याग विशेष रूप से होता है, किन्तु आवश्यक कार्य का आरम्भ करने का त्याग नहीं होता। इसका काल जघन्य एक दो और तीन दिन तथा उत्कृष्ट सात मास का है।

८ आरम्भ त्याग प्रतिमा–पूर्वोक्त गुणों के अतिरिक्त इस प्रतिमा में स्वतः के आरम्भ-सावद्य व्यापार करने का त्याग होता है। किन्तु दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग नहीं होता। इसका कालमान जघन्य एक दो तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास का है।

९ प्रेष्यारम्भ त्याग प्रतिमा–इस प्रतिमा में पूर्व से विशेषता यह है कि वह दूसरों से आरम्भ करवाने का भी त्याग कर देता है। किन्तु 'उद्दिष्ट भक्त' (उसके लिए बनाये हुए आहारादि) का त्याग नहीं होता। इस प्रतिमा का काल जघन्य एक दो तीन दिन और उत्कृष्ट नव मास का है।

१० उद्दिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा–पूर्वोक्त सभी प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए इसमें विशेष रूप से औद्देशिक आहारादि का भी त्याग होता है। वह अपने बालों का उस्तरे से मुंडन करवाता है अथवा शिखा रखता है। यदि उसे कौटुम्बिक जन, द्रव्यादि के विषय में पूछे. तो वह जानता हो तो कहे कि "मैं जानता हूँ" और नहीं जानता हो तो कहे कि 'मैं नहीं जानता।" इस प्रकार वह कम से कम एक दो और तीन दिन तथा अधिक से अधिक दस मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

११ श्रमणभूत प्रतिमा–पूर्वोक्त दस प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करने के सिवाय इस प्रतिमा का धारक श्रावक अपने सिर के बालों का या तो मुंडन करवाता है या फिर लोच करता है (यह उसकी शक्ति पर निर्भर है) इसके अतिरिक्त वह साधु के आचार का पालन करता है। उसके

उपकरण और वेश, साधु के समान ही होते हैं। वह निर्ग्रन्थ-श्रमणों के धर्म का बरावर पालन करता है, मन और वचन से ही नहीं, किन्तु शरीर से भी सभी प्रकार की क्रिया करता है। चलते समय वह युग परिमाण भूमि को देख कर चलता है। यदि मार्ग में त्रस जीव दिखाई दें, तो उनकी रक्षा के लिए सोच समझ कर इस प्रकार पाँव उठाना और रखना है कि जिससे जीव की विराधना नहीं हो, जीवों की रक्षा के लिए वह अपने पाँव को संकुचित अथवा टेढ़ा रख कर चलता है, किन्तु बिना देखे सीधा नहीं चलता। उसकी सभी क्रियाएँ साधु के समान होती हैं। गोचरी के विषय में वह प्रासुक और एषणीय ही ग्रहण करता है। किन्तु उसका अपने सम्बन्धियों से प्रेम-सम्बन्ध सर्वथा नहीं छूटता, इसलिए वह उन्हीं के यहाँ से निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है।

भिक्षार्थ जाने पर उसे मालूम हो कि 'चावल तो उसके आने के पूर्व ही पक कर आग पर से अलग रखे जा चुके हैं, किन्तु दाल नहीं पकी–पक रही है,' तो उसे चावल ही लेने चाहिए, और बाद में पकने वाली दाल नहीं लेनी चाहिए। इसी प्रकार यदि दाल पहले बन चुकी हो और चावल पकना शेष हो, तो दाल ही लेनी चाहिए–चावल नहीं। जो वस्तु उसके पहुँचने के पूर्व बन चुकी हो और अग्नि पर से अलग रखी जा चुकी हो, वही लेनी चाहिए। बाद में बनने वाली नहीं लेनी चाहिए।

गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए जावे तब कहे कि "प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।" इस प्रकार की उसकी चर्या देख कर कोई पूछे कि–'हे आयुष्यमन् ! तुम कौन हो ?' तो उसे उत्तर में कहना चाहिए कि "मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ।" इस प्रकार इस प्रतिमा की आराधना कम से कम एक दो या तीन दिनरात और उत्कृष्ट ग्यारह मास तक होता है।

(दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६ समवायांग ११)

पाँचवीं प्रतिमा और उसके आगे की प्रतिमा का कालमान जघन्य एक दो तीन दिन का बताया है, इसका कारण बताते हुए टीकाकार लिखते हैं कि 'एक दो तीन दिन प्रतिमा पाल कर यदि वह वर्धमान परिणाम के कारण दीक्षित हो जाय, तो जघन्य काल होता है* अन्यथा पूरा समय लगता है। सभी प्रतिमाओं का पूर्ण समय कुल साढ़े पाँच वर्ष (६६ मास) का होता है।

जिन धर्मबन्धुओं की रुचि, संसार से हट कर धर्म-साधना में विशेष लगी हो, किंतु साधु बनने जितनी जिनकी शक्ति नहीं हो, उन्हें प्रतिमा का आराधन अवश्य करना चाहिए। जिनके गृहभार सम्हालने योग्य पुत्रादि हों, उन्हें तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि

* टीकाकार ने दूसरा कारण आयु पूर्ण होने का भी बताया है, किन्तु यह कोई कारण नहीं लगता, यों तो प्रतिमा धारण करने के एकाध घन्टे बाद भी आयुष्य पूर्ण हो सकता है, फिर दिन का ही विधान क्यों ? अतएव दीक्षा का कारण ही उचित लगता है।

उन्हें क्रमशः सभी प्रतिमाओं का पालन करना ही पड़ेगा। वे चाहें तो किसी एक प्रतिमा का ही पुनः पुनः पालन कर सकते हैं, जैसा कि कार्तिक सेठ ने किया था।

संलेखणा संथारा

संसारी जीव आयुष्य-कर्म के आधार से ही किसी शरीर में स्थिति करते हैं। आयुष्य का क्षय, 'मरण' कहलाता है। जो आयुष्यादि कर्म के उदय से जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है। मनुष्य अपने उत्कृष्ट पुरुषार्थ से अगला जन्म रोक सकता है, अर्थात् वीतरागता प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, जिससे उसे आगे पर जन्म की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु मृत्यु को नहीं रोक सकता। प्राप्त जन्म और उदयमान आयुष्यादि कर्म को भुगत करके मरना पड़ता है। वीतराग भगवंतों को भी देह त्याग करना ही पड़ता है। इसलिए प्राप्त जन्म का अन्तिम परिणाम, मृत्यु तो होती ही है। इस मृत्यु को मिथ्या-दृष्टि और कलुषित परिणामी जीव, अकाम-मरण द्वारा बिगाड़ देता है, किन्तु श्रमणोपासक तथा श्रमणवर्ग, सकाममरण—पंडितमरण के द्वारा सुधार लेते हैं। अविरत अवस्था में एवं मिथ्यादृष्टि सहित आयु पूर्ण करना 'अकाम-मरण' है। फिर वह किसी भी निमित्त से हो, किन्तु सावधानीपूर्वक आराधना करते हुए देह छोड़ना 'सकाममरण'—पंडितमरण है। पण्डितमरण 'संथारा' पूर्वक होता है। यह अंतिम साधना है।

जब यह विश्वास हो जाय कि अब शरीर गिरनेवाला है, अधिक दिन नहीं चल सकेगा। शरीर की दशा बहुत ही जीर्ण हो गई, रोग अथवा उपसर्ग उग्ररूप से बढ़ रहा है, शक्ति क्षीण होती जा रही है, उठना बैठना तो दूर रहा, करवट लेना भी कठिन हो रहा है, शरीर के लक्षण भी अन्त-समय निकट होने का संकेत दे रहे हैं, तब संथारा किया जाता है। जिन्हें उपसर्ग से बचने की संभावना होती है, वे तो सागारी संथारा करते हैं (ज्ञाता ८ अरहन्नक श्रावक, उपासकदशा २, अंतकृतदशा आदि) किन्तु जिन्हें बचने की संभावना नहीं हो, वे बिना किसी आगार के ही—जीवन पर्यन्त के लिए संथारा कर लेते हैं।

यह संथारा वसति—उपाश्रय में अथवा घर में रह कर भी किया जा सकता है और जंगल में जाकर भी किया जा सकता है। इसके दो भेद हैं—१ पादपोपगमन और २ भक्तप्रत्याख्यान।

संथारा करने वाला पहले संथारे का स्थान निश्चित करता है। वह स्थान निर्दोष—जीव जन्तु और कालाहल से रहित तथा शांत हो। फिर उच्चार-प्रस्रवण भूमि (=बड़ीनीत लघुनीत परठने का स्थान) देख कर निर्धारित करता है। इसके बाद संथारे की भूमि का प्रमार्जन करे और उस पर दर्भ

आदि का संथारा बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुंह करके बैठ जाय। इसके बाद ईर्यापथिकी-गमनागमन का प्रतिक्रमण करे। फिर दोनों हाथ जोड़ कर सिद्ध भगवान् एवं अरिहंत भगवान् की 'नमुत्थुणं' के पाठ से स्तुति करे। इसके बाद गुरुदेव को वन्दना करके अपने पूर्व के व्रतों का स्मरण करे और उनमें लगे हुए दोषों की आलोचना करे। इसके बाद अठारह पाप और चारों आहार का जीवनभर के लिए त्याग कर दे। इसके बाद उत्साह एवं हर्षपूर्वक शरीर त्याग की प्रतिज्ञा करता हुआ कहे कि—

"मेरा यह शरीर मुझे अत्यन्त प्रिय था। मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी। इसे मैं मूंजी के धन की तरह सँभालता रहा था। मेरा इस पर पूर्ण विश्वास था। इस संसार में यह शरीर मुझे अत्यन्त इष्टकारी था। इसके समान दूसरा कोई प्रिय नहीं था। इसलिए मैंने इसे शीत से, गर्मी से, क्षुधा से, प्यास से, सर्प, चोर, डाँस आदि प्राणियों के उपसर्ग से और रोगों से बचाया। इसकी पूरी लगन के साथ रक्षा की। अब मैं इस शरीर से अपना ममत्व हटा कर इसका त्याग करता हूँ और अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक इस शरीर से अपनेपन का सम्बन्ध त्याग देता हूँ।" (भगवती २-१)

इस प्रकार शरीर का त्याग करके धर्मध्यान-अनित्यादि भावना-शुभ परिणति में समय व्यतीत करे और अधिक जीने या शीघ्र मरजाने की इच्छा नहीं करता हुआ, तथा दुखों से नहीं घबराता हुआ, शान्त हृदय से धर्मध्यान करता रहे और उस समय जो भी परीषह एवं उपसर्ग उत्पन्न हों, उन्हें लकड़ी के पटिये की तरह निश्चल रह कर सहन करे। यदि सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि पशु या पक्षी शरीर को काटे, भक्षण करे, तो उन्हें मारे नहीं, किन्तु यह सोचे कि 'ये पशु मेरा शरीर खाते हैं, गुण-आत्मा को नहीं खाते'। यह सोच कर मन में दृढ़ता लावे और श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा को अन्त तक धर्मध्यान में लगाये रहे।

भक्तप्रत्याख्यान अथवा इंगितमरण (पादपोपगमन के सिवाय) में निर्धारित भूमि के भीतर स्थंडिल आदि के लिए या हाथ-पाँव अकड़ जाय तो सीधे करने के लिए, हलन-चलन किया जा सकता है। हाथ-पाँव लम्बे या संकुचित किये जा सकते हैं। भक्तप्रत्याख्यान तिविहार और चौविहार प्रत्याख्यान से भी हो सकता है। (आचारांग श्रुत १ अ. ८ उ. ५ से ८) संयमी मुनिवर संलेखना की साधना पहले से शुरू कर देते हैं। इसका जघन्य काल छः महीने, मध्यम एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष है।

बारह वर्ष की साधना में प्रथम के चार वर्ष तक विगयों का त्याग किया जाता है। दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार का तप किया जाता है। फिर दो वर्ष तक आयम्बिल के पारणे से एकान्तर तप किया जाता है। इसके बाद छः महीने तक अति विकट तप किया जाता है और पारणे में केवल आयंबिल ही किया जाता है। अंतिम वर्ष में कोटि सहित (एक तप की पूर्ति के साथ ही दूसरा तप प्रारंभ

कर देने रूप) तप किया जाता है और पारणा आयंबिल के साथ किया जाता है। इसके बाद एक मास या अर्ध मास तक आहार का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है। यह जीवनपर्यन्त का अनशन होता है। इस प्रकार बारह वर्ष में, जीवन के अन्त के साथ यह संलेखणा पूरी होती है (उत्तरा० ३६)।

अतिचार

इसमें लगने वाले अतिचार इस प्रकार हैं–

१ **इहलोकाशंसा प्रयोग**–मृत्यु के उपरांत इसी मनुष्य लोक में सम्राट, राजा अथवा मन्त्री, सेठ आदि होने की इच्छा करना, मनुष्य सम्बन्धी उत्तम ऐश्वर्य और काम भोग की प्राप्ति चाहना।

२ **परलोकाशंसा प्रयोग**–स्वर्ग का महर्द्धिक देव अथवा इन्द्र बनने की अभिलाषा करना।

३ **जीविताशंसा प्रयोग**–मान प्रतिष्ठा प्राप्त होती देख कर लम्बे काल तक जीवित रहने की इच्छा करना।

४ **मरणाशंसा प्रयोग**–क्षुधादि अथवा परीषहादि से घबड़ा कर शीघ्र ही मर जाने की भावना करना।

५ **कामभोगाशंसा प्रयोग**–मनुष्य अथवा देव सम्बन्धी काम-भोगों के भोगने की इच्छा करना।
(उपासकदशा–१)

उपरोक्त अतिचारों से बच कर संलेखणा का यथातथ्य पालन करने से निर्दोष आराधना होती है।

मृत्यु का भय तो मनुष्य के लगा ही हुआ है। न जाने कब किस स्थिति में जीवन डोरी टूट जाय! इसलिए मृत्यु सुधारने का अभ्यास पहले से ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। सदैव रात को सोते समय, प्रातः काल तक के लिए विरति को अधिक से अधिक विकसित कर संलेखना का अभ्यास चालू कर देना उचित है। इससे अन्तिम साधना सरल हो जाती है।

विरति की अपेक्षा श्रावक के भेद

जिस प्रकार साधुओं में दीक्षा-पर्याय की अपेक्षा तथा क्रिया और आराधना की अपेक्षा भेद होते हैं, उसी प्रकार श्रमणोपासकों के भी चार भेद हैं। ये भेद इस प्रकार हैं–

१ कोई श्रावक पर्याय से बड़े हैं, किन्तु गुणों से नहीं है। वे महान् क्रिया, महान् कर्म और अवि

प्रमाद युक्त हो कर धर्म की साधना बराबर नहीं करते और धर्म के आराधक भी नहीं होते ।

२ कोई व्रत पर्याय में बड़े हैं और गुणों से भी बड़े होते हैं । वे अल्प कर्म, अल्प प्रमाद तथा साधना युक्त हो कर आराधक होते हैं ।

३ कोई व्रत पर्याय से छोटे हैं, किन्तु हैं महान् क्रिया, महान् कर्म और अति प्रमाद युक्त । वे धर्म-साधना बराबर नहीं करते हुए धर्म के अनाराधक होते हैं ।

४ कोई व्रत पर्याय में छोटे होते हुए भी गुणों में बड़े होते हैं । उनको अल्पक्रिया, अल्पकर्म, अल्प प्रमाद तथा प्रत्याख्यानादि अधिक होते हैं । वे भगवान् की आज्ञा के आराधक होते हैं । (स्थानांग ४-३)

श्रमणोपासकों को भगवान् की आज्ञा के आराधक होने का पूरा ध्यान रखना चाहिए ।

विशुद्ध प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान दो प्रकार के होते हैं । एक तो दुःप्रत्याख्यान और दूसरा सुप्रत्याख्यान । प्रत्याख्यान और उसका स्वरूप जाने बिना और समझे बिना किया जाने वाला प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान होता है और प्रत्याख्यान का स्वरूप तथा जिसका प्रत्याख्यान किया जा रहा है, उन जीवादि पदार्थों का स्वरूप जान कर, प्रत्याख्यान करना-सुप्रत्याख्यान है । (भगवती ७-२)

सुप्रत्याख्यान, पाँच प्रकार की विशुद्धिपूर्वक होते हैं । जैसे-

१ **श्रद्धान शुद्ध**-जो प्रत्याख्यान किये जायँ, उनको और उनके विषय को समझ कर, श्रद्धापूर्वक किये जाय । उन पर पूर्ण श्रद्धा रखी जाय । वह श्रद्धान शुद्ध प्रत्याख्यान है ।

२ **विनय शुद्ध**-प्रत्याख्यान लेते समय वन्दन-नमस्कार करना, मन वचन और काया के योगों का गोपन करके विनय सहित स्वीकार करना और आदर सहित पालन करना-विनयशुद्ध प्रत्याख्यान है ।

३ **अनुभाषण शुद्ध**-गुरु से विनयपूर्वक प्रत्याख्यान करते समय, गुरु-वचनों को धीमे शब्दों से अक्षर पद व्यञ्जन की अपेक्षा शुद्ध उच्चारण करते हुए दुहराना-अनुभाषण शुद्ध है ।

४ **अनुपालन शुद्ध**-रोग, अटवी आदि विषम परिस्थिति में भी प्रत्याख्यान को दूषित नहीं होने देना-अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान है ।

५ **भाव शुद्ध**-राग, द्वेष, प्रशंसा तथा क्रोधादि बुरे भावों से प्रत्याख्यान को दूषित नहीं होने देना-भाव शुद्ध प्रत्याख्यान है । (ठाणांग ५-३)

आवश्यक हारिभद्रीय में छठा कारण 'ज्ञान शुद्ध' का भी है । किन्तु इसका समावेश 'श्रद्धान शुद्ध' में हो जाता है । उपरोक्त प्रकार की शुद्धि के साथ किये जाने वाले प्रत्याख्यान, सुप्रत्याख्यान होते हैं और उनका फल भी अच्छा होता है ।

हिंसा-करण के तीन भेद

हिंसादि करण के तीन प्रकार हैं। जैसे कि–१ आरम्भ २ संरम्भ और ३ समारम्भ। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

१ **संरंभ**–पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा करने का विचार करना अर्थात् हिंसा करने का संकल्प करना अथवा योजना बनाना।

२ **समारंभ**–जीवों को संताप देना, कष्ट पहुँचाना, दुःख देना।

३ **आरंभ**–हिंसा करना, प्राण रहित करना अर्थात् मार देना (उत्तरा० अ० २४ गाथा० २१)

ठाणांग सूत्र ३–१ में यह क्रम इस प्रकार है–१ आरंभ २ संरम्भ ३ समारम्भ। जान बूझकर हिंसा करने वाला पहले मन में संकल्प करता है। उसके बाद प्रहार आदि से दुःख पहुँचाता है और इसके बाद प्राण रहित करता है। मारने के लिए प्रहार करने पर उस प्रहार से पहले तो संताप (कष्ट) होता है। उसके बाद वह प्राण रहित होता है।

करण के अन्य तीन भेद–करना, कराना और अनुमोदना है, जो आगे बताया जाता है।

करण योग

क्रिया शरीर-धारियों से होती है। वह मन, वचन तथा काया के योग से क्रिया होती है। क्रिया स्वयं भी की जाती है, दूसरों से भी करवाई जाती है और क्रिया का अनुमोदन–समर्थन भी होता है। इस करना, कराना और अनुमोदना को "करण" कहते हैं। ये तीनों करण प्रत्येक योग के साथ लगते हैं। जैसे–

मन से–करना, कराना और अनुमोदन करना। इसी प्रकार वचन से और काया से करना, कराना, अनुमोदन करना।

मन से करना–कल्पना से ही कोई क्रिया करने लग जाना। कई बार मनुष्य, अपने घर में अथवा धर्म-स्थान में निष्क्रिय बैठा रहता है, वह बाहर से कोई क्रिया करता हुआ दिखाई नहीं दे रहा है, तो भी वह मनःकल्पना द्वारा कई प्रकार के उखाड़-पछाड़ कर डालता है। क्रय-विक्रय, संभाषण और भोग तक, मन ही मन कर लेता है। सेठजी सामायिक में जूते खरीदने गये और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का मानसिक संग्राम का उदाहरण प्रसिद्ध ही है। स्वप्नावस्था में मन से ही कितने ही छोटे-बड़े कार्य किये जाते हैं। भगवान् महावीर प्रभु ने, छद्मस्थता की अन्तिम रात्रि में आये हुए स्वप्न में, एक भयंकर पिशाच को पछाड़ दिया था। मन से आलोचनादि भी की जाती है। इस प्रकार मन से क्रिया की जाती है।

मन से करवाना–इसी प्रकार मनोकल्पना द्वारा दूसरों से क्रिया कराई जाती है। प्रसन्नचन्द्र

राजर्षि ने मन से ही सेना से युद्ध करवाया था। मन से करने, कराने और क्रिया की पूर्ति तथा अनमोदना तक हो सकती है।

मन से अनुमोदना—मन से अच्छा मानना।

वचन से करना—कल्पना को भाषा में उतरना। कई मनुष्य अकेले वैठे हुए, चलते या सोते हुए, अपने-आप वड़बड़ाते रहते हैं। जैसे वे किसी क्रिया को शरीर से कर रहे हों। स्वप्न में किसी से संभाषण करना आदि।

वचन से करवाना—किसी को आज्ञा देकर कोई कार्य कराना।

वचन से अनुमोदन करवाना—वाणी से प्रशंसा करना।

काया से करना—शरीर से क्रिया करना।

काया से करवाना—'मैं करूँगा, तो मुझे देख कर दूसरे भी करेंगे'—यह सोच कर शरीर से करना प्रारम्भ करके, दूसरों से करवाना अथवा शरीर से संकेत करके करवाना।

काया से अनुमोदन—कार्य को अंगीकार करके काया से समर्थन करना।

इस प्रकार तीनों योग के प्रत्येक के तीन करण होते हैं।

एकेन्द्रिय के केवल काय योग ही होता है। वेइन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के काय और वचन—ये दो योग होते हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, नारक, मनुष्य और देवों के तीनों योग होते हैं।

व्रत में लगने वाले दोषों का क्रम

श्रावक अथवा साधुव्रत में दूषण लगने का भी एक क्रम है। सव से पहले दोष की उत्पत्ति मन में होती है, विचार रूप से होती है। इस के बाद वह कार्य रूप में आती है। पूर्वाचार्यों ने इसका क्रम इस प्रकार वताया है।

१ **अतिक्रम**—व्रत को भंग करने का विचार करना अथवा व्रत भंग करने वालों का अनुमोदन करना।

२ **व्यतिक्रम**—व्रत भंग करने के लिए तत्पर होना। संकल्प—विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रवृत्त होना।

३ **अतिचार**—व्रत भंग की सामग्री मिलाना। व्रत के सम्पूर्ण भंग से पूर्व की अवस्था, जिस में व्रत भंग से संवंधित सामग्री संग्रहित की जाती है।

अनाचार–व्रत को नष्ट कर देना। अर्थात् त्याग की हुई वस्तु का भोग करना–त्याग तोड़ना।

यह है दोष का क्रम। (ठाणांग ३–४ तथा आवश्यक सूत्र) किसी भी विषय में प्रवृत्त होने के पहले मन में संकल्प होता है। उस के बाद प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति कर के सामग्री प्राप्त की जाती है और उसके बाद उसका सेवन किया जाता है। सेवन करने के पूर्व की अवस्था में व्रत का देश भंग (आंशिक खण्डन) होता है और सेवन कर लेना सर्वथा भंग है।

कभी ऐसा भी होता है कि मात्र अतिक्रम के बाद ही साधक सावधान हो जाय और दोष को वहीं अटका कर शुद्धि कर ले। कोई व्यतिक्रम और अतिचार तक दोष लगा कर भी शुद्धि कर के पुनः दोष रहित हो जाते हैं और कोई-कोई उदय की प्रवलता से व्रत का सर्वथा भंग कर देते हैं।

'पिंडनिर्युक्ति' गा० १७९ में इन दोषों की व्यवस्था इस प्रकार बताई है।

साधु के आधाकर्मी आहार लेने का त्याग होता है। यदि कोई अनुरागी श्रावक, साधु के लिए आहार तय्यार कर के साधु को निमन्त्रण देता है और साधु, उस निमन्त्रण को स्वीकार कर के आहार लेने के लिए उठे, पात्र ग्रहण कर के गुरु से आज्ञा प्राप्त करे, तो इतनी क्रिया–इस स्थिति तक अतिक्रम दोष माना है। उपाश्रय से चल कर गृहस्थ के घर में प्रवेश करने और वह आहार लेने के लिए पात्र आगे करने तक की क्रिया व्यतिक्रम है। आहार ग्रहण करके वापिस उपाश्रय में आने, गुरु को वता कर खाने को तत्पर होने तक की क्रिया अतिचार है, और खा लेना अनाचार है।

अतिक्रमादि दोषों का प्रायश्चित्त भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होता है।

'धर्मसंग्रह' के तीसरे अधिकार में लिखा है कि–मूलगुणों में अनाचार से व्रत का सर्वथा भंग हो जाता है। फिर पुनः व्रत ग्रहण करने पर ही विरत माना जाता है। उत्तरगुणों में अनाचार तक दोष लगने पर भी चारित्र का सर्वथा भंग नहीं माना जाता, किंतु मलिनता आती है।

दोष का आंशिक सेवन करने के बाद परिणति पलटने से पुनः सावधान होना एक बात है। किंतु सामग्री की पूर्ण अनुकूलता नहीं होने से, या कोई बाधा उत्पन्न हो जाने से, शरीर द्वारा पूर्ण भंग नहीं हो, तो भी उसके व्रत को सुरक्षित नहीं माना जा सकता, क्यों कि वह असंयमी आत्म-परिणति के कारण अनाचार से नहीं बचा है, बाधा उत्पन्न होने से अन्तराय लग गई है।

अतिक्रम का उपरोक्त रूप, अपेक्षापूर्वक है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मन से केवल अतिक्रम ही होता है, व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार नहीं होता। मन से अनाचार तक हो सकता है। लज्जाजनक नीन्दनीय एवं दण्डनीय ऐसे कई दुराचार होते हैं कि जिनका वचन और काया के द्वारा सेवन होना बड़ा कठिन होता है। परन्तु मन से सेवन होने में कठिनाई नहीं होती। प्रायः ऐसा भी होता है कि अनेक बार मन से अनाचार का सेवन करने के बाद, कभी शरीर से अनाचार सेवन का

योग मिलता है। मन से भी करना कराना और अनुमोदना मानी ही है,उसी प्रकार मन से भी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार भी होता है। मन से अतिक्रम उसी हद तक हो सकता है, जहाँ तक केवल अनाचार सेवन का विचार हुआ हो। उन विचारों की पूर्ति का निश्चिय करना व्यतिक्रम है। अनाचार के साधनों सम्बन्धी विचारणा अतिचार है और मन द्वारा अनाचार का सेवन कर लेना-व्रत को मन के करण से भंग कर देना है। इसी प्रकार वचन और काया से भी अतिक्रमादि हो सकता है। जिस प्रकार गृहस्थावस्था में रहते हुए भी परिणामों की धारा चढ़ने से अप्रमत्त दशा=भाव-संयम की प्राप्ति हो सकती है, उसी प्रकार केवल मन द्वारा अनाचार का सेवन भी हो सकता है।

लिये हुए व्रतों को निर्दोष रूप से पालन करना और यदि जानते-अनजानते अचानक दोष लग-जाय तो उसकी शुद्धि कर लेने से ही व्रत निर्मल रहते हैं। आत्मार्थीजन, दोषों को चलाते नहीं रहते। ऐसे आत्मार्थी-भाव विरतों के चरणों में त्रिकाल वन्दना।

श्रावक के प्रत्याख्यान के ४९ भंग

करण और योग द्वारा सभी सयोगी जीवों को क्रिया लगती है, किन्तु अशुभ क्रिया का त्याग केवल संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों को ही होता है। मनुष्यों में भी साधुओं का त्याग तो तीन करण और तीन योग से होता है, किन्तु तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य-देशविरत श्रावकों के त्याग ऐच्छिक होते हैं। उनके त्याग के मूल भंग ९ और उत्तर भंग ४९ होते हैं।

मूल नौ भंग इस प्रकार हैं-१ तीन करण, तीन योग, २ तीन करण दो योग ३ तीन करण एक योग, ४ दो करण तीन योग, ५ दो करण दो योग, ६ दो करण एक योग, ७ एक करण तीन योग ८ एक करण दो योग और ९ एक करण एक योग।

उत्तर भंग ४९ इस प्रकार हैं,-

१ तीन करण तीन योग-करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन से, वचन से और काया से।
२ तीन करण दो योग-करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से और वचन से।
३ " " " " " -मन से और काया से।
४ " " " " " -वचन से और काया से।
५ तीन करण एक योग-करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से।
६ " " " " " -वचन से।
७ " " " " " -काया से।

८ दो करण तीन योग–करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–मन से, वचन से और काया से ।
९ " " करूँ नहीं, अनुमोदूं नहीं– " " "
१० " " कराऊँ नहीं, अनुमोदूं नहीं– " " "
११ दो करण दो योग–करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–मन से और वचन से ।
१२ " " " " –मन से, काया से ।
१३ " " " " –वचन से, काया से ।
१४ " " –करूँ नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, वचन से ।
१५ " " " " –मन से, काया से ।
१६ " " " " –वचन से, काया से ।
१७ " " –कराऊँ नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, वचन से ।
१८ " " " " –मन से, काया से ।
१९ " " " " –वचन से और काया से ।
२० दो करण एक योग–करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–मन से ।
२१ " " " " –वचन से ।
२२ " " " " –काया से ।
२३ " " –करूँ नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से ।
२४ " " " " –वचन से ।
२५ " " " " –काया से ।
२६ दो करण एक योग से–कराऊँ नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से ।
२७ " " " " –वचन से ।
२८ " " " " –काया से ।
२९ एक करण, तीन योग से–करूँ नहीं–मन से, वचन से, काया से ।
३० " " –कराऊँ नहीं " " "
३१ " " –अनुमोदूं नहीं " " "
३२ एक करण दो योग से–करूँ नहीं–मन से, वचन से ।
३३ " " " –मन से, काया से ।
३४ " " " –वचन से, काया से ।
३५ " " –कराऊँ नहीं–मन से, वचन से ।
३६ " " " –मन से, काया से ।

३७ एक करण दो योग सें—कराऊँ नहीं—वचन सें, काया से ।
३८ " " —अनुमोदूं नहीं—मन से, वचन से ।
३९ " " " —मन से, काया से ।
४० " " " —वचन से, काया से ।
४१ एक करण एक योग से—करूँ नहीं—मन से ।
४२ " " " —वचन से ।
४३ " " " —काया सें ।
४४ " " —कराऊँ नहीं—मन से ।
४५ " " " —वचन से ।
४६ " " " —काया सें ।
४७ " " —अनुमोदूं नहीं—मन से ।
४८ " " " —वचन से ।
४९ " " " —काया से ।

(भगवती ८–५)

प्रत्याख्यान करके वह भूतकाल का प्रतिक्रमण करता है, वर्त्तमान काल का संवरण करता है और अनागत काल आश्रित त्याग करता है । इस प्रकार तीन काल की गणना से कुल १४७ भंग हुए । इन १४७ भंगों में से स्थूल मृषावाद आदि का त्याग भी समझ लेना चाहिए ।

प्रथम भंग सें साधु-साध्वियों के सर्व सावद्य के त्याग होते हैं । श्रावकों के लिए सभी भंग यथा-शक्ति उपयोग में आ सकते हैं । श्रावक तीन करण और तीन योग से सर्व सावद्य योग का त्याग, अल्पकाल के लिए नहीं कर सकता । जिन सावद्य विषयों को वह सदा के लिए त्याग देता है, उन्हीं विषयों में वह तीन करण तीन योग से त्याग कर सकता है । सामायिक के समय वह अनुमोदना का त्याग नहीं कर सकता । इस विषय में 'विशेषावश्यक भाष्य' गाथा २६८४ से २६८९ तक विचार किया गया है । उसका भाव यह है कि—

"जिस गृहस्थ के गृहकार्य—व्यापारादि सावद्य क्रिया चल रही है और जो सर्व विरत होने को तय्यार नहीं है,—ऐसा श्रावक (सामायिक के समय) "मैं सर्व सावद्य का तीन करण तीन योग से त्याग करूँ"—ऐसा कह कर त्याग करे, तो वह सर्व-विरति और देश-विरति इन दोनों का पालक नहीं हो सकता । (यह निर्युक्ति की गाथा का भाव है । आगे भाष्यकार कहते हैं कि—)

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—"जिस प्रकार वह सावद्य योग करने और कराने का त्याग करता है, उसी प्रकार अनुमोदन का त्याग क्यों नहीं कर सकता ?" इसके उत्तर में कहा जाता है कि गृहस्थ

सामायिक के पूर्व जिस गृहारंभ आदि कार्य में सावद्य-कर्म कर रहा था और सामायिक पालने के वाद भी करेगा–ऐसे सावद्य-कर्म की अनुमोदना का त्याग करने में वह शक्तिमान् नहीं है।

श्रावक, स्थूल प्राणातिपातादि का त्रिविध त्रिविध त्याग कर सकता है, किन्तु सर्व-सावद्य योग का नहीं। स्वयंभूरमण आदि समुद्र के मत्स्य संबंधी तथा मांसादि निष्प्रयोजन अथवा मनुष्य क्षेत्र के वाहर की अप्राप्य वस्तु विशेष का त्रिकरण त्रियोग से त्याग करे, तो दोष नहीं लगता, अथवा चारित्र के परिणाम से, परिवारादि की बाधा के कारण, ग्यारह प्रतिमा धारण करे, तो (अथवा अंतिम संलेखणा संथारा में)सर्व-सावद्य का त्याग कर सकता है, किन्तु जिस चालू आरंभ में वह आगे भी प्रवृत्ति करेगा–ऐसे सावद्य-कर्म की अनुमति का वह कुछ समय के लिए त्याग नहीं कर सकता। उसकी अनुमति खुली ही रहती है।

यह 'विशेषावश्यक भाष्य' का अभिप्राय है। भगवती श० ८ उ० ५ में भी सामायिक में रहे हुए श्रावक के ममत्व का अस्तित्व माना है और उस ममत्व के कारण ही वह चोरी गई हुई वस्तु की खोज करता है।

यहाँ यह विचारणीय है कि ग्यारहवीं प्रतिमा का आराधक श्रावक, ग्यारह महीनों के लिए तीन करण तीन योग से त्याग करता है। यद्यपि वह समय पूर्ण होने के वाद पुनः गृहस्थ नहीं होता, किंतु उसके त्याग जीवन पर्यन्त के नहीं होते। प्रतिमाकाल पूर्ण होने पर वह या तो पुनः उसी का पालन प्रारंभ कर देता है, या सर्व विरत हो जाता है अथवा आयु निकट जान कर अंतिम साधना में तत्पर हो जाता है।

सम्यक्त्व के छह आगार

सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का दृढ़ श्रद्धान करने के साथ ही श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि–

"मैं देव-गत मिथ्यात्व का त्याग करने के उद्देश्य से, जिनेश्वर भगवंत के अतिरिक्त किसी भी अन्य तीर्थी देव को वन्दना नमस्कार नहीं करूँगा। मैं गुरु-गत मिथ्यात्व का त्याग कर रहा हूँ, इसलिए निर्ग्रंथ गुरु–श्रमण-श्रमणी वर्ग के अतिरिक्त अन्य तीर्थ के गुरु-वर्ग को वन्दन-नमस्कार नहीं करूँगा और न सुगुरु को प्रतिलाभने–सुपात्र दान देने की तरह उन्हें सुपात्र मान कर दान दूंगा। इतना ही नहीं उनके साथ धार्मिक सम्बन्ध–अकारण उनसे बोलना, वारबार संगति करना–इत्यादि अधिक सम्पर्क नहीं रखूँगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने के साथ ही सामान्य गृहस्थ, संसार में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों का विचार कर निम्न लिखित छह आगार रखता है–

१ राजाभियोग—राजा के दबाव से। कभी साम्प्रदायिक पक्ष के कारण राजा का दबाव हो और राज-संकट से बचने के लिए अन्यतीर्थी देव को वन्दना करनी पड़े, कुगुरु को वन्दना और आहार-दान करना पड़े, तो इस कठिन परिस्थिति की छूट रखता हूँ।

२ गणाभियोग—गण—समूह—संघ—वर्ग। यदि मिथ्यादृष्टि गण के दबाव के कारण कुदेव को नमन और कुगुरु को आदर सत्कार तथा आहारादि दान देना पड़े।

३ बलाभियोग—अधिक शक्तिशाली पुरुष के दबाव से "

४ देवाभियोग—किसी देव के दबाव से "

५ गुरुनिग्रह—माता-पितादि गुरुजन के आग्रह से "

६ वृत्तिकान्तार—आजीविका की कठिनाई के कारण, संसार रूपी अटवी में उलझ कर भटक जाय, तो पार पाने के लिये अर्थात् आजीविका की विभीषिका से पार पाने के लिए अन्य तीर्थिक देव, गुरु को वन्दना करने और आहारादि देने के आगार हैं।

ये छह आगार विकट परिस्थिति के कारण बाह्य रूप से सेवन किये जाते हैं। अन्तरंग में खेद का अनुभव होता है और कारण टल जाने पर शुद्ध हो कर अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर हो जाता है।

यद्यपि उपरोक्त आगार परिस्थितिजन्य विवशताओं के कारण अनिच्छापूर्वक—अपवाद रूप में अपनाये जाते हैं, फिर भी यह है तो कमजोरी ही। कदाचित् इस प्रकार अनिच्छापूर्वक लगने वाले मिथ्यात्व के बाह्य अनुमोदन के कारण ही आगम में लिखा है कि श्रमणोपासक—

"एकच्चाओ मिच्छादंसणसल्लाओपडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया।"

—अर्थात्—श्रावक, मिथ्यादर्शन-शल्य से कुछ विरत होता है और कुछ नहीं भी होता है। टीकाकार भी इसका कारण 'राजाभियोग आदि आगार बतलाते हैं। (उववाई—४१)

हां, तो यह विवशता है, किंतु जब श्रमणोपासक, उपासक प्रतिमा की आराधना करने को तत्पर होता है, तो सबसे पहले वह इस कमजोरी को हटा कर आगार तथा शंकादि अतिचार रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी श्रावक, प्रतिमा का आराधन करने के पूर्व इन आगारों को आवश्यकता होने पर काम में लेते ही हैं। अरहन्नक श्रावक (ज्ञाता ८) ने व्यापारार्थ समुद्र-यात्रा करते समय, देवाभियोग उपस्थित होने पर भी धर्म के विपरीत एक शब्द भी नहीं निकाला।

तात्पर्य यह कि उपरोक्त आगार, सामान्य परिस्थिति में सेवन करने योग्य नहीं है।

यदि कोई कहे कि 'अन्य धर्मियों से नहीं मिलना, उन्हें वन्दनादि नहीं करना, यह तो कट्टरता एवं साम्प्रदायिकता है। ऐसे नियम संकुचित हृदय के होते हैं। यदि दूसरे धर्मवालों का संसर्ग किया

जाय, तो आपस में प्रेम-भाव की वृद्धि होती है। द्वेष दूर होता है और विचारों का आदान-प्रदान हो कर दूसरों को भी जैन-धर्म की ओर आकर्षित होने के निमित्त मिलते हैं। इसलिए जैन धर्म के प्रचार की दृष्टि से भी दूसरों से सम्पर्क साधना चाहिए। यह तभी होगा जब कि अन्य तीर्थियों के सम्पर्क में आया जायगा, इत्यादि।

श्रावक के मनोरथ

संसार में रहते हुए और संसार के कार्य करते हुए भी जिसका अंतरंग 'जल कमल वत्' भिन्न हो, जो संसार त्याग कर धर्ममय जीवन व्यतीत करना चाहते हों, वे श्रमणोपासक अपने कर्मों की बड़ी भारी निर्जरा कर लेते हैं। उनकी आत्मा हलकी होती जाती है। उन श्रमणोपासकों के अन्तर्मन में ये मनोरथ उठते ही रहते हैं कि—

१ वह शुभ दिन कब आयगा कि जब मैं अपने पास रहे हुए थोड़े या अधिक परिग्रह का त्याग करके परिग्रह के बोझ से हलका बनूंगा।

२ वह आनन्दकारी घड़ी कब आयगी कि मैं इस संसार से सर्वथा विरक्त हो कर निर्ग्रंथ प्रव्रज्या धारण करूँगा अर्थात् अगार धर्म छोड़ कर सर्वोत्तम अनगार धर्म को धारण करूँगा।

३ वह कल्याणकारी वेला कब आयगी कि मैं समाधिमरण के लिए तत्पर हो कर काल से जूझने के लिए अन्तिम संलेखणा में लग जाउँगा और आहारादि का सर्वथा त्याग कर के पादपोपगमन संथारे से मृत्यु की इच्छा नहीं करता हुआ, धर्मध्यानपूर्वक देह छोड़ूंगा।

उपरोक्त तीनों प्रकार का चिन्तन तथा हृदयोद्गार, स्थिरतापूर्वक करता हुआ श्रमणोपासक, अपने बहुत-से कर्मों की निर्जरा कर देता है और अपनी आत्मा को कर्मों के भार से हलका बना लेता है।

प्रत्येक धर्म-बन्धु का कर्त्तव्य है कि सदैव इन उत्तम मनोरथों का चिन्तन करता रहे। कम से कम प्रातःकाल और रात्रि में सोते समय तो अवश्य ही करे। सम्यग्दृष्टि और श्रावकपन तभी स्थिर रह सकता है, जबकि संसार त्याग कर साधुता अपनाने की भावना हो। इस प्रकार के मनोरथ जिन सम्यग्दृष्टियों के मन में नहीं होते और मात्र सांसारिक भावना ही दिन-रात रमा करती है, उनका पतन होना बहुत सरल हो जाता है और बाद में धर्म के संमुख होना भी दुर्लभ हो जाता है। जिस श्रावक का लक्ष्य, साधुता का नहीं, वह श्रावक और जिस साधु का लक्ष्य अप्रमत्तता का नहीं, वह साधु अवश्य गिरता है और वर्त्तमान स्थान से भी पतित हो जाता है। इसलिए इन उत्तम मनोरथों का बारबार चिन्तन करते रहना चाहिए। (स्थानांग ३-४)

श्रावक के विश्राम

जिस प्रकार बहुत दूर जंगल में से लकड़ी आदि के भारी बोझ को उठा कर नगर में जाने वाले वृद्ध एवं दुर्बल भारवाहक को मार्ग में विश्राम लेने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार संसार के आरम्भ परिग्रहादि पाप कर्मों के भार से थके हुए जीव के लिए भी विश्राम लेने की आवश्यकता होती है। ऐसे विश्राम के स्थान चार प्रकार के हैं। जैसे–

१ भारवाहक, भार के बोझ से विश्राम पाने के लिए एक कन्धे से हटा कर दूसरे कन्धे पर रख कर, पहले कन्धे को विश्राम देता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक भी सावद्य व्यापार रूप पाप के भार से विश्राम पाने के लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और अन्य त्याग-प्रत्याख्यान से पाप के भार को कुछ हलका कर के विश्राम लेता है।

२ जिस प्रकार भारवाहक, मल-मूत्र की बाधा दूर करने के लिए भार को अलग रख कर उतनी देर विश्राम लेता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक, सामायिक और देशावकासिक व्रत का पालन करते हुए, उतने समय तक अपने पाप-भार को अलग रख कर शांति का अनुभव करता है।

३ जिस प्रकार भारवाहक, अपने बोझ को उतार कर, मार्ग में पड़ते हुए नागकुमारादि देवालयों में जा कर विश्राम लेता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्णपौषध कर के, उतने समय अपनी आत्मा को पाप के भार से अलग कर के विश्राम लेता है।

४ जिस प्रकार निर्धारित स्थान पर पहुँच कर भार से सर्वथा मुक्त हुआ जाता है, उसी प्रकार अन्त समय में संलेखणा अंगीकार करके आहारादि का सर्वथा त्याग किया जाता है और पादपोपगमन संथारे से मृत्यु की कामना नहीं करते हुए, समाधिपूर्वक रह कर, पाप के भार को सर्वथा त्याग कर, शांति का अनुभव किया जाता है।

उपरोक्त चार प्रकार की विश्रान्ति में से उत्तरोत्तर एवं अधिकाधिक विश्राम प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाला श्रमणोपासक, अन्तिम साधना से शीघ्र ही सादिअपर्यवसित विश्राम प्राप्त करके परम सुखी हो जाता है। (ठाणांग ४–३)

श्रावक के २१ गुण

नीचे लिखे गुणों को धारण करने वाले में विरति का गुण सरलता से प्रकट होता है। वे गुण ये हैं।

जिन गुणों के धारण करने से दर्शन-श्रावक, देश-विरत श्रावक होता है, वे गुण इक्कीस इस

प्रकार हैं–

१ अक्षुद्र–जो तुच्छ स्वभाव का नहीं हो कर गम्भीर हो।

२ रूपवान्–मनोहर आकृति वाला हो, सम्पूर्ण अंगोपांग वाला हो, अर्थात् जिसके चेहरे पर बीभत्सता नहीं झलकती हो।

३ सौम्य प्रकृति–जो शान्त स्वभाव वाला हो–उग्र नहीं हो अर्थात् विश्वास-पात्र हो।

४ लोक प्रिय–लोक के विरुद्ध आचरण नहीं करने वाला और जनता का विश्वास-पात्र हो। सदाचार युक्त हो और यह इस लोक और परलोक को विगाड़ने जैसा आचरण नहीं करता हो।

५ अक्रूर–क्लेश रहित, कोमल स्वभाव वाला हो।

६ भीरु–पाप और दुराचार से डरने वाला हो।

७ अशठ–कपटाई छल-प्रपञ्च से रहित हो, तथा समझदार–बुद्धिमान् हो।

८ दाक्षिण्य युक्त–परोपकार करने में तत्पर हो। अपना काम छोड़ कर भी जो दूसरे के कार्य में तत्पर रहता हो।

९ लज्जालु–जो दुराचार करने से शरमाता हो। सदाचार के विपरीत व्यवहार करते समय जिसे लज्जा का अनुभव होता हो।

१० दयालु–दुखियों को देख कर जिसका हृदय कोमल हो जाता हो। जो दुखियों की सेवा करने में तत्पर हो।

११ मध्यस्थ–पक्षपात रहित मध्यस्थ वृत्ति वाला हो।

१२ सौम्य दृष्टि–प्रेम पूर्ण दृष्टिवाला हो। क्रूर दृष्टि और कुपित चेहरा जिसका नहीं हो। जिसके नेत्रों से सौहार्द टपकता हो।

१३ गुणनुरागी–गुणवानों से प्रेम करने वाला। गुणवानों के प्रति आदर रखने वाला–गुण पूजक।

१४ सत्कथक–धर्म और सदाचार की बातें करने वाला, तथा धर्मकथा सुनने की रुचि वाला। अथवा–सुपक्ष युक्त–सदा सत्यपक्ष–न्याय युक्त पक्ष को ग्रहण करने वाला।

१५ सुदीर्घदर्शी–परिणाम का पहले से, भली प्रकार से विचार करके कार्य करने वाला।

१६ विशेषज्ञ–हित और अहित को भली प्रकार से समझने वाला अथवा तत्त्व-ज्ञान को अच्छी तरह से समझने वाला।

१७ वृद्धानुगत–ज्ञान-वृद्ध एवं अनुभव-वृद्धजनों का अनुसरण करने वाला।

१८ विनीत–बड़ों और गुणीजनों का विनय करने वाला।

१९ कृतज्ञ–अपने पर दूसरों के द्वारा किये हुए उपकार को नहीं भूलने वाला।

२० पर हितार्थ–दूसरों का हित करने में तत्पर रहने वाला।

२१ लब्ध लक्ष्य–जिसने अपने लक्ष्य को अच्छी तरह समझ कर प्राप्त कर लिया हो।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार २३८ से)

उपरोक्त गुणों वाले श्रावकों में विरति का गुण सरलता से प्रकट होता है। अतएव उपरोक्त गुणों को जगा कर अविरति से देश-विरत होने का प्रयत्न करना चाहिए।

साम्प्रदायिकता बाधक नहीं

जिस प्रकार कोई सुपुत्र, अपने माता-पिता की ही सेवा-भक्ति करता है। वह माता-पिता को संसारभर के सभी स्त्री पुरुषों से उच्च स्थान प्रदान करता है, तो इसमें दूसरों को अप्रसन्न होने की क्या बात है ? हाँ, आवश्यकता पड़ने पर, समय हो, तो वह दूसरों की भी आवश्यक सेवा करता है, किन्तु उन्हें माता-पिता नहीं मानता। इसी प्रकार श्रमणोपासक, अपने देव, गुरु और धर्म को ही परमाराध्य माने, उन्हीं की सेवा करे, तो इससे दूसरों को नाराज होने का कोई कारण नहीं है। हां यदि कोई अन्य-तीर्थी कठिनाई में हो, तो उसे सहायता देने और उसकी अनुकम्पा बुद्धि से यथाशक्ति सेवा करने की मनाई नहीं है। सम्यग्दृष्टि की प्रतिज्ञा, उस पितृ-भक्त सुपुत्र के समान है, जो अपने पिता को संसार के सभी मनुष्यों की अपेक्षा विशेष पूज्य मानता है। इस उत्तम नियम को 'साम्प्रदायिकता' कहना अज्ञान का परिणाम है।

हेय वस्तु, ईर्षा द्वेष और क्लेशादि है। साम्प्रदायिक क्लेश, द्वेष और कटुता नहीं होनी चाहिए। यही वस्तु बुरी है। द्वेष रहित, कटुता से दूर रह कर, अपने धर्म की आराधना करना बुरा नहीं है। यदि इसे साम्प्रदायिकता कहा जाय, तो भी ईर्षा-द्वेष और क्लेश-रहित साम्प्रदायिकता बुरी नहीं हो सकती। यह तो सर्वथा असंभव है कि सभी मनुष्य एक ही विचार और एक ही आचार के बन जायँ। ऐसा कभी नहीं हुआ और होगा भी नहीं। मनुष्यों में आचार-विचार का भेद रहा है और रहेगा। इस भेद के कारण ही वर्ग–समुदाय बनते हैं और ये समुदाय ही सम्प्रदाय कहलाते हैं। इस प्रकार के वर्ग-भेद यदि क्लेशादि रहित हों, तो कोई बुराई नहीं है। यदि कहीं ईर्षा-द्वेष हो, तो उन्हें ही मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए। किंतु जो सम्प्रदायों को ही मिटाना चाहते हैं, वे धर्म को मिटाने वाले अज्ञानी हैं। उनके चाहने से भी सम्प्रदायें तो नहीं मिटेगी, बल्कि नई-नई लौकिक और राजनैतिक पार्टियें खड़ी हो जायगी–होती जा रही है। हाँ वे धर्म को क्षति अवश्य पहुँचा सकेंगे।

एक पुत्र अपने एक माता-पिता की जितनी अच्छी सेवा कर सकता है, उतनी संसार के सभी स्त्री-पुरुषों की नहीं कर सकता। यदि कोई उसे सभी स्त्री-पुरुषों को समान दृष्टि से देखना सिखा दे, तो फल यह होगा कि वह अपने माता-पिता की सेवा से भी वंचित रह जायगा।

स्त्री, तभी सती कहला सकती है—जब कि वह अपने स्वीकृत पति के सिवाय अन्य सब को पिता, पुत्र या भाई के समान माने, किंतु पति के समान नहीं माने। इसी प्रकार सच्चा उपासक वही हो सकता है जो अपने स्वीकृत एक उपास्य की ही उपासना करे। जिस प्रकार सभी पुरुषों को समान रूप से स्वीकार करने वाली स्त्री, वेश्या कहलाती है, उसका कोई पति नहीं होता, उसी प्रकार साम्प्रदायिकता को समाप्त करने वाले भी धर्म-घातक होते हैं। विशालता एवं उदारता के नाम पर जो सभी के साथ समान आचरण करने की अनहोनी बातें करते हैं, वे इसे व्यवहार में भी नहीं चला सकते। व्यवहार में वे अपने धन में दूसरों का समान अधिकार, अपना घर सब के लिए, तथा दूसरों के पुत्रों को अपने पुत्र के समान मान कर, अपनी सम्पत्ति में से बराबर का हिस्सा नहीं देते। अपनी पुत्री को किसी दरिद्र तथा अछूत को नहीं देते। केवल धर्म ही के लिए वे परम उदार बन जाते हैं। इसका कारण यही है कि उनके हृदय में सम्यक्त्व रूपी सम्यक् प्रकाश का अभाव है।

प्रेम बढ़ाने के लिए

द्वेष-भाव को दूर करके सबके साथ—प्राणीमात्र के साथ, प्रेम-भाव रखना और सब को अपनी आत्मा के समान मानना, यह तो जैन-धर्म की हित-शिक्षा है ही। इसलिए सुश्रावक को अपने सम्पर्क में आने वालों से प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। फिर वह किसी भी मत, वर्ग अथवा सम्प्रदाय का हो। अपनी साधना को गौण कर के प्रेम-प्रचार के पीछे पड़ जाना और सिद्धांत का भोग देकर भी प्रेम सम्पादन करना तो पैसे के लिए रुपया गँवाने के समान है।

धर्म प्रचार के लिए

सभी धर्म-प्रेमी चाहते हैं कि "जैनधर्म का प्रचार खूब हो। विश्वभर में जैनधर्म फैल जाय," किन्तु वह तभी हो सकता है कि प्रचारक जैनधर्म को अपने मूल रूप में ले कर ही यथासमय अजैनों के सामने जावे। बहुत से समन्वय प्रेमी और अनेकान्त का दुरुपयोग करने वाले, दूसरों को जैन बनाने के बनिस्बत स्वयं अजैन बन कर अपना भी गँवा देते हैं। ऐसे अनेक प्रसंग बन चुके हैं और बन रहे हैं।

गांधीजी के प्रभाव में आने वाले कई साधु-साध्वी और हजारों-लाखों जैनी, उनकी संसार-लक्षी आंशिक अहिंसा में, जैनधर्म की पूर्ण अहिंसा देखने लगे। कोई विद्वान 'सिद्धसेन दिवाकर' के अपेक्षापूर्वक कहे गये वचन को आगे कर के, सभी मिथ्यामतों के साथ समन्वय कर के जैनधर्म को "मिथ्या

मतों का समूह" वताने लगे। कोई अपनी साधना को छोड़ कर, सर्वधर्म सम्मेलन करके सब के साथ घुलने-मिलने में ही जैनधर्म का उत्थान वताने लगे। धर्म प्रचार की ओट में सावद्य तथा संसारवाद का प्रचार करते हुए अपने धर्म-धन को गँवाने के अनेक प्रमाण उपस्थित हो चुके हैं। इस प्रकार के प्रचारक जैनधर्म का वास्तविक प्रचार नहीं करके परिणाम में अजैनत्व को अपना लेते हैं।

अजैनों में जैनधर्म का प्रचार किया था 'जयघोषऋषि' ने (उतरा० २५) 'केशी श्रमण-निर्ग्रंथ' ने (रायपसेणी) 'थावच्चापुत्र अनगार' ने (ज्ञाता ५) और श्री 'आर्द्रकुमार मुनि' ने (सूय० २-६)। धर्म का वास्तविक प्रचार किया था-श्री 'पिंगल निर्ग्रंथ' ने (भगवती २-१) 'मद्रुक श्रावक' ने (भगवती १८-७) और 'कुंडकोलिक' श्रावक (उपास० ६) आदि ने। इस प्रकार का प्रचार ही वास्तविक प्रचार है। ऐसा प्रचार सर्व-साधारण जैनी नहीं कर सकते, न सभी साधु ही कर सकते हैं। विशेप योग्यता वाले ही ऐसा कर सकते हैं और वह भी द्रव्य-क्षेत्रादि की अनुकूलता को ठीक तरह से समझने वाले ही। अन्यथा क्लेश का कारण वन सकता है। इससे तो अच्छा यही है कि अपनी साधना में ही रुचि रखी जाय और अपनी श्रद्धा को शुद्ध रखते हुए देशविरत होने की योग्यता जगाई जाय।

श्रावक की विशेषताएँ

सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा श्रमणोपासकों में कुछ ऐसी विशेपताएँ होती है कि जिनसे उनके जीवन और आचरण से ही जैनत्व का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। गणधर भगवंतों ने उन श्रावकों की विशेषताओं का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है-

१ श्रावक जीव अजीव आदि नौ तत्वों के ज्ञाता होते हैं। हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक रखते हुए भेद-विज्ञान में कुशल होते हैं और वहुश्रुतों से पूछ कर रहस्य-ज्ञान को प्राप्त कर, तत्वज्ञ होते हैं।

२ दृढ़धर्मी श्रावक अपने किसी कार्य में देवता की सहायता नहीं चाहते। यदि कोई प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाय, तो वे अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मान कर, शान्ति से सहन करते हैं। वे किसी देव की सहायता के लिए नहीं ललचाते। यह उनके दृढ़धर्मी होने का प्रमाण है।

३ उन श्रावकों के हृदय में निर्ग्रंथ-प्रवचन इतना दृढ़ीभूत हो जाता है कि उससे विचलित करना, वड़े-वड़े देवों के लिए भी अशक्य हो जाता है। वे प्राण त्यागना स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु धर्म त्यागना स्वीकार नहीं करते। यह उनकी धार्मिक दृढ़ता की पराकाष्ठा है।

४ श्रावक निर्ग्रंथ-प्रवचन में दृढ़ विश्वास रखते हैं। उनके हृदय में जिनेश्वर के वचनों में शंका-कांक्षादि दोष प्रवेश नहीं कर सकते।

स्त्री, तभी सती कहला सकती है—जब कि वह अपने स्वीकृत पति के सिवाय अन्य सब को पिता, पुत्र या भाई के समान माने, किंतु पति के समान नहीं माने। इसी प्रकार सच्चा उपासक वही हो सकता है जो अपने स्वीकृत एक उपास्य की ही उपासना करे। जिस प्रकार सभी पुरुषों को समान रूप से स्वीकार करने वाली स्त्री, वेश्या कहलाती है, उसका कोई पति नहीं होता, उसी प्रकार साम्प्रदायिकता को समाप्त करने वाले भी धर्म-घातक होते हैं। विशालता एवं उदारता के नाम पर जो सभी के साथ समान आचरण करने की अनहोनी बातें करते हैं, वे इसे व्यवहार में भी नहीं चला सकते। व्यवहार में वे अपने धन में दूसरों का समान अधिकार, अपना घर सब के लिए, तथा दूसरों के पुत्रों को अपने पुत्र के समान मान कर, अपनी सम्पत्ति में से बराबर का हिस्सा नहीं देते। अपनी पुत्री को किसी दरिद्र तथा अछूत को नहीं देते। केवल धर्म ही के लिए वे परम उदार बन जाते हैं। इसका कारण यही है कि उनके हृदय में सम्यक्त्व रूपी सम्यक् प्रकाश का अभाव है।

प्रेम बढ़ाने के लिए

द्वेष-भाव को दूर करके सबके साथ—प्राणीमात्र के साथ, प्रेम-भाव रखना और सब को अपनी आत्मा के समान मानना, यह तो जैन-धर्म की हित-शिक्षा है ही। इसलिए सुश्रावक को अपने सम्पर्क में आने वालों से प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। फिर वह किसी भी मत, वर्ग अथवा सम्प्रदाय का हो। अपनी साधना को गौण कर के प्रेम-प्रचार के पीछे पड़ जाना और सिद्धांत का भोग देकर भी प्रेम सम्पादन करना तो पैसे के लिए रुपया गँवाने के समान है।

धर्म प्रचार के लिए

सभी धर्म-प्रेमी चाहते हैं कि "जैनधर्म का प्रचार खूब हो। विश्वभर में जैनधर्म फैल जाय," किन्तु वह तभी हो सकता है कि प्रचारक जैनधर्म को अपने मूल रूप में ले कर ही यथासमय अजैनों के सामने जावे। बहुत से समन्वय प्रेमी और अनेकान्त का दुरुपयोग करने वाले, दूसरों को जैन बनाने के बनिस्बत स्वयं अजैन बन कर अपना भी गँवा देते हैं। ऐसे अनेक प्रसंग बन चुके हैं और बन रहे हैं।

गांधीजी के प्रभाव में आने वाले कई साधु-साध्वी और हजारों-लाखों जैनी, उनकी संसार-लक्षी आंशिक अहिंसा में, जैनधर्म की पूर्ण अहिंसा देखने लगे। कोई विद्वान 'सिद्धसेन दिवाकर' के अपेक्षापूर्वक कहे गये वचन को आगे करके, सभी मिथ्यामतों के साथ समन्वय कर के जैनधर्म को "मिथ्या

मतों का समूह" बताने लगे। कोई अपनी साधना को छोड़ कर, सर्वधर्म सम्मेलन करके सब के साथ घुलने-मिलने में ही जैनधर्म का उत्थान बताने लगे। धर्म प्रचार की ओट में सावद्य तथा संसारवाद का प्रचार करते हुए अपने धर्म-धन को गँवाने के अनेक प्रमाण उपस्थित हो चुके हैं। इस प्रकार के प्रचारक जैनधर्म का वास्तविक प्रचार नहीं करके परिणाम में अजैनत्व को अपना लेते हैं।

अजैनों में जैनधर्म का प्रचार किया था 'जयघोषऋषि' ने (उतरा० २५) 'केशी श्रमण-निर्ग्रंथ' ने (रायपसेणी) 'थावच्चापुत्र अनगार' ने (ज्ञाता ५) और श्री 'आर्द्रकुमार मुनि' ने (सूय० २-६)। धर्म का वास्तविक प्रचार किया था-श्री 'पिंगल निर्ग्रंथ' ने (भगवती २-१) 'मद्रुक श्रावक' ने (भगवती १८-७) और 'कुंडकोलिक' श्रावक (उपास० ६) आदि ने। इस प्रकार का प्रचार ही वास्तविक प्रचार है। ऐसा प्रचार सर्व-साधारण जैनी नहीं कर सकते, न सभी साधु ही कर सकते हैं। विशेष योग्यता वाले ही ऐसा कर सकते हैं और वह भी द्रव्य-क्षेत्रादि की अनुकूलता को ठीक तरह से समझने वाले ही। अन्यथा क्लेश का कारण बन सकता है। इससे तो अच्छा यही है कि अपनी साधना में ही रुचि रखी जाय और अपनी श्रद्धा को शुद्ध रखते हुए देशविरत होने की योग्यता जगाई जाय।

श्रावक की विशेषताएँ

सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा श्रमणोपासकों में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है कि जिनसे उनके जीवन और आचरण से ही जैनत्व का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। गणधर भगवंतों ने उन श्रावकों की विशेषताओं का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है-

१ श्रावक जीव अजीव आदि नौ तत्वों के ज्ञाता होते हैं। हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक रखते हुए भेद-विज्ञान में कुशल होते हैं और बहुश्रुतों से पूछ कर रहस्य-ज्ञान को प्राप्त कर, तत्वज्ञ होते हैं।

२ दृढ़धर्मी श्रावक अपने किसी कार्य में देवता की सहायता नहीं चाहते। यदि कोई प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाय, तो वे अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मान कर, शान्ति से सहन करते हैं। वे किसी देव की सहायता के लिए नहीं ललचाते। यह उनके दृढ़धर्मी होने का प्रमाण है।

३ उन श्रावकों के हृदय में निर्ग्रंथ-प्रवचन इतना दृढ़ीभूत हो जाता है कि उससे विचलित करना, बड़े-बड़े देवों के लिए भी अशक्य हो जाता है। वे प्राण त्यागना स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु धर्म त्यागना स्वीकार नहीं करते। यह उनकी धार्मिक दृढ़ता की पराकाष्ठा है।

४ श्रावक निर्ग्रंथ-प्रवचन में दृढ़ विश्वास रखते हैं। उनके हृदय में जिनेश्वर के वचनों में शंका-[illegible] आदि दोष प्रवेश नहीं कर सकते।

५ श्रावक, तत्त्वज्ञान एवं सिद्धांतों का रहस्य जानने को उत्सुक रहते हैं। गूढ़ तत्त्वों एवं समझने योग्य विषयों को बहुश्रुतों से पूछ कर समझते हैं और निर्णय कर के उस पर विशेष दृढ़ श्रद्धावान् होते हैं। उनके शरीर की हड्डी और नशों में, और शरीर में व्याप्त समस्त आत्म-प्रदेशों में जिन-धर्म का प्रेम पूर्ण रूप से व्याप्त रहता है।

६ जहां उन्हें धर्म के विषय में कुछ कहना होता है, वहाँ वे निर्ग्रंथ धर्म को ही सर्वोत्तम बतलाते हैं। जहाँ अपने धर्म-बन्धुओं से मिलना होता है, वहां उनका धर्म-प्रेम हृदय की सीमा को लांघ कर बाहर आ जाता है और वे बोल उठते हैं कि—

"निर्ग्रंथ-प्रवचन ही इस विश्व में एक मात्र अर्थ है। यही परमार्थ है। इसके सिवाय संसार के सारे पदार्थ तथा समस्त वाद अनर्थ रूप है।"

७ श्रावक के घर के दरवाजे दान के लिए सदैव खुले रहते हैं। वह इतना उदार होता है कि गरीबों और भिखारियों आदि को भी अनुकम्पा बुद्धि से आहारादि का दान करता है।

वह धर्म में इतना दृढ़ होता है कि किसी भी वादी से नहीं डरता। यदि कोई पर-वादी उसे धर्म से डिगाने के लिए आवे, तो वह उससे डरता नहीं, किन्तु शान्तिपूर्वक उसे असफल करके लौटा देता है।

८ वह जन-जीवन में बड़ा प्रामाणिक एवं विश्वासपात्र होता है। उसका गृहस्थ जीवन भी उज्ज्वल होता है। यदि वह किसी के रत्नों के ढेर अथवा अन्तःपुर में पहुँच जाय, तो भी उसकी प्रामाणिकता में किसी को सन्देह नहीं होता। अर्थात् वह हाथ तथा लंगोट का सच्चा एवं विश्वासपात्र होता है।

९ श्रावक अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अनेक प्रकार के प्रत्याख्यानों का पालन करता है। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को पौषधोपवास कर के धर्म की आराधना करता रहता है।

१० श्रावक निर्ग्रंथ-श्रमणों को निर्दोष आहार, पानी, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, रजोहरण पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक और औषध-भेषज का यथायोग्य प्रतिलाभ करता रहता है।

(भगवती २-५सूयग० २-२)

इन विशेषताओं से भी श्रावकों द्वारा निर्ग्रंथ-प्रवचन की प्रभावना होती है। उनके सम्पर्क में आने वालों के हृदय में जैनधर्म के प्रति आदर भाव उत्पन्न हो कर अनायास ही प्रचार और प्रसार होता है। यह तभी होता है जब कि स्वार्थ को गौण रख कर धर्म को मुख्यता दी जाय। आज भी उपरोक्त विशेषताओं को यथाशक्ति जीवन में उतारा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त आत्मा की विशेष उज्ज्वलता बताने वाले विशेषण इस प्रकार है—

११ अल्प इच्छा वाले–जिन्होंने अपनी इच्छा को घटा कर बहुत कम कर दी है।
१२ अल्पारंभी–जिन्होंने विरति के द्वारा आरंभ के कार्यों को कम कर दिया है।
१३ अल्प परिग्रही–परिग्रह की ममता घटा कर, धन-सम्पत्ति की सीमा कम कर दी है।
१४ धार्मिक–श्रुत और चारित्र धर्म की आचरणा में तत्पर।
१५ धर्मानुज्ञा–धर्म आचरण की अनुज्ञा देने वाले अथवा धर्मानुसार आचरण करने वाले।
१६ धर्मिष्ठ–जिन्हें धर्म बहुत प्रिय है अथवा जो धर्म में स्थिर है।
१७ धर्म कथक–धर्म का प्रचार करने वाले।
१८ धर्म प्रलोचक–धर्म की गवेषणा करने वाले, विवेक बुद्धि से धर्म और अधर्म का स्वरूप समझने में कुशल।
१९ धर्म प्रज्वलक–धर्म का प्रकाश करने वाले।
२० धर्म समुदाचारक–प्रसन्नतापूर्वक धर्म के आचार का पालन करने वाले।
२१ धर्म पूर्वक आजीविका–जिनके व्यापारादि आजीविका के साधन में झूठ, कपट, हिंसा, क्रूरता आदि पाप नहीं होते। जो न्याय, नीति एवं सच्चाई के साथ अल्पारम्भी आजीविका से जीवन व्यतीत करते हैं।
२२ सुशील–सदाचारी।
२३ सुव्रती–जिनकी चित्तवृत्ति बड़ी शुभ है अथवा जो बुरे कार्यों से विरत हैं।
२४ सुप्रत्यानन्द–सदाचार–धर्माचार में आनन्द मानने वाले।
२५ क्षेमकर–सभी प्राणियों के रक्षक होने के कारण वे प्राणियों को आनन्द देने वाले हैं।

(सुय० २–२ तथा २–७ उववाई ४१)

उपरोक्त विशेषणों में सभी प्रकार के श्रावक-गुणों का समावेश हो गया है। ऐसे सद्गुणों के धारक श्रमणोपासक आदर्श होते हैं। वे यहाँ भी उत्तम जीवन व्यतीत करते हैं और अन्तिम समय सुधार कर परम्परा से शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के श्रमणोपासक गृहस्थ दशा में रहते हुए भी भगवान् की आज्ञा के आराधक होते हैं।

धर्म-दान महोपकार

जिनके उपकार का बदला चुकाना अत्यन्त कठिन होता है, ऐसे उपकारी तीन प्रकार के होते हैं–१ माता-पिता २ पोषक और ३ धर्माचार्य। इन तीनों का महान् उपकार होता है। इनके उपकार रूपी ऋण से पूर्णतया मुक्त होने का उपाय केवल धर्मदान ही है।

१ कोई सुपुत्र अपने माता-पिता के शरीर का नित्य उत्तम प्रकार के तैल से मालिश करे, चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य का विलेपन करे, सुगन्धित जल से स्नान करावे, उत्तम वस्त्र तथा आभूषणों से सुशोभित करे और उत्तम प्रकार के स्वादिष्ट, सुखकारी तथा सुरुचिपूर्ण भोजन करावे तथा उन्हें उनकी इच्छानुसार भ्रमण करावे, तो भी वह पुत्र अपने माता-पिता के महान् उपकारों के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु वह पुत्र यदि अपने माता-पिता को केवली-प्ररूपित धर्म समझावे और भेदानुभेद से धर्म का बोध देकर उन्हें धर्म में स्थापित करे, तो वह पुत्र अपने माता-पिता के उपकार रूपी ऋण से मुक्त हो सकता है।

२ कोई महानुभाव, किसी दीन-दरिद्री-दुःखी पर कृपा कर उसे आजीविका से लगावे। उसे धन देकर सुखी करे, उसकी दरिद्रता मिटा दे। फिर वह दरिद्र वैभवशाली हो कर उत्तम प्रकार के भोग भोगता हुआ समय बितावे। कालान्तर में वह कृपालु महानुभाव, अशुभ कर्म के उदय से दरिद्रावस्था को प्राप्त हो कर अपने बनाये हुए उस धनवान के पास आवे और वह अपने उपकारी के उपकार का स्मरण कर अपनी समस्त सम्पत्ति, पूर्व के उस कृपालु को समर्पित कर दे और स्वयं उसका सेवक बन कर रहे, तो भी उसके महान् उपकार का बदला पूर्ण रूप से नहीं चुका सकता। किन्तु उसे जिनेश्वर भगवान् का धर्म समझा कर उसे धर्मी बना दे, तो वह अपने पर किए हुए उपकार के ऋण से मुक्त हो सकता है।

३ किसी शुद्धाचारी संत के मुँह से, धर्म का एक पद मात्र सुन कर और उसकी रुचि कर वे कोई मनुष्य देवलोक में उत्पन्न हुआ। उधर वे धर्माचार्य, दुष्काल-प्रभावित क्षेत्र में, आहारादि की अप्राप्ति से, कठिनाई में पड़ जाय **अथवा किसी** रोगादि उपद्रव में फँस जाय और उनकी कठिनाई को जान कर वह देव उन्हें अच्छे क्षेत्र में ले जा कर रखे, साताकारी स्थान पर पहुँचा दे, अटवी से निकाल कर बस्ती में पहुँचा दे और रोगादि उपद्रव को मिटा कर शान्ति कर दे। इतना सब करने पर भी वह देव, धर्माचार्य के ऋण से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता, परन्तु वे धर्माचार्य कदाचित् धर्म से चलित हो जाय, पतित हो जाय, तो उन्हें पुनः जिनोपदेशित धर्म में स्थापित तथा स्थिर करने से वह देव, धर्माचार्य के ऋण से मुक्त हो सकता है। (ठाणांग ३-१)

सारांश यह कि भोजन-दान, धन-दान और दूसरे प्रकार की पौद्गलिक सहायता, सदा के लिए उपकारी नहीं होती। अधिक से अधिक इस भव तक ही रह सकती है। किन्तु धर्मदान ऐसा है कि भवान्तर में भी साथ रह कर सुखी कर देता है। दुःख के मूल कारणों को नष्ट कर देता है। दुःख के मूल कारणों को नष्ट कर परम्परा से शाश्वत सुख दे सकता है। इसलिए धर्मदान ही महान् उपकार है। पौद्गलिक दान की अपेक्षा धर्मदान परम उत्कृष्ट दान है। श्रमणोपासकों को अपने परिचय में आने

श्रमणोपासक की उपमाएँ

प्रत्येक शुभ और अशुभ वस्तु को विशेष रूप से समझने के लिए उपमा दी जाती है। यों तो भिन्न उपमा भी दी जाती है, किन्तु श्रमणोपासकों को जो उपमा दी गई, वे गुणनिष्पन्न हैं। श्रमणोपासकों को गुणानुसार आठ उपमाएँ दी गई है। यथा–

१ **माता-पिता समान**–जिस प्रकार माता-पिता अपने पुत्र का वत्सलतापूर्वक पालन करते हैं, उसी प्रकार कई श्रमणोपासक, साधु-साध्वियों के हितैषी, हित-चिन्तक और उनके अभ्युदय के इच्छुक होते हैं। वे माता-पिता के समान हैं।

२ **भाई समान**–श्रमणोपासक, साधुओं के भाई के समान भी होते हैं। तत्त्व-चिन्तन आदि में अथवा उपदेश में साधुओं से कभी मतभेद हो जाय, तो भी वे भाई के समान साधुओं के हितैषी होते हैं।

३ **मित्र समान**–साधु और श्रावक में आपस में प्रीति होती है। कदाचित् मतभेद से अप्रीति हो जाय, तो भी आपत्ति-काल में एक मित्र के समान सहायक होते हैं–वे मित्र समान हैं।

४ **सौत समान**–साधुओं का सदा अहित-चिंतन करने वाले और उनके दोषों तथा छिद्रों को ही देखने वाले–सौत के समान है। जिस प्रकार दो सौतें आपस में डाह करती है, उसी प्रकार साधुओं से द्वेष रखने वाले श्रावक–सौत के समान हैं।

५ **आदर्श समान**–जिस प्रकार आदर्श (दर्पण) सामने आये हुए पदार्थों का प्रतिबिंब ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधुओं के उपदेश में आये हुए **सैद्धांतिक भावों** को, यथार्थ रूप से ग्रहण करने वाला श्रमणोपासक–आदर्श के समान है।

६ **पताका समान**–जिस प्रकार वायु के दिशा बदलने से पताका का रुख भी बदलता रहता है, उसी प्रकार साधु की देशना अथवा प्ररूपणा के अनुसार बदल कर, उसी भाव में बहते रहने वाला श्रावक, अस्थिर परिणामी–पताका के समान होता है।

७ **स्थाणु समान**–जो श्रावक, गीतार्थ से सिद्धांत के रहस्यों को सुन कर भी जो अपने ही आग्रह पर दृढ़ रहता है, वह स्तंभ के समान–नहीं झुकने वाला* है।

* जो गोबर के खीले के समान डिगमिगाता नहीं, किन्तु धर्म में दृढ़ रह कर चतुर्विध संघ के लिए स्तंभ के समान आधारभूत हो, वह भी स्तंभ के समान हो सकता है। इस प्रकार स्तंभ की उत्तम उपमा भी हो सकती है।

८ खरकंटक समान-जिस प्रकार बबूल आदि के कांटे में उलझा हुआ वस्त्र फटता है और छुड़ाने वाले के हाथों में भी चूभ जाता है, उसी प्रकार कुछ दुराग्रही श्रावक, साधुओं को कठोर वचन रूपी बाणों से बिंध कर कष्ट पहुँचाते हैं (स्थानांग ४-६)।

माता-पिता और आदर्श के समान श्रावक, सर्वोत्तम होते हैं और सौत तथा खरकण्टक के समान श्रावक, अधर्म कोटि के होते हैं।

उपरोक्त उपमाएँ साधुओं की अपेक्षा से है, कुसाधु अथवा दुराचारियों की अपेक्षा से नहीं। कुसाधुओं से असहयोग करने वाला तथा संघ-रक्षार्थ कुसाधुओं से समाज को सावधान करने वाला, संघ का हित-चिंतक है।

आगम स्वाध्याय

अनगार भगवंत तो स्वाध्याय करते ही हैं, किन्तु श्रमणोपासकों को भी आगमों का स्वाध्याय करना चाहिए। जब शास्त्र पुस्तकारूढ़ नहीं हुए थे + तब श्रमणोपासक, अनगार भगवंतों से श्रवण कर के यथा-शक्ति आगमों और उनके अर्थों को धारण करते थे। अनगार जीवन में क्रमानुसार और विधिपूर्वक आगम-ज्ञान प्राप्त करना जितना सरल होता है, उतना गृहस्थ के लिए नहीं। सिलसिले से आगम-ज्ञान ग्रहण करने में उसके सामने अनेक प्रकार की बाधाएँ होती थी। खास बात तो यह कि अनगार भगवंत, सिवाय चातुर्मास के एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते थे और उसमें भी उनकी चारित्र संबंधी क्रिया-प्रतिलेखना, प्रमार्जना, प्रतिक्रमण और ध्यानादि क्रियाओं में अधिक समय जाता था। इसके सिवाय उनका ठहरना भी विशेषकर ग्राम के बाहर होता था, इसलिए वे गृहस्थ को क्रमानुसार आगम मुखपाठ करवावें और गृहस्थ सदैव उनके साथ रह कर सीखें, यह बहुत कठिन था। इतनी कठिनाइयाँ होते हुए भी कुशाग्र बुद्धि वाले अनेक श्रावक, श्रुतज्ञान से युक्त थे। वे सूत्र अर्थ और दोनों को जानने वाले-तत्त्वज्ञ थे। नीचे लिखे प्रमाणों से श्रावकों का आगमज्ञ होना सिद्ध होता है-

१ आनन्द कामदेवादि श्रावक आगमज्ञ थे। उनके विषय में समवायांगसूत्र और नन्दीसूत्र में लिखा है कि-

"**सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं**"-वे सूत्र को ग्रहण किये हुए और उपधान आदि तप सहित थे।

२ पालित श्रावक के विषय में उत्तराध्ययन अ० २१ में लिखा है कि-

"**निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए**"-अर्थात्-वह निर्ग्रंथ-प्रवचन में पंडित था।

+ यद्यपि लेखन सामग्री और लेखन कार्य उस समय भी होता था, किंतु आगमों को उस समय पुस्तक पर नहीं लिख कर मुखाग्र ही किया जाता था।

३ राजमतीजी दीक्षा लेने के समय 'बहुश्रुता' थी। उनके विषय में उत्तराध्ययन अ०२२ में लिखा कि "**सीलवंता बहुस्सुया**"।

४ ज्ञाता सूत्र के १२ वें अध्ययन में 'सुबुद्धि प्रधान' के विषय में जिन शब्दों का उल्लेख है, उससे मालूम होता है कि उसने जितशत्रु राजा को उसी प्रकार निर्ग्रंथ-प्रवचनों का उपदेश दिया, जिस प्रकार निर्ग्रंथ देते थे। तात्पर्य यह कि वह निर्ग्रंथ-प्रवचन (आगम) का ज्ञाता था। उसने जितशत्रु राजा को धर्मोपदेश भी दिया और विरति भी प्रदान की।

५ उववाई सूत्र में श्रावकों को "**धम्मक्खाई**"–धर्म का प्रतिपादन करने वाले कहा है। धर्म का प्रतिपादन वही कर सकता है जो धर्मज्ञ हो।

६ सूयगडांग २–२ तथा भगवती २–५ में लिखा है कि श्रावक–

"**लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा, विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा**"

अर्थात्–वे सूत्रार्थ को प्राप्त किये हुए, ग्रहण किये हुए, पुनः पूछ कर स्थिर किये हुए, निश्चित किये हुए और समझे हुए हैं।

इस प्रकार श्रावक आगम ज्ञान के धारक हो सकते हैं, तो वे स्वाध्याय क्यों नहीं कर सकते ? यदि कहा जाय कि उपरोक्त वाक्य 'अर्थ ग्रहण' से सम्बन्ध रखते हैं–सूत्र से नहीं, तो कहना होगा कि 'जो अर्थ ग्रहण कर सकते हैं, वे सूत्र ग्रहण क्यों नहीं कर सकते ? अर्थ से जिसने सूत्र का रहस्य समझ लिया, उसके लिए सूत्र ग्रहण में कौन-सी रुकावट आती है ? भाषा सम्बन्धी रुकावट के सिवाय और कोई बाधा नहीं हो सकती। अपनी भाषा में अर्थ और विवेचन समझ लेने वाले के सूत्र ग्रहण करने में कोई रुकावट जैसी बात नहीं लगती। पूर्वाचार्य तो लिख गये कि "सामान्य जनता के हित के लिए ही सूत्र की रचना अर्धमागधी भाषा में की गई।" अतएव यह बाधा भी नहीं रहनी चाहिए। फिर समवायांग और नन्दी में स्पष्ट रूप से "**सुयपरिग्गहा**" लिखा ही है। इसलिए सूत्र पढ़ने में कोई रुकावट नहीं है।

७ श्रावकों के ९९ अतिचारों में ज्ञान के १४ अतिचार भी सम्मिलित है और सर्व मान्य है। जिसमें "सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे" भेद स्पष्ट है। ये सभी अतिचार स्वाध्याय करने की स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं।

८ श्रावकों के सूत्र पढ़ने का निषेध कहीं भी नहीं किया गया है।

९ व्यवहार सूत्र में मुनियों के आगम पठन में जो दीक्षा-पर्याय बताई गई, वह साधारण बुद्धि वाले शिष्यों के लिए है, सभी के लिए नहीं। क्योंकि उसी स्थान पर तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले को उपाध्याय और पांच वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले का आचार्य पद पर स्थापन करने का भी विधान है। अब सोचना चाहिए कि एक ओर तो तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला ही आचारांग पढ़ सकता है और

दूसरी ओर तीन वर्ष की दीक्षा वाला बहुश्रुत उपाध्याय हो कर दूसरों को ज्ञान दे सकता है। इन दोनों विधानों से यह स्पष्ट होता है कि जो वय-मर्यादा नियत है, वह साधारण साधुओं के लिए है। उन्हें तो ज्ञान पढ़ना ही चाहिए। किन्तु श्रावकों के लिए कोई नियम नहीं है। वे यथेच्छ योग्यतानुसार श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उनके लिए कोई अनिवार्यता भी नहीं है।

श्रावकों को आगम स्वाध्याय करना चाहिये। यह मानते और प्रेरणा करते हुए भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह अधिकार योग्यतानुसार हो तो ही ठीक है, अन्यथा लाभ के बदले हानि हो सकती है। मैंने देखा है कि बहुत से इस अधिकार का दुरुपयोग करते हैं। जिनमें समझने की शक्ति नहीं, जो अपेक्षा को नहीं समझते, वे यदि भगवती-प्रज्ञापना को लेकर बैठ जायँ तो लाभ के बदले हानि ही होने की सम्भावना है। मैंने ऐसे साधुओं को भी देखा है, जो व्याख्यान फरमाते हैं, किन्तु जिस सूत्र पर बोल रहे हैं, उसका आशय खुद भी नहीं समझ सके हैं। इस प्रकार की स्थिति जहां हो, वहां यह अधिकार हानिप्रद हो सकता है। चाहे साधु हो या श्रावक, योग्यता के अनुसार ही श्रुत का अभ्यास करना चाहिए। प्राथमिक कक्षा का विद्यार्थी, उच्च कक्षा की पुस्तकें पढ़े, तो उससे उसको क्या लाभ हो सकता है ?

तात्पर्य यह कि श्रावकों को भी अपनी योग्यता के अनुसार शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए। योग्यता के विषय में विशेष ज्ञान वालों से परामर्श ले कर उनकी राय के अनुसार स्वाध्याय-सामग्री का चयन करना चाहिए और शंका होने पर पूछ कर निर्णय कर लेना चाहिए। यदि फिर भी समझ में नहीं आवे, तो अपनी बुद्धि की कमजोरी मान कर आगम-वचनों पर विश्वास रखना चाहिए।

स्वाध्याय एक आभ्यन्तर तप है। श्रुतज्ञान की आराधना महान् फल दायक होती है। अतएव श्रावकों को भी सदैव स्वाध्याय करना चाहिए।

श्रावकों की धर्म दृढ़ता

सच्चे श्रावक, निर्ग्रंथ-प्रवचन अथवा जिनधर्म में दृढ़ होते हैं। उनका हृदय ही नहीं, हड्डी और नसों में धर्म-प्रेम समाया हुआ रहता है। उनका धर्म-प्रेम इतना गहरा और पक्का होता है कि किसी भी प्रकार कम नहीं हो सकता। संसार की कोई भी शक्ति उन्हें धर्म से विचलित नहीं कर सकती। श्रावक की दृढ़ता के विषय में आगमों में लिखा कि—

"असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा।"

अर्थात्—वे अपने शुभाशुभ कर्म-विपाक पर विश्वास करने वाले थे। इसलिए वे देव, असुर,

नागकुमार आदि देवों की सहायता की इच्छा नहीं करते हैं। कोई भी देव अथवा असुर उन श्रमणोपासकों को जिनधर्म से चलित करने में शक्तिमान् नहीं हो सकता।

वे खरे श्रमणोपासक, निर्ग्रंथ-प्रवचन में पूर्ण श्रद्धालु होते हैं। उन्हें जिनधर्म में किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं होता। उनके हृदय से धर्म के विषय में यही उद्‌गार निकलते हैं कि–

"निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे"

अर्थात्–निर्ग्रंथ-प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है। इसके सिवाय सभी वचन अनर्थ के कारण हैं। (सूयग० २–२ उववाई ४१)

इस प्रकार उनकी श्रद्धा दृढ़ होती है। यदि अशुभ कर्म के उदय से कोई क्रूर व्यक्ति अथवा दानवादि उन्हें धर्म से चलित करने को तत्पर हो जायँ, तो वे मरना स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु अपने मुँह से एक अक्षर भी धर्म के विपरीत नहीं निकालते। इतना ही नहीं वे धर्म को छोड़ने का मन में विचार मात्र भी नहीं करते। धर्म को वे अपनी आत्मा के समान ही मानते हैं। इसलिए प्राण त्याग करना उन्हें मन्जूर हो सकता है, किंतु धर्म का त्याग करना स्वीकार नहीं होता। ऐसे दृढ़धर्मी, आदर्श श्रमणोपासक होते हैं।

पूर्वकाल के श्रावकों में से 'कामदेव' श्रावक को देव ने कितने भयंकर कष्ट दिये! भयानक पिशाच रूप में आ कर तलवार से अंग-प्रत्यंग काटने लगा। जब इसमें भी वह सफल नहीं हुआ तो मदोन्मत्त हाथी का रूप बना कर, कामदेव को अपनी सूंड में पकड़ कर आकाश में उछाल दिया और दांतों पर झेल कर पैरों तले रोंदने लगा। जब इसमें भी देव असफल रहा, तो एक प्रचण्ड विषधर बन कर श्रावकजी के गले में लिपट गया और हृदय में तिक्ष्ण दांत गड़ा दिए।

कितना भयंकर परीषह था। कितनी असह्य वेदना हुई होगी–उन्हें, किंतु मुँह से 'उफ' तक नहीं किया। ज्यों-ज्यों उपसर्ग की उग्रता बढ़ती गई, त्यों-त्यों धर्म की दृढ़ता भी अधिकतम गाढ़ी बनती गई। अन्त में अशक्त मानव के सामने, सशक्त देव को हार माननी पड़ी और चरणों में झुक कर क्षमा याचनी पड़ी (उपासकदशा २)।

श्री कामदेवजी तो घरबार छोड़ कर उपाश्रय में चले गये थे और केवल धर्ममय जीवन व्यतीत कर रहे थे. किंतु अरहन्नकजी तो व्यापार करने के लिए समुद्र-यात्रा कर रहे थे। समुद्र में ही उन्हें मिथ्यात्वी देव ने आ कर असह्य कष्ट दिये, किंतु वे भी कामदेवजी के समान ही दृढ़ रहे।

यदि कहा जाय कि "ये बातें चौथे आरे की है। उस समय शरीर-संघयण आदि अच्छे थे। आज सभी साधन हीन-कोटि के हैं, इसलिए दृढ़ता नहीं रह सकती," तो यह बचाव भी उचित नहीं है। क्योंकि उस समय के समान आज देव के उपसर्ग भी तो नहीं है, फिर सुयगडांग और उववाई सूत्र के

पाठ, किसी समय विशेष से सम्बन्धित नहीं, किंतु श्रमणोपासक की धार्मिक दृढ़ता से सम्बन्धित है, भले ही वह पंचमकाल का भी क्यों न हो। क्या पंचमकाल में शील की रक्षा के लिए आग में कूद कर जल मरने वाली सैंकड़ों वीरांगनाएँ नहीं हुई ? सिख गुरु गोविन्दसिंह के दो लड़के अपने धर्म के लिए जीते ही दिवाल में नहीं चुन दिये गये ? देश के लिए अंग्रेजों की गोलियाँ खाने और फाँसी पर चढ़ने वाले हमारे ही युग में तो हुए हैं। इनके लिए पंचमकाल बाधक नहीं हुआ, तो हमारे लिए क्यों हो रहा है ?

वास्तव में धर्म-दृढ़ता नहीं होने के कारण ही पंचमकाल, संहनन आदि के बहाने बनाये जाते हैं। हम देखते हैं कि अभी भी सिक्ख मुसलमान आदि जातियाँ, अपने-अपने धर्म में हमसे अधिक दृढ़ हैं। वे किसी प्रकार का बहाना नहीं ढूंढती, तब सारी ढिलाई हममें ही क्यों आ गई ?

भगवान् द्वारा प्रशंसित

जिन धर्मोपासकों ने दृढ़तापूर्वक धर्म का पालन किया, उनकी प्रशंसा इन्द्रों ने भी की है। यहाँ से असंख्य योजन दूर तथा महान् वैभवशाली, शक्तिशाली इन्द्र ने अपनी देव-सभा में यहाँ के दृढ़धर्मी श्रावकों की प्रशंसा की। इन्द्र की की हुई प्रशंसा में अविश्वासी हो कर परीक्षा करने के लिए देव, कामदेव और अरहन्नक श्रावक के पास आये और उनकी कठोर परीक्षा की। परीक्षा में खरे उतरने पर, विरोधी बन कर आये हुए देव, उनके आगे नत-मस्तक हुए और क्षमा माँगी।

साधुओं के लिए भी आदर्श

कामदेव श्रावक की दृढ़ता की प्रशंसा करते हुए स्वयं तीर्थाधिपति भगवान् महावीर ने धर्म-सभा में अपने साधु-साध्वियों को सम्बोधित कर के कहा–

"अज्जो ! समणोवासगा गिहिणो गिहिमज्झावसंता दिव्वमाणुसतिरिक्खजोणिए उवसग्गे सम्मं सहंति जाव अहियासेंति, सक्का पुणाइं अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसंगं गणिपीडगं (आहिज्जमाणेहिं उवसग्गा) सहित्तए जाव अहियासित्तए।"

–हे आर्यों ! गृहस्थवास में रहने वाला श्रमणोपासक, देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यंच संबंधी महान् उपद्रव को सम्यक् प्रकार से–शांतिपूर्वक सहन कर लेता है, तो आचार्य की सर्वस्व निधिरूप द्वादशांगी के धारण करने वाले निर्ग्रंथों को तो उपसर्गों को सहन करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। (उपा० २)

श्रावकों के धर्मवाद की भगवान् द्वारा प्रशंसा

पहले के श्रमणोपासक, आगमज्ञ होते थे। वे धर्म-तत्त्व के पण्डित (कोविद) होते थे। उन्होंने तत्त्वज्ञान का इतना गहरा अभ्यास किया था कि कोई भी अजैन विद्वान उन्हें डिगा नहीं सकता था। बड़े-बड़े धुरन्धर अजैन विद्वान्, उन जैन विद्वानों के विशुद्ध तत्वज्ञान के आगे निरुत्तर होते थे। एक बार कुंडकोलिक श्रावक, बगीचे में सामायिक कर रहा था। वहाँ गोशालक-मति देव आया और कुण्ड-कोलिक को जिनधर्म से डिगाने के लिए गोशालक के मत की प्रशंसा तथा भगवान् के मत की निन्दा करने लगा। कुंडकोलिक श्रावक ने युक्तियुक्त वचनों से उस देव को निरुत्तर किया।

देव के नियतिवाद का खंडन करने के लिए कुंडकोलिक ने उसे यही पूछा—'तुम्हारे मत में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम नहीं है, अर्थात् बिना प्रयत्न के ही सभी काम अपने-आप नियति से ही बन जाते हैं, तो यह तो बताओ कि तुम्हें यह देव-भव, देव-ऋद्धि और दिव्य-सुखों की प्राप्ति कैसे हुई ?

देव ने अपने मत पक्ष के अनुसार कह दिया कि—'यह सब नियति से ही प्राप्त हुआ है, मेरे किसी प्रयत्न के फल स्वरूप नहीं।' तब चतुर श्रावक ने पूछा—

"देव ! जिस प्रकार तुम्हें बिना किसी प्रयत्न के अपने-आप यह देव-ऋद्धि प्राप्त हुई, उसी प्रकार पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि को देवत्व की प्राप्ति क्यों नहीं हुई ? इनमें तो प्रयत्न का अभाव प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। जब बिना प्रयत्न के ही देवत्व की प्राप्ति हो सकती है, तो इन स्थावर जीवों को क्यों नहीं हुई ? ये पशु आदि जीव, देव क्यों नहीं हुए ? इस प्रकार प्रत्यक्ष सिद्ध है कि तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है और भगवान् महावीर का सिद्धांत पूर्ण सत्य है।"

देव निरुत्तर हो गया और वापिस लौट गया। उस समय भगवान् महावीर कंपिलपुर में पधारे। कुंडकोलिक की देव से हुई चर्चा का वर्णन करने के बाद, भगवान् ने श्रीमुख से फरमाया—

"**तं धन्नेसि णं तुमं कुंडकोलिया**"—अर्थात्—हे कुंडकोलिक ! तुम धन्यवाद के पात्र हो।

भगवान् द्वारा दिया हुआ धन्यवाद, कुंडकोलिक श्रमणोपासक की धर्म-दृढ़ता—अडिगता एवं धर्मवाद द्वारा निर्ग्रंथ-प्रवचन की महत्ता प्रदर्शित करता है। भगवान् धन्यवाद दे कर ही नहीं रह गये, किन्तु साधु-साध्वियों का सम्बोधित कर के कहा,—

"संसार की अनेक झंझटों में रहा हुआ गृहस्थ श्रमणोपासक, तत्त्वार्थ को अनेक प्रकार के हेतु से, प्रश्नों से एवं सुयुक्तियों से सिद्ध करके, अन्यमत वालों को निरुत्तर करके, निर्ग्रंथ-प्रवचन की प्रतिष्ठा बढ़ाता है, तब तुम तो निर्ग्रथ हो और द्वादशांगी के धारक हो। तुम्हें तो प्रसंग उपस्थित होने पर तत्वार्थ का हेतु और युक्ति के साथ प्रतिपादन कर, अन्य मतवालों को निरुत्तर करके निर्ग्रंथ-प्रवचन का महत्त्व

बढ़ाना चाहिए" (उपासक-६)।

इसी प्रकार मद्रुक श्रावक का प्रसंग इस प्रकार है-

मद्रुक श्रावक राजगृह का निवासी था। राजगृह के बाहर कालोदायी आदि अन्य-तीर्थिक विद्वान रहते थे। वे आपस में भगवान् महावीर के सिद्धांत के विषय में चर्चा कर रहे थे। इतने में उधर से मद्रुक श्रावक निकला। वह भगवान् को वन्दन करने जा रहा था। उन अजैन विद्वानों ने मद्रुक को अपने पास बुला कर पूछा-

"तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्तिकाय मानते हैं। इनमें से चार तो अरूपी और एक रूपी है, किन्तु यह किस आधार से माना जाता है?"

मद्रुक ने कहा-"इन अस्तिकायों को इनके कार्य से जाना जा सकता है। यदि कोई वस्तु अपना कार्य नहीं करे, तो हम उसे नहीं जान सकते।"

मद्रुक का यह उत्तर सुन कर कालोदायी आदि ने कहा-

"अरे, तुम कैसे श्रमणोपासक हो और तुम्हारी मान्यता ही कैसी है? जिस वस्तु को तुम जान नहीं सकते, देख नहीं सकते, उसकी मान्यता किस आधार पर रखते हो?"

मद्रुक ने कहा-"बन्धुओं! छद्मस्थ जीव, विश्व के समस्त भावों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अच्छा तुम्हीं बताओ, इस वृक्ष के पत्ते क्यों हिल रहे हैं?"

-"वायु से।"

-"क्या तुम वायु को देख रहे हो? यदि देख रहे हो, तो बताओ उसका रंग-रूप कैसा है?"

-"नहीं, वायु दिखाई नहीं देता। उसके चलन-स्वभाव और स्पर्श से जानते हैं"-अन्य तीर्थियों ने कहा।

-"अच्छा, आपकी नाक में कभी सुगन्ध या दुर्गन्ध आती है?"-मद्रुक ने पूछा।

-"हां, हां, आती है।"

-"तो जरा बताइए कि क्या आपने गंध की आकृति और रूप देखा है?"

-"नहीं, वह दिखाई नहीं देता।"

-"अरणी की लकड़ी में अग्नि है?"

-"हां है।"

-"क्या उसे आप अरणी में देख सकते हैं?"

-"नहीं।"

-"अच्छा, समुद्रपार रही हुई वस्तुएँ और देवलोक (जिसे आप भी मानते हैं) दिखाई देते हैं"?

-"नहीं।"

जब आप स्वयं उपरोक्त वस्तुओं को प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, किंतु कार्य के आधार से इन्हें मानते हैं, तो अस्तिकाय के मानने में कौन-सी बाधा खड़ी होती है ?"

बन्धुओं ! छद्मस्थ मनुष्य की दृष्टि के बाहर बहुत-सी वस्तुएँ रहती हैं। यदि बिना देखी हुई वस्तु का अभाव ही हो जाय तो फिर सद्भाव क्या रहेगा ?"

मद्रुक के युक्ति संगत उत्तर से वे अन्यतीर्थी विद्वान् निरुत्तर हो गये। उनके निरुत्तर हो जाने पर मद्रुक, भगवान् के समवसरण में गया। धर्मोपदेश के अनन्तर भगवान् ने भरी सभा में मद्रुक के धर्मवाद का वर्णन किया और उसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि–

"तं सुट्ठुणं तुमं मद्दुया ! ते अन्नउत्थिए एवं वयासी। साहूणं तुमं मद्दुया ! जाव एवं वयासी।"

–हे मद्रुक ! तुमने उन अन्य तीर्थियों को अच्छा उत्तर दिया। तुम्हारा उत्तर बहुत ठीक था। वे अन्य तीर्थिक मद्रुक के निमित्त से धर्म के संमुख हो गए और आत्म कल्याण कर लिया।

(भगवती १८–७)

इस प्रकार अनेक प्रभावशाली श्रमणोपासक हो गए हैं, जिनको प्रभु ने श्रीमुख से धन्यवाद दिया। उनके धर्मवाद की प्रशंसा की और उनका आदर्श उपस्थित करके श्रमण-निर्ग्रथों को उत्साहित किया। हमारे पूर्व के श्रावक इस प्रकार के दृढ़-धर्मी और धर्म-प्रभावक थे, किंतु आज उलटी गंगा बह रही है। यदि कुण्डकोलिक के स्थान पर कोई अनेकान्त का दुरुपयोग करने वाला होता, तो यही कहता कि–

"हाँ, पाँच समवाय में 'नियति' भी तो है। इसलिए नियतिवादी गोशालक मत से निर्ग्रंथ-प्रवचन का समन्वय हो सकता है।" इस प्रकार की वृत्ति उस समय नहीं थी। न 'सर्वधर्म समभाव' की घातक और श्रद्धा-हीन बनाने की दुर्वृत्ति ही उस समय थी।

हमारी वर्तमान दशा

श्रमणोपासक जिनधर्म में दृढ़ श्रद्धालु होता है। वह कर्मफल को मानता है। कभी पूर्व के अशुभ कर्म के उदय से विषम परिस्थिति आ जाय और किसी प्रकार के दुःख से पीड़ित हो जाय, तो भी वह मानता है–"यह मेरे पूर्व के अशुभ कर्म का फल है। अपने कर्म का फल मुझे भुगतना ही पड़ेगा। किसी देव-दानव की यह शक्ति नहीं कि वह मेरे अशुभ कर्मो को बदल कर शुभ बना दे। मेरे कर्मों की निर्जरा, मैं स्वयं तप के द्वारा कर सकता हूं।" इस प्रकार सोच कर संतोष धारण करता है और धर्म में अधिक दृढ़ हो कर यथाशक्ति धर्म का अधिक आचरण करता है। किंतु हमारी वर्त्तमान दशा इस स्थिति से बहुत विपरीत हो गई है। हम वज्रमय स्तंभ नहीं रह कर गोबर के खीले बन गये हैं। संसार में हम अपने को 'जैनी, श्रावक और श्रमणोपासक' इतना ही नहीं 'धोरी श्रावक' बतलाते हैं,

किंतु हमारा आचरण विलकुल गया बीता हो गया है। हममें कुछ ऐसी कुरूढ़ियाँ आ गई है कि जिनके कारण तथा दृढ़ता के अभाव में हम मिथ्यात्व का खुल कर सेवन करते हुए भी लज्जित नहीं होते।

हमारे त्यौहार

जिस प्रकार अजैन लोग, नवरात्रि और दशहरा मनाते हैं, उसी प्रकार हमारे अनेक जैनी नाम धराने वाले वन्धु भी नवरात्रि का व्रत रखते हैं, दुर्गा तथा काली माता की पूजा पाठ करते हैं और उससे अपनी समृद्धि की कामना रखते हैं।

होली के दिनों में हमारे अनेक जैनी भाई, होलीका पूजन, दहन आदि कर के अनेक प्रकार का मिथ्यात्व तथा पाप का उपार्जन करते हैं। शीतला पूजन, गनगोर व्रत और न जाने कौन कौनसे कल्पित देव-देवियों को हमारे भाई-वहिन पूजते हैं और मनौती करते हैं।

दिवाली हमारा धार्मिक त्यौहार है, किंतु उस दिन धन की कामना से कल्पित लक्ष्मी देवी गजानन, बहियें, दवात, कलम आदि की पूजा किया करते हैं। उस समय यदि उनके चेहरों से भावों का पता लगाया जाय तो मालूम होगा कि उनका हृदय इन बहियों, दवातों, कलमों लक्ष्मी के कल्पित चित्र और गजानन आदि (जो मनुष्य द्वारा निर्मित है) के प्रति पूर्ण रूप से प्रणिपात कर रहा है। वे इतना भी नहीं सोचते कि इस मिथ्या प्रवृत्ति में क्या धरा है? क्या वही, कलम, दवात, सोना, चाँदी, रुपया, नोट आदि भी कोई देव हैं? प्रत्यक्ष रूप में ये जड़ वस्तुएँ हैं। इनके पीछे किसी देव की कल्पना भी नहीं है। लक्ष्मी का चित्र और गजानन की पूजा करने से ही किसी को धन-लाभ होता, तो प्रतिवर्ष भक्तिपूर्वक पूजा करने वाले सभी व्यापारी धनवान ही होते। किसी को भी धनहीन तथा कर्जदार होने का प्रसंग ही नहीं आता। इनकी पूजा करते रहने वाली अनेक व्यापारी पेढ़ियाँ अत्यधिक हानि के कारण बंद हो गई। बहुत से व्यापारी आज भी आर्थिक कठिनाई उठा रहे हैं और दूसरी ओर इन क्रियाओं से सर्वथा वंचित ऐसी जातियाँ तथा राष्ट्र, मालामाल तथा आर्थिक दृष्टि से उच्च स्थान प्राप्त किये हुए हैं।

यदि कहा जाय कि देवी-देवताओं का अस्तित्व तो जैन सिद्धांत भी मानता है और उनके अनुग्रह के प्रमाण भी शास्त्रों में हैं, फिर इन्कार क्यों किया जाता है? समाधान है कि—देवी-देवताओं के अस्तित्व और अनुग्रह से इन्कार नहीं किया जा रहा है। यहां यह बताया जा रहा है कि 'आप जिन्हें देव मान कर पूज रहे हैं, वह आपकी गलत धारणा है। न तो बहियों, दवातों और लेखनी में देव का निवास है और न लक्ष्मी आदि चित्रों में। क्या प्रत्येक मूर्ति और तेल-सिन्दूर लगे अनघड़ पत्थर में देव

रहता है ? यदि रहता हो, तो उसकी आशातना और अपमान कोई नहीं कर सकता । जब कि इन सब का अपमान एक बच्चा भी कर सकता है । यदि इनके सानिध्य में देव होता, तो पूजक पर कृपा अवश्य करता, कम से कम उसे खतरे की आगाही तो दे ही देता ।

जिस प्रकार मुर्दे में प्राण नहीं होते, उसी प्रकार इन कल्पित गणेशों और लक्ष्मियों में देवत्व नहीं है । मुर्दे की कितनी ही सेवा करो, वह स्वयं हिलडुल नहीं सकता, इसी प्रकार मनमाने कल्पित देव, मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकते ।

वास्तविक देव भी शुभाशुभ कर्म और उसके परिणाम को बदल नहीं सकते, तो ये कल्पित जड़ वस्तुओं के झूठे देव, क्या भला कर सकेंगे ?

मनुष्य को जो-जो अनुकूलताएँ मिलती हैं और इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती है, वह पुरुषार्थ और शुभ कर्म के उदय से अर्थात्–पाँचों समवाय की अनुकूलता से मिलती है । इसलिए व्यर्थ के मिथ्याचार को छोड़ कर और जैनत्व के प्रति ही दृढ़ रह कर यथाशक्ति धर्म का आचरण करना चाहिए और विना इधर-उधर भटके, समझ-सोच कर अपना कर्त्तव्य करते रहना चाहिए । इससे मन की अशांति मिटेगी, नये अशुभ कर्म का गाढ़ बंध नहीं होगा और पूर्व के कर्म की निर्जरा हो कर शुभ कर्म का उदय होगा, तभी इच्छित वस्तु की प्राप्ति होगी । धर्म पर और अपने आप पर श्रद्धा रख कर, यथाशक्ति धर्म का आचरण करते रहने वाले का भौतिक दृष्टि से भी भविष्य उज्ज्वल होता है ।

इस प्रकार लौकिक त्यौहारों के निमित्त से अनेक प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन किया जाता है । इसे बन्द करके दृढ़ सम्यक्त्वी बनना चाहिए ।

रोग के निमित्त से मिथ्यात्व सेवन

हमारे बहुत-से भाई और बहिनें अपने या बच्चों के रोग का निवारण करने के लिए और देवी देवताओं–भैरूँ-भवानी–की सेवा में भटकते रहते हैं । तावीज और डोरा-धागा करवाते फिरते हैं ।

जैन-सिद्धांत स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है कि 'रोगोत्पत्ति का मूल कारण अशुभ कर्म–असातावेदनीय कर्म का उदय है और निमित्त-कारण आहारादि की प्रतिकूलता से शरीर में बीमारी के योग्य पुद्गलों का (कब्जियत अजीर्ण आदि से) जमा होना तथा छोंत आदि अनेक कारण है । माता और मोतीझरा आदि रोगों को देवी-देवता रूप मानने की मूढ़ता तो अब भी बहुत फैली हुई है । प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है कि इन रोगों को टीका लगा कर रोकने के प्रयास हो रहे हैं और इसमें सफलता भी होती है । जो लोग इन रोगों को देव कृपा मान कर भावपूर्वक मानते-पूजते हैं, उनके यहां भी

इन रोगों के अनिष्ट परिणाम होते हैं और जो जातियाँ और राष्ट्र, इन रोगों को देवरूप नहीं मान कर उचित उपचार करते हैं, उनका ये मिथ्यादेव कुछ भी नहीं बिगाड़ते, बल्कि उनके यहां अनिष्ट परिणाम भी उतने नहीं होते।

इस प्रकार जैनधर्म के उपासक और सम्यग्दृष्टि कहे जाने वाले लोगों में कितना अज्ञान भरा है। वे बात-बात में मिथ्यात्व की उपासना करने लग जाते हैं। यह उनके जीवन से स्पष्ट हो रहा है।

विवाह और मिथ्यात्व

वैवाहिक कार्य का प्रारम्भ भी प्रायः मिथ्यात्व सेवन कर के किया जाता है। सर्व प्रथम गणपति पूजन किया जाता है। महिलाएँ विवाह के गीत में पहले गणपति की ही स्तुति करती है और आमन्त्रण-पत्रिका भी सबसे पहले गणपति को ही लिखी जाती है। इसके सिवाय देश-भेद से छोटे-मोटे अनेक प्रकार से मिथ्यात्व का सेवन किया जाता है।

विवाह-विधि भी मिथ्यात्व से ओतप्रोत है। कई मिथ्यात्वी देवों की साक्षी से ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत भाषा में कुछ मन्त्र और श्लोकों के उच्चारण के साथ हवन-पूजन आदि होता है। अग्नि की साक्षी भी मानी जाती है और लग्न के बाद भी भैरव, भवानी, चंडी, सीतला, हनुमान आदि कितने ही देवों की, वर-वधू से पूजा कराई जाती है।

वर्त्तमान में जैन-विधि से विवाह करने कराने का प्रश्न भी उठ रहा है और कहीं-कहीं होने भी लगे हैं। विवाह-संस्कार की विधि भी "आचारदिनकर" आदि ग्रंथों में जैनाचार्य द्वारा लिखी हुई है और अन्य पुस्तकें भी छपी है, किन्तु इन सब पर अजैन विधि का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। विचार पूर्वक देखा जाय, तो यह विधि बिलकुल सरल और सीधी-सादी हो सकती है।

लग्न का उद्देश्य केवल वर-कन्या का सम्बन्ध मिलाना है। योग्य वर का योग्य कन्या से—जिनका आचार, विचार, स्वभाव और वय समान हो—सम्बन्ध जोड़ना है। यह उद्देश्य सभी जातियों और देशों में समान रूप से है। भेद केवल विधि-विधान और रीति-रिवाज का है। यह भेद सर्वत्र, प्रत्येक जाति वर्ग और देश में रहा हुआ है और परिवर्तनीय है। हमें ऐसी विधि अपनानी चाहिये कि जिसमें व्यर्थ के झंझट नहीं हो। पंचों अथवा सम्बन्धियों की साक्षी से वर-कन्या को परस्पर वचनबद्ध करना और वर को 'स्वदार-संतोष' तथा कन्या को 'स्वपति-संतोष' व्रत धारण करवाना है। व्रत की प्रतिज्ञा गुरु के समक्ष अथवा योग्य व्रती श्रावक के समक्ष हो कर लग्न-विधि पूर्ण हो सकती है।

एक बात ध्यान रखने की है। यदि वर-कन्या ने पहले सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया हो, तो इस विधि के पूर्व उन्हें सम्यक्त्व ग्रहण करवा कर—नियमानुसार वास्तविक जैनी बनाने के बाद सदार-संतोष

व्रत देना चाहिये। जहाँ तक हो, 'पाँच अणुव्रतों' का ग्रहण कराना चाहिए, अन्यथा चतुर्थ व्रत तो अवश्य ही कराना चाहिये, क्योंकि विवाह-सम्बन्ध को जैन-धर्म में स्थान नहीं है, विरति को ही स्थान है। इस व्रत के द्वारा लग्न-सम्बन्ध से मर्यादा बाहर की अविरति के त्याग हो जाते हैं और इस अपेक्षा से जैन-विधि कही जा सकती है।

'मंगल-पाठ' के बाद यह विधि पूर्ण की जा सकती है। इसमें किसी देव, देवी, हवन, पूजन की आवश्यकता नहीं रहती। महिलाओं के द्वारा मंगलगान भी तदनुरूप ही हो। लग्नोत्सव के समय वादिन्त्र का उपयोग तथा प्रीति-भोज, अपनी स्थिति का अतिक्रमण कर के नहीं किया जाय। आगत सम्बन्धियों का सत्कार यथाशक्ति हो सकता है। तात्पर्य यह कि मूल उद्देश्य 'वर वधू को लग्न सम्बन्ध से जोड़ने' का और मुख्य नियम 'व्रत प्रतिज्ञा से युक्त' करने का है। शेष सभी बातें गौण है।

इस प्रकार यदि सुधार किया जाय, तो लग्न-प्रसंग पर होते हुए अनेक प्रकार के मिथ्या विधि-विधानों से बचा जा सकता है।

मृत्यु प्रसंग और मिथ्यात्व

जिस प्रकार लग्न-प्रसंग के साथ अनेक प्रकार का मिथ्यात्व जुड़ गया है, उसी प्रकार मृत्यु-प्रसंग को ले कर भी अनेक प्रकार का मिथ्यात्व सेवन किया जा रहा है।

जब मनुष्य, मरणासन्न हो कर अंतिम साँसे ले रहा हो, तब उसे महान् वेदना होती है। उस महान् वेदना के समय ही उसे पलंग अथवा बिस्तर पर से हटा कर पृथ्वी पर (गोमय से लीप कर) सुलाया जाता है और माना जाता है—"पृथ्वी की गोद में मृत्यु होने से जीव की सद्‌गति होती है।" यह भूल है। जैन-सिद्धांत इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। जैन-सिद्धांत के अनुसार जीव की सद्‌गति और दुर्गति उसकी खुद की परिणति और उपार्जित शुभाशुभ कर्म के अनुसार होती है। पृथ्वी अथवा गोबर उसमें कारण नहीं बनता। जो लोग उस मरणासन्न व्यक्ति को धर्म सुना कर परिणामों को उज्ज्वल नहीं कर के, उसे पृथ्वी पर लेने की क्रिया करते हैं, वे उसे अधिक दुखी करते हैं। वे उसके दुःख के कारण बन कर हिंसा के पाप से बँधते हैं और उस व्यक्ति के अशुभ परिणाम के निमित्त भी बनते हैं।

मृत्यु के बाद स्वजनादि का आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में रुदन भी त्याज्य है। यदि कोई रुदन नहीं करता है, तो कहा जाता है कि इसने 'धर्म-दाढ़' (दहाड़ मार कर रोना) नहीं दी। पता नहीं इस रोने में धर्म कहाँ से घुस गया? किंतु दूसरों का यह सिद्धांत जैनियों ने भी अपना लिया और इसमें बहुतों को तो आत्मीयता बताने के लिए, ऊँचे आवाज से, सम्बन्ध जता कर रोना पड़ता है। आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में रुदन करने की प्रथा भी त्यागने योग्य है।

मृत्यु के बाद, शव के अग्नि-संस्कार के सिवाय और कोई क्रिया शेष नहीं रहती। उस दिन नहीं, तो दूसरे या अधिक से अधिक तीसरे दिन शोक हटा कर साधारण स्थिति जाना चाहिए। "उठावने" का अर्थ भी शोक-निवृत्ति ही होना चाहिए। किंतु अजैन संस्कार से जैन-समाज भी कई अड़ंगों का शिकार बन गया। कई प्रान्तों में जैनी लोग भी दूसरों की व्यक्ति के लिए घर के बाहर—आम रास्ते पर, खीर और बाटी या चपाती बना कर श्म ले जाते हैं, उसे दाह-स्थान पर रखते हैं और ऊपर से पानी भी ढोलते हैं। वे समझते हैं मृतक आत्मा को पहुँचती है। फिर लगभग बारह दिन तक मृतक के शौक की चीजें घर रखते हैं। जाति-भोज—मोसर आदि करते हैं और मानते हैं कि मृत्यु के उपरान्त बारह आत्मा घर के आसपास चक्कर काटती रहती है और उनका दिया हुआ भोजनादि ग्र ये सब मिथ्या बातें हैं। जैन-सिद्धांत कहता है कि मरने के बाद तत्काल आत्मा अपनी गति जहाँ उत्पन्न होना होता है, वहां चली जाती है। पीछे से जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनक कुछ भी नहीं मिलता।

साधुओं के शव को रोक रखना

साधु-साध्वी के देहान्त के बाद, शव को बाहर के लोगों के दर्शनार्थ, बहुत लम्बे स जाता है और बड़े ठाठबाट से समारोहपूर्वक अन्तिम क्रिया होती है। देह-दर्शन के लिए समय तक रोक रखना भी हिंसा है। क्योंकि शव में अन्तर्मुहूर्त में ही समुच्छिम जीवों की लगती है और दुर्गन्ध पैदा होकर फैलती है। ठाठबाट से शव-संस्कार करना, मृतात्मा के प्र प्रदर्शित करने की लोक-रुढ़ि है। परन्तु उसमें भी विवेक होना चाहिए। अनावश्यक अ आडम्बर में शक्ति का अपव्यय करने के बदले शुभ कार्य किये जायँ, तो विकार हट कर प्रभावना हो सकती है।

अनुचित प्रत्याख्यान

जैनधर्म में पाप के प्रत्याख्यान होते हैं, किंतु किसी दुखी की सेवा अथवा प्रसूति की परिच प्रत्याख्यान नहीं होते। जिस प्रकार दुखी को अनुकम्पा-दान और रोगी को दवाई देने के त्याग होते, उसी प्रकार प्रसूति की परिचर्या के त्याग भी नहीं होते। किंतु वैदिकों के प्रभाव के कारण, धर्म की मूर्तिपूजक परम्परा में ऐसे त्याग होने लगे। कई बहिनें अपनी वधुओं और पुत्रियों के प्रस

काल के समय तथा कुछ दिन बाद भी उनकी सेवा करने के त्याग कर लेती है। उनकी मान्यता है कि यदि वे उनकी सेवा करेंगी, तो उन्हें सूतक लग जायगा और इससे वे दर्शन-पूजनादि से वंचित रह जायँगी। हमारी साधुमार्गी समाज में तो ऐसी बाधा है ही नहीं। प्रसूति-सेवा के बाद वे सामायिकादि कर सकती है। मृतक का अग्नि-संस्कार होने के बाद भी सामायिकादि हो सकती है और ऋतु-धर्म के समय भी सामायिक हो सकती है। किंतु संसर्ग दोष के कारण हमारे समाज में भी कहीं-कहीं वैसे प्रत्याख्यान होने लगे हैं। वह भी विकार का ही परिणाम है।

दूषित तप

साधु और श्रावक की जितनी भी धर्म-क्रियाएँ हैं, वे सब आत्म-कल्याण के लिए है—निर्जरा के लिए है। किंतु 'चुंदड़ी का उपवास' संकट्या तेला, मदनासुन्दरी का आदर्श सामने रख कर 'व्याधिहरण और सुख-सम्पत्ति करण ओली आदि तप. भौतिक स्वार्थ साधना के उद्देश्य से होते हैं और इस विकार में त्यागी-वर्ग भी सहायक होता है। तपस्याएँ हों, किंतु उसके साथ रही हुई स्वार्थ-भावना मिट कर आत्म-कल्याण का ही हेतु रहे—इसका ध्यान रखने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही विकार हट-कर संस्कार शुद्ध हो सकेंगे।

श्रीभरतेश्वर और श्रीकृष्ण तथा अभयकुमार ने भौतिक इच्छा से तप किये थे। किंतु वे विरति में स्वीकार नहीं किये। उनके वे पौषध आत्म-पोषक नहीं, किंतु स्वार्थ-पोषक थे। स्वार्थ-पोषक तप में त्यागियों की अनुमति नहीं होनी चाहिए और जो विकार घुसे हैं, उन्हें दूर करना चाहिए।

इस प्रकार हमारे जीवन में मिथ्यात्व ने गहरा घर कर लिया है। हम जैनी कहलाते हुए भी अपने जीवन में अजैनत्व को खूब अपनाये हुए हैं। हमें अपनी इस अधम दशा पर शान्ति से विचार करना चाहिए और मिथ्यात्व को सर्वथा निकाल फेंकना चाहिए।

उपसंहार

हम अगार-धर्म का भी नियमानुसार पालन करें, तो संसार में जिनधर्म की अच्छी प्रभावना हो सकती है। अन्य जीवों को जिनधर्म के प्रति आकर्षित कर सकते हैं। अपना जीवन भी शान्ति से बीतता है और भवान्तर भी सुधरता है।

इस प्रकार की स्थिति तब बनती है, जब कि हम जिनधर्म पर पूर्ण विश्वास रखें। जैनत्व में दूषण लगाने वाली प्रवृत्ति से बचें। अपनी कषायों पर अंकुश लगावें। तृष्णा को बढ़ने नहीं दें। दुखी-दर्दियों की यथाशक्ति सेवा करें और सहिष्णु बने।

यदि हमारी मनोवृत्ति और कार्य, श्रमणोपासक की मर्यादा के अनुसार बन जावेंगे, तो हम धर्म-प्रभावना भी कर सकेंगे, अपनी आत्मा का उत्थान भी कर सकेंगे और अन्य जीवों के लिए मार्गदर्शक एवं हितकारी भी हो सकेंगे।

। समणोवासगा सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु खेमंकरा भवइ।

मोक्ष मार्ग

चतुर्थ खण्ड

अनगार धर्म

×××

उद्देश्य

अखण्ड शान्ति और शाश्वत सुख की प्राप्ति का संसार में कोई मुख्य मार्ग है, तो एकमात्र अनगार धर्म ही है। अनगार धर्म के द्वारा सरलतापूर्वक संसार-वृद्धि के कारणों को रोका जा कर, शाश्वत सुख के मार्ग को अपनाया जा सकता है। यद्यपि अगार-धर्म भी परमसुख की प्राप्ति का एक साधन है, परन्तु वह परम्पर साधन है-अनन्तर साधन नहीं है। क्योंकि विना अनगार धर्म के इतनी विशुद्ध साधना नहीं हो सकती। यदि अगार-धर्म ही मोक्ष प्राप्ति का राजमार्ग होता, तो अनगार धर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती। अगारधर्मी-श्रावक यदि जोरदार साधना करे, तो भी वह अधिक से अधिक "अच्युतकल्प=बारहवें देवलोक तक ही जा सकता है (उववाई सूत्र)। अनगार धर्मी के संसार परिभ्रमण के वाह्य कारण तो छूट ही जाते हैं और अभ्यन्तर कारण भी बहुत-कुछ छूट जाते हैं, जो रहते हैं, वे भी क्रमश: नष्ट होते जाते हैं। साधुता के धारक को वाह्य प्रवृत्तियों के साथ अन्तर प्रवृत्तियाँ भी वदलनी पड़ती है। चर्तुगतिरूप संसार में भटकाने वाली जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, उन सब से अपने को हटा कर स्थिर और शान्त बनाने वाली प्रवृत्ति अपनानी पड़ती है।

जिसे रोग-मुक्त हो कर नीरोग एवं बलवान होना हो, उसे सबसे पहले रोग के कारणों से बचना पड़ता है और फिर आरोग्यता के साधनों का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार भव-भ्रमण रूपी महारोग से मुक्त होने के लिए सर्व-प्रथम उन कारणों को त्यागना पड़ता है—जो भवभ्रमण के निमित्त हैं। इनके त्याग के बाद उन साधनों को अपनाना पड़ता है—जो पूर्व के लगे हुए कर्म रूप रोग को क्षय कर के अखण्ड शान्ति, पूर्ण स्थिरता और स्वाधीनता में सहायक होते हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है। त्रिकाल अबाधित और शाश्वत सिद्धांत है।

संसार त्याग का कारण

सबसे पहले साधक को अपना साध्य स्थिर करना पड़ता है। उसके बाद साधना निश्चित् करनी होती है। वही साधना उत्तम कही जा सकती है, जो साधक को साध्य के निकट पहुँचाने वाली हो। यदि साधना करते-करते साधक, साध्य से दूर होता जाय, तो वह साधना नहीं, किन्तु बाधना (बाधा) है, विराधना है।

निर्ग्रंथों की साधना केवल आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए ही होती है। उनका एकमात्र ध्येय समस्त बन्धनों (पराधीनताओं) से मुक्त हो कर—पर भाव से हट कर स्वभाव में स्थिर होना है। वह जन्म-जरा और मृत्यु के दुःख रूप संसार से मुक्त होना चाहता है। वह समझता है कि—

"यह संसार रूपी समुद्र महान् भयंकर है। इसमें जन्म-जरा और मृत्यु रूप महान् दुखों से भरा हुआ, क्षुब्ध और अथाह पानी है। विविध प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल संयोग और वियोग की चिन्ता से इसका विस्तार बहुत ही व्यापक है। इस महार्णव में वध-बन्धनादि अनेक प्रकार की हिलोरें उठ रही है और करुणाजनक शब्द होते हैं। परस्पर की टक्कर अपमान और निन्दा आदि तरंगे हैं। कठिन कर्म रूप बड़ी-बड़ी चट्टाने इस महासागर में रही हुई हैं, जिनकी टक्कर से ढिली-ढाली नावें नष्ट हो जाती है। चार कषाय रूपी चार गंभीर पाताल-कलशों से यह समुद्र अति गहन हो गया है। तृष्णा रूपी महान् अन्धकार इसमें छाया हुआ है। आशा और तृष्णा रूपी फेन उठते ही रहते हैं। मोहनीय कर्म भोग रूपी भयानक भँवर इस समुद्र में पड़ता है, जिसमें पड़कर प्राणी डूब जाता है। प्रमाद और अज्ञान रूपी मगर-मच्छ इसमें घूम रहे हैं। अनादिकाल के संताप से कर्मों का गाढ़ और चिकना कीचड़ ऐसा भरा हुआ है कि जिसमें फँसे हुओं का निकलना असंभव हो जाता है। इस प्रकार सर्वत्र फैले हुए संसार रूपी महासमुद्र को महा भयानक मान कर भव्य प्राणी, निर्ग्रंथ-धर्म रूपी सुदृढ़ जहाज का आश्रय लेकर पार होते हैं" (उववाई सूत्र)।

कोई-कोई आत्मार्थी सोचते हैं कि–

"यह शरीर अनित्य है। कितना ही जतन करो–इसका नाश तो होगा ही। अनित्य होने के साथ यह अपवित्र भी है–अशुचिमय है। दुःख और क्लेश का भाजन है। जल में उत्पन्न हुए बुलबुले के समान नष्ट होने वाला है। व्याधि और रोगों का घर है और मृत्यु से सदा घिरा हुआ रहता है। जन्म भी दुःखपूर्वक होता है, रोग और बुढ़ापा भी दुःखमय है और मृत्यु की वेदना तो इनसे भी अधिक दुःखदायक है। इस प्रकार यह संसार दुःख रूपी ही है। सभी प्राणी संसार में दुःख भुगत रहे हैं–

"**अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो**" (उत्तराध्ययन १९)

किसी भव्यात्मा ने संसार को अग्निरूप मान कर सोचा,–

"यह संसार जल रहा है, उसकी ज्वालाएँ फैल रही है। जिस प्रकार जलते हुए घर में से असार वस्तु छोड़ कर, सार वस्तु निकालने वाला बुद्धिमान है, उसी प्रकार अपनी आत्मा को बचाने वाला समझदार है (भगवती २–१)।

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से संसार को दुःख रूप मान कर, निर्वेद की प्रबलता से भव्यात्माएँ संसार का त्याग करती है। उनका लक्ष एकमात्र मोक्ष का ही रहता है। वे संसार रूपी महा भयानक समुद्र को पार करने के लिए, धर्म रूपी जहाज में बैठते हैं। उनके पास ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी महा मूल्यवान् धन होता है। वे जिनेश्वर भगवान् के बताये हुए सम्यक् मार्ग से सीधे सिद्धपुरपाटन (मोक्ष) की ओर बढ़ते ही जाते हैं (उववाई २१)। उनकी प्रव्रज्या का एकमात्र कारण आत्म-कल्याण ही होता है–**अत्तत्ताए परिव्वए**" (सूयगडांग अ. ३–३ तथा ११)। वे आत्मा का उद्धार करने के लिए ही संयम धारण करते हैं–"**अत्तत्ताए संवुडस्स**" (सूय० २–२)। संयमी होने के बाद उनकी प्रवृत्ति संयम के अनुकूल ही होती है। चारित्र पालने में ही उनकी दृष्टि होती है–"**अहीव एगंतदिट्ठी**" (ज्ञाना १)। उनका प्रयत्न कर्म-बन्धनों को नष्ट करने का ही होता है–"**कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिआ**" (उववाई १७) वे निर्दोष आहार पानी लेते हैं और शरीर को पोषते हैं, वह भी मोक्ष साधना के लिए ही है। भगवान् ने उनके लिए यही निर्देश किया है, जैसे कि–

"**अहो ! जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ।**

मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा (दशवै० ५–१–९२)

इस प्रकार साधु की सारी जिन्दगी, सारे प्रयत्न, सभी क्रियाएँ, मोक्ष के लिए ही होती हैं। उनका उपदेश-प्रदान भी मुक्ति की साधना का एक अंग होता है (सूय० २–१)।

निर्ग्रंथ-श्रमण, मोक्ष के लिए ही प्रव्रजित होता है। चक्रवर्ती-सम्राटों, राजा-महाराजाओं कोट्या-

धिपति सेठों, सामंतों और मामूली व्यक्तियों ने संसार की आधि व्याधि और उपाधि से मुक्त होने के लिए ही दीक्षा ग्रहण की। स्वयं तीर्थंकर भगवान् भी अपने कर्म बन्धनों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रव्रजित होते हैं। भगवान् महावीर के विषय में श्री आचारांग सूत्र श्रु० २ अ. १५ में लिखा कि–

"तओणं समणे भगवं महावीरे.......... सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरई।"

और भगवान् ऋषभदेवजी के लिए जंबूदीपप्रज्ञप्ति सूत्र में लिखा है कि–

"कम्म संघणिग्घाग्यणट्ठाए अब्भुट्ठिए विहरई।"

यह है अनगार धर्म ग्रहण करने का मुख्य कारण। यदि आत्महित के बिना किसी दूसरे उद्देश्य से दीक्षा ग्रहण की जाय, तो वह उद्देश्य ठीक नहीं होता। भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए तो मिथ्यादृष्टि भी उच्च कोटि की क्रिया पाल सकता है। किन्तु उद्देश्य ठीक नहीं होने से वह सैद्धान्तिक दृष्टि से अव्रती ही माना जाता है। तात्पर्य यह कि कर्म-बन्धनों को काट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही अनगार धर्म की व्यवस्था है।

अनगार की प्रतिज्ञा

जब व्यक्ति अपने कर्म-बन्धनों को काट कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही अनगार बनता है, तो उसका प्रयत्न भी प्रारंभ से ही वैसा हो कि जिससे बन्ध के कारणों से वह बच सके। एक ऋण मुक्त होने वाला कर्जदार, सबसे पहले तो यही सावधानी रखता है कि जिससे नया ऋण नहीं हो, फिर पुराने कर्ज को उतारने का प्रयत्न करता है। वैद्य भी सबसे पहले रोग बढ़ने के कुपथ्यादि साधनों से रोगी को बचाता है। फिर रोग मुक्त करने का प्रयत्न करता है, इसी प्रकार कर्म-रोग से मुक्त होने के लिए–दुःखों से छुटकारा पाने के लिए, अनगार धर्म भी सबसे पहले दुःख के कारणों को रोकता है। अनगार धर्म की दीक्षा लेते समय वह उत्तम आत्मा, हृदय के सच्चे और दृढ़ निश्चय के साथ प्रतिज्ञा करती है कि–

"करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं नकरेमि नकारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुज्जाणामि तस्सभंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

उपरोक्त प्रतिज्ञा के द्वारा वह उन सभी पाप क्रियाओं को, जीवनभर के लिए त्याग देता है कि जिनसे दुःख से भुगता जाय—ऐसा फल निर्माण होता हो अर्थात् वह दुःख के कारणों को ही रोक देता है। सावद्य—पापमय प्रवृत्ति ही में दुःख का कारण है। इसका त्याग करके साधक अपनी आत्मा का वर्त्तमान और भविष्य—ये दोनों सुधार लेता है। इसके बाद वह अपने पूर्व के बन्धनों को काटने में प्रयत्नशील बनता है।

चारित्र की आवश्यकता

मोक्ष मार्ग के चार भेदों में से दो भेदों का वर्णन किया गया। पूर्वोक्त ज्ञान और दर्शन, श्रुतधर्म है। श्रुतधर्म से मात्र ज्ञान और श्रद्धान=विश्वास ही होता है। यद्यपि जीव को निःश्रेयस के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की भी आवश्यकता है। इनकी आवश्यकता तो सर्व प्रथम है, किन्तु ये ही सब कुछ नहीं है। केवल जानने और समझने से ही कार्य सिद्ध नहीं होता। इसके लिए तो आचरण की आवश्यकता होती है। रोग, रोगोत्पत्ति के कारण और रोग नाश के उपाय जानने के बाद आचरण में लाना पड़ता है, तभी रोग हट कर आरोग्य लाभ होता है। इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन धर्म के बाद चारित्र धर्म की आवश्यकता है ही। ज्ञान-दर्शन मोक्ष प्राप्ति के परम्पर कारण है, तब चारित्र अनन्तर=साक्षात् कारण है। ज्ञान दर्शन के बाद चारित्र की प्राप्ति होगी, तभी आत्मा उन्नत होकर मोक्ष प्राप्त करेगी।

जब तक जीव में चारित्र गुण नहीं हो, तब तक वह सम्यक्त्वी हो, तो भी 'बाल"=समझता हुआ मूर्ख ही है। वह ज्ञानी होते हुए भी आचरण की अपेक्षा बाल है (भगवती ८-२)। जब उसमें चारित्र परिणति होती है, तभी वह 'देश-पंडित' या सर्वपंडित (बाल पंडित = पंचम गुण स्थानी श्रावक और सर्व पण्डित = साधु) होता है। तात्पर्य यह है कि चारित्र परिणति के अभाव में जीव ज्ञानी होते हुए भी बाल ही है, क्योंकि ऐसे ज्ञानी और अज्ञानी के चारित्र में कोई अन्तर नहीं होता। कितने ही ऐसे भी अज्ञानी और मिथ्यात्वी होते हैं, जिनकी कषायें शान्त रह कर लोक में प्रशंसनीय होते हैं। वे लोक हितैषी हो कर नीतिमय जीवन विताते हुए स्वर्गगामी होते हैं, और कई ज्ञानी—सम्यग्दृष्टि ऐसे भी होते हैं, जिनका मनुष्य जीवन उतना उज्ज्वल नहीं होता और वे चारों गतियों में जाते हैं। इसलिए सम्यग्चारित्र की परम आवश्यकता है। चारित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। यह स्मरण रहे कि जिस प्रकार बिना चारित्र के मात्र सम्यक्त्व, मुक्तिदाता नहीं होती, उसी प्रकार बिना सम्यक्त्व के चारित्र भी मोक्ष की ओर नहीं ले जाता। यहाँ उसी चारित्र का वर्णन है जो सम्यक्त्वपूर्वक होता है।

तीन गुप्ति

संयम, गुप्ति प्रधान होता है। बिना गुप्ति के संयम हो नहीं सकता। संयमी आत्माओं के लिए गुप्ति की उतनी ही आवश्यकता है जितनी शरीर के लिए जीव की। बिना जीव के शरीर निःसार होता है, उसी प्रकार बिना गुप्ति के संयम निःसार होता है। वास्तव में गुप्ति ही संयम है। श्रमण के महाव्रत और संसार त्याग की प्रतिज्ञा भी गुप्ति रूप ही है। बिना प्रवृत्ति के एकान्त निवृत्ति तो चौदहवें गुणस्थान में होती है–जहां मन, वचन और काया की सभी प्रवृत्तियें बन्द हो जाती है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ. २४ गा. २० में मनोगुप्ति का वर्णन करते हुए लिखा कि–"सत्या, मृषा, सत्यामृषा (मिश्रा) और असत्यामृषा (व्यवहार) ये चार भेद–मनोगुप्ति के हैं और गा. २२ में ये ही चार भेद वचन-गुप्ति के हैं।

शरीर-धारियों के लिए मन, वचन और शरीर–ये तीन योग ही तो प्रवृत्ति के साधन हैं। चाहे अच्छी हो या बुरी–शुभ हो या अशुभ, कोई भी प्रवृत्ति बिना मन वचन अथवा शरीर के हो ही नहीं सकती। बिना त्याग के अविरत प्राणियों के विश्वभर की तमाम प्रवृत्तियें खुली होती है। इस प्रकार की असीम प्रवृत्ति के कारण ही जीव विश्वभर में परिभ्रमण करता आ रहा है। जब तक अपनी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं रखा जाता, तब तक उसका परिभ्रमण नहीं रुकता, जन्म-मरण चलता ही रहता है और दुःख-परम्परा बढ़ती ही रहती है। विश्व-हितंकर जिनेश्वर भगवन्तों ने इस दुःख-परम्परा से मुक्त होने का उपाय बताते हुए विरति का उपदेश दिया है और विरति है वह गुप्तिमय ही है। जिस आत्मा ने गुप्ति के द्वारा अपनी रक्षा कर ली, वह नीचगति के कारणों से ही बच जाती है, अर्थात् गुप्ति से रक्षित आत्मा के किसी भी गति के आयुष्य का बंध नहीं होता। यदि गुप्ति की उत्कृष्ट साधना नहीं हो सके और जघन्य या मध्यम साधना के चलते आयुष्य का बन्ध हो, तो वह भी केवल वैमानिक देव का–सुख से भोगने योग्य–बंध होता है।

गुप्ति एक प्रकार का ऐसा सुदृढ़ किला है–जो भयंकर शत्रुओं से भी अपने आत्म रूपी भव्य नरेश की रक्षा करता है।

यद्यपि महाव्रतों के पूर्ण पालक के ये तीनों गुप्तियाँ होती है (क्योंकि जो महाव्रती है, वह गुप्ति वंत होता है) तथापि महाव्रतों की अपेक्षा गुप्ति में कुछ विशेषता है। महाव्रत तो मुख्यतः पाँच प्रकार के ही पापों की प्रतिज्ञा करवाते हैं, किन्तु गुप्ति में तो सभी–अठारह पापों से रक्षा हो जाती है। इतना ही नहीं, अनावश्यक उठने, बैठने, बोलने, चलने, फिरने और सोने की भी रोक होती है। इस प्रकार संसार रूपी समुद्र में गोते खाते हुए जीव की रक्षा करने में गुप्ति पूर्ण रूप से समर्थ है। इसी

लिए इसे (समिति के साथ) माता के समान रक्षिका का पद मिला है। यह प्रवचन की आदि माता है। मोक्ष के महान् सुखों की देने वाली महामाया यही है। जो इस महामाया की रक्षा में रहता है, वह महान् बलशाली मोहराज को परास्त कर के विजयी होता है और मोक्ष के महान् सुखों का स्वामी होता है (उत्तरा. २७-२४)।

गुप्ति की साधना में पहले अशुभ प्रवृत्ति की रोक होती है। जिन कार्यों से, जिन वचनों से और जिन विचारों से आत्मा कलुषित हो, हिंसा-मृषादि बुरे और सावद्य योग वाला बने, उन सभी प्रवृत्तियों की रोक, गुप्ति की साधना करते समय हो जाती है। यद्यपि आंशिक रूप में गुप्ति की साधना तो गृहस्थ श्रमणोपासक के भी होती है। वह अमुक अंश में अशुभ प्रवृत्ति से विरत होता है, किन्तु छठे गुणस्थान वर्ती श्रमण को तो सभी प्रकार की पापमय तथा सावद्य प्रवृत्ति से (जिनमें पाप का किंचित् भी अंश हो) सर्वथा विरत होना ही पड़ता है। इसीलिए श्री उत्तराध्ययन अ. २४ की २६ वीं गाथा में यह विधान किया है कि "सभी प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति से मन, वचन और काया से निवृत्त होने के लिए गुप्ति का विधान किया गया है।"

गुप्ति के धारक की क्रोधादि कषायें भी नियन्त्रण में रहती है। उस पवित्रात्मा की वाणी नपी-तुली और गुण-वर्धक ही होती है। वह सावद्य वचन नहीं बोलता और अनावश्यक तथा बिना यतना के एक पाँव भी नहीं उठाता। गुप्ति के धारक महात्मा, विश्वभर में दौड़ते हुए अपने मन रूपी महान् वेगवान अल्हड़ अश्व को, गुप्ति रूपी लगाम लगा कर वश में रखते हैं (उत्तरा. २३) और अपनी आत्मा में ज्ञान-ध्यान की ज्योति जगाने में ही लगे रहते हैं, जिसे आगमों में "अप्पाणं भावेमाणे विहरई" शब्दों में अनेक स्थानों पर लिखा है। ऐसे आत्मभावी पुरुष की आत्म-स्थिरता बढ़ती जाती है। वह अपने मन को अनन्त पर वस्तुओं से खींच कर मर्यादा में बाँध लेता है। जितनी पर वस्तुओं से जितने प्रमाण में उसकी विरति हुई, उतने प्रमाण में उसकी स्थिरता एवं शान्ति बढ़ी। बढ़ते-बढ़ते वह इतनी बढ़ती है और ऐसी सबल हो जाती है कि जिससे कर्मों के बन्धन, थर के थर प्रति-समय टूटते जाते हैं और वह पवित्रात्मा, श्रेणी पर आरूढ़ हो कर साधक से साध्य बन जाती है (उत्तरा. २९) यह है गुप्ति का महत्व।

गृहवास को त्याग कर अनगार बनने वाले श्रमण-भगवंतों को उसी समय से गुप्ति की साधना करनी पड़ती है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ. २४ में गुप्ति की साधना इस प्रकार बतलाई है—

(१) **मनो गुप्ति**—संरंभ, समारंभ और आरम्भ में जाते हुए मन को नियन्त्रण में रखे।

संरंभ मन—दूसरों को कष्ट पहुँचाने का विचार करना, दूसरे का अहित हो—इस प्रकार का भाव होना—मन संरंभ है।

समारंभ—दूसरे को हानि पहुँचाने की तरकीब सोचना, उसके साधनों सम्बन्धी विचार करना अथवा पीड़ा पहुँचाने के लिए उच्चाटनादि करने वाला ध्यान करना।

आरम्भ–अन्य को दुःख पहुँचाने या नष्ट कर देने जैसी अधमाधम कोटि की मन की परिणति हो जाना।

इस प्रकार मन की अशुभ, अशुभतर और अशुभतम परिणति की ओर मन को नहीं जाने देना ही मनोगुप्ति है। दूसरे शब्दों में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करना मनोगुप्ति है।

(२) **वचन गुप्ति**–संरंभ, समारंभ और आरम्भकारी वचन नहीं बोलना।

संरंभ वचन–किसी को कष्ट पहुँचाने का वचन द्वारा विचार प्रकट करना अथवा ऐसी बात कहना जिससे दूसरे को कष्ट देने का आभास होता हो या अपने संकल्प की अभिव्यक्ति होती हो।

समारम्भक वचन–किसी को पीड़ा उत्पन्न करने वाला कठोर वचन कहना, वैसे मन्त्रों का उच्चारण करना अथवा गाली देना।

आरम्भक वचन–ऐसे वचन बोलना कि जिसके कारण किसी को आत्मघात करना पड़े, या किसी को मारने आदि की आज्ञा देना। इस प्रकार वचन की अशुभ, अशुभतर और अशुभतम प्रवृत्ति को रोकना–वचन गुप्ति है। निन्दा, विकथा का त्याग करना–वचन गुप्ति है।

(३) **काय गुप्ति**–खड़ा होने, बैठने, उठने, सोने, लांघने, चलने और श्रोतादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति में शरीर को संरंभ समारंभ और आरंभ से रोकना–कायगुप्ति है।

संरंभ–किसी को मारने पिटने के लिए तत्पर होना।

समारंभ–मार पीट करना।

आरम्भ–प्राण रहित करने का प्रयत्न करना।

शरीर द्वारा किसी भी प्रकार की अयतना नहीं होने देना कायगुप्ति है।

उपरोक्त व्याख्या में हिंसा को मुख्यता दी है, किन्तु मृषा, अदत्त आदि अठारह पापों के विषय में भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। मन, वचन और शरीर की किसी भी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति को रोकना, गुप्ति का पालन है। यदि हिंसा नहीं करे और झूठ बोले या अदत्त ग्रहण करे, तो यह भी गुप्ति का अपालन=भंग ही होगा और अपनी आत्मा की भाव-हिंसा तो होगी ही। अतएव संक्षेप में यही सिद्धांत है कि "मन, वचन और शरीर की सभी प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना–गुप्ति है।"

'गुप्ति' का अर्थ करते हुए श्री अभयदेवसूरि ने ठाणांग ठा. ३ की टीका में लिखा है कि–

"गोपनं गुप्तिः–मनःप्रभृतिनां कुशलानां प्रवर्तन-मकुशलानां च निवर्तन इति।"

अर्थात्–गुप्ति का अर्थ गोपन करना–रोकना है। इससे मन आदि की कुशल–निर्वद्य प्रवृत्ति चालू रहती है और अकुशल–सावद्य प्रवृत्ति की रोक होती है।

जो सम्यग् गुप्त रहेंगे, वे संसार समुद्र से अवश्य ही पार होंगे।

पाँच समिति

यद्यपि गुप्ति का महत्व अत्यधिक है और इसका फल भी महान् है, किन्तु विना समिति के गुप्ति की साधना नहीं हो सकती। गुप्ति निवृत्ति मय है, तो समिति प्रवृत्तिमय है। महान् बलशाली और तीर्थंकर जैसे त्रिलोक पूज्य महर्षि को भी साधक दशा में समिति का सहारा लेना पड़ा। जब तक शरीर है, मन, वचन और काया के योग हैं, तब तक सर्वथा गुप्त-एकान्त निवृत्त रहना असम्भव है। खान-पान हलन-चलन, मन और वाणी का व्यापार तथा आवश्यक वस्तु को लेना-देना और याचना तथा त्याज्य वस्तु का परठना होता ही है। स्वाध्याय वैयावृत्यादि में भी योगों की प्रवृत्ति होती ही है। इसलिए शरीरधारी के लिए एकान्त गुप्ति का पालन नहीं हो सकता। गुप्ति का अत्यंतिक पालन चौदहवें गुण-स्थान में होता है, जहाँ योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है। हमारा भी ध्येय तो उसी अवस्था को प्राप्त कर, अशरीरी, अयोगी, अनाहारी, अक्रिय और अकर्मी होने का है, किन्तु वर्तमान में उस ध्येय को रखते हुए भी पूज्य श्रमण-वर्ग को समिति का आश्रय लेना ही पड़ता है। समिति के आश्रय से अशुभ प्रवृत्ति से बचा जा सकता है।

समिति का उपयोगपूर्वक अनुपालन करता हुआ श्रमण, गुप्तिवंत माना जाता है। पुरातन आचार्य ने कहा है कि--

"समिओ णियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।
कुसलवइमुईरंतो जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि॥"

(स्थानांग ३ टीका में उद्धरित गाथा)

भाव यह है कि जहाँ समिति है वहाँ गुप्ति तो अवश्य है ही, किंतु जहां गुप्ति है, वहाँ समिति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। जिनवाणी का उपदेश अथवा स्वाध्याय करने में निरवद्य वाणी की प्रवृत्ति करता हुआ साधक, वचनगुप्ति का पालक भी है और भाषा समिति का भी। वचन गुप्त इसलिए है कि वह सावद्य वचन प्रवृत्ति से निवृत्त है।

गुप्तिपूर्वक समिति का पालन करता हुआ श्रमण, पवित्रता के साथ संयम का पालन कर सकता है और अपनी आत्मा को हलकी करता हुआ उन्नति साध सकता है।

समिति का अर्थ करते हुए आचार्य अभयदेवसूरिजी ने स्थानांग ५-३ की टीका में लिखा है--

"सम्-एकीभावेनेतिः-प्रवृतिः समितिः शोभनैकाग्रपरिणामस्य चेष्टेत्यर्थः"

अर्थात्-शुभ और एकाग्र परिणामपूर्वक की जाने वाली आगमोक्त प्रवृत्ति को समिति कहते। समिति पाँच है।

१ ईर्या समिति २ भाषा समिति ३ एषणा समिति ४ आदान-भाण्ड-मात्र निक्षेपणा समिति और ५ उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिस्थापनिका समिति।

ईर्या समिति

'ईर्या' का अर्थ-'गमन' होता है। समितिपूर्वक गमन करना-ईर्या समिति है। श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानांग ५-३ की टीका में ईर्या समिति के विशेष अर्थ का उद्धरण इस प्रकार दिया है-

"ईर्यासमितिर्नाम-रथशकटयानवाहनाक्रान्तेषु मार्गेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमनं कर्त्तव्य इति।"

अर्थात्-जो मार्ग, रथ, गाड़े, घोड़े आदि के चलने से प्रासुक-निर्दोष हो गया हो, उसमें सूर्य किरणों के प्रकाश में, युग प्रमाण भूमि को देखते हुए, एकाग्रतापूर्वक चलना-ईर्या समिति कहलाती है।

समितिपूर्वक गमन करना-ईर्या समिति है। किन्तु प्रश्न यह होता है कि 'गमन किस उद्देश्य से करना।' क्या विना उद्देश्य के यों ही फिरते रहना चाहिए ? नहीं, विना उद्देश्य के अथवा अप्रशस्त उद्देश्य से चलना धर्म नहीं है। आगमों में गमन करने के कारण बताये हैं। उत्तराध्ययन अ. २४ में लिखा है कि-'ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिए ईर्या समिति का पालन करे।"

ज्ञान के लिए-वाचना लेने या देने के लिए जाना, स्वाध्याय करने के लिए एकान्त स्थान में जाना और अन्यत्र रहे हुए बहुश्रुत के पास नूतन ज्ञान प्राप्ति के लिए गमनागमन करना।

दर्शन के लिए-दर्शन-विशुद्धि-वृद्धि अथवा शंका निवारण करने के लिए (परमार्थ संस्तव तथा परमार्थ सेवन के लिए) और श्रद्धा-भ्रष्ट तथा कुदर्शनी के संसर्ग से बचने के लिए गमनागमन करना।

चारित्र के लिए-एक स्थान पर रहने से क्षेत्र के साथ बंधन हो जाता है-मोह बढ़ता है और इससे चारित्र की घात होती है; इसलिए विहार करना आवश्यक है। 'शरीर नौका के समान है और जीव है नौका-विहारी-नाविक। संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए जीव को शरीर रूपी नौका की अपेक्षा रखनी पड़ती है और भोजन पानी लेना पड़ता है (उत्तरा० अ० २३-७३) संयमी मुनिराज जो आहार पानी लेते हैं, वह चारित्र पालने के लिए लेते हैं (उत्तरा० २६-३३ तथा ज्ञाता २) और आहार के लिए गमनागमन करना ही पड़ता है। आहार करने वाले को उच्चार-प्रस्रवण भी होता है। अतएव मल त्यागादि के लिए भी गमनागमन करना पड़ता है। संयमी जीवन के ये शारीरिक कार्य भी संयमपूर्वक होते हैं। इनके सिवाय वैयावृत्य के लिए भी गमनागमन होता है। इस प्रकार गमनागमन भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के उद्देश्य से होता है।

श्री उत्तराध्यन अ. २५ में ईर्या समिति की विधि इस प्रकार बताई है–

जो मार्ग निर्दोष हो–जीवादि से रहित हो, ऐसे सुमार्ग पर सूर्य के प्रकाश में चले। आगे चार हाथ + प्रमाण भूमि, उपयोगपूर्वक देखता हुआ चले, जिससे न तो जीवों की विराधना हो और न खुद की–स्वात्म विराधना हो। चलते समय न तो इन्द्रियों के विषयों की ओर आकर्षित हो, न पाँच प्रकार की स्वाध्याय ही करता जाय। अर्थात् मार्ग चलते हुए कहीं इधर-उधर नहीं देखता जाय। आकर्षक दृश्यों में नहीं उलझे, मनोहर शब्दों में लुब्ध नहीं होवे, न सुगन्धादि की अनुकूलता से रुके या अति धीरे और उपयोग-शून्य हो कर चले, और न प्रतिकूल–अनिष्ट विषयों–दुर्गन्धादि से वचने के लिए जल्दी-जल्दी चलने लगे। यद्यपि वाचना, पृच्छादि धर्म के ही कार्य हैं, तथापि ईर्या-समिति के समय इन्हें भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे उपयोग बरावर नहीं रहने से इस समिति का पालन भली प्रकार से नहीं हो सकता।

भगवान् फरमाते हैं कि–हे पुरुष ! तू समिति-गुप्तिवंत हो कर विचर, क्योंकि सूक्ष्म जीवों से मार्ग भरे हुए हैं। (सूय १–२–१–११)

"वर्षा हो कर अपकाय हरितकाय और त्रसकाय के जीवों की उत्पत्ति हो जाय, तो गमनागमन वंद कर के एक ही ग्राम में रह जाय। यदि वर्षा के चार महीने पूर्ण हो जाने पर और वाद के पन्द्रह दिन वीतने पर भी जीव-जन्तु से युक्त मार्ग हो, तो मुनि को विहार नहीं करना चाहिए और जन्तु रहित सामान्य मार्ग होने पर ही विहार करना चाहिए। (आचारांग २–३–१)

गमनागमन करने के बाद मार्ग-दोष निवृत्ति के लिए कायुत्सर्ग किया जाता है। कायुत्सर्ग में रास्ते चलते लगे हुए दोषों का स्मरण कर के मिथ्यादुष्कृत का प्रायश्चित लिया जाता है। मुनि ध्यान में चिंतन करते हैं कि–"रास्ते चलते मैंने प्राण, वीज और हरितकाय को कुचला हो, ओस की बूंदों, कीड़ी-नगरे को, सेवाल=फूलन को, सचित्त जल को, मिट्टी को और मकड़ी के जाले को कुचला हो, इन जीवों की विराधना की हो, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को, सामने आते हुए को रोका हो, धूल आदि से ढक दिया हो, मसल डाला हो, इकट्ठे किये हों, टक्कर लगाकर पीड़ित किये हों, परितापित किये हों, उन्हें किलामना पहुँचाई हो, त्रास दिया हो, एक स्थान से दूसरे स्थान हटाया हो और जीव रहित किये हों–मार डाले हों, तो मेरा यह पाप मिथ्या हो जाय।"

(आवश्यक सूत्र)

इस प्रकार उपयोगपूर्वक और यतना सहित चलने वाले मुनिराज को पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता (दशवै० अ० ४) ईर्या समिति का सम्यक् रूप से पालन करने वाला श्रमण, काय-गुप्ति से युक्त है और जिनाज्ञा का आराधक है।

+ युगमात्र–चार हाथ प्रमाण आगे भूमि देखते हुए चलना–ऐसा आचारांग २–३–१ में भी लिखा है।

१ ईर्या समिति २ भाषा समिति ३ एषणा समिति ४ आदान-भाण्ड-मात्र निक्षेपणा समिति और ५ उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिस्थापनिका समिति ।

ईर्या समिति

'ईर्या' का अर्थ–'गमन' होता है । समितिपूर्वक गमन करना–ईर्या समिति है । श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानांग ५–३ की टीका में ईर्या समिति के विशेष अर्थ का उद्धरण इस प्रकार दिया है–

"ईर्यासमितिर्नाम–रथशकटयानवाहनाक्रान्तेषु मार्गेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु युग-मात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमनं कर्त्तव्य इति ।"

अर्थात्–जो मार्ग, रथ, गाड़े, घोड़े आदि के चलने से प्रासुक–निर्दोष हो गया हो, उसमें सूर्य किरणों के प्रकाश में, युग प्रमाण भूमि को देखते हुए, एकाग्रतापूर्वक चलना–ईर्या समिति कहलाती है।

समितिपूर्वक गमन करना–ईर्या समिति है । किन्तु प्रश्न यह होता है कि 'गमन किस उद्देश्य से करना ।' क्या विना उद्देश्य के यों ही फिरते रहना चाहिए ? नहीं, विना उद्देश्य के अथवा अप्रशस्त उद्देश्य से चलना धर्म नहीं है । आगमों में गमन करने के कारण बताये हैं । उत्तराध्ययन अ. २४ में लिखा है कि–'ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिए ईर्या समिति का पालन करे ।"

ज्ञान के लिए–वाचना लेने या देने के लिए जाना, स्वाध्याय करने के लिए एकान्त स्थान में जाना और अन्यत्र रहे हुए बहुश्रुत के पास नूतन ज्ञान प्राप्ति के लिए गमनागमन करना ।

दर्शन के लिए–दर्शन-विशुद्धि–वृद्धि अथवा शंका निवारण करने के लिए (परमार्थ संस्तव तथा परमार्थ सेवन के लिए) और श्रद्धा-भ्रष्ट तथा कुदर्शनी के संसर्ग से बचने के लिए गमनागमन करना।

चारित्र के लिए–एक स्थान पर रहने से क्षेत्र के साथ बंधन हो जाता है–मोह बढ़ता है और इससे चारित्र की घात होती है; इसलिए विहार करना आवश्यक है । 'शरीर नौका के समान है और जीव है नौका-विहारी–नाविक । संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए जीव को शरीर रूपी नौका की अपेक्षा रखनी पड़ती है और भोजन पानी लेना पड़ता है (उत्तरा० अ० २३–७३) संयमी मुनिराज जो आहार पानी लेते हैं, वह चारित्र पालने के लिए लेते हैं (उत्तरा० २६–३३ तथा ज्ञाता २) और आहार के लिए गमनागमन करना ही पड़ना है । आहार करने वाले को उच्चार-प्रस्रवण भी होता है । अतएव मल त्यागादि के लिए भी गमनागमन करना पड़ता है । संयमी जीवन के ये शारीरिक कार्य भी संयम-पूर्वक होते हैं । इनके सिवाय वैयावृत्य के लिए भी गमनागमन होता है । इस प्रकार गमनागमन भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के उद्देश्य से होता है ।

३ देश कथा–भिन्न-भिन्न देशों के रहन-सहन, खान-पान, बोलचाल, रीति-रिवाज और जलवायु का वर्णन करना, उनके भवन, मन्दिर, तालाब, कुएँ आदि की बातें कहना।

४ राज कथा–राजा के ऋद्धि, सेना, भण्डार और उसके वाहनादि तथा उसकी सवारी आदि का वर्णन करना।

५ मृदुकारुणिकी कथा–पुत्रादि के वियोग से दुखी मातादि के करुणाजनक विलाप से भरी हुई कथा कहना। इसमें सभी प्रकार के इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग से उत्पन्न शोक से होने वाले विलाप की कथा सम्मिलित है।

६ दर्शन-भेदिनी कथा–इस प्रकार की बातें कहना कि जिससे सम्यग्दर्शन का भेद होता हो–सम्यक्त्व में दोष लगता हो अथवा पतन होता हो। जैसे–किसी प्रकार की अतिशय सम्पन्नता के कारण कुतीर्थी की प्रशंसा करना। इस प्रकार की कथा से श्रोताओं की श्रद्धा पलट सकती है।

७ चारित्र-भेदिनी कथा–जिस कथा से चारित्र के प्रति उपेक्षा हो, चारित्र की रुचि कम हो, वैसी चारित्र की निन्दा करने वाली कथा कहना। जैसे कि–"इस पंचम काल में संयम का पालन नहीं हो सकता। महाव्रतों का पालन इस जमाने में कोई कर ही नहीं सकता, क्योंकि अभी सभी साधु प्रमादी हो गए हैं। इस जमाने में ज्ञान और दर्शन के बल पर ही यह तीर्थ चल रहा है।" इस प्रकार की बातों के प्रभाव से, जो साधु चारित्र-परिणति वाले हैं–उनमें भी शिथिलता आ सकती है। इस प्रकार की विकथाएँ नहीं करनी चाहिए (ठाणांग ७)।

भाषा समिति के पालक को नीचे लिखे नियमों का पालन करते रहना चाहिए–

"यदि कोई बात सत्य होते हुए भी कठोर हो, दूसरों के लिए पीड़ाकारी हो, आघात करने वाली हो, तो ऐसी भाषा नहीं बोले" (दशवै० ७–११)।

"अपने या दूसरों के हित के लिए (परोपकार के लिए भी) सावद्य भाषा (जिसमें पाप का अंश भी रहा हुआ हो) नहीं बोले" (दशवै० ७–११ तथा उत्तरा० १–२५)।

जो असंयमी (गृहस्थ अथवा अन्य तीर्थी) हैं, उसे–"आओ, जाओ, बैठो, अमुक काम करो"–ऐसा नहीं कहे। असाधु को साधु नहीं कहे। साधु को ही साधु कहे। (दशवै० ७–४७, ४८)

"शीत-ताप आदि से पीड़ित हो कर वायु, वर्षा, ठंड और गर्मी तथा रोगादि की उपशान्ति कब होगी? धान्य की अच्छी फसल कब होगी? कब सुख-शान्ति वर्तेगी? इस प्रकार की भाषा भी नहीं बोले।" (दशवै० ७–५१)

"सावद्य कार्यों का अनुमोदन करने वाली भाषा नहीं बोले। जिन वचनों से दूसरों का उपघात होता हो, वैसे वचन भी नहीं बोले और क्रोधादि कषायों को उभाड़ने वाली तथा हँसी-मजाक की बातें नहीं कहे।" (दशवै० ७–५४)

"आँखों देखी, परिमित शब्दों वाली, सन्देह रहित, अर्थ को स्पष्ट बताने वाली, प्रकरण के अनुकूल, उद्वेग नहीं करने वाली और मधुर लगने वाली भाषा बोले" (दशवै० ८-४९)।

"नक्षत्र फल, स्वप्न फल, योग, निमित्त, मन्त्र और औषधि आदि गृहस्थों को नहीं बतावे।" (दशवै ८-५१)

"निश्चय-कारिणि भाषा नहीं बोले" (उत्तरा० १-२४)।

"जो बातें निश्चित है, जैसे कि पाप के फल दुःख-दायक हैं, त्याग सुख-दायक होता है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि त्यागने योग्य है। संयम पालने योग्य है। सम्यक् तप से कर्मों की निर्जरा होती है। संवर निर्जरा और मोक्ष एकान्त उपादेय है। मोक्ष में शाश्वत सुख है। मुक्त हो जाने पर फिर जन्म-मरण नहीं होता"-ऐसी बातें तो निश्चित्त रूप से कही जा सकती है, किन्तु जिन विषयों में वक्ता को निश्चय नहीं हो पाया हो, उन विषयों में निश्चयात्मक भाषा बोलना निषिद्ध है, क्योंकि उसमें असत्य की संभावना है (आचारांग २-४-१ तथा सूयग० २-५)।

"साधु वैसी भाषा भी नहीं बोले-जो पाप प्रवृत्तिवाली-सावद्य हो, निन्दाजनक, कर्कश, धमकी से भरी हुई और किसी के गुप्त मर्म को खोलने वाली हो-भले ही वह सत्य हो" (आचारांग २-४-१ तथा बृहद्कल्प उ. ६)

"वचन का वाण लोहे के शूल से भी अधिक दुःखदायक होता है। वह बहुत समय तक दुःख देता रहता है और वैर को बढ़ाने वाला तथा कुगति में डालने वाला है.....जो साधु किसी की निन्दा नहीं करता, दुःखदायक भाषा नहीं बोलता और निश्चयकारी वाणी नहीं बोलता वही पूज्य है। (दशवै० ९-३)

"साधु, बहुत देखता है और बहुत सुनता है, किन्तु वे देखी और सुनी हुई सभी बातें कहने की नहीं होती (दशवै० ८-२०, २१)।

यदि कोई पूछे कि 'दानशाला खोलने में पुण्य होता है या नहीं.' तो साधु, 'पुण्य है, या पुण्य नहीं है'-ऐसा नहीं कहे. क्योंकि "पुण्य है"-ऐसा कहने से दान-सामग्री के उत्पादन में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसलिए "पुण्य है"-ऐसा नहीं कहे, और "पुण्य नहीं है"-ऐसा कहने से पाने वाले को अन्तराय लगती है। जो ऐसे दान की प्रशंसा करते हैं, वे जीवों की घात के इच्छुक हैं और जो निषेध करते हैं, वे पाने वाले की वृत्ति का छेदन करने वाले हैं। इसलिए दोनों प्रकार की भाषा नहीं बोले" (सूयग० १-११)।

"चोर, पारदारिक और हिंसक जीव 'वध्य है या नहीं'-ऐसी भाषा भी साधु नहीं बोले।" (सूय० २-५-३०)

"साधु ऐसे ही वचन बोले कि जिससे मोक्ष-मार्ग में वृद्धि हो-"**संति मग्गं च बूहए।**" (सूय० २-५ ३२)

एषणा समिति

संयमी जीवन चलाने के लिए आहारादि साधन भी निर्दोषतापूर्वक ही प्राप्त करने होते हैं। क्योंकि साधु "परदत्त भोई है" (आचारांग २-७-१) उन्हें आवश्यक वस्तु याचना कर के ही लेनी पड़ती है (उत्तरा० २-२८)। जिनागमों में वे सारे नियम और विधिविधान उपस्थित हैं, जिनकी संयमी जीवन में आवश्यकता होती है। ये विधिविधान इतने निर्दोष हैं कि जिससे किञ्चित् भी दूषण नहीं लगे। एषणा समिति, वस्तु की याचना और उपभोग में लाने की निर्दोष रीति वतलाती है। शरीर के साथ तेजस् की ऐसी भट्टी (जठर) लगी हुई है कि जिसकी पूर्ति के लिए आहार-पानी लेना ही पड़ता है। इस भट्टी का 'क्षुधा वेदनीय कर्म' से गठवन्धन है। यदि भोजन-पानी में किञ्चित् विलम्व हुआ तो व्याकुलता बढ़ जाती है। समता, शान्ति और ज्ञान-ध्यान में बाधा पड़ने लगती है। इसलिए भोजन पानी आदि की आवश्यकता होती है। कर्म-निर्जरा के लिए तप किया जाता है और करना आवश्यक है, किन्तु वह भी वहां तक ही कि जहां तक ज्ञान-ध्यानादि में अन्तरायभूत नहीं हो और आत्मा में शान्ति वनी रहे।

यों तो भूख की भट्टी सभी संसारी प्राणियों के साथ लगी हुई है और सभी जीव आहार प्राप्ति में प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु जैन श्रमण की उन्नत आत्मा धर्म को भूख की भट्टी में नहीं झोंकती। वह अपने नियमों के अनुसार ही क्षुधा शान्त करने का प्रयत्न करती है। निर्ग्रंथ मुनि, मरना मन्जूर कर लेगा, किन्तु भूख के लिए अपने धर्म को दांव पर नहीं लगायगा।

आहार क्यों करते हैं?

आहार करने के निम्न छः कारण श्री ठाणांग ६ में तथा उत्तराध्ययन अ. २६ गा० ३३ में इस प्रकार वताये हैं।

(१) क्षुधा वेदनीय = भूख को मिटाने के लिए, जिससे कि आकुलता नहीं हो और शान्ति वनी रहे।

(२) गुरुजन, तपस्वी और रोगी आदि साधुओं की वैयावृत्य = सेवा करने के लिए।

(३) ईर्या-समिति का पालन करने के लिए। शरीर में शक्ति और मन में शान्ति होगी, तो ईर्यासमिति का पालन भली प्रकार हो सकेगा। प्रतिलेखना प्रमार्जना भी ठीक हो सकेगी।

(४) संयम पालने के लिए-पृथ्वीकायादि सतरह प्रकार का संयम अथवा प्रेक्षा = देखभाल-कर वस्तु लेने रखने में यतनापूर्वक वर्तने या संयमी जीवन पालन के लिए।

(५) अपने प्राणों की रक्षा के लिए।

(६) धर्म-चिन्तन के लिए—आर्त्तध्यान को टाल कर धर्म ध्यान में शान्तिपूर्वक लगे रहने के लिए।

उपरोक्त छः कारणों से निर्ग्रथ मुनि आहार करते हैं। आचारांग १-३-३ में लिखा है कि 'संयम निर्वाह के उपयुक्त आहार करे—"**जाया मायाइ जावए,**" तथा सूयगडांग सूत्र अ. ७ गा० २९ में लिखा है कि मुनि संयम की रक्षा के लिए आहार करे—"**भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा।**" दशवैकालिक ५-१-९२ में लिखा कि "संयम पाल कर मोक्ष जाने के लिए ही आहारादि से शरीर टिकाने का भगवान् महावीर प्रभु ने निर्देश किया है। साधु आहार तो करते हैं, किन्तु 'आहार करना ही चाहिए'-ऐसा उनका नियम नहीं है। वे आहार करते हैं, उसी प्रकार आहार छोड़ना भी जानते हैं। उनके आहार-त्याग के निम्न छः कारण, उत्तराध्ययन में इसके बाद ही बतलाये हैं।

(१) रोगोत्पत्ति हो जाने पर।

(२) उपसर्ग-संकट उपस्थित होने पर

(३) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए। मानसिक अथवा इन्द्रिय सम्बन्धी विकार उत्पन्न होने पर आहार छोड़ कर तप करना, जिससे तप की अग्नि में विकार भस्म हो जाय।

(४) जीवों की रक्षा के लिए। मार्ग आदि में जीव की उत्पत्ति हो, मार्ग जीवाच्छादित हो, वर्षा हो रही हो, इत्यादि कारणों से जीवों की रक्षा के हेतु—महाव्रत एवं संयम की रक्षा के लिए—आहार छोड़ना पड़े तो।

(५) तप करने के लिए। यों तो हमारे पूज्य मुनिराज सदैव तप करते रहते हैं। (दशवै० ६-२३) नमुकारसी आदि तथा उणोदरी आदि तप करते रहते हैं, किन्तु जब वे कर्मों की विशेष निर्जरा के लिए तत्पर हो जाते हैं, तो उनका साहस प्रखर हो जाता है। वे महीनों तक भोजन का त्याग कर देते हैं।

(६) शरीर त्यागने के लिए—जब शरीर त्याग करना हो, तो अन्त समय की संलेषणा करने के लिए आहार का त्याग किया जाता है। शरीर का त्याग या तो धर्म-रक्षा = महाव्रतादि की रक्षा के लिए होता है, या फिर शरीर की शक्ति अत्यंत क्षिण हो जाने से और मृत्यु समय निकट आ जाने से किया जाता है। इस प्रकार आहारादि त्याग कर, किया हुआ तप ही धर्म-मय तप होता है।

आहार की निर्दोष विधि

जैन-श्रमणों की आहार-विधि इतनी निर्दोष होती है कि जिससे हजारों की संख्या में होते हुए भी वे श्रमण किसी पर भार रूप नहीं होते और उनके खाने-पीने का खर्चा किसी के लिए खटकने जैसा नहीं होना । इस पवित्र श्रमण संस्था के नियम कितने पवित्र हैं, जरा देखिये तो–

"जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस ले कर अपनी तृप्ति करता है और उससे पुष्प को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार साधु भी गृहस्थों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेवे, जिससे गृहस्थ को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो और उसकी भी पूर्ति हो जाय" (दशवै० १) ।

निर्दोष भिक्षाचरी को 'माधुकरी' भी कहते हैं, माधुकरी का अर्थ है–'भ्रमर के समान निर्दोष वृत्ति ।' इसका प्रख्यात नाम 'गोचरी' भी है। गाय चरती है तो वह घास को जड़ से नहीं उखाड़ लेती, वह इतना ही तोड़ती है कि जिससे घास नष्ट नहीं होता और उसकी वृद्धि में भी रुकावट नहीं होती । 'गधा' तो उसे जड़ से ही उखाड़ कर नष्ट कर देता है। गधे की अपेक्षा गाय का चरना सुन्दर है, फिर भी गाय के खाने से घास को किलामना अवश्य होती है, उसकी हिंसा होती ही है, किंतु श्रमण की गोचरी में किंचित् भी हिंसा नहीं होती । किसी को भी दुःख नहीं होना । दाता बड़े आदर और भक्ति भाव से–प्रशस्त भावों से, शुद्ध आहार देता है और श्रमण भी तभी लेते हैं जब कि वह आहार शुद्ध हो और दाता देने का अधिकारी हो तथा विना किसी दबाव के खुशी से देता हो। ऐसे दान की तुलना पूर्णरूप से किसी भी वृत्ति से नहीं की जाती ।

एषणा समिति के तीन भेद

१ गवेषणैषणा–शुद्ध आहारादि की खोज करना ।

२ ग्रहणैषणा–निर्दोष आहारादि ग्रहण करना ।

३ परिभोगैषणा–उपभोग करते समय के दोषों को टालना। इसका दूसरा नाम "ग्रासैषणा" भी है।

उपरोक्त तीनों प्रकार की एषणा का पालन तभी होता है जब की इसमें लगने वाले दोषों को टाला जाय। आहारादि के उद्गम आदि ४७ दोष प्रसिद्ध है और पूर्वाचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति आदि अनेक ग्रंथों में, एक ही स्थान पर वर्णन किये हैं। ये दोष आगमों के मूल पाठ में भी वर्णित हैं, किन्तु एक स्थान पर सभी नहीं मिलते। यहां हम उन दोषों को आगमों के आधार से उपस्थित करते हैं। आहारादि की प्राप्ति में टालने योग्य दोष कौन-कौन-से हैं, इस पर विचार करने पर निर्ग्रंथों की जीवन-चर्या की पवित्रता समझ में आ सके गी ।

उद्गम के १६ दोष

१ आधाकर्म *–किसी साधु के निमित्त से आहार आदि बना कर देना (आचारांग २-१-२ तथा दशा० २)।

२ औद्देशिक +–जिस साधु के लिए आहारादि बना है, उसके लिए तो वह आधाकर्मी है, किन्तु दूसरों के लिए वह औद्देशिक है। ऐसे आहार को दूसरे साधु लें, अथवा अन्य याचकों के लिए बनाये हुए आहार में से या फिर अपने लिए बनते हुए आहार में साधुओं के लिए भी सामग्री मिला कर बनाया हो, ऐसे आहार में से लेना (दशवै० ५-१-५५ तथा आचा० २-१-१)।

३ पूतिकर्म–शुद्ध आहार में आधाकर्मी आदि दूषित आहार का कुछ अंश मिलाना–पूतिकर्म–पूर्तिकर्म है (दशवै० ५-१-५५ तथा सूत्रकृतांग १-१-३-१)

४ मिश्रजात–अपने और साधुओं–याचकों के लिए एक साथ बनाया हुआ आहार। इसके तीन भेद हैं–१ यावदर्थिक–अपने और याचकों के लिए बनाया हुआ। २ पाखंडमिश्र–अपने और अन्य साधु सन्यासियों के लिए बनाया हुआ तथा ३ साधु मिश्र–अपने और साधुओं के लिए बनाया हुआ (प्रश्नव्या० २-५ भगव० ९-३३)।

५ स्थापना–साधु को देने के लिए अलग रख छोड़ना (प्रश्नव्या० २-५)।

६ पाहुडिया–साधु को अच्छा आहार देने के लिए मेहमान अथवा मेहमानदारी के समय को आगे पीछे करे (प्रश्नव्या० २-५)।

७ प्रादुष्करण–अंधेरे में रक्खी हुई वस्तु को प्रकाश में ला कर देना, अथवा अन्धेरे स्थान की खिड़की आदि खोल कर प्रकाशित करके देना (प्रश्नव्या० २-५)।

८ क्रीत–साधु के लिए खरीद कर देना (दशवै० ५-१-५५ आचा० २-१-१)

९ प्रामीत्य–उधार लेकर साधु को देना (" ")

१० परिवर्तित–साधु के लिए पलटा–अदलबदल कर के ली हुई वस्तु देना।

(निशीथ उ० १४-१८-१९)

---

* यह दोष चार प्रकार से लगता है–१ आधाकर्मी आहारादि सेवन करने से २ आधाकर्मी के लिए निमन्त्रण स्वीकार करने से ३ आधाकर्मी आहारादि करने वालों के साथ रहने और ४ आधाकर्मी आहारादि करने वालों की प्रशंसा करने से।

+ इसके भी उद्दिष्ट, कृत और कर्म–यों तीन भेद हैं, तथा प्रत्येक के उद्देश, समुद्देश, समादेश और आदेश यों चार भेद हैं।

११ अभिहृत–साधु के लिए वस्तु को अन्यत्र लेजा कर अथवा साधु के सामने लेजा कर देना।
(दशवै० ३–२ आचा० २–१–१)

१२ उद्भिन्न–वर्तन में रख कर, लेप आदि लगा कर वंद की हुई वस्तु को साधु के लिए खोल कर देना (दशवै० ५–१–४५ आचा० २–१–७)।

१३ मालापहृत–ऊँचे माल पर, नीचे भूमिगृह में तथा तिरछे ऐसी जगह वस्तु रखी हो कि जहाँ से सरलता से नहीं ली जा सके और उसे लेने के लिए निसरणी आदि पर चढ़ना पड़े, तो ऐसी वस्तु प्राप्त करना–मालापहृत दोष है (दशवै० ५–१–६७ आचा० २–१–७)।

१४ अच्छेद्य–निर्बल अथवा अधीनस्थ से छीन कर देना (आचा० २–१–१ दशा० २)।

१५ अनिसृष्ठ–भागीदारी की वस्तु, किसी भागीदार की विना इच्छा के दी जाय।
(दशवै० ५–१–३७)

१६ अध्यवपूरक–साधुओं का ग्राम में आगमन सुन कर वनते हुए भोजन में कुछ सामग्री वढ़ाना।
(दशवै० ५–१–५५)

उद्गम के ये सोलह दोष, गृहस्थ–दाता से लगते हैं। श्रमण का कर्त्तव्य है कि वह गवेषणा करते समय उपरोक्त दोषों को नहीं लगने देने का ध्यान रखे।

उत्पादन के १६ दोष

निम्न लिखित सोलह दोष, साधु के द्वारा लगाये जाते हैं। ये दोष निशीथसूत्र के १३ वें उद्देशे में लिखे हैं और कुछ अन्यत्र भी कहीं-कहीं मिलते हैं।

१ धात्रीकर्म–वच्चे की सार-सम्भाल कर के आहार प्राप्त करना अथवा किसी के यहाँ धाय की नियुक्ति करवा कर आहार लेना।

२ दूति कर्म–एक का सन्देश दूसरे को पहुँचा कर आहार लेना।

३ निमित्त–भूत भविष्य और वर्तमान के शुभाशुभ निमित्त वता कर लेना।

४ आजीव–अपनी जाति अथवा कुल आदि बता कर लेना।

५ वनीपक–दीनता प्रकट कर के लेना।

६ चिकित्सा–औषधी कर के या वता कर लेना।

७ क्रोध–क्रोध कर के अथवा शाप देने का भय वता कर लेना।

८ मान–अभिमानपूर्वक-अपना प्रभाव वता कर लेना।

९ माया–कपट का सेवन–वंचना कर के लेना।

१० लोभ–लोलुपता से अच्छी वस्तु अधिक लेना। उसके लिए इधर-उधर गवेषणा करना।

११ पूर्वपश्चात् संस्तव–आहारादि लेने के पूर्व या बाद में दाता की प्रशंसा करना।

१२ विद्या–चमत्कारिक विद्या का प्रयोग कर के अथवा विद्या-देवी की साधना कर के, उसके प्रयोग से वस्तु प्राप्त करना।

१३ मन्त्र–मन्त्र प्रयोग से आश्चर्य उत्पन्न कर के लेना।

१४ चूर्ण–चमत्कारिक चूर्ण का प्रयोग कर के लेना।

१५ योग–योग के चमत्कार अथवा सिद्धियाँ बता कर लेना।

१६ मूल कर्म–गर्भ-स्तंभन गर्भाधान अथवा गर्भपात जैसे पापकारी औषधादि बता कर प्राप्त करना (प्रश्नव्या० १–२ तथा २–१)।

य सोलह दोष साधु से लगते हैं। ऐसे दोषों के सेवन करने वाले का संयम सुरक्षित नहीं रहता। सुसाधु इन दोषों से दूर ही रहते हैं। उद्गम और उत्पादन के कुल ३२ दोषों का समावेश "गवेषणैषणा" में है।

ग्रहणैषणा के १० दोष

नीचे लिखे दस दोष, साधु और गृहस्थ दोनों से लगते हैं। ये "ग्रहणैषणा" के दोष हैं।

१ संकित–दोष की शंका होने पर लेना (दशवै० ५–१–४४ आचा० २–१०–२)।

२ म्रक्षित-देते समय हाथ, आहार या भाजन का सचित्त पानी आदि से युक्त होना अथवा संघट्टा होना (दशवै० ५–१–३३)।

३ निक्षिप्त–सचित्त वस्तु पर रखी हुई अचित्त वस्तु देना (दशवै० ५–१–३०)।

४ पिहित–सचित्त वस्तु से ढकी हुई अचित्त वस्तु देना (उपास०–१)।

५ साहरिय–जिस पात्र में दूषित वस्तु पड़ी हो, उसमें से दूषित वस्तु को अलग करके उसी बरतन से देना (दशवै० ५–१–३०)।

६ दायग–जो दान देने के लिए अयोग्य है, ऐसे बालक, अंधे, गर्भवती आदि के हाथ से लेना अशुद्ध दायक से लेना कल्पनीय नहीं है (दशवै० ५–१–४० से)।

७ उन्मिश्र–मिश्र–कुछ कच्चा और कुछ पका अथवा सचित्त-अचित्त मिश्रित, अथवा सचित्त या मिश्र के साथ मिला हुआ अचित्त आहार लेना (दशवै० ३–६)।

८ अपरिणत–जिसमें पूर्णरूप से शस्त्र परिणत न हुआ हो–जो पूर्ण रूप से पका नहीं हो, उसे लेना (दशवै० ५–२–२३)।

९ लिप्त—जिस वस्तु के लेने से हाथ या पात्र में लेप लगे, जैसे दही आदि अथवा तुरन्त की लीपी हुई गीली भूमि को लांघते हुए देवे तो (दशवै० ५-१-२१)।

१० छर्दित—जिसके छींटे नीचे गिरते हों, ऐसी दाल आदि को टपकाते हुए देवे तो (प्रश्नव्या० २-५)।

उपरोक्त दस दोष साधु और गृहस्थ दोनों से लगते हैं।

परिभोगैषणा के ५ दोष

१ अंगार दोष—निर्दोष आहार को भी लोलुपता सहित खाना, रस-गृद्ध होना। लोलुपता संयम में आग लगाने वाली होती है (भगवती ७-१)।

२ धूम दोष—स्वाद रहित—अरुचिकर आहार की या दाता की निन्दा करते हुए खाना। इसमें संयम धूमित हो जाता है (भगवती ७-१)।

३ संयोजना दोष—स्वाद बढ़ाने के लिए एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाना, जैसे—दूध में शक्कर। (भगवती ७-१)

४ अप्रमाण—प्रमाण से अधिक आहार करना। " "

५ अकारण—आहार करने के छः कारण उत्तराध्ययन अ. २६ गा. ३३ में बताये हैं, उनमें से कोई भी कारण नहीं होने पर भी स्वाद अथवा पुष्टि आदि के लिए आहार करना। ज्ञानादि की आराधना के लिए आहार करना विहित है, लोलुपता या शारीरिक बल बढ़ाने के लिए नहीं (ज्ञाता. ८)।

उद्गम के १६, उत्पादन के १६, ग्रहणैषणा के १० और परिभोगैषणा (माँडले) के ५, यों ४७ दोष हुए। इन सेंतालीस दोषों को हटा कर जो शुद्ध आहार करते हैं, वे जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा के आराधक हैं।

अन्य दोष

उपरोक्त ४७ दोषों के सिवाय भी आगमों में अन्य कई दोषों का वर्णन है। यहां वे भी यथा मति दिये जा रहे हैं।

४८ दानार्थ—दान के लिए निकाले हुए आहार को लेवे, तो दोष लगे (दशवै० ५-१-४७)।

४९ पुण्यार्थ—मृत के नाम पर अथवा और किसी निमित्त से, पुण्य के लिए निकाले हुए में से लेवे तो दोष लगे (दशवै० ५-१-४९)।

५० वनीपक–गरीब भिखारियों को देने की वस्तु में से लेवे तो (५–१–५१)
५१ श्रमणार्थ–सन्यासी, जोगी, बौद्ध-भिक्षु आदि के लिए बने हुए में से ले तो (दश० ५–१–५३)
५२ नियाग–आमन्त्रण पा कर वहाँ का आहार लेवे तथा नित्य एक घर से आहार लेवे तो (दशवै० ३–२ आचा० २–१)
५३ शय्यातर पिण्ड–स्थान देने वाले के यहाँ से आहारादि लेवे, तो (दशवै० ३–५ तथा बृह. २)
५४ राजपिण्ड–राजा या ठाकुर के भोजनादि में से लेवे तो (दशवै० ३–३)
५५ किमिच्छक–दानशाला–जहाँ याचक को उसकी जरूरत पूछ कर उसकी इच्छानुसार दिया जाय (दशवै० ३–३)

५६ संघट्ट–सचित्त का संघट्टा करते हुए दे तो (दशवै० ५–१–६१)
५७ बहुउज्झिए–जिसमें खाने का थोड़ा और फेंकने का बहुत हो–ऐसी वस्तु (दशवै० ५–१–७४)
५८ नीच कुल–दुर्गंछनीय कुल–जिनके आचार विचार अत्यन्त हीन और लोक में निन्दित हो उनके यहाँ से लेवे तो। (निशीथ उ० १६)
५९ वर्जित घर–जिसने मना कर दिया हो, उसके घर से लेवे तो। " "
६० अविश्वसनीय घर–जिसका विश्वास नहीं हो, उसके घर से लेवे तो। " "
६१ पूर्व कर्म–देने के पूर्व सचित्त जल से हाथ या पात्रादि धोकर दे तो (दशवै० ५–१–३२)।
६२ पश्चात् कर्म–देने के बाद हाथ आदि धोवे या अन्य प्रकार से दोष लगाने की सम्भावना हो तो वह पश्चात् कर्म दोष है (दशवै० ५–१–३५)।

६३ नशीली वस्तु–मदिरा आदि (दशवै० ५–२–६६)।
६४ एलग–बैठे हुए बकरे को लांघ कर या हटा कर आहार लेना (दशवै० ५–१–२२)।
६५ श्वान–कुत्ते को लांघ कर या हटा कर जाना। " "
६६ दारग–बच्चे को लांघ कर या हटा कर जाना। " "
६७ वच्छक–गाय के बछड़े को लांघ कर या हटा कर जावे। " "
६८ अवगाहक–सचित्त पानी में चल कर ला कर दे (दशवै० ५–१–३१)।
६९ चल कर–सचित्त पानी आदि को हटाते हुए ला कर देवे (दशवै० ५–१–३१)
७० गुर्विणी–जिसका गर्भकाल छः महिने से अधिक का है, वह स्त्री आहार देने के लिए उठे या बैठे, तो वह आहार दूषित है (दशवै० ५–१–४०)।

७१ स्तनपायी–बालक को स्तन-पान कराती हुई स्त्री से लेना (दशवै० ५–१–४२)।
७२ नीचा द्वार–जिसका जाने और निकलने का द्वार नीचा हो, जिसमें जाने-आने से दाता या

साधु को चोट लगने की सम्भावना हो, वहाँ से लेना (दशवै० ५-१-२०)।

७३ अन्धकार-अन्धेरे स्थान से ला कर दे तो " "

७४ क्षेत्रातिक्रांत-सूर्योदय से पूर्व ले कर बाद में उपभोग करे तो (भग० ७-१)।

७५ कालातिक्रान्त-पहले प्रहर का आहार चौथे पहर में खावे तो काल उल्लंघन का दोष लगे। (भग० ७-१)

७६ मार्गातिक्रान्त-दो कोस से आगे ले जा कर आहार पानी करे, तो " "

७७ प्रमाणातिक्रान्त-प्रमाण से अधिक आहार करे " "

७८ कन्तार भक्त-अटवी में भिक्षुकों के निर्वाह के लिए बना हुआ भोजन भाता (भगवती ५-६)।

७९ दुर्भिक्ष भक्त-दुष्काल पीड़ितों को दिए जाने वाले आहार में से। " "

८० वद्दली भक्त-वर्षा की झड़ी लग जाने पर भिक्षुओं के लिए बनाये हुए आहर में से "

८१ ग्लान भक्त-रोगी के लिए बने हुए आहार में से ले तो। " "

८२ संखडी-जीमनवार में से लेवे (आचा० २-१-२)

८३ अन्तरायक-गृहस्थ के घर पहले से याचक खड़े होते हुए भी भिक्षार्थ जाना और आहारादि लेना (आचा० २-१-५)।

८४ फुमेज्ज, वीएज्ज-गर्म आहार को फूंक या पंखे आदि से ठंडा कर के दे तो ऐसा आहार दूषित है (आचा० २-१-७)।

८५ रइयग-मोदक के चुरे से पुनः मोदक-लड्डु बना कर देवे तो (प्रश्नव्या० २-५ भग० ५-६)

८६ पर्यवजात-रूपान्तर कर के देवे। जैसे-दही का मट्ठा या रायता या उसी प्रकार अन्य परिवर्त्तन कर के देवे (प्रश्न० २-५)।

८७ मौखर्य-दाता की प्रशंसा करके प्राप्त किया जाने वाला आहार (प्रश्न २-५)।

८८ स्वयं ग्रहण-अपने आप-दाता की इच्छा बिना ग्रहण किया हुआ। " "

८९ पुकारना-'हे कोई दाता'! इस प्रकार पुकार-पुकार कर याचना करना (निशीथ ३)

९० पासत्थ भक्त-ढीले पासत्थे कुशीलिए का आहार लेना (निशीथ १५)।

९१ अटवी भक्त-वन में भोजन ले कर गये हुए कठियारे अथवा विहार में साथ रहे हुए व्यक्ति से भोजन ले तो (निशीथ० १६)।

९२ घृणित कुल-जिन लोगों का घृणाजनक आचार-विचार है, जिनसे लोग घृणा करते हैं, वैसे कुलों से आहार ले (निशीथ १६ तथा दशवै० ५-१)।

९३ अग्रपिण्ड-सदैव पहले बनी हुई रोटी लेने या सत्र के भोजन करने के पूर्व आहार लेने की वृत्ति। (निशीथ २)

९४ सागारिक निश्राय–शय्यातर का दिलाया हुआ लेना। (निशीथ २)

९५ अन्य तीर्थिक भक्त–अन्य तीर्थी साधु की लाई हुई भिक्षा में से लेना। " "

९३ रक्खणा–दाता के यहाँ रखवाली कर के प्राप्त किया हुआ। (प्रश्न २–१)

९७ सासणा–विद्या पढ़ा कर प्राप्त किया हुआ। "

९८ निन्दना–दाता की निन्दा कर के " "

९९ तर्जना–दाता की ताड़ना कर के " "

१०० गारव–अपनी जाति आदि का गर्व कर के " "

१०१ मित्रता–अपनी मित्रता बतला कर " "

१०२ प्रार्थना–प्रार्थना कर के प्राप्त किया हुआ। "

१०३ सेवा–सेवा कर के दाता से " "

१०४ करुणा–अपनी करुणाजनक स्थिति बता कर लेना। "

१०५ ज्ञाति पिण्ड–अपनी जाति और सम्बन्धियों से ही लिया हुआ (उत्तरा० १७–१९)

१०६ पाहुण भक्त–मेहमानों के लिए बनाया हुआ (ठाणांग ९)।

१०७ अखण्ड–बिना तोड़ी या पीसी हुई वस्तु का आहार करे (निशीथ ४)।

१०८ परिसाडीय–बिखरते हुए देवे तो लेना (दशवै० ५–१)।

१०९ बरसते हुए पानी, धुंअर या पतंग मच्छर आदि अधिक उड़ रहे हों, आँधी चल रही हो, ऐसे समय भिक्षा के लिए जाय (दशवै० ५–१–८)।

११० वेश्या के निवास वाले स्थान के निकट (मुहल्ले में) भिक्षार्थ जाय तो (दशवै ५–१–९)।

इस प्रकार और भी कई प्रकार के निषेधक नियम आगमों में हैं। उपरोक्त नियमों को भावपूर्वक उपयोग सहित पालने वालों का जीवन उच्च कोटि का पवित्र होता है। वे हजारों लाखों हों, तो भी गृहस्थ पर भार रूप नहीं हो सकते। जो गृहस्थों पर भार रूप हो, उसे वास्तविक साधु नहीं माना है।

सूयगडांग सूत्र १–७–२४ में लिखा कि 'जो पेट-भरे स्वाद के वश हो कर सरस आहार के लिए वैसे घरों में जाते हैं, वे आचारवंत साधुओं के शतांश (सौवें हिस्से में) भी नहीं है।"

पुनः सूयग. १–१०–११ में लिखा है कि "जो आधाकर्मी आहार करने की इच्छा करते हैं–ऐसे (कुशीलिए–पासत्थे) का परिचय भी नहीं करे।"

प्रथम अध्ययन के तीसरे उद्देशे गा. १ में तो यहाँ तक लिखा है कि–"आहार में एक कण भी आधाकर्मी हो और वह हजार घर के अन्तर से भी लिया जाय, तो ऐसा साधु न तो साधु ही है और न गृहस्थ ही (वह रूप से साधु और आचार से गृहस्थ है)।

निशीथ सूत्र में तो दूषित आहार करने वालों के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है।

समवायांग २१ तथा दशाश्रुतस्कन्ध २ में "शवल दोष"–चारित्र को चितकबरा अर्थात् दूषित करने वाला बताया।

श्री स्थानांग सूत्र ३–४ में लिखा है कि 'जो साधु, विगयों (घृत, तेल, दूध, दही, गुड़, शक्कर आदि खाने) में लोलुप हो, उसे आगम नहीं पढ़ाना चाहिए–वह सूत्रज्ञान के लिए अयोग्य है।"

परम हितैषी भगवान् फरमाते हैं कि–हे सुश्रमणों! "**अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए**" अर्थात्-थोड़ा खाओ, थोड़ा पीओ और थोड़ा बोलो (सूयग० १–८–२५)।

भोजन करते समय आसक्ति को नष्ट करने–लुब्धता से वचने के लिए जिस जबड़े में ग्रास चवाया जा रहा है, उसी में चवा कर गले उतार ले, परन्तु वायें जवड़े से दाहिने जवड़े में, या दाहिने से वायें में–इधर-उधर अधिक फिरा कर स्वाद लेता हुआ नहीं खाय" (आचारांग १–८–६)।

जिस प्रकार सर्प, बिल में बिलकुल सीधा ही प्रवेश करता है, उसी प्रकार आत्मार्थी मुनि, रसों में गृद्ध नहीं हो कर आहार को (वह रुचिकर हो या अरुचिकर) निगल ले–"**बिलमिव पन्नगभूए**"
(सूय० २–१ भगवती ७–१)

प्रभु ने निर्ग्रंथों को पाँच प्रकार का आहार लेकर साधना को उन्नत बनाने की प्रेरणा दी है। यथा–

१ **अरसाहार**–जिसमें हिंग आदि का संस्कार नहीं हो, वह स्वाद-रहित आहार।
२ **विरसाहार**–जो रस-रहित हो गया हो–पुराने धान्य चावल आदि का।
३ **अन्ताहार**–तुच्छ हल्का, वाल चने आदि का अथवा लाने के वाद बचा हुआ।
४ **प्रान्ताहार**–खराव तुच्छ वर्तन में जमी हुई खुरचन आदि।
५ **रुक्षाहार**–घृतादि की स्निग्धता से रहित–रूखा आहार (ठाणांग ५–१, प्रश्नव्या० २–१ उववाई)

आहार करने की विधि

गृहस्थ से आहार प्राप्त करने के वाद भोजन करने की विधि, प्रश्नव्याकरण सूत्र के संवर द्वार के प्रथम अध्ययन में इस प्रकार बताई है।

"आहार के लिए गया हुआ साधु, थोड़े-थोड़े आहार की गवेषणा करे। गृद्धता रहित, दीनता रहित, विषाद रहित और खिन्नता रहित हो कर सामुदानिक–अनेक घरों से भिक्षा प्राप्त करे। स्थान पर आ कर गुरुजनों के समीप, जाने-आने संबंधी प्रतिक्रमण करे। आहार दिखलावे, फिर गुरु महाराज के निकट या उनके आदेशानुसार अन्य मुनिवर के पास, प्रमाद रहित हो कर, गोचरी में लगे हुए दोषों की आलोचना करे। उसके वाद प्रतिक्रमण–कायुत्सर्ग करे। फिर शान्तिपूर्वक बैठ कर मुहूर्त मात्र

ध्यान करे तथा शुभयोगपूर्वक स्वाध्याय अथवा अनुप्रेक्षा करे (चंचलता को नष्ट करने की यह युक्ति है। इससे बहुत निर्जरा होती है) मन में आर्त्तता नहीं आने देवे और धर्म में स्थिर रखे, समाधि भाव रखे, निर्जरा की भावना से आत्मा को पवित्र रखे। प्रवचन की वत्सलता लिए हुए, वह रत्नाधिक मुनिवरों के पास जा कर उन्हें आहार के लिए निमन्त्रण दे और उन्हें उनकी इच्छानुसार आहार देवे। फिर गुरुजनों की आज्ञा प्राप्त कर, उचित स्थान पर बैठ जाय। इसके बाद मस्तक, मुँह और हाथ आदि शरीर को अच्छी तरह पूंज कर आहार करे। लोलुपता और मूर्च्छा को बिलकुल स्थान नहीं दे। नीरस आहार हो तो उस पर अरुचि नहीं लावे। सरस आहार पर प्रीति नहीं करे। आहार करते समय 'चप चप' तथा 'सु सु' (चाटने या स्वाद व्यक्त करने की अनक्षर ध्वनि) नहीं करे। भोजन में न तो शीघ्रता करे, न बहुत विलम्ब ही करे। झूठन नहीं गिरावे। भोजन पात्र इतना सकड़ा भी नहीं हो जो भीतर से देखा भी नहीं जा सके। भोजन करने का स्थान भी अन्धकार युक्त नहीं हो। आहार को स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें कोई वस्तु नहीं मिलावे और अच्छे की सराहना तथा बुरे आहार की निन्दा नहीं करे।

आहार करने का उद्देश्य

प्रश्नव्याकरण सूत्र के मूल पाठ में आहार करने का जो उद्देश्य बताया है, वह मूल पाठ के शब्दों में पढ़ें। वे शब्द ये हैं,–

"अक्खोवंजणाणुलेवणभूयं, संजमजायामायाणिमित्तं, संजमभारवहणट्ठयाए भुंजेज्जा, पाणधारणट्ठयाए . . : . . . .

जिस प्रकार गाड़ी को ठीक तरह से चलाने के लिए उसकी धुरी में तेलादि स्निग्ध वस्तु का लेप लगाया जाता है और घाव को आराम करने के लिए उस पर लेप किया जाता है, उसी प्रकार साधु भी संयम-यात्रा के निर्वाह की भावना से ही आहार करे अर्थात् संयम में सहायभूत हो सके, उस प्रकार आहार करे (जो भोजन स्वाद करते हुए–लुब्धतापूर्वक अथवा शरीर-वृद्धि आदि पौद्गलिक दृष्टि से किया जाय, वह संयम-वृद्धि का कारण नहीं होता, अपितु संयम-हानि का निमित्त होता है) संयम के भार को वहन करने के लिए और संयमी जीवन चलाने (प्राण धारण करने) के लिए आहार करे।

"अलोले न रसेगिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी॥"

(उत्तराध्ययन ३५–१७)

इस प्रकार पवित्र उद्देश्यपूर्वक आहार करने वाले श्रमण की अन्तरात्मा पवित्र होती है।

आहार के अभिग्रह

निर्ग्रंथ-श्रमण जब आहार लेने के लिए निकलते हैं, तो दाता की इच्छा अथवा नियम के आधीन नहीं होते, किन्तु अपने नियम के अनुसार होने पर ही आहार लेते हैं। सैद्धांतिक नियमों के अतिरिक्त उनके अभिग्रह (विशेष नियम) भी होते हैं। आचारांग २-१-११ तथा ठाणांग ७ में पिंडेषणा के सात प्रकार बताये हैं। वे इस प्रकार हैं-

१ दाता के हाथ और पात्र, किसी वस्तु से लिप्त-खरड़े हुए नहीं हो तो लेना। इसमें भी याचक मुनि को विश्वास हो जाय कि मुझे आहार देने के बाद, दाता हाथ या पात्र को सचित्त जल से धोएगा नहीं, तभी लेते हैं।

२ दाता के हाथ और पात्र निर्दोष वस्तु से लिप्त हों तो लेना। इसका मतलब यह नहीं कि हाथ व पात्र झूठे हों। बनाने या परोसने वाले के हाथ तथा बर्तन खाद्य वस्तु से लिप्त हुए होते हैं।

३ पकाये हुए बर्तन में से बाहर निकाला हुआ आहार लेना। अथवा हाथ लिप्त और पात्र साफ हो, तो लेना।

४ स्निग्धता रहित-भुने हुए चने, सत्तु, चावल की भुनि हुई परवल आदि लेना।

५ थाली में परोसा हुआ, किन्तु भोजन प्रारंभ नहीं किया, उसमें से यदि कोई दाता देने लगे तो लेना।

६ भाजन में से थाली में लेने के लिए चम्मच आदि से निकालते हुए देने लगे तो लेना।

७ जो आहार फेंकने योग्य हो, जिसे कोई भी भिक्षुक, दरिद्री या पशु आदि लेना नहीं चाहे ऐसी बरतन में जमी हुई खुरचण आदि अथवा अधिक सिक कर कड़क बनी हुई रोटी आदि लेना।

उपरोक्त सात प्रकार के अभिग्रह में से किसी एक प्रकार का अभिग्रह कर के गोचरी के लिए निकलते हैं। इसके सिवाय उत्तराध्ययन सूत्र के ३० वें अध्ययन की २२-२३ गाथा में भी अभिग्रह के कुछ नियम बताये हैं। जैसे कि-

"साधु पहले से सोच ले कि दाता, पुरुष होगा तो लूंगा या स्त्री होगा तो लूंगा। अलंकार रहित या अलंकार सहित होगा तो उससे लूंगा। अमुक वर्ण, अमुक वय, अमुक प्रकार के वस्त्र और अमुक प्रकार के भाव प्रदर्शित होगा वहीं से आहार लूंगा। इस प्रकार के अभिग्रहपूर्वक आहार की गवेषणा करने वाले आत्मार्थी निर्ग्रन्थ भी तपस्वी हैं।

शुद्ध भिक्षाचर के विशेषण

निर्ग्रंथों की निर्दोष और प्रशस्त आहार-विधि के कारण, आगमों में उन्हें बहुत ही उच्च विशेषणों से सम्बोधित किया है। पाठक, उन विशेषणों को 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र २-१ के मूल पाठ से देखें।

"उक्खित्तचरएहिं णिक्खित्तचरएहिं, अन्तचरएहि, पन्तचरएहिं, लूहचरएहिं, समुयाणचरएहिं, अण्णइलाएहिं, मोणचरएहिं, संसट्ठकप्पिएहिं, तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं, उवणिएहिं, सुद्धेसणिएहिं, संखादत्तिएहिं, दिट्ठलाभिएहिं, अदिट्ठलाभिएहिं, पुट्ठलाभिएहिं, आयंबिलिएहिं, पुरिमड्ढिएहिं, एक्कासणिएहिं, णिव्विएहिं, भिण्णपिण्डवाइएहिं, परिमियपिण्डवाइएहिं, अन्ताहारेहिं, पन्ताहारेहिं, अरसाहारेहिं, विरसाहारेहिं, लूहाहारेहिं तुच्छाहारेहिं, अन्तजीविहिं, पन्तजीविहिं, लूहजीविहिं, तुच्छजीविहिं, उवसंतजीविहिं, पसंतजीविहिं, विवित्तजीविहिं, अखिरमहुसप्पिएहिं अमज्जमंसाणिएहिं।"

अर्थात्–वे पवित्र निर्ग्रंथ, पकाने के भाजन से बाहर निकाले हुए आहार को लेने वाले, बरतन में रहे हुए आहार को लेने वाले, खाने के बाद बचे हुए आहार के लेने वाले, हलका आहार करने वाले, निःसार ऐसे छिलके या खुरचण का आहार करने वाले, रुक्ष आहार करने वाले, सामुदानिक–बीच में आते हुए गरीब-अमीर सभी घरों से आहार लेने वाले, अज्ञात–जिनसे परिचय नहीं हो-ऐसे घरों से आहार लेने वाले, मौनपूर्वक आहार लेने वाले, जिसके हाथ अथवा पात्र में अन्न लगा हो उससे आहार लेने वाले, जो आहार लेना है, वही हाथ या पात्र के लगा हो तभी लेने वाले, निकट के घरों से आहार लेने का अभिग्रह करने वाले, शुद्ध आहार लेने वाले, दत्तियों की संख्या निर्धारित कर तदनुसार आहार लेने वाले, दिखाई देते हुए स्थान से आहार मिले तो लेने वाले, या पहले देखे हुए व्यक्ति से आहार लेने वाले, पहले नहीं देखे ऐसे व्यक्ति से आहार लेने वाले, पूछने पर ही लेने वाले, आयंबिल तप योग्य आहार लेने वाले, पुरिमड्ढ, एकासन, निवि के तप से युक्त आहार करने वाले, टूटे हुए पिण्ड–रोटी के टुकड़े आदि लेने वाले, परिमित आहार लेने वाले, तुच्छ, हलका, रस-रहित (बिना बघार का) स्वाद रहित, पुराने अन्न का बना हुआ, रूखा और सार-रहित आहार करने वाले, ऐसे तुच्छ और सार-रहित आहार से जीवन चलाने वाले, जिनकी कषायें उपशांत हैं, जिनका जीवन शांतिमय है, जो एकांत साधना मय जीवन बिताते हैं और जो क्षीर, दूध, मधु और घृत के त्यागी हैं–ऐसे मुनिवर पवित्र होते हैं।

गोचरी का समय

साधुओं के लिए साधारणतया दिन के दो प्रहर बीत जाने के बाद गोचरी के लिए निकलने का नियम है। पूर्व-काल के साधु, सूर्योदय के पश्चात्–प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करते

के वाद गोचरी के लिए निकलते थे। समाचारी की विधि बताते हुए उत्तराध्ययन अ० २६ गा० ३२ में भी लिखा है कि–

"**तइयाए पोरिसिए भत्तपाणं गवेसए**"–अर्थात् दो पहर दिन बीत जाने के बाद तीसरे प्रहर में आहार पानी की गवेषणा करे। ग्लान, वृद्ध और तपस्वी के लिए प्रथम प्रहर में भी गवेषणा की जा सकती है (बृह० उ. ४–५) और देश विशेष की रीति के अनुसार काल-मर्यादा आगमानुसार आगे पीछे भी की जा सकती है (दशवै० ५–२ गा० ४ से ६)।

"साधु उतना ही आहार लेवे कि जितने में उसका निर्वाह हो सके और दूसरे को नहीं देना पड़े" (सूयग० १०–९–२३)।

"गृहस्थ से यदि स्थविर ग्लान आदि के लिए आहार लिया हो, तो वह उन्हें ही दे। यदि उनके काम में नहीं आवे, तो पुनः गृहस्थ को जा कर कहे। यदि वह आज्ञा दे, तो स्वयं काम में लेवे। यदि गृहस्थ नहीं मिले, तो उस आहार को परठ दे, किन्तु न तो स्वयं खावे और न किसी अन्य साधु आदि को देवे।" (भगवती ८–६)

"प्रथम प्रहर में लाया हुआ आहार, चौथे प्रहर में नहीं भोगे।"

"दो कोष उपरान्त आहार नहीं ले जावे।" (बृहद्कल्प उ. ४)

"अपने सगे-सम्बन्धियों के यहाँ आहारार्थ जाना हो, तो स्थविर की आज्ञा से जावे।" (व्यवहारसूत्र उ. १)

"जो खा पीकर स्वाध्याय में लीन रहता है, वही भिक्षु है।" (दशवै० १०–९)

"जिधर जीमनवार होता हो, उधर गोचरी के लिए नहीं जावे" (आचा. २–१–२, ३, ४ तथा बृहद्कल्प १)।

"रात को या संध्या को असनादि नहीं लेवे। यदि आवश्यक हो, तो दिन को देखे हुए शय्या-संथारा ले सकते हैं। वस्त्र-पात्रादि भी रात को नहीं लेवे, किन्तु वस्त्र-पात्रादि चोरी में चले जायँ तो ले सकते हैं। (बृहद्० १)

भिक्षाचरी के योग्य कुल

भिक्षाचरी के लिए साधु-साध्वी को गृहस्थों के घर ही जाना पड़ता है और गृहस्थों के भी अपने जातीय एवं सामाजिक नियम होते हैं। इनमें से कई नियम उच्च परम्परा एवं उत्तम संस्कारों की रक्षा करने में उपयोगी होते हैं। यद्यपि भव, गति, आकृति एवं आत्मा आदि से सभी मनुष्य समान होते हैं, फिर भी मनुष्यों में योग्यता, परिणति, आचार-विचार आदि अनेक विषयों में भेद होता है। मनुष्यों के कई वर्ग ऐसे हैं कि जिनके साथ हमारी आचार-विचार एवं योग्यता में स्पष्ट भेद दिखाई देता है। जिस प्रकार पठित-अनपढ़, सभ्य-असभ्य, अल्पज्ञ-विशेषज्ञ और मूर्ख-चतुर में भेद होता है। इनके व्यवहार एवं कार्यकलाप में अन्तर होता है, उसी प्रकार आचार-विचार एवं संस्कारों में भी भेद होता है।

उच्च वर्ण के आचार-विचार-निष्ठ सज्जन का, नीच वर्ण के—आचार-विचार-हीन अन्त्यज से, मानवता, सहिष्णुता, आत्म-सादृश्यतादि से सदयता एवं सहानुभूति रखते हुए भी, समग्ररूप से एकत्व—खान-पान एवं सहवासादि स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया जाय, तो उच्च संस्कारों की समाप्ति होगी।

मनुष्य नई वस्तु की ओर विशेष आकर्षित होता है। जब उसका प्रिय उसे नई वस्तु की विशेषता बता कर ललचावेगा और आग्रह करेगा, तो वह अपने पूर्व संस्कार एवं आचार-विचार पर अधिक दिन नहीं टिक सकेगा। वह प्रारम्भ में हिचकता हुआ उस हीनाचार में प्रवृत्त होगा, किन्तु बाद में तो इतना आगे बढ़ जायगा कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं रहेगी। वर्त्तमान युग में उच्चकुल के श्रीमन्तों और युवकों के दुराचरण का कारण हीनाचार के साधनों—होटल, क्लब एवं सिनेमादि के आकर्षक निमित्त और वैसे लोगों का अभेद सम्पर्क तथा एकत्व है। इसलिए आर्यजनों ने हीनकुल के लोगों से खान-पानादि का जो प्रतिबन्ध रखा, वह उच्च संस्कारों की रक्षा के लिए आवश्यक ही है। उच्च एवं मध्यम वर्ण वाले लोग, जिन हीनाचार वाले कुलों से खान-पानादि सम्बन्ध नहीं रखते, उन कुलों में जैन साधु-साध्वी भी भिक्षाचरी नहीं करते। जैन साधु-साध्वी के भिक्षाचरी करने योग्य कुलों के विषय में श्री आचारांग सूत्र श्रुतस्कन्ध २ अ० १ उ० २ में लिखा है कि—

"भिक्षु-भिक्षुणी भिक्षाचरी के लिये इन कुलों में प्रवेश करे;—

१ उग्र कुल—आरक्षक कुल।

२ भोग कुल—राजा के पूज्य स्थानीय कुल।

३ राजन्य कुल—राजा के मित्रस्थानीय कुल।

४ क्षत्रीय कुल—राष्ट्रकूट—राठौरादि राजपूत।

५ इक्ष्वाकु कुल—भगवान् ऋषभदेवजी का कुल।

६ हरिवंश कुल–भ० अरिष्टनेमिजी का कुल–यादव वंश ।
७ ऐसिय–गोपाल वंश (अहिर, गुर्जर)।
८ वैश्य–वाणिज्यादि व्यवसायक ।
९ गंडाग कुल–नापित कुल ।
१० कोट्टाग कुल–वर्द्धिक–सुथार ।
११ ग्राम-रक्षक कुल–ग्राम रक्षक–ग्राम उद्घोषक ।
१२ बोक्कशालिय–बुनकर ।

इस प्रकार के और भी अन्य कुल से जो गृहस्थ समाज में घृणित नहीं हो, निन्दित नहीं हो, प्रासुक एषणीय आहारादि ग्रहण करे ।

आगमों में ऊँच नीच और मध्यम कुल की गोचरी बतलाई है, वह भी ऐसे ही कुलों में भेद करती है । इसमें सम्पत्तिशाली वर्ग, उच्च कुल में गिना गया है–जहाँ भोजनादि सामग्री उत्तम प्रकार की होती है । मध्यम कुल वे हैं जो साधारण स्थिति के हैं और निम्न श्रेणी के लोगों को नीच कुल में गिना है ।

प्रकरण भिक्षाचरी का है–आहारादि प्राप्ति का । आहार की भी उच्च, मध्यम और निम्न श्रेणियाँ है । उच्च प्रकार का स्वादिष्ठ एवं सरस आहार प्रायः सम्पत्तिशाली उच्चवर्ग में ही मिल सकता है । मध्य श्रेणी का आहार मध्यम वर्ग में और निम्न वर्ग में निम्न कोटि के धान्य का रूखा-सूखा टुकड़ा मिलता है । इन्हीं कुलों में अभेद भाव और रस-गृद्धिता छोड़ कर भिक्षा लेने का विधान है । निर्ग्रंथों को अरस-विरस रूक्षादि निम्न कोटि का आहार निम्न कुलों से मिल सकता है । किन्तु वे उच्चकुल में भी जाते हैं । कई रसनाविजय करने वाले संत, उच्च कुल में जा कर भी वहाँ से वर्त्तन में लगी हुई खुरचन आदि निम्न वस्तु लेते हैं और वृद्ध रोगी आदि कारणिक साधु के लिए पथ्य भी लेते हैं । खास बात यह कि रस-गृद्धिता रहित हो कर उच्च कुल में भी भिक्षाचरी की जा सकती है ।

संसारियों के समान ज्ञाति-भेद निर्ग्रंथ-श्रमणों में नहीं है । जिनधर्म में उच्च कुल के राजा-महाराजा भी दीक्षित हो सकते हैं और निम्न कुल के नापित, बुनकर, ग्वाला आदि भी, और सभी एक साथ आहार कर सकते हैं। रत्नाधिक यदि निम्न कुल का श्रमण हो, तो उच्च कुल के श्रमण को उन्हें वन्दनादि करना होता है । किंतु जो कुल अन्त्यज है, समाज में निन्दित एवं गर्हित माने जाते हैं, उनके यहाँ भिक्षाचारी के लिए जैन साधु-साध्वी नहीं जाते । इसका कारण यह है कि यदि वे गर्हित कुल में भिक्षाचरी के लिए जावें, तो अन्य सभी वर्ग के लोग, उन्हें अपने घरों में नहीं आने दें । क्योंकि अन्य सभी कुल, अन्त्यज कुलों से छूत रखते हैं । अतएव इस झंझट से बचने के लिए वे भी गर्हित कुल की गोचरी नहीं करते । इससे उनके उपासक वर्ग के समक्ष भी किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं

होती।

जैन श्रमण, अन्य भिक्षुओं के समान घर के बाहर खड़े रह कर भिक्षा नहीं लेते। वे रसोई घर के निकट तक पहुँच कर अपनी आँखों से देखते हैं कि कहीं कोई निषिद्ध स्थिति तो नहीं है। यदि वे गर्हित कुलों की भिक्षाचरी करें, तो उन्हें अन्य कुलों का गृह-प्रवेश रुक जाय और विषम स्थिति उत्पन्न हो जाय। इसलिए वे लोक-व्यवहार के विरुद्ध होकर गर्हित कुल की गोचरी नहीं करते। निशीथसूत्र उद्देश १६ सूत्र २७ से ३२ तक में + गर्हित कुलों का अशनादि लेवे तो लघुचौमासिक प्रायश्चित्त विधान किया है।

प्रश्न–साधु तो घृणा–जुगुप्सा जीतने वाला होता है। घृणा मोहनीय कर्म की पाप-प्रकृति के उदय से होती है, तो जिनागम में मनुष्यों के प्रति घृणा करने का विधान कैसे कर दिया? यह पाप को बढ़ावा देना नहीं है क्या?

उत्तर–सूत्रकार ने जुगुप्सा करने का विधान नहीं किया। सूत्रकार ने तो लोक-व्यवहार में प्रवर्त्तमान घृणा का उल्लेख कर, उससे साधु एवं धर्म को बचाने के लिये विधान किया है। यदि साधु इस लोक-व्यवहार का उल्लंघन करे, तो उसके लिए उन गर्हित कुलों के सिवाय शेष कुलों की भिक्षाचरी रुक जाय, निर्दोष भिक्षा दुर्लभ हो जाय, श्रमणोपासक वर्ग के समक्ष भी उलझन खड़ी हो जाय और क्लेशित स्थिति बन कर फूट पड़ जाय, तथा धर्म-प्रचार में भी गतिरोध उत्पन्न हो जाय। जब लोग, साधु से ही गर्हा करने लग जाय, तो वे उसके निकट सरल एवं शुद्ध भाव से आवे ही नहीं, इतना ही नहीं, वे धर्म से भी घृणा करने लग जाय। साधु के निमित्त से ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हो और उनकी साधना निराबाध चलती रहे, इस भावना से उपरोक्त विधान हुआ है।

प्रश्न–जैनधर्म तो जातिवाद का विरोधी है। इसलिए जातिवाद को समाप्त करने के लिए साधुओं को अन्त्यज जाति में भी भिक्षाचरी करनी चाहिए।

उत्तर–जैनधर्म न तो जातिवाद का विरोधी है और न समर्थक। यह विरोधी है तो जाति-कुलादि मद–अभिमान का। जात्यादि मद त्यागने का उपदेश, जैन श्रमण, यथा-प्रसंग देते रहते हैं।

प्रश्न–राष्ट्रपिता म. गांधीजी ने जातिवाद का विरोध किया और सभी मनुष्यों को समान बतलाया। श्री विनोबाजी आदि राष्ट्रनेता भी यही करते हैं और हमारी राष्ट्रीय सरकार ने छुआछूत

+ भाष्यकार ने गर्हित कुल दो प्रकार के बताये हैं–इत्वरिक और यावत्कथिक। इत्वरिक–जिस कुल में सूतक (जन्म) या मृत्यु हो जाय, तो कुछ दिन के लिए वह भी वर्जित गृह है, और जाति एवं कर्म आदि से गर्हित वर्ग-यावत्कथिक–जीवनपर्यन्त वर्जित हैं। भाष्य गा. ५७६० में बताया है कि–दक्षिणापथ में लोहकार कलाल और लाट देश में–नट, वरुड, चर्मकारादि जाति गर्हित है। जो जहाँ गर्हित माना जाय उसे वर्जित करना–"जो जत्थ जुंगिता ....।

को राष्ट्रीय अपराध घोषित किया है। यह स्थिति जैन श्रमणों के लिए बड़ी अनुकूल है। वे यदि प्रयत्न करें, तो लाखों अछूत, जैन बन कर जैनियों की संख्या बढ़ा सकते हैं। इससे जैनधर्म का महान् अभ्युदय हो सकता है और अछूतोद्धार का पुण्य-लाभ भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में पुराने विधानों को पकड़े रहना कहाँ तक उचित हो सकता है?

उत्तर–पूर्वोक्त अछूतोद्धार का मूल हेतु तो राजनैतिक है। एक बड़ी जनसंख्या वाला वर्ग साथ रहे, उसका मत-बल मिले तो सत्ता प्राप्त की जा सकती है। जैन श्रमण का उद्देश्य यह नहीं है। जैन श्रमणों के जीवन में साधना प्रधान है। यद्यपि वह चाहता है कि विश्व के सभी जीव, धर्मी–धर्मोपजीवी बने, परन्तु अपनी संख्या बढ़ाने के लोभ से ऐसा प्रयत्न कभी नहीं किया। संख्या और मत-बल का लक्ष लौकिक है। निर्ग्रंथ धर्म इस ओर आकर्षित नहीं करता। जिनेश्वरों और महान् आत्माओं ने अपनी पक्ष-वृद्धि का प्रयत्न ही नहीं किया। कोई पूर्णरूप से अनुमत हुआ, तो ठीक अन्यथा कोई आवश्यकता नहीं।

दूसरी बात यह है कि धर्म का अभ्युदय जैसेतैसे–नाममात्र के जैनियों से नहीं होता। इस प्रकार के जैनाभास तो धर्मामृत को विषमय बना देते हैं। आज वंश-परम्परा के–जैनकुल में उत्पन्न जैनी भी जब जैनाभास बन रहे हैं, तब ये भौतिकता से आकर्षित तथाकथित–बनावटी जैनी क्या अभ्युदय कर सकेंगे?

अछूतोद्धार का पुण्यलाभ तो उनकी बुरी आदतें और अधम आचार-विचार छुड़ाने से हो सकता है। इस विषय में जैन श्रमणों के उपदेश होते रहते हैं। वे अन्त्यजों को भी प्रेमपूर्वक उपदेश देते हैं।

आगमिक विधान हमारे रक्षक हैं, हमारी आत्मा को अशुभाश्रव से बचाते हैं, उनका पालन हमारे लिए हितकारी है।

जातिवाद का दुरुपयोग बुरा है, इसका सदुपयोग बुरा नहीं होता। जातिमर्यादा सुसंस्कारों और सदाचार की रक्षा करती है। कुसंस्कारों और कदाचार की वृद्धि में वैसे लोगों के साथ विशेष सम्पर्क भी बहुत बड़ा निमित्त बनता है। आज जैनकुलोत्पन्न कई व्यक्तियों में आचार-विचार की हीनता दिखाई एवं सुनाई देती है। इसका मुख्य निमित्त संसर्ग-दोष है। भौतिकवाद इस बात को नहीं मानता। वह अपना सिद्धांत बतलाता है कि–'संसार की सभी वस्तुएँ मनुष्य के भोगोपभोग के लिए बनी है। इसलिए खान-पानादि में अंकुश लगा कर, मनुष्य की स्वाधीनता लूटना अत्याचार है।' इस प्रकार मोह-प्रेरित मनुष्य, उत्तम मर्यादा को तोड़ कर अधिकाधिक स्वच्छन्द बनने में प्रयत्नशील रहता है। वह देह-रोग से बचने के लिए तो वैद्य के परामर्शानुसार भोजन त्याग सकता है, वहाँ वह स्वतन्त्रता का तर्क नहीं करता, परन्तु सदाचार की रक्षा के लिए उत्तम मर्यादा को बन्धन रूप मान कर तोड़ देता है। यह सर्वथा अनुचित है।

प्रश्न—आप यह तो मानते हैं कि हीनकुलोत्पन्न के संसर्ग से आचारहीनता बढ़ती है, तब यह क्यों नहीं मानते कि जैनसाधुओं के संसर्ग से वे हीनाचारी सुधर कर सच्चे अहिंसक, शुद्धाचारी एवं जैन बन जावेंगे ? यह महान् लाभ का कार्य है, या नहीं ?

उत्तर—बिगड़ना जितना सरल, सहज एवं सुगम होता है, उतना सुधरना नहीं होता। वर्षों से साधुओं के प्रेरणास्प्रद उपदेश सुनते हुए भी सभी जैनी साधु नहीं बन सके। इतना ही नहीं, अधिकांश जैनी श्रावकव्रतों के धारक-पालक भी नहीं हो सके, तब जिनकी हीनरुचि बन चुकी है, वह छूटना सरल नहीं हो सकता। सरकारी अंकुश होते हुए भी मदिरापान करने के लिए बम्बई में कितनी काली-करतूते हो रही है ?

भार उठा कर पहाड़ पर चढ़ना कठिन होता है, उतरना नहीं। खाली उतरना तो अत्यन्त सरल होता है। किसी वस्तु को ऊपर चढ़ाने में श्रम करना पड़ता है, किन्तु नीचे गिराना बहुत सरल है। ऊपर का पानी नीचे आना कितना सरल है, किन्तु नीचे का ऊपर जाना कितना कठिन है ? और ऊपर जा कर भी कुछ मार्ग मिला कि टपक कर या धार बांध कर फिर धरती पर आ गिरता है।

वैसे कभी कोई महात्मा अन्त्यज कुल का भी हो सकता है। जैन सिद्धान्त उन्हें वन्दनीय-पूजनीय मान कर नमस्कार के योग्य बतलाता है। वह महान् आत्मा, परमपद पा कर परमात्मा भी बन सकती है। इसमें कोई मतभेद नहीं है। ऐसी आत्माओं का तप, त्याग और चारित्र ही उनका मार्ग प्रशस्त कर देता है, जैसा कि हरीकेशी मुनि का हुआ था।

यदि हजारों-लाखों में से एकाध सुधर भी जाय, तो वह अपवाद मात्र होगा और उसके लिए नियम तोड़ना हितकर नहीं होगा।

तात्पर्य यह कि जुगुप्सनीय कुलों में साधुओं को भिक्षाचरी नहीं करके आगमिक नियमों का पालन करना चाहिए। यही उचित है।

पानैषणा

आहार में जिन दोषों से बचने के नियम बताये गये हैं, वे पानी के लिए भी लागू होते हैं। पानी भी अचित्त और निर्दोष ही होना चाहिए। वह निर्दोष पानी आचारांग २-१-७, ८ के अनुसार निम्न २१ प्रकार का होता है—

१ आटा मसलने के बर्तन आदि का धोया हुआ पानी। २ उबाली हुई भाजी का धोया हुआ पानी ३ चावलों का धोया हुआ पानी ४ तिलों का धोवन ५ तुसों का धोया हुआ ६ जौ का धोवन

७ ओसामन ८ छाछ पर से उतारी हुई आछ + ९ गरम पानी (उद्देशा ७) १० आम का पानी ११ अम्बाड़े का पानी १२ कवीठ का पानी १३ विजोरे का १४ दाखों का धोवन १५ अनारों का धोया हुआ पानी १६ खजूरों का १७ नारियलों का धोया हुआ १८ केर (जो मारवाड़ में होते हैं और शाक बनता है ?) १९ बेर का धोया हुआ २० आँवलों का धोवन और २१ इमली का पानी (उद्देशक ८) इस प्रकार का और भी कोई धोवन हो, तो । २२ गुड़ के घड़े आदि का धोया हुआ पानी (दशवै० ५-१-७५) २३ भुस्से का धोवन (निशीथ १७)।

धोवन के विषय में विधान है कि जो धोवन तुरत का तय्यार हुआ हो, जिसका स्वाद और वर्ण नहीं पलटा हो, उसकी योनी नष्ट नहीं हो गई हो, तो ऐसा पानी सदोष होता है । इसलिए वह लेने योग्य नहीं है, किन्तु जिसे बने हुए लम्बा काल हो गया हो, जिसका स्वाद पलट गया हो और योनि नष्ट हो गई हो, तो ऐसा धोवन लेने योग्य होता है (आचारांग २-१-७) जिस पानी में बीज, छाल आदि सचित्त हो तो वह भी नहीं लेना (आचारांग २-१-८) धोवन अधिक काल का हो और पीने योग्य हो । इस विषय में अच्छीत रह देख कर, पूछ कर और आवश्यकता हो, तो हथेली में थोड़ासा लेकर चखने के बाद, शंका रहित हो, तो लेवे । यदि अति खट्टा, दुर्गन्धयुक्त या प्यास बुझाने योग्य नहीं हो, तो नहीं लेवे और यदि ऐसा अनुपयोगी पानी आ गया हो. तो उसे खुद भी नहीं पीवे और अन्य को भी नहीं देवे, किंतु एकांत निर्दोष स्थान में प्रमार्जन करके परठ देवे (दशवै. ५-१ गा. ७५ से ८१ तक)।

यदि तत्काल का और शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो, वर्णादि नहीं पलटे हों, वैसा पानी लेवे, तो प्रायश्चित आता है (निशीथ १७) ।

वस्त्रैषणा

श्रमण जीवन में वस्त्र होना ही चाहिए-ऐसी बात नहीं है, बिना वस्त्र के भी संयम की आराधना हो सकती है, किन्तु यह साधना अत्यन्त कठिन है । इसमें शरीर-संहनन की दृढ़ता प्रचुर होनी चाहिए । पूर्वकाल में जिनकल्पी ● और कल्पातीत महात्मा वस्त्र-रहित भी रहते थे, किन्तु वर्तमान समय में शरीर-संहनन उतने दृढ़ नहीं है कि सर्वथा वस्त्र-रहित रह कर संयम का ठीक तरह से पालन किया जा सके । पूर्वकाल में जो मुनि, जिनकल्प युक्त विचरते थे, वे शीत से बचने के लिए घास अथवा

+ 'सोवीर' के दूसरे अर्थ में वह पानी भी लिया है, जिसमें लुहार ठठेरे आदि, गर्म लोह या कांसा पीतल आदि बुझाते है ।

● जिनकल्पी कम से कम दो उपकरण-१ रजोहरण और २ मुखवस्त्रिका तो रखते ही हैं ।

पराल के ढेर में नहीं घुसते या साथी गृहस्थों के द्वारा सिगड़ी आदि से शीत का निवारण नहीं करते। इस प्रकार का एकान्त आग्रह भी मिथ्या है कि जहाँ शीत, लज्जा तथा निन्दा का निवारण करने के लिए वस्त्र का एक टुकड़ा हो, तो वहाँ संयम हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति के लिए भोजन और जल तथा शौच के लिए जल रखने के लिए पात्र आदि रखते हुए भी अपरिग्रही रह सकते हैं और शीत से वचने के लिए घास आदि का आश्रय लेकर तथा उपाश्रय (मकान) में रह कर भी परिग्रहधारी नहीं कहलाते, उसी प्रकार शीतादि परीषह निन्दा, और लज्जा निवारण के लिए, उचित मात्रा में शास्त्रीय मर्यादायुक्त वस्त्र रखते हुए भी ममत्व रहित होने से निष्परिग्रही निर्ग्रंथ रह सकते हैं (ठाणांग. ३-३)। इसमें कोई रुकावट नहीं है। दशवैकालिक सूत्र के अ. ६ में लिखा है कि-

> "जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुच्छणं।
> तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंतिअ। २०॥
> न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
> मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२१।

अर्थात्-साधु जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादपोंछन रखते हैं, वे संयम और लज्जा के लिए धारन करते हैं और मूर्च्छा-रहित उपयोग करते हैं। इस प्रकार साधु के उपकरण और वस्त्रादि धारण करना परिग्रह नहीं है। परम तारक भगवान् महावीर ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है-ऐसा गणधर महर्षियों का कहना है।

जैन श्रमण, वस्त्र धारण करते हुए भी निष्परिग्रही माने जाते हैं। इसका कारण यही है कि उनका उद्देश्य 'संयम पालने' का है। वे शीत तथा लज्जा की बाधा को दूर करने के लिए वस्त्र धारण करते हैं और वस्त्र धारण करते हुए भी अचेलक कहे जाते हैं। अचेलक का अर्थ होता है-वस्त्र रहित तथा अल्प वस्त्र वाले।

जिस प्रकार पाँच-पच्चीस रुपये की पूंजी वाले को धनाढ्य नहीं कहते, निर्धन ही कहते हैं, उसी प्रकार अल्प-मूल्य वाले और अल्प-प्रमाण में वस्त्र रखने वाले भी अचेलक कहे जाते हैं। किन्तु जो वहुमूल्य तथा मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते हैं, वे तो अवश्य परिग्रही हैं। श्री आचारांग (२-५-१) में लिखा कि 'जो मुनि युवक हैं, वलिष्ठ और नीरोग हैं, उन्हें तो एक ही वस्त्र लेना चाहिए (टीकाकार इसका संबंध जिनकल्प से जोड़ते हैं) किन्तु अधिक से अधिक तीन वस्त्र तक रख सकते हैं + (प्रश्न० २-५ आचा० १-८-४) इससे अधिक नहीं। अल्प वस्त्र रखने से अथवा वस्त्र नहीं रखने से पाँच गुणों की प्राप्ति होती है। यथा-

---

+ वृहद्कल्प उ० ३ में साधु को अखंड तीन वस्त्र (२४ हाथ वाले) और साध्वी को चार वस्त्र लेने का विधान है।

१ प्रतिलेखना अल्प करनी पड़े, २ लघुभूत–हल्कापन रहे, ३ ममत्व-रहित होने से लोगों के विश्वास-पात्र रहे, ४ तपवृद्धि–कष्ट-सहिष्णुता से, और ५ इन्द्रिय-निग्रह–स्पर्शनेन्द्रियादि परीषह सहन रूप (ठाणांग ५–३)।

वस्त्रधारी स्थविरकल्पी मुनिराज, अल्प-मूल्य, प्रमाण युक्त अल्प, जीर्ण तथा मलिन वस्त्र धारण करते हुए भी अचेलक कहलाते हैं। उक्त सूत्र की टीका में लिखा है कि–"**स्थविरकल्पिकाश्चाल्पाल्प मूल्यसप्रमाणजीर्णमलिनवसनत्वादिति।**"

साधुओं और साध्वियों को गृहस्थ के यहाँ से नियमानुसार वस्त्र माँग कर ही लाना पड़ता है। वे ऐसे ही वस्त्र लावें कि जो जीव-जंतु रहित हो, उपयोगी हो, लम्बे काल तक चलने वाले हो। दाता ने साधुओं के लिए नहीं बनाया हो, न खरीदा हो, न उधार लिया हो, न सुधारा हो, न धोया-धुलाया, रंगा-रंगाया तथा सुगन्धित किया हो। आहार-विधि में बताये हुए दोषों से रहित निर्दोष वस्त्र ही लेना चाहिए। अधिक मूल्य वाला, कोमल, महीन, शोभित (फेन्सी) बढ़िया रेशमी, ऊनी व मलमल, तथा चर्म आदि के वस्त्र नहीं लेना। साधु-साध्वी निम्न प्रकार के वस्त्र ले सकते हैं।

१ ऊन के २ रेशम ३ सन ४ पत्र से बने हुए ५ कपास के और ६ अर्कतूल (आक की रुई) के।

वस्त्र को (विभूषा के लिए) धोना नहीं, रंगना नहीं, धोये और रंगे हुए वस्त्र को पहिनना नहीं। चोरों के भय से छुपाना नहीं। साधु-साध्वी को आपस में वस्त्र उधार देना नहीं, बदला करना नहीं, अशोभनीय जान कर परठना नहीं, या फाड़ना नहीं। चोरी से बचने के लिए मार्ग छोड़ कर उन्मार्ग में जाना नहीं। वस्त्र याचना के लिए दो कोष से अधिक दूर नहीं जाना।

भींजे हुए वस्त्र को, सुखी हुई, जन्तु-रहित भूमि पर सुखाना चाहिए। लकड़ी पर, दरवाजे पर, भींत, माल, खूंटी, या ऐसे कोई साधन पर जो जमीन से ऊँचा हो, नहीं सुखाना चाहिए।

वस्त्र याचने की चार प्रतिज्ञा होती है।

१ ऊन, कपास आदि में से किसी एक प्रकार का वस्त्र याचने की प्रतिज्ञा करना।

२ गृहस्थ के यहाँ देख लेने पर वह देवे, उसमें से अमुक प्रकार का वस्त्र लेना।

३ गृहस्थ का पहना हुआ लेने का निश्चय करके लेना।

४ जिस वस्त्र को कोई रंक भिखारी भी लेना नहीं चाहे, जो फेंकने योग्य हो, वैसा लेने की प्रतिज्ञा करना (आचारांग २–५)।

साधुओं को चोलपट्टक के भीतर लंगोट अथवा जाँघिया नहीं पहनना चाहिये और न चोलपट्टक की लाँग कसनी चाहिए। साध्वी को जाँघिया पहनना चाहिये (बृहद्कल्प ३)।

साध्वी को चार साड़ियें (संघाटिका) रखनी चाहिए। एक दो हाथ की उपाश्रय में पहनने के लिए। तीन हाथ की दो, जिसमें से एक तो स्थंडिल जाते समय और दूसरी गोचरी जावे समय पहनने

की, और एक चार हाथ लंबी, समवसरण में जाते समय पहनने की (ठाणांग ४–१)।

पात्रैषणा

आहार-पानी लाने के लिए पात्र की आवश्यकता भी होती है। कई जिनकल्पी और कल्पातीत महर्षि तो बिना पात्र के ही चला सकते हैं, क्योंकि वे उग्र आचारी हैं। उनके शरीर की दृढ़ता भी सर्वोच्च कोटि की होती है। उनके करसंपुट–मिले हुए हाथ, ऐसे होते हैं कि जिनमें पानी लिया जाय तो भी वह नहीं निकलता। उन्हें किसी रोगी साधु की सेवा करने का प्रसंग ही नहीं आता, क्योंकि वे अकेले रहते हैं। वे आहार पानी गृहस्थ के यहाँ अपने हाथ में लेकर, वहीं खा-पी लेते हैं, किन्तु जो स्थविरकल्पी और अन्य मुनिवरों के साथ रहने वाले हैं, जिनका संहनन कमजोर है, वे विना पात्र के नहीं रह सकते। यदि उनके पास पात्र नहीं हो, तो रोगी, अपंग और अति वृद्ध साधु की आहार-पानी द्वारा वैयावृत्य कैसे करे ? फिर या तो ऐसे साधु को गृहस्थ सम्हाले, या वे यों ही पड़े रहें और साधुओं के लिए "वैयावृत्य" नाम के आभ्यन्तर तप का एक बहुत बड़ा कारण ही नहीं रह सके। अतएव स्थविरकल्पी साधु-साध्वी को पात्र रखना आवश्यक है। यदि आज का साधु, करपात्री बने, तो उसे दुग्ध, दाल आदि प्रवाही वस्तु ही नहीं खानी-पीनी चाहिए। क्योंकि उनके हाथों की अंगुलियों में छिद्र होने से, हाथों में ली हुई प्रवाही वस्तु नीचे टपकती है। उसके रेले उतर कर हाथों की कोहनियों पर होते हुए छाती पर उतरते हैं। उससे शरीर के अंग लिप्त हो जाते हैं और फिर गृहस्थों द्वारा उसे धो कर साफ करना पड़ता है। इस प्रकार की विडम्बना और अयतना का कारण होने से आवश्यकतानुसार कम से कम पात्र रखना उचित है। शौच के लिए तो पात्र रखना ही पड़ता है, फिर आहारादि के लिए एक या दो पात्र अधिक रख ले, तो उसमें साधुता नष्ट नहीं होती। सभी प्रकार के त्यागियों से संयम की साधना हो सके, इसी उद्देश्य से आगमों में वस्त्र-पात्र का विधान हुआ है। बृहद्कल्प उ० ३ में लिखा कि "प्रव्रजित होते समय रजोहरण पात्र और वस्त्र लेना चाहिए।"

पात्र तीन प्रकार के होते हैं–१ काष्ठ के २ तुम्बी के और ३ मिट्टी के। बलवान, युवक और निरोग साधु को एक ही पात्र लेना चाहिए। ऐसे पात्र नहीं लेने चाहिए जो धातु के हों, बहुमूल्य हों। पात्र ग्रहण सम्बन्धी चार प्रतिज्ञाएँ वस्त्रैषणा के समान है और आहार के दोषों की तरह पात्र के दोषों से भी बचना चाहिए (आचारांग २–६)।

अधिक से अधिक तीन पात्र तक रख सकते हैं। इसके सिवाय एक मात्रक (लघुनीत परठने का पात्र) रखने का भी विधान है। (व्यवहार उ. २ में 'पलासग' और दशवै० ४ में 'उंडग' शब्द इसी अर्थ में आया है)

शय्या

अनगार भगवंत, ग्रामानुग्राम विहार करते रहते हैं। विना जंघावल क्षीण हुए अथवा विना रोग ग्रसित हुए, या रुग्ण-वृद्ध मुनियों की सेवादि कारण के विना वे एक स्थान पर स्थायी निवास नहीं करते। वर्षा-ऋतु विताने के लिए चातुर्मास काल (जो अधिक मास हो तो पाँच महिने का) और वाद में भी वर्षा हो तो पन्द्रह दिन अधिक भी रह सकते हैं (आचारांग २-३-१) और १५ दिन पूर्व आये हों, तो यों छः मास भी हो सकते हैं। क्योंकि वर्षा होने के वाद जीवोत्पत्ति हो जाने से विहार करना वन्द किया जाता है (आचारांग २-३-१) चातुर्मास के अतिरिक्त शेषकाल में मुनिराज एक गाँव में एक मास और साध्वीजी दो मास से अधिक नहीं रह सकते (वृहद्कल्प १)। वे विहार करते रहते हैं। फिर भी जहाँ जाते हैं, वहां ठहरने के लिए स्थान तो चाहिए ही। अतएव उनके ठहरने के स्थानों का वर्णन किया जाता है।

१ मुसाफिरखाना २ लोहार का कारखाना ३ देवालय का कमरा ४ देवालय ५ सभागृह ६ पानी की प्याऊ ७ दुकान ८ माल भरने का वखार (गोदाम) ९ रथ आदि वाहन रखने की यानशाला १० वाहन वनाने का कारखाना ११ चूना वनाने का स्थान (सुधागृह ?) १२ दर्भ (घास) का कारखाना (जहाँ घास के गंठे, रस्सी अथवा और कोई चीज वनती है) १६ चमड़े से मढ़ी हुई रस्सियाँ वनाने का स्थान १४ वल्कल=छाल से वनाई जाने वाली चीजों का स्थान १५ वनस्पति का कारखाना १६ कोयला वनाने का कारखाना १७ लकड़ी का कारखाना १८ श्मशान गृह १९ शान्ति कर्म करने के लिए वनी हुई यज्ञशाला २० शून्य घर २१ पर्वत पर वना हुआ घर २२ गुफा २३ पाषाण का वना हुआ मण्डप २४ भवन गृह २५ आरामागार (वगीचे में वना हुआ घर)। इनमें से निर्दोष और याची हुई वसति (स्थान) में अनगार ठहर सकते हैं (आचारांग २-२-२) इसके सिवाय उद्यान और वृक्ष के मूल में भी ठहरने का विधान है (प्रश्नव्या० २-३)।

साधु, विना किंवाड़ वाले स्थान में ठहर सकते हैं, किन्तु साध्वियें नहीं ठहर सकती। जिस मकान में पुरुष रहता हो, उसमें साध्वी नहीं रह सकती, और जिसमें स्त्री रहती हो, उसमें साधु नहीं रह सकते। वे सचित्र मकान में नहीं ठहर सकते। साध्वी, धर्मशाला, राजपथ और जहाँ तीन चार रास्ते मिलते हों ऐसे स्थान पर नहीं रह सकती। (वृहद्कल्प उ० १) साधु, खुले स्थान में ठहर सकते हैं, किंतु साध्वी नहीं ठहर सकती। जिस स्थान में साध्वी रहती हो, वहाँ साधु को जाना, आना, खड़ा रहना और वैठना नहीं कल्पता है (वृहद्कल्प उ० ३)। यदि किसी मकान की दिवाल पर स्त्री का चित्र हो, तो साधु उसे नहीं देखे (दशवै० ८)।

साधुओं के लिए वनाया हुआ, खरीदा हुआ, सुधराया हुआ और लिपाया या साफ किया हुआ

स्थान, उनके लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है। जिस मकान में कंद, मूल, फल, बीज अथवा पाट-पाटले रखे हों और साधु के लिए उन्हें वहाँ से हटा कर अन्यत्र रखा गया हो, तो ऐसा मकान भी दूषित होने से स्वीकार करने योग्य नहीं है।

जिस मकान में गृहस्थ, स्त्री, बच्चे रहते हों, जिसमें खाने-पीने का सामान रहता हो, जिसमें अग्नि प्रज्वलित होती हो तथा जानवर रहते हों, तो ऐसे मकान में साधु-साध्वी नहीं ठहरें। चित्रों से भरपूर मकान में भी नहीं ठहरे। (आचारांग २-२-१ तथा २-७-१)

जिस मकान में सुन्दर चित्रों का आलेखन किया गया हो, उसमें भी साधु-साध्वी को नहीं ठहरना चाहिए (क्योंकि यह मोह-वृद्धि का कारण है) (आचारांग २-२-३, दशवै० ८-५५, ५६ तथा बृहत्कल्प १)।

एषणीय अन्य वस्तुएँ

श्रमण जीवन में आहार-पानी और स्थान के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी उपयोगी होती है। जैसे-

१ रजोहरण-ऊन की फलियों का बना हुआ। इसका उपयोग स्थान, शय्या, पाट और भूमि आदि पूंजने में होता है।

२ मुखवस्त्रिका-बीस अंगुल लम्बे और सोलह अंगुल चौड़े वस्त्र के, आठ परत कर के, धागे से दोनों कानों में अटका कर मुँह पर बाँधी जाती है। इससे बोलते समय मुँह के श्वास के साथ निकली हुई भाषा से वायुकायादि जीवों की यतना होती है और वायु में उड़ कर आते हुए वायुकाया तथा त्रसकाया के जीव (मच्छरादि) और रज, मुँह में प्रवेश नहीं कर सकते।

कम से कम उपरोक्त दो वस्तुएँ तो तीर्थंकर के सिवाय सभी साधु-साध्वी को रखनी ही पड़ती है। जो जिनकल्पी होते हैं, वे भी कम से कम ये दो उपकरण तो रखते ही है (आचारांग १-६-३ टीका तथा वृहद्कल्प भाष्य गा० ३९६२) इसका कारण यह है कि इन दोनों उपकरणों से साधुता की पहिचान तो होती ही है, परंतु स्थावर और त्रसकाय जीवों का संयम (१७ प्रकार के संयम में से) भी पलता है। इनके उपयोग से मुख्यतः प्रथम महाव्रत निर्दोष रूप से पलता है और समितियों का पालन भी भलि प्रकार से होता है। इस प्रकार धर्म पालने में ये उपकरण सहायक होते हैं।

(उत्तरा० २३-३२)

३ चोलपट्टक-अधोवस्त्र-कमर से नीचे गुप्तांग को ढकने का वस्त्र।

४ पात्र-आहार-पानी लाने और खाने-पीने के लिए।

५ वस्त्र–ओढ़ने के लिए–तन ढकने के लिए।

६ कम्वल–शीत से बचने के लिए।

७ आसन–बैठने के स्थान पर बिछाने का वस्त्र।

८ पादपोंछन–पाँव पोंछने का वस्त्र या रजोहरण।

९ शय्या–ठहरने के लिए मकान।

१० संथारा–बिछाने के लिए पराल (घास) आदि।

११ पीठ–बैठने के लिए छोटे पाट–बाजोट।

१२ फलक–सोने के काम में आने वाला बड़ा पाट।

१३ पात्र बन्ध–पात्र बाँधने का वस्त्र।

१४ पात्र स्थापन–पात्र के नीचे बिछाने का वस्त्र।

१५ पात्रकेसरिका–प्रमार्जनी।

१६ पटल–पात्र ढकने का वस्त्र।

१७ रजस्त्राण–पात्र पर लपेटने का वस्त्र।

१८ गोच्छक–पात्र आदि साफ करने का कपड़ा। (यह पात्रकेसरिका का दूसरा नाम तो नहीं है?)

१९ दण्ड–अशक्त अथवा वृद्धावस्था में सहारे के लिए ÷।

उपरोक्त १९ प्रकार के उपकरणों का विधान प्रश्नव्याकरण सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध अ० ३ तथा ५ में आया है।

२० मात्रक–लघुनीति कर के परठने का पात्र। इसे व्यवहार सूत्र उ० २ में 'पलासग' नाम से बताया है। दशवैकालिक अ० ४ में 'उंडग' नाम का उपकरण, उच्चार-प्रश्रवण पठाने के काम में आना लिखा है।

उपर्युक्त उपकरणों में आवश्यक हो उतने ही लिये जाते हैं। जिनकी आवश्यकता नहीं हो,

---

÷ दण्ड नाम का उपकरण सभी के लिए नहीं है और न रजोहरण की तरह सदैव रखने का है। यह कारण से ही रखा जाता है। व्यवहार सूत्र उ. ८ में लिखा है कि 'जो स्थविर, स्थविर-भूमि (स्थविर अवस्था) को प्राप्त हो गये हैं, उन्हें दण्ड, लकड़ी, चर्म आदि रखना कल्पता है।" इससे भी यही स्पष्ट होता है कि दण्ड सकारण ही रखना चाहिए, निष्कारण नहीं। निष्कारण सशक्त अवस्था में व्यर्थ ही उपकरण बढ़ाना, अनुचित और अयतना का कारण है। 'दण्ड से दुष्ट पशु, कुत्ता, सर्पादि तथा कीचड़ और विषम पथ में शरीर और संयमादि की रक्षा होती है' (ओघनिर्युक्ति गा० ७३९) अर्थात् कुत्ता और गाय आदि के लिए भय का कारण है। यह विषम-स्थिति में तो उपयोगी है, किन्तु रजोहरण के समान बिना दण्ड के दो कदम भी नहीं चलना–ऐसी पद्धति के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता।

उन उपकरणों को रखना, अपने को परिग्रही बनाना है। संयम पालने में उपयोगी उपकरण के सिवाय जो विशेष उपकरण हों, उसे "अधिकरण" माना है। (ओघनिर्युक्ति गा० ७४१) अधिकरण 'शस्त्र' को कहते हैं। जहाँ तक हो कम से कम उपकरण रखने वाले 'लघुभूत' होते हैं। उन्हे प्रतिलेखना भी अल्प ही करनी पड़ती है। उनका चारित्र निर्मल होता है। जितनी कम उपधि होगी, उतनी स्वाध्याय की अधिकता होगी, और इच्छा की कमी होगी (उत्तराध्ययन २९-३४, ४२)।

उपकरणों को ग्रहण करते समय, उनकी सुन्दरता, कोमलता और आकर्षकता की ओर ध्यान नहीं देकर, अपने लिए उपयोगी हो, ऊँचे मोल का नहीं हो, और सादा हो। इसी का ध्यान रखना हितकर है। अधिक मूल्य के और शोभायमान तथा मुलायम वस्त्रादि नहीं लेना चाहिए। काम में लिए हुए पुराने भी ले लेना चाहिये (आचारांग २-५)।

एषणीय वस्तुएँ और भी है। भगवान महावीर के समय के मुनि, सतत उपयोगशील और अप्रमत्त के समान थे। वे सारा ज्ञान कंठाग्र ही रखते थे। लिखने-पढ़ने के साधन उपस्थित होते हुए भी वे इनका उपयोग नहीं करते थे और ज्ञान को पोथी-पन्ने में नहीं रख कर आत्मसात् करते थे। किन्तु बाद में लेखन सामग्री का उपयोग होने लगा, तब से उपकरणों में पुस्तकों (सूत्रादि) की भी वृद्धि हुई। गत शताब्दी के तीसरे चरण तक हमारे वंदनीय मुनिराज, उतनी ही पुस्तकें रखते थे, जिनकी प्रतिलेखना वे कर सकते थे और जिन्हें वे उठा सकते थे।

आवश्यकता पड़ने पर औषधि, कैंची, सूई, धागा, चाकू आदि भी लेने पड़ते हैं। कई उपकरण काम हो जाने पर वापिस लौटाने के उद्देश्य से भी लिए जाते हैं, जैसे—मकान, पाट, बाजोट, पुस्तक, सूई, कैंची, चाकू, पराल आदि।

आवश्यकता को सीमित रख कर कम लेना, संयम वृद्धि का कारण है और अधिक लेना संयम में दूषण है।

आदान-भण्ड-मात्र निक्षेपणा समिति

आसन, पाट, पाटले, पात्र, वस्त्र और पुस्तक आदि को लेने अथवा लिये हुए को रखने में उपयोगपूर्वक देख कर और प्रमार्जन करके लेने-रखने का नाम "आदान-भंडमात्र निक्षेपणा समिति है" (उत्तराध्ययन २४-१३-१४)। जो उपयोग पूर्वक देख कर और जीव-जंतु की प्रमार्जनी द्वारा यतना करके किसी वस्तु को लेते और रखते हैं, उनका 'प्रेक्षा उपेक्षा और प्रमार्जना संयम' (सत्रह प्रकार के संयम में से—समवायांग १७) निर्मल रहता है। यदि इस समिति का पालन बराबर नहीं हुआ, तो संयम साधना में त्रुटि होती है।

परिस्थापनिका समिति

पवित्रता की ओर निर्ग्रंथ-संस्कृति की बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि रही है। उनके चलने, बोलने, खाने, पीने आदि सभी आवश्यक कार्यों की निर्दोष विधि है। किसी वस्तु को लेना या रखना पड़े, तो उसकी भी विधि और शरीर के मलमूत्रादि त्यागना पड़े, तो उसकी भी निर्दोष रीति का विधान किया गया है। जैनधर्म की अनेक विशेषताओं में यह भी एक विशेषता है। निर्दोष जीवन की ऐसी विशुद्ध चर्या का विधान, अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

यदि और किसी वस्तु के परठने=त्यागने की आवश्यकता नहीं हो, तो कम से कम मल-मूत्र, श्लेष्म और नाक का मैल परिष्ठापन करने की आवश्यकता तो सभी को होती है।

परठना उसी स्थान पर चाहिए कि जहाँ कोई आता नहीं हो और देखता भी नहीं हो, जहाँ परठने से जीवों की घात होने की सम्भावना नहीं हो। जो स्थान सम हो, ढका हुआ नहीं हो और अचित हो—नीचे दूर तक अचित हो, लम्बा-चौड़ा हो, ग्राम या बस्ती के निकट नहीं हो, चूहे आदि (कीड़ी आदि) के बिल से रहित हो, प्राणी, बीज और हरितकाय आदि से रहित हो। ऐसे स्थान पर परठना चाहिये (उत्तरा० २४)।

मल-मूत्र, पात्र में करने के बाद अचित और दोष रहित भूमि में परठे। जो जमीन फटी हुई हो, खड्डे वाली हो, जिसमें गाय, भैंस आदि रखे जाते हों, जिस स्थान पर बाग-बगीचे, देवालय, सभा, प्याऊ हो, चलने-फिरने का मार्ग हो, श्मशान भूमि, चिता पर बनाया हुआ स्तूप अथवा चैत्य हो, ऐसे स्थानों पर, नदी के किनारे, ईंट चूना पकाने के स्थान—भट्टे के स्थान गोचरभूमि, पूजनीय स्थल, आम्रवन, अशोकवन आदि वनों में और बीज, पत्र, पुष्प, फल तथा हरीवनस्पति के स्थानों में मल-मूत्र नहीं परठना। किन्तु पात्र लेकर एकान्त में जाना और जहाँ कोई नहीं देखता हो वैसे स्थान में जा कर मल-मूत्र का त्याग करना, तथा पात्र ले कर निर्दोष स्थान—जहाँ जली हुई अर्थात् अचित और जंतु-रहित भूमि हो, वहाँ परठना चाहिए (आचारांग २-१०)।

पाँच समिति और तीन गुप्ति—ये आठों, माता के समान साधक की रक्षा करती है। इसमें द्वादशांग—समस्त श्रुतज्ञान का सार समाया हुआ है (उत्तरा० २४-३)।

"साधु साध्वी या अन्य भिक्षुओं आदि के लिए बनाये हुए स्थंडिल (शौचालय आदि) में उच्चारादि नहीं करे। किन्तु अन्य भिक्षुओं के लिए बना हो, तो उनके काम में लेने के बाद करे। (शौचालय तो साधुओं के स्थंडिल के योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ सम्मूर्च्छिम जीवोत्पत्ति-हिंसा का कारण है) (आचा० २-१०) "रात या संध्या को अपने या अन्य साधु के पात्र में लघु या बड़ी नीत की हो, तो सूर्योदय होते ही बिना देखे स्थान पर परठे, तो प्रायश्चित्त आता है (निशीथ ३)।

इस प्रकार निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों की समिति (आवश्य प्रवृत्ति) का विधान है। निर्ग्रंथ संसार-त्यागी और मोक्ष का पथिक है। उसे अशरीरी और अनाहारी बन कर एकांत निवृत्त होना है। किन्तु जब तक शरीर है, तब तक हलन-चलन, बोलना, आहार करना, वस्तु को लेना, रखना और मल-मूत्रादि का त्याग करना ही पड़ता है। शरीरधारियों के लिए ये क्रियाएँ अपरिहार्य है। इनके किये बिना संयम-साधना असंभव होती है। जब आवश्यक क्रियाएँ करनी होती है, तो वे क्रियाएँ निर्दोष हो, किसी भी प्राणी के लिए बाधक नहीं हो, किसी के लिए आपत्तिजनक नहीं हो, तभी संयमी-जीवन की शुद्धता रहती है। उक्तोक्त समितियों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने वाला सुज्ञ, निर्ग्रंथों की पवित्र जीवन-चर्या को सरलता से समझ सकता है। उपरोक्त नियमों का सावधानीपूर्वक पालन करने वाले श्रमण, किसी के लिए भी बाधक नहीं हो सकते। ऐसे संयमी हजारों की संख्या में हो, तो भी उनसे किसी भी गृहस्थ अथवा किसी भी मनुष्यादि को कोई कठिनाई नहीं हो सकती। जब उनके लिए भोजन, वस्त्र, मकान आदि बनाने या खरीदने की आवश्यकता ही नहीं, उनके अस्तित्व से किसी को किसी भी प्रकार की शिकायत का अवसर ही नहीं, तो उनके अस्तित्व तथा विशाल संख्या से, किस समझदार को आपत्ति होगी?

इस प्रकार का पवित्र त्यागी जीवन और ऐसा निर्दोष विधान, संसार की किस अजैन विचार-धारा में है?

"जिसका इन पाँच समितियों में उपयोग नहीं है, वह वीर-मार्ग का अनुगामी नहीं है।"

(उत्तरा० २०-४०)

अनगार के २७ गुण

अनगार भगवंतों के २७ गुण होते हैं। समवायांग सूत्र में इन गुणों के नाम इस प्रकार हैं।

५ पाँच महाव्रतों का पालन, १० पाँच इन्द्रियों का निग्रह, १४ चार कषायों का विवेक, १५ भाव-सत्य १६ करण सत्य १७ योग सत्य १८ क्षमा १९ वैराग्य २० मन समाहरण २१ वचन समाहरण २२ काय समाहरण २३ ज्ञान सम्पन्न २४ दर्शन सम्पन्न २५ चारित्र सम्पन्न २६ वेदना सहन और २७ मृत्यु सहन।

जिनमें ये गुण हों, वे ही खरे अनगार होते हैं। अब इन का क्रमशः विवेचन किया जाता है।

पर्याप्त–वह शक्ति कि जिससे जीव, पुद्गलों को ग्रहण कर के उसे आहार, शरीर आदि में परिणत करे। इसके छः भेद हैं–१ आहार पर्याप्ति, २ शरीर प० ३ इन्द्रिय, ४ श्वासोच्छ्वास, ५ भाषा और ६ मनः पर्याप्ति। एक भव को छोड़ कर जीव दूसरे भव में जाता है, तब अपने योग्य जितनी पर्याप्तियाँ बाँधनी होती है, उनका प्रारंभ तो युगपत करता है, किन्तु समाप्ति क्रमशः करता है। जब तक वह अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण नहीं करले, तब तक अपर्याप्त कहलाता है। एकेन्द्रिय जीवों के भाषा और मन-पर्याप्ति को छोड़ कर शेष चार पर्याप्ति होती है। असंज्ञी मनुष्य भी चौथी पर्याप्ति पूर्ण करने के पूर्व ही मर जाता है। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन छोड़ कर पाँच और संज्ञी-पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्ति होती है।

अनिन्द्रिय–सिद्ध जीव उपरोक्त भेदों में से किसी भी भेद में नहीं आते। क्योंकि वे तो मुक्त हैं। उनके न तो शरीर है, न इन्द्रिय। वे न सूक्ष्म हैं न बादर। ये जितने भी भेद हैं, सब संसारी जीवों के हैं। वीतराग सर्वज्ञ भगवान् भी अनिन्द्रिय कहलाते हैं। वर्तमान में वे शरीर सहित हैं। उनके इन्द्रियां भी शरीर के साथ होती है, किन्तु वे अनुपयोगी होती है। प्राणातिपात-विरमण रूप महाव्रत का सम्बन्ध, चरिम-शरीरी १३ वें गुणस्थानी भगवंतों से लगा कर नीचे के सभी संसारी जीवों के साथ है, क्योंकि हम इन्हें दुःख दे सकते हैं, इनकी हिंसा कर सकते हैं। सिद्ध–अनिन्द्रिय की हिंसा नहीं होती, उनकी आसातना हो सकती है। इसलिए प्रथम महाव्रत से संबंधित, अनिन्द्रिय जीव को छोड़ कर, सभी जीव हैं। इन जीवों की मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करना, दूसरे से नहीं करवाना और हिंसा करते हुए या करने वाले का अनुमोदन नहीं करना–प्रथम 'प्राणातिपात विरमण' नामक महाव्रत है।

हिंसा का त्याग क्यों करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हिंसा दुःख-दायिनी है। शान्ति और सुख की नाशक है। पाप-प्रकृतियों का बन्ध कराने वाली है। चण्ड, रौद्र और नृशंस हो कर जीवों को भयभीत करने वाली है। आर्यत्व से गिरा कर अनार्य बनाने वाली है। धर्म की नाशक, स्नेह-घातक, करुणा रहित और महान् भय की जननी है। हिंसक जीवों को नरक-निगोद के महान् असह्य दुःख सहन करने पड़ते हैं। यह स्व-पर दुःख-दायिनी है। इसलिए इसका त्याग करना ही चाहिए।
(प्रश्न० १-१)

अहिंसा की आराधना लोक के लिए हितकारी, कर्म-रज का नाश कर के मोक्ष के महाफल को देने वाली है। सैकड़ों भवों और उनके दुखों का नाश करने वाली है।

अहिंसा, पाप से बचाने वाली, कल्याणकारिणी शरण-दात्रि, शक्ति की श्रोत, आनन्द की भण्डार और संसार से पार पहुँचाने वाली है। इसकी महामहिमा का वर्णन, प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में किया गया है।

अहिंसा महाव्रत के पालने में त्रिगुप्ति की खास आवश्यकता है। जिस महापुरुष के और काया स्थिर हों, तो हिंसा भी नहीं हो, किंतु जीवनपर्यन्त—लम्बे समय तक एक स्थान असंभव है। शरीर-निर्वाह, संयम पालन और वैयावृत्यादि के लिए जाना-आना पड़ता है—प्रवृ पड़ती है। यह प्रवृति अनियन्त्रित एवं अमर्यादित नहीं हो जाय और उससे चारित्र—अहिंस का भंग नहीं हो जाय, इसलिए परमोपकारी त्रिलोक-पूज्य भगवान् महावीर प्रभु ने, प्राण विरमण रूप प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ बताई हैं। जिनसे भावित आत्मा, प्रवृत्ति कर अपने महाव्रत में सावधान और भाव-चारित्र बनाये रखते हैं। वे पाँच भावनाएँ ये हैं;—

१ चलते-फिरते और ठहरते, इर्या-समिति का पूर्ण ध्यान रखे। चलते समय एक यु भूमि को देखता हुआ चले और सावधानी रखे, जिनसे किसी त्रस या स्थावर प्राणी की हिंसा जाय—यह पहली भावना है।

२ मन में पापकारी—सावद्य विचार नहीं लावे, अधार्मिक—जिनका धर्म से कोई संबंध सांसारिक विचार नहीं लावे। इस प्रकार वध बन्धनादि के विचार से मन को बचाये रखे। समिति' द्वारा अपनी अन्तरात्मा को अहिंसा से भावित करता रहे। इससे साधु भाव-संयमी अ चारित्री होता है। यह 'मन समिति' नामक दूसरी भावना हुई।

३ पापकारी वचन नहीं बोले। सावद्य वचन से विरत रहने वाले निर्ग्रंथ के वचन-स यह तीसरी भावना है।

४ प्राण धारण और संयम पालन के लिए आहार की गवेषणा करनी पड़ती है। सा रहित, करुणा भाव रहित (अपनी करुणाजनक दशा नहीं बनाता हुआ) विषाद रहित, खिन्न और समता सहित तथा एषणा संबंधी दोषों से बचता हुआ थोड़े-थोड़े निर्दोष आहार की गवेष जिससे हिंसा की संभावना नहीं रहे और महाव्रत का भावपूर्वक पालन हो सके। यह आहारैषण चौथी भावना है।

५ निक्षेपण समिति—पात्रादि भंडोपकरण को उठाने और रखने में सावधानी रखे। प्रमार्जन करने के बाद उठाने रखने से हिंसा नहीं होती और महाव्रत का भली प्रकार से पाल है। यह निक्षेपणा समिति रूप पाँचवीं भावना हुई (प्रश्नव्याकरण २-१)।

इस प्रकार पाँच भावनाओं कर के सहित, प्राणातिपात-विरमण महाव्रत का तीन करण ३, योग से शुद्धतापूर्वक पालने वाला निर्ग्रंथ, सच्चा साधु होता है। उसकी अहिंसा स्व-पर कल्याण होती है। वह द्रव्य और भाव से अहिंसा का पालन करता हुआ अपनी आत्मा का कल्याण क

दूसरे हलुकर्मी और योग्य जीवों को प्रेरणा देने वाली होती है। वह अपने संयमी-जीवन से अनन्त प्राणियों की रक्षा करता है और उसके उपदेश से भी अनन्त प्राणियों की रक्षा होती है। उसकी अहिंसक वृत्ति इतनी विशुद्ध होती है कि वह अपने या दूसरे किसी के लिए भी हिंसा नहीं करता। सभी जीवों के प्रति उसका समभाव होता है। किसी का भी प्रिय अथवा अप्रिय नहीं करता,–"**सव्वं जगं तं समयाणुपेहो, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा**" (सूयग० १–१०–७) कितना समभाव है–उस महा अहिंसक महात्मा का। वह अपनी आत्म-साधना में तत्पर रहता है। इस प्रकार अहिंसा महाव्रत की आराधना करने वाला अनगार निर्ग्रंथ, समस्त जीवों का क्षेमंकर एवं अभय-प्रदाता होता है।

सभी व्रतों में अहिंसा व्रत मुख्य है। जैनधर्म की अहिंसा न तो मनुष्यों तक सीमित रही है और न पशु पक्षियों तक ही। किन्तु सभी जीव, पृथ्वी, पानी आदि क्षुद्र स्थावरकाय के जीव भी निर्ग्रंथों की अहिंसा में सम्मिलित हैं। प्राणीमात्र की अहिंसा पालना जैनधर्म का महान् सिद्धांत है। किसी भी प्राणी को साधारण कष्ट भी नहीं हो–इसकी निर्ग्रंथ साधुओं को सतत् सावधानी रखनी पड़ती है। संसार के सभी जीव सुखी रहें, कोई किसी को नहीं सतावे। सभी प्राणियों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। कोई जीव किसी की आत्मा को क्लेश नहीं पहुँचावे–यह जैनधर्म का मुख्य उपदेश है। निर्ग्रंथ-नाथ भगवान् महावीर फरमाते हैं कि–

"**से वेमि जेय अतीता जेय पडुप्पन्ना जेय आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति, एवं पण्णवंति, एवं परूवेंति, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एसधम्मे, सुद्धे, निइए, सासए, समिच्च-लोयं खेयण्णेहिं पवेइए।**"

–भगवान् फरमाते हैं कि भूतकाल में जो अनन्त अरिहंत भगवान् हो गए हैं, वर्त्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, वे सभी यही कहेंगे, ऐसा ही उपदेश देंगे और इसी प्रकार प्रचार करेंगे कि समस्त प्राणी (विकलेन्द्रिय) सभी भूत (वनस्पति) सभी जीव (पञ्चेन्द्रिय) और सभी सत्व (चारों स्थावर काय) की हिंसा नहीं करना–मारना नहीं, उन पर हुकूमत नहीं करना, उन पर अधिकार नहीं करना, उन्हें संतापित नहीं करना और उन्हें उद्वेग नहीं पहुँचाना। यही धर्म शुद्ध, नित्य, एवं शाश्वत है। ऐसा समस्त लोक के दुःख को जानने वाले खेदज्ञ भगवंतों ने कहा है (आचारांग १–४–१)।

भगवान् ने यह भी कहा है कि "**अत्तसमं मन्निज्ज छप्पिकाए**"–छहों काया के जीवों को–समस्त जीवों को, अपनी "आत्मा के समान समझना चाहिए" (दशवै० १०–५) इस प्रकार अहिंसा का महत्व सर्वाधिक बताया गया है। अहिंसा "**सव्वभूय खेमंकरी**" (प्रश्नव्या० २–१) बताई गई है। यह अहिंसा महाव्रत निर्ग्रंथ-प्रवचन में अग्र-स्थान रखता है। विश्व-शान्ति में यही एक आधारभूत है और आत्मोत्थान में भी यह अग्रसर है। इसलिए अहिंसा महाव्रत, सभी व्रतों में प्रथम स्थान रखता है।

पूर्वाचार्य कहते हैं कि–

"एक्कं चिय एत्थ वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा।"

अर्थात्–सभी जिनेश्वरों ने (संक्षेप में) एक प्राणातिपात विरमण महाव्रत का निर्देश किया है। शेप व्रत इस व्रत की रक्षा के लिए है (ठाणांग ४–१–२३५ टीका में उद्धरित गाथा)।

यों तो अहिंसा महामाता की महिमा अपार है। इसका विशेप वर्णन प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में वर्णित है। उसमें ३२ उपमाओं के द्वारा महत्व प्रदर्शित किया है। किन्तु संक्षेप में दशवैकालिक के छठे अध्ययन गाथा ८ में सब कुछ आ गया है। जैसे–

"तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं। अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।"

उपरोक्त गाथा में अठारह स्थानों में भी अहिंसा को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। किसने ? स्वयं तीर्थाधिपति भगवान् महावीर ने।

दूसरा महाव्रत

मृषावाद का सर्वथा त्याग–सदा के लिए झूठ बोलना छोड़ दे। क्रोधादि चार कषायों और भय से प्रेरित हो कर भी झूठ नहीं बोले, न दूसरों से झूठ बुलावे, यदि कोई झूठ बोले, तो उसे भला भी नहीं जाने। इस प्रकार मृषावाद त्याग रूप महाव्रत का जीवन पर्यंत, तीन करण और तीन योग से पालन करे (दशवै० ४)।

मृषावाद–राग-द्वेप का बढ़ाने वाला, अपयशकारी, वैरविरोध, रति, अरति और मानसिक क्लेशों का उत्पन्न करने वाला है। अविश्वास का स्थान है। दुर्गति का देने वाला है। इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए (प्रश्नव्या० १–२)।

मृषावाद का त्यागी–जब बोलता है, तो सत्य वचन ही बोलता है। यह सत्य वचन शुद्ध है। इसमें कषायों की मलिनता नहीं है। यह पवित्र है, स्व और पर के कल्याण का कारण है। यथार्थ है, इसमें अयथार्थता का लेश भी नहीं है। वह सत्य पदार्थों का प्रकाशक है। निर्दोप है। सत्य की महिमा अपार है। किन्तु वह सत्य संयम का पोपक होना चाहिए। अन्यथा वह सत्य भी असत्य की तरह त्याज्य है कि जिससे संयम की हानि होती हो। जिसमें हिंसादि पाप रहे हुए हों, विकथादि रूप चारित्र विघातकता युक्त हो, कलहोत्पत्ति का कारण हो और दूसरों की निन्दा तथा विवाद-वितण्डा कारक हो। जिसमें दूसरों का अपमान रहा हुआ हो और अपनी प्रशंसा हो। वह सत्य भी त्याज्य है कि जिससे सुनने वाले को पीड़ा हो। जिस बात के कहने से अपना द्रव्य और भाव से उपकार नहीं होता हो, तो वह सत्य होने पर भी नहीं बोलना चाहिए। इस प्रकार विशुद्ध रूप से सत्य का आराधन किया जाय,

तो वह परमानन्द की प्राप्ति कराने वाला होता है।

मृषावाद त्याग रूप दूसरे महाव्रत की भी नीचे लिखी हुई पाँच भावना है।

१ सम्यग्ज्ञानपूर्वक विचार कर के बोलना चाहिए। गुरु के पास से श्रवण कर के संवर के प्रयोजन वाली तथा मोक्षदायक वाणी बोलनी चाहिए। बोलने में न तो उतावल हो, न उद्वेग हो। कठोर, कटु और पीड़ाकारी वचन नहीं बोलना चाहिए। बिना विचारे साहसयुक्त वचन भी नहीं बोलना चाहिए। हितकारी, मित–आवश्यकतानुसार और स्पष्ट वचन बोलना चाहिए। इस प्रकार विचारपूर्वक बोलना–प्रथम भावना है।

२ क्रोध नहीं करना चाहिये, क्योंकि क्रोध करने वाला झूठ बोल सकता है, चुगली भी करता है और कठोर भाषा भी बोल देता है। क्रोध से सत्य का नाश होता है। इसलिए क्रोध का त्याग कर के क्षमा धारण करना चाहिए। यह दूसरी भावना है।

३ लोभ नहीं करना चाहिए, क्योंकि लोभ के वश हो कर झूठ बोला जाता है। जिसे धन, मकान, प्रशंसा, ऋद्धि, सुख, आहार, वस्त्रादि और शिष्य-शिष्यणी का लोभ होता है, वह झूठ बोलता है। इसलिए दूसरे महाव्रत के पालक को लोभ का त्याग कर देना चाहिए।

४ भय का त्याग कर देना चाहिए। भयभीत मनुष्य, सत्य का पालन नहीं कर सकता। वह संयम और तप को छोड़ देता है। इसलिए सत्य के साधक को भय का त्याग कर देना चाहिए।

५ हास्य का त्याग करना चाहिए। हँसी के कारण जीव झूठ बोलता है। दूसरों की निन्दा करता है, अपमान करता है। हास्य, साधु के चारित्र का नाशक बन जाता है। इससे गुप्त बातें प्रकट हो जाती है। हँसी, अधम गति में ले जाने वाली है। इसलिए मौन का सेवन कर, हँसी का त्याग कर देना चाहिए। यह पाँचवी भावना हुई (प्रश्न० २–२)।

ये दूसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। इन भावनाओं से युक्त बोली हुई भाषा निरवद्य एवं गुणकारी होती है। इस विषय में भाषा-समिति के प्रकरण को देखना चाहिए। यहाँ इतना और स्पष्ट किया जाता है कि 'जो भाषा, मोक्ष साधना में बाधक हो, वह नहीं बोलनी चाहिए।'

(दशवै० ७–४)

तीसरा महाव्रत

अदत्तादान का सर्वथा त्याग–दूसरे की वस्तु को बिना दिये ही ले लेना–अदत्तादान कहलाता है। सचित्त हो या अचित्त, थोड़ा हो या बहुत, ग्रामादि में हो या वन में, कभी भी, कहीं भी, कैसा भी अदत्तादान नहीं लेना चाहिए। दूसरों से भी नहीं लिवाना चाहिये तथा लेते हुए का अनुमोदन नहीं

करना चाहिए । मन, वचन और काया से जीवनपर्यंत इस त्याग का पालन करना चाहिए ।

(दशवै० ४)

अदत्तादान का ग्रहण, लोभ से होता है अर्थात् लोभ से ही अदत्तादान की प्रवृत्ति होती है (प्रश्न० १-३) इस महाव्रत को 'दत्तअनुज्ञात संवर' भी कहते हैं। इस महाव्रत के पालक का मन अदत्त ग्रहण की इच्छा वाला नहीं होने से अदत्तग्रहण में हाथ-पाँवादि शारीरिक प्रवृत्ति भी नहीं होती। इस महाव्रती निर्ग्रंथ के बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथी नहीं रहती। तीसरे महाव्रत का पालक निर्भीक होता है। यदि कोई गृहस्थ अपनी वस्तु कहीं भूल गया हो और वह साधु को दिखाई दे, तो उसे वे नहीं लेते और किसी को कहते भी नहीं है। क्योंकि स्वयं लेने या दूसरों को वताने का उनका आचार नहीं है। इस महाव्रत के पालक को सोना और मिट्टी को वरावर समझना चाहिए और परिग्रह रहित एवं संवृत्त हो कर विचरना चाहिए।

निर्ग्रंथ-श्रमण का कर्त्तव्य है कि वह कहीं भी काष्ट, कंकर व तृण जैसी तुच्छ वस्तु भी विना दी हुई (गृहस्थ की आज्ञा विना) नहीं ले और प्रति दिन, जव आवश्यकता हो, आज्ञा ले कर ही ग्रहण करे। अपने उपाश्रय में भी विना आज्ञा के कोई वस्तु ग्रहण नहीं करे। जिस घर की प्रतीति नहीं हो वहाँ आहार-पानी आदि लेने को भी नहीं जाय। जो आहारादि दूसरों के-आचार्य या रोगी आदि के, निमित्त आया हो, उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। दूसरे के गुणों या उपकारों को नहीं छुपाना चाहिए। किसी को मिलते हुए दान में अन्तराय देना, या दान का अपलाप करना, किसी की चुगली करना और किसी के लाभ को देख कर मत्सर भाव लाना, दूषण है। इस प्रकार के सव दूषणों का त्याग कर देना चाहिए।

वह साधु इस महाव्रत की आराधना नहीं कर सकता, जो प्राप्त वस्त्र, पात्र, भंडोपकरण का अन्य साधुओं के साथ संविभाग नहीं करता-दूसरे साधुओं को नहीं देता, और आवश्यक उपकरणों को विधिवत् प्राप्त नहीं करता।

नीचे लिखे हुए पाँच प्रकार के चोर (ऊपर से साधु, किन्तु अन्तर से चोर) इस महाव्रत का पालन नहीं कर सकते।

१ **तप का चोर**-तप के उद्देश्य के विपरीत, मान-प्रतिष्ठादि के लिए तप करे या तप नहीं करते हुए भी तपस्वी कहलावे।

२ **वचन का चोर**-वंचनादि दोष या मायापूर्वक वचन वोलने वाला।

३ **रूप का चोर**-साधु के रूप में रह कर दूसरों को ठगने वाला-असाधुता के काम करने वाला।

४ **आचार का चोर**-साधु आचार के विपरीत आचरण करते हुए भी अपने को शुद्धाचारी वताने वाला।

५ भाव का चोर–भाव-रहित क्रिया करने वाला अथवा अपने बुरे भावों को छुपा कर उत्तम भाव वाला होने का डौल करने वाला।

ये पाँच प्रकार के चोर इस महाव्रत का पालन नहीं कर सकते। रात्रि को जोर-जोर से बोलने वाले, दूसरों की शान्ति या सुख का हरण करने वाले होते हैं। झगड़ा करवाने, कलह जगाने, वैर-भाव उत्पन्न करने, विकथा करने, किसी के असमाधि उत्पन्न करने, प्रमाण से अधिक भोजन करने और सदा कुपित रहने वाले साधु, धर्म के चोर हैं। उनसे इस महाव्रत का पालन नहीं हो सकता।

जो साधु, निर्दोष आहार पानी और उपकरण प्राप्त करने और अन्य साधुओं को देने में कुशल हैं, वे ही इसके पालक हो सकते हैं। जो अत्यन्त दुर्बल, बाल, रोगी और वृद्ध साधु की वैयावृत्य करने में चतुर हैं, प्रवर्त्तक, आचार्य, उपाध्याय, नवदीक्षित शिष्य, साधर्मिक, तपस्वी, कुल (एक आचार्य का परिवार) गण (एक साथ पढ़ने वाले साधु अथवा कुलों का समुदाय) और संघ की ज्ञानोपार्जन अथवा निर्जरा के लिए वैयावृत्य करने वाला, इस महाव्रत का पालन करता है। जो दूसरों के दोषों को ग्रहण नहीं करता, निन्दा नहीं करता, आचार्य अथवा रोगी का नाम ले कर कोई वस्तु अपने लिए नहीं लेता तथा किसी को भी दान से विमुख नहीं करता, किसी के दान और चारित्र के गुण को छुपाता नहीं है और किसी की वैयावृत्य कर के पछताता नहीं है, वह इस तीसरे महाव्रत का पालन कर सकता है।

(प्रश्नव्या० ८-३)

शास्त्रकारों ने अदत्तादान के चार भेद इस प्रकार बताये हैं।

१ स्वामी-अदत्त–वस्तु के स्वामी के दिए बिना ही, कोई वस्तु ग्रहण करना–स्वामी-अदत्त है, फिर भले ही वह तृण, काष्ट जैसी साधारण से साधारण वस्तु ही क्यों न हो।

२ जीव-अदत्त–यदि वस्तु का स्वामी, कोई सजीव वस्तु देना चाहे, तो भी उस जीव की आज्ञा के बिना ग्रहण करना 'जीव अदत्त' है। जैसे–माता-पिता या संरक्षक, साधु-साध्वी को पुत्र-पुत्री या किसी मनुष्य को शिष्य रूप में देना चाहे, किन्तु शिष्य बनने वाले की खुद की आज्ञा नहीं हो, वह अपने को साधु के हवाले करना नहीं चाहे, तो भी उसे लेना–जीव-अदत्त है। अथवा प्राणी के प्राणों का हरण करना जीव अदत्त है।

३ तीर्थंकर अदत्त–तीर्थंकर भगवान् ने आगमों में जो आज्ञाएँ प्रदान की है, उनका उल्लंघन कर के निषिद्ध वस्तु लेना–तीर्थंकर अदत्त है।

४ गुरु अदत्त गुरु आदि रत्नाधिक की आज्ञा का उल्लंघन करना, स्वामी द्वारा दिये हुए निर्दोष आहारादि को गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना ही उपभोग में लेना–गुरु अदत्त है।

साधु को उपरोक्त चारों प्रकार के अदत्तादान से बचना चाहिए, तभी उसकी आराधना निर्दोष होती है।

इस महाव्रत की पांच भावनाएँ इस प्रकार है।

१ अवग्रहानुज्ञापना—साधु साध्वी को सोच विचार कर के आवश्यकतानुसार निर्दोष अवग्रह (ठहरने के स्थान) की याचना करनी चाहिए। अपरिमित और सदोष स्थान लेने से अदत्त ग्रहण का दोष लगता है।

२ आज्ञा लेने के वाद ही आहारादि और शय्या-संस्तारक आदि का सेवन करना चाहिए। यदि तृण जैसी तुच्छ वस्तु की भी आवश्यकता हो, तो वह भी आज्ञा लेने के वाद ही उपयोग में लेनी चाहिए।

३ अवग्रह की आज्ञा लेते समय, उपाश्रयादि के क्षेत्र की मर्यादापूर्वक आज्ञा लेनी चाहिए और जितने क्षेत्र को काम में लेने की आज्ञा प्राप्त हुई हो, उतने ही क्षेत्र को काम में लेना चाहिए, अधिक नहीं।

४ गुरु अथवा रत्नाधिक की आज्ञा प्राप्त कर के ही आहारादि का उपभोग करना चाहिए। यद्यपि आहारादि की प्राप्ति विधिपूर्वक हो चुकी है, तथापि गुरु आदि को दिखा कर और आलोचना कर के ही आहारादि करना चाहिए, अन्यथा अदत्तादान का दोष लगता है।

५ उपाश्रय में रहे हुए संभोगी साधुओं से नियत क्षेत्र और काल-मर्यादा पूर्वक आज्ञा ले कर ही वहाँ रहना और भोजनादि करना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त पाँच भावनाओं कर के सहित, इस महाव्रत का पालन करने वाला श्रमण, स्व-पर कल्याण-साधक होता है। जिसने अदत्तादान का त्याग कर दिया, उसने भय, शोक और चिन्ता के अनेक कारणों को नष्ट कर दिया। ऐसे अदत्त-परिहारी महात्मा, इस संसार के लिए उत्तम आलंवन रूप होते हैं।

चौथा महाव्रत

मथुन का सर्वथा त्याग—पुरुष के लिए स्त्री संभोग और स्त्री के लिए पुरुष संभोग तथा नपुंसक के लिए स्त्री पुरुष दोनों के संभोग की प्रवृत्ति को 'मैथुन' कहते हैं। पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद के उदय से मैथुन में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार देव, मनुष्य और पशु सम्वन्धी मैथुन सेवन करने, दूसरों से करवाने और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन करने का मन, वचन और शरीर से सर्वथा, जीवन पर्यन्त त्याग कर देने वाले महात्मा और महासती, इस महाव्रत के पालक होते हैं।

यों तो पाँचों इन्द्रियों के काम-भोग को विषय-सेवन माना गया है। किन्तु इस महाव्रत में मुख्यत: वेदोदय के कारण होती हुई स्पर्श सम्वन्धी मैथुन प्रवृत्ति ग्रहण की गई है। इस मैथुन प्रवृत्ति में मनुष्य

पशु और देव तक उलझे हुए हैं। मैथुन प्रवृत्ति इन सब को प्रिय है। मैथुन सेवन से द्रव्य-जीवन और भाव-जीवन का नाश होता है। प्रमाद बढ़ता है। रोग, शोक, जरा और मृत्यु रूप दुःख-परम्परा में वृद्धि होती है। कभी-कभी वध, बन्धन और मृत्यु का कारण भी बन जाता है। यह अब्रह्मचर्य एक ऐसा बन्धन है, जो आत्मा के विकास को रोक कर, मोहनीय-कर्म के सुदृढ़ फन्दे में फसाये ही रखता है। यह फन्दा अनादि काल से जीव के साथ लगा ही रहता है। यद्यपि असंज्ञी जीवों में और अहमिन्द्रों में मैथुन प्रवृत्ति नहीं होती, फिर भी उन आत्माओं में इसके संस्कार तो रहते ही हैं और अनुकूल सामग्री (संज्ञीपन और मनुष्यादि भव) पा कर क्रियान्वित हो जाते हैं। जिस प्रकार निद्रा में सोया हुआ, या क्रय-विक्रय, सभा-सोसाइटी अथवा युद्धादि प्रवृत्ति में लगा हुआ अथवा कारागृह में बन्द पुरुष, मैथुन क्रिया नहीं करता है, फिर भी वह त्यागी नहीं है। उसमें रहते हुए मैथुन के संस्कार अनुकूलता पा कर प्रवृत्ति में आ जाते हैं। इन संस्कारों को नष्ट करना अत्यन्त कठिन है। कायर और नीच जन, इसके सेवन में आनन्द मानते हैं और सज्जन तथा उच्च आत्माएँ इसे त्यागनीय समझ कर विरत होते हैं। इस चतुर्थ महाव्रत की धारक महान् आत्माएँ, अपनी आत्मा में से मैथुन के संस्कारों को नष्ट करने में सदा प्रयत्नशील रहती हैं।

ब्रह्मचर्य, सभी उत्तम गुणों और तपस्याओं का मूल है। मोक्ष को निकट लाने वाला है। पुनर्जन्म का निवारण करने वाला है। आत्म-शान्ति का देने वाला है। तप और संयम का आधार है। अपवाद रहित है। समिति और गुप्ति तथा नव वाड़ द्वारा रक्षणीय है। उत्तम भावनाओं और ध्यान रूपी कपाट से ब्रह्मचर्य व्रत सुरक्षित रहता है। ब्रह्मचर्य व्रत, सभी व्रतों के लिए आधारभूत है। ब्रह्मचर्य व्रत के नष्ट होने पर सभी व्रत नष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह इन्द्रियों के विषयों में प्रीति नहीं करे। किसी के साथ राग और द्वेष नहीं करे। जिस कार्य के करने से कोई लाभ नहीं है, उस कार्य को नहीं करे। प्रमाद का त्याग करे। आचार विचार में ढिलाई को त्याग कर दृढ़ता धारण करे। शरीर पर मर्दन, उबटन, स्नान, शोभा, तथा शृंगारादि नहीं करे। नाखुन और केश को संवारे नहीं। हँसी, मजाक, वाचालतादि का त्याग करे। गाना, बजाना और नृत्य करना छोड़ दे। नाटक—नटों के खेल, विदूषक के कौतुक तथा सभी प्रकार के खेल नहीं देखे, क्योंकि जितने भी गीत, वादिन्त्र और खेल तमाशे हैं, वे सब शृंगारिक हो कर तप, संयम और ब्रह्मचर्य के लिए घातक हैं। अतएव इनका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

ब्रह्मचारी को इन गुणों का पालन करना चाहिए।

स्नान नहीं करना, दाँतों को नहीं धोना, पसीना और मैल का निवारण नहीं करना, अधिक नहीं बोलना, केशों का लोच करना, क्रोध का निग्रह करना, इन्द्रियों का दमन करना, स्वल्प वस्त्र रखना, भूख-प्यास को सहन करना, उपाधि अधिक नहीं रखना, सर्दी और गर्मी के परीषह को सहन करना,

लकड़ी के पटिये पर या भूमि पर शयन करना (पलंग पर नहीं सोना) आहारादि के लाभालाभ में संतोष रखना, निन्दा को सहन करना, डाँस-मच्छर के परीषह को सहन करना। गुरुजनों का विनय करना। इन गुणों का पालन करने से आत्मा पवित्र होती है (प्रश्नव्याकरण २-४)।

ब्रह्मचर्य की रक्षक वाड़

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उत्तराध्ययन अ० १६ में नव वाड़ बताई गई है। जो ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य की इन वाड़ों से रक्षा करता रहेगा, उसका ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहेगा और उसकी साधना सफल होगी।

१ ब्रह्मचारी पुरुष, ऐसे स्थान में रहे, सोए, बैठे कि जहाँ स्त्री, पशु और नपुंसक नहीं रहते हों। यदि वह इस नियम का पालन नहीं करेगा, तो उसके ब्रह्मचर्य में लोगों को शंका होगी। वह खुद भी ब्रह्मचर्य व्रत के प्रति शंकाशील हो कर डगमगाने लगेगा और शंका में वृद्धि होते-होते पतित* हो जायगा। उत्तराध्ययन के ३२ वें अध्ययन गा० १३ में परम तारक प्रभु ने फरमाया कि-

"जिस प्रकार बिल्लियों के स्थान के समीप, चूहों का रहना अच्छा नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के स्थान के समीप, ब्रह्मचारियों का रहना हितकर नहीं है।"

दशवैकालिक सूत्र अ० ५-१-९ में तो यहाँ तक लिखा है कि-"साधु, वेश्या के घर के निकट भी नहीं जावे।"

अतएव स्त्री, पशु, पंडग रहित स्थान में रहना ही ब्रह्मचारी के लिए हितकर है। रहनेमी जैसा योगी भी कुछ क्षणों तक, स्त्री युक्त स्थान में रहने से चलित हो गया (उत्तरा० २२) तो दूसरों का कहना ही क्या? अतएव इस वाड़ को सुरक्षित तथा दृढ़ रखनी चाहिए।

२ स्त्रियों की अथवा स्त्रियों सम्बन्धी कथा नहीं कहनी चाहिए। स्त्रियों के रूप, हास्य, विलास

---

* ब्रह्मचर्य के इन स्थानों में असावधानी से सात दूषण उत्पन्न होते हैं-

(१) शंका-पूर्ण ब्रह्मचर्य की शक्यता में संशय।
(२) कांक्षा-भोगोपभोग की इच्छा।
(३) विचिकित्सा-ब्रह्मचर्य के प्रति अरुचि। फल में सन्देह।
(४) भेद-ब्रह्मचर्य का भंग।
(५) उन्माद-मस्तिष्क विकार-पागलपन।
(६) रोग-दीर्घकालीन रोग।
(७) भ्रष्टता-साधुता से पतन।

आदि का वर्णन करने से मन में विकार उत्पन्न होता है, काम की वृद्धि होती है, जो वढ़ते-बढ़ते ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देती है।

३ स्त्रियों से परिचय तथा साथ बैठ कर बातचीत नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्त्रियों के परिचय तथा संगति से अनुराग बढ़ता है, जो ब्रह्मचर्य का नाशक है।

४ स्त्रियों के शरीर, अंगोपांग और इन्द्रियों की सुन्दरता को निरखे नहीं, उनका चिन्तन भी करे नहीं। उनके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मृदु-भाषण, संकेत और कटाक्षपूर्वक अवलोकन, (तिरछी दृष्टि) को अपने मन में बिलकुल स्थान नहीं देवे। इसी में उनका हित है (उत्तरा० ३२)।

५ भींत, टट्टी अथवा पर्दे की ओट से स्त्रियों के मधुर शब्द, विरह, विलाप, गीत, हँसी, सिसकारी और प्रेमालाप आदि नहीं सुने। कानों से ऐसे शब्द सुनने से विकार की उत्पत्ति होती है, जो ब्रह्मचर्य के लिए घातक होती है।

६ स्त्रियों के साथ गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोग और की हुई क्रीड़ा का स्मरण नहीं करना चाहिए। पूर्व के भोगों की स्मृति, कामना को पुनः जाग्रत कर देती है और वह ब्रह्मचर्य के लिए खतरा बन जाती है।

७ स्निग्ध एवं सरस भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे भोजन से इन्द्रियें सतेज होती है और भोग में रुचि उत्पन्न होती है।

"जिस प्रकार स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष पर पक्षी झपटते हैं और उसके फलों को शीघ्र ही बरबाद कर देते हैं, उसी प्रकार दुग्ध-घृतादि काम-वर्धक रसों के अधिक सेवन से मनुष्य में भोगवृत्ति उत्पन्न होती है और इससे उसका ब्रह्मचर्य रूपी उत्तम फल नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार घास और लकड़ी की अधिकता वाले वन में यदि आग लग जाय और उस समय वायु भी प्रचण्ड रूप से चलने लगे, तो वह वन, राख का ढेर हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों की विषय रूपी आग को भड़काने वाला सरस भोजन रूप महावायु मिल जाय, तो वह कामाग्नि को बढ़ा कर ब्रह्मचर्य को भस्म ही कर देती है। इसलिए प्रकाम रस से वंचित ही रहना चाहिए।"

८ प्रमाण (भूख की पूर्ति) से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। अधिक आहार करने से आलस्य बढ़ता है, सुखशीलियापन आता है और संयम निर्वाह का लक्ष छूट कर स्वाद लोलुपता बढ़ती है। अधिक भोजन भी विषयों को जाग्रत करता है। अतएव अतिमात्रा में भोजन नहीं करके पेट को कुछ खाली अवश्य रखे।

९ शरीर की विभूषा नहीं करे, शोभा एवं सुन्दरता नहीं बढ़ावे। जिस क्रिया से शरीर की शोभा बढ़े, वह प्रारम्भ से ही त्याग दे। स्नान करना और वस्त्र को स्वच्छ और उज्ज्वल रखना भी विभूषा है। इसीलिए आगमों में अचित्त जल से स्नान करने तथा वस्त्र धोने की मनाई की गई है (सूय. १-७)।

१० नव वाड़ों के अतिरिक्त दसवाँ सुदृढ़ 'कोट' भी निर्माण कर दिया है, जिससे कि ब्रह्मचर्य की सुरक्षा में किंचित् भी सन्देह नहीं रहे। वह कोट यह है;-

"मन को अनुकूल लगने वाले ईष्ट शब्द नहीं सुने, सुन्दर रूप नहीं देखे, सुस्वाद रस नहीं चखे, मनोहर सुगन्ध नहीं सुंघे और कोमल मुलायम तथा रमणीय स्पर्श नहीं करे। इन पाँचों काम गुणों से सदैव दूर रहे। जिसने यह सुदृढ़ एवं वज्रमय प्रकोट वना लिया है, उसका ब्रह्मचर्य महाव्रत सुरक्षित है। वह ब्रह्मचारी महान् आत्मा, विश्व पूज्य हो जाती है। देव दानव और इन्द्र भी उसके चरणों में नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ-

यों तो उपरोक्त वाड़ों में ही पाँच भावनाएँ आ गई हैं, किन्तु प्रश्नव्याकरण सूत्र में इनका कुछ विस्तार से वर्णन है। अतएव पुनः पृथक् रूप से वताई जा रही है।

१ ब्रह्मचारी उन स्थानों पर सोना वैठना और खड़े रहना त्याग दे, जहाँ स्त्रियों का संसर्ग आना, जाना, वैठनादि हो। उन आँगन, छज्जे, खिड़की, पीछे का द्वार तथा छत का भी त्याग कर दे, जहाँ से स्त्रियें दिखाई देती हो, शृंगार करती हो, स्नान करती हो और जहाँ वेश्याएँ वैठती हों। जहाँ वैठकर स्त्रियें, मोह, द्वेष, रति एवं काम को वढ़ाने वाली कथाएँ कहती हों। ऐसे दूसरे स्थानों को भी त्याग दे कि जहाँ रहने से मन में विकारी भाव उत्पन्न हो कर ब्रह्मचर्य के लिए घातक बनते हों तथा आर्त्त और रौद्रध्यान की सम्भावना हो। इस नियम के पालन करने से आत्मा पवित्र होती है।

२ ब्रह्मचारी को स्त्रियों के बीच में वैठ कर विविध प्रकार की कथाएँ नहीं कहनी चाहिए। स्त्रियों के हास्य, विलास, सौन्दर्य तथा शृंगार की कथाएँ नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि ऐसी कथाएँ मोह को उत्पन्न करने वाली होती है। नवविवाहित अथवा विवाह करने वाले वर-वधु की कथा भी नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों के सुभग, दुर्भग, स्त्रियों के ६४ गुणों, उनके वर्ण, जाति, देश, कुल, रूप पहिनाव आदि विषयक कथा नहीं करनी चाहिए। उनके शृंगार-रस वर्धक तथा पति-वियोग की करुण-कथाएँ भी नहीं कहनी चाहिए। जिन कथाओं के करने से तप, संयम और ब्रह्मचर्य को वाधा पहुँचती हो, ऐसी कोई भी बात नहीं कहनी चाहिए। यदि कोई दूसरा ऐसी वात कहता हो, तो उसे सुननी भी नहीं चाहिए और मन में इन विषयों पर चिन्तन भी नहीं करना चाहिए। इस नियम का पालन करने से आत्मा पवित्र होती है।

३ ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्त्रियों का रूप नहीं देखे। स्त्रियों के साथ हँसी नहीं करे, संभाषण भी नहीं करे। स्त्रियों की विकारी चेष्टा, तिरछी दृष्टि, विलासिता, क्रीड़ा, शृंगार, नाच, गायन, वजाना, शरीर की वनावट, सुन्दरता, हाथ, पाँव, आँख, स्तन, ओष्ठ, जंघादि गुप्तांग, यौवन, लावण्य और वस्त्रालंकार को नहीं देखे। क्योंकि स्त्रियों की सुन्दरता और उनके अंगोपांग का देखना, पाप का कारण है।

इससे ब्रह्मचर्य का घात होता है। इसलिए ब्रह्मचारी को स्त्रियों के रूप आदि देखने का विचार भी नहीं करना चाहिए और वचन से रूप की प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिए। जो ब्रह्मचारी स्त्रियों के रूप-दर्शन से निवृत्त हो कर इस समिति का पालन करेगा, उसकी आत्मा पवित्र होगी।

दशवैकालिक सूत्र (अ. ८) में कहा है कि 'साधु स्त्रियों के चित्र भी नहीं देखे। यदि अचानक दृष्टि पड़ जाय, तो तत्काल दृष्टि हटाले—जिस प्रकार सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि तत्काल हटाई जाती है। जो स्त्री सौ वर्ष की पूर्ण वृद्धा हो, जिसके हाथ-पाँव कटे हुए हों, जो कान-नाक से भी रहित हो, ऐसी विकृत अंगों वाली स्त्री को भी ब्रह्मचारी नहीं देखे, तो युवती स्त्री का देखना तो सर्वथा त्याग ही देना चाहिए।' इस प्रकार दृढ़तापूर्वक नियम पालन करने वाला ही इस महाव्रत का पालक होता है।

४ गृहस्थाश्रम में रह कर पहले जो भोग भोगे हैं और क्रीड़ाएँ की है, उनका स्मरण नहीं करना चाहिए। पूर्व के साला-साली व उनके सम्बन्ध को याद नहीं करे। गृहस्थाश्रम में की हुई और देखी हुई उन घटनाओं का स्मरण नहीं करे, जैसे—विवाह, वधु का मुकलावा, मदनत्रयोदशी तथा तीज आदि त्योंहार और उत्सवों को याद नहीं करे। सुन्दर वस्त्र और अलंकार द्वारा सुसज्जित हो कर हाव-भाव, दृष्टि क्षेप और अंग-चालनादि विलासी-चेष्टाओं से सुशोभित, सुन्दरी प्रेमिकाओं के साथ किये हुए शयनादि का स्मरण नहीं करे।

"दुष्कृत्य करने की अपेक्षा तो समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होना श्रेयष्कर है, मोक्ष का कारण है।"
(आचारांग १-८-४)

गृहस्थाश्रम में ऋतुओं के अनुकूल सुगन्धित पुष्पों तथा इत्रादि और चन्दनादि का सेवन किया, उत्तम धूपों से वातावरण को सुगन्धमय बनाया, मुलायम वस्त्र तथा बहुमूल्य आभूषणों का उपभोग किया। कर्ण-प्रिय गायन तथा मनोहर वादिन्त्र आदि सुने, नृत्य देखे, नाटक, कुश्ती आदि का अवलोकन किया। विदूषकों का हास्य तथा उनकी वाचालता देखी और चित्रों द्वारा दिखाये जाने वाले खेल देखे। इन सब बातों का ब्रह्मचारी को स्मरण नहीं करना चाहिए। उसे ऐसी किसी भी बात का स्मरण नहीं करना चाहिए कि जिससे तप, संयम और ब्रह्मचर्य में खामी लगे।

५ साधु ऐसा आहार नहीं करे कि जिसमें घृतादि विकार-वर्धक सामग्री अधिक हो। दूध, दही, घृत, मक्खन, तेल, गुड़, शक्कर, मिश्री आदि तथा इनसे बने हुए पकवान्न मिष्टान्न आदि का सेवन नहीं करे। ऐसे सभी प्रकार के आहार को त्याग दे—जिससे विकार बढ़ कर ब्रह्मचर्य की घात होती है।

साधु अधिक आहार भी नहीं करे। नित्य सरस आहार नहीं करे। दाल-शाक आदि अधिक नहीं खावे। इतना ही आहार करे कि जिससे संयम-यात्रा का निर्वाह हो सके तथा चित्त में चंचलता न हो कर धर्म से पतित नहीं बनना पड़े।

यह ब्रह्मचर्य महाव्रत महाघोर है। इसका पालन संयमी व तपस्वी ही कर सकते हैं। सभी तपों

में ब्रह्मचर्य व्रत उत्तम तप है (सूयग० १-६) किन्तु इसकी साधना भी बाह्य और आभ्यन्तर तप करने वाले ही सरलता से कर सकते हैं। प्रकाम भोजी-सरस आहार करने वाले, भरपेट तथा अतिमात्रा में खाने वाले और तपस्या से रहित व्यक्ति से ब्रह्मचर्य का पालन होना कठिन है, असंभव हैं। भगवान् ने बताया है कि 'यदि विकार जागृत हो जाय तो आहार कम कर दे, खड़ा हो कर कायुत्सर्ग करे, विहार कर जाय, अन्त में आहार का सर्वथा त्याग कर दे (आचा० १-५-४) और 'स्त्रियों से संभाषण भी नहीं करे' (आचा० १-५-४)। विकार हटाने के ये उत्तम उपाय हैं।

उपरोक्त नियमों का भली प्रकार से पालन करने वाले, और ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न करने वाले सभी स्थानों को दूर से ही त्यागने वाले महात्मा ही इसका पूर्ण रूप से पालन कर सकते हैं (उत्त० १६)।

ब्रह्मचर्य व्रत पाँचों अणुव्रतों और महाव्रतों का मूल है। सुसाधुओं द्वारा सेवन किया हुआ है। संसार-समुद्र से पार करने वाला है। वैर-विरोध को उपशांत करने वाला है। तीर्थंकर भगवंतों ने इस उत्तम धर्म का उपदेश दिया है। इसके पालन करने वाले नरक-तिर्यंच गति में नहीं जाते। उनके लिए स्वर्ग और मोक्ष के द्वार खुले रहते हैं। ब्रह्मचारी, देव और नरेन्द्र के लिए भी पूजनीय एवं वंदनीय है। वह काम-विजेता, संसार में उत्तम मंगल रूप है। इसका शुद्धतापूर्वक पालन करने वाला ही सच्चा ब्राह्मण, सुश्रमण, सुसाधु और ऋषि कहलाता है। वही मुनि है, वही संयत है और वही भिक्षु है।

पाँचवाँ महाव्रत

परिग्रह का सर्वथा त्याग–'परिग्रह' दो प्रकार का है–१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। घर, खेत, ाग, वगीचे, सोना, चाँदी, हीरे, मोती, धन, धान्य तथा घृत, शक्कर, गुड़ आदि और गाय-भैंसादि पशु, दास-ासी, वाहन, वस्त्र, आभूषण, शय्या, आसन, बरतन आदि बाह्य परिग्रह है और किसी भी वस्तु पर मत्व एवं मूर्च्छा रखना आभ्यन्तर परिग्रह है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, घृणा, क्रोध, मान, माया, ोभ, स्त्री सम्बन्धी भोगेच्छा, पुरुष सम्बन्धी भोगेच्छा, नपुंसक की भोगेच्छा और मिथ्यात्व ग्रहण–ये ाव आभ्यन्तर परिग्रह हैं। वैसे अपनी आत्मा के सिवाय जितनी भी पर वस्तुएँ हैं और उन्हें ममत्वपूर्वक ापनाया जाता है, वह सब परिग्रह है। पर वस्तु में अपनेपन की भावना परिग्रह कहलाती है। इसलिए ादि शरीर पर ममत्व हो, तो शरीर भी परिग्रह है।

"धर्म साधना के लिए निर्ममत्व बुद्धि से ग्रहण किये जाने वाले रजोहरणादि उपकरण तथा लज्जा और शीतादि निवारणार्थ वस्त्र, परिग्रह में नहीं माने जाते। क्योंकि ये साधन ममत्व बुद्धि से नहीं रख कर, संयम पालन में सहायक होने से रखे जाते हैं।" (दशवै० ६)

परिग्रह लोभ कषाय के कारण होता है और उसकी प्राप्ति, वृद्धि तथा रक्षण में क्रोध, मान

तथा माया का सेवन होता है। ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है और विश्वभर की सम्पत्ति तथा साम्राज्य प्राप्त करने की तृष्णा जगती है। यह तृष्णा, आत्मा के लिए महान् भयानक हो कर नरक-निगोद के भयंकर दु:खों में फँसा देती है। इस प्रकार के परिग्रह रूपी पाप का मन, वचन और काया से करण करावन और अनुमोदन के सर्वथा त्याग करने वाला ही इस महाव्रत का सच्चा पालक होता है।

कोई भी वस्तु, चाहें वह छोटी हो या बड़ी, अल्प-मूल्य वाली हो या बहुमूल्य की, साधु, उसे ग्रहण कर के रखने की इच्छा भी नहीं करे। क्योंकि इससे साधु की लोभ-वृत्ति जागेगी और उसके पास परिग्रह देख कर दूसरे की भी लोभ-वृत्ति बढ़ेगी। वस्तुएँ तो दूर रही, परन्तु खाने-पीने की—जीवन निर्वाह की चीजों का भी संग्रह नहीं करे। साधु, जीवन-निर्वाह के लिए सदोष आहार का भी सेवन नहीं करे।

परिग्रह त्यागी मुनि को संयमी जीवन का निर्वाह करने के लिए, कुछ उपकरणों की आवश्यकता होती है। उन उपकरणों का ममत्व रहित हो कर निर्दोष रीति से उपयोग करता है, तो वह अपरिग्रही ही रहता है। वे उपकरण ये हैं,—

१ काष्ठ, मिट्टी या तुम्बी के पात्र (जो तीन से अधिक नहीं हो) २ पात्र बाँधने का वस्त्र ३ पात्र पोंछने का कपड़ा ४ पात्र के नीचे बिछाने का कपड़ा ५ पात्र ढकने का कपड़ा ६ पात्र लपेटने का कपड़ा ७ पात्रादि साफ करने का कपड़ा। ये सब पात्र से सम्बन्धित हैं, इनमें से जघन्य ३ मध्यम ५ और उत्कृष्ट ७ रख सकते हैं। इनके अतिरिक्त मात्रक (मूत्रादि परठने का पात्र) भी रखने की रीति है। ८–१० ओढ़ने के लिए अधिक से अधिक तीन चद्दरें ११ रजोहरण १२ चोल पट्टक और १३ मुख-वस्त्रिका। उपरोक्त उपकरणों का राग-द्वेष रहित हो कर सावधानीपूर्वक उपयोग करे। इनकी प्रति-लेखना और प्रमार्जना बराबर करे (प्रश्नव्याकरण २–५)।

साधुओं के लिए वस्त्र रखने के तीन कारण हैं—१ लज्जा निवारण करने के लिए २ निन्दा से बचने के लिए और ३ शीतादि परीषह से बचने के लिए (ठा० ३–३) इनमें भी ममत्व नहीं होना चाहिए।

'साधु, रात्रि को तेल, नमक, गुड़, घृत आदि पदार्थ संग्रह कर के नहीं रखे। संग्रह-वृत्ति लोभ से होती है और जो संचय करता है, वह भाव से तो गृहस्थ ही है (दशवै० ६–१८, १९)।

"साधु अणु मात्र का भी संचय नहीं करे" (दशवै० ८–२४ तथा उत्तरा० ६–१६)।

"जो सचित्त या अचित्त किंचित् भी परिग्रह रखता है, वह मुक्त नहीं हो सकता।

(सूय० १–१–१–२)

इस प्रकार बाह्य परिग्रह के त्याग की शिक्षा देने के बाद आभ्यन्तर परिग्रह को त्यागने का उपदेश करते हुए प्रश्नव्याकरण २–५ में लिखा है कि—

बाह्य परिग्रह का त्यागी साधु, अन्तर परिग्रह का भी त्याग करे। उन्हें सत्कार और तिरस्कार में, संमान और अपमान में, पूजने वाले और मारने वाले के प्रति, राग-द्वेष नहीं कर के समभाव से रहना चाहिए। यदि संमान, पूजा और प्रतिष्ठा के प्रति राग भाव होगा और अपमान तिरस्कार तथा निन्दा के प्रति द्वेष भाव होगा, तो वह आभ्यन्तर परिग्रही हो जायगा। शरीर रूपी परिग्रह के त्याग के लिए मुनि को बाईस प्रकार के परीषहों को समभाव से सहन करना चाहिए। 'भय' भी आभ्यन्तर परिग्रह है। अतएव उस भय को जीत कर निर्भय हो जाना चाहिए। परिग्रह का त्याग ही मुक्ति है। जब तक परिग्रह है, तब तक मुक्ति नहीं है। इसलिए बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का तीन करण और तीन योग से सर्वथा त्याग करना चाहिए।

"जिसके पास अल्प परिग्रह भी है, तो वह गृहस्थ जैसा है।" (आचारांग १-५-२)

परिग्रह त्याग महाव्रत की पाँच भावनाएँ;—

१ श्रोतेन्द्रिय के विषय में राग-द्वेष नहीं करे।

अनेक प्रकार के वादिन्त्र, गीत तथा अपनी प्रशंसा के वचनों को सुन कर उन पर प्रीति नहीं करे। लीलापूर्वक गमन करती हुई युवती के मंजुल स्वर तथा कर्ण प्रिय वचन, उनके नूपुर आदि की आकर्षक आवाज आदि पर आसक्त नहीं होवे और ऐसे पूर्व सुने हुए आकर्षक वचनों का चिंतन भी नहीं करे।

आक्रोशकारी, निन्दाजनक, अपमानकारक, तर्जनारूप, निर्भर्त्सना रूप, भयोत्पादक, दीनतायुक्त, रुदन के शब्द और पापकारी शब्द के प्रति द्वेष नहीं करे। ऐसे शब्दों की हिलना तथा निन्दा भी नहीं करे। इस भावना से महाव्रत को भावित करने वाले साधु की आत्मा पवित्र होती है।

२ दृष्टि संवर—सचित्त अचित्त और मिश्र, सुन्दर वस्तु, सुरूपवान् स्त्री और पुरुष के रूप, मनोहर चित्र और प्रतिमाएँ, पुष्प, गुच्छे, गजरे और पुष्पमालाएँ, वन, बगीचे, पर्वत, नदी, तालाब. कुंड, नहर और कमल पुष्पों से सुशोभित सरोवर, नगर, भवन, तोरण, देवालय, चैत्य, मठ, सभा, प्याऊ, शय्या, आसन और पालकी आदि वाहन, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित स्त्री पुरुषों के समूह, नाटक, कथक और आख्यान आदि खेल और दूसरे सुन्दर दृश्यों को देख कर, उनमें आसक्त नहीं होवे, उनका मन में चिंतन भी नहीं करे।

कुरूपों—बुरे दृश्यों—गंडमाला आदि रोग के रोगी, कोढ़ी, जिसके अंग उपांग कटे या हीनाधिक हो, जलोदर का रोगी, लंगड़ा, ठिंगना, जन्मान्ध, काना, विकृत, मुर्दा तथा सड़ी हुई वस्तुएँ और विष्ठा आदि वस्तुओं को देख कर घृणा नहीं करे। उनकी निन्दा नहीं करे। इस प्रकार दृष्टि-संवर रखने वाले की आत्मा पवित्र होती है।

३ घ्राणेन्द्रिय संवर—सुगन्धित पुष्पों, फलों, पानी (गुलाबजल, केवड़ाजल आदि) पुष्पों के पराग, तगर, तमाल, इलायची, चन्दन, कपूर, लोंग, अगर, केसर, खश आदि सुगन्धित तेल, इत्र, धूप

आदि तथा भोजन आदि की सुगन्ध पा कर उसमें प्रीति नहीं करे, अनुराग नहीं लावे।

दुर्गन्धों के प्रति द्वेष नहीं करे। सड़े हुए पशुओं के शव और विष्ठादि की दुर्गन्ध आने पर, उन पर द्वेष नहीं करे–निन्दा नहीं करे।

४ रसनेन्द्रिय संवर–मनोहर और उत्तम भोजन पदार्थ, सुस्वादु पेय, चरपरे चाट, आचार, मुरब्बे, दुग्ध, दही, घृत तथा शाकें, फल, मिष्टान्न आदि पर लुब्ध नहीं होवे और अरस, विरस, ठंडे, रूखे, निःसार तथा स्वाद-हीन, वदबूदार कड़वे, तीखे, कषायले और खट्टे पदार्थों के प्रति द्वेष नहीं करे। उनकी निन्दा नहीं करे।

५ स्पर्शनेन्द्रिय विजय–मुलायम और कोमल वस्त्र, ठंडी हवा, जलमंडप, चंदनादि का शीतल विलेपन, कोमल शय्या, पुष्पों से सजी हुई शय्या, सुखदायक आसन, मुक्ताहार, पुष्पमालाएँ, सुखदायक चाँदनी रात, गर्मी में ताड़, खस आदि के पंखे से निकली हुई शीतल हवा, शीतकाल में शाल, दुशाले, अग्नि-ताप और सूर्य की सुहाती हुई धूप तथा सभी ऋतुओं के अनुकूल सुखदायक स्पर्श, जिनसे सुखानुभव हो, इच्छा नहीं करे, आसक्ति नहीं लावे। इतना ही नहीं, इस प्रकार के अनुकूल स्पर्श का चिन्तन भी नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत जो प्रतिकूल स्पर्श हैं, जैसे–वध, बन्धन, चर्म-छेद, अंग-भंग, शूल चुभाना, जलाना, विच्छु आदि का डंक मारना, डाँस मच्छर का परीषह, प्रतिकूल वायु, कष्टदायक धूप, दुःखदायक शय्या, आसन तथा इसी प्रकार के अन्य अप्रीति कारक, अरुचिकर एवं दुःखदायक स्पर्श के प्रति द्वेष नहीं करे, निन्दा नहीं करे और समभाव से संयम का पालन करे (प्रश्नव्या० २–५)।

परिग्रह त्याग रूप पाँचवें महाव्रत के पालक निर्ग्रंथ-श्रमण, जीवन-निर्वाह के लिए शुद्ध एवं निर्दोष आहारादि लेते हैं। इसकी विधि 'एषणा समिति' के प्रसंग में बताई गई है। उनके ठहरने के स्थान भी निर्दोष ही होते हैं।

उपसंहार

ऐसे महाव्रतधारी निर्ग्रंथ के धर्म रूपी वृक्ष का सम्यक्त्व रूपी मूल विशुद्ध होता है। धैर्य रूपी कन्द है। इस वृक्ष के विनय रूपी वेदिका है। इस धर्म के पालन से, विश्व में (तीन लोक में) फैला हुआ सुयश, इस वृक्ष का स्कन्ध है। पाँच महाव्रत रूपी विशाल शाखाएँ हैं। अनित्य भावना इस विशाल वृक्ष की त्वचा है धर्म-ध्यान शुभ-योग और विकसित ज्ञान, इस वृक्ष के अंकुरित पल्लव है। अनेक प्रकार के गुण रूपी पुष्पों से यह धर्म रूपी वृक्ष सुशोभित है। शील=शुद्धाचार रूपी सुगन्ध से यह वृक्षराज सुगन्ध फैला रहा है। आत्मा की स्वतन्त्र दशा को विकसित करना=बन्धन नहीं होने देना, इस

वृक्षराज के फल हैं और पूर्णानन्द दशा=मोक्ष की प्राप्ति ही इस धर्म रूपी वृक्ष के बीज का सार तत्त्व है। जिन महान् आत्माओं में, महाव्रत रूपी धर्म-वृक्ष वृद्धि पाता है और जो धर्म रूपी सुन्दर तथा सुगन्धित उपवन में सदा विहार करते हैं, वे मोक्ष के शाश्वत सुख को प्राप्त करेंगे।

(प्रश्न० २-५ तथा उत्तरा० १६)

६-१० इन्द्रिय निग्रह

कान, आँख, नाक, जिव्हा और सारा शरीर-ये पांच इन्द्रियां हैं। इन पांच इन्द्रियों के २३ विषय हैं। यथा-

१ कान इन्द्रिय का विषय शब्द सुनना है। इसके तीन भेद हैं-१ जीव शब्द २ अजीव शब्द (लोहा, लकड़ी, ताँबा, पीतल आदि के गिरने से या परस्पर की टक्कर से निकली हुई आवाज तथा ताल,मृदंग,ढोल आदि की आवाज) और ३ मिश्र शब्द-बिगुल आदि मुँह से बजाने से वादिन्त्र से निकली हुई आवाज। इन तीन विषयों के शुभ शब्द और अशुभ शब्द यों ६ भेद हुए। शुभ पर राग और अशुभ पर द्वेष होना, ये बारह विकार हुए।

२ चक्षु इन्द्रिय के पांच विषय है। ये पाँचों वर्ण हैं-काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत।

इन पाँच विषयों के ६० विकार हैं। जैसे-पाँच विषयों को सचित्त, अचित्त और मिश्र से तीन गुणा करने पर १५ हुए। ये पन्द्रह शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। अतएव ३० भेद हुए। इन पर राग द्वेष होना विकार है। तीस भेदों पर राग और तीसों पर द्वेष यों कुल ६० विकार हुए।

३ घ्राण (नासिका) से सूंघने के दो विषय हैं-१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध, ये भी सचित्त, अचित्त और मिश्र भेद से ६ हुए और राग-द्वेष रूप विकार से गुनने पर १२ विकार हुए।

४ रसनेन्द्रिय के ५ विषय-१ तीखा २ कडुआ ३ कषैला ४ खट्टा और ५ मीठा। ये पांचों सचित्त भी होते हैं, अचित्त भी और मिश्र भी। अतएव १५ भेद हुए। प्रत्येक के शुभ अशुभ भेद से ३० हुए। इन तीस पर राग और द्वेष होना ६० विकार हुए।

५ स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय-१ कर्कश (पत्थर जैसा कठोर) २ मृदु (कोमल-मुलायम) ३ हल्का ४ भारी ५ शीत (ठंडा) ६ उष्ण ७ स्निग्ध (चिकना) और ८ रुक्ष।

ये आठ स्पर्श सचित्त भी होते हैं, अचित्त भी और मिश्र भी। अतएव २४ हुए। ये २४ शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। अतएव ४८ हुए। इन ४८ पर राग करना और द्वेष करना। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय के ९६ विकार हुए।

इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के २३ विषय और २४० विकार होते हैं। इन सभी विषयों और विकारों को रोकने से आत्मा पवित्र होती है। अनुकूल पर राग नहीं करने और प्रतिकूल पर द्वेष नहीं करने वाले महात्मा की विषय-वासना नष्ट हो जाती है। जब विषय-वासना नष्ट हो जाती है, तो कषायें भी नष्ट होती है और वीतरागता प्रकट होती है। अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावना में इसका कुछ खुलासा किया है।

श्रोतेन्द्रिय का स्वभाव है–शब्द को सुनना। आँखें रूप को देखती है। नासिका में गन्ध प्रवेश करती है। जिह्वा स्वाद लेती है। शरीर को स्पर्श होता है। यदि इच्छा नहीं करे, तो भी शब्दादि विषय, इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण हो ही जाते हैं, किन्तु ग्रहण हो जाना ही कोई दोष नहीं है। दोष है उन पर राग और द्वेष करने में। राग और द्वेष ही से ये विकार बन कर आत्मा को सताते हैं। इसलिए परम कृपालु भगवन्त फरमाते हैं कि 'हे भव्यात्माओं ! इन्द्रियों का दमन करो, जिससे उनके विषय तुम्हारी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सके।' परम तारक प्रभु ने श्री उत्तराध्ययन के ३२ वें अध्ययन में फरमाया कि–

"रूपों में आसक्त होने वाले जीव, पतंगे की तरह अकाल में मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं। वीणा की मधुर आवाज पर मोहित मृग के समान, शब्द-लोलुप प्राणी भी मृत्यु के मुँह में चला जाता है। गन्धार्कषित सर्प के समान गन्ध में अत्यन्त लोलुप जीव भी अपना प्राणान्त करवा लेता है। रस-लोलुप मच्छ के समान अत्यन्त चटोरा व्यक्ति भी काल के गाल में चला जाता है और ठंडे पानी में पड़ा हुआ भैंसा जिस प्रकार मगर का ग्रास बन जाता है उसी प्रकार स्पर्श के सुखों में अत्यन्त मूच्छित हुए जीव, अपना विनाश कर बैठते हैं।"

"जो भव्यात्माएँ इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहती है–राग-द्वेष नहीं करती हैं और शुभ तथा अशुभ विषयों में समभाव रखती हैं, वे वीतराग होती हैं।' अनुकूल विषयों में राग और प्रतिकूल विषयों में द्वेष करने वाले अपनी आत्मा में विकार बढ़ाते हैं। इस विकार के कारण वे दुःखी होते हैं। वास्तव में विषयों में कोई दोष नहीं है–दोष है राग-द्वेष रूपी विकार का ही। राग-द्वेष के वश हो कर प्राणी दुःख-समूह को बढ़ा लेता है।"

विषयों के वश हो कर जीव, प्राणियों की हिंसा करता है और अनेक प्रकार के पाप करता है वह विषय-पूर्ति के साधन जुटाने, प्राप्त साधनों की रक्षा करने और अधिकाधिक प्राप्त करने रू अपरिमित इच्छा में ही लगा रहता है। उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है और साथ ही उसे चिन्ता भी घेरे रहती है कि 'कहीं ये सुख-साधन नष्ट नहीं हो जाय, कोई चुरा नहीं ले।' इस प्रकार व प्राप्त करने में भी दुःखी है और प्राप्त कर के भी दुःखी रहता है। उन विषयों का भोग कर के भी व तृप्त नहीं होता। उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है। विषयों के वश पड़ा हुआ जीव, चोरी जैसे निर

कर्म भी करता है तथा कूड़ कपट और दंभादि अनेक प्रपञ्च करता है। इस प्रकार वह अशुभ कर्मों का उपार्जन कर के दुःखों की परम्परा बढ़ा लेता है।

"जो भव्य आत्माएँ विषयों से विरक्त हैं, उन्हें तृष्णा, चिन्ता, शोक और दुःख नहीं होता। वे संसार में रहते हुए भी जल में रहे हुए कमल के पत्ते के समान निर्लेप रहते हैं। क्योंकि इन्द्रियों के विषय, रागी मनुष्यों के लिए ही दुःख के कारण होते हैं। जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया, जिनका मनोज्ञ के प्रति राग नहीं है और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष नहीं है, उन विरक्त महात्माओं के लिए वे दुःख-दायक नहीं होते।"

जो त्यागी मुनि, इन पाँचों इन्द्रियों को अपने अधिकार में रख कर इनके साथ लगी हुई रति-अरति=राग-द्वेष की वृद्धि को त्याग देते हैं, वे ही सच्चे अनगार हैं।

११-१४ कषाय विवेक

क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों को 'कषाय' विशेषण दिया गया है। जिसके द्वारा कष = संसार की, आय = वृद्धि हो, उसे कषाय कहते हैं। अथवा जिसके योग से आत्मा में विभाव उत्पन्न हो कर स्वाभाविक स्थिति दब जाय, वह कषाय है। जीव का संसार में भटकना और नरक-निगोदादि भयंकर दुःखों को सहन करने का मूल कारण ही कषाय है और कषायों की उत्पत्ति का कारण है 'मोहनीय कर्म।' मोहनीय कर्म के कारण ही जीव अनादिकाल से भटक रहा है।

११ क्रोध—आत्मा की वह आवेशमय स्थिति है कि जिससे वह अशान्त, तप्त और ज्वलनशील हो कर उचितानुचित तथा हिताहित का विवेक भूल जाता है। उग्र क्रोध स्व-पर नाश का कारण बन जाता है। क्रोध के उदय से शान्त दिखाई देने वाला व्यक्ति भी अशान्त हो कर रौद्र रूप धारण कर लेता है। यह सब क्रोध-मोहनीय कर्म के उदय का परिणाम है।

१२ मान—आत्मा में अहंकार की उत्पत्ति को 'मान' कहते हैं। इसीसे जाति, कुल आदि का घमण्ड होता है। अपने को सर्वोच्च और दूसरों को तुच्छ बतलाने की वृत्ति के पीछे मान कषाय रहती है। मान कषाय के अक्खड़पन, हठधर्मी आदि कई लक्षण हैं।

१३ माया—कपटाई का परिणाम माया कषाय से होता है। धोखाबाजी, ठगी और छल के द्वारा दूसरों को ठगना, अपनी हीनता को दबा कर श्रेष्ठता प्रदर्शन करने का दंभ करना, ये सब माया कषाय के अन्तर्गत है।

१४ लोभ—धन, धान्य, वस्त्राभूषण, घर, हाट, हवेली, बाग, बगीचे, वाहन, आसन, शय्या, गाय, भैंस, और घोड़ादि पशु, स्त्री, पुत्रादि और इच्छित भोगादि सामग्री प्राप्त करने की इच्छा, तृष्णा और

प्राप्त वस्तु में मूर्च्छा ममता आदि लोभ-कषाय के कारण होती है।

उपरोक्त चारों कषायों के प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। जैसे कि—१ अनन्तानुबन्धी २ अप्रत्याख्यानी ३ प्रत्याख्यानावरण और ४ संज्वलन।

अनन्तानुबंधी—जिस कषाय के कारण जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करने योग्य कर्मों का संचय करे और जिसके कारण मिथ्यात्व के दलिक दृढ़ बने उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। इस कषाय के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण की घात होती है। इस कषाय की स्थिति जीवन पर्यन्त रहती है। (यह व्यवहार स्थिति है; ऐसा प्रथम कर्मग्रंथ गा० १८ की टीका में लिखा है) इसके कारण नरक गति के योग्य कर्मों का बंध होता है।

अप्रत्याख्यानी—जिसके उदय से जीव के दर्शन गुण का तो घात नहीं होता, परन्तु वह अविरत ही रहता है। उसमें किंचित् भी विरति नहीं होती। वह देशविरत श्रावक भी नहीं हो सकता। इसकी स्थिति एक वर्ष की है और तिर्यंच गति के योग्य कर्म-बंध होता है।

प्रत्याख्यानावरण—जिसके उदय से सर्व विरति—अनगार धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह कषाय आत्मा के सर्व-निवृत्ति रूप धर्म को रोकता है। इसकी स्थिति चार मास की है। इस स्थिति में मनुष्य गति के योग्य बंध होता है।

संज्वलन—प्रतिकूल परिस्थिति—परीषहों—कष्टों के उपस्थित होने पर जो किंचित् संताप उत्पन्न करे, थोड़ी जलन पैदा करे, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। यहां कषाय का उदय उग्र नहीं हो कर मन्द होता है, इतना मन्द कि जिससे सर्व-विरति गुण तो सुरक्षित रहता है, परन्तु यथाख्यात = सर्वोच्च चारित्र में रुकावट होती है। इस कषाय की स्थिति एक पक्ष की है। इसमें देव गति के योग्य बंध होता है।

क्रोध कषाय की उपमाएँ

अनन्तानुबन्धी क्रोध—जिस प्रकार पर्वत के फटने से पड़ी हुई दरार वापिस नहीं मिलती, उसी प्रकार जो क्रोध किसी भी उपाय से शांत नहीं होता, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

अप्रत्याख्यानी क्रोध—तालाब के सूख जाने पर उसमें पड़ी हुई दरार वर्षा होने पर पुनः मिल जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध उपदेशादि विशेष परिश्रम से शांत हो जाता है. . . . . .

प्रत्याख्यानी क्रोध—रेत में खींची हुई लकीर, हवा चलने से मिट जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध साधारण उपाय से शांत हो जाता है . . . . .

संज्वलन क्रोध—पानी में खींची हुई लकीर के समान तत्काल ही शांत हो जाने वाला क्रोध।

मान कषाय की उपमाएँ

अनन्तानुबन्धी मान–पत्थर के खंभे की तरह कभी नहीं झुकने वाला घमण्ड ।

अप्रत्याख्यानी मान–हड्डी के खंभे के समान–जो अटूट परिश्रम और प्रवल उपायों से छूटने वाला अभिमान ।

प्रत्याख्यानी मान–काष्ठ का स्तंभ तेल आदि के प्रयोग से झुकता है, उसी प्रकार जो किञ्चित् उपाय से छूटे ।

संज्वलन मान–वेंत की लकड़ी की तरह सहज ही नमने–छूटने वाला मान ।

माया कषाय की उपमाएँ

अनन्तानुवन्धी माया–बांस की सुदृढ़ जड़ का टेढ़ापन किसी भी प्रकार से दूर नहीं होता । वह सीधी नहीं हो सकती । उसी प्रकार जो माया कभी छूटती ही नहीं ।

अप्रत्याख्यानी माया–मेंडे का सींग, अनेक उपाय करने पर वड़ी कठिनता से झुकता है । उसी प्रकार जो माया, वड़ी कठिनता से दूर हो ।

प्रत्याख्यानी माया–जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर, सूख जाने पर मिट जाती है । उसी प्रकार जो माया साधारण से प्रयत्न से ही दूर हो जाती हो ।

संज्वलनी माया–जिस प्रकार बांस की छाल विना प्रयत्न के ही सीधी हो जाती है, उसी प्रकार जो माया विना प्रयत्न के शीघ्र ही छूट जाय ।

लोभ कषाय की उपमाएँ

अनन्तानुवन्धी लोभ–किरमची रंग अमिट होता है, उसी प्रकार जो लोभ कभी नहीं छूटे ।

अप्रत्याख्यानी लोभ–कर्दम (कीचड़) के समान जो वड़े परिश्रम से–अनेक प्रयत्न करने पर छूटे ।

प्रत्याख्यानी लोभ–खंजन (काजल) की तरह सरलता से छूटने वाला ।

संज्वलन का लोभ–हल्दी के रंग की तरह सहज ही छूटने वाला लोभ ।

ये चारों कषायें वड़ी भयानक हैं । इन्हीं से अनन्त जन्म-मरण रूपी संसार की वृद्धि होती है । "संसार रूपी वृक्ष के मूल का सिंचन, कषाय रूपी पानी से ही होता है ।"

"क्रोध से प्रीति का नाश होता है । मान विनय गुण को नष्ट करता है । माया मैत्री भाव को

मिटाती है और लोभ तो सभी गुणों का नाशक है।" दुःख के मूल कारण इन कषायों को नष्ट करने के लिए अचूक उपाय बताते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि—

"उपशम—शान्ति—क्षमा से क्रोध को नष्ट करो। मृदुता—कोमलता—नम्रता से मान को जीतो सरलता से माया पर विजयी बनो और संतोष से लोभ को परास्त कर दो" (दशवै० ८)।

कषाय, जीव के लिए बड़ा भयानक शत्रु है। इसीसे तो राग-द्वेष हो कर मोह रूपी कर्मराज आत्मा को दबोच लेता है। इसी से कर्म का दुःखदायक, मन्द से लेकर तीव्रतम रस बन्ध होता है औ बहुत लम्बे काल की स्थिति भी इसी के कारण बँधती है। जो संसार-त्यागी श्रमण हैं, वे तो प्रथम कं तीन प्रकार के कषाय त्याग चुके हैं। अब उनके केवल संज्वलन कषाय ही शेष रहा है, जिसका उद उन्हें भी होता है। वे सदैव सावधान रह कर प्रथम की अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायों को उद में नहीं आने देते। उन्हें सिर उठाने का अवसर ही नहीं देते और अप्रमत्तता का लक्ष रख कर संज्वल कषाय को भी समाप्त करने में उद्यमवन्त रहते हैं। इस प्रकार जो कषाय-विवेक रखते हैं, वे ही सच्चे अनगार है।

१५ भाव सत्य

अनगार भगवंत का पन्द्रहवाँ गुण 'भाव सत्य' है। निष्ठापूर्वक संयम की आराधना करने वाले श्रमण का जीवन, मूर्तिमान सत्य होता है। भाव सत्य का अर्थ है—अन्तरात्मा को शुद्ध रखना। उस कूड़, कपट तथा दुर्भावना नहीं होने देना।

पाँच इन्द्रियों के विषयों और विकारों का मूल, भाव ही तो है। आत्मा के विकारी भाव से मन विकारी बनता है और उसी से इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष होता है। वास्तव में जीव के लिए दुःख-दायक अपने खुद के विकारी भाव ही हैं। जितने अप्रशस्त भाव हैं, वे सब आत्मा को अशुद्ध बना कर दुःखों की परम्परा खड़ी करने वाले हैं। यदि आत्मा शुद्ध रहे, तो उदय अपना फल दे कर नष्ट हो जाता है—कर्मों की निर्जरा हो जाती है और आत्मा, परमात्मा बन जाती है।

गुणवान अनगार, आत्मा में क्रोधादि कषाय और इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होने देते। वे राग-द्वेष की परिणति से विमुख हो कर विनय, वैयावृत्य और स्वाध्याय में रत रहते हैं। अनित्यादि भावना द्वारा धर्मध्यान में वृद्धि करते हैं और शुक्लध्यान की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहते हैं। उपशम क्षयोपशम और क्षायिक भाव वाली आत्मा के भाव-सत्य भी होता है। ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाले मुनिराज ही वास्तविक अनगार होते हैं।

१६ करण सत्य

अनगार का सोलहवां गुण "करण-सत्य" है। करण-सत्य का अर्थ है—सच्ची करणी करना अर्थात् संयम की साधना यथार्थ रीति से करना। श्रमण-समाचारी का भली प्रकार से पालन करना करण-सत्य है।

समाचारी के दस भेद

समाचारी का स्वरूप उत्तराध्ययन अ० २६ में संक्षिप्त रूप से इस प्रकार है—१ उपाश्रय से बाहर जाते समय तीन वार 'आवश्यकी' कहे और २ कार्य कर के वापिस आने पर तीन वार 'नैषेधिकी' कहे, ३ गुरु आदि से पूछ कर कार्य करे, ४ दूसरों का कार्य करने का पूछना, ५ आहारादि के लिए दूसरे मुनियों को निमंत्रण देना—"छंदना" समाचारी है, ६ आपकी इच्छा हो, तो मैं अमुक काम करूँ, आदि पूछ कर कार्य करना 'इच्छाकार' समाचारी है, ७ दोष लगने पर आत्म निन्दा करना 'मिच्छाकार' है, ८ गुरुजनों के वचनों को स्वीकार करना 'तथाकार' है, ९ गुरुजनों की विनय-भक्ति करना और बाल वृद्ध तथा रोगी साधुओं की आहारादि से सेवा करने में तत्पर रहना 'अभ्युत्थान' समाचारी है और १० विशेष ज्ञानादि के लिए दूसरे गच्छ में, विशेष ज्ञानी के समीप रहना 'उपसम्पदा' नाम की दसवीं समाचारी है।

दिन चर्या

सूर्योदय होने पर भंडोपकरण की प्रतिलेखना करे, फिर गुरु को वन्दना करे और हाथ जोड़ कर पूछे कि 'भगवन्! मैं क्या करूँ? वैयावृत्य करूँ या स्वाध्याय करूँ?' गुरु महाराज की आज्ञा हो तदनुसार वैयावृत्य या स्वाध्याय करे।

दिन के पहले प्रहर मे स्वाध्याय करे। दूसरे में ध्यान करे। तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी करे और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे। रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करे। तीसरे प्रहर में निद्रा का त्याग कर के चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे।

दिन के पहले प्रहर के चार भाग में से प्रथम भाग में भंडोपकरण की प्रतिलेखना करे, फिर गुरुजनों को वन्दना कर के मोक्ष-प्रदायक स्वाध्याय करे और अंतिम (चौथे) भाग में गुरुवन्दन कर के पात्रों की प्रतिलेखना करे। फिर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर के रजोहरण की प्रतिलेखना करे। उसके बाद वस्त्रों की प्रतिलेखना करे। प्रतिलेखना की विधि इस प्रकार है—

वस्त्र को ऊँचा रखे, दृढ़ता से पकड़े, प्रतिलेखना में शीघ्रता नहीं करे और शुरू से अखिर तक देखे। फिर उसे यत्नापूर्वक धीरे से झटके। इसके बाद प्रमार्जन करे। प्रतिलेखन करते हुए शरीर अथवा वस्त्र को नचावे नहीं, वस्त्र को मुड़ा हुआ नहीं रखे। जोर से नहीं झटके। किसी दूसरी वस्तु से नहीं फटके। छःपुरिम = वस्त्र के दोनों ओर तीन-तीन बार खँखेरना। 'नवखोटक' = तीन-तीन बार पूंजकर तीन-तीन बार शोधन करना। यदि कोई जीव दिखाई दे, तो उसे हथेली पर ले कर यतना से रखना।

प्रमादपूर्वक की जाने वाली प्रतिलेखना दोषपूर्ण होती है। इसके छः भेद हैं—१ उतावल के साथ और विपरीत रीति से प्रतिलेखना करे या एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधुरी छोड़ कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करने लगे, २ वस्त्र के पट अथवा कोने दबे हुए ही रहे, पूरे खुले नहीं, अथवा उपकरण को दबाते हुए प्रतिलेखना करे, ३ प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र को ऊपर नीचे अथवा दिवाल आदि प पटकना, ४ जोर से झटकना, ५ प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों को विना प्रतिलेखन किये हुए वस्त्रों मिलाना या विक्षिप्त की तरह इधर-उधर फेंकना और ६ दोनों हाथों के बीच में घुटने कर प्रतिलेखना करना अथवा घुटने के ऊपर नीचे हाथ रखना। इन दोषों को त्यागना चाहिए। वस्त्र व ढीला पकड़ना, दूर रखना, भूमि पर रोलना, बीच से पकड़ कर झाड़ना, शरीर और वस्त्र को हिलान प्रमादपूर्वक प्रतिलेखना करना और शंकित हो कर गिनना—ये सात दोष भी नहीं लगाना चाहिए औ न्यूनाधिकता तथा विपरीतता से रहित प्रशस्त प्रतिलेखना करना चाहिए। प्रतिलेखना करते समय कि से बातें करना अथवा देशकथा आदि कथा करना या प्रत्याख्यान कराना या वाचना देना या लेना दोष सेवन ही है। प्रमादपूर्वक प्रतिलेखना करने वाला, पृथ्वीकाय आदि छहों काया के जीवों का वि धक होता है, और सावधानीपूर्वक प्रतिलेखना करता हुआ साधु, छहों काया के जीवों का रक्षक होता है

दूसरे प्रहर में ध्यान करना चाहिए और तीसरे प्रहर में आहार पानी की गवेषणा करे। आह पानी के कारण और विधि 'एषणा समिति' के वर्णन में बताई गई है।

चौथे प्रहर में पात्रों को अलग रख कर, विभाव से हटा कर स्वभाव में स्थापन करने वा अर्थात् आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट करने वाली (आत्मा को पवित्र करने वाली) स्वाध्याय करे। चौथे प्रहर के चौथे हिस्से (अन्तिम मुहूर्त) में गुरु महाराज को वन्दना कर के शय्या की प्रतिलेख करे। फिर लघुनीत और बड़ीनीत के स्थान की यतनापूर्वक प्रतिलेखना करे। उसके बाद समस्त दुः से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे (इसके बाद प्रतिक्रमण प्रारम्भ करे)। कायोत्सर्ग में ज्ञान, दर्शन अ चारित्र में दिन सम्बन्धी लगे हुए अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे। काउसग्ग पाल कर गुरु वन्द करे और फिर दिन सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करे। प्रतिक्रमण कर के शल्य से रहित हो क गुरु वन्दन करे। फिर समस्त दुःखों से मुक्त करने वाला काउसग्ग करे। काउसग्ग पाल कर गुरु वन

करे, फिर अरिहंत सिद्ध भगवान् की स्तुति करे। इसके वाद स्वाध्याय के काल की प्रतिलेखना करे।

रात्रि चर्या

देवसी प्रतिक्रमण कर चुकने के वाद रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे और दूसरे में ध्यान करे तथा तीसरे प्रहर में निद्रा से मुक्त हो कर, चौथे प्रहर में पुनः ध्यान करे। चौथे प्रहर में ध्यान रख कर (अस्वाध्याय काल के पूर्व) असंयत जीवों को नहीं जगाता हुआ (जोर से नहीं वोलता हुआ) स्वाध्याय करे। इस चौथी पोरसी के चौथे भाग में प्रतिक्रमण का काल आया जान कर गुरु वन्दन कर के रात्रि प्रतिक्रमण करे। मोक्ष प्रदायक काउसग्ग में रात्रि सम्बन्धी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में लगे हुए अतिचारों का क्रमशः स्मरण करे। कायोत्सर्ग पाल कर गुरु वन्दन करे और अतिचारों की क्रमानुसार आलोचना करे। प्रतिक्रमण कर के शल्य रहित हो कर गुरु वन्दन करे और फिर काउसग्ग में "मुझे कौन-सा तप करना चाहिए"—इसका विचार करे और काउसग्ग पाल कर जिन भगवान् की स्तुति करे। कायोत्सर्ग पाल कर गुरु वन्दना करे और तप अंगीकार कर के सिद्ध भगवान् की स्तुति करे।

इस प्रकार संक्षेप से श्रमण समाचारी (दिन और रात्रि के कर्त्तव्य—करणी) बताई गई है। इसका पालन कर के वहुत से जीव संसार-सागर को तिर गये हैं। (उत्तराध्यन २६)

'करण—सत्य' में करणसित्तरी के ७० वोलों को भी पूर्वाचार्यों ने ग्रहण किया हैं। वे ७० वोल इस प्रकार है।

४ आहार, वस्त्र, पात्र और स्थान, इन चारों को निर्दोष ग्रहण करना 'पिंड-विशुद्धि' है। ५ समिति, १२ भावना, १२ भिक्षु की प्रतिमा, ५ इन्द्रिय निग्रह, २५ प्रतिलेखना, ३ गुप्ति और ४ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह।

'करणसत्य' का पालक सत् प्रवृत्ति वाला होता है। वह जैसा कहता है वैसा ही करता है। (उत्तरा. २९—५१)

१७ योग सत्य

योगसत्य, अनगार भगवंत का सत्रहवाँ गुण है। मन, वचन और काया, इन तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोक कर शुभ—संयम साधक प्रवृत्ति करना—योग सत्य है। मन से जो भी विचार, चिन्तन और मनन हो वह शुभ ही हो। भाव सत्य में लिखे अनुसार हृदय की विशुद्धि होना और मोक्ष साधना के योग्य ही विचार होना—मनःसत्य है। वचन की सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर निरवद्य प्रवृत्ति

करना-सूत्रानुसार बोलना, वचन-योग की सत्यता है और शरीर द्वारा सावद्य प्रवृत्ति का निरोध कर यतनापूर्वक रहना, काय-योग की सत्यता है। योग-सत्य से योगों की विशुद्धि होती है। यह योग-विशुद्धि अयोगी अवस्था प्राप्त कराने में सहायक होती है।

१८ क्षमा

क्रोध के भाव को नहीं आने देना। यदि क्रोध के निमित्त उपस्थित हों और आत्मा में द्वेष-क्रोध और मान का उदय हो, तो उसको रोकना। आत्मा में दृढ़तापूर्वक शान्ति धारण किये रहना। इससे द्वेष-मोहनीय कर्म की निर्जरा होती है।

१९ वैराग्य

निर्लोभी रह कर माया और लोभ कषाय के उदय का निरोध करना। इष्ट शब्द, वर्ण, गंध रस और स्पर्शों में लुब्ध नहीं होना। यदि राग भाव का उदय हो जाय, तो उसे बलपूर्वक रोक क जीतना। इससे स्नेहानुबन्ध और तृष्णा का नाश होता है और मोहनीय कर्म की निर्जरा होती है।

(यद्यपि कषाय-विवेक में क्षमा और वीतरागता का समावेश हो जाता है, तथापि पुनरुवि दोष नहीं हैं, क्योंकि कषाय-विवेक में मुख्यता दोष निवारण की है और क्षमा तथा वीतरागता में गु धारण करने की मुख्यता है। वैसे आत्महित कारक विषयों का बार-बार उपदेश करना, तथा प्रकारान्त से वर्णन करना, दोष रूप नहीं हो कर गुण रूप होता है।)

२० मन-समाधारणा

अशुभ संकल्प-विकल्प को छोड़ कर, मन को स्वाध्याय, ध्यान और शुभ भावना में लगान 'मनः समाधारणा' है। मानसिक शुद्धि से अनन्त अशुभ विचारणाओं से मुक्ति मिलती है और विचारणा से एकाग्रता बढ़ती है। इससे संयम की शुद्धि होती है। अप्रमत्त अवस्था की प्राप्ति होती (उत्तरा० २९-५६) मन, दुष्ट घोड़े के समान बड़ा ही दुःसाहसी है। यह चारों ओर भागता र है। उसकी अमर्याद एवं अनियन्त्रित गति पर अधिकार कर के शुभमार्ग में लगाना-धर्म साधन जोड़ना-'मनःसमाधारणा' है, अर्थात् श्रुतज्ञान के पठन, पाठन, चिन्तन, मनन और ध्यान में लग '(उत्तरा० २३) अनगार भगवंत का बीसवाँ गुण है।

२१ वचन-समाधारणा

असत्य और मिश्र वचन प्रवृत्ति का त्याग कर आवश्यकतानुसार सत्य और व्यवहार वचनों का हित, मित तथा गुण-वृद्धि कारक उच्चारण करना। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योगों का अनुमोदन तथा प्रचार हो, ऐसे वचन नहीं बोलना और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय तथा शुभ योग की वृद्धि हो, वैसे वचनों का उच्चारण करना—उपदेश देना। वाचना, पुच्छना, परावर्त्तना तथा डिगते को स्थिर करने में वचन की प्रवृत्ति करना—'वचन समाधारणा' है। इससे सम्यक्त्व की शुद्धि होती है। क्षयोपशम सम्यक्त्व से दर्शनमोहनीय कर्म के पुद्गल विशुद्ध तथा कमजोर होते-होते समूल नष्ट हो कर, आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है। इससे भविष्य में भी दुर्लभबोधि का भय नहीं रहता।

वचन की दुष्प्रवृत्ति से खुद का तो अहित होता ही है, परन्तु दूसरों का—श्रोताओं का भी अहित होता है। वचन-समाधारणा का पालक स्व-पर हितकारी है। मोक्ष मार्ग का प्रवर्तक है।

२२ काय-समाधारणा

शरीर सम्बन्धी अनुचित एवं सावद्य प्रवृत्ति तथा आलस्य प्रमाद आदि को हटा कर, प्रतिलेखना प्रमार्जना, वैयावृत्य, कायोत्सर्ग तथा तप आदि में लगाना—'काय समाधारणा' है। काया रूपी नौका को संसार से पार होने में लगाने वाला, संसार रूपी समुद्र में नहीं डूबता। किन्तु क्रमशः संसार से पार और मुक्ति के निकट होता जाता है। उसकी चारित्र पर्यायें विशुद्ध विशुद्धतर होती हुई यथाख्यात चारित्र प्राप्त करने में सहायक होती है। इसके बाद वह घातिकर्मों को नष्ट करके अयोगी हो कर अशरीरी =सिद्ध हो जाता है (उत्तरा० २९) काय समाधारणा का पालक अनगार, अपनी साधुता को सार्थक करता हुआ ध्येय को सिद्ध कर लेता है।

२३ ज्ञान-सम्पन्नता

अनगार भगवंत में सम्यग्ज्ञान तो होता ही है, किन्तु वह स्वल्प भी हो सकता है। इसलिए इस गुण का पालन करने के लिए उन्हें ज्ञान की सतत आराधना करते रहना चाहिए। जिनागमों का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिए। सांसारिक—लौकिक साहित्य का अभ्यास, सम्यग् ज्ञान की आराधना नहीं है। वह अज्ञान अथवा लौकिक कला की आराधना है। उससे आत्महित नहीं होता। सम्यक्श्रुत की

वाचना, पृच्छा, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा कहना तथा सुनना–सम्यग्ज्ञान सम्पन्नता है। यदि स्मरण-शक्ति कमजोर हो और ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के जोर से कठिनता से याद होता हो, तो भी ज्ञान की आराधना करते ही रहना चाहिए। ज्ञान सम्पन्न हो कर और दूसरों को सम्यक् श्रुत पढ़ा कर ज्ञान सम्पन्न बनाना भी अनगार का कर्त्तव्य है। विशेष विचार 'सम्यग्ज्ञान' प्रकरण में किया गया है।

२४ दर्शन सम्पन्नता

असत्य एवं मिथ्या श्रद्धान से वंचित रह कर सम्यक् श्रद्धान युक्त होना–"दर्शन सम्पन्नता" है। परमार्थ का परिचय करना परमार्थ का सेवन करना, और दर्शन-भ्रष्ट तथा मिथ्या-दर्शनी के परिचय से दूर रहना मोक्ष-मार्ग के पथिक का कर्त्तव्य है। निःसंकित आदि दर्शन के आठ आचारों का निरन्तर पालन करना होता है। विशेष के लिए 'सम्यग्दर्शन' अध्याय देखें।

२५ चारित्र सम्पन्नता

अनगार धर्म का पालन करना चारित्राचार है। इसके पाँच प्रकार हैं–१ सामायिक २ छेदोपस्थापनीय ३ परिहारविशुद्ध ४ सूक्ष्मसम्पराय और ५ यथाख्यात चारित्र। हमारे क्षेत्र में इस समय प्रथम के दो चारित्र हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दसविध समाचारी, दस प्रकार का यति-धर्म आदि चारित्र का पालन करना–चारित्र सम्पन्नता है।

२६ वेदना सहन

असातावेदनीय आदि कर्म के उदय से २२ प्रकार के परीषह और देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च कृत उपसर्ग उत्पन्न होते हैं। साध्य, कष्ट-साध्य और असाध्य रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। उन सब को समभावपूर्वक सहन करना, अनगार का छब्बीसवां गुण है। बाईस प्रकार के परीषह का वर्णन आगे किया जायगा।

२७ मृत्यु सहन

मृत्यु निकट आने पर अथवा कोई जीवन का अन्त करने पर तत्पर हो जाय, तो भी विचलित नहीं हो कर, समभाव से आत्मशुद्धि कर के आराधनापूर्वक मृत्यु के दुःख को सहन करे।

अनगार भगवंत को लक्षणों से जब यह मालूम हो जाता है कि अब यह शरीर गिरने वाला

है–जीवन पूर्ण होने वाला है, तव वे अधिक सावधान हो कर अंतिम संलेषणा करने के स्थान की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करते हैं। फिर लघुनीत-वड़ीनीत की भूमि की प्रतिलेखना करते हैं। फिर संथारे पर पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुँह कर के बैठते हैं। उसके वाद हाथ जोड़ कर और सिर झुका कर अरिहंत और सिद्ध भगवंत को वंदना नमस्कार करते हैं। उसके वाद गुरुदेव तथा ज्येष्ठ–रत्नाधिकों को वन्दना करते हैं। फिर अपने संयमी जीवन में लगे हुए दोषों की आलोचना कर के लगे हुए दोषों की प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करते हैं और पुनः धर्म में दृढ़तापूर्वक स्थिर हो कर असनादि चारों प्रकार के आहार का सदा के लिए त्याग कर देते हैं। अपने नेश्राय में रही हुई उपधि का भी त्याग कर देते हैं, इतना ही नहीं, जन्म से अव तक वड़ी सावधानीपूर्वक पाले हुए, अपने सर्व प्रिय शरीर का भी त्याग कर के धर्म-ध्यान में रमण करते हुए, जीवन की शेष घड़ियां विताते हैं। उनके मन के किसी भी कौने में मरने का किंचित् भी भय नहीं रहता, न जीने की इच्छा ही रहती है। व्याधि के उग्र हो जाने या और किसी प्रकार के कष्टों के आ जाने पर वे यह भी नहीं सोचते कि "अव तो शीघ्र ही मौत आ जाय तो अच्छा।" वे शान्तिपूर्वक, समाधि भाव से जीवन के शेष समय को पूर्ण कर के आराधक वनते हैं।

संयम के १७ प्रकार

असंयमी जीवन ही संसार परिभ्रमण का मूल कारण है. दुःखदायक है और जन्म-मरण और नरक, तिर्यञ्च गति की परम्परा में उलझाने वाला है। इस दुःख-परम्परा से छूट कर परम सुख को प्राप्त करने का उपाय 'संयमी जीवन' है। मन, वचन और काया को सावद्य–पापकारी कार्यों में लगाना असंयम है, और निरवद्य–आत्मा को शुद्ध करने वाले आचरण में लगाना–संयम है। वह संयम निम्नलिखित सत्तरह प्रकार का है–

१ **पृथ्वीकाय संयम**–पृथ्वीकाय के जीवों को उद्वेग, परिताप और किलामना नहीं पहुँचाना प्राणनाश नहीं करना। तीन करण और तीन योग से।

२ **अप्काय संयम**–पानी के जीवों को " " "

३ **तेजस्काय संयम**–अग्नि के जीवों कों " " "

४ **वायुकाय संयम**–वायु के जीवों को " " "

५ **वनस्पतिकाय संयम**–वनस्पति के जीवों को " " "

६ **बेइन्द्रिय संयम**–दो इन्द्रिय वाले जीवों को " " "

७ **तेइन्द्रिय संयम**–तीन इन्द्रिय वाले जीवों को " " "

८ **चौरेन्द्रिय संयम**–चार इन्द्रिय वाले जीवों को " " "

९ **पंचेन्द्रिय संयम**–पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को उद्वेग, परिताप और किलामना नहीं पहुँचाना प्राणनाश नहीं करना। तीन करण और तीन योग से।

१० **अजीवकाय संयम**–बहुमूल्य के वस्त्रादि उपकरण नहीं लेना। वस्तु के लेने और रखने में यतना करना। सोना, चाँदी, रुपया-पैसा अथवा कार्ड-लिफाफे नहीं रखना।

११ **प्रेक्षा संयम**–सोने बैठने, वस्त्रादि उठाने और रखने के पूर्व अच्छी तरह से देखना। युग प्रमाण भूमि देख कर चलना। (प्रतिलेखना का भी इसमें समावेश हो सकता है)

१२ **उपेक्षा संयम**–असंयम के कार्यों में उपेक्षा करना। मिथ्यादृष्टि, पासत्था और गृहस्थ तथा संसार सम्बन्धी विविध प्रकार के विचारों और कार्यों की ओर उपेक्षा रखना।

१३ **परिष्ठापनिका संयम**–मल, मूत्र, श्लेष्मादि, अशुद्ध अथवा अनुपयोगी आहारादि को निर्दोष स्थान पर यतनापूर्वक परठना।

१४ **प्रमार्जना संयम** स्थान, वस्त्र-पात्रादि का विधिपूर्वक प्रमार्जना करना।

१५ **मनः संयम**–मन में विषय-कषाय के भाव नहीं आने देकर धर्म-ध्यान में लगाना।

१६ **वचन संयम**-हिंसाकारी, असत्य, मिश्र और दर्शन-विघातक सावद्य वचनों को छोड़ कर निरवद्य वचन बोलना।

१७ **काय संयम**–सोने, बैठने, खाने, पीने, चलने, फिरने आदि में सावधान हो कर उपयोगपूर्वक निरवद्य प्रवृत्ति करना। (समवायांग १७)

पूर्वोक्त सत्रह प्रकार के संयम से असंयम के सभी मार्ग रुक जाते हैं। इस प्रकार का संयमी जीवन बहुत ही हलका और ऊर्ध्वगामी होता है। ऐसे संयमी महात्मा के चरणों में हमारी त्रिकाल वन्दना हो।

श्रमण धर्म

चारित्र धर्म की आराधना करने वाले वंदनीय पूजनीय श्रमण महात्मा, निम्न दस प्रकार के 'श्रमण धर्म' का पालन करते हैं।

१ **क्षमा** आत्मा को सहनशील बना कर, क्रोध पर विजय पाना। क्रोधोत्पत्ति के निमित्त उपस्थित हो जायँ, तो भी शांत रह कर सहन करना।

२ **मुक्ति**-लोभ त्याग। पौद्गलिक वस्तुओं की आसक्ति से मुक्त होना।

३ **आर्जव**–सरलता। माया का त्याग करना। दंभ ठगाई आदि के विचारों का त्याग कर सरल बन जाना।

४ **मार्दव**–मान का त्याग। किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं करना। श्रुत लाभ, तपस्या तथा

५ **लाघव**–लघुता–हलकापन। वस्त्रादि उपधि और संसारियों के स्नेह रूपी भार से हलका होना। संग्रह वृद्धि नहीं रखना। इससे हलुकर्मीपन आता है।

६ **सत्य**–असत्य से सर्वथा दूर रहना और आवश्यकता पड़ने पर सत्य हितकारी और परिमित वचन बोलना। सत्य का आदर करना।

७ **संयम**–मन, वचन और शरीर से असंयमी प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर के संयमी वनना। सत्रह प्रकार के संयम का पालन करना।

८ **तप**–इच्छा का निरोध कर के वारह प्रकार का तप करना।

९ **त्याग**–परिग्रह–उपकरण का त्याग करना। अकिंचन वृत्ति धारण करना। भौतिक वस्तु पर से ममत्व हटाना।

१० **ब्रह्मचर्य**–विषय-वासना को त्याग कर आत्मा को धर्म-चिंतन से पवित्र करते रहना।

(स्थानांग, समवायांग १०)

अनाचार त्याग

जीवन को पवित्र वनाने वाले नियमों को 'चारित्राचार' कहते हैं और संयमी जीवन को मलीन –असंयमी, वनाने वाली तथा महर्षियों द्वारा अनाचरित क्रिया को 'अनाचार' कहते हैं। अनाचार को 'दुराचार' भी कहते हैं। निर्ग्रंथों के लिए त्याज्य अनाचार ५२ हैं। श्री दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में इनका उल्लेख है। यथा–

१ औद्देशिक–साधु-साध्वी के निमित्त से वनाये हुए वस्त्र, पात्र, मकान और आहारादि का सेवन करना।

२ क्रीतकृत–साधु के लिए क्रय (खरीद) कर दिये जाने वाली वस्तु का सेवन करना।

३ नियागपिंड–गृहस्थ का निमन्त्रण पा कर कभी भी आहारादि लेना।

४ अभ्याहृत-गृहस्थ अपने घर से या अन्यत्र कहीं से भी आहारादि उपाश्रय में ला कर साधु को देवे, या साधु के सामने ला कर देवे, उसे ग्रहण करे तो।

५ रात्रि-भोजन–रात को आहार लेना या खाना, तथा दिन का लिया हुआ भी दूसरे या तीसरे दिन–दिनान्तर से–खाना। इस के सिवाय दिन में भी जोरदार आंधी चलने से अंधेरा छा गया हो और दिखाई नहीं देता हो तव खाना और ऐसे संकड़े वर्तन में से खाना कि जिसमें जीवादि दिखाई नहीं देते हों।

६ स्नान–देश-स्नान–हाथ-पाँव आदि धोना और सर्व-स्नान करना।

७ गन्ध–चन्दन, कर्पूर, इत्र आदि सुगन्धित वस्तु का सेवन करना।

८ माल्य–पुष्प, माला या स्वर्ण रत्न अथवा मोती के हार पहनना। कागज और सूत या अन्य प्रकार के हार पहनना।

९ वीजन–पंखे या कपड़े आदि से हवा करना या बिजली से चलने वाले पंखे का उपयोग करना।

१० सन्निधि–घृत, गुड़, शक्कर आदि वस्तुओं का संचय करना, रख छोड़ने के लिए लाना, रात को रखना।

११ गृहीमात्र गृहस्थों के बर्तन काम में लेना।

१२ राजपिंड–राजा, ठाकुर के योग्य अथवा उसके लिए बनाया हुआ आहरादि लेना।

१३ किमिच्छक–जहाँ याचक को पूछ कर कि 'तुम्हें क्या चाहिए'–दान दिया जाता हो, ऐसी दानशालादि से लेना।

१४ संवाधन–अस्थि, मांस आदि के आराम के लिए हाथ, पाँव आदि अंग दबवाना।

१५ दंत-प्रधावन–दाँतों को चमकिले और सुन्दर बनाने के लिए धोना।

१६ संप्रश्न–गृहस्थ को कुशलता के और सावदय प्रश्न पूछना।

१७ देह प्रलोकन–दर्पण आदि में अपना चेहरा और रूप देखना।

१८ अष्टापद नालिका–नालिका से पासा फेंक कर या अन्य प्रकार से जूआ खेलना। चौपड़, शतरंज आदि खेलना।

१९ छत्र धारण–सिर पर छत्र धारण करना–छाता ओढ़ना।

२० चिकित्सा–विना खास कारण के रोग का उपचार करना या गृहस्थों के रोग का उपचार करना।

२१ उपानह–जूते, खड़ाऊ और मोजे आदि पहनना।

२२ ज्योति आरंभ–अग्नि का आरंभ करना, दीपक आदि का उपयोग करना।

२३ शय्यातर पिंड–साधु साध्वी को ठहरने के लिए मकान देने वाले शय्यातर के घर का आहारादि लेना।

२४ आसंदी वेंत आदि से बने कुर्सी आदि आसन पर बैठना।

२५ पर्यक–पलंग, खाट, मंचक आदि का उपभोग करना।

२६ गृहान्तर निषद्या–गृहस्थ के घर, रोगादि कारण के बिना ही बैठना।

२७ गात्र उद्वर्तन–शरीर पर पीठी आदि का उबटन करना।

२८ गृही वैयावृत्य–गृहस्थ की सेवा करना अथवा गृहस्थ से सेवा करवाना।

२९ जाति आजीव वृत्ति–जाति, कुल आदि बता कर, संबंध जोड़ कर आजीविका करना।

३० तप्तानिर्वृत भोजित्व–पूर्ण निर्जीव नहीं बने ऐसे मिश्र पानी का सेवन करना ।
३१ आतुर स्मरण–क्षुधादि से आतुर बन कर अपने पूर्व के गृहस्थ जीवन को याद करना ।
३२ मूल–सचित्त मूले का सेवन करना ।
३३ शृंगवेर–अदरख का सेवन करना ।
३४ इक्षुखंड–गन्ने के टुकड़ों का सेवन करना ।
३५ कन्द–वज्रकन्द सूरणकन्द आदि कन्द–सचित्त वनस्पति का सेवन करना ।
३६ मूल–सचित्त वनस्पति के मूल का सेवन करना ।
३७ फल–आम, नींबू आदि फल का सेवन करना ।
३८ बीज–तिल आदि सचित्त बीजों का सेवन ।
३९ सौवर्चल–सचित्त सचल नमक अथवा सज्जी लेना ।
४० सैंधव लवण–सेंधा नमक जो सचित्त है ।
४१ रुमा लवण–सचित्त रोमक लवण लेना ।
४२ सामुद्र–समुद्र का सचित्त नमक लेना ।
४३ पांशुक्षार–ऊषर भूमि से बनने वाला सचित्त नमक लेना ।
४४ काला नमक–पर्वतीय प्रदेश में होने वाला सचित्त काला नमक ।
४५ धूपन–वस्त्रादि को धूप देकर सुगन्धित करना ।
४६ वमन–औषधी लेकर वमन करना ।
४७ वस्तिकर्म–मल शुद्धि के लिए एनिमा आदि लेना ।
४८ विरेचन–जुलाब लेना ।
४९ अंजन–आँखों में शोभा के लिए अंजन सुरमादि लगाना ।
५० दतवन–नीम बबूलादि की लकड़ी अथवा ब्रश से दाँत साफ करना तथा मस्सी आदि लगाना ।
५१ गात्राभ्यंग–शरीर पर तेल की मालिश करना ।
५२ विभूषण–वस्त्रादि से शरीर सुशोभित बनाना ।

उपरोक्त बावन अनाचारों–दुराचारों को टालने वाले सुसाधु होते हैं । उनकी साधुता निर्दोष होती है । वे वन्दनीय पूजनीय होते हैं । मुनिवरों का जीवन सीधा-सादा और आत्माभिमुख होता है । वे वास्तविक श्रमण सुखशीलिये, जिव्हा-लोलुप, दैहिकदृष्टि वाले और विभूषानुवादी नहीं होते । वे उपरोक्त अनाचारों से बचते हैं ।

सात दिन, मध्यम चार महीने और उत्कृष्ट छः महीने की है। भरत-ऐरवत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर भगवन्तों के शासनाश्रित साधु-साध्वियों को सामायिक चारित्र देने के वाद दूसरा छेदोपस्थापनीय चारित्र रूप महाव्रतों का आरोपण किया जाता है। महाव्रतारोपण के पूर्व जो चारित्र होता है वह इत्वरकालिक सामायिक चारित्र कहा जाता है।

२ यावत्कथिक सामायिक चारित्र—संसार का त्याग करते समय सर्वं सावद्य त्याग रूप सामायिक चारित्र, जिनके जीवनभर रहता है—जिनको पुनः महाव्रतारोपण की आवश्यकता नहीं होती। यह जीवनपर्यन्त का सामायिक चारित्र, भरत-ऐरवत क्षेत्र में दूसरे से लगा कर २३ वें तीर्थंकर भगवन्तों के शासन में तथा महाविदेह क्षेत्र के सभी साधु-साध्वियों में होता है।

२ **छेदोपस्थापनीय चारित्र**—पूर्व पर्याय का छेदन कर महाव्रतों में उपस्थापन किये जाने रूप चारित्र। यह भरत-ऐरवत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम तीर्थ में ही होता है। शेष २२ तथा महाविदेह में नहीं होता। इस चारित्र के दो भेद हैं। यथा—

निरतिचार छेदोपस्थापनीय—इत्वरकालिक सामायिक वाले को महाव्रतों का आरोपण किया जाय, तब तथा तेवीसवें तीर्थंकर के तीर्थ के साधु, अंतिम तीर्थंकर के तीर्थ में आवें तव, विना दोष के ही पूर्व-चारित्र का छेद कर महाव्रतों का आरोपण करने रूप निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय—मूल गुणों का घात करने वाले को पुनः महाव्रतों का आरोपण करने रूप चारित्र—सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

३ **परिहार-विशुद्ध चारित्र**—जिस चारित्र के द्वारा कर्मों का अथवा दोषों का विशेष रूप से परिहार हो कर, निर्जरा द्वारा विशेष विशुद्धि हो, उसे परिहारविशुद्ध चारित्र कहते हैं।

इस चारित्र की आराधना नौ साधु मिल कर करते हैं। इनमें से चार साधु तप करते हैं। ये 'पारिहारिक' कहलाते हैं। चार साधु वैयावृत्य करते हैं, ये 'अनुपारिहारिक' कहलाते हैं। शेष एक वाचना चार्य के रूप में रहता है, जिसे सभी साधु वन्दना करते हैं। उनसे प्रत्याख्यान लेते हैं. आलोचना करते हैं और शास्त्र श्रवण करते हैं।

पारिहारिक साधु ग्रीष्मऋतु में जघन्य उपवास, मध्यम वेला और उत्कृष्ट तेला का तप करते रहते हैं। शिशिरकाल में जघन्य वेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट चौला तथा वर्षाकाल में जघन्य तेला, मध्यम चोला, उत्कृष्ट पचोला तप करते रहते हैं। पारणे में आयंविल करते हैं। शेष पाँचों साधुओं के लिए तप का नियम नहीं है। वे चाहें, तो नित्य-भोजी भी रह सकते हैं। किन्तु इनका भोजन भी आयंविल तप युक्त होता है। यह क्रम छः महीने तक चलता है। इसके वाद जो चार साधु पारिहारिक थे, वे अनुपारिहारिक (वैयावृत्य करने वाले) हो जाते हैं और जो अनुपारिहारिक थे, वे प.रिहारिक हो

जाते हैं और एक साधु जो गुरु स्थानीय हैं, वे उसी रूप में रहते हैं। यह क्रम भी छः माह तक चलता है। इस प्रकार आठ साधुओं के पारिहारिक हो जाने के बाद (एक वर्ष बाद) उन आठ में से एक को गुरु पद पर स्थापित किया जाता है और गुरु पद पर रहे हुए मुनिवर, पारिहारिक बन कर छः माह पर्यंत उसी प्रकार तप करते हैं। इस प्रकार अठारह मास में यह परिहारविशुद्ध तप पूर्ण होता है। इसके पूर्ण होने पर या तो वे सभी मुनिराज पुनः इसी कल्प को प्रारम्भ कर देते हैं, या जिनकल्प धारण कर लेते हैं, या फिर पुनः गच्छ में आ जाते हैं।

यह परिहार-विशुद्ध कल्प, केवल छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले मुनिवरों को ही होता है—सामायिक चारित्र वालों को नहीं होता, अर्थात् मध्य के २२ तथा महाविदेह के तीर्थंकरों के साधुओं में नहीं होता।

इसके दो भेद हैं—१ निर्विश्यमानक—तप करने वाले पारिहारिक साधु और २ निर्विष्ट कायिक—वैयावृत्य करने वाले तथा तप करने के बाद गुरु पद पर रहा हुआ अनुपारिहारिक साधु, निर्विष्टकायिक परिहार-विशुद्ध चारित्री कहलाता है। कम से कम जिनकी आयु उनतीस वर्ष की हो, बीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय हो और जघन्य नौवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु और उत्कृष्ट असम्पूर्ण दस पूर्व का ज्ञान हो, वे ही परिहार-विशुद्ध चारित्र को अंगीकार कर सकते हैं। यह चारित्र तीर्थंकर भगवान् के पास अथवा जिन्होंने तीर्थंकर भगवान् के पास यह चारित्र अंगीकार किया हो, उसके पास ही अंगीकार किया जा सकता है, अन्य के पास नहीं।

४ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—जिसमें किञ्चित् मात्र सम्पराय (कषाय—लोभ) हो, वह सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है। यह भी दो प्रकार का होता है। जैसे—

संक्लिश्यमान सूक्ष्मसम्पराय—उपशम-श्रेणी पर चढ़ कर वापिस गिरते समय परिणाम उत्तरोत्तर संक्लेश युक्त होने के कारण, इस अधोमुखी परिणति को 'संक्लिश्यमान' कहते हैं।

विशुद्ध्यमान सूक्ष्मसम्पराय—उपशम अथवा क्षपक-श्रेणी पर चढ़ते समय, परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध रहते हैं। इसलिए उत्थानोन्मुखी—वर्धमान परिणाम के कारण विशुद्ध्यमान सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है।

यह चारित्र केवल दसवें गुणस्थान में होता है।

५ यथाख्यात चारित्र—कषाय रहित साधु का चारित्र, जो किसी भी प्रकार के किञ्चित् भी दोष से रहित, निर्मल और पूर्ण विशुद्ध होता है। जिसकी जिनेश्वरों ने प्रशंसा की है। उस सर्वोच्च चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान में और उसके आगे के गुणस्थानों में होता है। इसके निम्न भेद हैं—

छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र—यह ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में होता है।

केवली यथाख्यात चारित्र–यह तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है।

उपशान्त-मोह वीतराग यथाख्यात चारित्र–ग्यारहवें गुणस्थान में।

क्षीण-मोह वीतराग यथाख्यात चारित्र–बारहवें गुणस्थान में।

प्रतिपाति यथाख्यात चारित्र–ग्यारहवें गुणस्थान में। क्योंकि इसमें मोह उपशांत ही होता है। इसलिए उपशान्त हुए मोह की स्थिति समाप्त होने पर वह चारित्र भी समाप्त हो जाता है और अन्य गुणस्थान को प्राप्त करता है। अन्य गुणस्थान प्राप्त होने पर उनके मोह का उदय हो जाता है। इसलिए यह प्रतिपाति चारित्र है।

अप्रतिपाति यथाख्यात चारित्र–बारहवें और उनसे आगे के गुणस्थानों में।

सयोगी केवली यथाख्यात चारित्र–तेरहवें गुणस्थान में।

अयोगी केवली यथाख्यात चारित्र–चौदहवें गुणस्थान में। (भगवती २५–७)

वर्त्तमान काल में हमारे इस क्षेत्र में 'इत्वरकालिक सामायिक चारित्र' तथा 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' ही है। ये सारे विधि, विधान उन्हीं के लिए हैं। इन दो चारित्र का भी जो कल्पानुसार भावपूर्वक पालन करते हैं, वे मुनिवर इस संसार-समुद्र में जहाज के समान तिरन-तारन हैं।

निर्ग्रन्थ के भेद

१ **पुलाक निर्ग्रंथ**–पुलाक का अर्थ है निःसार–पोला। जिसमें चारित्र-परिणाम नहीं हो कर ऊपरी वेष-भूषादि हो। जिस प्रकार धान्य के भीतर का सार पदार्थ निकल चुका हो और ऊपर का पोला छिलका हो, उसी प्रकार चारित्र रूपी सार गुण से रहित साधु। किन्तु यह स्वरूप सापेक्ष है। कोई वेशधारी या साधुता का दिखावा मात्र करने वाला पुलाक-निर्ग्रंथ नहीं हो सकता। पुलाक बनने के पूर्व उसमें सार रूप चारित्र भावना रहती है। वह प्राणी साधारण नहीं होता। उसकी साधना मामूली नहीं होती। उच्च साधना के बल से जिसमें 'पुलाक' नाम की लब्धि उत्पन्न होती है, वही कारण पा कर 'पुलाकनिर्ग्रंथ' हो जाता है। टीकाकार कहते हैं कि संघ पर आई हुई आपत्ति के निवारण करने के लिए, दूसरा कोई मार्ग नहीं देख कर, पुलाक-निर्ग्रंथ अपनी विशिष्ठ शक्ति से आततायी का दमन करते हैं। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र की है। क्योंकि इस प्रकार की परिणति अधिक समय नहीं रहती। इस अल्प समय में ही वे उग्र कषाय से अपने चारित्र को निःसार बना देते हैं, इसीसे उन्हें पुलाक कहा है। पुलाक, मूल और उत्तर गुणों के विराधक होते हैं। उनमें सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है। यदि वे पुनः सम्हल जायँ, तो भाव-संयम की स्थिति को प्राप्त करके, आलोचना-प्रायश्चित्त करके आराधक हो सकते हैं। पुलाक के दो भेद हैं–१ लब्धि पुलाक–अपनी लब्धि

का प्रयोग करने वाले, २ प्रतिसेवना पुलाक–इनके पाँच भेद हैं–

१ **ज्ञान पुलाक**–ज्ञान में अतिचार लगाने वाला।

२ **दर्शन पुलाक**–सम्यक्त्व में शंकादि दोष लगाने वाला।

३ **चारित्र पुलाक**–मूल तथा उत्तर गुण में दोष लगाने वाला।

४ **लिंग पुलाक**–निष्कारण अन्यलिंग धारण करे अथवा साधु लिंग के साथ अन्यलिंग का भी कोई चिन्ह धारण करे।

५ **यथासूक्ष्म पुलाक**–प्रमाद बढ़ा कर मन से अकल्पनीय का सेवन करे। अथवा उपरोक्त चार भेदों में कुछ विराधना करे।

२ बकुश निर्ग्रंथ–जिसके चारित्र रूपी निर्मल वस्त्र में दोष रूपी विविध प्रकार के दाग लग गये हैं। जो शोभाप्रिय हैं, ऊपरी टामटीम पर ध्यान रख कर, भाव संयम में दोप लगाता है, वह 'बकुश' निर्ग्रंथ कहलाता है। बकुश निर्ग्रंथों का चारित्र, 'पुलाक' से श्रेष्ठ होता है। उनमें चारित्र भावना भी होती है, किन्तु फेशन-प्रियता के कारण वे दोषों का सेवन करते हैं। इसीसे वे बकुश कहलाते हैं। ये बकुश दो प्रकार के होते हैं।

१ **शरीर बकुश**–हाथ, पाँव, मुँह, दाँत आदि को धो कर साफ रखने वाला, केश सँवारने वाला और आँखों में शोभा के लिए अंजनादि लगाने वाला–शरीर बकुश है।

२ **उपकरण बकुश**–वस्त्र पात्रादि को धो कर तथा रंग कर सुशोभित बनाने वाला।

इस प्रकार शोभा बढ़ाने वाले साधु, सुखशीलिये, प्रशंसा के इच्छुक, तथा अधिक उपकरण रखने वाले भी होते हैं। इनकी खुद की दोष-प्रियता से इनके साथी साधुओं तथा शिष्यादि में भी दोषों की वृद्धि होती है। उपरोक्त दोनों प्रकार के बकुश के निम्न लिखित पाँच भेद हैं;–

१ **आभोग बकुश**–यह जानते हुए कि 'शरीर और उपकरण की शोभा बढ़ाना साधु के लिए निषिद्ध है'–दोष लगावे।

२ **अनाभोग बकुश**–अनजानपन से अथवा अचानक विभूषा कर के दोष लगावे।

३ **संवृत्त बकुश**–छिप कर दोषों का सेवन करने वाला।

४ **असंवृत्त बकुश**–प्रकट रीति से विभूषा करने वाला।

५ **यथासूक्ष्म बकुश**–उत्तर गुण में कुछ दोष सेवन करने वाला, आँख और मुंह को साफ रखने वाला।

बकुश चारित्र वाले मूल-गुण के विराधक नहीं होते, किन्तु उत्तर गुण के विराधक होते हैं। ये जिनकल्पी और स्थविरकल्पी होते हैं। इनमें पहले के दो चारित्र ही होते हैं।

३ कुशील निर्ग्रंथ–ये दो प्रकार के होते हैं। यथा–

१ **प्रतिसेवना कुशील**–चारित्रवान होते हुए भी जो इन्द्रियों के आधीन हो कर पिंडविशुद्धि, समिति, तप, प्रतिमादि में दोष लगावे, मूल या उत्तर गुणों में आज्ञा की विराधना करे, वह–प्रतिसेवना कुशील है।

२ **कषाय कुशील**–संज्वलन कषाय के उदय से, कषाय युक्त चारित्र वाला श्रमण, कषाय-कुशील कहलाता है।

प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रंथ के पाँच भेद इस प्रकार हैं–

१ **ज्ञान कुशील**–ज्ञान के निमित्त से आजीविका कर के ज्ञान को दूषित करने वाला।
२ **दर्शन कुशील**–दर्शन " " दर्शन को दूषित करने वाला।
३ **चारित्र कुशील**–चारित्र " " चारित्र में दोष लगाने वाला।
४ **लिंग कुशील**–लिंग का उपयोग आजिविकार्थ करने वाला।
५ **यथासूक्ष्म कुशील**–तपस्वी या अन्य विशेषता की प्रशंसा सुन कर हर्षित होने वाला।

कषाय-कुशील निर्ग्रंथ में सूक्ष्म कषाय होती है। उनमें यही दोष है। वे मूलगुण और उत्तरगुण में दोष नहीं लगाते, किन्तु कषाय-कुशीलपन से गिर जाय तो विराधक हो सकते हैं। कषाय-कुशील अवस्था में विराधक नहीं होते। इनमें कोई चारों कषाय में, कोई तीन, दो और एक में भी होते हैं। इनका गुणस्थान छठे से नौवें तक होता है। ये जिनकल्प, स्थितकल्प और कल्पातीत भी होते हैं। इनमें यथाख्यात के बिना प्रारंभ के चार चारित्र होते हैं।

प्रतिसेवना कुशील विराधक होते हैं। इनका गुणस्थान छठा और सातवां होता है। ये जिन-कल्प और स्थित-कल्प में भी होते हैं। इनमें पहले के दो चारित्र ही होते हैं।

४ **निर्ग्रंथ**–जिसके ग्रंथ–मोह का उदय नहीं हो, वह निर्ग्रंथ कहलाता है। कषाय के उदय का अभाव हो जाने पर, निर्ग्रंथ दशा की प्राप्ति होती है। अतः ये निर्ग्रंथ माने जाते हैं। इनके दो भेद हैं;–

उपशान्त मोह निर्ग्रंथ–जिनके मोह का उदय रुक गया है, ऐसे ११ वें गुणस्थानी।

क्षीण मोह निर्ग्रंथ–जिनका मोह सर्वथा नष्ट हो गया, ऐसे १२ वें गुणस्थानी निर्ग्रंथ।

ये दोनों छद्मस्थ होते हैं। निर्ग्रंथ के भी पांच भेद इस प्रकार हैं–

१ **प्रथम समय निर्ग्रंथ**–निर्ग्रंथ का काल तो केवल अन्तर्मुहूर्त का ही है, किन्तु इसमें भी निर्ग्रंथ दशा प्राप्ति के प्रथम समयवर्ती निर्ग्रथ इस भेद में हैं।
२ **अप्रथम समय निर्ग्रंथ**–प्रथम समय के बाद के अन्य समयों में वर्तने वाले।
३ **चरम समय निर्ग्रंथ**–अन्तिम समय में वर्तमान निर्ग्रथ।
४ **अचरम समय निर्ग्रंथ**–मध्य के समयों में वर्तमान।
५ **यथासूक्ष्म निर्ग्रंथ**–सभी समयों में वर्तमान निर्ग्रंथ।

निर्ग्रंथ की स्थिति जघन्य एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त की ही होती है। अन्तर्मुहूर्त के बाद उपशान्त-मोह निर्ग्रंथ तो कषाय-कुशील हो जाते हैं और क्षीणमोह निर्ग्रंथ, स्नातक हो जाते हैं। इनमें एक यथाख्यात चारित्र ही होता है।

५ **स्नातक निर्ग्रंथ**—स्नातक का अर्थ है निर्मल-विशुद्ध। जो निर्ग्रंथ घातिकर्मों के समूह को समूल नष्ट कर के विशुद्ध हो गए हैं, वे स्नातक हैं। ये यथाख्यात चारित्री कल्पातीत स्नातक भी दो प्रकार के होते हैं,—

१ **सयोगी स्नातक**—तेरहवें गुणस्थान पर रहे हुए केवलज्ञानी भगवन्त।

२ **अयोगी स्नातक**—चौदहवें गुणस्थान पर रहे हुए केवली भगवान्।

इन स्नातकों के नीचे लिखे पाँच भेद हैं;—

१ **अच्छवि**—काय योग का निरोध कर के शरीर रहित हुए स्नातक।

२ **अशबल**—विशुद्ध चारित्रवान्।

३ **अकर्मांश**—घातिकर्मों को क्षय कर के भव-भ्रमण के कारणों को नष्ट करने वाले।

४ **संशुद्ध ज्ञान दर्शनधर अरिहंत जिन केवली**—इन्द्रियों, मन तथा श्रुत आदि की सहायता के बिना ही, परम विशुद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शन को धारण करने वाले, विश्व-पूज्य जिन भगवान्।

५ **अपरिश्रावी**—काय-योग के पूर्ण रूप से निरुंधन हो जाने से कर्म-प्रवाह रहित निष्क्रिय अयोगी केवली भगवान्।

'पुलाक,' सर्वत्र और सदाकाल नहीं होते। वे अवसर्पिणी काल के पहले दूसरे और छठे आरे में नहीं होते, किन्तु जन्म की अपेक्षा तीसरे और चौथे आरे में होते हैं। उत्सर्पिणी काल में जन्म की अपेक्षा, दूसरे तीसरे और चौथे आरे में होते हैं, तथा सद्भाव की अपेक्षा तीसरे और चौथे आरे में ही होते हैं। पाँचवें छठे में नहीं होते।

नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी काल के चार विभाग हैं। यथा—

१ सुषमासुषम समान काल (पहले आरे के समान) इस प्रकार का काल 'देवकुरु' और 'उत्तरकुरु' क्षेत्र में होता है, २ सुषमा समान काल (दूसरे आरे के समान) इस प्रकार के भाव 'हरिवर्ष' और 'रम्यक्वर्ष' क्षेत्र में सदाकाल रहता है ३ सुषमदुःषमा समान काल (तीसरे आरे के जैसा) इस प्रकार की स्थिति 'हिमवत' और 'ऐरण्यवत' क्षेत्र में रहती है और ४ दुःषमसुषमा समान काल (चौथे आरे जैसा) 'महाविदेह' क्षेत्र में सदा-सर्वदा रहता है।

पुलाक निर्ग्रंथ, पूर्व के तीन काल समान प्रवर्त्तन में नहीं होते, किन्तु चौथे समान काल अर्थात्

महाविदेह क्षेत्र में होते हैं।

पुलाक निर्ग्रंथ जन्म और सद्भाव की अपेक्षा कर्मभूमि में ही होते हैं, अकर्मभूमि में नहीं होते। इनका साहरण भी नहीं होता–अर्थात् कोई देव-दानव इनका हरण कर के अन्यत्र नहीं ले जा सकता। पुलाक के अतिरिक्त अन्य निर्ग्रंथ+ जन्म और सद्भाव की अपेक्षा कर्मभूमि में होते हैं और इनका साहरण हो तो अकर्मभूमि में भी कभी इनका सद्भाव हो सकता है। अवसर्पिणी काल में जन्म तथा साहरण की अपेक्षा तीसरे चौथे और पाँचवें आरे में तथा उत्सर्पिणीकाल में जन्म की अपेक्षा २, ३, ४ आरे में और सद्भाव की अपेक्षा ३, ४ आरे में होते हैं। साहरण की अपेक्षा सभी आरों* में होते हैं। नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी में जन्म और सद्भाव की अपेक्षा चौथे आरे के समान काल वाले (महाविदेह क्षेत्र में) होते हैं और साहरण की अपेक्षा किसी भी काल में होते हैं।

ज्ञान–पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील में जघन्य ज्ञान–मति, श्रुति ये दो, और उत्कृष्ट अवधि सहित तीन ज्ञान होते हैं। कषाय-कुशील और निर्ग्रंथ में दो ज्ञान हो, तो मति श्रुति. तीन हो, तो मति, श्रुति और अवधि, अथवा मति, श्रुति और मनःपर्यव ज्ञान होता है और चार ज्ञान भी हो सकते हैं। स्नातक में तो एक मात्र केवलज्ञान ही होता है।

श्रुत–पुलाक में कम से कम ९ वें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु तक का और अधिक से अधिक संपूर्ण ९ पूर्व का श्रुत होता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील में जघन्य आठ प्रवचन-माता का और उत्कृष्ट १० पूर्व का श्रुत होता है। कषाय-कुशील और निर्ग्रंथ को जघन्य आठ प्रवचन-माता का और उत्कृष्ट १४ पूर्व का श्रुत होता है। स्नातक तो श्रुत रहित ही होते हैं।

प्रतिसेवना–(संयम के विपरीत आचरण अर्थात् दोष सेवन) वकुश, मूलगुण में दोष नहीं लगाते, किन्तु उत्तरगुण में दोष लगाते हैं। पुलाक और प्रतिसेवना-कुशील तो मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाते हैं। ये तीनों विराधक होते हैं। कषाय-कुशील का चारित्र निर्दोष होता है, वे विराधक नहीं होते, किन्तु आराधक ही होते हैं। इसी प्रकार निर्ग्रंथ और स्नातक भी आराधक ही होते हैं।

स्थिति–पुलाकपन जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है। वकुश जघन्य एक समय और उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि तक। निर्ग्रंथ, जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक तथा स्नातक जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि तक रहते हैं।

पुलाक और निर्ग्रंथ तो कभी नहीं भी होते. किन्तु वकुश, दोनों प्रकार के कुशील और स्नातक

\+ निर्ग्रंथ और स्नातक का साहरण नहीं होता, किन्तु कोई वकुशादि का साहरण हो और साहरण के बाद वे निर्ग्रन्थ या स्नातक हो जाय, तो सद्भाव हो सकता है (टीका)

* अकर्मभूमि में प्रथम, द्वितीय और तृतीय आरे के समान भाव वरतते हैं, तथा पन्द्रह कर्मभूमियों में–महाविदेह से साहरण हो तो प्रथमादि आरे में भी सद्भाव हो सकता है।

तो सदाकाल रहते हैं। हमारे भरत-क्षेत्र में इस समय वकुश और दोनों प्रकार के कुशील ही हैं। पुलाक निर्ग्रंथ और स्नातक का सर्वथा अभाव ही है।

इस विषय का विस्तार पूर्वक वर्णन श्री भगवती सूत्र के २५ वें शतक के ६ उद्देशे में किया गया है। जिज्ञासुओं को वहाँ से देख लेना चाहिए।

निर्ग्रंथ का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है—

जिन त्यागी श्रमणों के घरवार, कुटुम्ब परिवार और धन-धान्यादि वाहरी परिग्रह नहीं होता तथा कषायादि हार्दिक ग्रंथी—गाँठ नहीं होती, किसी प्रकार का प्रतिवन्ध नहीं होता, वे निर्ग्रंथ कहाते हैं। निर्ग्रंथ का स्वरूप जिनागम में इस प्रकार वताया है—

जो द्रव्य और भाव से अकेला (गच्छ में रहते हुए भी एकत्व-भाव वाला) है, जो अपनी आत्मा को—एकत्व को भली प्रकार से जानता है, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् श्रद्धान से युक्त है, जिसने आश्रव द्वारों को रोक दिया है और अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में कर लिया है, जो पाँचों समितियों से युक्त है, शत्रु और मित्र में समभाव रखने वाला है, जिसने आत्मवाद को प्राप्त कर लिया है, जो विद्वान हैं, जिन्होंने इन्द्रियादि की विषयों में प्रवृत्ति और अनुकूल विषयों में राग तथा प्रतिकूल में द्वेष के प्रवाह को रोक दिया है, जो संमान और पूजा पाने की इच्छा नहीं रखते हैं, जो धर्म के इच्छुक, धर्म के ज्ञाता, मोक्ष-मार्ग में परायण, समभावपूर्वक व्यवहार करने वाले, दान्त, भव्य और देह की ममता से रहित होते हैं—देह-भाव का त्याग कर आत्म-भाव में रमण करते हैं, वे निर्ग्रंथ कहे जाते हैं।"

(सूत्र कृतांग १-१६)

"निर्ग्रंथ वे ही हैं जो—१ विविक्त शयनासन (एकान्तवास) करे २ स्त्रियों सम्बन्धी—काम-विकार वर्धक कथा नहीं कहे, ३ स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं वैठे, ४ स्त्रियों का रूप एवं अंगोपांगादि का निरीक्षण नहीं करे ५ ओट में रह कर स्त्रियों के मधुर शब्दों, गीतों, हँसी या विलाप आदि नहीं सुने ६ गृहस्थावस्था में स्त्रियों के साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करे, ७ पुष्टिकारक—विकार वर्धक गरिष्ट भोजन नहीं करे ८ भूख से अधिक नहीं खावे पीवे ९ शरीर की विभूषा नहीं करे और १० मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का सेवन नहीं करे। जो इन नियमों का पालन करता है वह निर्ग्रंथ है।

(उत्तराध्ययन १६)

जो निर्ग्रंथ अपनी साधना में वर्धमान रहते हैं, वे स्नातक हो कर अरिहन्त और सिद्ध भगवान वन जाते हैं। ऐसे निर्ग्रंथ महर्षियों को हमारा कोटि-कोटि वन्दन हो।

नित्य आचरणीय

निर्ग्रंथनाथ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने श्रमण-निर्ग्रंथों को, सदैव पालन करने योग्य इन ५८ नियमों की आज्ञा दी है।

१-१० क्षमा आदि दस प्रकार के यति-धर्म (इनका वर्णन दस प्रकार के यति-धर्म में किया है)।

११ उत्क्षिप्त चरक-आहार प्राप्ति के लिए, गृहस्थ के घर जाने के पूर्व अभिग्रह करना कि 'मैं उसी आहार में से लूंगा-जो गृहस्थ ने अपने खाने के लिये, पकाने के बर्तन में से बाहर निकाल लिया हो।'

१२ निक्षिप्त चरक-पकाने के पात्र में से नहीं निकाले हुए आहार में से लेने की प्रतिज्ञा करना।

१३ अन्त चरक-खाने के बाद बचे हुए आहार में से लेना।

१४ प्रान्त चरक-ठंडा, बासी या भूने हुए चने आदि लेना।

१५ रुक्ष चरक-रूखा-सूखा-जिस पर घृत-तेल की चिकनाहट नहीं हो ऐसा आहार लेना।

१६ अज्ञात चरक-जाति आदि के परिचय बिना, अज्ञात घरों से आहार लेना। जिनका साधु से कोई परिचय नहीं हो, प्रीति नहीं हो और अपनत्व की भावना नहीं हो, ऐसे स्थानों से लेना।

१७ अन्नग्लान चरक-टीकाकार ने इस भेद के निम्न अर्थ किये हैं।

अन्नग्लान चरक-अभिग्रह विशेष से, प्रातःकाल प्रथम प्रहर में आहार करने वाला।

अन्नग्लायक चरक-भूख लगने पर ही गोचरी जाने वाला।

अन्यग्लाय चरक-दूसरे रोगी साधु के लिए गोचरी जाने वाला।

उपरोक्त भेद का दूसरा रूप है-"अन्नवेल चरक" जिसका अर्थ-'भोजन काल के पहले या पीछे गोचरी के लिए जाने वाला।

१८ मौन चरक-मौन के साथ भिक्षा के लिए निकलने वाला।

१९ संसृष्ट कल्पिक-भोजन से लिप्त हाथ अथवा पात्र से (अर्थात् भोजन परोसने वाले से) आहार लेने के अभिग्रह वाला।

२० तज्जात संसृष्ट-जो आहार दिया जाय, उसी से लिप्त हाथ या पात्र से दिया जाता हुआ आहार ही लेने वाला।

२१ औपनिधिक-गृहस्थ के पास जो भी आहार रक्खा है, उनमें से जो अधिक निकटवर्ती है, उसी की गवेषणा करने वाला।

२२ शुद्धेषणिक-निर्दोष-शंका आदि किसी भी दोष से रहित आहार की गवेषणा करने वाला।

२३ संख्यादत्तिक–दात की संख्या का परिमाण कर के लेने वाला ।

२४ दृष्ट लाभिक–खुद के देखे हुए आहार की ही गवेषणा करने वाला ।

२५ पृष्ट लाभिक–जो इस प्रकार पूछे कि 'हे साधु ! मैं आपको आहार दूं ?' उससे आहार लेने का निश्चय कर के जाने वाला ।

२६ आचाम्लिक–आयंबिल तप करने वाला ।

२७ निविकृतिक–घृत, तेल, दूधादि विगयों का त्याग करने वाला ।

२८ पूर्वार्द्धिक–प्रातःकाल से दो प्रहर तक आहार का त्याग करने वाला ।

२९ परिमित पिण्डपातिक–द्रव्य आदि का परिमाण कर के परिमित आहार लेने वाला ।

३० भिन्न पिण्डपातिक–अखंड रोटी आदि नहीं लेकर टुकड़े की हुई वस्तु लेने वाला ।

३१–३५ अरस, विरस, अन्त, प्रान्त और रुक्ष आहार का अभिगृह कर के गोचरी जाने वाला ।

३६ अरसाहार जीवी–हिंग आदि (नमक जीरा आदि) से स्वाद युक्त नहीं हो, ऐसे आहार से जीवन बिताने वाला ।

३७ विरसाहारजीवी–जिसका रस मिट चुका ऐसे पुराने धान्य के आहार से जीवनभर उदर-पूर्ति करने वाला ।

३८ अन्ताहारजीवी–दाता के भोजन कर लेने के बाद बचे हुए आहार से ही जीवन चलाने वाला ।

३९ प्रान्ताहारजीवी–तुच्छ, हलका अथवा निःसार वस्तु के आहार से ही जीवन चलाने वाला ।

४० रूक्षाहार जीवी–घृत, तेलादि स्निग्धता से रहित–लूखे आहार से ही आयुपर्यंत पेटपूर्ति करने वाला ।

४१ स्थानातिग–अतिशय रूप से स्थिर हो कर कायोत्सर्ग करने वाला ।

४२ उत्कटुकासनिक–पाँवों के दोनों पंजों पर ही सारा शरीर टिका कर (कूल्हे को किसी आसनादि पर नहीं टिका कर) बैठना और ध्यान करना ।

४३ प्रतिमा स्थायी–एक रात्रि आदि की भिक्षुप्रतिमा स्वीकार कर ध्यानस्थ रहना ।

४४ वीरासनिक–विना सिंहासन के ही सिंहासन जैसे दिवाल के सहारे मात्र पैरों पर ही सारे शरीर का भार रख कर ध्यान करने वाला । यह आसन महान् दुष्कर है ।

४५ नैषधिक–नीचे लिखे पाँच प्रकार में से किसी भी प्रकार के आसन से बैठने वाला ।

समपादयुता–समान रूप से पैर और कूल्हे, पृथ्वी पर अथवा आसन पर जमा कर बैठना ।

गोनिषधिका–गाय की तरह दोनों हाथ और पाँव जमा कर बैठना ।

हस्तिशुण्डिका–कुल्हों के बल बैठ कर एक पाँव ऊपर रखना ।

पर्यङ्का–पद्मासन से बैठना ।

अर्द्ध पर्यङ्का–जंघा पर एक पैर रख कर बैठना।

४६ दण्डायतिक–दण्ड की तरह पैर लम्वे फैला कर बैठना।

४७ लगण्ड शायिक–कुबड़ निकलने की तरह मस्तक और हाथ की कोहनी तथा पाँव की एड़ी भूमि पर टिका कर और पीठ को ऊँची रख कर सोने वाला।

४८ आतापक–शीत अथवा आतप को सहन करने वाले (सर्दी के दिनों में शीत की आतापना और गर्मी के दिनों में धूप की आतापना लेने वाले)। यह जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन प्रकार की है।

४९ अप्रावृत्तक–वस्त्र नहीं रखते हुए ठण्ड के दिनों में धूप का कष्ट सहन करने वाले। यह भी जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ऐसी तीन प्रकार की होती है।

५० अकण्डूयक:–खुजली चलने पर भी नहीं खुजलाने वाला। (ठाणांग ५–१–३९६)

प्रभु महावीर स्वामी ने उपरोक्त नियमों में से यथाशक्य अधिक से अधिक पालन करते रहने की आज्ञा प्रदान की है। इन नियमों और इनके पालकों की प्रशंसा की है। प्रथम के क्षमादि दस नियम तो सभी एक साथ पालन किये जा सकते हैं। वाद के ३० आहार सम्वन्धी और अन्त के दस आसन युक्त ध्यान सम्वन्धी है। इनमें से यथाशक्ति पालन करते हुए विचरने वाले निर्ग्रंथ, भगवान् की आज्ञा के आराधक होते हैं।

नीचे लिखे आठ नियमों का सदैव, उत्साहपूर्वक एवं आलस्य तथा प्रमाद रहित हो कर पालन करना चाहिये। इनमें पराक्रम करते ही रहना चाहिए।

१ जिस शास्त्र अथवा धर्म को पहले नहीं सुना हो, उसे सुनने का प्रयत्न करना।

२ सुने हुए धर्म को स्मरण कर, हृदय में दृढ़ धारणा वना लेनी चाहिए। परावर्त्तना द्वारा स्मृति में जमाये रखना चाहिए।

३ संयम के द्वारा नये कर्मों की आवक रोक देनी चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं कोई कर्मों का द्वार खुल न जाय।

४ तपस्या के द्वारा पुराने कर्मों को सतत नष्ट करते रहना और आत्मा की विशुद्धि में वृद्धि करते रहना।

५ योग्य शिष्यों को ग्रहण करने में तत्पर रहना।

६ शिष्यों को साधु आचार (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य–यों पांच प्रकार का आचार) और गोचरी की विधि सिखाने में तत्पर रहना।

७ रोगी और वृद्ध साधु की उत्साहपूर्वक वैयावृत्य करने में तत्पर रहना।

८ यदि साधर्मियों में विरोध हो जाय, तो निष्पक्ष, राग-द्वेष रहित तथा मध्यस्थ रहना चाहिए

और यह भावना रखनी चाहिए कि 'यह कलह, विवाद अथवा विरोध किसी प्रकार शान्त हो जाय।' उस विरोध को मिटाने में तत्पर रहना चाहिए। (ठाणांग ८)

वंदनीय मुनिराज, पूर्वोक्त ५० नियमों के समान ये आठ नियम भी सदैव सावधानीपूर्वक आचरण में लाते रहते हैं।

योग संग्रह

मोक्ष साधना में सहायक, दोषों को दूर कर के शुद्धि करने वाले, ऐसे प्रशस्त योगों के संग्रह को 'योग संग्रह' कहते हैं। मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति–शुभ योग के ३२ भेद इस प्रकार हैं–

१ आलोचना–गुरु के समक्ष शुद्ध भावों से सच्ची आलोचना करना।

२ निरपलाप–शिष्य या अन्य कोई अपने सामने आलोचना करे, तो वह किसी को नहीं कह कर अपने में ही सीमित रखना।

३ दृढ़ धर्मिता–आपत्ति आने पर भी अपने धर्म में दृढ़ रहना।

४ निराश्रित तप–किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छा के बिना अथवा किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा के विना तप करना।

५ शिक्षा–सूत्र और अर्थ ग्रहण रूप तथा प्रतिलेखनादि रूप आसेवना शिक्षा ग्रहण करना।

६ निष्प्रतिकर्म–शरीर की शोभा नहीं बढ़ाना।

७ अज्ञात तप–यश और सत्कार की इच्छा नहीं रख कर, इस प्रकार तप करना कि बाहर किसी को मालूम नहीं पड़ सके।

८ निर्लोभ–वस्त्र, पात्र अथवा स्वादिष्ट आहार आदि किसी भी वस्तु का लोभ नहीं करना।

९ तितिक्षा–संयम साधना करते हुए जो परीषह और उपसर्ग आवें, उन्हें शान्तिपूर्वक सहन करना।

१० आर्जव–हृदय में ऋजुता–सरलता धारण करना।

११ शुचि–सत्य और शुद्धाचार से पवित्र रहना।

१२ सम्यग्दृष्टि–दृष्टि की विशेष शुद्धता, सम्यक्त्व की शुद्धि।

१३ समाधि–समाधिवन्त–शान्त और प्रसन्न रहना।

१४ आचार–चारित्रवान् होना, निष्कपट हो कर चारित्र पालना।

१५ विनयोपगत–मान को त्याग कर विनयशील बनना।

१६ धैर्यवान्–अधीरता और चञ्चलता छोड़ कर धीरज धारण करना।
१७ संवेग–संसार से अरुचि और मोक्ष के प्रति अनुराग होना। मुक्ति की अभिलाषा होना।
१८ प्रणिधि–माया का त्याग कर के निःशल्य होना, भावों को उज्ज्वल रखना।
१९ सुविहित–उत्तम आचार का सतत पालन करते ही रहना।
२० संवर–आश्रव के मार्गों को बन्द करके संवरवन्त होना।
२१ दोष-निरोध–अपने दोषों को हटा कर उनके मार्ग ही बन्द कर देना, जिससे पुनः दोष प्रवेश नहीं कर सके।
२२ सर्व-काम विरक्तता–पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों से सदा विरक्त ही रहना।
२३ मूल-गुण प्रत्याख्यान–मूल गुण विषयक–हिंसादि त्याग के प्रत्याख्यान करना और उसमें दृढ़ रहना।
२४ उत्तरगुण प्रत्याख्यान–उत्तर-गुण विषयक–तप आदि के प्रत्याख्यान कर के शुद्धतापूर्वक पालन करना।
२५ व्युत्सर्ग–शरीरादि द्रव्य और कषायादि भाव व्युत्सर्ग करना।
२६ अप्रमाद–प्रमाद को छोड़ना, उसे पास नहीं आने देना।
२७ समय साधना-काल के प्रत्येक क्षण को सार्थक करना, जिस समय जो अनुष्ठान करने का हो, वही करना। समय को व्यर्थ नहीं खोना।
२८ ध्यान संवर योग–मन वचन और काया के योगों का संवरण कर के ध्यान करना।
२९ मृत्यु का समय अथवा मारणान्तिक कष्ट आ जाने पर भी दृढ़तापूर्वक साधना करना।
३० संयोग ज्ञान–इन्द्रियों अथवा विषयों का संयोग, अथवा वाह्य संयोग को ज्ञान से हेय जान कर त्यागना।
३१ प्रायश्चित्त–लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त कर के शुद्ध होना।
३२ अन्तिम साधना–अन्तिम समय में संलेखणा कर के पण्डित मरण की आराधना करना।

(समवायांग ३२)

उपरोक्त योगसंग्रह में सभी प्रकार की उत्तम करणी का समावेश हो जाता है। इस प्रकार वत्तीस योगसंग्रह' से आत्मा को उज्ज्वल करने वाले संत प्रवर, संसार के लिए मंगल रूप हैं।

संभोग

समान समाचारी वाले साधुओं के साथ सम्मिलित आहारादि व्यवहार को 'संभोग' कहते हैं एक गच्छ के साधुओं में तो परस्पर संभोग-वन्दनादि व्यवहार प्रायः होते ही हैं, क्योंकि उनके आचा विचार समान होते हैं। यदि एक गच्छ के साधुओं के आचार-विचार में भेद हुआ, तो संभोग में भी भे हो जाता है। यदि आचार-विचार में अत्यधिक साम्यता हो और कोई खास विषमता नहीं हो, तो अन्य गच्छ से भी संभोग हो सकते हैं-सभी नहीं, तो अमुक संभोग हो सकते हैं। किन्तु जहाँ विषमता मुख हो वहाँ संभोग नहीं रहते-नहीं रहना चाहिये। विचार की (विषमता जो दर्शन-गुण का घात करत हो) तथा आचार की शिथिलता हो, उनके साथ संभोग नहीं रहते।

जिस प्रकार संसारियों में भी संभोग-असंभोग होता है। ज्ञाति वर्ग अथवा संस्था के नियमों अनुकूल आचरण करने वालों से ही खान-पानादि व्यवहार होता है। प्रतिकूल आचरण करने वालों सम्बन्ध नहीं रहता, विच्छेद होता है, इसी प्रकार श्रमण-वर्ग में भी विषम आचार-विचार वालों सम्बन्ध नहीं रहता। जो आचार से गिर जाता है और सुधार नहीं करता, उससे श्रमण-वर्ग अपने संभो छोड़ देते हैं। संभोग बारह प्रकार का है—

१ उपधि विषयक—वस्त्र, पात्र आदि का परस्पर लेना-देना। यह उपधि विषयक संभोग है।

उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित—शुद्ध उपधि को संभोगी साधुओं के साथ र कर प्राप्त करना, उसे काम में आने योग्य बनाना, काम में लेना—उपधि विषयक संभोग है। यदि दो लगे, तो तीन बार तक प्रायश्चित्त दे कर शुद्धि की जाती है, किन्तु फिर भी चौथी बार दोष लगावे, त उसे विसंभोगी कर दिया जाता है। यदि प्रथम बार दोष सेवन पर प्रायश्चित्त दिया जाय और दोष साधु प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करे, तो उससे उसी समय सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है।

पासत्था आदि के साथ उपधि लेने-देने का व्यवहार करे, तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता तथा अकारण साध्वी के साथ और किसी अन्य संभोगी साधु के साथ कोई साधु, उपधि लेने देने क व्यवहार करे, तो वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है।

२ श्रुत संभोग—विधिपूर्वक श्रुतज्ञान का अभ्यास करवाना या दूसरे के पास जा कर पढ़ना अविधि से पढ़-पढ़ावे तथा पासत्था आदि को एवं स्त्री को वाचना आदि देवे, तो वह प्रायश्चित क भागी होता है।

३ भक्तपान—आहार-पानी का देना-लेना।

४ अंजली-प्रग्रह—वन्दन-व्यवहार तथा आलोचनादि करना।

५ दान–वस्त्र, पात्र, शिष्य आदि देना।

६ निमन्त्रण–शय्या, उपधि, आहार, शिष्यादि के लिए निमन्त्रण देना।

७ अभ्युत्थान–बड़ों के आने पर आदर देने के लिए खड़ा होना।

८ कृतिकर्म–विधिपूर्वक वन्दना करना।

९ वैयावृत्य–सेवा करना, रोगी, वृद्ध आदि का आवश्यकतानुसार कार्य करना।

१० समवसरण–व्याख्यानादि के समय साथ रहना, बैठना आदि।

११ सन्निषद्या–आसन आदि देना।

१२ कथा-प्रबन्ध–एक साथ बैठ कर व्याख्यानादि देना। (समवायांग–१२)

संभोग का प्रश्न शुद्धाचारियों के लिए है। पासत्थ, कुशील आदि ढीले आचरण वालों से संभोग नहीं रखने का नियम आवश्यक है। इससे संस्कृति की रक्षा होती है। विशुद्ध परम्परा का पोषण होता है। इसके विपरीत जो अनसमझ व्यक्ति कहा करते हैं कि साधुओं में संभोग विषयक घृणा क्यों? साधु, साधु से ही परहेज क्यों करते है," इत्यादि। यह उन लोगों की भूल है। कुशीलियों से पृथक् रहना, उत्तम परम्परा की रक्षा के लिए आवश्यक है। कुशीलियों से भेद नहीं रखने से शुद्धाचार को हानि और शिथिलाचार को प्रोत्साहन मिलता है। श्री हरिभद्रसूरिजी ने भी 'आवश्यक' में शिथिलाचारियों की संगति त्यागने के विषय में लिखा है कि–

"जो शुद्धाचारी हो कर शिथिलाचारियों से संगति करे, तो वह शुद्धाचारी भी वन्दनीय नहीं रहता। जिस प्रकार विष्ठा में पड़ी हुई चम्पकमाला, हृदय पर धारण करने योग्य नहीं रह कर उपेक्षणीय ही रहती है। श्री स्थानांग सूत्र में लिखा है कि नीचे लिखे कारणों से अपने संभोगी को विसंभोगी बना दे, तो विसंभोगी करने वाला, भगवान् की आज्ञा का विराधक नहीं होता।

१ संयम में दोष लगावे, पाप-स्थान का सेवन कर ले।

२ दोष लगा कर भी जो गुरु से छुपावे और उनके सामने आलोचना नहीं करे।

३ यदि आलोचना कर ले, तो गुरु के दिये प्रायश्चित्त को स्वीकार नहीं करे।

४ यदि प्रायश्चित्त अंगीकार कर भी ले, तो उसका पालन नहीं करे।

५ स्थविरकल्पी मुनिवरों के स्थिति आदि कल्प का उल्लंघन कर के अनाचार का सेवन करे और मन में साहसी हो कर सोचे कि–"मैंने अकार्य कर भी लिया, तो स्थविर मेरा क्या करेंगे?" (ठाणांग ५–१)

६ आचार्य के विरुद्ध चलने वाले को।

७ उपाध्याय के विरोधी को।

८ स्थविरों के प्रति शत्रुता का व्यवहार करने वाले को

९ साधुओं के कुल के वैरी को।

१० गण की विपरीतता करने वाले को।

११ संघ-शत्रु को।

१२ ज्ञान का अवर्णवाद बोलने वाले को।

१३ दर्शन के विरुद्ध–मिथ्यात्व का प्रचार करने, पक्ष लेने और खोटी श्रद्धा करने-कराने वाले

१४ चारित्र के नियमों के प्रतिकूल चलने वाले को।

ऐसे विपरीत आचरण करने वाले, प्रत्यनीक–शत्रु हैं। इन्हें विसांभोगिक बना कर सम्बन्ध विच्छेद कर लेना आवश्यक है। (ठाणांग ९)

कल्प

साधुओं के आचार को 'कल्प' कहते हैं। यह अठारह प्रकार का है। यथा–

१–६ प्राणातिपातादि पाँच और रात्रि-भोजन का त्याग करना। इन छः प्रकार के व्रत का पालन करना।

७–१२ छः काय के जीवों के आरंभ का त्याग करना।

१३ अकल्पनीय आहार, पानी, वस्त्र, पात्र और शय्या आदि, आधाकर्मी आदि दोष युक्त सेवन नहीं करना।

१४ गृहस्थ के वर्त्तनों को काम में नहीं लेना।

१५ गृहस्थ के आसन, पलंग, कुर्सी आदि पर नहीं बैठना।

१६ गृहस्थ के घर जा कर नहीं बैठना।

१७ स्नान नहीं करना।

१८ शरीर तथा वस्त्रों की शोभा बढ़ाने और स्वच्छ रहने रूप–शोभा-वर्धक कार्य नहीं करना।

(दशवै० ६ तथा समवा० १८)

इस प्रकार अठारह प्रकार के कल्प का यथा-विधि पालन करता हुआ श्रमण, जिनाज्ञा का आराधक होता है।

उपरोक्त कल्प के अतिरिक्त नीचे लिखे कल्प भी पंचासक १७ में बताये गये हैं।

१ अचेलकल्प–वस्त्र नहीं रखना, या थोड़े और अल्प मूल्य वाले, तथा जीर्ण वस्त्र रखना–अचेल कल्प है।

इन्द्र का दिया हुआ वस्त्र, तीर्थंकर भगवान् के कन्धे पर पड़ा रहता है, किन्तु भगवान् उसको काम में नहीं लेते। उस वस्त्र के गिर जाने पर उसे उठाते भी नहीं हैं। उस वस्त्र के गिरने के पूर्व एवं पश्चात् वे नग्न ही रहते हैं। तीर्थंकर भगवान् छद्मस्थावस्था में भी 'कल्पातीत' ही होते हैं।

कोई कोई जिनकल्पी भी वस्त्र नहीं रखते हैं। जिनकल्पियों के उपकरण के निम्न आठ विकल्प हैं;—

१ रजोहरण और मुखवस्त्रिका तो सभी जिनकल्पी रखते ही हैं।

२ कोई उपरोक्त दो उपकरण के अतिरिक्त एक वस्त्र रखते हैं।

३ कोई दो उपकरण और दो वस्त्र रखते हैं।

४ दो उपकरण और तीन वस्त्र।

५ कोई १ रजोहरण २ मुखवस्त्रिका ३ पात्र ४ पात्र-बन्धन ५ पात्र-स्थापना ६ पात्र-केसरिका (पात्र पोंछने का वस्त्र) ७ पटल (पात्र ढकने का वस्त्र) ८ रजस्त्राण (पात्र लपेटने का कपड़ा) और ९ गोच्छक (पात्र आदि साफ करने का कपड़ा) ये नौ उपकरण रखते हैं।

६ उपरोक्त ९ के साथ एक वस्त्र।

७ उपरोक्त ९ के साथ दो वस्त्र।

८ उपरोक्त ९ के साथ तीन वस्त्र।

इस प्रकार बारह उपकरण तक जिनकल्पी मुनि रख सकते हैं।

प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु, अल्प-मूल्य वाले नवीन वस्त्र ले सकते हैं। शेष २२ तीर्थंकरों के साधु, जैसा वस्त्र मिल जाता है, वैसा ले लेते हैं। वे ममत्व भाव से मूल्यवान वस्त्र नहीं लेते।

स्थविरकल्पी साधु, थोड़े, अल्पमूल्य वाले और काम में लिये हुए जीर्ण वस्त्र लेते हैं। इसलिए वस्त्र होते हुए भी 'अचेलकल्पी' कहलाते हैं।

अचेल-कल्प का विधान प्रथम और अन्तिम जिनेश्वरों के शासन में होता है, क्योंकि प्रथम जिनेश्वर के साधु ऋजुजड़ = सरल अनभिज्ञ होते हैं और अन्तिम जिनेश्वरों के समय के मनुष्यों का स्वभाव वक्रजड़ = कुटिल मूर्ख—कुतर्क खड़े कर के गली निकालने वाले होते हैं। इसलिए अचेल-कल्प का विधान किया गया है।

दूसरे से ले कर २३ वें तीर्थपति के शासन के मनुष्य ऋजुप्राज्ञ = सरल और बुद्धिमान् होते हैं। वे धर्म का पालन पूर्ण रूप से करते हैं। इसलिए वे अधिक मूल्य वाले नवीन वस्त्र भी ले सकते हैं। उन साधुओं के लिए अचेल-कल्प नहीं है।

२ औद्देशिक कल्प—साधु, साध्वी अथवा याचकों के लिए बनाया हुआ आहार 'औद्देशिक कल्प' है। इसके चार भेद हैं।

१ किसी साधु या साध्वी का निर्देश किए बिना, सामान्य रूप से साधु-साध्वियों के लिए

बनाया गया आहार ।

२ साधु अथवा साध्वियों के लिए ही बनाया हुआ आहार ।

३ अमुक उपाश्रय (तथा सम्प्रदाय या गच्छ) में रहने वाले साधु-साध्वियों के लिए बनाया हुआ ।

४ किसी खास व्यक्ति के लिए बनाया हुआ ।

१ प्रथम प्रकार का औद्देशिक आहार सभी तीर्थंकरों के शासन में त्याज्य है ।

यदि प्रथम तीर्थंकर के संघ के उद्देश्य से आहार बनाया हो, तो वह प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए अकल्पनीय है । किन्तु बीच के तीर्थंकरों के साधु-साध्वी उसे ले सकते हैं । यदि बीच के जिनेश्वरों के शासन के साधु-साध्वियों के लिए बनाया हो, तो वह सभी के लिए अकल्प्य है, अर्थात् उसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वी भी नहीं ले सकते । बीच में से भी किसी (तीसरे चौथे आदि) एक को उद्देश्य कर बनाया जाय, तो वह उनके लिए तथा प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए अकल्प्य है, शेष सभी के लिए कल्पनीय है । यदि अन्तिम तीर्थाधिपति के शासन के साधुओं को उद्देश्य कर बनाया हो, तो वह आहार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासनाश्रित साधुओं के लिए तो अकल्पनीय है, किन्तु शेष जिनेश्वरों के शासनाश्रित साधुओं के लिए कल्पनीय है ।

२ प्रथम तीर्थंकर के साधु अथवा साध्वियों के लिए बनाया हुआ आहार, प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता, किन्तु बीच के तीर्थंकरों के शासन के साधु-साध्वियों के लिए वह कल्पनीय है ।

मध्यम तीर्थंकर के साधुओं के लिए बनाया हुआ आहार, उनके साधुओं को नहीं कल्पता, किन्तु साध्वियों को कल्पता है । मध्यम तीर्थंकर के साधुओं में भी जिसके तीर्थ के साधुओं को उद्देश्य कर बनाया, उसके तीर्थ के साधुओं को नहीं कल्पता, उनके अतिरिक्त अन्य मध्य के तीर्थंकरों के साधुओं को कल्पता है । अन्तिम तीर्थपति के साधुओं या साध्वियों के लिए बनाया हुआ आहार, प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता, किन्तु मध्य के २२ तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों को कल्पता है । यदि सामान्य रूप से साधु-साध्वी के लिए बनाया जाय, तो वह किसी को भी नहीं कल्पता है । यदि सामान्य रूप से केवल साधुओं के लिए ही बनाया गया हो, तो प्रथम और अन्तिम तीर्थों को छोड़ कर शेष २२ तीर्थ की साध्वियों को कल्पता है । इसी प्रकार साध्वियों के उद्देश्य से बना हुआ आहार, मध्य के साधुओं को कल्पता है ।

३ सामान्य रूप से उपाश्रय को लक्ष्य कर बनाया हुआ आहार, किसी भी तीर्थ के साधु-साध्वी तो नहीं कल्पता । यदि प्रथम तीर्थ के उपाश्रय के साधुओं को देने के लिए बनाया हो, तो प्रथम

और अन्तिम तीर्थ के साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता, परन्तु मध्य के सभी तीर्थ के साधु-साध्वियों को कल्पता है। यदि मध्य के सभी साधु-साध्वियों को सामान्य रूप से लक्ष कर बनावे, तो किसी को भी नहीं कल्पता। यदि मध्य के किसी एक तीर्थ के साधु-साध्वी के लिए बना हो, तो उन्हें तथा प्रथम व अन्तिम तीर्थ के साधुओं को नहीं कल्पता, किन्तु अन्य सभी को कल्पता है। अन्तिम तीर्थंकर के उपाश्रयों को लक्ष्य कर बना हो, तो प्रथम और अन्तिम को छोड़ कर, मध्य तीर्थस्थ को कल्पता है।

४ प्रथम तीर्थ के किसी एक साधु के लिए बनाया आहार, प्रथम और अन्तिम तीर्थ के साधुओं को नहीं कल्पता, किन्तु मध्य के सभी साधुओं को कल्पता है। मध्यम तीर्थ के किसी एक साधु के लिए बनाया हुआ आहार, किसी एक साधु के ले लेने पर, मध्य-तीर्थ के दूसरे साधुओं को लेना कल्पता है। नाम-पूर्वक किसी एक के लिए बनाया हुआ, उसे छोड़ कर, मध्य तीर्थों के अन्य साधु-साध्वियों के लिए कल्पनीय है।

जो रीति मध्य के बावीस तीर्थंकरों की है, वही सभी महाविदेह के साधुओं की है।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के साधुओं का परस्पर मिलना नहीं होता, किन्तु कल्प की समानता बताने के लिए ही यह भंग बताया है। प्रथम और द्वितीय तथा २३ वें और २४ वें के तीर्थ के साधुओं का मिलाप हो सकता है।

३ शय्यातरपिण्ड कल्प–शय्यातर–जिसके मकान में रहे, उसके यहाँ से आहार-पानी आदि नहीं लेना। यह कल्प सभी तीर्थङ्करों के साधुओं के शासन के लिए पालनीय है।

४–राजपिण्ड कल्प–राजा या ठाकुर आदि का आहार आदि लेना 'राजपिण्ड' है। यह कल्प प्रथम और अन्तिम जिनेश्वरों के शासन के साधु-साध्वी के लिए अवश्य पालनीय है। राजपिण्ड में निम्न आठ वस्तुएँ मानी गई है–

१ अशन, २ पान, ३ खादिम, ४ स्वादिम, ५ वस्त्र, ६ पात्र, ७ कम्बल और ८ रजोहरण।

५ कृतिकर्म कल्प–बड़े को वन्दना करना 'कृतिकर्म' कल्प है। बड़े के आने पर खड़े होना और आने वाले के सामने जाना, ये दो भेद कृतिकर्म के हैं। थोड़ी दीक्षा वाला, अधिक दीक्षा पर्याय वाले को ही वन्दना करता है। यह कल्प सभी तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए है।

६ व्रत कल्प–प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के साधु-साध्वी के 'पाँच महाव्रत' और मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के साधुओं के 'चार याम' होते हैं। यह अन्तर गिनती का है। व्रतों में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि मध्य के तीर्थङ्करों के साधु-साध्वी, चौथे महाव्रत को पाँचवें में मिलाते हैं। क्योंकि परिग्रहित स्त्री-पुरुष के साथ ही मैथुन होता है। इसलिए परिग्रह में दोनों गिन लिए हैं और उसका नाम "बहिद्धा दाणाओ वेरमाणं" है। यह कल्प सभी तीर्थङ्करों के साधुओं को पालनीय है।

७ पुरुष-ज्येष्ठ कल्प–जो ज्ञान दर्शन और चारित्र में बड़ा है, वह 'ज्येष्ठ'-बड़ा है। प्रथम और

अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में उपस्थापना=छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा) होता है। इसमें जो बड़ा हो, वह ज्येष्ठ माना जाता है। यह नियम मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के शासन में नहीं है। उस समय छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं होता। जो साधु निरतिचार चारित्र पालने में बड़ा हो, वही ज्येष्ठ माना जाता है।

बड़ी दीक्षा उसी को दी जाती है, जिसने साधु के आचार को पढ़ लिया हो, उसके अर्थ को जान लिया हो। जो (रात्रि-भोजन त्याग सहित) छः महाव्रतों का तीन करण तीन योग से पालन करता है, ऐसे साधु को छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है।

यदि पिता पुत्र आदि तथा राजा और मन्त्री आदि दो व्यक्ति एक साथ दीक्षा लें और एक साथ ही अध्ययन समाप्त कर बड़ी दीक्षा की योग्यता प्राप्त कर लें, तो लोक-प्रथा के अनुसार पहले पिता या राजा आदि को बड़ी-दीक्षा दे कर फिर पुत्र या मन्त्री आदि को देवे। यदि पिता या राजा आदि को अध्ययनादि की समाप्ति में विलम्ब हो, तो पुत्र या मन्त्री आदि को उतने दिन रोक कर, पिता आदि को योग्य होने पर बड़ी-दीक्षा देने के साथ पुत्रादि को दीक्षित करे। यदि पिता आदि के अध्ययन में अधिक विलम्ब हो, तो उन्हें पूछ कर पुत्रादि को उपस्थापना करनी चाहिए।

इस कल्प का नाम 'पुरुष ज्येष्ठ कल्प' है। इसका आशय यह है कि साध्वी दीक्षा में कितनी ही बड़ी क्यों न हो, किन्तु उसे अपने से अत्यन्त अल्प, मात्र एक दिन की दीक्षा वाले साधु को भी वन्दना करनी होती है।

८ प्रतिक्रमण कल्प—व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना कर पुनः व्रतों में सावधान होने की क्रिया को प्रतिक्रमण कहते हैं। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में यह 'स्थित कल्प' है। दोष लगे या नहीं लगे, प्रातःकाल और सायंकाल—दोनों बार प्रतिक्रमण करना ही चाहिये। मध्य तीर्थंकरों के तथा महाविदेह के साधुओं के लिए यह कल्प अनियत है। जब दोष लगे तब प्रतिक्रमण करने का उनका आचार है।

९ मास कल्प—वर्षावास तथा रोगादि अन्य कारण के विना एक स्थान पर, एक मास से अधिक नहीं ठहरना—मासकल्प है। यह कल्प भी प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए नियत है। मध्य के तीर्थंकर के लिए और महाविदेह के साधुओं के लिए नियत नहीं है।

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर की साध्वी के लिए एक स्थान पर दो मास तक ठहरने का विधान है।

१० पर्युषण कल्प—श्रावण से लगा कर कार्तिक पूर्णिमा तक एक स्थान पर रहना 'पर्युषणकल्प' है। यह कल्प प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधु-साध्वी के लिए नियत है। मध्य के तीर्थंकरों के साधुओं के लिए और महाविदेह वालों के लिए अनियत है।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों के लिए ये दस ही कल्प अवश्य पालनीय हैं। अतएव उन्हें "स्थित कल्प" कहते हैं।

मध्य के २२ तीर्थंकरों के लिए—१ शय्यातरपिण्ड २ कृतिकर्म कल्प ३ व्रत कल्प और ४ ज्येष्ठ-कल्प तो स्थित—अवश्य पालनीय है, शेष ६ के लिए वे अस्थित कल्प हैं। कारण उपस्थित होने पर ही वे इनका पालन करते हैं। महाविदेह के साधु-साध्वी का कल्प भी इसी प्रकार का है।

उपघात और विशुद्धि

संयम पालन करने में कुछ प्रमाद हो जाने पर ऐसे दोष लग जाते हैं कि जिनसे चारित्र का भंग होता है। श्री स्थानांग सूत्र स्था. १० में चारित्र की घात करने वाले निम्नलिखित दस दोष वताये हैं—

१ उद्गमोपघात—आधाकर्मादि सोलह दोष युक्त आहारादि लेना।

२ उत्पादनोपघात—उत्पादन के सोलह दोष युक्त आहार-पानी वस्त्रादि लेना।

३ एषणोपघात—एषणा के दस दोष लगाना।

४ परिकर्मोपघात—वस्त्र पात्र आदि के फटने-टूटने पर सांधने और जोड़ने में होने वाली अशुद्धि।

वस्त्र में फटे हुए एक ही स्थान पर क्रमशः तीन कारियों पर चौथी लगाना—वस्त्र परिकर्मोपघात है। पात्र में तीन से अधिक जोड़ लगाये हों, या टेढ़ा-मेढ़ा पात्र हो, तो ऐसे पात्र में एक महीना १५ दिन से अधिक भोजन करना—पात्र परिकर्मोपघात दोष है। जिस स्थान को साधु के लिए लिपाया-पुताया हो, सुगन्धित किया हो, प्रकाशित किया हो, तो वह—वसति परिकर्मोपघात दोष है।

५ परिहरणोपघात—अकल्पनीय का सेवन करना—परिहरणोपघात है। एकलविहारी और स्वच्छन्दाचारी के सेवन किये हुए उपकरणों को काम में लेने से यह दोष लगता है। यदि एकलविहारी अलग रह कर शुद्ध चारित्र पालता है और वह वापिस गच्छ में आ जाता है, तो उसके उपकरण काम में लेने से दोष नहीं लगता। दोष लगता है दूषित के उपकरणों को काम में लेने से।

वसति परिहरणोपघात—एक ही स्थान पर वर्षावास अथवा शेषकाल के एक मास से अकारण अधिक रहे, तो वह स्थान 'कालातिक्रान्त' दोष वाला है। इस प्रकार के अन्य दोष युक्त वसति का सेवन करना—स्थान परिहरणोपघात है।

६ ज्ञानोपघात—ज्ञानाभ्यास में प्रमाद करना और ज्ञान में दोष लगाना।

७ दर्शनोपघात—सम्यक्त्व में शंका-कांक्षादि दोष लगाना।

८ चारित्रोपघात—समिति गुप्ति में किसी प्रकार का दोष लगाना।

९ अचियत्तोपघात–गुरु और रत्नाधिक में भक्तिभाव नहीं रखना। उनका विनय आदि न करना–अप्रीतिकोपघात है।

१० संरक्षणोपघात–वस्त्र, पात्र तथा शरीरादि में ममत्व भाव रखना।

उपरोक्त दस प्रकार से संयम की घात होती है। निर्ग्रंथ मुनिवर इन दोषों से वंचित रह कर अपने स्वीकृत संयम को विशुद्ध रखते हैं। वह विशुद्धि भी दस प्रकार की है। जैसे–

१–३ उद्गम विशुद्धि, उत्पादन विशुद्धि और एषणा विशुद्धि। आहारादि के ४२ दोष नहीं लगा कर निर्दोष आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, स्थानादि सेवन करने से संयम शुद्ध रहता है।

४ परिकर्म विशुद्धि–निर्दोष रीति से वस्त्र पात्र और स्थान का सेवन करना।

५ परिहरणा विशुद्धि–निर्दोष उपकरण सेवन करने से।

६ ज्ञान विशुद्धि–ज्ञान की निरतिचार आराधना करने से।

७ दर्शन विशुद्धि–दर्शनाचार का निर्दोष रीति से पालन करने से।

८ चारित्र विशुद्धि–महाव्रतों एवं समिति-गुप्ति का निर्दोष पालन करने से।

९ अचियत्त विशुद्धि–गुरुजनों का विनय-वैयावृत्य करने से।

१० संरक्षण विशुद्धि–निर्ममत्व भाव से उपकरणों का उपयोग करते हुए।

इस प्रकार निर्दोष रीति से संयम पालन करने वाले अनगार भगवन्त, संसार में शरणभूत एवं मंगलमय होते हैं।

अवलम्बन

संयमी जीवन के निर्बाह में साधुओं को निम्न पांच स्थान सहायक होते हैं। इसलिए इन्हें अवलम्बन रूप बताये हैं।

१ छः काया–पृथ्वी, पानी, वनस्पति, अग्नि, वायु और त्रस जीव भी साधु जीवन में सहायक होते हैं।

पृथ्वी–सोने, बैठने, चलने, फिरने और उच्चारादि परठने के काम में आती है।

पानी–पीने आदि के काम में आता है।

वनस्पति–आहार, पाट, पाटले, वस्त्र, पात्र आदि वनस्पति के होते हैं।

अग्नि–आहार, अग्नि से ही पकाया हुआ होता है और ओसामन, गरम पानी आदि भी काम में आता है।

वायु–जीवन के लिए वायु तो काम में आता ही रहता है।

त्रस–कम्बल ऊन का बनता है, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों का दूध, दही आदि भी काम में आता है। आहार, वस्त्र, शय्या आदि मनुष्यों से प्राप्त होता है।

२ गण–गच्छवासी मुनियों के लिए साधुओं से परस्पर सेवा, वाचना, वैयावृत्य आदि की सहायता मिलती है।

३ राजा–राजा के राज्य में निर्विघ्न विचरना होता है, न्याय-नीति के पलवाने के कारण, दुष्ट मनुष्य राज्य-सत्ता के प्रभाव से साधु-साध्वी को विघ्नकर्त्ता नहीं हो सकते। इस प्रकार राजा भी सहायक माना गया है।

४ गृहपति, रहने के लिए स्थान देता है, इसलिए वह भी सहायक है।

५ शरीर–शरीर के द्वारा ही धर्म की आराधना होती है, इसलिए शरीर भी सहायक है।

इस प्रकार सुखपूर्वक निर्दोष संयम पालन करने में उपरोक्त पाँच सहायक होते हैं।

(ठाणांग ५–३)

अवग्रह

निर्ग्रंथ अनगार किसी भी आवश्यक वस्तु को ग्रहण करते हैं, तो वस्तु के स्वामी की आज्ञा विना ग्रहण नहीं करते हैं। वे प्रत्येक वस्तु उसके स्वामी की आज्ञा से ही ग्रहण करते हैं। आज्ञा देने वाले निम्नलिखित पाँच प्रकार के होते हैं–

१ देवेन्द्रावग्रह–इन्द्र की आज्ञा। जिस वस्तु का कोई प्रत्यक्ष स्वामी नहीं हो, वह वस्तु दक्षिण-भरत के साधु-साध्वी को प्रथम स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र की आज्ञा लेकर तृण, सूखा पान, कंकर आदि लेने चाहिये। शक्रेन्द्र ने पहले से भगवान् महावीर प्रभु से निवेदन कर के अपनी आज्ञा प्रदान कर दी है।

२ राजावग्रह–चक्रवर्ती राजा की आज्ञा। भरतादि छः क्षेत्र में चक्रवर्ती का राज्य हो, तो वहाँ आवश्यकता होने पर उनकी आज्ञा प्राप्त करना।

३ गृहपति का अवग्रह–जिस मण्डल का जो राजा हो, उस मण्डलिक राजा की आज्ञा प्राप्त करना।

४ सागारी का अवग्रह–स्थान और पाट-पाटला आदि के लिए गृह-स्वामी की आज्ञा प्राप्त करना।

५ साधर्मिक अवग्रह–समान धर्म वाले साधुओं की वर्षाऋतु के सिवाय शेष काल में एक मास तथा चातुर्मास में पाँच कोस तक के क्षेत्र में आज्ञा प्राप्त करना।

अवग्रह का क्रम पश्चानुपूर्वी है। सबसे पहले साधर्मिक का अवग्रह लिया जाता है। उसके बाद

सागारी का। इस प्रकार जब चक्रवर्ती राजा के अवग्रह का भी योग नहीं हो, तो देवेन्द्र का अवग्रह चल सकता है। किन्तु देवेन्द्र की आज्ञा होने पर भी राजा की नहीं हो, तो वह वस्तु स्वीकार नहीं की जा सकती। इसी प्रकार राजाज्ञा होने पर भी गृहपति अनुमति नहीं दे और गृहपति अनुमति दे दे, किन्तु सागारी आज्ञा नहीं दे, तो भी निषेध रहता है। अन्त में साधर्मी की आज्ञा के बिना चारों की अनुमति व्यर्थ हो जाती है। (भगवती १६-२)

शय्या

आरामतलब-सुखशील व्यक्तियों के लिए बिछौना ठीक एवं मन मुताबिक नहीं हो, तो उन्हें दुःख होता है। उनकी रात, दुःखपूर्वक व्यतीत होती है। इसी प्रकार मुनि जीवन में भी ठीक प्रवृत्ति न होने पर 'दुःख शय्या' होती है। संसार की दृष्टि से दुःख रूप शय्या-द्रव्यतः दुःख रूप शय्या है, किन्तु मुनि जीवन में मन की अस्थिरता-असन्तोष एवं उपराम भाव, दुःख-शय्या है। वह चार प्रकार की है। यथा-

१ प्रव्रजित होने के बाद जिस मुनि को दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से निर्ग्रंथ-प्रवचन में शंका, पर-दर्शन की कांक्षा, फल में सन्देह से चित्त डाँवाडोल हो जाता है और मन में कलुषितता आ जाती है। इस प्रकार की मन की हालत होने पर, निर्ग्रंथ-प्रवचन में अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि के कारण उसका मन ऊँचा-नीचा होता रहता है और वह धर्म से पतित हो जाता है। यह प्रथम दुःख-शय्या है।

२ कोई मुनि दीक्षित होने के बाद अपने प्राप्त लाभ में सन्तुष्ट नहीं रह कर, दूसरों से लाभ की इच्छा रखता है, विशेष लालायित रहता है और वह पर से वस्तु प्राप्त करने की तृष्णा बढ़ाता ही रहता है। इस प्रकार परायी आशा रखने वाला, असन्तुष्ट रह कर ऊँचा-नीचा होता रहता है और वह धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। यह दूसरी दुःख-शय्या है।

३ साधु हो कर जिसने काम-भोगों का त्याग कर दिया है, किन्तु फिर भी मनुष्य और देव सम्बन्धी काम-भोगों की इच्छा करता है, विशेष अभिलाषा रखता है और उनकी इच्छा में ही अपना अमूल्य समय बरबाद करता रहता है तथा संकल्प-विकल्प करता हुआ धर्म से गिर जाता है। यह तीसरी दुःख-शय्या है।

४ कोई श्रमण यह विचार करे कि जब मैं गृहस्थवास में था, तब तो तेल की मालिश व उबटन भी होती थी, अंगोपांग को अच्छी तरह धोता था और स्नान कर के शरीर को पूर्ण आराम पहुँचाया जाता था। शरीर में से किसी प्रकार की दुर्गन्धी नहीं आ पाती थी। किन्तु अब न तो मर्दन है, न उबटन और स्नान भी नहीं किया जाता। पसीने और मैल से शरीर में दुर्गन्ध भी आती है। यह कैसा

गन्दा जीवन है ? इस प्रकार स्नान-मर्दनादि की इच्छा करता हुआ वह संयम से निकल जाता है। यह चौथी दु:ख-शय्या है।

उपरोक्त 'दु:ख-शय्या' के विपरीत निम्न चार 'सुख-शय्या' है।

१ निर्ग्रन्थ-प्रवचन में दृढ़ श्रद्धालु रहता हुआ और शंका-कांक्षादि दोषों से बचता हुआ तथा अपने मन को जिन-प्रवचन में स्थिर रखता हुआ, सुख रूप शय्या का सोने वाला है।

२ जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहता है, दूसरों से लाभ की आशा नहीं रखता, न वैसी अभिलाषा ही रखता है, वह निर्लोभी एवं सन्तुष्ट मुनि, संयम में रमण करता हुआ, दूसरी सुख-शय्या में सोने वाला है।

३ जो साधु देव और मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों की इच्छा भी नहीं करता, किन्तु संयम में लीन रहता है। वह तीसरी सुख-शय्या में शयन करने वाला है।

४ जो साधु, संसार का त्याग करने के बाद यह सोचे कि जब अरिहन्त भगवान्, निरोग, बलिष्ठ और दृढ़ शरीर वाले हो कर भी उदार, कल्याणकारी, महान् प्रभावशाली और कर्मों को क्षय करने वाले लम्बी तपस्या करते थे और आदरपूर्वक संयम का पालन करते थे, तो मुझे आभ्योपगमिकी (लुंचन एवं ब्रह्मचर्यादि पालन से होने वाली) तथा औपक्रमिकी (रोगादि से होने वाली) वेदना को शान्तिपूर्वक एवं दीनता-रहित सहन करना चाहिये। यदि समभावपूर्वक वेदना को सहन नहीं करूंगा, तो मुझे एकान्त पाप-कर्म का बन्ध होगा और समभावपूर्वक सहन कर लूँगा तो एकान्त निर्जरा होगी। इस प्रकार चिन्तन करता हुआ और मैल-परीषह आदि को शान्तिपूर्वक सहता हुआ चौथी सुख रूप शय्या में शयन करता है। (ठाणांग ४-३)

सच्चे साधु दु:ख-शय्या को त्याग कर सुख-शय्या में शयन करते हैं।

स्नान त्याग

निर्ग्रन्थ अनगार आत्मार्थी होते हैं। वे आत्म-कल्याण के लिए ही संसार का त्याग कर साधु बनते हैं। इसलिए उनकी सभी क्रियाएँ आत्म-लक्षी होती है। आत्मार्थियों का लक्ष अशरीरी बनने का होता है। वे शरीर को धोने और स्नान करने की क्रिया नहीं करते। स्नान करनेवाले संसारी हैं एवं काम-गुण के इच्छुक होते हैं। क्योंकि स्नान, रूप-गुण, गंध-गुण और स्पर्श-गुण के लिए होता है। अर्थात् शरीर को सुन्दर, पसीने आदि की गंध से रहित तथा मनोज्ञ स्पर्श के लिए स्नान किया जाता है और इससे काम-गुण को उत्तेजना मिलती है। संयमी मुनिराज, काम-गुण के त्यागी होते हैं। इसलिए उनके

लिए स्नान करना वर्जित है और संयमी मुनिराजों के धर्माचार के विपरीत–अनाचार है (दशवै०३)

भगवान् फरमाते हैं कि–' जब तक जीवन है, तब तक मैल परीषह को सहन करे। अर्थात् शरीर पर मैल हो जाने से विचलित नहीं होवे और उसे दूर करने के लिए स्नान करने का विचार ही नहीं करे। (उत्तरा० २)

"स्नान करने से निर्ग्रन्थाचार तथा संयम से पतन हो जाता है। इसलिए साधु ठण्डे (सचित्त) अथवा गरम (अचित्त) जल से भी स्नान नहीं करे। मैथुन-भाव से उपशान्त=विरत रहने वाले भिक्षु को शरीर की विभूषा की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि विभूषाप्रिय साधु के चिकने कर्म बँधते हैं और इससे संसार में परिभ्रमण होता है।" (दशवै० ६–६५ से ६७)

"जो अचित्त जल से भी स्नान करते हैं, वे संयम से दूर हैं। (सूयग० १–७–२१)

इस प्रकार आगमों में अनेक स्थानों पर स्नान करने की मनाई की है। इतना ही नहीं, खास लेपादि कारण बिना हाथ-पाँव धोने वाले साधु के लिए निशीथ उ० ३ में प्रायश्चित्त विधान किया है। जब श्रावकों के लिए भी सामायिक पौषधादि धर्म की आराधना तथा पाँचवीं प्रतिमा से ही स्नान का त्याग होना बताया है, तब साधु के लिए स्नान का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य नियम है ही।

स्नान, मैल को दूर करने के लिए किया जाता है। आत्मा के मैल को दूर करने के इच्छुक की, आर्त्त और रौद्र ध्यान से मलीन बनी हुई आत्मा की सफाई, धर्म और शुक्ल ध्यान से होती है। निर्ग्रन्थ मुनिवरों के आत्म-स्नान का परिचय देते हुए महामुनि हरिकेशीजी ने याज्ञिकों को कहा था कि–

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामिदोसं॥
एयं सिणाणं कुसलेहिदिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते॥

हरिकेश मुनि कहते हैं कि हे याज्ञिकों! निष्पाप आत्मा को प्रसन्न करने वाली शुभ-लेश्या–पवित्र विचारधारा रूपी धार्मिक जलाशय है और ब्रह्मचर्य रूपी शान्ति प्रदायक तीर्थ है। जिसमें स्नान कर के पाप-पङ्क को दूर करते हुए निर्मल एवं विशुद्ध हुआ जाता है। आप्त पुरुषों ने अपने विशिष्ट ज्ञान में ऐसे ही आत्म-स्नान को परम शान्तिदायक देखा है और ऐसे ही महा-स्नान की महर्षियों ने प्रशंसा की है। ऐसे स्नान से निर्मल और विशुद्ध हो कर महर्षि उत्तम स्थान–मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। (उत्तरा० १२)

जो लोग स्नान करने में धर्म और मुक्ति मानते हैं, उन्हें समझाते हुए आगमकार महर्षि फरमाते हैं कि–

"यदि स्नान करने से मुक्ति होती हो, तो जलाशय में रहने वाले मत्स्य-कच्छपादि जानवरों

की भी मुक्ति होनी चाहिए। क्योंकि वे तो जीवनपर्यंत उन्हीं में रहते हैं। यदि कहा जाय कि–'जल का स्वभाव मैल को दूर करने का है। इसलिए वह पाप रूप मैल को धो देता है,' तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि यदि जल से पाप धुल जाय, तो पुण्य भी धुल जाना चाहिए।" (सूयग० १–७)

जिस प्रकार पानी से शरीर पर का मैल धुलता है, उसी प्रकार चन्दनादि उत्तम विलेपन भी धुल जाता है। फिर उसे केवल मैल धोने वाला ही क्यों माना जाय? तथा पानी शरीर का मैल धो सकता है, आत्मा का नहीं। क्योंकि वहाँ पानी की पहुँच नहीं है। आत्मा का मैल–आत्मा के जिन अध्यवसायों से मैल जमा, उसके विपरीत अध्यवसायों से छूटता है। अर्थात् विषय-कषायादि से आत्मा पर मैल लगा, तो विषय-कषायों को नष्ट करने और स्वाध्याय-ध्यानादि से आत्मा पवित्र होती है।

यदि कोई कहे कि प्रभु-स्मरण और अर्चन करने के पूर्व स्नान आवश्यक है। इसके बिना प्रभु-पूजा की योग्यता नहीं आती, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्वत्यागी संत तो बिना स्नान के ही प्रभु-स्मरण और प्रभु-पूजादि करते ही हैं। उनके लिए स्नान निषिद्ध है, तो प्रभु-स्मरणादि में गृहस्थों के लिए वह आवश्यक कैसे हो सकता है?

कोई यह भी कहते हैं कि 'पूर्व के श्रावक, प्रभु-वन्दन करने जाते, तो स्नान कर के ही जाते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि बिना स्नान के प्रभु-वन्दनादि नहीं होते,' तो यह भी अनुचित है। क्योंकि उनका स्नान करना धार्मिक कार्य नहीं, किन्तु बनठन कर अपने गौरव युक्त जाना ही उनका उद्देश्य था। इसलिए उन्होंने स्नान के बाद श्रेष्ठ वस्त्राभूषण, पुष्पमालाएँ, छत्र, चामर युक्त और सवारी पर चढ़ कर गए थे। फिर तो उनका उत्तम वस्त्रादि पहनना, छत्रादि धारण करना और सवारी पर चढ़ना आदि भी धर्म माना जायगा? वास्तव में ये सभी क्रियाएँ गौरव प्रदर्शित करने रूप हैं और जब स्वयं भगवान् ने ही स्नान त्याग रूप धर्म कहा, "अण्हाणए" (ठाणांग ९) और भगवान् स्वयं स्नान नहीं करते थे, तथा उन्होंने स्नान करने का निषेध किया, तो उनके श्रमण, स्नान कैसे कर सकते हैं? और उनके उपासक, बिना स्नान किये प्रभु की वन्दना, अर्चना और स्मरण नहीं होना कैसे मान सकते हैं?

भगवान् को वन्दन करने के लिए जाने वाले सभी लोग, स्नान कर के ही जाते थे–ऐसी बात नहीं है। अर्जुनमाली, बिना स्नान किये ही भगवान् के दर्शन को गया था। यदि स्नान करना अनिवार्य होता, तो श्री सुदर्शन सेठ, अर्जुन से अवश्यक हते कि–'पहले स्नान कर लो। बिना स्नान किए भगवान् के पास नहीं जाया करते। श्री स्कन्दकजी, कालोदायी आदि भी बिना स्नान किए समवसरण में चले गये। तिर्यंच श्रावक भी बिना स्नान किये प्रभु के समवसरण में जाते थे। सुश्रावक शंखजी, पौषध-दशा में, बिना स्नान किए ही भगवान् को वन्दनार्थ गये थे। अतएव धर्मार्थ स्नान की आवश्यकता बताना अनुचित है।

स्नान दो कारण से किया जाता है–या तो देह-दृष्टि से, या फिर धार्मिक विधान से। निर्ग्रंथों

के लिए दोनों कारणों का अभाव है। देह-दृष्टि भी उनमें नहीं है और धार्मिक विधान भी नहीं है। इसीलिए जैन-श्रमण स्नान नहीं करते।

वस्त्र नहीं धोते

जिस प्रकार निर्ग्रंथ अनगार स्नान नहीं करते, उसी प्रकार वस्त्र भी नहीं धोते हैं। मैल परीषह सहना उनका आचार है। वस्त्र को धो कर उज्ज्वल अथवा निर्मल रखने का उनका धर्म नहीं है। हाँ, यदि वस्त्र इतना मैला हो जाय कि जिससे फूलन आदि होने की सम्भावना हो, तो वे अचित्त पानी से धो सकते हैं और किसी अशुचि पदार्थ से लिप्त हो गया हो, तो धो कर अशुचि दूर कर सकते हैं, किन्तु साबुन आदि से धो कर उज्ज्वल करने का उनके लिए निषेध है और रंगने तथा रंगे हुए वस्त्र धारण करने का भी निषेध है (आचारांग १-८-४)। मैले और दुर्गन्ध वाले वस्त्र को धोना और सुगन्धी बनाना मना है (आचारांग २-५-१)। तथा निशीथ के १८ वें उद्देशे में वस्त्र धोने का प्रायश्चित्त विधान किया है।

पाप श्रमण

कुछ श्रमण से होते हैं कि पहले तो धर्म सुन कर विरक्त हो जाते हैं और वैराग्यपूर्वक दीक्षा लेते हैं, किन्तु कालान्तर में उनके भावों में वह दृढ़ता नहीं रहती और ढीले बन कर साधुता के उत्तम आचार से गिर जाते हैं। वे मन और इन्द्रियों के दास बन कर, धर्म से विमुख हो जाते हैं और स्वच्छंदी बन जाते हैं।

यदि उन्हें रहने के लिए सुन्दर एवं भव्य स्थान मिल जाय, वस्त्र भी मुलायम और शोभनीय प्राप्त हो जाय और आहार-पानी भी इच्छानुकूल सुस्वादु मिल जाय, तो वे उसी में लुब्ध बन जाते हैं और ज्ञान ध्यान तथा संयम को भूल कर, खा-पी कर आराम से सो जाते हैं। ऐसे सुख-शीलियों को पाप-श्रमण कहना चाहिए।

जिन आचार्य और उपाध्याय से सम्यग्ज्ञान और विनय-धर्म की प्राप्ति हुई, उनकी निन्दा करने वाले, आचार्यादि रत्नाधिक की सेवा नहीं करने और उनका आदर व बहुमान नहीं करने वाले, पाप-श्रमण हैं।

प्राणी, बीज और हरी को मसलते हुए, उन्हें कष्ट पहुँचाते हुए और इस प्रकार के असाधुता के अन्य कार्य करते हुए भी जो अपने को साधु बतलाते हैं—वे पाप-श्रमण हैं।

जो घास और पराल के विछौने, पाट, आसन और स्वाध्याय–स्थान आदि की उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना और प्रमार्जना किये विना ही काम में लेते हैं (वे आलसी, प्राणियों की अयतना तथा संयम की उपेक्षा करने वाले) पाप-श्रमण हैं।

जो 'ईर्या समिति' का ठीक तरह से पालन नहीं करता और शीघ्रतापूर्वक ऊटपटांग चलता हुआ, वालक आदि का उल्लंघन करता है और क्रोध के आवेश में उपयोग-शून्य चलता है, वह पाप-श्रमण है।

जो अपने पात्र कंवल और अन्य उपकरणों को इधर-उधर डाल रखता है। प्रतिलेखना में प्रमाद करता है. उपयोगपूर्वक ठीक प्रतिलेखना नहीं करता, वह पाप-श्रमण है।

जो प्रतिलेखना में मन नहीं लगाता, किन्तु विकथा करने और सुनने का रसिक है, तथा अपने शिक्षा-दाता गुरु के सामने बोल कर उनका अपमान करता है, वह पाप-श्रमण है।

जो वहुत बोलता है–वाचाल है, मायावी है, अभिमानी है, रसलोलुप, इन्द्रियों के विपयों में गृद्ध और प्राप्त आहारादि का अकेला ही उपभोग करता है, अपने साधुओं का विभाग नहीं करता, जिसका जीवन सन्देह पूर्ण है। जिसके चारित्र के प्रति किसी का विश्वास नहीं है–वह पाप-श्रमण है।

शांत हुई कषायों को तथा विवाद को जो पुनः जगाता है–झगड़ालु है, सदाचार से जो रहित है, आत्म विशुद्धि की ओर जिसका ध्यान नहीं है और क्लेश भड़काने में ही जो लगा रहता है, वह पाप-श्रमण है।

जो स्थिरतापूर्वक नहीं वैठता और जहाँ कहीं वैठ जाता है, तथा आसन वदलता रहता है, मुख आँख आदि से कुचेष्टा करता रहता है। इस प्रकार जो अस्थिर प्रकृति का है, वह पाप-श्रमण है।

सचित्त रज से भरे हुए पैरों को विना पूंजे ही सो जाता है, अपनी शय्या की प्रतिलेखना भी नहीं करता और अपने विछौने के विषय में भी जो यतना नहीं रखता–वह पाप-श्रमण है।

रसलोलुप वन कर जो दूध, दही, घृत आदि विगयों का वारवार सेवन करता है, जो खाने-पीने का ही विशेष ध्यान रखता है–पेट भरा और स्वादु है, जिसकी तप करने में रुचि नहीं है–वह पाप-श्रमण है।

जो प्रातःकाल से लगा कर सूर्यास्त तक वारवार खाता रहता है और जिव्हा-संयम तथा तप करने की शिक्षा देने वाले गुरु का अपमान करता है, वह पाप-श्रमण है।

आचार्य को छोड़ कर पर-पाखण्ड में जाने वाला–पर-पाखण्डियों से संवंध रखने वाला और छः छः मास में गच्छ वदलने वाला, अस्थिरमति साधु, पाप-श्रमण कहा जाता है।

जो घर छोड़ कर साधु हुआ, किन्तु साधुता में स्थिर नहीं रहता और रसलोलुप हो कर गृहस्थों के घरों में फिरता रहता है और निमित्तादि वता कर द्रव्य संग्रह करता है, वह पाप-श्रमण कहा जाता है।

जो सामुदानिक गौचरी नहीं कर के अपनी जाति वालों के यहाँ से ही आहार लेता है गृहस्थ के आसन पर बैठता है, तथा गृहस्थों के पलंग पर सोता है, वह पाप-श्रमण है।

इस प्रकार के पाँच कुशीलों से युक्त, संवर रहित, वेशधारी सुसाधु नहीं है। वह संयमी मुनि की अपेक्षा नीचे दर्जे का-अधम है। ऐसा संयम-हीन वेशधारी वन्दनीय नहीं हो सकता, किन्तु विष की तरह निन्दनीय है। ऐसे मायावी का यह लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी बिगड़ता।

जो संयमी मुनि, उपरोक्त दोषों को त्याग कर संयम की भली प्रकार से आराधना करते वे सुव्रती-शुद्धाचारी हैं। वे अमृत की तरह पूजनीय, वंदनीय एवं सेवनीय होते हैं। ऐसे उत्तम मुनि इस लोक को भी सफल करते हैं और परलोक को भी सुधार लेते हैं। (उत्तराध्ययन १७)

शबल दोष

जिन दोषों से चारित्र बिगड़ जाता है, उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है, वे "शबल दोष" हैं चारित्र के मूल गुणों में अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार दोष तक शबल दोष है और उत्तरगुणों में इन तीन के सिवाय अनाचार भी शबल दोष है। यदि मूलगुणों में अनाचार का सेवन हो जाय, तो वह शबल से भी आगे बढ़ कर चारित्र-भ्रष्ट हो जाता है। शबल दोष, चारित्र की उज्ज्वलता में कालिमा लगा कर बदरंग कर देते हैं। संयमी मुनिवर, शबल दोषों से दूर ही रहते हैं। समवायांग और दशाश्रुत-स्कन्ध में २१ शबल दोष इस प्रकार बताये हैं-

१ हस्तकर्म करने से शबल दोष लगता है। वेद के प्रबल उदय से हस्तकर्म कर के वीर्य पात करना अथवा दूसरे से कराना शबल दोष है।

२ मैथुन सेवन करना शबल दोष है।

३ रात्रि-भोजन करना शबल दोष है। दिन में ग्रहण कर के दिन में ही खाना दोष रहित है। इसके सिवाय १ दिन में ग्रहण कर के रात को खाना, २ रात में ग्रहण कर के दिन में खाना और ३ रात्रि में ग्रहण कर के रात्रि में खाना, तथा ४ दिन में ग्रहण कर के रातबासी रख कर, दूसरे-तीसरे दिन खाना-ये चार भंग शबल दोष के हैं।

४ आधाकर्मी आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, उपाश्रयादि का सेवन करना शबल दोष है। जो आहारादि साधु के लिए बनाया गया है, वह आधाकर्मी है। अहिंसा महाव्रत के पालक मुनि, आधाकर्मी आहारादि के त्यागी होते हैं। यदि कोई ऐसी वस्तु लेता है, तो शबल दोष का भागी है।

५ राजपिंड ❀ भोगना शवल दोष है। राजा ० ठाकुर आदि का आहारादि विशिष्ट सामग्री से त्पन्न हो कर विकार बढ़ाने वाला होता है। इसलिए इन्द्रिय-निग्रही मुनियों के लिए त्याज्य है।

६- १ खरीदे हुए, २ उधार लिए हुए, ३ निर्बल से बलपूर्वक छीन कर लिए हुए, ४ भागीदार गी बिना आज्ञा के दिये जाते हुए और ५ साधु के स्थान पर लाकर दिये जाते हुए, पदार्थ का सेवन रना-शवल दोष है।

७ आहारादि का प्रत्याख्यान करने के बाद बार-बार खाना, अर्थात् बार-बार प्रतिज्ञा का भंग रना-शवल दोष है।

८ छः महीने के पूर्व ही + एक गण को छोड़ कर दूसरे गण में जाना-शवल दोष है।

९ एक महीने में तीन बार उदक लेप लगावे (नदी उतरे) तो शवल दोष है ‡।

१० एक मास में तीन बार माया रूप पाप-स्थान का सेवन करना-शवल दोष है *।

११ शय्यातर के घर का आहारादि लेना-शवल दोष है।

१२ जान-बूझ कर जीव हिंसा करना "

१३ जान-बूझ कर झूठ बोलना "

१४ जान-बूझ कर अदत्तादान लेना "

१५ जान-बूझ कर सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सोना और कायोत्सर्गादि करना-शवल दोष है।

१६ जान-बूझ कर स्निग्ध और सचित्त रज वाली पृथ्वी पर या शिलादि पर बैठना या कायोत्स-

---

❀ राजपिंड में आठ वस्तुएँ मानी गई है-१ अशन २ पान ३ खादिम ४ स्वादिम ५ वस्त्र ६ पात्र ७ कम्बल गैर ८ पादप्रोंछन (स्थानांग ५-१ टीका)

० आचारांग २-१०-३ में चक्रवर्ती आदि क्षत्रिय, राजा, ठाकुर, सरदार और राजवंशियों के यहाँ का आहारादि ने का निषेध किया गया है।

+ विशिष्ट ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए, आज्ञापूर्वक दूसरे गण में जाना उचित है। किन्तु छः महीने के पूर्व ही गण बदलते रहना शवल दोष है।

‡ जहाँ तक बस चले, वहाँ तक पानी में चल कर नदी को पार करने की मनाई है, क्योंकि इससे त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है। बृहद्कल्प भाष्य गा. ५६५६ में लिखा कि-'यदि स्थलमार्ग में दो योजन चक्कर हो, तो स्थल-मार्ग से ही जाना, जल-मार्ग से नहीं। नदी उतरने के निम्न गाढ़ कारण ठाणांग ५-२ में बताये है।

१ राजा के विरोधी होने पर उपकरण चोरी जाने के भय से, २ दुर्भिक्ष के कारण भिक्षा नहीं मिले तो, ३ कोई दुष्ट मनुष्य नदी में फेंक दे तो, ४ बाढ़ के पानी में वह जाय तो और ५ अनार्य द्वारा जीवन और चारित्र के घात का प्रसंग उपस्थित हो जाय, तो विधिपूर्वक नदी उतरने की छूट है।

* माया भी सर्वथा त्याज्य है, किन्तु गाढ़ कारण उपस्थित हो जाय अथवा प्रमादवश माया-स्थान सेवन हो जाय और वह दो से अधिक बार हो, तो शवल दोष है।

र्गादि करना–शवल दोष है ।

१७ जान-बूझ कर जीवयुक्त शिला, पत्थर, काष्ठ और अण्डे तथा प्राण, बीज, हरी, कीड़ीनग ओस, पानी, फूलन, सचित्त जल युक्त मिट्टी, मकड़ी का जाला और अन्य प्रकार के जीव जहाँ हो, स्थान पर बैठना, या कायोत्सर्ग करना–शवल दोष है ।

१८ जान-बूझ कर सचित्त कंद, मूल, स्कन्ध, त्वचा (छाल) प्रवाल (कुंपल) पत्र, पुष्प, फ बीज और हरी का भोजन करना–शवल दोष है ।

१९ एक वर्ष में दस बार उदक लेप लगावे (नदी उतरे) तो शवल दोष है ।

२० एक वर्ष में दस बार मायाचार का सेवन करे ।

२१ जान-बूझ कर सचित्त जल से भींगे हुए हाथ से, पात्र से, कुड़छी से और भाजन से दिये ज हुए अशन, पान, खादिम और स्वादिम ग्रहण कर के भोगवे, तो शवल दोष लगता है ।

इस प्रकार शवल दोषों से वच कर जो श्रमण, संयम का शुद्ध रूप से पालन करते हैं, वे वि वंद्य होते हैं । उन संतों के चरणों में हमारी भक्तिपूर्वक वन्दना हो ।

कुशीलिया

विश्वोत्तम श्रमण वे ही हैं, जिनमें साधुता के उत्तम गुण विद्यमान हों । गुणों के कारण व्यक्ति का आदर सत्कार होता है । रंग में पीतल भी सोने के समान होता है, फिर भी सोने के उसमें नहीं होने से वह उतना मूल्य नहीं पाता और न मुकुट की जगह धारण किया जाता है । इ प्रकार केवल साधु का वेश पहन लेने से ही कोई साधु नहीं हो जाता । साधुता के गुण से शून्य साधुवे धारी वंदनीय नहीं होता, वल्कि उपेक्षणीय होता है । श्री उत्तराध्ययन अ. १७ गा. २० में लिखा है कि

एयारिसे पंचकुसीलऽसंवुडे रूवंधरे मुणिपवराणहेट्ठिमे ।
अयंसि लोए विसमेवगरहिए न से इहं नेव परत्थलोए ।।

अर्थात्–पांच प्रकार के कुशीलिए, संयम से रहित हो कर केवल वेशधारी होते हैं । वे साधु का स्वांग धर कर भी अधम हैं । ऐसे कुशीलिए वन्दन करने के योग्य नहीं, किन्तु विष की तरह त्या हैं । उन कुशीलियों का यह लोक भी विगड़ता है और परलोक भी विगड़ता है ।

ये कुशीलिए पांच प्रकार के होते हैं । जैसे–

१ पासत्थ–जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के पास रह कर भी स्वयं आचरण नहीं करे अथवा कर्मों के पाश–वन्धन में रहने वाला, पाशमुक्त नहीं होने वाला (सूयग. १–१–२–५ ज्ञाता ५

पासत्थे दो प्रकार के होते हैं—१ देश पासत्था और २ सर्व पासत्था ।

देश पासत्था—वह है, जो शय्यातर के घर का आहार ग्रहण करता है और नित्यपिण्ड, राजपिण्ड, अग्रपिण्ड, जीमनवार आदि का आहार लेता है। अनाचरणीय का आचरण करता है। पूर्व के सम्बन्धियों के ही आहार का इच्छुक है तथा शरीर के शुभ वर्णादि का अवलोकन करता है।

सर्व पासत्था—वह है, जो केवल वेशधारी है और ज्ञान-दर्शन-चारित्र का पालन नहीं करता है। मिथ्यात्व आदि में ठहरने वाला सम्पूर्ण रूप से पासत्था है (व्यवहार सूत्र उ० १ भाष्य गाथा २०८ से)

२ **यथाच्छन्द**—स्वच्छन्द = अपनी मर्जी के अनुसार चलने वाला, सूत्राज्ञा के विपरीत आचरण करने वाला, सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति करने वाला, घमण्डी, क्रोधी, सुखशीलिया और उत्सूत्र-प्ररूपणा करने वाला (व्यवहार १–३४ निशीथ ११)

यथाच्छन्द–स्वच्छन्दी साधु कहता है कि–

'जब वस्त्र देखे हुए ही हैं, तो नित्य दो बार प्रतिलेखना करने की क्या आवश्यकता है ? जिस समय बोलना ही नहीं, उस समय मुखवस्त्रिका मुँह पर लगाये रहने की क्या आवश्यकता है ? जब हम अपने मकान पर ही हैं, तो रजोहरण को हर समय पास रखने की आवश्यकता ही क्या ? सारे दिन बैठे रहने से स्वास्थ्य बिगड़ता है, इसलिए घूमने को जाना चाहिए।' इस प्रकार अनेक तरह के कुतर्क कर के उत्सूत्र-प्ररूपणा करता है।'

चारित्र के विषय में यथाच्छन्दी कहता है कि 'शय्यातर के घर का आहार लेने में कोई दोष नहीं, अपितु गुण ही है। इससे एक ही जगह सब चीज मिल जाती है और दाता को बहुत लाभ होता है, तथा भटकना नहीं पड़ता। कुर्सी व पर्यङ्कादि पर बैठने में कोई दोष नहीं। गृहस्थों के घरों में बैठने से कोई बुराई नहीं होती। साध्वी के उपाश्रय में बैठने से कोई हानि नहीं। मासकल्प से अधिक ठहरने में कोई दोष उत्पन्न नहीं होता हो, तो ठहर जाना चाहिए, आदि (व्यवहार भाष्य)।

३ **कुशील**—कुत्सित अर्थात् निन्दनीय आचार वाला। (उत्तरा. १–१३, ज्ञाता ५, ठाणांग ३–२)

कुशील तीन प्रकार के होते हैं।

ज्ञान कुशील—ज्ञानाचार का पालन नहीं करने वाला।

दर्शन कुशील—दर्शनाचार का विराधक।

चारित्र कुशील—चारित्र-विराधक, जो आहारादि के लिए मन्त्र, विद्या, कौतुक, भूति-कर्म आदि दूषित क्रिया कर के आजीविका करता है।

४ **अवसन्न**—संयम से थका हुआ, आलसी, प्रमादी (ज्ञाता ५, निशीथ ४)

देश अवसन्न–जो प्रतिक्रमण नहीं करता अथवा न्यूनाधिक या अविधि से, असमय में करता है। वह या तो स्वाध्याय ही नहीं करता, यदि करता है, तो अकाल में। यदि वह प्रतिलेखना करता है, तो अविधि से। वह भिक्षा भी अनेषणीय लेता है। आवश्यकी नैषेधिकी आदि समाचारी का ठीक तरह से पालन नहीं करता। यों अनेक प्रकार से दोष लगाने वाला साधु–देश अवसन्न कहा जाता है।

सर्व अवसन्न–जो पीठ फलक की यथासमय पूर्णरूप से प्रतिलेखना नहीं करता, या बार-बार सोने के लिए बिछाये ही रखता है। जो स्थापना दोष, प्राभृतिका दोष, रचित दोष आदि अनेक प्रकार के दोषों से दूषित आहारादि लेता है, वह सर्व अवसन्न है (व्यवहार भाष्य)।

५ संसक्त–आसक्त–विषयों में लुब्ध। जिसमें मूलगुण और उत्तरगुण भी हों और सभी प्रकार के दोष भी हों। जिस प्रकार गाय के बाँटे में अच्छी चीज भी हो और झूठन आदि बुरी चीज भी हो और वह सब खा जाय। इसी प्रकार जिसमें गुण और दोष दोनों हो, वह 'संसक्त' कहाता है।

(ज्ञाता ५, निशीथ ४)

संसक्त के दो भेद हैं–

१ संक्लिष्ट–जो पाँचों आश्रवों में प्रवृत्ति करता है, जो तीन गारव में फँसा हुआ है और स्त्रियों तथा गृहस्थों का विशेष संसर्ग करता है, वह 'संक्लिष्ट संसक्त' है।

२ असंक्लिष्ट–जो पासत्थ, यथाच्छन्द, कुशील और अवसन्न में मिल कर, उनके जैसा ही हो जाता है और संविग्न–शुद्धाचारी के साथ रहने पर वैसा हो जाता है। जैसे में तैसा हो जाने वाला, 'असंक्लिष्ट संसक्त' होता है (व्यवहार भाष्य)।

ऊपर बताये पाँच प्रकार के कुशीलिए, वन्दना करने के योग्य नहीं हैं। ये सुसाधु नहीं, कुसाधु हैं। कुसाधुओं को सुसाधु मानना भी मिथ्यात्व है। निशीथ सूत्र उ० ४ में लिखा है कि–

जो साधु पासत्थे, अवसन्ने, कुशीलिये, संसक्त और नित्यसेवी (जो सदैव दोषों का सेवन करता रहता है) के साथ रहे, उनका वस्त्रादि लेवे, अथवा उन्हें साथ रखे, या उन्हें चद्दरादि दे, तो लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

निशीथ सूत्र के ११ वें तथा १३ वें उद्देश में लिखा कि–

"जो साधु यथाच्छन्दे साधु को वन्दना करे, प्रशंसा करे और वन्दना तथा प्रशंसा करने वाले को अच्छा जाने, तो 'गुरुचौमासिक' प्रायश्चित्त आता है। पासत्थादि को आहारादि दे, तो भी प्रायश्चित्त आता है, ऐसा निशीथ उ. १४ में लिखा है। सूयगडांग श्रु. १ अ. ९ गा. २८ में लिखा है कि–

"भिक्षु, कुशील का त्याग करे और कुशीलियों की संगति का भी त्याग करे, क्योंकि कुशीलियों

की संगति से संयम में विघ्न होता है।"

कुशीलियों को साधुओं का सहयोग नहीं मिले और श्रावकों की ओर से भी उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिले, तो निर्ग्रंथ-श्रमणों की शुद्धता कायम रह सकती है और श्रमण-संस्कृति विशुद्ध रह कर संसार में पुनः आदर्श स्थान प्राप्त कर सकती है।

महामोहनीय स्थान

मोहनीय कर्म, आठों कर्मों में प्रधान और जबरदस्त है। इसी के कारण अन्य सातों कर्मों की स्थिति है, भव-भ्रमण है और चतुर्गति रूप संसार है। यदि जीवों के मोहनीय कर्म नहीं रहे, तो सभी जीव एक समान—सिद्ध हो जाएँ। वास्तव में संसार का मूल ही मोहनीय कर्म है। आचारांग अ. २ की निर्युक्ति में लिखा है कि—"**अट्ठविहकम्मरुक्खा, सव्वे ते मोहणिज्जमूलागा, कामगुणमूलगं वा तम्मूलागं च संसारो।**" दूसरे कर्म तो इसके अनुचर हैं। इस संसाराधिपति का नाश होना कठिन है। यदि इस एक का नाश हो जाय, तो शेष कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं। उनको नष्ट करने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

जीव, यदि एक ही ध्यान रखे कि "मोहनीय को कम करे, परन्तु महामोहनीय तो कभी नहीं होने दे।" यदि इतना ध्यान रहे, तो जीव उतना भारी नहीं होता, जितना महामोहनीय के बन्ध से होता है। नरक-निगोद के दुःख, महामोहनीय कर्म के उदय से भुगतने पड़ते हैं। आत्मा के इस भयङ्कर शत्रु से सदैव बचते रहना लाभदायक है।

महामोहनीय की उत्पत्ति का कारण विवेकहीनता है। कषायों के अधीन हो कर प्राणी इतना क्रूर, दुष्ट और अधम हो जाता है कि वह हिताहित का भान भी भूल जाता है और निकृष्ट अध्यवसायों की तीव्रता से महामोहनीय कर्म का संचय कर लेता है। यदि अध्यवसाय तीव्रतम क्रूर हो जाय और उत्कृष्ट बन्ध कर ले, तो सित्तर कोड़ाकोड सागरोपम की स्थिति वाला, महान् दुःखदायक कर्म बाँध लेता है। यों तो महामोह के स्थान और भी हो सकते हैं, किन्तु आगमकार महर्षियों ने मुख्यतः ३० स्थान बताये हैं। जैसे—

१ त्रस प्राणियों को अत्यंत क्रूर बन कर पानी में डुबा कर मारने से महामोहनीय कर्म बन्धता है।

२ त्रस जीवों का श्वास रोक कर मारने से महामोहनीय०।

३ मकान आदि में लोगों को बन्द कर के, धुएँ से घुटा कर जो मारता है, वह महामोहनीय०।

४ मस्तक पर प्रहार कर के—मस्तक का विदारण कर के मारने से। वह ऐसा विचार करे कि "मस्तक फोड़ देने से यह अवश्य मर जायगा।" इस प्रकार अत्यन्त क्रूर बन कर मस्तक पर प्रहार करने से।

५ किसी के मस्तक पर गीला चमड़ा बाँध कर मारे (चमड़ा सूख कर सिकुड़ने से रक्त प्रवाह रुक कर महा वेदनापूर्वक मृत्यु हो जाती है) तो महामोहनीय०।

६ मनोरंजन से किसी मूर्ख अथवा पागल को, बार-बार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर, दुनिया में सद्गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला, झूठ बोल कर और सूत्र के वास्तविक अर्थ को छुपा कर जनता को धोखा देने वाला, महामोहनीय०।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाने वाला, अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़ कर, आप निर्दोष बनने वाला महामोहनीय कर्म बान्धता है।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिला कर मिश्र-भाषा बोलने वाला, सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राज्य का मन्त्री हो, जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया हो और स्वयं निश्चिन्त हो गया हो, उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य-लक्ष्मी को नष्ट कर दे, तथा राजा की अपकीर्ति कर के उसे पद भ्रष्ट करे, अपमानित करे और उसके भोगों (भोग साधनों) का नाश करे तो महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भोगों में लुब्ध है, किन्तु अपने को कुमारभूत बालब्रह्मचारी बतलाता है तो महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है, किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर संमान पाने का प्रयत्न करता है, वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-लोलुप हो कर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय०।

१३ जिसकी सहायता, आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है, उस उपकारी के धन पर लुब्ध हो कर अपहरण करना चाहे, वह महामोहनीय०।

१४ किसी स्वामी ने अथवा गाँव की जनता ने, किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना दिया, या रक्षक नियत किया। उसकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति, अतुल संपत्ति का स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा द्वेष अथवा कलुषित भावना से, स्वामी अथवा जनता के लिए हानिकर्त्ता हो जाय—विश्वासघात करे, तो महामोहनीय०।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने अण्डों को ही खा जाती है, उसी प्रकार जो पापी, अपने पालक, राजा, मन्त्री, सेनाधिपत्ति, कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है, वह महामोहनीय० ।

१६ जो व्यक्ति, राष्ट्र-नायक को, व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है, वह महामोहनीय० ।

१७ बहुजन समाज के नेता को–जो लोगों के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है–जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो संसार त्याग कर निर्ग्रंथ बनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिनने प्रव्रज्या ले ली है, जो संयत है और तपस्या में लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला–महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् की निन्दा करने वाला–महामोहनीय० ।

२० जो सत्य-मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है और दूसरों को भी उस न्यायमार्ग से हटाता है, वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमंडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायों की भली प्रकार से सेवा नहीं करता, बहुमान नहीं करता, वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वयं अल्पज्ञ होते हुए भी जनता में अपने को बहुश्रुत बतलाता है और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नहीं होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर कर के समस्त जनता से संमान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नहीं करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नहीं की', अथवा 'यह भी मेरी सेवा नहीं करेगा।' इस प्रकार कह कर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिंसाकारी और आरंभ-वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला बनता है, वह महामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशंसा के लिए अथवा दूसरों को खुश करने के लिए या संमान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य संबंधी भोगों की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि—"मैंने देवों को देखा है, मेरे पास देव आते हैं, मैं इनके रहस्य को जानता हूं," वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

महामोहनीय कर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की संक्लिष्टता बढ़ाने वाले और अशुभ फल देने वाले हैं। आत्मगवेषी मुनि इनको छोड़ कर संयम में प्रवृत्ति करे। यदि पहले कुछ दुष्कृत्य किये हों, तो उन्हें हृदय से त्याग दे और जिन-प्रवचनों का ही सेवन करे, जिससे वह शुद्ध आचारवान हो सके। शुद्धाचार से शुद्ध हुई आत्मा, अपने दोषों को इस प्रकार छोड़ देती है, जिस प्रकार सर्प अपने विष को त्याग देता है। मुक्ति के स्वरूप को जान कर, दोषों को त्यागने वाला धर्म-प्रेमी, इस भव में यश और पर भव में उत्तम गति को प्राप्त करता है। वे दृढ़ पराक्रमी और शूरवीर मुनि, आठों कर्मों का नाश कर के जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं (दशाश्रुतस्कन्ध दशा ९)।

निदान

उस बुरे सङ्कल्प को 'निदान' कहते हैं, जो प्रायः भोगासक्ति से उत्पन्न होता है। जिसके कारण बड़े कष्ट से कमाये हुए, अपने धर्म रूपी धन को आत्मा खो देती है। जिस प्रकार जुआरी, जुआ के दावँ में अपने विशाल-राज्य को हार कर भिखारी बन जाता है और दर-दर की ठोकरें खाता फिरता है, उसी प्रकार निदान करने वाला साधक भी पौद्गलिक सुखों से आकर्षित हो कर, अपने धर्म रूपी धन को हार जाता है और नरकादि के भयङ्कर दुःख मोल ले लेता है। निदान, एक ऐसा शल्य है, जो चारित्र आत्मा का भेदन कर देता है। यह जब तक रहता है, तब तक चारित्रात्मा कदापि स्वस्थ एवं आरोग्य नहीं रह सकती। यदि निदान-शल्य जोरदार हुआ, तो वह माया-शल्य और मिथ्यात्व-शल्य को भी बुला लेता है। अर्थात् निदान की उग्रता से अकेले चारित्र का ही नाश नहीं होता, किन्तु ज्ञान और दर्शन गुण का भी नाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म कितना कुटिल है? कठिन संयम और उग्र तपाचरण करते हुए, वर्षों की साधना वाले साधक के हृदय में जब यह प्रवेश करता है, तो उसकी समता, शान्ति और पवित्रता को चञ्चल कर देता है। जो साधक आत्माएं उच्च एवं अन्तर्मुखी तथा आत्म-गुप्त हैं, उन पर तो उसका असर ही नहीं होता और मोहावेग उदित हो कर भी नष्ट हो जाता है, किन्तु जिनका क्षयोपशम साधारण होता है, वहां बाहरी निमित्तों के सहारे से मोहराज, साधकों के हृदय में प्रवेश कर जाता है और निदान करवा देता है। अतएव साधकों को मोह-राग भाव से बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। जहां थोड़ी सी

असावधानी हुई कि मोह ने सिर उठाया। भगवान् महावीर जैसे मोहजीत महान् निर्यामक की उपस्थिति में भी यह चतुर चोर, चुपके से कुछ साधु-साध्वियों के हृदय में घुस गया था। श्रेणीक राजा और चिल्लना रानी के भव्य निमित्त के सहारे, इस ने त्यागियों के हृदय में प्रवेश कर भोगासक्ति उत्पन्न कर दी थी, और निदान करवा दिया था। किन्तु भगवान् महावीर के आगे यह चोरी छुप नहीं सकी। भगवान् ने उस चोर को वहाँ से निकाल कर, साधु-साध्वियों के धर्म रूपी धन की रक्षा की और अनेक साधु-साध्वियों को उसकी लूट से बचाया। प्रभु के वचनामृत आज भी अवलम्बनभूत हो रहे हैं और उनके द्वारा हमारी रक्षा हो सकती है। ये निदान नौ प्रकार के हैं।

१ संयम की कठोर साधना करते और भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी. डाँस, मच्छर और मैल आदि परीषहों से पीड़ित साधु के सामने, जब किसी सम्पत्तिशाली श्रीमन्त, उसके ठाठ और उसके भोग के विपुल साधन आते हैं, तो वह उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। वह सोचता है कि—'एक तो इनका जीवन है और एक मेरा जीवन है। ये कितने उच्च भोगों को भोगते हैं। इनकी सेवा में कितने दास-दासी हैं। इनके खाने-पीने के पदार्थ ओढ़ने-पहनने के वस्त्र और अलंकार तथा वाहनादि कितने भव्य हैं। इनकी पत्नियाँ कितनी सुन्दर और अनूकूल हैं, और मेरी यह दशा है कि इच्छानुसार खाने को भी नहीं मिलता, पहनने को भी पूरे वस्त्र नहीं हैं। मैने इतने वर्षों तक कठोर साधना की। यदि उसका कुछ फल हो. तो मैं भी भविष्य में ऐसी ही ऋद्धि का स्वामी और भोक्ता बनूं।" इस प्रकार दृढ़ संकल्प कर लेता है। उसकी दृष्टि में मोक्ष की उपादेयता का स्थान भोग की उपादेयता ले लेती है। अपने इस संकल्प को लिए हुए (उसकी आलोचना तथा त्याग नहीं करते हुए) वह मर कर, किसी देवलोक में महान् ऋद्धिशाली देव होता है। वहां सुख-भोग के बाद आयु पूर्ण होने पर वहां से मर कर मनुष्य होता है। निदान के अनुसार जहां संपत्ति और भोग साधन प्रचुर हो, ऐश्वर्य की कमी नहीं हो, ऐसे स्थान जन्म ले कर भोगों में आसक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को कोई धर्मोपदेश देना चाहे. तो वह सुनने को भी तय्यार नहीं होता। उस तीव्र आसक्ति और महान् आरंभ-परिग्रह की अवस्था में ही वह मर कर, दक्षिण दिशा के नरक में उत्पन्न हो कर महान् दुःखों का भोक्ता बनता है। वह धर्मघातक जीव दुर्लभबोधि हो जाता है। इतना कटु फल है इस निदान का।

२ इसी प्रकार कोई साध्वी, किसी ऐसी महान् सम्पत्तिशाली महिला को देखे कि जो सभी प्रकार के पौद्गलिक उच्च साधनों से युक्त है और अपने पति की एकमात्र प्रिय पत्नी है। जिसकी सेवा में अनेक दास-दासियाँ उपस्थित रहते हैं। उसके उत्कृष्ट भोगों की ओर आकर्षित हो कर निदान कर ले और उस निदान का त्याग नहीं करके काल कर जाय, तो वह देवलोक में जाती है। वहां के भोग भोग कर, आयुष्य पूर्ण होने पर मनुष्य-लोक में कन्या के रूप में जन्म लेती है और किसी श्रीमन्त राजा अथवा महान् समृद्धिशाली की एकमात्र प्रिय पत्नी हो कर, उदार भोगों का भोग करती हुई

विचरती है। यदि कोई उसे धर्म सुनाना चाहे, तो भी वह सुनना नहीं चाहती और आरंभ-परिग्रह तथा भोग में ही आसक्त रहती है। फिर मृत्यु पा कर दक्षिणदिशा के नरक में उत्पन्न हो कर महान् दुःखों को चिरकाल तक भोगती रहती है। फिर उसे धर्म की प्राप्ति होना भी दुर्लभ हो जाता है।

३ कोई साधु, अपनी संयम साधना से पृथक् हो कर और परीषहों से खिन्न हो कर सोचे कि "संसार में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सुखी हैं। पुरुष तो अर्थोपार्जन और रक्षण में आने वाले अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते हैं, उन्हें युद्ध भी करना पड़ना है, किन्तु स्त्रियाँ वहुत सुखी हैं। उन्हें न कमाना पड़ता है, न लड़ाई-झगड़े अथवा युद्ध ही करने पड़ते हैं। इच्छानुसार खाना, पीना और ऐश-आराम करना ही उनका काम है"—इस प्रकार किसी वैभवशालिनी महिला को पौद्गलिक सुखों में मग्न देख कर खुद भी वैसी स्त्री होने का निदान कर लेता है और उस निदान सहित मृत्यु पा कर देव होता है। वहाँ से निदान के अनुसार कन्या रूप में मनुष्य-जन्म पा कर किसी श्रीमन्त की एकमात्र प्रिय पत्नी होती है और भोगों में इतनी गृद्ध हो जाती है कि उसे कोई धर्म की वात कहे, तो भी वह सुनना नहीं चाहती। वह आरम्भ-परिग्रह में ही आसक्तिपूर्वक मर कर, दक्षिण दिशा के नरक में उत्पन्न हो कर दुखी होती है। उसे भविष्य में धर्म मिलना भी दुर्लभ हो जाता है।

४ कोई साध्वी सोचे कि "स्त्री जन्म तो कष्टप्रद है। स्त्री को पुरुषों के आधीन रहना पड़ता है। स्वतन्त्र रूप से कहीं आने-जाने में भी उनके लिए खतरे उपस्थित रहते हैं। गर्भ धारण आदि अनेक प्रकार के कष्टों के कारण स्त्री-जन्म से तो पुरुष जन्म ही उत्तम है।" इस प्रकार विचार कर और श्रीमन्त पुरुष को देख कर, स्वयं श्रीमन्त पुरुष होने का निदान कर लेती है, तो वह भी तदनुसार देव के वाद पुरुष हो कर महान् आरम्भ-परिग्रह युक्त मर कर, पूर्वोक्त प्रकार से दक्षिण दिशा के नरक में उत्पन्न होता है और उसे धर्म प्राप्त होना दुर्लभ हो जाता है।

५ कोई साधु-साध्वी सोचे कि "मनुष्य संबंधी काम-भोग तो अशुचिमय, अस्थिर और सड़न, पड़न, गलन शील है, रोग और वृद्धावस्था के भय से युक्त है। इससे तो देवों के भोग उत्तम है। देवता अपनी देवी के साथ भी भोग कर सकते हैं, दूसरे देवों की देवियों से भी भोग कर सकते हैं और अपनी आत्मा में से ही देवियाँ बना कर भोग कर सकते हैं। अतएव मैं भी ऐसा ऋद्धि और शक्तिशाली देव बनूं तो अच्छा।" इस प्रकार निदान कर के वह वैसा ही देव हो कर भोग करता है। वहां से चव कर वह ऋद्धिशाली पुरुष होता है। यदि कोई उसे धर्मोपदेश देवे, तो वह सुनता तो है, किन्तु श्रद्धान् नहीं कर सकता। वह आरम्भादिक में आसक्ति सहित मर कर, दक्षिण दिशा के नरक में जाता है और भविष्य के लिए दुर्लभबोधि हो जाता है।

पूर्वोक्त चार निदान वाले तो धर्म सुनने के भी योग्य नहीं रहते, किंतु पांचवें निदान वाला सुन तो लेता है, परन्तु श्रद्धा नहीं कर सकता।

६ कोई साधु-साध्वी, लक्ष्य-भ्रष्ट हो कर पूर्वोक्त प्रकार से मनुष्यों के भोगों को पसन्द नहीं करे, किन्तु देव संबंधी भोगों को पसन्द करते हुए यह निदान कर ले कि—"यदि मेरे तप-संयम का फल हो, तो मैं ऋद्धिशाली देव बनूं और अपनी ही देवी के साथ अथवा अपने शरीर से बनाई हुई देवी के साथ भोग भोग कर मौज उड़ाऊँ।" इस प्रकार निदान सहित मर कर वह ऋद्धिशाली देव होता है। वहां से ऋद्धिशाली मनुष्य होता है। वह भी महान् आरम्भी-परिग्रही होता है और जिन-धर्म सुन लेता है, परन्तु श्रद्धान नहीं करता। उसकी श्रद्धान अन्य मतों में होती है और वह तापस आदि हो कर, वहाँ से असुरकुमार देव अथवा किल्विषी देव हो जाता है। फिर वहाँ से चव कर भेड़-बकरी आदि की तरह मूक अर्थात् अस्पष्टवादी मनुष्य हो कर दुःख पाता है तथा दुर्लभबोधि हो जाता है।

७ अपनी ही देवी से काम-भोग करने का निदान करने वाला देव हो जाता है। वहाँ से मनुष्य हो कर केवलि-प्ररूपित धर्म पर विश्वास कर सकता है, किन्तु पालन नहीं कर सकता। वह दर्शन-श्रावक, जीवाजीव आदि का ज्ञाता और प्रियधर्मी होता है। निर्ग्रंथ-प्रवचन को वह सत्य मानता है और मर कर देवलोक में जाता है।

यह निदान मन्द रस का है, इसलिए सम्यक्त्व प्राप्ति में बाधक नहीं होता।

८ साधु-साध्वी को विचार हो कि "काम-भोग तो सभी बुरे हैं, चाहे देव सम्बन्धी ही हो। सार तो एकमात्र जिनधर्म ही है। किन्तु साधु की अपेक्षा श्रावक-धर्म बहुत अच्छा है, जिसमें साधु के समान परीषहों का सामना भी नहीं करना पड़ता और श्रावक-धर्म भी ठीक तरह से पालन हो सकता है। मैं भी भविष्य में श्रमणोपासक बनूं तो ठीक हो।" इस प्रकार निदान कर के वह देव होता है और वहाँ से चवकर वैभवशाली मनुष्य हो कर श्रमणोपासक बनता है। वह श्रावक के सभी व्रत पालता है, किन्तु साधु नहीं हो सकता। वह श्रावक पर्याय में ही मनुष्य-भव छोड़ कर ऋद्धिशाली देव हो जाता है।

९ कोई साधु—जिसे साधुता प्रिय है, यह सोचे कि "उच्च कुल में जन्म लेने से तो संसार में गृद्ध होने के निमित्त बहुत मिलते हैं। वहाँ से निकल कर साधु बनना सरल नहीं है। इससे तो दरिद्र, नीच, भिक्षुक तथा अधम कुल में जन्म लेना अच्छा कि जहां से सरलता से साधु बना जा सकता है। मैं भी भविष्य में दरिद्र-कुल में जन्म लूँ तो अच्छा हो।" इस निदान से देव हो कर नीच कुल के मनुष्य में उत्पन्न होता है और साधुता भी प्राप्त कर लेता है, किन्तु मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। वहाँ से मर कर वह देव ही होता है।

वे सर्वोत्तम ज्ञान–केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। फिर उनके ज्ञान और दर्शन में कोई आवरण अथवा रुकावट नहीं होती। उनका ज्ञान सम्पूर्ण होता है। वे अरिहंत भगवान् सर्वज्ञ और सर्व-दर्शी हो जाते हैं। वे देवों और मनुष्यों की विशाल परिषदा में धर्मोपदेश देते हैं और आयुकर्म पूर्ण होने पर सिद्ध भगवान् हो कर, समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं। निदान रहित एवं शुद्ध दृष्टिपूर्वक निर्दोष संयम पालन करने वाला, इस प्रकार साधक से सिद्ध बन जाता है।

भगवान् महावीर का उपदेश सुन कर, जिन साधु-साध्वियों ने, श्रेणिक नरेश और चिल्लना रानी को देख कर निदान कर लिया था, वे सावधान हो गए और उस निदान-कर्म की आलोचना कर, उसे त्याग कर एवं प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुए और तप में विशेष रूप से सावधान हो गए।

(दशाश्रुतस्कन्ध १०)

उपरोक्त नौ निदान राग-भाव से होते हैं। इनमें से सात निदान भोगासक्ति को लिए हुए हैं। सातवें में भोग-भावना मन्द है, किन्तु छः निदानों में तीव्र है। तीव्र भोग-भावना के निदान वाले को धर्म की प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है और निदान-शल्य के साथ माया और मिथ्यात्व का शल्य भी आत्मा में प्रवेश कर जाता है, जिससे धर्म का सुनना और श्रद्धा होना भी कठिन हो जाता है। जिनकी भोग भावना मन्द प्रकार की होती है, उनको निदान-शल्य भी भाले के समान नहीं हो कर, सूई के समान कमजोर होता है और उसके साथ मिथ्यात्व का शल्य भी नहीं होता। इसलिए उन्हें धर्म-श्रद्धा हो सकती है, किन्तु विरति नहीं होती। जिनका निदान इससे भी मन्दतम रस का होता है, उन्हें भोग-प्राप्ति के बाद कालान्तर में और उसी भव में देशविरति और सर्वविरति भी प्राप्त हो जाती है। द्रौपदी का निदान भोग-कामना युक्त होते हुए भी मन्दतम रस का था। जिससे भोग प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों में ही उसका प्रभाव घट गया और वह सर्व विरति तक पा गई। परिणामों की तरतमता से फल में भी न्यूनाधिकता होती है।

आठवें निदान में भोग-कामना तो नहीं, किन्तु साधुता की अरुचि अवश्य है। इसलिए ऐसे निदान वाले को साधुता प्राप्त नहीं हो सकती। देशविरति प्राप्त हो सकती है और अंतिम निदान वाले को साधुता प्रिय है, उसे साधु-जीवन के प्रति अत्यन्त राग है। इस राग वाला साधुता तो ठीक तरह से पाल सकता है, किन्तु निदान के प्रभाव से मुक्ति नहीं पा सकता।

राग-भाव की तरह द्वेष-भाव से भी निदान होते हैं। जैसे कमठ और कुणिक के जीव ने पूर्व-भव में द्वेष से प्रेरित हो कर निदान किया था। दशाश्रुतस्कन्ध का प्रसंग राग-भाव से किये हुए निदानों से सम्बन्ध रखता है। साधु-साध्वियों ने श्रेणिक और चिल्लना को देख कर विविध प्रकार के भावों से निदान किया था। अतएव वहाँ उन्हीं का वर्णन है।

वास्तव में निदान मात्र हेय है। इसीलिए साधक उभयकाल के प्रतिक्रमण में निदान-शल्य से

विरत होने, निदान रहित-शुद्ध ध्येय युक्त होने की प्रतिज्ञा करता है-"अनियाणे दिट्ठीसम्पन्ने" और बार-बार सावधान होता है।

वर्षावास

जैन धर्म अहिंसा प्रधान है। इसे वही प्रवृत्ति मान्य है, जो आवश्यक होते हुए भी अहिंसक हो। साधारण स्थावरकाय के निकृष्ट जीवों की अहिंसा का भी जैन श्रमण-संस्कृति ने पूर्ण ध्यान रखा है। अहिंसा के उपयोग को छोड़ कर एक कदम उठाना भी जैन श्रमण के लिए योग्य नहीं है। इसीलिए तो वर्षाकाल में जैन श्रमण ग्रामानुग्राम विहार नहीं कर के, एक ही ग्राम में रहते हैं। शेष-काल में साधु, विना रोगादि कारण के एक महीने (साध्वी दो महीने) से अधिक नहीं रह सकते (बृदह० १) किन्तु वर्षाकाल में वे एक ग्राम में चार महीने तो रहते ही हैं। इसका मुख्य कारण अहिंसा का पालन ही है। साधु-साध्वी के लिए यह विधान है कि-

"वर्षा हो जाने पर तृणादि और बीजादि हरितकाय की उत्पत्ति हो जाती है। त्रस जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं और पृथ्वी जलकाय से युक्त हो जाती है। इसलिए विहार बन्द कर के एक ही स्थान पर ठहर जाय।"

"वर्षा के चार महीने और इसके बाद यदि पन्द्रह दिन व्यतीत हो जाने पर भी विहार-मार्ग, जीवों से परिपूर्ण हो, तो विहार नहीं करे और जब जीव रहित मार्ग हो जाय, तभी विहार करना चाहिए।"

(आचारांग २-३-१)

इस प्रकार निर्ग्रंथ, अहिंसा की आराधना की दृष्टि से वर्षावास एक स्थान पर ही बिताते हैं। वर्षा के चार महीने (अधिक हो तो पाँच महीने) व्यतीत करने के लिए स्थान चुनने में भी सावधानी रखनी पड़ती है, जिससे वर्षावास शान्तिपूर्वक संयम पालन करते हुए व्यतीत हो। इसके लिए यह ध्यान रखना पड़ता है कि-

जिस स्थान पर स्थंडिल-भूमि (शौच जाने का स्थान) एकान्त और निर्दोष नहीं हो, जहां स्वाध्याय एवं ध्यान करने के लिए स्थान अनुकूल नहीं हो, स्थान पाट-पाटले और शय्या-संस्तारक की अनुकूलता नहीं हो और निर्दोष आहारादि की प्राप्ति सुलभ नहीं हो तथा जहां बहुत से भिखारी आते-जाते हों, जिससे भीड़भाड़ बनी रहे, तो ऐसे स्थान, वर्षावास के लिए अयोग्य माने गये हैं। ऐसे स्थानों पर साधु-साध्वी को वर्षावास के लिए नहीं ठहरना चाहिए। किन्तु जहां स्थंडिल-भूमि एकांत और निर्दोष हो, स्वाध्याय एवं ध्यान करने का स्थान भी अच्छा हो, जहां स्थान, पाट-पाटले और

संस्तारक तथा आहारादि निर्दोष और शुद्ध मिल सकते हों और जहाँ अन्य भिखारियों का आवागमन अधिक नहीं होता हो तथा भीड़भाड़ कम रहती हो, वहां वर्षावास रहना चाहिए + ।

(आचारांग २-३-१)

साधारणतया वर्षावास एक ही स्थान पर बिताया जाता है, किन्तु विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने पर बीच में ही विहार करना पड़ता है। जैसे कि–

१ राजा आदि के उपद्रव से अथवा उपकरणादि चोरी जाने के भय से।

२ दुर्भिक्ष के कारण भिक्षा सुलभ नहीं हो।

३ यदि साधु को ग्राम में से निकाल दिया जाय।

४ पानी की बाढ़ आ जाने से।

५ जीवन और चारित्र का नाश होने जैसा उपद्रव हो।

उपरोक्त पांच कारणों से चातुर्मास में, संवत्सरी के पूर्व एक महीना २० दिन में विहार करने की अपवाद-मार्ग से छूट दी गई है।

निम्न पांच कारणों से पीछे के ७० दिनों में विहार करने की छूट दी गई है।

१ ज्ञान के लिए–किसी विशिष्ठ ज्ञानी ने संथारा कर लिया हो और उससे वह ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो। इसके बिना उस ज्ञान के विच्छेद जाने का भय हो।

२ दर्शन के लिए–दर्शन की प्रभावना करने वाले श्रुतज्ञान को प्राप्त करने के लिए (अथवा दर्शन की विशेष शुद्धि के लिए) वैसे विशेष ज्ञानी के पास जावे।

३ चारित्र के लिए–जहाँ रहने से संयम दूषित होता हो और स्त्री आदि से चारित्र मलिन होने की सम्भावना हो, तो चारित्र की रक्षा के लिए विहार करे।

४ आचार्य उपाध्याय काल कर जाय और गच्छ में कोई अन्य आचार्यादि नहीं हो, तो अन्य गण का आश्रय लेने के लिए विहार कर सकता है। अथवा आचार्य-उपाध्याय का विश्वास पात्र हो, तो किसी विशेष कार्य से विहार कर सकता है।

+ कल्प सूत्र के प्रारम्भ में टीकाकार ने साधुओं के कल्प का वर्णन किया है, वहाँ दसवें 'पर्युषण कल्प' के विवेचन में साधुओं के चातुर्मास के योग्य स्थान में उत्कृष्ट तेरह विषयों की अनुकूलता होना बताया है, जो इस प्रकार हैं–

१ जहां कीचड़ अधिक नहीं होता हो। २ जहाँ समुच्छिम की उत्पत्ति अधिक नहीं होती हो। ३ जहाँ की स्थंडिल भूमि निर्दोष हो। ४ उपाश्रय, स्त्री-संसर्गादि से रहित हो। ५ गोरस की प्रचूरता हो। ६ लोक-समुदाय भद्रिक हो। ७ वैद्य की अनुकूलता हो। ८ औषधी सुलभ हो। ९ गृहस्थ–उपासक वर्ग सम्पन्न हो। १० राजा भद्रिक परिणामी हो। ११ अन्य मतावलम्बियों का उपद्रव नहीं हो। १२ भिक्षा सुलभ हो और १३ स्वाध्याय ध्यान भली प्रकार हो सके ऐसी अनुकूलता हो।

५ अन्यत्र रहे हुए आचार्यादि की वैयावृत्य के लिए जाना आवश्यक हो।

उपरोक्त कारणों से वर्षावास के मध्य में भी विहार करने की छूट दी गई है।

(ठाणांग ५-२-४१३)

साधु, जिस स्थान पर एक मास ठहर चुके (साध्वी दो मास) और वर्षावास रह चुके, वहां उससे द्विगुण काल तक वापिस नहीं आवे। (आचारांग २-२-२)

गृहस्थों का सम्पर्क

निर्ग्रंथ साधु 'अनगार' होते हैं। उन्होंने गृहस्थाश्रम का त्याग किया है। अगारीपन अथवा गृहस्थवास को हेय जान कर ही वे अनगार बने हैं। इसलिए उन्हें गृहस्थों से अति सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ जीवन ही आरम्भमय, विषय-कषाय से ओतप्रोत और संसार की ओर लुभाने वाला है। गृहस्थों और साधुओं की चर्या आपस में मेल नहीं खाती। दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं। गृहस्थ, संसार संयोगों से संबंधित हैं और साधु तो संसार के सम्बन्धों से मुक्त है-"संजोगा विप्पमुक्कस्स" (उत्तरा. १-१) यदि साधु, गृहस्थों के सम्पर्क में रहेगा, तो उसे संसर्ग-दोष लगने की संभावना है। संगति का प्रभाव प्रायः पड़ता है। इसलिए जिनेश्वर भगवन्तों ने साधु-साध्वी के लिए गृहस्थ का संसर्ग वर्जित बतलाया है।

यों गृहस्थ से आहारादि संयमोपयोगी चीजें ली जाती हैं और उन्हें धर्मोपदेश तथा ज्ञान दान दिया जाता है, तथा साधु के समीप रह कर गृहस्थ, पौषधादि धर्म-क्रिया भी करता है। यह सम्पर्क, लक्ष्य की एकता के कारण है। गृहस्थ की धार्मिक प्रवृत्ति का सम्पर्क भी सावधानीपूर्वक और थोड़ा ही हो। जहां धार्मिकता के बहाने संसार के प्रपञ्च प्रवेश करते हैं, वहां साधु का संसार की ओर झुकाव हो जाता है। साधुओं में सांसारिक आकर्षण उत्पन्न होने का मुख्य निमित्त, सांसारिक लोग ही हैं। उन्हीं के संसर्ग से उनमें संसार की विविध हलचलें जानने की रुचि उत्पन्न होती है (उपादान जाग्रत होता है) फिर वे सांसारिक हालचाल जानने के लिए समाचार पत्रादि देखने लगते हैं। कोई कोई ऐसी पत्रिकाएँ भी देखते हैं कि जिनमें मोहवर्धक-कामवर्धक कहानियां होती है। इसका परिणाम संयम में उतार और पतन रूप में निकलता है। यदि इसका मुख्य निमित्त देखा जाय तो गृहस्थों का संसर्ग ही है। गृहस्थों के संसर्ग के कारण ही कई साधु-साध्वी, सांसारिक सावद्य कार्यों के प्रचारक बने हैं। अतएव गृहस्थों का संसर्ग त्यागना चाहिए, जिससे साधु-साध्वी का संयम सुरक्षित रहे। स्वाध्याय-ध्यानादि विशेष रूप से हो सके। जिनागमों में परमतारक जिनेश्वर भगवंतों ने कहा कि-

"गृहस्थ आरम्भ-जीवी होते हैं। इसलिए गृहस्थों से स्नेह नहीं करना चाहिए।"

(आचारांग १-३-२)

जिस प्रकार गृहस्थों का संसर्ग वर्जित है, उसी प्रकार गृहस्थों की सेवा करना, उन्हें आहारादि देना, उनके साथ स्थंडिल आदि जाना, या विहार करना भी वर्जित है। यही बात अन्यतीर्थी साधु-साध्वी के संसर्ग-त्याग के विषय में समझनी चाहिए (आचारांग १-८-१ तथा २-१-१) संसारियों की संगति संसार की ओर खींचती है, तो अन्यतीर्थियों की संगति, धर्म से भ्रष्ट कर के अन्य तीर्थ की ओर ले जाती है। गृहस्थों की सेवा करना या कराना अनाचार है (दशवै ३) यही बात अन्यतीर्थी के विषय में भी जाननी चाहिए, बल्कि उनसे तो विशेष रूप से सम्यक्त्व का "कुदंसण वज्जणा" नामक चौथे आचार का भंग रूप अनाचार है (उत्तराध्ययन २८)। निशीथ सूत्र उ० २ तथा १५ में गृहस्थों और अन्यतीर्थियों से संसर्ग रखने और आहारादि तथा वस्त्रादि देने का प्रायश्चित्त बतलाया है। इसलिए निर्ग्रंथ मुनिवर, गृहस्थों व अन्यतीर्थियों के संसर्ग तथा वस्तु के लेन-देन आदि प्रपञ्चों से दूर रहते हैं। विशेष में यह भी विधान है कि—

"साधु, अन्यतीर्थी और गृहस्थ के पाँव दबावे, मालिश करे, प्रमार्जन करे, तेलादि लगावे, शरीर का मर्दन आदि करे, फोड़ा या मस्सा आदि का छेदन कर मवाद निकाले, धोवे और दवा लगावे, तो प्रायश्चित्त का भागी होता है" (निशीथ उ. ११)।

साधु, गृहस्थ से अपने पाँव दबवावे, मालिश करवावे, तेलादि का विलेपन करवावे, फोड़ा आदि का छेदन (आपरेशन) करवावे, उसका मवाद निकलवावे, धुलवावे और दवाई आदि लगावे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है (निशीथ उ. १५)

गृहस्थ के बरतनों में भोजन करे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ. १२)।

गृहस्थ की औषधी करे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ. १२)।

गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थी से अपने उपकरण उठवावे तो प्रायश्चित्त आता है (निशीथ उ. १)।

गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थी को शिल्प आदि कला, काव्य-कला, ज्योतिष तथा खेल आदि बतावे-सिखावे तो प्रायश्चित्त। यों अनेक क्रियाओं का निर्देश किया गया है (निशीथ उ. १३)।

गृहस्थ को आहार-पानी आदि देवे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ. १५)।

अपनी चद्दर गृहस्थ से सिलावे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ. ५)

तात्पर्य यह है कि साधु, गृहस्थ से निर्दोष आहारादि संयमोपकारी वस्तु, अपने नियमों के अनुसार ले सकते हैं और उन्हें धर्मोपदेश तथा विरति प्रदान कर सकते हैं। इसके सिवाय न तो वे स्वयं गृहस्थों से अपना कार्य करा सकते हैं और न खुद उनका कार्य कर सकते हैं। क्योंकि उनका जीवन निर्वाण साधना के लिए है, जो ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय तथा समाचारी के पालन रूप होता है।

जो लोग कहते हैं कि 'साधु, गृहस्थों से आहारादि लेते हैं, तो उसके बदले में उपदेश दे कर प्रत्युपकार करते हैं—बदला चुकाते हैं,' वे गलत कहते हैं। साधु बिना किसी बदले की भावना के, अपनी संयम साधना

में उपयोगी वस्तु लेते हैं और श्रावक उन्हें प्रतिलाभ कर अपने व्रत की आराधना करते हैं। लेने वाले और देने वाले दोनों को अपनी आराधना का आत्मिक लाभ होता ही है (दशवै. अ. ५ उ. १ गा. १००)।

संसारी प्राणियों की सेवा करना गृहस्थों का कार्य है, साधुओं का नहीं। करोड़ों गृहस्थ और राज्य-सत्ता, संसारियों की सेवा के लिए है। साधु तो गृहस्थों का संबंध छोड़ कर निकल चुके हैं। वे दीक्षित होने के दिन से स्वाश्रयी हो गए हैं। इसलिए उन्हें भी गृहस्थों से निषिद्ध सेवा नहीं लेनी चाहिए। दीक्षित होने के दिन से उनका संबंध साधुओं से जुड़ चुका है। इसलिए आवश्यकता होने पर साधुओं से ही सेवा ले और दे सकते हैं।

असमाधि स्थान

जिस क्रिया से आत्मा की शान्ति भंग हो कर अशान्ति बढ़े, मोक्ष-मार्ग से विपरीतता हो और कर्म बन्धन बढ़ कर संसार-परम्परा में वृद्धि हो, वह असमाधि जन्य क्रिया है। यों तो साधना में दोष लगाने वाली जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सभी असमाधि की कारण होती है, किन्तु आगमों में असमाधि के २० स्थानों का वर्णन किया गया है। इन बीस स्थानों में असमाधि के सभी कारणों का समावेश हो जाता है। असमाधि स्थानों का वर्णन समवायांग २० और दशाश्रुतस्कन्ध १ से यहाँ लिखा जा रहा है।

१ **द्रुतद्रुतचारी**—ईर्यासमिति की उपेक्षा कर के जल्दी से चलना। इस प्रकार अन्धाधुन्द चलने से जीवों की यतना नहीं होती और ठोकर आदि भी लग जाती है। जिस प्रकार जल्दी चलना असमाधि जनक है, उसी प्रकार जल्दी-जल्दी बोलना, खाना आदि भी कष्टदायक है।

२ **अप्रमार्जितचारी**—दिन में जहाँ अधिक जीव हों वहाँ और रात्रि के अन्धकार में, बिना पूंजे चलना, बैठना, सोना और करवट बदलना।

३ **दुष्प्रमार्जितचारी**—बेगार टालने के समान उपेक्षापूर्वक, बिना उपयोग के प्रमार्जन करना।

४ **अतिरिक्त शय्यासनिक**—स्थान और पाट-पाटला, आसन, बिछौना आदि प्रमाण से अधिक रखना।

५ **रात्निकपरिभाषी**—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अपने से अधिक हैं और गुरु अथवा उच्च पद पर हैं, उनसे धीठतापूर्वक विवाद करना।

६ **स्थविरोपघातक**—स्थविर मुनियों का अनिष्ट चाहने वाला—श्रमण द्रोही।

७ **भूतोपघातक**—एकेन्द्रियादि जीवों का घातक। आधाकर्मी आहार करने वाला।

८ **संज्वलन**—स्वाध्यायादि को छोड़ कर सदा क्रोध में ही जलना। जिस प्रकार चूने की भट्टी

भीतर ही भीतर जलती रहती है, उसी प्रकार मन ही मन कुढ़ना।

९ क्रोधी–अत्यन्त क्रोधी। वैरभाव को शान्त नहीं कर, दूसरों से झगड़ना।

१० पृष्टमांसिक–पीठ पीछे निन्दा करने वाला। किसी की अनुपस्थिति में निन्दा करने वाले को 'पीठ का मांस खाने वाला' बताया है। निन्दा से वैसे ही कर्म बँधते हैं और कलह हो कर अशांति फैलती है।

११ बारबार निश्चयकारिणी भाषा बोलना–जिस विषय में शंका है–पक्का निश्चय नहीं है, उस विषय में निश्चयकारी भाषा बोलना, तथा दूसरे के गुणों का अपहरण करने वाले शब्द (हँसी आदि के मिस) बोलना कि 'तू चोर है, दास है,' आदि। यह मृषावाद हो कर असमाधि का कारण है।

१२ कलह उत्पन्न करना–अपनी ओर से नये-नये कलह उत्पन्न करना। पहले जो कलह नहीं था उसे अपनी ओर से खड़ा करने वाला। अथवा अधिकरण उत्पन्न करना।

१३ शान्त हुए कलह को उभाड़ना–पहले के क्लेश को पारस्परिक क्षमापना के द्वारा शान्त कर दिया गया है, किन्तु उसे फिर से उभाड़ना।

१४ अकाल में स्वाध्याय करना–सूत्र में बताये हुए (देखो पृ० ११५) अनध्याय काल में स्वाध्याय करना तथा वैयावृत्य का अवसर उपस्थित होने पर भी वैयावृत्य नहीं कर के स्वाध्याय करना*।

१५ रजलिप्त हाथ-पाँव–सचित्त रज से लिप्त हाथ पाँव आदि को बिना पूँजे, आसन या शय्या पर बैठना अथवा सचित्त रज से या पानी आदि से लिप्त हाथ आदि युक्त गृहस्थ से आहारादि लेना।

१६ जोर-जोर से बोलना–प्रहर रात गये बाद जोर-जोर से स्वाध्याय करना तथा 'मामाजी चाचाजी' आदि गृहस्थ योग्य भाषा बोलना।

१७ भेद करना–गच्छ, गण अथवा संघ में भेद उत्पन्न करना फूट डालना और उनमें मानसिक दुःख उत्पन्न करना।

१८ क्लेश करना–कलह उत्पन्न हो ऐसी भाषा बोलना। अथवा ऐसे कार्य करना कि जिससे कलह बढ़े।

१९ दिनभर खाना–सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार-बार खाते ही रहना। दिन भर मुँह चलाते ही रहना और उचित काल में स्वाध्यायादि नहीं करना।

२० अनेषणीय लेना–एषणा समिति का पालन नहीं कर के दोष युक्त आहारादि लेना।

---

* यदि किसी वृद्ध, रोगी या रत्नाधिक की वैयावृत्य का समय उपस्थित हो, तो उस समय स्वाध्याय-काल होते हुए भी वैयावृत्य नहीं कर के स्वाध्याय करे, तो वह असमाधि का कारण होता है। इसलिए इस अर्थ का समावेश किया जाय तो भी उचित होगा।

द्रव्य समाधि और भाव समाधि के इच्छुक मुनिवर, उपरोक्त असमाधि स्थानों से वचते ही रहते हैं। जो श्रमण अपनी पाँच समिति का यथातथ्य पालन करते हैं, वे असमाधि के कारण नहीं वनते हैं।

आत्म-समाधि के स्थान

वाणिज्यग्राम नगर के दूतिपलास चैत्य में, त्रिलोक-पूज्य भगवान् महावीर प्रभु ने निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा-

"आर्यों! जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रंथी, ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभण्डमात्र निक्षेपण समिति, उच्चार-पस्रवण-खेल-जल-संघाण परिस्थापनिका समिति, मनसमिति, वचनसमिति और कायसमिति का पालन करने वाले हैं, जो मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से गुप्त, गुप्तेन्द्रिय और गुप्त-ब्रह्मचारी हैं, तथा-

आत्मार्थी, आत्महितैषी, आत्म-योगी, आत्मपराक्रमी, पाक्षिक पौषध+ करने वाले, स्वाध्याय तप आदि से समाधि प्राप्त करने वाले और धर्म-ध्यान करने वाले हैं, उन्हें पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई, ऐसी अपूर्व आत्मसमाधि उत्पन्न होती है। उस आत्मसमाधि के दस भेद हैं। यथा-

१ धर्म-चिन्तन करने से, पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई ऐसी धर्म-भावना उत्पन्न होती है और उससे वह क्षान्ति आदि धर्म तथा जीवादि तत्त्वों को जान लेता है। इससे चित्त में समाधि होती है।

२ धर्म-चिन्तन करते हुए यदि अपूर्व शुभ और यथार्थ फलदायक स्वप्न-दर्शन× हो जाय तो चित्त-समाधि होती है।

३ धर्म-चिन्तन करते हुए अभूतपूर्व जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और इससे अपने पूर्व-भवों को देख कर चित्त में समाधि प्राप्त करता है।

४ यदि अपूर्व देव-दर्शन हो जाय और उसकी देवलोक सम्बन्धी ऋद्धि, प्रभाव और दिव्य सुखों के कारणभूत धर्म का विचार करे तो चित्त में समाधि होती है।

५ धर्म-चिन्तन से क्षयोपशम भाव की वृद्धि हो कर अपूर्व अवधिज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो उससे प्रत्यक्ष रूप से लोक का स्वरूप जानने से आत्म-शान्ति उत्पन्न होती है।

६ अवधिदर्शन उत्पन्न होने पर लोक का स्वरूप, प्रत्यक्ष देखने से चित्त की समाधि होती है।

७ आत्मलीनता बढ़ते हुए अपूर्व ऐसे मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो उससे मनुष्य-क्षेत्र ढ़ाई द्वीप-समुद्र के संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मनोगत भावों को जानने पर, निर्ग्रन्थों को आत्म-शांति प्राप्त होती है।

८ धर्मध्यान में बढ़ते हुए शुक्लध्यान में प्रवेश कर जाय और क्षपक-श्रेणी प्रारंभ कर ले, तो घातिकर्मों को नष्ट कर के अपूर्व एवं अद्वितीय ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त कर, लोकालोक के स्वरूप को जान लेते हैं। यह ध्यानान्तर दशा अपूर्व शान्ति युक्त है।

९ अपूर्व केवलदर्शन से लोकालोक देखने से।

१० केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित आयुष्य पूर्ण होने पर निर्वाण हो जाता है और समस्त दुःखों का सदा के लिए अंत हो जाता है। इससे अपूर्व, पूर्ण तथा शाश्वत शांति प्राप्त हो जाती है।

जो निर्ग्रंथ अनगार, शरीर का मोह नहीं कर के और पौद्गलिक दृष्टि को छोड़ कर, स्वाध्यायादि में तथा धर्मध्यान में लगे रहते हैं। विविध प्रकार के तप करते हुए आत्मा को उज्ज्वल बनाते रहते हैं, उनकी आत्म-शान्ति बढ़ती जाती है और वर्धमान परिणाम से वे उन्नत होते-होते कभी अपूर्व एवं शाश्वत शान्ति–मुक्ति को भी प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे मुक्तिपुरी के महापथिक अनगार भगवंतों के चरणों में हमारी पूर्ण भक्ति समर्पित हो। (दशाश्रुतस्कन्ध ५)

उपरोक्त चित्त-समाधि के दस प्रकारों के अतिरिक्त नीचे लिखी चार प्रकार की समाधि भी जिनेश्वर भगवंतों ने वतलाई है।

१ विनय समाधि–धर्म का मूल आधार ही विनय है। विनय की भूमिका पर ही सभी धर्म फलते-फूलते हैं। मोक्ष-मार्ग में प्रगति भी विनयी आत्मा ही कर सकती है। अतएव समाधि के इच्छुक को सबसे पहले विनय-धर्म के द्वारा समाधि प्राप्त करनी चाहिए। इसके चार भेद हैं–

१ गुरु को अपना परम उपकारी जान कर उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञा पालन करने में तत्पर रहना।

२ गुरु की आज्ञा और उनके अभिप्राय को समझना।

३ गुरु की आज्ञा का पालन करना और श्रुतज्ञान की आराधना करना।

४ अभिमान तथा आत्म-प्रशंसा नहीं करना।

२ श्रुतसमाधि–अशांति का कारण अज्ञान है और ज्ञान, अपूर्व शान्ति प्रदान करता है। जिसमें ज्ञान बल है, उसके लिए आत्मशांति का प्रबल अवलंबन उपस्थित है। इसके चार भेद इस प्रकार हैं–

१ 'श्रुत पढ़ने से मुझे आगम ज्ञान का लाभ होगा'–ऐसा समझ कर पढ़े।

२ चित्त की एकाग्रता के लिए अध्ययन करे।

३ अपनी आत्मा को स्थिर करने के लिए श्रुत-ज्ञान का अध्ययन करे।

४ स्वयं स्थिर रह कर, अन्य जीवों को भी धर्म में स्थिर करने के लिए पढ़े।

३ तप समाधि-तपस्या के द्वारा होने वाली आत्म-शान्ति। तपस्या से अन्तर का मैल जलता है और विषय-विकार नष्ट होते हैं। इससे एक प्रकार की आत्म-शांति प्राप्त होती है। इसके भी निम्नलिखित चार प्रकार हैं-

१ इस लोक के सुख-लब्धि आदि की प्राप्ति के लिए तप नहीं करे।

२ दैविक सुख की प्राप्ति के लिए तपस्या नहीं करे।

३ कीर्ति, वर्ण, शब्द और प्रशंसा के लिए तपस्या नहीं करे। क्योंकि उपरोक्त तीन प्रकार की इच्छा से की हुई तपस्या वास्तविक समाधि प्रदान नहीं करती।

४ आत्मा की उज्ज्वलता के लिए-केवल निर्जरा के लिए ही तपस्या करे।

४ आचार समाधि-शुद्धाचार भी आत्म-शांति का सच्चा उपाय है। जो सदाचारी हैं, उनके लिए अशान्ति का कारण नहीं रहता। यदि पूर्व के दुराचार के फलस्वरूप वर्तमान में अशांति का उदय हो, तो भी आचार-समाधि वाली शान्त और समाधिस्थ आत्मा को वह विचलित नहीं कर सकती। इस आचार-समाधि के भी नीचे लिखे चार भेद हैं-

१ इस लोक के स्वार्थ के लिए सदाचार का पालन नहीं करे।

२ पर-लोक की लालसा रख कर आचार का पालन करने से आत्म शांति नहीं मिलती।

३ कीर्ति, वर्ण, शब्द और प्रशंसा की कामना से सदाचार पालन करने से भी वास्तविक शांति नहीं मिलती।

४ आर्हत्-जिन-प्रवचन में बताये हुए कारणों के अतिरिक्त किसी दूसरे कारणों से आचार का पालन करने पर भी आत्म-समाधि नही मिलती। इसलिए बाधक कारणों को त्याग कर, समाधि साधक नियमों के अनुसार ही आचार का पालन करना चाहिए। (दशवै. ९-४)

यह चार प्रकार की समाधि, सभी प्रकार की अशांति को दूर कर के परम समाधि भाव-शाश्वत शान्ति को प्राप्त कराने वाली है। इसलिए प्रत्येक साधक को उपरोक्त चारों प्रकार की समाधि प्राप्त करने में सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। चित्त-समाधि के दस कारणों का मूल भी उपरोक्त चार समाधि में रहा हुआ है। समाधिवंत आत्मा ही शाश्वत-अखण्ड सुख को प्राप्त कर सकती है।

जो महान् आत्माएँ, आत्म-समाधि रख कर उपरोक्त नियमों का पालन करती हैं, उनके चरणों में हमारा बार-बार प्रणाम हो।

पूजनीय अनगार

सद्गुणों के कारण ही साधु वन्दनीय पूजनीय होता है। केवल वेश अथवा पक्ष ही पूजनीय नहीं होता। जिस साधु में साधुता के गुण नहीं हो, वह जैन साधु कहलाते हुए भी पूजनीय नहीं होता। आगमकार महर्षियों ने साधु की पूज्यता के मुख्य गुणों का निर्देश किया है। वे गुण ये हैं-

१ जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण, सावधानीपूर्वक अग्नि की उपासना करता है, उसी प्रकार जो शिष्य, आचार्य महाराज की सेवा में सावधान रहता है और उनकी दृष्टि तथा चेष्टा आदि से ही उनका अभिप्राय जान कर, उनकी इच्छा को पूर्ण करता है, वह पूजनीय होता है।

२ जो शिष्य, ज्ञानाचारादि आचार प्राप्ति के लिए गुरु की सेवा भक्ति करता है, उनकी आज्ञा का पालन करता है और उनकी इच्छानुसार कार्य करता है, तथा गुरु महाराज की किंचित् भी आशातना नहीं करता, वह पूज्य है।

३ जो साधु, ज्ञान दर्शन और चारित्र में अपने से बड़े साधुओं का विनय एवं भक्ति करता है, जो उम्र में छोटे, किंतु चारित्र-पर्याय में वड़े हैं, उनका भी विनय तथा सेवा करता है और गुरुजनों के सामने नम्र हो कर हित-मित तथा सत्य वचन बोलता है और गुरु की सेवा में रहता हुआ उनकी आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य होता है।

४ जो साधु, संयम-निर्वाह के लिए अज्ञातकुल से (अपरिचित घरों से) निर्दोष आहार लेता है, यदि नहीं मिले, तो खेद नहीं करता और इच्छानुसार मिल जाने पर अभिमान तथा प्रशंसा नहीं करता, वह पूज्य होता है।

५ जिस साधु को संथारा, शय्या, आसन और आहार-पानी अधिक मिल सकता है, किन्तु वह अल्प ले कर ही संतोष रखता है और अपनी आत्मा को समाधिभाव में रखता है, वह पूजने योग्य होता है।

६ गृहस्थ लोग, धन प्राप्ति के लिए लोहे के तीखे बाणों का प्रहार भी सहन कर लेते हैं, किंतु कानों में पड़ने वाले वचन रूपी बाणों का सहन करना बहुत कठिन होता है। जो साधु, बिना किसी आशा के वचन रूपी बाणों को शान्तिपूर्वक सहन करता है, वह वन्दनीय-पूजनीय होता है।

७ लोहे के बाण तो शरीर में थोड़ी देर पीड़ा उत्पन्न करते हैं और वह पीड़ा दूर भी हो जाती है, किन्तु वचन रूपी बाण लग जाने पर निकालना बड़ा कठिन होता है। ऐसे वचन रूपी बाण, इस भव और परभव में वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले होते हैं और नरकादि गति में भयानक दुःख देने वाले होते हैं।

८ वचन रूपी वाणों का समूह कान में पड़ते ही हृदय को दुखित कर के भावना को बिगाड़ देता है। किन्तु संयम में सावधान साधु, यह समझता है कि–'क्षमा करना मेरा धर्म है'–इस प्रकार समभावपूर्वक जो कटु-वचनों को सहन करता है, वह साधु वीर-सिरोमणि एवं जितेन्द्रिय है। ऐसा साधु विश्व पूज्य होता है।

९ जो साधु, किसी के सामने अथवा पीछे निन्दा नहीं करता और दुःखदायक, अप्रियकारी तथा निश्चयकारी भाषा नहीं बोलता, वह पूज्य है।

१० जो साधु, जिव्हालोलुप नहीं है, जो लोभी नहीं है, जो मन्त्र-तन्त्रादि का प्रयोग नहीं करता, जो निष्कपट है, किसी की चुगली नहीं करता है, जो भिक्षा नहीं मिलने पर भी दीनता नहीं दिखाता, जो प्रशंसा का इच्छुक भी नहीं है और न खुद अपनी प्रशंसा करता है, जो नाटक खेल आदि देखने का इच्छुक नहीं है, वह पूज्य होता है।

११ गुरु महाराज फरमाते हैं कि जो विनयादि उत्तम गुणों को धारण करता है, वह साधु है और अविनयादि अशुभ गुणों का पात्र, असाधु होता है। इसलिए हे शिष्य ! तुम साधु के योग्य गुणों को धारण करो और दुर्गुणों को त्याग दो। इस प्रकार जो अपनी आत्मा को समझ कर राग-द्वेष नहीं करता और समभाव रखता है, वह पूज्य है।

१२ जो साधु, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, गृहस्थ और साधु, इनमें से किसी की भी निन्दा या बुराई नहीं करता और अभिमान तथा क्रोध को त्याग देता है, वह पूज्य होता है।

१३ जो साधु, विनय और भक्ति के द्वारा गुरु का संमान करता है, तो वह गुरुदेव से सम्यग्-ज्ञान पा कर स्वयं योग्य एवं संमाननीय–आचार्यादि बन जाता है। जिस प्रकार माता-पिता, अपनी कन्या को योग्य पति को देकर, श्रेष्ठ कुल-गृहिणि पद पर स्थापित करते हैं. उसी प्रकार गुरु भी शिष्य को आचार्य पद प्रदान कर संमानित करते हैं। जो जितेन्द्रिय सत्यपरायण और तपस्वी शिष्य, ऐसे संमान-नीय उपकारी गुरु की सेवा करता है, वह पूज्य होता है।

१४ जो बुद्धिमान साधु, उन उपकारी गुरु के सुभाषित उपदेश सुन कर तथा पांच महाव्रत और तीन गुप्ति से युक्त हो कर, कषायों को त्याग देता है और गुरु की सेवा करता हुआ शुद्ध संयम का पालन करता है, वह पूज्य होता है।

१५ निर्ग्रंथ-प्रवचन का ज्ञाता, धर्म में निपुण और विनय वैयावृत्य करने में कुशल मुनि, गुरु सेवा के द्वारा अपने पूर्वकृत कर्म रूप मैल को हटा कर, अनन्त ज्ञान से प्रकाशित ऐसी सिद्ध-गति को प्राप्त करता है। (दशवै० ९–:)

आशातना

जिस प्रवृत्ति से सम्यग्ज्ञानादि गुणों की घात हो और विनय-धर्म की अवहेलना हो, उसे 'आशातना, कहते हैं। ज्ञान और ज्ञानी, दर्शन और दर्शनी, चारित्र और चारित्री तथा तप और तपस्वी की उपेक्षा, अवहेलना, अनादर, अपमान एवं अविनय करना, निन्दा करना-आशातना है। ज्ञानादि के विपरीत प्ररूपणा और गुणीजनों के गुणों का अपलाप कर, उनके महत्व को घटाना-विपरीत आचरण करना आशातना है। इससे खुद के गुणों का नाश हो कर पतन होता है। इसलिए निर्ग्रंथ धर्मानुयायीजन नीचे लिखी आशातनाओं से सदैव बचते रहते हैं।

१ रत्नाधिक-जो चारित्र में बड़े हों, गीतार्थ हों अथवा आचार्यादि विशेष पद युक्त हों, उन रात्निक-गुणाधिक के साथ गमनागमन में आगे चलना-आशातना है।

२ उनके बराबर चलना आशा०।

३ उनके पीछे चले हुए भी उनसे सट कर चलना०।

४-६ इसी प्रकार खड़े रहने में आगे खड़ा रहना, बराबर खड़ा रहना और पीछे भी अड़ कर खड़ा रहना आ०।

७-९ इसी प्रकार बैठने में उनके आगे बैठना, बराबर बैठना और पीछे भी अड़ कर बैठना-गुणाधिकों की आशातना है।

१० रत्नाधिक और शिष्य विचारभूमि (शौच) के लिए जंगल में गये हों, वहाँ (एक पात्र में जल हो तो) रत्नाधिक के शौच करने के पूर्व ही शिष्य शौच कर ले, तो आशातना होती है।

११ बाहर से लौटने पर अथवा स्वाध्यायार्थ बाहर जाने पर, गुरु से पहले ही शिष्य इर्यापथिकी आलोचना कर ले०।

१२ जिस आगत व्यक्ति से गुरु को ही पहले वार्त्तालाप करना है, उससे गुरु के पहले ही शिष्य बातचीत करे, तो गुरु की आशातना होती है।

१३ रात्रि में गुरु आवाज दे कि-"कौन जाग रहा है?" तो जागते हुए भी सोने का बहाना कर के पड़ा रहे और उत्तर नहीं दे, तो आशातना होती है।

१४ आहार-पानी ला कर, उसकी आलोचना, पहले अन्य साधुओं के पास करे और उसके बाद गुरु के समीप करे, तो आशातना।

१५ आहारादि ला कर दूसरे साधुओं को दिखाने के बाद रत्नाधिक को बतावे।

१६ आहारादि के लिए अन्य साधुओं को निमन्त्रित करने के बाद रात्निक को निमन्त्रित करे।

१७ रत्नाधिक को पूछे विना ही दूसरे साधुओं को उनकी इच्छानुसार अधिक आहार देवे।

१८ रत्नाधिक के साथ आहार करते समय शिष्य, स्वादिष्ट मनोज्ञ और सरस तथा रुचिकर वस्तु अधिक मात्रा में शीघ्रतापूर्वक खावे।

१९ रत्नाधिक शिष्य को पुकार बुलावे तब शिष्य सुना-अनसुना कर दे।

२० गुरु के आमन्त्रित करने पर यदि अपने स्थान पर बैठे रह कर ही शिष्य उत्तर दे, तो विनय की आशातना लगती है।

२१ गुरु के आवाज देने पर–'क्या कहते हो'? इस प्रकार बैठे-बैठे ही प्रश्नात्मक उत्तर दे और समीप जा कर विनयपूर्वक आज्ञा प्राप्त नहीं करे।

२२ गुरु को शिष्य 'तू' या 'तुम'–इस प्रकार तुच्छतापूर्वक वचन कहे।

२३ शिष्य, रत्नाधिक को अत्यन्त कठोर और प्रमाण से अधिक शब्द कहे।

२४ गुरु के कहे हुए वचनों से ही शिष्य उनका अपमान करे। जैसे–'आप मुझे स्वाध्याय अथवा वैयावच्च करने का कहते हो, तो आप खुद क्यों नहीं कर लेते? आप आलसी क्यों बन गए,' आदि, इस प्रकार उन्हीं शब्दों से अपमान करे।

२५ गुरु धर्म-कथा कह रहे हों, तो बीच में ही शिष्य बोल उठे और कहे कि–'आप कहते हैं वह ठीक नहीं है, यों कहिए–' इस प्रकार अनादर करना।

२६ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हों और शिष्य बीच में ही कहे कि–'आपको याद नहीं है, आप भूल कर रहे हैं,' तो आशातना होती है।

२७ गुरु की धर्म-कथा को प्रसन्नचित्त और एकाग्रतापूर्वक नहीं सुन कर, उपेक्षापूर्वक सुने और अन्य विचार करता रहे, उदासीनतापूर्वक सुने।

२८ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हों और श्रोतागण सुन रहे हों, उस समय शिष्य, किसी प्रकार से परिषद का भेदन करे और–'अब समय हो गया है,'–इस प्रकार कह कर धर्म-सभा को भंग करे।

२९ गुरु की चलती हुई धर्म-कथा को भंग कर और उपदेश-धारा को रोक कर, स्वयं कहने लग जाय अथवा व्याख्यान को ही रोक दे।

३० गुरु का धर्मोपदेश चल रहा हो और परिषद सुन रही हो, परिषद अभी उठी नहीं हो, और उसके पहले ही शिष्य, गुरु द्वारा कही हुई किसी संक्षिप्त बात को विस्तारपूर्वक दो बार या तीन बार कहे।

३१ रत्नाकर के आसन और शय्या को पैरों से ठुकरा कर, हाथ जोड़ कर खमाये बिना ही चला जाय।

३२ गुरु के आसन पर बैठे, खड़ा रहे और उनकी शय्या-संस्तारक पर बैठे या सोवे।

३३ गुरु से ऊँचे आसन पर अथवा समान आसन पर खड़ा हो, बैठे, अथवा समान शय्या पर शयन करे, तो आशातना होती है (दशाश्रुतस्कन्ध ३)।

उपरोक्त ३३ प्रकार की आशातना से बच कर 'विनय-मूल धर्म' का भली प्रकार से पालन करने वाले और गुरु की आज्ञा में चलने वाले मुनिराज, संसार-समुद्र से शीघ्र ही पार हो जाते हैं।

(२) आशातना के दूसरी प्रकार से ४५ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं–

१ अरिहंतों की आशातना–अरिहंत भगवंतों की वीतरागता सर्वज्ञतादि गुणों तथा अतिशयादि विशेषताओं का अपलाप करना। उन्हें सरागी और छद्मस्थ जैसे सांसारिक मनुष्यों के समान बताना। उनके केवलज्ञान को सर्वज्ञायक नहीं मानना और उनके नाम से झूठा प्रचार करना+ आदि।

२ अरिहंत प्ररूपित धर्म की आशातना–अरिहंत भगवान् का धर्म सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप है। संवर और सकाम निर्जरा से मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश, अरिहंत भगवंतों का है। ऐसे महान् धर्म का महत्व घटाना, उसे जड़-क्रिया कहना, उस परम तारक धर्म के नाम पर आरंभ समारंभ चलाना, आश्रव को धर्म कहना, बन्ध के कार्यों में धर्म बतलाना और इस लोकोत्तर धर्म के विपरीत प्ररूपणा करना आदि।

३ आचार्य की आशातना ४ उपाध्याय की आशातना ५ स्थविरों की ६ कुल * ७ गण ÷ ८ संघ‡ ९ क्रिया–प्रतिलेखनादि क्रिया १० सांभोगिक†–साधर्मी ११ मतिज्ञान १२ श्रुतज्ञान १३ अवधिज्ञान १४ मनःपर्यव ज्ञान १५ केवल ज्ञान। इन पन्द्रह की आशातना करना।

१६–३० इन पन्द्रह की भक्ति और बहुमान नहीं करना।

३१–४५ इन पन्द्रह के गुणानुवाद, स्तुति और प्रशंसा नहीं करना। ये १५ और मिलाने से ४५ भेद हुए।

उपरोक्त १५ की आशातना नहीं करना, भक्ति बहुमान करना और गुण कीर्तन करना। इससे अनाशातना होती है और अनाशातना से धर्म की आराधना होती है। (भगवती २५–७)

(३) आशातना के निम्न ३३ भेद और भी हैं, जो इस प्रकार हैं–

१ अरिहंतों की आशातना २ सिद्धों की ३ आचार्यों की ४ उपाध्यायों की ५ साधुओं की ६ साध्वियों की ७ श्रावकों की ८ श्राविकाओं की ९ देवों की १० देवियों की ११ इस लोक की–लौकिक

+ उनके स्वरूप और गुणों को छुपाना, आदर नहीं देना और कीर्ति नहीं करना–आशातना है और विरोध करना, उनके स्वरूप को झुठलाना, उनके स्वरूप के विरुद्ध प्रचार करना और अपमानादि करना, प्रत्यनीकता = शत्रुता है (ठाणांग ३–४)।

* गच्छ समुदाय अथवा एक आचार्य की शिष्य-संतति को 'कुल' कहते हैं।

÷ कुल के समुदाय अथवा जिसमें तीन कुल के समुदाय सम्मिलित हों, वह 'गण' कहलाता है।

‡ ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुण के समूह, अथवा गण के समुदाय को 'संघ' कहते हैं। अथवा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप श्रमण-प्रधान समूह को 'संघ' कहते हैं।

† जिनके आचार-विचार समान हों, जिनसे वन्दनादि व्यवहार हों, वे 'सांभोगिक' कहलाते हैं।

"जो शुद्ध सोने की तरह निर्मल है, राग द्वेष और भय आदि मोह-जनित विकारों से दूर है, जिसने तपस्या से अपने शरीर को कृश कर दिया है, इन्द्रियों और मन की बुरी वृत्तियों का जिसने दमन कर दिया है, जिसके शरीर का रक्त और मांस, तपस्या की गर्मी से सूख गया है, जो निर्वाण प्राप्ति के लिए उत्तम व्रतों का पालन करता है। इस प्रकार के उत्तम गुण सम्पन्न महात्मा को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो संक्षेप अथवा विस्तार से त्रस और स्थावर प्राणियों को जान कर, उनकी तीन करण और तीन योग से हिंसा नहीं करता, क्रोध, लोभ, हँसी-मजाक अथवा भय से भी झूठ नहीं बोलता, विना दी हुई कोई भी वस्तु—सचित्त अथवा अचित्त, थोड़ी या वहुत नहीं लेता, जो मन वचन और काया से मैथुन का सेवन नहीं करता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जिस प्रकार कमल पानी में उत्पन्न हो कर भी पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार जो संत, भोगों से उत्पन्न हो कर भी भोगों से अलिप्त—भिन्न रहता है, जो लोलुपता से रहित है, गृह त्यागी है, अकिञ्चन—निष्परिग्रही है और भिक्षा द्वारा अपना जीवन चलाता है, तथा जो कुटुम्व परिवार और ज्ञातिजनों के संयोग को त्याग कर, फिर उनमें लुब्ध नहीं होता, वह ब्राह्मण कहा जाता है।

ब्राह्मण वह है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है—आत्मा में रमण करता है, जो उत्तम आचार का पालन करने वाला और घातिकर्मों को नष्ट कर, स्नातक हो कर, समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है, वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है।

उपरोक्त गुणों से युक्त द्विजोत्तम—उत्तम ब्राह्मण ही अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ होता है (उत्तराध्ययन अ० २५)।

वास्तव में ब्राह्मण× वे ही हैं जो 'ब्रह्म' (आत्म) साधना में तत्पर रहते हैं। जिनकी आत्मा, ब्रह्मत्व की ओर वढ़ती जाती है। ऐसे ब्रह्मवर, संसार के लिए पूजनीय होते हैं।

भिक्षु

"निष्परिग्रही श्रमण को 'भिक्षु' इसलिए कहते हैं कि वह अभिमान से रहित, नम्र और गुरुजनों की आज्ञा का पालक होता है। वह इन्द्रियों का दमन करने वाला, भव्य और मोक्षाभिमुख होता है। उसमें शरीर के प्रति ममत्व नहीं रहता। वह अनेक प्रकार के भयंकर परीषहों को सहते हुए, शुद्ध योगों के द्वारा आत्मा की शुद्धि करने वाला होता है। उसकी आत्म-जाग्रति सतत रहती है। वह आत्म-

× ब्राह्मण का दूसरा अर्थ 'व्रतधारी श्रावक' भी होता है—भगवती १-७ टीका।

स्थिरता बनाये रखने में उद्यमशील रहता है और मर्यादापूर्वक तथा दूसरों के द्वारा दिये हुए निर्दोष भोजन से निर्वाह करता है, वह भिक्षु कहलाता है।" (सूत्रकृतांग १–१६)

जिसने विचारपूर्वक और सम्यक्त्व-युक्त मुनिवृत्ति अंगीकार की, जो सरल है और निदान कर के रहित है, जिसने विषयों की अभिलाषा और संसारियों का परिचय त्याग दिया है, जो अज्ञात कुलों की गोचरी करता है, वह भिक्षु कहलाता है।

जो आगमज्ञ, रागरहित हो कर संयम में दृढ़तापूर्वक रमण करता है, जो असंयम से निवृत्त तथा आत्म-रक्षक है, जो समदर्शी, किसी भी वस्तु में मूर्च्छा नहीं करता हुआ परीषहों को सहन करता है, वह भिक्षु कहलाता है।

जो कठोर वचन और प्रहार को धैर्य पूर्वक सहन करता है, जो सदाचार का पालन करता है, अन्तर्मग्न (आत्म गुप्त) हो कर चारित्राचार द्वारा अपनी आत्मा की रक्षा करता है और संयम-मार्ग में आने वाले कष्टों को समभाव से सहन कर के आत्म-समाधि को बनाये रखता है–वह भिक्षु है।

जीर्ण और हलकी (पतली) शय्या तथा हलका आसन पा कर जो खिन्न नहीं होता, जो शीत, उष्ण और डाँस, मच्छरादि विविध प्रकार के परीषहों के उत्पन्न होने पर भी शांत चित्त से सभी प्रकार के कष्टों को सहन करता है, वह भिक्षु है।

जो मान, पूजा, वन्दना और प्रशंसा का इच्छुक नहीं है, ऐसा सुव्रती, तपस्वी, आत्मगवेषी, और सम्यग्ज्ञानी संयती, भिक्षु कहलाने के योग्य है।

जिन स्त्री-पुरुषों की संगति से संयमी जीवन का नाश हो और महामोह का बन्ध हो, उसे सर्वथा छोड़ने वाला और कुतूहल से दूर रहने वाला भिक्षु है।

छेदन विद्या, स्वर विद्या, भूकम्प, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, वास्तु, अंग-विचार और पशु-पक्षियों की बोली जानने आदि विद्याओं के द्वारा जो अपनी आजीविका नहीं करता है, वह भिक्षु है।

मन्त्र, जड़ी-बूटी से औषधी का प्रयोग, वमन-विरेचन, धूम्र-योग, आँखों का अंजन, स्नान, आतुरता, कुटुम्ब का आश्रय और चिकित्सा को जो हेय जान कर त्याग देता है, वह भिक्षु है।

क्षत्रीय, राजपुत्र, ब्राह्मण आदि उच्च कुल तथा विविध प्रकार के कलाकारों की प्रशंसा और चापलूसी नहीं करता तथा उनकी बड़ाई करना दोष का कारण जान कर त्याग देता है, वह ब्राह्मण है।

जिन गृहस्थों से पहले का परिचय हो अथवा बाद में परिचय हुआ हो, उनसे इहलौकिक फल की प्राप्ति के लिए जो परिचय नहीं करता है, वह भिक्षु है।

जिन गृहस्थों के यहाँ आहार, पानी, शय्या, आसन और अनेक प्रकार की वस्तुएँ मौजूद होते हुए भी नहीं दे और इन्कार कर दे, तो उन पर भी द्वेष नहीं करने वाले निर्ग्रन्थ वास्तविक भिक्षु हैं।

गृहस्थों से आहारादि प्राप्त कर के जो बाल, वृद्ध और रोगी साधु की अनुकम्पा कर के सेवा

करता है और अपने मन, वचन तथा काया को वश में रखता है-वह भिक्षु है ।

जो ओसामण, जौ का दलिया, ठंडा आहार, काँजी का पानी, जौ आदि का धोवन और नीरस, रुक्ष तथा तुच्छ आहारादि मिलने पर निन्दा नहीं करता, किन्तु प्रान्त = गरीब घरों में गोचरी करता है, वह उत्तम भिक्षु है ।

लोक में देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी अनेक प्रकार के भयजनक शब्द होते हैं, उन शब्दों को सुन कर भी जो चलित नहीं होता–वह भिक्षु है ।

लोक में चलते हुए अनेक प्रकार के वादों को जान कर भी जो विद्वान साधु, अपने आत्महित में स्थिर रह कर संयम में दृढ़ रहता है और परीषहों को सहन करता हुआ सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान देखता है और उपशांत रह कर किसी को भी बाधक नहीं होता–वह खरा भिक्षु है ।

जिसकी जीविका का साधन शिल्प = कला नहीं हो, जो गृह रहित अनगार हो, जिसका संसार में न तो कोई मित्र हो और न कोई शत्रु ही हो, जो जितेन्द्रिय हो, स्नेह के बन्धन से मुक्त हो, अल्प कषायी, अल्पाहारी और परिग्रह का त्यागी हो कर एकाकी (राग-द्वेष रहित) विचरता हो, वह भिक्षु है ।

(उत्तराध्ययन १५)

तीर्थंकर और गणधरादि के वचनों से प्रभावित हो कर, जो मुनि, जिनेश्वरों के वचनों में मन लगाये रहते हैं और तदनुसार प्रवृत्ति करते हैं, तथा स्त्रियों के वशीभूत नहीं होते और त्यागे हुए विषय भोगों की ओर नहीं ललचाते, वे ही भिक्षु हैं ।

जो पृथ्वी को खुद भी नहीं खोदता और दूसरे से नहीं खुदवाता, सचित जल स्वयं भी नहीं पीता और दूसरे को भी नहीं पिलाता और तीखे शस्त्र के समान आग को खुद भी नहीं जलाता और न दूसरे से ही जलवाता (इसी प्रकार अनुमोदन भी नहीं करता) वह भिक्षु है ।

जो पंखे आदि से स्वयं हवा नहीं करता और दूसरे से भी हवा नहीं कराता, जो हरी वनस्पति को खुद भी नहीं काटता और दूसरे से भी नहीं कटवाता और सचित्त वस्तु का आहार भी नहीं करता, तथा बीज आदि का संघट्टा भी टालता है. वह भिक्षु है ।

साधुओं को उद्देश्य कर बनाये हुए आहार में पृथ्वी, तृण, काष्ठ आदि के आश्रित रहने वाले त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है । इसलिए जो साधु, औद्देशिक आहार नहीं लेता और खुद भी भोजन नहीं पकाता और दूसरे से भी नहीं पकवाता, वह भिक्षु है ।

भगवान् महावीर के वचनों पर रुचि ला कर और छह काया के जीवों को अपनी आत्मा के समान जान कर, हिंसा नहीं करते और पाँचों आस्रवों को त्याग कर, संवर सहित पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं, वे भिक्षु हैं ।

भगवान् के वचनों के अनुसार चारों कषायों को त्याग कर जो संयम में निश्चल योग वाला होता

है और सोना-चाँदी आदि धन से रहित होता है, तथा गृहस्थ का परिचय नहीं करता—वह भिक्षु है।

जो सम्यग्दृष्टि, विवेक-बुद्धि से मति आदि ज्ञान, अनसनादि तप और सत्रह प्रकार के संयम में भ्रान्ति रहित हो कर सम्यग् उपयोग रखता है तथा मन, वचन और काया से संवृत्त हो कर तपस्या कर के पुराने कर्मों को हटाता है—वह भिक्षु है।

जो अशन, पान, खादिम और स्वादिम को प्राप्त कर के भविष्य (दूसरे दिन आदि) के लिए संग्रहित कर के नहीं रखता और दूसरे से नहीं रखवाता—वह भिक्षु है।

अशन, पान, खादिम और स्वादिम को पा कर जो साधु, अपने सार्धमियों को आमन्त्रित कर के, उन्हें दे कर खाता है और खा-पी कर स्वाध्याय में लीन रहता है—वह भिक्षु है।

जो क्लेशोत्पादक बातें नहीं करता, किसी पर क्रोध नहीं करता, जो इन्द्रियों को वश में कर के शान्तिपूर्वक रहता है और संयम में ही मन वचन और काया की प्रवृत्ति करता है, तथा आकुलता रहित उपशान्त रहता है—वह भिक्षु है।

कटु वचन, गाली, भर्त्सना और प्रहार आदि कष्टों को जो शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है, जो भूत, वेताल आदि के अट्टहासादि भयंकर शब्दों को सहन करता है तथा सुख और दुःख में समभाव रखता है—वह भिक्षु है।

जो श्मशान में जा कर प्रतिमा स्वीकार करता है और भयंकर बेताल आदि को देख कर भी भयभीत नहीं होता, तथा अनेक प्रकार के सद्गुणों में और तप में सदा लीन रहता हुआ अपने शरीर की रक्षा की इच्छा भी नहीं करता—वह भिक्षु है।

जो मुनि अपने शरीर तथा सुख-दुःख का विचार नहीं करता और शरीर का ममत्व त्याग कर बार-बार कायोत्सर्ग करता रहता है, यदि कोई उसे मारे-पीटे और अंग का छेदन करे, तो भी समभाव से सहन करता है, जो न तो सुख की इच्छा या संकल्प करता है और न कुतूहल या उत्सुकता लाता है,—ऐसा पृथ्वी के समान सहनशील और शांत मुनि ही उत्तम भिक्षु है।

जो श्रमण, जन्म-मरण रूपी महान् भयानक संसार से अपनी आत्मा का उद्धार करता है और शरीर से परीषहों को सहन करता हुआ, संयम और तप में लीन रहता है—वह भिक्षु है।

सूत्र और अर्थ को भली प्रकार से जानता हुआ जो श्रमण हाथ, पांव, वाणी और इन्द्रियों से संयमित रहता है और समाधि युक्त हो कर धर्म-ध्यान में लगा रहता है—वह भिक्षु है।

जो वस्त्र-पात्रादि उपधि में मूर्च्छा नहीं रखता, जो लोलुपता रहित हो कर अज्ञात घरों में भिक्षाचरी करता है, जिसने पुलनिष्पुलाक (संयम को निःसार बनाने वाले) दोषों को त्याग दिया है, जो क्रय-विक्रय और वस्तु का संग्रह नहीं करता और संसार के सभी प्रकार के संग-सम्बन्ध से मुक्त रहता है—वह भिक्षु है।

जो न तो रसलोलुप है, न चटोरा है और न असंयमी जीवन को चाहता है, किन्तु शुद्धतापूर्वक थोड़ा-थोड़ा आहार याच कर लेता है और ऋद्धि, संमान, स्तुति तथा पूजा की इच्छा नहीं रखता हुआ निष्पृह हो कर अपनी आत्मा में स्थिर रहता है, वह वास्तविक भिक्षु है।

जो 'अमुक दुराचारी है'—इस प्रकार की वाणी नहीं बोलता और दूसरों को कुपित करने वाले वचन भी नहीं कहता तथा प्रत्येक के पाप तथा पुण्य के फल भिन्न जान कर अपनी विशेषता का अभिमान नहीं करता—वह भिक्षु है।

जो निरभिमानी मुनि, जाति, रूप, लाभ और श्रुतज्ञान आदि विशेषता का मद नहीं कर के, सभी प्रकार के मदों से विरत रहता है तथा धर्म-ध्यान में लीन रहता है, वह भिक्षु है।

जो महामुनि, जिनेश्वरों के धर्म का भव्य-जीवों को उपदेश करता है, स्वयं श्रुत-चारित्र धर्म में स्थिर रह कर दूसरों को भी स्थिर करता है और दीक्षित हो कर कुशील-लिंग को त्याग देता है तथा हास्योत्पादक चेष्टा नहीं करता—वह खरा भिक्षु है।

"इस प्रकार जिन भिक्षुवर की आत्मा, मोक्ष साधना में निरन्तर स्थिर रहती है, वे इस अशुचिमय विनश्वर शरीर को त्याग कर और जन्म-मरण के बन्धन को काट कर सिद्ध-गति को प्राप्त कर लेते हैं।" (दशवैकालिक १०)

अहा, कितना आदर्श और उत्तम स्वरूप है—भिक्षु का। इस प्रकार की उच्च वृत्ति वाला भिक्षु भी क्या कहीं तिरस्कार का पात्र हो सकता है? ऐसी उत्तम भिक्षावृत्ति भी कहीं निन्दनीय हो सकती है? ऐसे उत्तम भिक्षुओं के पवित्र दर्शन और चरण-स्पर्श के लिए भव्य जीव तरसते हैं। वे सोचते रहते हैं कि—"ऐसे भिक्षुवर, हमारे घर कब पधारें और हमें पावन करें।" ऐसे भिक्षुवरों का अस्तित्व राष्ट्र के लिए गौरव रूप है। ऐसे उत्तम भिक्षु जितने अधिक होंगे, देश का हित उतना ही अधिक होगा। इनके सिवाय जितने भी भिक्षु हैं, उनमें अधिक संख्या आजीविकार्थियों की है। आज भिक्षुओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जा रहा है, इसका मूल कारण आजीविकार्थी भिक्षुओं की अधिकता, उनका दुराचार और जनता का भौतिकवाद-प्रधान दृष्टिकोण मुख्य है।

अनगार

गृह-त्यागी निर्ग्रन्थ को 'अनगार' कहते हैं। जिसके अगार—घर नहीं हो वे अनगार कहलाते हैं। अनगार का स्वरूप एवं आचार इस प्रकार बताया गया है—

जिन संयोगों में गृहस्थ लोग फँसे हुए हैं, उन सभी संयोगों को गृहत्यागी एवं प्रव्रजित मुनि, ज्ञान द्वारा जाने और जान कर हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, इच्छा, इन्द्रियों के विषय तथा लोभ को त्याग दे।

जो घर सुन्दर एवं मनोहर हो, आकर्षक चित्रों से सुशोभित हो, माला और धूप आदि सुगंधी पदार्थों से सुगंधित हो, वस्त्रों से सज्जित और किवाड़ों से युक्त हो, ऐसे घर की मन से भी इच्छा नहीं करे क्योंकि इस प्रकार के उपाश्रय, काम-राग को बढ़ाने वाले हैं। इसके निमित्त से इन्द्रियों को वश में रखना कठिन हो जाता है।

शून्यगृह, श्मशान, वृक्ष के नीचे अथवा दूसरों के लिए बनाये हुए स्थानों में, राग-द्वेष रहित हो कर निवास करने की रुचि रखे। परम संयमी मुनि, ऐसे ही स्थान में ठहरने का संकल्प करे जो जीवादि से रहित, निर्दोष और सभी प्रकार की बाधाओं तथा स्त्रियों से रहित हो।

मुनि न तो स्वयं घर बनावे, न दूसरों द्वारा बनवावे, क्योंकि घर बनाने में अनेक प्रकार के त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर जीवों की हिंसा होती है। इसलिए संयमवान् मुनि, गृह समारम्भ को त्याग दे।

गृह निर्माण की तरह भोजन बनाना भी हिंसाजनक है, क्योंकि जल, धान्य, काष्ठ और पृथ्वी आदि के आश्रित अनेक जीव रहते हैं। आहार-पानी का पचन-पाचन करने में उन जीवों की हिंसा होती है। इसलिए प्राण, भूत और जीवादि की दया के लिए न तो खुद भोजन पकावे और न दूसरों से पकवावे।

अग्नि एक ऐसा शस्त्र है कि जिसकी धाराएँ सर्वत्र फैली हुई है, जो बहुत से प्राणियों का विनाश करने वाली है और जिसके समान संसार में दूसरा कोई शस्त्र नहीं है। अतः अग्नि को प्रज्वलित नहीं करे।

स्वर्ण और मिट्टी को समान समझने वाला मुनि क्रय-विक्रय नहीं करे, क्योंकि खरीदने वाला ग्राहक होता है और बेचने वाला वणिक् होता है। इसलिए जो क्रय-विक्रय करता है, वह साधु नहीं हो सकता।

भिक्षु को भिक्षा ही करनी चाहिए, मूल्य दे कर कोई भी चीज नहीं खरीदनी चाहिए, क्योंकि क्रय-विक्रय में महान् दोष रहे हुए हैं और भिक्षावृत्ति ही सुखदायक है।

सूत्रानुसार सामुदानिक एवं अनिन्दित, अनेक कुलों से, थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करे और

मिले या नहीं मिले, तो संतुष्ट रह कर भिक्षावृत्ति का पालन करे।

जिव्हा को वश में रखे। रसों में गृद्धि नहीं बने। स्वाद के लिए भोजन नहीं करे। किन्तु संयम-निर्वाह के लिए मूर्च्छा-रहित हो कर भोजन करे।

साधु, चन्दनादि से अर्चा, आभूषणादि से रचना (अलंकृत करना) वंदना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और संमान की मन से भी इच्छा नहीं करे। मृत्युपर्यन्त अपरिग्रही, निदान रहित और शरीर की ममता को छोड़ कर शुक्ल-ध्यान ध्याता हुआ विचरे।

इस प्रकार संयम का पालन करता हुआ वह शक्तिशाली मुनि, आहारादि का त्याग करके मनुष्य शरीर को छोड़ कर सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।

ममत्व और अहंकार से रहित वह वीतरागी अनगार, आश्रव से रहित हो कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और सदा के लिए निवृत्त हो कर परम सुखी हो जाता है। (उत्तराध्ययन ३५)

ऐसे अनगार भगवंतों के चरणों में हमारी वार-वार वन्दना हो।

व्यवहार

अनगार भगवंतों के आचार-विचार, विधि-निषेध और प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यवस्था और उसके आधार को जिनागमों में 'व्यवहार' की संज्ञा दी गई है। क्योंकि इनके आधार से ही विधि-निषेध आदि व्यवहार होता है। वह व्यवहार पाँच प्रकार का है,–१ आगम-व्यवहार २ श्रुत-व्यवहार ३ आज्ञा-व्यवहार ४ धारणा-व्यवहार और ५ जीत-व्यवहार।

१ आगम व्यवहार–केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदह पूर्वधर, दस पूर्वधर और नौ पूर्वधर महात्माओं द्वारा चलाया हुआ व्यवहार, आगम-व्यवहार है। क्योंकि वे स्वयं आगम-व्यवहारी हैं। इनके द्वारा आगम प्रवर्तित होता है। इसलिए इनके द्वारा किया हुआ विधि-निषेध, स्वतः आधारभूत होता है और आगम-व्यवहार कहलाता है।

२ श्रुत व्यवहार–आचारांगादि सूत्र ज्ञान के आधार से जो व्यवहार होता है, वह श्रुत व्यवहार है।

३ आज्ञा व्यवहार–गीतार्थ के अनुभवज्ञान से दी हुई व्यवस्था–आज्ञाव्यवहार है। दो गीतार्थ एक दूसरे से दूर रहते हों। उनमें से किसी एक को प्रायश्चित्त-स्थान प्राप्त हुआ हो, किन्तु वे चलने योग्य नहीं हो, तो अपने योग्य एवं समझदार शिष्य को अथवा उसके अभाव में सामान्य समझ वाले शिष्य को रहस्यमय भाषा में प्रायश्चित्त-स्थान को बतलाते हुए, उन गीतार्थ के पास प्रायश्चित्त दान के

लिए भेजें और वे द्रव्य-क्षेत्रादि देख कर, गूढ़ भाषा में प्रायश्चित्त की व्यवस्था दें, या स्वयं उपस्थित हो कर आज्ञा दें, तो वह आज्ञा-व्यवहार है।

४ धारणा व्यवहार–पूर्व की धारणा (स्मृति) के अनुसार व्यवस्था देना। किसी गीतार्थ ने किसी को प्रायश्चित्त दिया हो और उस प्रायश्चित्त दान को किसी शिष्य ने देखा हो, तो बाद में किसी को वैसा प्रायश्चित्त-स्थान प्राप्त होने पर, पूर्व की धारणा के अनुसार प्रायश्चित्त दे, तो वह धारणा-व्यवहार है। पुरानी धारणा के अनुसार प्रवृत्ति हो, वह इस भेद में आती है।

५ जीत व्यवहार–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन, धृत्ति आदि देख कर, जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह जीत-व्यवहार है।

अथवा–किसी गच्छ में कारण विशेष से, सूत्र से अधिक प्रायश्चित्त की व्यवस्था हुई हो और बाद में उसी का अनुसर णदूसरे करते रहें, तो वह जीत-व्यवहार है।

अथवा–अनेक गीतार्थ मुनिराजों द्वारा की हुई मर्यादा का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ–'जीत' कहलाता है। उससे प्रवर्तित व्यवहार–जीत-व्यवहार है।

अथवा–महाजनों ने एक या अनेक बार जैसी प्रवृत्ति की, तदनुसार करना।

(व्यवहार भाष्य उ. १० गा. ६९३)

"आचार्य परम्परा से आयी हुई और जो सावद्य नहीं हो, वह प्रवृत्ति ही जीत-व्यवहार हो सकती है। ×××जो शुद्धि करने वाला हो, वह जीत-व्यवहार है।" (व्यवहार भाष्य गा. ७१३–७१९)

इस प्रकार जीत व्यवहार की व्याख्या मिलती है।

पूर्वोक्त पांचों व्यवहारों में सब से अधिक प्रभावशाली 'आगमव्यवहार' है। उसके सद्भाव में दूसरे चार व्यवहार प्रभावहीन होते हैं। आगम-व्यवहार में भी सर्वोच्च प्रभावशाली, केवलज्ञानी भगवान् होते हैं। उनके अभाव में मनपर्यवज्ञानी, उनके अभाव में अवधिज्ञानी, उनके अभाव में चौदह पूर्वधर, यों उतरते ९ पूर्वधर, क्रम से होते हैं। आगम-व्यवहारी के अभाव में श्रुत-व्यवहार प्रभावशील होता है। इस समय हमारे भरत-क्षेत्र में आगम-व्यवहार का अभाव है, क्योंकि वैसे महान् ज्ञानी अभी यहां नहीं है। (व्यवहार उ. १० भाष्य गा. ३३६)

श्रुतज्ञान के द्वारा व्यवहार हो सकता हो, तब आज्ञा, धारणा और जीत-व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहती। जहां श्रुत-बल नहीं हो, वहीं आज्ञा-व्यवहार प्रभावशाली होता है और आज्ञा-व्यवहार के अभाव में धारणा-व्यवहार का उपयोग होता है। जहां धारणा-व्यवहार भी नहीं हो, वहीं आगरों जीत-व्यवहार से काम लिया जाता है (स्थानांग ५–२, भगवती ८–८ तथा व्यवहार सूत्र उ. १०)।

जो उपरोक्त व्यवहार के अनुसार अपनी प्रवृत्ति निर्दोष रखते हैं, वे श्रमणवृंद, वंदनीय होते है।

प्रत्यनीक

शत्रु एवं विरोधी की तरह वरताव करने वाले को आगमिक शब्दों में 'प्रत्यनीक' कहा है। प्रत्यनीक छः प्रकार के होते हैं। यथा–

१ **गुरु प्रत्यनीक**–आचार्य उपाध्याय और स्थविर 'गुरु' हैं। उनकी निन्दा करना, अहित करना, अपमान करना, उनके वचनों की अवहेलना करना, हँसी करना, उनकी सेवा नहीं करना और उनमें दोष ढूंढ़ना, इत्यादि प्रकार से आचार्य उपाध्याय और स्थविर से शत्रुता करना।

२ **गति प्रत्यनीक**–गति–भव के विपरीत आचरण करना। इसके तीन भेद हैं,–

१ इहलोक प्रत्यनीक–पंचाग्नि तप आदि अज्ञान तप से इन्द्रियों के प्रतिकूल आचरण करना। अज्ञान-वश व्यर्थ के कष्ट उठा कर, इस जन्म को विगाड़ देना।

२ परलोक प्रत्यनीयक–विषय-विकार में गृद्ध हो कर परभव विगाड़ना। भावी दुर्गति के योग्य कार्य करना।

३ उभय लोक प्रत्यनीक–हिंसा, चोरी, जारी आदि से यह जन्म और परभव दोनों विगाड़ देना। इस जन्म में वन्दी जीवन अथवा घृणित जीवन विताना और परभव में नरकादि दुर्गति पाना।

३ **समूह प्रत्यनीक**–श्रमण समूह के विपरीत आचरण करना। इसके तीन भेद हैं–

१ कुल प्रत्यनीक–एक आचार्य के शिष्यों का विरोधी होना।

२ गण प्रत्यनीक–तीन कुलों के समूह रूप गण से शत्रुता करना।

३ संघ प्रत्यनीक–ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी गुणों के धारक ऐसे समस्त श्रमण संघ से वैर रखना।

४ **अनुकम्पा प्रत्यनीक**–अनुकम्पा करने योग्य साधुओं की वैयावृत्य नहीं करना और विरोधी आचरण करना। अनुकम्पा के योग्य तीन प्रकार के साधु होते हैं–

१ तपस्वी–जो तपस्या कर के अपने शरीर को जर्जर वना रहे हैं।

२ ग्लान–रोगी, जो रोग से अशक्त है।

३ शैक्ष–नवदीक्षित साधु, जो अभी संयम के आचार से पूर्णतया परिचित नहीं है।

५ **श्रुत प्रत्यनीक**–सम्यग् ज्ञान के आधारभूत आगमों के विपरीत प्रचार करना, उनको प्रमाण

नहीं मानना, कषाय वश उनके खोटे अर्थ करना, पाठ पलटना, न्यूनाधिक करना, उत्सूत्र प्ररूपणा करना और श्रुत-ज्ञान को अनुपयोगी बतलाना आदि। इसके भी तीन भेद हैं-

१ सूत्र प्रत्यनीक-मूल सूत्र की विपरीतता करना।
२ अर्थ प्रत्यनीक-अर्थ की विपरीतता करना।
३ तदुभय प्रत्यनीक-सूत्र और अर्थ दोनों का विरोध करना।

६ **भाव प्रत्यनीक**-क्षायिक आदि शुभभावों के विपरीत आचरण करना। लौकिक-औदयिक भाव की प्रशंसा व प्रचार कर के क्षायिक आदि शुभ भावों का महत्व घटाना, इनके विरुद्ध प्रचार करना। इसके भी तीन भेद हैं-

१ ज्ञान प्रत्यनीक-क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव के कारण ऐसे सम्यग्ज्ञान के विरुद्ध आचरण करना और मिथ्याज्ञान को महत्व देना। अथवा ज्ञानियों के ज्ञान के विरुद्ध भाव रखना।
२ दर्शन प्रत्यनीक-सम्यग्-दर्शन के आठ आचार के विरुद्ध आचरण करना और मिथ्यादर्शन का महत्व बढ़ाना।
३ चारित्र प्रत्यनीक-सम्यग् चारित्र के विरुद्ध आचरण करना, सावद्य क्रिया करना, संयम की मर्यादा का पालन नहीं करना, इत्यादि।

(ठाणांग ३-४ भगवती ८-८)

इस प्रकार की प्रत्यनीकता-शत्रुता नहीं करने वाले मुनिराज ही वन्दनीय-पूजनीय होते हैं। जो उपरोक्त प्रकार के या इनमें से किसी एक प्रकार का भी विरुद्ध आचरण करते हैं, वे अपने संयमी जीवन को बिगाड़ते हैं। ऐसे साधुओं को सुसाधुओं के साथ रहने का अधिकार नहीं है। ऐसे धर्म-शत्रुओं को संघ से पृथक् कर देने में भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता। (ठाणांग ९)

पच्चीस क्रियाएँ

कर्म बन्ध में कारण बनने वाली चेष्टा को 'क्रिया' कहते हैं। अथवा मन, वचन और काया के दुष्ट व्यापार को क्रिया कहते हैं।

मन, वचन और काया-इन तीन योगों से या इनमें से किसी एक या दो योग से क्रिया होती है। क्रिया ही कर्म-बन्ध की मूल होती है। संसार के कारण रूप कर्म की जनयित्री क्रिया ही है। जिससे कर्म का आस्रव हो-ऐसी प्रवृत्ति को क्रिया कहते हैं। ये सारी क्रियाएँ जीव से होती है, किन्तु क्रिया के निमित्त की अपेक्षा संक्षेप में दो भेद किये गये हैं-१ जीव क्रिया और २ अजीव क्रिया।

जीव-क्रिया दो प्रकार की होती है–१ सम्यक्त्व क्रिया और २ मिथ्यात्व क्रिया। आत्मा की सम्यक् परिणति और असम्यक् परिणति से जो क्रिया हो, वह जीव-क्रिया कहलाती है।

निश्चय नय से जीव, जीव की ही क्रिया कर सकता है, अजीव की नहीं कर सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपनी ही क्रिया कर सकता है, दूसरे–पर पदार्थ की क्रिया नहीं कर सकता। इसलिए जीव, जीव की ही क्रिया कर सकता है और अजीव, अजीव की ही क्रिया कर सकता है। जीव की क्रिया, अजीव नहीं कर सकता और अजीव की क्रिया, जीव नहीं कर सकता। जीव की क्रिया 'उपयोग' है। जो सम्यग् और मिथ्यात्व के भेद से दो प्रकार का है। पाँच भावों में पारिणामिक तथा क्षायिक भाव के अतिरिक्त तीनों भाव (उदय उपशम और क्षयोपशम) अजीव-कर्म से सम्बन्धित हैं और अजीव से सम्बन्धित आत्मा द्वारा ही कायिकादि पच्चीस क्रियाएँ होती है। इन क्रियाओं से पुनः अजीव-कर्म की निष्पत्ति होती है। जिस जीव में केवल पारिणामिक भाव (और क्षायिक भाव) ही हो, उस (सिद्ध) में अजीव क्रियाएँ नहीं होती।

सम्यक्त्व क्रिया, जीव की अपनी क्रिया है, क्योंकि उपयोग आत्मा का निजगुण है और वह सम्यक् रूप में भी होता है। यद्यपि मिथ्यात्व क्रिया, मोहनीय-कर्म के उदय से जीव में होती है, किन्तु वहाँ आत्मा की परिणति ही मिथ्यात्व में हो कर मिथ्या उपयोग रूप होती है। इसलिए जीव की भूल के कारण वह भी जीव-क्रिया मानी गई है और अभव्य जीव के तो मिथ्यात्व अनादि अपर्यवसित (शाश्वत) होने से तथा अभव्यता भी पारिणामिक भाव होने से उसका मिथ्यात्व भी जीव-क्रिया हो जाती है। इसलिए सम्यक्त्व और मिथ्यात्व ये दोनों जीव-क्रिया मानी गई है।

अजीव-क्रिया भी दो प्रकार की है–१ ईर्यापथिकी २ साम्परायिकी। ईर्यापथिकी क्रिया, उपशांत-मोह वीतराग, क्षीणमोह वीतराग और सयोगी केवली भगवान् को होती है। अर्थात् अकषायी उत्तम आत्माओं को योग के कारण होती है। शेष २४ क्रिया साम्परायिकी हैं, जो कषाय युक्त जीवों में होती है। ये अजीव प्रधान क्रियाएँ हैं, जो इस प्रकार हैं।

१ **कायिकी**–काया (शरीर) आदि योगों के व्यापार से होने वाली हलन-चलनादि क्रिया। इसके दो भेद हैं,–१ अनुपरत कायिकी–विरति के अभाव में असंयमी जीव के शरीर आदि से होने वाली क्रिया और २ दुष्प्रयुक्त कायिकी–अयतना से शारीरिक आदि प्रवृत्ति करने के कारण होने वाली क्रिया।

२ **आधिकरणिकी**–जिस अनुष्ठान विशेष से अथवा आरम्भ समारम्भ के पौद्गलिक साधनों (चाकू, छुरी, तलवार, हल, कुदाल आदि) से होने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं,–१ संयोजनाधि-करणिकी–टूटे हुए या बिखरे हुए साधनों को ठीक–दुरुस्त तथा एकत्रित कर के काम के लायक बनाना, और २ निर्वर्तनाधिकरणिकी–नये साधन बनवा कर उपयोग करना। अर्थात् इन साधनों से आरम्भ युक्त क्रिया करना।

३ प्राद्वेषिकी–ईर्षा, द्वेष, मत्सरता आदि अशुभ परिणाम रूप। इसके भी दो भेद हैं–१ जीव प्राद्वेषिकी–मनुष्य, पशु आदि किसी भी जीव पर द्वेष–क्रोध आदि होना और २ अजीव प्राद्वेषिकी–वस्त्र, पात्र, मकान, आसन आदि अरुचि कर अजीव वस्तु पर द्वेष करना।

अथवा–तीन भेद–१ स्व २ पर ३ तदुभय पर अशुभ परिणाम लाना।

४ पारितापनिकी–किसी को मार-पीट कर अथवा कठोर वचन कह कर क्लेश पहुँचाना, दुखी करना, कष्ट देना। इसके भी दो भेद हैं–१ 'स्वहस्त पारितापनिका'–अपने हाथ से या वचन से कष्ट पहुँचाना और २ 'परहस्तपारितापनिका'–दूसरों के द्वारा दुःख पहुँचाना।

दूसरी प्रकार से इसके तीन भेद हैं–१ स्वयं क्लेशित–दुःखी होना और २ दूसरे को दुःखी करना ३ स्व और पर को दुःख देना।

५ प्राणातिपातिकी–प्राणों का नाश करने रूप क्रिया। इसके भी दो भेद हैं–१ 'स्वहस्त प्राणातिपातिकी'–स्वयं हिंसा करना और २ 'परहस्तप्राणातिपातिकी'–दूसरे से जीव-घात करवाना।

प्रकारान्तर से इसके तीन भेद हैं–१ स्वात्मघात, २ अन्य जीवों की हिंसा और ३ अपनी तथा दूसरों की हिंसा करना–खुद भी मरना और दूसरों को भी मारना।

इन पांच क्रियाओं में से जिसे 'कायिकी' क्रिया होती है, उसे आधिकरणिकी क्रिया अवश्य ही होती है और जिसे आधिकरणिकी क्रिया होती है, उसे कायिकी क्रिया अवश्य होती है। इसी प्रकार प्राद्वेषिकी+ क्रिया भी होती है अर्थात् प्राद्वेषिकी क्रिया जिसे लगती है, उसे कायिकी और आधिकरणिकी भी लगती है और जिसे कायिकी अथवा आधिकरणिकी क्रिया लगती है, उसे प्राद्वेषिकी सहित तीन क्रिया अवश्य ही लगती है।

जिसे 'कायिकी' क्रिया लगती है, उसे 'पारितापनिकी' क्रिया लगती भी है और नहीं भी लगती है। जब किसी दूसरे जीव को कष्ट दिया जाता है, तब होती है और किसी जीव को दुखित नहीं करे, तो नहीं होती है, किन्तु जिसे पारितापनिकी क्रिया लगती है, उसे पिछली तीन क्रिया भी अवश्य ही लगती है। यही बात आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया के विषय में समझ लेनी चाहिए।

जिसे 'प्राणातिपातिकी' क्रिया होती है, उसे पिछली चार क्रियाएँ अवश्य ही लगती है, किन्तु जिसे कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी क्रिया लगती है, उसे प्राणातिपातिकी क्रिया लगती भी है और नहीं भी लगती है, क्योंकि प्राणों का नाश कर देने से प्राणातिपातिकी क्रिया

+ प्राद्वेषिकी क्रिया, पूर्व की दो क्रियाओं के साथ इसलिए लगती है कि जीव, काया और अन्य साधनों के द्वारा जो क्रिया करता है वह कषाय के सद्भाव में ही करता है। अकषायी जीवों के शरीर से होने वाली क्रिया तो शरीर द्वारा होते हुए भी कषाय-रहित होने से 'ईर्यापथिकी' नाम की २५ वीं क्रिया मानी गई है।

होती है, यदि प्राणों का नाश नहीं हो, तो नहीं लगती*।

पहले की तीन क्रियाएँ एक साथ अवश्य लगती है, पिछली दो क्रियाओं के लगने नहीं लगने का नियम नहीं है, किन्तु जिसे चौथी क्रिया लगती है, उसे कुल चार, और जिसे पाँचवीं क्रिया लगती है उसे कुल पांचों क्रियाएँ अवश्य लगती है।

ये क्रियाएँ चारों गति के जीवों को लगती है।

६ आरम्भिकी—यह क्रिया दो प्रकार से होती है—१ 'जीव आरम्भिकी'—छः काया के जीवों का आरम्भ करने से और २ 'अजीव आरंभिकी'—कपड़ा, कागज, मृत-कलेवर आदि अजीव वस्तु को नष्ट करने से होने वाली क्रिया।

७ पारिग्रहिकी—इसके भी दो भेद हैं—१ जीव-पारिग्रहिकी—कुटुम्ब परिवार, दास, दासी, गाय, भैंसादि चतुष्पद, शुक सारिकादि पक्षी, धान्य, फल आदि स्थावर जीवों को ममत्व भाव से अपनाना और २ अजीव-पारिग्रहिकी—सोना, चाँदी, मकान, वस्त्र, आभूषण, शयन, आसन आदि अजीव वस्तुओं पर ममत्व भाव रखना।

८ मायाप्रत्यया—छल कपट से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं—

१ आत्मभाव वक्रता—हृदय की कुटिलता, अन्तर में कुछ और तथा बाहर कुछ और। इस प्रकार आत्मा में ठगाई के भाव होना, २ परभाव वक्रता—खोटे तोल नाप आदि से दूसरों को हानि पहुँचाना, विश्वास जमा कर ठग लेना आदि। यह क्रिया कषाय के सद्भाव में भी लगती है।

९ अप्रत्याख्यानप्रत्यया—विरति के अभाव में यह क्रिया होती है। इसके भी दो भेद हैं—

१ सजीव वस्तुओं में विरति के भाव किंचित् भी नहीं होना और २ अजीव वस्तुओं में विरति का भाव बिलकुल नहीं होना।

१० मिथ्यादर्शनप्रत्यया—सम्यक्त्व के अभाव में अथवा तत्त्व सम्बन्धी अश्रद्धा या कुश्रद्धा के कारण लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं—१ 'न्यूनाधिक मिथ्यादर्शनप्रत्यया'—श्री जिनेश्वर देव के कथन से कम अथवा अधिक श्रद्धान करना और २ 'तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शनप्रत्यया'—आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानना, अथवा न्यूनाधिक मानने रूप मिथ्यात्व के सिवाय—जीव को अजीव, अजीव को जीव आदि खोटी मान्यता रखना। इसमें अन्य सभी प्रकार के मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है।

आरम्भिकी क्रिया, प्रमत्त संयत को छठे गुणस्थान तक होती है। पारिग्रहिकी—देशविरत (पंचम

---

* जिस प्रहार के कारण छः मास के भीतर प्राणांत हो जाय, तो उसमें उन प्रहार करने वाले को प्राणातिपातिकी क्रिया लगती है।

गुणस्थान तक होती है। मायाप्रत्यया दसवें गुणस्थान तक, कषाय के सद्भाव में होती है (माया का दूसरा अर्थ 'कषाय' भी है।) अप्रत्याख्यानप्रत्यया क्रिया-विरति के अभाव में-चौथे गुणस्थान तक होती है और मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया-पहले और तीसरे गुणस्थान में होती है।

जिस जीव को 'आरम्भिकी' क्रिया लगती है, उसे 'मायाप्रत्ययिकी' क्रिया तो अवश्य लगती है, किन्तु शेष तीन क्रिया की भजना है (लगती भी है और नहीं भी लगती) जो छठे गुणस्थानवर्ती साधु हैं, उन्हें तो ये तीन क्रियाएँ नहीं लगतीं, किन्तु पहले और तीसरे गुणस्थान वाले को सभी लगती है। चौथे गुणस्थान वाले को 'मिथ्यादर्शनप्रत्यया' नहीं लगती और देशविरत को 'अप्रत्याख्यानप्रत्यया' नहीं लगती।

जिसे 'पारिग्रहिकी' क्रिया लगती है, उसे आरम्भिकी और मायाप्रत्ययिकी तो अवश्य लगती है, क्योंकि वह गृहस्थ है, किन्तु शेष दो क्रिया के लिए भजना है। पांचवें गुणस्थान में दोनों नहीं लगती। चौथे में एक 'अप्रत्याख्यानी' क्रिया लगती है और पहले व तीसरे गुणस्थान में दोनों क्रियाएँ लगती है।

जिसे 'मायाप्रत्ययिकी' क्रिया लगती है, उसके लिए चारों क्रियाओं की भजना है, क्योंकि अप्रमत्तसंयत को तो चारों क्रियाएँ नहीं लगती। प्रमत्तसंयत को आरम्भिकी लगती है-शेष तीन नहीं लगती। देशविरत को आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्ययिकी-ये तीन लगती है, शेष दो नहीं लगती। अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी नहीं लगती, शेष चारों लगती है और पहले तथा तीसरे गुणस्थान में पांचों क्रिया लगती है।

जिस जीव को अप्रत्याख्यान क्रिया होती है, उसे आरम्भिकी पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया ये तीन क्रियाएँ अवश्य होती है, किन्तु मिथ्यादर्शनप्रत्यया, केवल मिथ्यात्वी को होती है, शेष को नहीं होती।

जिस प्राणी को मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया होती है, उसे प्रथम की चारों क्रियाएँ अवश्य होती है, किन्तु जिन्हें प्रथम की चार क्रियाएँ होती हैं उन्हें मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया की भजना है। जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय तथा मिश्रमोहनीय है, उसे होती है, शेष को नहीं होती।

अप्रमत्त संयत को एक मात्र मायाप्रत्ययिकी क्रिया लगती है। प्रमत्त संयत को १ आरम्भिकी और २ मायाप्रत्ययिकी-ये दो, देशविरत श्रावक को पिछली तीन, अविरत श्रावक को चार और मिथ्यात्वी को और मिश्रगुणस्थान वाले को पाँचों क्रियाएँ लगती है।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को पाँचों क्रियाएँ लगती है। नारक और देव में सम्यक्त्वी को चार और मिथ्यात्वी और मिश्र को पाँच क्रिया लगती है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय में-मिथ्यात्व और मिश्र को पाँचों, अविरत सम्यग्दृष्टि को चार और देशविरत को तीन क्रिया लगती है। मनुष्य में तो अप्रमत्त को एक, प्रमत्त संयत को दो, देशविरत को तीन, अविरत को चार और

मिथ्यात्वी तथा मिश्र को पाँच क्रिया लगती है ।

११ **दृष्टिजा**–जीव और अजीव पदार्थ को देखने से होने वाले राग-द्वेषमय परिणाम । सुरूप अथवा कुरूप और सुन्दर अथवा घृणित दृश्य के देखने पर अच्छे-बुरे भाव होने से लगने वाली क्रिया ।

१२ **स्पर्शजा**–जीव तथा अजीव के स्पर्श से होने वाली राग-द्वेष की परिणति । राग-द्वेष के वश हो कर जीव या अजीव के विषय में प्रश्न करने से लगने वाली क्रिया–'पृष्टिजा' कहलाती है ।

१३ **प्रातीतियकी**–जीव और अजीव रूप बाह्य वस्तु के आश्रय से उत्पन्न राग-द्वेष और उससे होने वाली क्रिया ।

१४ **सामन्तोपनिपातिकी**–यह भी जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार की होती है । जीव और अजीव वस्तुओं के किये हुए संग्रह को देख कर, लोग प्रशंसा करे तो उस प्रशंसा को सुन कर हर्षित होना । इस प्रकार बहुत से लोगों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुन कर हर्षित होने से यह क्रिया लगती है ।

१५ **स्वहस्तिकी**–अपने हाथ में ग्रहण किये हुए जीव को मारने पीटने रूप तथा अपने हाथ में ग्रहण किये हुए जीव से दूसरे जीव को मारने पीटने रूप 'जीव-स्व-हस्तिकी,' और अजीव को पीटने से तथा अपने हाथ में ग्रहण किये हुए खड्गादि से जीव को मारने-पीटने से लगने वाली–'अजीव–स्वहस्तिकी' क्रिया कहलाती है ।

१६ **नैसृष्टिकी**–किसी वस्तु को फेंकने से होने वाली क्रिया । इसके दो भेद हैं–१ जीव नैसृष्टिकी–खटमल, यूका आदि को पटक देने, या फेंकने, या फव्वारे से जल छोड़ने से होने वाली तथा २ अजीव नैसृष्टिकी–बाण फेंकने, लकड़ी, वस्त्र आदि फेंकने आदि से होने वाली क्रिया ।

१७ **आज्ञापनिका**–दूसरे को आज्ञा दे कर कराई जाने वाली क्रिया अथवा दूसरों के द्वारा मँगवाई जाने वाली वस्तुओं से होने वाली क्रिया । इसके दो भेद हैं–१ जीव आज्ञापनिका–सजीव वस्तुओं से सम्बन्धित और २ अजीव आज्ञापनिका–अजीव वस्तुओं से सम्बन्धित ।

१८ **वैदारिणी**–विदारण करने से होने वाली क्रिया । यह भी जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार की होती है ।

अथवा–विचारणिका–जीव और अजीव के व्यवहार–लेन-देन में दो व्यक्तियों को समझा कर सौदा पटाने रूप (दलाल की तरह) या किसी को ठगने के लिए किसी वस्तु की प्रशंसा करने से लगने वाली क्रिया ।

१९ **अनाभोगप्रत्यया**–अनजानपने से या उपयोग शून्यता से होने वाली क्रिया । इसके दो भेद हैं,–१ वस्त्र-पात्रादि को विना देखे ग्रहण करने और रखने रूप–अप्रतिलेखना से और २ असावधानी से प्रतिलेखना प्रमार्जना करने से लगने वाली क्रिया ।

२० अनवकांक्षा प्रत्यया–इसके स्व और पर ऐसे दो भेद हैं–१ अपने हित की अपेक्षा नहीं रख कर, अपने शरीर आदि को हानि पहुँचाने रूप और २ पर हित की अपेक्षा नहीं रख कर, दूसरों को हानि पहुँचाने रूप।

अथवा–इस लोक और परलोक की परवाह नहीं कर के दोनों लोक बिगाड़ने रूप क्रिया।

२१ प्रेम प्रत्यया–राग से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं,–१ माया से और २ लोभ से।

२२ द्वेष प्रत्यया–ईर्षा, द्वेष से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं,–१ क्रोध से और २ मान से।

२३ प्रायोगिकी–१ आर्त रौद्र ध्यान अर्थात् अशुभ विचारणा से मन का दुष्प्रयोग करना २ सावद्य वचन बोल कर वचन का अशुभ प्रयोग करना और ३ प्रमाद युक्त गमनागमनादि से काया का बुरा प्रयोग करने रूप क्रिया।

२४ सामुदानिकी–बहुत से लोग मिल कर एक साथ, एक ही प्रकार की क्रिया करे–अच्छे बुरे दृश्य देखे या आरम्भजन्य कार्यों को साथ मिल कर करे, उसे सामुदानिकी क्रिया कहते हैं। यह भी सान्तर बीच में रुक कर और निरन्तर बिना रुके तथा तदुभय–दोनों प्रकार से, यों तीन प्रकार की होती है।

अथवा–जिससे आठों कर्म एक साथ ग्रहण किये जाते हैं, वह सामुदानिकी क्रिया है। इसके देशोपघात और सर्वोपघात ऐसे दो भेद हैं।

२५ ईर्यापथिकी–कषाय रहित जीवों को योग मात्र से होने वाली क्रिया। यह क्रिया–१ उपशांत-मोह वीतराग २ क्षीणमोह वीतराग और ३ सयोगी केवली भगवान् के होती है। इसकी स्थिति, बन्ध और वेदन रूप दो समय की है। इसके बाद इसकी निर्जरा हो जाती है।

(स्थानांग २–१ तथा ५–२ और प्रज्ञापना २२)

यह अन्तिम क्रिया वीतरागियों को होती है। इसके सिवाय २४ क्रियाएँ सरागियों को होती है। अन्तिम क्रिया के लिए गुणस्थान ११, १२ और १३ हैं। अयोगीकेवली (१४ वाँ गुणस्थान) और सिद्ध (क्रियातीत) अक्रिय हैं।

उपरोक्त क्रियाओं में से अधिकांश क्रियाएँ श्रावक और साधु होने पर भी लगती है। अतः प्रत्येक कार्य में विवेक रखा जाय, तो बहुत बचाव हो सकता है।

दीक्षा

जैन दीक्षा प्राप्त करना, एक प्रकार से संसारी जीवन से मर कर धर्म जीवन में जन्म लेना है। सभी प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर, आत्म साधक निरवद्य जीवन अपनाने और संयम तप की वृद्धि करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए निर्ग्रंथ दीक्षा स्वीकार की जाती है। दीक्षा शब्द के पर्यायों को निम्न गाथा में बताया गया है –

पव्वज्जा, णिक्खमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं।
धम्मचरणं अहिंसा, दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥

अर्थ–१ प्रव्रज्या–पाप व्यापारों का त्याग कर शुद्ध चरणयोग में गमन करना।

२ निष्क्रमण–द्रव्य संग और भाव संग से निकलना अर्थात् पृथक् हो जाना।

३ समता–सभी प्राणियों में तथा इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समता–समभाव रखना।

४ त्याग–बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना।

५ वैराग्य–विषयों काम-भोग से विरक्ति।

६ धर्मचरण–क्षमा आदि दसविध यति-धर्म का पालन करना।

७ अहिंसा–प्राणातिपात आदि का त्याग करना।

८ दीक्षा–सब प्राणियों को सदा अभयदान देना।

शब्द नय की अपेक्षा ये उपरोक्त शब्द एकार्थक हैं। समभिरूढ़ नय की अपेक्षा तो ये सभी भिन्नार्थक हैं–क्योंकि इन शब्दों की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है।

ठाणांग ठाणा ३ उद्देशक २ में, तथा ठाणांग ठाणा ४ उद्देशक ४ में प्रव्रज्या के भिन्न-भिन्न प्रकार से भेद बतलाये हैं। उनमें प्रतिबद्ध (इहलोक सम्बन्धी, परलोक सम्बन्धी विषयों में आसक्ति रूप) आदि कई प्रव्रज्याएँ विशुद्ध नहीं हैं। अप्रतिबद्ध आदि कई प्रव्रज्याएँ विशुद्ध हैं। अतः भोजन, शिष्य आदि की लालसाओं से रहित हो कर, निरतिचार प्रव्रज्या का पालन करना, आत्म-कल्याण का हेतु है।

दीक्षा को 'मुण्डन' भी कहते हैं। ठाणांग सूत्र के दसवें ठाणे में दस प्रकार के मुण्डन कहे गये हैं। यथा–पांच इन्द्रियों के विकारों का और क्रोधादि चार कषायों का तथा सिर का मुण्डन, यह दस प्रकार का मुण्डन है। इनके द्रव्यमुण्डन और भावमुण्डन ऐसे दो भेद किये गये हैं। इनमें से सिरमुण्डन द्रव्य-मुण्डन है और शेष नौ भावमुण्डन है। नौ मुण्डन के साथ ही सिरमुण्डन की सफलता है।

प्रव्रजित होने के कारण

निम्नलिखित दस कारणों से भी मनुष्य दीक्षा स्वीकार करता है –

छंदा रोसा परिजुण्णा, सुविणा पडिसुत्ता चेव ।
सारणित्ता रोगिणित्ता, आणाढित्ता देवसण्णत्ति ।।
वच्छाणुवंधिता ।

१ छन्द–अपने या दूसरे की इच्छा से दीक्षा लेना–'छन्द प्रव्रज्या' है ।
२ रोष–क्रोध से दीक्षा लेना ।
३ परिद्यूना–दारिद्रय अर्थात् गरीबी के कारण दीक्षा लेना ।
४ स्वप्न–विशेष प्रकार का स्वप्न आने से दीक्षा लेना ।
५ प्रतिश्रुत–किसी के वचन सुन कर, आवेश में आ कर दीक्षा लेना ।
६ स्मारण–स्मारण अर्थात् किसी के द्वारा स्मरण कराने से या कोई दृश्य देखने से जाति-स्मरण ज्ञान होना और पूर्वभव को जान कर दीक्षा ले लेना ।
७ रोगिणिका–रोग के कारण संसार से विरक्ति हो जाने पर ली गई दीक्षा ।
८ अनादर–किसी के द्वारा अपमानित होने पर ली गई दीक्षा, अथवा मन्द उत्साह से ली गई दीक्षा ।
९ देव संज्ञप्ति–देवों के द्वारा प्रतिवोध देने पर ली गई दीक्षा ।
१० वत्सानुवन्धिका–पुत्र स्नेह के कारण ली गई दीक्षा ।

(ठाणांग १० सूत्र ७१२)

दीक्षार्थी के सोलह गुण

दीक्षा लेने वाले व्यक्ति में नीचे लिखे सोलह गुण होने चाहिये –

१ आर्य देश समुत्पन्न–दीक्षा के योग्य व्यक्ति प्रायः आर्य देशोत्पन्न होता है ।

२ शुद्ध जातिकुलान्वित–जिसके जाति अर्थात् मातृपक्ष और कुल अर्थात् पितृपक्ष दोनों शुद्ध हों । प्रायः शुद्ध जाति और कुल वाला, संयम का निर्दोष पालन करता है । किसी प्रकार की भूल होने पर भी कुलीन होने के कारण, रथनेमि की तरह सुधार लेता है ।

३ क्षीणप्रायाशुभकर्मा–जिसके अशुभ अर्थात् चारित्र में बाधा डालने वाले कर्म प्रायः क्षीण–नष्ट हो गए हों।

४ विशुद्ध धी–अशुभ कर्मों के दूर हो जाने से जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई हो। निर्मल बुद्धि वाला धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर उसका शुद्ध पालन करता है।

५ विज्ञात संसार नैर्गुण्य–जिस व्यक्ति ने संसार की निर्गुणता (व्यर्थता) को जान लिया हो। मनुष्य जन्म दुर्लभ है, जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है, धन-सम्पत्ति चञ्चल है, सांसारिक विषय दुःख के कारण हैं, जिनका संयोग होता है, उनका वियोग भी अवश्य होता है, आवीचि-मरण से प्राणियों की मृत्यु, प्रति क्षण होती रहती है। इस प्रकार संसार के स्वभाव को जानने वाला व्यक्ति, दीक्षा का अधिकारी होता है।

६ विरक्त–जो व्यक्ति संसार से विरक्त हो गया हो, क्योंकि विषयभोग में फँसा हुआ व्यक्ति, संयम का पालन नहीं कर सकता।

७ मन्द कषायभाक्–जिस व्यक्ति के क्रोध, मान आदि चारों कषाय मन्द हो गये हों। स्वयं अल्प कषाय वाला होने के कारण वह अपने और दूसरे के कषाय आदि को शान्त कर सकता है।

८ अल्प हास्यादि विकृति–जिसके हास्यादि नोकषाय कम हों। अधिक हँसना आदि गृहस्थों के लिए भी निषिद्ध है।

९ कृतज्ञ–जो दूसरे द्वारा किये हुए उपकार को मानने वाला हो। कृतघ्न व्यक्ति लोक में निन्दा प्राप्त करता है, इसलिए भी वह दीक्षा के योग्य नहीं होता।

१० विनय विनीत–दीक्षार्थी विनयवान् होना चाहिए, क्योंकि विनय ही धर्म का मूल है।

११ राज सम्मत–दीक्षार्थी, राजा मन्त्री आदि के सम्मत अर्थात् अनुकूल होना चाहिए। राजा आदि से विरोध करने वाले को दीक्षा देने से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है।

१२ अद्रोही–जो झगड़ालू तथा ठग, धूर्त न हो।

१३ सुन्दरांग भृत्–सुन्दर शरीर वाला हो अर्थात् उसका कोई अंग हीन या गया हुआ नहीं होना चाहिए। अपांग या नष्ट अवयव वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होना।

१४ श्राद्ध–श्रद्धा वाला। दीक्षित भी यदि श्रद्धा रहित हो, तो अंगारमर्दक के समान वह त्यागने योग्य हो जाता है।

१५ स्थिर–जो अंगीकार किए हुए व्रत में स्थिर रहे। प्रारम्भ किए हुए शुभ कार्य को बीच में छोड़ने वाला न हो।

१६ समुपसम्पन्न–पूर्वोक्त गुणों वाला हो कर भी जो दीक्षा लेने के लिए पूरी इच्छा से गुरु के पास आया हो।

उपरोक्त सोलह गुणों वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है।

(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक ६३-७८)

काल दोष से कोई गुण न हो, तो भी बहुत-से गुण तो होने ही चाहिए।

दीक्षा दाता की योग्यता

दीक्षा देने वाले में नीचे लिखे पन्द्रह गुण होने चाहिए-

१ विधिप्रपन्न प्रव्रज्य-दीक्षा देने वाला गुरु ऐसा होना चाहिए जिसने स्वयं विधिपूर्वक दीक्षा ली हो।

२ आसेवित गुरुक्रम-जिसने गुरु की चिरकाल तक सेवा की हो अर्थात् जो गुरु के समीप रहा हो।

३ अखण्डित व्रत-व्रतों का अखण्ड पालन करने वाला हो।

४ विधि पठितागम-सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप आगम जिसने गुरु के पास रह कर विधिपूर्वक पढ़े हों।

५ तत्त्ववित्-शास्त्रों के अध्ययन से निर्मल ज्ञान वाला हो कर जो जीवाजीवादि तत्त्वों को अच्छी तरह जानता हो।

६ उपशान्त-मन, वचन और काया के विकार से रहित हो।

७ वात्सल्य युक्त-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप संघ में वत्सलता-प्रेम रखने वाला हो।

८ सर्व सत्त्वहितान्वेषी-संसार के सभी प्राणियों का हित चाहने वाला हो।

९ आदेय-जिसकी बात दूसरे लोग मानते हों।

१० अनुवर्तक-विचित्र स्वभाव वाले शिष्यों को ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शिक्षा दे कर उनका पालन-पोषण करने वाला हो।

११ गम्भीर-रोष-क्रोध और तोष-प्रसन्न अवस्था में भी जिसके मन की बात को कोई न समझ सके।

१२ अविषादि-किसी भी प्रकार का उपसर्ग होने पर जो दीनता न दिखावे, अधीर नहीं हो।

१३ उपशम लब्ध्यादि युक्त-उपशम लब्धि आदि लब्धियों को धारण करने वाला हो, जिस लब्धि अर्थात् शक्ति से दूसरे को शान्त कर दिया जाय, उसे उपशमलब्धि कहते हैं।

१४ सूत्रार्थ भाषक–आगमों का अर्थ ठीक-ठीक बताने वाला हो।

१५ स्वगुर्वनुज्ञात गुरु पद–अपने गुरु से जिसे गुरु बनने की अनुमति मिल गई हो।

इन पन्द्रह में से जिस गुरु में जितने गुण कम हों वह उनकी अपेक्षा मध्यम या जघन्य गुरु कहा जाता है। काल-दोष से कोई गुण न हो तो बहुत गुण तो उसमें होने ही चाहिए।

(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक ८०, ८४ पृ. ७)

परिवार बढ़ाने की और आहार-पानी आदि से सेवा करवाने की दृष्टि न रखते हुए, दीक्षार्थी पर अनुग्रह करने के लिए और अपने कर्मों की निर्जरा के लिए दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षार्थी की परीक्षा

दीक्षा लेने वाले से उसके नाम, ग्राम, कुल, जाति, व्यवसाय, आचरण, संरक्षक, कारण आदि का परिचय प्राप्त करे। अर्थात् दीक्षार्थी कौन है, किस ग्राम नगरादि का रहने वाला है, इसका कुल जाति आदि खानदान कैसा है? गृहस्थावस्था का चाल-चलन कैसा है? क्या व्यापार (कार्य) करता है? दीक्षा क्यों लेता है? दीक्षा लेने का क्या कारण है? इसके संरक्षक कौन हैं? इत्यादि बातों का परिचय उससे पूछ कर तथा उसके परिचित व्यक्तियों से पूछ कर प्राप्त करे। यदि इन बातों से उसकी दीक्षा सम्बन्धी योग्यता का पता लग जाय, तो फिर उसे मुनि-मार्ग की वास्तविक कठिनाइयों का बोध करावें। भौतिक पदार्थों में आसक्त और कायर पुरुषों के लिए मुनि-मार्ग अत्यन्त कठिन है और आरम्भ से निवृत्त और भौतिक पदार्थों की लालसा से रहित ऐसे शूरवीर पुरुषों के लिए कठिन नहीं है। वे उत्साह-पूर्वक मुनि-धर्म का आचरण कर के परम पद की प्राप्ति कर लेते हैं।

दीक्षार्थी को दीक्षा देने से पहले वीतराग प्ररूपित साधु-मार्ग, आचार-गोचर, परीषह समिति-गुप्ति भाव-विशुद्धि आदि का स्वरूप समझाना चाहिए। समझाने पर यदि उसकी धर्म-दृढ़ता और सहन-शीलता मालूम पड़े, तो उसके खास घर वालों की आज्ञा लेकर दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा देते समय दीक्षार्थी के यह कहने पर कि मुझे दीक्षा दो, तब उससे देव गुरु को विधिवत् वन्दन करवा कर 'इरियावही, तस्सउत्तरी' का पाठ उच्चारण करा के कायोत्सर्ग करवा कर विधिपूर्वक 'करेमि भंते' का पाठ उच्चारण करावे।

ठाणांग २ उद्देशा १ में बतलाया गया है कि दीक्षा देने वाले का और दीक्षा लेने वाले का मुंह पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर रहना चाहिये। अन्यत्र टीका में यह भी लिखा है कि दीक्षार्थी दीक्षा देने वाले के वाम भाग में खड़ा रहे। यह स्थिति दीक्षा देने वाले का मुंह उत्तर की ओर तथा दीक्षा लेने वाले का मुंह पूर्व की ओर रहे, तो सुगमता से बन सकती है।

दीक्षा के अवसर पर दीक्षा लेने वाले के कल्पानुसार जितनी जरूरत हो उतने ही वस्त्र-पात्रादि उपकरण लेना चाहिए, अधिक नहीं।

दीक्षा देने के पश्चात् फिर भी यदि कोई परीक्षा करना हो, तो प्रवचन की विधि के अनुसार जघन्य सात दिन यावत् उत्कृष्ट छह मास तक परीक्षा की जा सकती है।

छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा) देने के पूर्व उसके साथ आहारादि नहीं करना चाहिए और उसकी गवेषणा का लाया हुआ आहारादि न लेना चाहिए। छेदोपस्थापनीय कम से कम सात दिन से देना चाहिये।

बृहत्कल्प उद्देशा ३ में बतलाया गया है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र के समय वे ही वस्त्र-पात्रादि उपकरण रखने चाहिये जो दीक्षा ग्रहण करते समय लिए थे। यदि कोई गृहस्थ, नवीन ला कर दे, तो उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिए।

दीक्षा योग्य क्षेत्र

धर्म-ध्यान करने के स्थान में अर्थात् जिस स्थान पर भगवान् विराजे हों, या साधु-साध्वी ठहरे हुए हों, या देवालय में, वाटिका में, वृक्ष आदि के नीचे इत्यादि रमणीय स्थान, दीक्षा के योग्य हैं। श्मशान, शून्यगृह, दग्धगृह, भग्नगृह, (खण्डहर) आदि स्थान दीक्षा देने के अयोग्य बताये हैं।

दीक्षा का फल

दीक्षा ले कर सिंह की तरह, शूरवीरता के साथ, शुद्ध संयम का पालन करना सर्व श्रेष्ठ है। शुद्ध संयम में लीन रहने वाले मुनियों के सुख के सामने देवलोक का सुख भी फीका है। भगवती सूत्र शतक १४ उ०९ में बताया है कि एक मास की पर्याय वाला साधु, वाणव्यन्तर देवों के सुख का भी अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् वह वाणव्यन्तर देवों से भी अधिक सुखी है। दो मास की पर्याय वाला भवनपति देवों (इन्द्र के सिवाय) के सुख को, तीन मास की पर्याय वाला असुरकुमारों के सुख को, चार मास की पर्याय वाला, ग्रह नक्षत्र और तारा रूप ज्योतिषी देवों के सुख को, पाँच मास की पर्याय वाला ज्योतिषी के इन्द्र सूर्य और चन्द्र के, छह मास की पर्याय वाला सौधर्म और ईशानवासी देवों के, सात मास की पर्याय वाला सनत्कुमार और माहेन्द्र गत देवों के सुख का, आठ मास की पर्याय वाला ब्रह्मलोक और लांतकवासी देवों के, नौ मास की पर्याय वाला महाशुक्र और सहस्रार देवों के तेज को

दस मास की पर्याय वाला आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवों के सुख को, ग्यारह मास की पर्याय वाला ग्रैवेयक देवों के सुख को लाँघ जाता है और बारह मास तक चारित्र का यथातथ्य पालन करने वाला निर्ग्रंथ, अनुत्तर विमानवासी देवों के सुखों से भी अधिक सुखी हो जाता है। इससे अधिक समय तक शुद्ध संयम का पालन करने वाला तो सिद्ध बुद्ध हो कर समस्त दुःखों का अन्त कर देता है। इन्हीं आत्मिक सुखों की प्राप्ति के लिये तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि महापुरुष, अतुल भौतिक सुख-सम्पत्ति और राजपाट को छोड़ कर दीक्षित हो, भिक्षु-पद अंगीकार करते हैं। देवलोक के सुखों में रहे हुए भी सम्यग्दृष्टि देव एवं अहमिन्द्र आदि इस भिक्षु-पद की आकांक्षा करते हैं। अतः प्रत्येक भिक्षु को शास्त्रोक्त निर्ग्रंथाचार का पालन करना चाहिये।

दीक्षा अंगीकार कर के जो शुद्ध संयम का पालन नहीं करते और उसमें तल्लीन नहीं रहते हैं उनको संयम (जो कि सुखों का स्थान है) महानरक के समान दुःखदायी मालूम होता है। जो पौद्-गलिक सुखों के लिये संयम से पतित हो जाते हैं, अथवा संयम में शिथिल बन जाते हैं और संयम का विधिवत् पालन नहीं करते, उनका संसार-परिभ्रमण नहीं घटता। वे आत्मिक सुखों से वंचित रहते हैं। उन्हें सुगति प्राप्त होना दुर्लभ है। जैसा कि कहा गया है—

"सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणा पहोयस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स॥

(दशवै. अ. ४ गा. २६)

अर्थ—सुख में आसक्त रहने वाले—सुख के लिये व्याकुल रहने वाले, अत्यन्त सोने वाले, शरीर की विभूषा करने वाले और हाथ-पैर आदि धोने वाले साधु को सुगति मिलना दुर्लभ है।

शुद्ध संयम का पालन करने वाले के लिये सुगति सुलभ होती है—

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स॥

(दशवै. अ. ४ गा. २७)

अर्थ—तप रूपी गुण से प्रधान, सरल बुद्धि वाले, क्षमा और संयम में तल्लीन, परीषहों को जीतने वाले साधु को सुगति—मोक्ष मिलना सुलभ है। तप-संयम में अनुरक्त, सरल प्रकृति वाले तथा बाईस परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने वाले साधक के लिये सुगति प्राप्त होना सरल है।

पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो य, खंती य बंभचेरं च॥

(दशवै. अ. ४ गा. २८)

अर्थ-जिनको तप और संयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है, ऐसे साधक यदि पिछली अवस्था (वृद्धावस्था) में भी चढ़ते परिणामों से संयम स्वीकार करते हैं, तो वे शीघ्र ही स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

दीक्षा के अयोग्य

तओ णो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं जहा-पंडए वाईए कीवे।

(ठाणांग ३ उ. ४ तथा वृहद्कल्प उ. ४)

अर्थ-तीन को दीक्षा देना नहीं कल्पता है। यथा-पण्डक (नपुंसक), वातिक और क्लीव।

(१) पण्डक-जिसे स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा हो उसे 'नपुंसक' कहते हैं।

(२) वातिक-जो नग्न स्त्री आदि को देख कर वीर्य को न रोक सके, उसे 'वातिक' कहते हैं। अथवा व्याधित अर्थात् रोगी।

(३) क्लीव-असमर्थ अर्थात् जो स्त्री आदि को देख कर, उनके शब्द सुन कर अथवा उनसे निमन्त्रणादि पा कर, अपने ब्रह्मचर्य को कायम न रख सके, उसे 'क्लीव' (कायर) कहते हैं।

इन तीन को दीक्षा देना नहीं कल्पता है, क्योंकि इनके उत्कट वेद का उदय होने से ये दीक्षा का पालन करने में असमर्थ हैं। यदि विना मालूम पड़े, अनजाने में इन्हें दीक्षा दे दी हो, तो फिर भी मुण्डित करना, शिक्षा देना, बड़ी दीक्षा देना, साथ आहार करना आदि नहीं कल्पता है।

उपरोक्त मूलपाठ के आधार से टीकाकार ने टीका में तथा 'प्रवचनसारोद्धार' और 'धर्मसंग्रह' में अठारह प्रकार के पुरुषों को तथा वीस प्रकार की स्त्रियों को दीक्षा के अयोग्य बताया है। वे इस प्रकार हैं-

**"बाले वुड्ढे नपुंसे य, जड्डे कीवे य वाहिए। तेणे रायावगारी य, उम्मत्ते य अदंसणे ॥१॥
दासे दुट्ठे य मूढे य, ऋणत्ते जुंगिए इय। ओबद्धए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय ॥२॥
गुव्विणी बालवच्छाय, पव्वावेउं न कप्पइ।"**

१ बाल-जन्म से ले कर आठ वर्ष तक 'बालक' कहा जाता है। बाल-स्वभाव के कारण वह देशविरति या सर्वविरति चारित्र को अंगीकार नहीं कर सकता।

२ वृद्ध-सत्तर वर्ष से ऊपर वृद्धावस्था मानी जाती है। शारीरिक अशक्ति के कारण वृद्ध भी दीक्षा के योग्य नहीं होते। कुछ आचार्य साठ वर्ष से ऊपर वृद्धावस्था मानते हैं। यह बात १०० वर्ष की आयु को लक्ष्य कर के कही गई है।

३ नपुंसक–जिसको स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा हो। नपुंसक प्राय: अशुभ भावना वाला तथा लोकनिन्दा का पात्र होता है, इस कारण वह दीक्षा के अयोग्य होता है।

४ क्लीव–पुरुष की आकृति वाला हो कर भी स्त्री के समान हाव-भाव और कटाक्ष करने वाला। यह भी दीक्षा के योग्य नहीं होता।

५ जड़–जड़ तीन प्रकार के होते हैं–भाषा जड़, शरीर जड़ और करण जड़।

(क) भाषा जड़ के तीन भेद हैं–जलमूक, मन्मनमूक और एलकमूक। जो व्यक्ति पानी में डूबे हुए के समान केवल बुडबुड शब्द करता है और कुछ भी स्पष्ट नहीं कह सकता, उसे 'जलमूक' कहते हैं। बोलते समय जिसके मुँह से कोई शब्द स्पष्ट न निकले, केवल अधूरे और अस्पष्ट शब्द निकलते रहें, उसे 'मन्मनमूक' कहते हैं। जो व्यक्ति भेड़ या बकरी के समान शब्द करता है, उसे 'एलकमूक' कहते हैं। ज्ञान ग्रहण में असमर्थ होने के कारण भाषाजड़, दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(ख) शरीर जड़–जो व्यक्ति बहुत मोटा होने के कारण विहार, गोचरी, वन्दना आदि करने में असमर्थ है, उसे 'शरीर जड़' कहते हैं।

(ग) करणजड़–जो व्यक्ति समिति-गुप्ति, प्रतिक्रमण, प्रत्युपेक्षण, पडिलेहना आदि साधु के लिए आवश्यक क्रियाओं को नहीं समझ सकता, या नहीं कर सकता, वह 'करण जड़' (क्रिया जड़) है।

तीनों प्रकार के जड़, दीक्षा के योग्य नहीं होते।

६ व्याधित–किसी बड़े रोग वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता।

७ स्तेन–(सेंध लगाना) खात खनना, मार्ग में चलते हुए को लूटना आदि किसी प्रकार की चोरी करने वाला व्यक्ति, दीक्षा के योग्य नहीं होता। उसके कारण संघ की निन्दा तथा अपमान होता है।

८ राजापकारी–राजा, राजपरिवार, राज्य के अधिकारी, या राज्य की व्यवस्था का विरोध करने वाला भी दीक्षा के योग्य नहीं होता। उसे दीक्षा देने से राज्य की ओर से सभी साधुओं पर रोष होने का कारण रहता है।

९ उन्मत्त–यक्ष आदि के आवेश या मोह के प्रबल उदय से, जो कर्त्तव्य को भूल कर परवश हो जाता है और अपनी विचार-शक्ति खो देता है, वह उन्मत्त कहलाता है।

१० अदर्शन–दृष्टि विहीन–बिना नेत्रों वाला–अन्धा। अथवा दृष्टि अर्थात् सम्यक्त्व से रहित (प्रकट रूप से श्रद्धाहीन) तथा स्त्यानगृद्धि निद्रावाला। अन्धा मनुष्य जीव की रक्षा नहीं कर सकता विहीन अथवा श्रद्धाहीन, दूसरों को श्रद्धाहीन बनाने का प्रयत्न करता है और स्त्यानगृद्धि वाले से निद्रा में कई प्रकार के उत्पात हो जाने का भय रहता है। इसलिए ये दीक्षा के योग्य नहीं होते।

११ दास–घर की दासी से उत्पन्न हुआ, अथवा दुर्भिक्ष आदि में धन दे कर खरीदा हुआ या जिस

पर कर्ज का भार हो उसे 'दास' कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने से उसका स्वामी उसे छुड़ाने का प्रयत्न करता है। इसलिए वह भी दीक्षा का अधिकारी नहीं होता।

१२ दुष्ट–दुष्ट दो प्रकार का होता है–कषाय दुष्ट और विषय दुष्ट। जिस व्यक्ति के क्रोध आदि कषाय बहुत उग्र हों, उसे–'कषाय-दुष्ट' कहते हैं और काम-भोगों में अत्यन्त गृद्ध व्यक्ति को 'विषय-दुष्ट' कहते हैं।

१३ मूढ़–जिसमें हिताहित का विचार करने की शक्ति नहीं हो।

१४ ऋणार्त–जिस पर राज्य आदि का ऋण हो।

१५ जुंगित–जुंगित का अर्थ है–दूषित या हीन। जुंगित तीन प्रकार के होते हैं–जाति जुंगित, कर्म जुंगित और शरीर जुंगित।

(क) जाति जुंगित–चंडाल, कोलिक, डोम आदि अस्पृश्य जाति के लोग, जाति-जुंगित हैं।

(ख) कर्म जुंगित–कसाई, शिकारी, मच्छीमार, धोबी आदि निन्द्यकर्म करने वाले, कर्म जुंगित हैं।

(ग) शरीर जुंगित–हाथ, पैर, कान, नाक, ओठ–इन अंगों से रहित, पंगु, कुबड़ा, काणा, कोढ़ी आदि शरीर जुंगित है। चमार, जुलाहा आदि निम्न-कोटि के शिल्प से आजीविका करने वाले शिल्प-जुंगित का चौथा प्रकार भी है। ये सभी दीक्षा के अयोग्य हैं। इन्हें दीक्षा देने से लोक में अपयश होने की सम्भावना रहती है।

१६ अवबद्ध–जो व्यक्ति, धन ले कर, नियत काल के लिए पराधीन बन गया है, वह 'अवबद्ध' कहलाता है। इसी प्रकार विद्या पढ़ने के निमित्त से जिसने नियत काल तक पराधीन रहना स्वीकार कर लिया है, वह भी अवबद्ध कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने से क्लेश आदि की शंका रहती है।

१७ भृतक–नियत अवधि के लिए वेतन पर कार्य करने वाला व्यक्ति 'भृतक' कहलाता है। उसे दीक्षा देने से स्वामी अप्रसन्न हो सकता है।

१८ शैक्ष निस्फेटिक–माता पितादि की स्वीकृति के बिना जो दीक्षार्थी भगा कर लाया गया हो, या भाग कर आया हो, वह भी दीक्षा के अयोग्य होता है। उसे दीक्षा देने से माता-पिता के विशेष कर्म-बन्ध का सम्भव है एवं साधु अदत्तादान दोष का भागी होता है+।

पुरुषों के समान उपरोक्त अठारह प्रकार की स्त्रियाँ भी उक्त कारणों से दीक्षा के अयोग्य बतलाई

× उपरोक्त अठारह बोल उत्सर्ग मार्ग को लक्ष्य में रख कर कहे गए हैं। अपवाद मार्ग में गुरु आदि उस दीक्षार्थी की योग्यता देख कर, सूत्रव्यवहार के अनुसार दीक्षा दे सकते हैं। आगमव्यवहारियों पर ये नियम लागू नहीं होते।

गई हैं। इनके सिवाय गर्भवती और स्तन-पान करने वाले छोटे बच्चों वाली स्त्रियाँ भी दीक्षा के अयोग्य हैं। इस प्रकार दीक्षा के अयोग्य स्त्रियाँ कुल बीस हैं।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार १०८ गा. ७९२ तथा धर्मसंग्रह अधि. ३ श्लोक ७८ पृ. ३)

अयोग्य दीक्षा का निषेध

जिणवयणे पडिकुट्ठं, जो पव्वावेइ लोभदोसेणं।
चरणट्ठिओ तवस्सी, लोवेइ तमेव उ चरित्तं॥

(पंचवस्तु गा. ५७४)

अर्थ–जिनवचन में निषिद्ध अर्थात् उपर्युक्त अयोग्य व्यक्तियों में से किसी को भी जो मुनि, लोभ के वशीभूत हो कर दीक्षा देता है, तो वह चारित्र का उल्लंघन करता है।

"**जो भिक्खु णायगं वा अणायगं वा उवासयं वा अणुवासयं वा जे अणलं पव्वावेइ पव्वावंतं वा साइज्जइ।**" (निशीथ उद्देशक ११)

अर्थ–जो साधु नायक स्वजन अथवा जानकार को तथा अनायक–अस्वजन अथवा अजानकार को एवं उपासक, श्रावक, समदृष्टि तथा अनुपासक, अश्रावक या मिथ्यादृष्टि, इसमें से कोई भी हो, किन्तु वह दीक्षा के अयोग्य हो अथवा अयोग्य हो गया हो, तो उस अयोग्य को दीक्षा दे, दिलावे और देते हुए को अच्छा जाने, तो गुरुचौमासिक प्रायश्चित्त आता है। अतः किसी भी अयोग्य को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

गणि सम्पद (आचार्य के गुण)

आचार्य, समस्त संघ के अधिपति होते हैं, मोक्ष-मार्ग पर चलने वाले सार्थ के महान् सार्थवाही होते हैं। जिनेश्वर भगवान् के धर्म-शासन के शासक, सारणा वारणा धारणा द्वारा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार में वृद्धि करने वाले, रक्षक तथा शिथिलाचार एवं अनाचार के वारक–अवरोधक होते हैं। वे धर्म-संस्कार का सिंचन करते रहते हैं और और विकार को नष्ट करते हैं। वे विकार को उत्पन्न नहीं होने देते और न फैलने ही देते हैं। जिनेश्वर भगवान् के धर्म-साम्राज्य की जिम्मेदारी आचार्य पर होती है। ऐसे संघ-संचालक आचार्य भगवंत में आगे लिखे ३६ गुण होने ही चाहिये। इन गुणों से युक्त हो कर जो संघ का संचालन करते हैं, वे पंच-परमेष्टि के तीसरे पद में वंदनीय होते हैं। वे ३६ गुण इस प्रकार हैं।

१ आचार सम्पदा से सम्पत्तिमान्–आगमों में बताये हुए आचार से युक्त होना-'आचार सम्पदा' है। जो आचार्य, भगवान् के बताये हुए ज्ञानादि पांच आचार का पालन करते हैं, वे आचार रूपी धन के धनी हैं। यह आचार सम्पदा चार प्रकार की है,–

१ संयम ध्रुवयोग युक्त–संयम में तीनों योग से दृढ़ और स्थिर रहना। अर्थात्–प्रतिलेखना, स्वाध्याय आदि में और अवश्य करने योग्य क्रियाओं में लीन रहना तथा आश्रवनिरोध आदि १७ प्रकार के संयम में सावधान रहना।

२ अहंकार से रहित।

३ अप्रतिबद्ध–विहारी।

४ वृद्ध शीलता–शरीर और आयु से वृद्ध नहीं होने पर भी, वृद्धों के समान गम्भीर, अनुभवी और शांत हो। चंचलता रहित हो।

२ श्रुतसम्पदा–ज्ञान रूपी लक्ष्मी से लक्षाधिपति। जिनका स्वागम और परागम का ज्ञान भण्डार भरपूर हो। यह ज्ञान-लक्ष्मी चार प्रकार की होती है।

१ बहुश्रुत–बहुत से शास्त्रों के ज्ञाता।

२ परिचित श्रुत–केवल वांचन मात्र से ही बहुश्रुत नहीं हो, किन्तु पठित श्रुत की स्मृति को कायम रखने वाले और मर्मज्ञ हों।

३ विचित्र श्रुत–स्व समय, पर समय, नय, निक्षेप द्रव्य, गुण, पर्यायादि विविध प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न हों।

४ घोषविशुद्धि–जिनका उच्चारण शुद्ध हो, भाषा के नियम से युक्त हो और हित-मित वचन बोलने वाले हों।

३ शरीर सम्पदा–जिनका शरीर विरूप नहीं हो, प्रमाण से अधिक लम्बा या ठिगना नहीं हो और हीनांग नहीं हो। आकर्षक और शुभ लक्षण युक्त शारीरिक सम्पत्ति हो। इसके चार प्रकार हैं।

१ ऊँचाई और चौड़ाई प्रमाण युक्त हो।

२ आकृति घृणाजनक, हास्योत्पादक और कुरूप नहीं हो।

३ दृढ़ और स्थिर संहनन हो। बलवान हो।

४ पाँचों इन्द्रियें पूर्ण हो।

४ वचन सम्पदा–वाणी की विशिष्टता–आकर्षकता युक्त होना। इसके भी चार प्रकार हैं।

१ आदेय वचन–स्वीकार करने योग्य एवं श्रद्धास्पद वचन हो। सैद्धांतिक तथा प्रामाणिक वचन वाले हों।

२ मधुर वचन—जिनकी वाणी मीठी हो, जिसे सुनने के लिए श्रोता लालायित रहते हों।
३ अनिश्रित वचन—पक्षपात रहित और क्रोधादि कषाय से वंचित हितमित वाणी हो।
४ असंदिग्ध वचन—जिनकी वाणी सन्देह रहित, स्पष्ट और श्रद्धा बढ़ाने वाली हो। शंका उत्पन्न करने वाले वचन नहीं हो।

५ वाचना सम्पदा—शिष्यों को पढ़ाने की कला एवं श्रुतज्ञान का प्रचार करने की योग्यता को 'वाचना सम्पदा' कहते हैं। यह भी चार प्रकार की है।

१ विदित उद्देश्य—शिष्य की योग्यतानुसार पाठ्य वस्तु निश्चित् कर के पढ़ाना।
२ विदित वाचना—शिष्य की धारणा शक्ति और योग्यता के अनुसार हेतु दृष्टान्तादि से युक्त, प्रमाण और नय सापेक्ष रहस्य ज्ञान देना।
३ उपयुक्त वाचना—जितना उपयुक्त है, उतना ही सिखाना और पढ़ाये हुए सूत्र को सन्देह रहित स्मृति में होने पर अर्थ-ज्ञान देना।
४ अर्थ निर्यापकता—सूत्र प्रतिपादक जीव अजीव आदि तत्त्वों का निर्णायक एवं रहस्य ज्ञान देना, उत्सर्ग, अपवाद तथा पूर्वापर संगतिपूर्वक पढ़ाना।

६ मति सम्पदा—मति की निर्मलता, वस्तु के हेयोपादेय को समझने की निपुणता, एवं बुद्धिचातुर्य 'मति सम्पदा' है। यह भी चार प्रकार की है।

१ अवग्रह मति सम्पदा—सामान्य रूप से विना विस्तार के वस्तु का ग्रहण करना। इसके निम्नलिखित छः भेद हैं—
  १ संकेत मात्र सुन कर शीघ्र ही सारी वस्तु समझ लेना।
  २ बहुत-सी बातों को एक साथ ग्रहण कर लेना।
  ३ वस्तु को अनेक प्रकार से ग्रहण करना।
  ४ ध्रुव ग्रहण—स्थिर और निश्चल रूप से ग्रहण करना।
  ५ अनिश्रित ग्रहण—हृदय पर अंकित कर लेना, जिससे किसी पुस्तकादि का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं रहे।
  ६ असंदिग्ध ग्रहण—संदेह रहित ग्रहण करना, जिससे किसी प्रकार का संशय नहीं रहे।
२ ईहा मति सम्पदा—सामान्य रूप से जानी हुई वस्तु को विशेष रूप से जानना, जिज्ञासापूर्वक भेद प्रभेद युक्त जानना। इसके भी 'अवग्रह' की तरह छः भेद हैं।
३ अवाय मति सम्पदा—ईहा द्वारा जानी हुई वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान करना। इसके भी अवग्रह जैसे छः भेद होते हैं।

४ धारणा मति सम्पदा–जानी हुई वस्तु को स्मरण में रखना। इसके निम्न छः भेद हैं–

१ बहुत धारणा–एक वस्तु को सुन कर उस जाति की अनेक वस्तुएँ धारण कर लेना।

२ बहुविध धारणा–भिन्न-भिन्न और अनेक प्रकार से धारण करना।

३ पुरानी बातें याद रखना।

४ कठिन वस्तुओं का धारण करना, जिनका स्मृति में रखना बड़ा दुर्धर होता है। भंग-जाल आदि को याद रखना।

५ बिना किसी पुस्तक या ग्रंथ की सहायता के ही याद रखना।

६ सन्देह रहित–निःशंकतापूर्वक स्मृति में रखना।

७ प्रयोग सम्पदा–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार करने के बाद, वाद आदि में प्रवृत्त होना–प्रयोग सम्पदा है। हिताहित का विचार कर के चर्चा में प्रवृत्त होना, प्रयोग सम्पदा है। इसके चार भेद हैं।

१ अपना सामर्थ्य जान कर ही वाद में प्रवृत्त होना।

२ परिषद को जान कर वाद में प्रवृत्त होना।

३ क्षेत्र की स्थिति आदि का विचार करने के बाद वाद में प्रवृत्त होना।

४ विषय को समझ कर वाद में उतरना। वस्तु अथवा प्रतिपक्षी को समझ कर उस पर विचार करने के बाद वाद में प्रवृत्ति करना।

८ संग्रह परिज्ञा सम्पदा–बुद्धिपूर्वक गण, श्रुतज्ञान और संयम के साधनों का संग्रह करना। इसके चार प्रकार हैं।

१ क्षेत्र प्रतिलेखना–सभी मुनियों के लिये चातुर्मास के योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना करना। वर्षावास में निर्ग्रन्थों की मर्यादा के अनुसार क्षेत्र की गवेषणा करना।

२ प्रतिहारिक अवग्रह ग्रहण–मुनियों के लिये उपयोगी और वापिस लौटाने योग्य, पीठ, फलक, शय्या, संथारा[illegible] करने वा[illegible]।

३ समयानुसार क्रिया–स्वाध्[illegible] गोचरी, वैयावृत्य आदि उचित समय पर ही करना[illegible]

९ शिष्यों को विनय-धर्म की शिक्षा देना—पाँच प्रकार के आचार के पालक आचार्यप्रवर अपने शिष्यों को चार प्रकार के विनय-धर्म की शिक्षा देते हैं। अपने अधीनस्थ मुनियों को सुशिक्षित करने पर ही वे कर्त्तव्य पालक और शिष्यों के ऋण से मुक्त होते हैं। आचार्य, शिष्यों को ग्रहण करते हैं, तब उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उन्हें धर्म-शिक्षा देकर उनके उत्थान में सहायक बनें। वे अपने शिष्यों को विनय-धर्म की समुचित शिक्षा देकर ऋण-मुक्त होते हैं। वह विनय चार प्रकार का है। यथा—

१ आचार विनय—मोक्ष के ध्येय से किया हुआ शुद्ध आचरण, 'आचार-विनय' कहलाता है। इसके चार प्रकार हैं। यथा—

१ संयम समाचारी—सतरह प्रकार के संयम को शुद्ध रूप में शिष्यों से पलाना। डिगते हुए को स्थिर करना और निर्वाण मार्ग में आगे बढ़ाते जाना।

२ तप समाचारी—बारह प्रकार के तप में जोड़ना, वृद्धि करना और तपस्वी को उत्साहित करना आदि।

३ गण समाचारी—गण की सारणा वारणादि द्वारा रक्षा करना। प्रतिलेखनादि क्रिया और ग्लान, वृद्ध, तपस्वी आदि की वैयावृत्य की व्यवस्था करना। उत्साह रहित बने हुए में उत्साह भरना और गण धारणा के योग्य शिक्षा देना।

४ एकल विहार समाचारी—संयम, तप और गण समाचारी के ज्ञाता और योग्य अधिकारी को एकल-विहार समाचारी समझाना—जिनकल्प के आचार आदि की शिक्षा देना।

२ श्रुत विनय—आगम ज्ञान का अभ्यास करवाना। इसके भी चार भेद हैं।

१ अंग-प्रविष्टादि सम्यक्श्रुत का अभ्यास करवाना।

२ सूत्रों के अर्थ का ज्ञान करवाना।

३ हितकारी ज्ञान पढ़ाना। योग्यता के अनुसार पढ़ाना।

४ सम्पूर्ण रूप से—प्रमाण, नय और निक्षेपादि भेद सहित पढ़ाना।

३ विक्षेपणा विनय—मिथ्यात्व अविरति आदि में जाते हुए श्रोता के मन को, स्वसमय रूप धर्म में स्थापित करना। इसके भी चार भेद हैं।

१ जो मिथ्यादृष्टि है, जिसने पहले सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं की, उसे समझा कर सम्यग् दृष्टि बनाना,

३ धर्म से डिगते हुए को स्थिर करना।

४ संयमीजनों के हित-सुख और उत्थान के लिए तथा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होना।

४ दोष निर्घातन विनय–क्रोधादि कपायों और हिंसादि पापों का निवारण करना। इसके भी चार भेद हैं।

१ क्रोधी के क्रोध रूपी भूत को मृदु वचनों से उतारना।
२ विपय, कपाय अथवा मद आदि दुर्गुणों को दूर करना।
३ पर-पाखण्डादि के आर्कपण से जिसकी रुचि पलट रही हो, अथवा पौद्गलिक वासना की जिसमें इच्छा उत्पन्न हुई हो, उसकी उस रुचि एवं आकांक्षा का छेदन कर के धर्म में स्थिर करना।
४ आत्म-समाधि युक्त, खेद रहित और धर्म-ध्यान में लीन रहने वाला बनाना तथा श्रद्धा में स्थिर करना।

इस प्रकार आठ सम्पदा और एक शिष्यों के प्रति आचार्य का कर्त्तव्य, इन नौ विषयों के प्रत्येक के चार-चार भेद होने से आचार्य के कुल ३६ गुण हुए। इन ३६ गुणों को 'गणि सम्पत्=आचार्य की ऋद्धि' भी कहते हैं। इस प्रकार के गणाधिपति के प्रति शिष्यों का क्या कर्त्तव्य है, वह सूत्रकार महाराज इस प्रकार बतलाते हैं।

गुणवान् शिष्यों की चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति है। वह इस प्रकार है–

१ उपकरण उत्पादनता–तप-संयम के सहायक उपकरणों को प्राप्त करना। इसके चार भेद हैं–

१ जो उपकरण पहले नहीं मिले हों उन्हें प्राप्त करना।
२ पुराने उपकरणों की रक्षा करना, उन्हें ठीक कर के काम में लेना।
३ जिसके पास उपकरण की कमी है, उसकी पूर्ति करना।
४ उपकरणों का यथाविधि विभाग करना।

२ सहायता विनय–गुरु आदि की सेवा करना। इसके भी चार भेद हैं।

१ अनुकूल वचन बोलना–आचार्य की आज्ञा को सम्मानपूर्वक स्वीकार करना, विनय पूर्वक निवेदन करना और सभी मुनियों के साथ हितकारी वचनों का व्यवहार करना।
२ अनुकूल काय-सेवा–गुरु की इच्छानुसार व आज्ञानुकूल वैयावच्च करना।
३ मन के अनुकूल सेवा–गुरु के मन के अनुकूल–उन्हें शान्ति और सुख पहुँचे उस प्रकार सेवा करना।
४ प्रतिकूल नहीं होना–गुरु की इच्छा के विपरीत कोई भी कार्य नहीं करना।

३ **वर्ण संज्वलनता**–आचार्य, गुरु और गण आदि की, उनके गुण तथा विशेषता की प्रशंसा करना–स्तुति करना। इसके भी चार भेद हैं।

१ यथातथ्य गुणानुवाद करना। आचार्य, गण और जिनशासन के वास्तविक गुणों का यशोगान करना।

२ आचार्य, गण अथवा जिनशासन की निन्दा करने वाले को योग्य उत्तर दे कर निरुत्तर करना।

३ गुणानुवाद करने वालों को उत्साहित करना।

४ वृद्धों की सेवा करना–जो अपने से बड़े हैं अथवा वयोवृद्ध हैं, उनकी सेवा करना।

४ **भारवहन करना**–गुरु अथवा गण का भार उठाना और उसका योग्यतापूर्वक निर्वाह करना। यह भी चार प्रकार का है–

१ निराधार शिष्य, जिसके गुरु आदि का विरह हो गया हो, या जो रुष्ट हो, तो ऐसे निराधार शिष्य का संग्रह करना।

२ नवदीक्षित को ज्ञान पढ़ाना और चारित्र की विधि सिखाना।

३ रोगी साधर्मी साधु की यथाशक्ति सेवा करना।

४ साधर्मी साधुओं में परस्पर कलह उत्पन्न हो जाय, तो स्वयं निष्पक्ष रह कर कलह उपशान्त करने का प्रयत्न करना। इससे शान्ति रहेगी, मन-मुटाव और वाद-विवाद नहीं होगा। विशेष 'तू तू मैं मैं' इस प्रकार की कटु वाणी का व्यवहार नहीं होगा और इससे शान्तिपूर्वक संयम और तप से आत्मा की उन्नति होती रहेगी।

इस प्रकार का विनयशील शिष्य, गण की शोभा है। स्वतः गण धारण करने के योग्य होता है। ऐसे उत्तम शिष्यों से जिनशासन वृद्धि पाता है। (दशाश्रुतस्कन्ध ४)

इस प्रकार श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में आचार्य भगवंत के गुणों का वर्णन किया गया है। 'प्रवचन-सारोद्धार' ग्रन्थ में आचार्य के ३६ गुण दूसरी प्रकार से यों दिये हैं–

१ आर्य देशोत्पन्न २ उत्तम कुलोत्पन्न ३ उत्तम जातिवंत ४ रूप सम्पन्न ५ शारीरिक दृढ़ता ६ धृति वंत ७ अनाशंसी=निस्पृही–निःस्वार्थी ८ थोड़ा बोलने वाले ९ अमायी–सरल १० स्थिर परिपाटि–निरन्तर अभ्यास से जिनके अनुयोग का क्रम स्थिर हो गया है ११ जिनके वचन आदरणीय हो १२ परीषह को जीतने वाले १३ अल्प निद्रा वाले १४ माध्यस्थ–अपक्षपाती १५ क्षेत्रज्ञ–क्षेत्र की परि-स्थिति और व्यवहार को जानने वाले १६ काल का विचार कर के बरतने वाले १७ शिष्यों के भाव को जान कर योग्य प्रवृत्ति करने वाले १८ आसन्न लब्धप्रतिभा–विशिष्ट क्षयोपशम से जो तत्काल ही समयानुकूल सोच लेते हैं १९ अनेक देशों की भाषा के जानने वाले २० ज्ञानाचार के पालक २१ दर्शना-

चार २२ चारित्राचार २३ तपाचार और २४ वीर्याचार के पालने व पलवाने वाले २५ सूत्र अर्थ और दोनों के ज्ञाता २६-२९ हेतु, दृष्टान्त, नय और उपनय में कुशल ३० ग्राहणा कुशल-दूसरों को समझाने में चतुर ३१ स्व समय के ज्ञाता ३२ पर समय के ज्ञाता ३३ गम्भीर ३४ तेजस्वी ३५ शान्त प्रकृति वाले और ३६ सौम्यदृष्टि वाले।

आचार्य भगवंत में और भी अनेक गुण होते हैं। श्री स्थानांग सूत्र के छठे स्थान में आचार्य के मुख्यत: निम्न छ: गुण होना बतलाया है, जो कि अति आवश्यक है।

१ श्रद्धावंत २ सत्यवंत ३ बुद्धिमान ४ बहुश्रुत ५ सत्ववंत और ६ अल्पाधिकरणी।

सबसे पहले श्रद्धा की आवश्यकता है। जो विशुद्ध और दृढ़ श्रद्धालु होते हैं, वे ही जिनधर्म को उन्नत कर सकते हैं। इसके बाद सत्य प्ररूपक हो, कुशाग्र बुद्धि, विशाल ज्ञान भण्डार, सत्ववंत (किसी की इच्छा के अनुकूल हो कर हां में हां मिलाने वाले नहीं हो) और अल्प अधिकरण वाले हो। वे ही आचार्य जिनशासन के लिए आधारभूत होते हैं।

आचार्य भगवंत के मुख्यत: छ: कर्त्तव्य होते हैं। यथा-

१ सूत्र के अर्थ का निश्चय करना और प्रकरण तथा संस्कृति के अनुकूल अर्थ की शिक्षा देना। अथवा सूत्र और अर्थ के पठन-पाठन में संघ को स्थिर करना।

२ विनय की वृद्धि करना। विनयवंत आचार्य के शिष्य भी विनयी होते हैं।

३ गुरुजनों की भक्ति, संमान और आदर करना।

४ शिष्यों का आदर करना।

५ दाताओं की दान विषयक श्रद्धा बढ़ाना।

६ शिष्यों की बुद्धि और धर्मरुचि तथा संयम पालने की शक्ति बढ़ाना और उत्साहित करना।

(ठाणांग ६)

यों तो आचार्य भी साधु ही होते हैं, किन्तु सामान्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय भगवंतों के लिए सात अतिशेष-विशेषता-विशेष नियम होते हैं। जैसे कि-

१ सामान्यत: यह नियम है कि साधु जब बाहर से आ कर उपाश्रय में प्रवेश करते हैं तब बाहर ही पाँवों को पूंज कर रज को दूर कर देते हैं। आचार्य उपाध्याय के पाँव भी बाहर ही उनके शिष्य पूंज कर रज को दूर कर देते हैं, किन्तु कभी आचार्य-उपाध्याय उपाश्रय में आ कर शिष्यों से पाँवों का प्रमार्जन करावे, तो वे आचार का उल्लंघन करने वाले नहीं बनते, जब कि सामान्य साधु ऐसा नहीं कर सकते।

२ उपाश्रय में लघुनीत, बड़ीनीत परठते समय आचार्य-उपाध्याय के कहीं अशुचि लग जाय, तो

उसे दूर करते, आज्ञा का उल्लंघन करने वाले नहीं वनते।

३ वृद्ध अथवा रोगी साधु की वैयावृत्य, सामान्य साधुओं को तो करनी ही पड़ती है, किन्तु आचार्य-उपाध्याय वैयावृत्य करे या नहीं—यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वे नहीं भी करे, तो अपने आचार का उल्लंघन नहीं करते।

४ आचार्य-उपाध्याय, आवश्यकता होने पर एक या दो रात उपाश्रय में अकेले रहें, तो वे आचार का उल्लंघन करने वाले नहीं होते, किन्तु सामान्य साधु अकेले रहें, तो मर्यादा का भंग होता है। आचार्य उपाध्याय प्रायः चारित्र में दृढ़ होते हैं। उन पर जनता का विश्वास होता है। वे तो कारणवश ही अकेले रहते हैं। उनके अकेले रहने पर मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता।

५ इसी प्रकार उपाश्रय के वाहर अन्यत्र भी एक-दो रात अकेले रहें, तो मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता।

६ अन्य साधुओं की अपेक्षा उनके वस्त्र-पात्र शोभित हों, जिससे अन्य लोगों पर उनका प्रभाव पड़े। सामान्य साधु को वस्त्रादि सुशोभित नहीं रखना चाहिए, यदि रखें तो मर्यादा का भंग होता है। किन्तु आचार्य के लिए यह छूट है।

७ विशेपता वाले भोजन-पानादि करें (शिष्य उन्हें आगत आहार में से उत्तम आहार भेंट करें और वे स्वीकार करें) तो मर्यादा का भंग नहीं होता। (ठाणांग ७)

इस प्रकार सामान्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य-उपाध्याय के लिए विशेप छूट है। आचार्य भगवंत, गण की पूर्ण व्यवस्था और साल सम्भाल रखते हैं। संघ के रक्षक हैं। यदि संघ–साधु-साध्वी, उनकी आज्ञानुसार नहीं चले, अविनीत, असंयमी और उद्दंड वन जाय, तो आचार्य उन्हें छोड़ कर अलग भी हो जाते हैं (ठाणांग ५–२) उनके सिर पर संघ का पूर्ण उत्तरदायित्व है। संघ में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि होती है, उत्थान होता है, तो उससे आचार्य की शोभा है। यदि संघ में ज्ञान दर्शन और चारित्र की हीनता हो, शिथिलाचार और स्वच्छन्दता वढ़ती हो, मर्यादा का भंग वेरोकटोक होता हो, तो उससे आचार्य की शोभा नहीं, किन्तु अपकीर्ति होती है। उनके प्रभाव में त्रुटि लगती है। 'गच्छाचारपयन्ना' में कहा है कि—

जीहाए विलिहितो, न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि।
डंडेणवि ताडंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ॥१७॥

"मुंह से मीठा वोलता हुआ जो आचार्य, गच्छ के आचार की रक्षा नहीं कर सकता, वह अपने गच्छ का हितकर्त्ता नहीं, किन्तु अहितकर्त्ता है और जो आचार्य मीठा नहीं वोलता, किन्तु ताड़ना करता हुआ भी गच्छ के आचार की रक्षा करता है, वह आचार्य, कल्याण रूप है—आनन्ददायक है।

तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेई ।
आणं अइक्कमंतो सो, कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥२७॥
भट्ठायारो सूरी, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी ।
उम्मग्गठिओसूरी, तिन्निवि मग्गं पणासंति ॥२८॥

(गच्छाचार पइण्णा)

जो आचार्य, जिनेन्द्र के मार्ग का सम्यग् रूप से प्रचार करते हैं, वे तीर्थंकर के समान हैं। किन्तु जो आचार्य स्वयं जिनाज्ञा का पालन नहीं करते और दूसरों से नहीं करवाते, वे सत्पुरुषों की श्रेणी में नहीं हो कर कापुरुष=कायर हैं । जिनेश्वर भगवान् के पवित्र मार्ग को दूषित करने वाले आचार्य, तीन प्रकार के होते हैं । यथा–

१ जो आचार्य स्वयं आचार-भ्रष्ट हैं ।
२ जो भ्रष्टाचारियों का सुधार नहीं कर के उपेक्षा करता है ।
३ जो उन्मार्ग का प्रचार और आचरण करता है ।

ये तीनों प्रकार के आचार्य, भगवान् के पवित्र धर्म को दूषित करते हैं ।

उम्मग्गठिओ इक्कोऽवि, नासए भव्वसत्त संघाए ।
तं मग्ग मणुसरंते, जह कुतारो नरो होइ ॥३०॥
उम्मग्ग संपट्ठिआण, साहूण गोयमा ! णूणं ।
संसारो य अणंतो, होइ य सम्मग्गनासीणं ॥३१॥

जो आचार्य, जिनमार्ग का लोप कर उन्मार्ग में चलते हैं, वे निश्चय ही अनन्त संसार परिभ्रमण करते हैं । जिस प्रकार तैरना नहीं जानने वाला नाविक अपने साथ बहुतों को ले डूबता है, उसी प्रकार उल्टे मार्ग पर चलने वाला नायक, अपने साथ बहुतों को उन्मार्ग गामी बना देता है ।

जो उ प्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिआ ॥३९॥

जो आचार्य, आलस्य अथवा प्रमाद से या और किसी कारण से, संयम से विपरीत जाते हुए अपने शिष्यादि को नहीं रोकते, वे तीर्थंकरों की आज्ञा के विराधक है ।

आगे गच्छाचारपइन्ना में सूत्रकार महाराज फरमाते हैं कि–

उम्मग्गठिए सम्मग्गनासए जो उ सेवए सूरी ।
निअमेणं सो गोयम !, अप्पं पाडेइ संसारे ॥२९॥

जो आचार्य, उन्मार्गगामी हैं और सम्यग् मार्ग का लोप कर रहे हैं, ऐसे आचार्य की सेवा करने वाले शिष्य भी संसार-समुद्र में डूबते हैं ।

श्री स्थानांग सूत्र (५-२) में लिखा कि 'जो आचार्य, अपने शिष्यों पर नियन्त्रण नहीं रख सकें, उनसे सदाचार का पालन नहीं करवा सकें, तो उन्हें अपने पद का त्याग कर के अलग हो जाना चाहिए।

और जो आचार्य महाराज अपने कर्त्तव्य का भली प्रकार से पालन करते हैं, उनके विषय में 'गच्छाचारपइन्ना गा० २५-२६ में लिखा है कि-

विहिणा जो उ चोएइ, सुत्तं अत्थं च गाहई।
सो धण्णो सो अ पुण्णो य, स बन्धू मुक्खदायगो ॥२५॥
स एव भव्वसत्ताणं, चक्खुभूय विआहिए।
दंसेइ जो जिणुद्दिट्ठं. अणुट्ठाणं जहट्ठिअं ॥२६॥

जो आचार्य अपने आश्रित श्रमण-वर्ग को अधर्म से बचा कर धर्म-मार्ग में प्रेरित करते रहते हैं, उन्हें सूत्र अर्थ और उनका मर्म समझाते रहते हैं, वे आचार्य, उन शिष्यों के हितैषी और मुक्ति-दाता हैं, ऐसे पुण्यशाली आचार्य, धन्यवाद के पात्र हैं। जो आचार्य, भव्य प्राणियों को श्री जिनेश्वर भगवान् के मार्ग को यथार्थ रूप से दिखाते हैं, वे उन जीवों के लिए चक्षुभूत हैं।

इस प्रकार अपने कर्त्तव्य को यथार्थ रूप में पालन करने वाले आचार्य महाराज, संघ के लिए श्रेयकारी हैं। वे संघ के वास्तविक नायक और तारक हैं। ऐसे आचार्य भगवंतों के चरणों में हमारी भक्तिपूर्वक वंदना हो।

भिक्षा लेने की वृत्ति को 'गोमूत्रिका' कहते हैं।

४ पतंगवीथिका–पतंगे के उड़ने की रीति के अनुसार एक घर से ले कर फिर कुछ घर छोड़ कर आहार लेवे।

५ शम्बूकावर्त्ता–शंख के चक्र की तरह गोलाकार घूम कर गोचरी लेना। यह गोचरी दो प्रकार से होती है–१ आभ्यन्तर शम्बूकावर्त–बाहर से गोलाकार गोचरी करते हुए भीतर की ओर आवे २ बाह्य शम्बूकावर्त–भीतर से प्रारम्भ कर के (मुहल्ले के) बाहर की ओर जावे।

६ गतप्रत्यागता–एक पंक्ति के अंतिम घर में भिक्षा के लिए जा कर वहां से वापिस लौट कर भिक्षा ग्रहण करे।

इस प्रकार उपरोक्त छः प्रकार के अभिग्रहों में से किसी एक प्रकार का अभिग्रह ले कर फिर गोचरी के लिए निकले। इस प्रकार आहार की विधि बताने के बाद अब विहार की विधि बताई जाती है।

प्रतिमाधारी मुनिराज विहार करते हुए ग्रामादि में जावे, तो जहाँ के लोग यह जानते हों कि 'ये मुनि प्रतिमाधारी हैं,' वहाँ तो एक दिन रात रहे और जहाँ कोई यह नहीं जानता हो, वहाँ दो दिन और दो रात रहे। इससे अधिक ठहरने पर 'दीक्षा पर्याय का छेद' अथवा तप का प्रायश्चित्त+ आता है।

प्रतिमाधारी मुनि को अधिकांश मौन ही रहना चाहिए। यदि बोलना हो, तो निम्न चार प्रकार की भाषा बोलना चाहिए–

१ याचनी–आहारादि की याचना करने की।

२ पृच्छनी–मार्ग आदि पूछने रूप।

३ अनुज्ञापनी–स्थान आदि के लिए आज्ञा लेने के लिए।

४ पुट्ठवागरणी–पूछे हुए प्रश्न का उत्तर देने रूप ('आप कौन हैं, क्या करते हैं, कहाँ ठहरे हैं, इस प्रकार पूछे हुए आवश्यक प्रश्नों का उत्तर देते हैं)।

प्रतिमाधारी मुनिराज नीचे लिखे तीन प्रकार के स्थानों में ठहर सकते हैं–

१ अधः आरामगृह–उस गृह में ठहरना जिसके चारों ओर उद्यान हो।

और पशु आदि को बाधा नहीं हो। वे भिक्षा माँग कर चले गये हों। उनके चले जाने के बाद ही साधु को गोचरी के लिए जाना चाहिए।

इस साधना के साधक श्रमण को भिक्षा वहीं से लेनी चाहिए जहां एक ही मनुष्य के लिए थाली में भोजन परोसा गया हो। जहाँ दो, तीन या अधिक व्यक्तियों के लिए भोजन परोसा हो, वहाँ से नहीं ले। इसका कारण यही है कि एक मनुष्य के लिये परोसे हुए भोजन में से निर्दोष आहार तो थोड़ा ही मिलेगा कि जिसमें उदरपूर्ति नहीं हो सके। यहाँ साधक का लक्ष्य साधना का है, पेट भरने का नहीं। यदि वह आहार गर्भवती ● स्त्री के लिए बना हो या छोटे बच्चे वाली के लिए बना हो, तो उसमें से नहीं ले और गर्भवती तथा बच्चे को स्तन पान कराती हुई स्त्री, आहार देना चाहे तो उससे भी नहीं ले।

आहार दान करने वाली के दोनो पाँव द्वार के भीतर हों, तो उससे आहार नहीं ले और दोनों पाँव देहली के बाहर हो तो भी नहीं ले। एक पाँव देहली के भीतर और एक बाहर हो तभी ले।

भिक्षा के लिए जाने सम्बन्धी काल की विधि यह है कि प्रतिमाधारी मुनि, दिन के आदि भाग* में भिक्षार्थ जावे, तो मध्यकाल में और पिछले समय में नहीं जावे। मध्यकाल में जावे, तो पूर्व या पश्चात् काल में नहीं जाय और तीसरे विभाग में जाय, तो प्रथम और मध्यकाल में नहीं जावे।

भिक्षुप्रतिमा के धारक भिक्षुवर, निम्न छः प्रकार में से किसी भी प्रकार का अभिग्रह–नियम निर्धारित कर के गोचरी के लिए जावे।

१ पेटा–भिक्षा स्थान (ग्राम अथवा मुहल्ले) को, पेटी के समान चार कोने कल्पे और बीच के स्थानों को छोड़ कर चारों कोनों के घरों में भिक्षार्थ जावे।

२ उपरोक्त चार कोनों में से केवल दो कोनों (दिशाओं) में ही गोचरी करे।

३ गोमूत्रिका–जिस प्रकार चलता हुआ बैल पेशाब करता है और वह वक्राकार + (टेढ़ा-मेढ़ा) गिरता है, उसी प्रकार साधु, घरों की आमने-सामने की दोनों पंक्तियों में से प्रथम एक पंक्ति (लाइन) के एक घर से आहार लेवे, उसके बाद सामने की दूसरी पंक्ति में के घर से आहार लेवे इसके बाद फिर प्रथम पंक्ति का, गोचरी किये हुए प्रथम घर को छोड़ कर लेवे। इस प्रकार क्रम से दोनों पंक्तियों में से

● गर्भवती के विषय में यह समझना चाहिए कि मुनि को मालूम हो जाय कि 'यह स्त्री गर्भवती है' तब उसके हाथ से नहीं ले। अन्यथा आठवें मास से उसके हाथ से आहार लेना बन्द कर दे, इस समय उसके शारीरिक चिन्हों से गर्भवती होने का पता लग सकता है।

* तीसरे प्रहर के प्रारम्भ में। क्योंकि उसे प्रथम प्रहर स्वाध्याय और दूसरे प्रहर ध्यान तो करना ही होता है।

+ पूज्य श्री आत्मारामजी म. सा. ने अपने दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र पृ. २६६ में गोमूत्र को 'वलयाकार' (गोलाकार) लिखा है, किन्तु अन्य साहित्य तथा कोष और प्रत्यक्ष से यह अर्थ संगत नहीं होता, वक्राकार ही ठीक लगता है।

भिक्षा लेने की वृत्ति को 'गोमूत्रिका' कहते हैं।

४ पतंगवीथिका–पतंगे के उड़ने की रीति के अनुसार एक घर से ले कर फिर कुछ घर छोड़ कर आहार लेवे।

५ शम्बूकावर्त्ता–शंख के चक्र की तरह गोलाकार घूम कर गोचरी लेना। यह गोचरी दो प्रकार से होती है–१ आभ्यन्तर शम्बूकावर्त–वाहर से गोलाकार गोचरी करते हुए भीतर की ओर आवे २ वाह्य शम्बूकावर्त–भीतर से प्रारम्भ कर के (मुहल्ले के) वाहर की ओर जावे।

६ गतप्रत्यागता–एक पंक्ति के अंतिम घर में भिक्षा के लिए जा कर वहाँ से वापिस लौट कर भिक्षा ग्रहण करे।

इस प्रकार उपरोक्त छः प्रकार के अभिग्रहों में से किसी एक प्रकार का अभिग्रह ले कर फिर गोचरी के लिए निकले। इस प्रकार आहार की विधि बताने के बाद अब विहार की विधि बताई जाती है।

प्रतिमाधारी मुनिराज विहार करते हुए ग्रामादि में जावे, तो जहाँ के लोग यह जानते हों कि 'ये मुनि प्रतिमाधारी हैं,' वहाँ तो एक दिन रात रहे और जहाँ कोई यह नहीं जानता हो, वहाँ दो दिन और दो रात रहे। इससे अधिक ठहरने पर 'दीक्षा पर्याय का छेद' अथवा तप का प्रायश्चित्त + आता है।

प्रतिमाधारी मुनि को अधिकांश मौन ही रहना चाहिए। यदि बोलना हो, तो निम्न चार प्रकार की भाषा बोलना चाहिए–

१ याचनी–आहारादि की याचना करने की।

२ पृच्छनी–मार्ग आदि पूछने रूप।

३ अनुज्ञापनी–स्थान आदि के लिए आज्ञा लेने के लिए।

४ पुट्ठवागरणी–पूछे हुए प्रश्न का उत्तर देने रूप ('आप कौन हैं, क्या करते हैं, कहाँ ठहरे हैं, इस प्रकार पूछे हुए आवश्यक प्रश्नों का उत्तर देते हैं)।

प्रतिमाधारी मुनिराज नीचे लिखे तीन प्रकार के स्थानों में ठहर सकते हैं–

१ अधः आरामगृह–उस गृह में ठहरना जिसके चारों ओर उद्यान हो।

+ प्रायश्चित्त के विषय में पूज्यश्री आत्मारामजी म. सा. ने पृ० २७० में लिखा कि 'इस प्रकार साम्प्रदायिक धारणा चली आती है।'–यह किस प्रकार उचित है ? जब कि मूलपाठ में ही 'छेदे वा परिहारे वा' लिखा है।
टीकाकार 'छेद' का अर्थ ग्रामान्तर जाकर कुछ काल बाद वापिस आना लिखते हैं, तथा 'परिहार' का अर्थ रहे हुए मकान को छोड़ कर दूसरे मकान में रहना लिखा है।

२ अधोविकट गृह—जो ऊपर से ढका हुआ और चारों ओर से खुला हो।

३ अधो वृक्षमूल गृह—वृक्ष के नीचे वने हुए घर में अथवा वृक्ष के नीचे।

उपरोक्त तीनों प्रकार के स्थानों में से किसी स्थान को देख कर, उसके अधिकारी से अपने लिए ठहरने की आज्ञा प्राप्त कर के उसमें ठहरना चाहिए।

भिक्षु प्रतिमा के धारक निर्ग्रंथ को ऊपर वताये हुए उपाश्रयों में से किसी एक उपाश्रय में ठहर कर नीचे लिखे तीन प्रकार का संस्तारक (विछौना) लेना कल्पता है।

१ पृथ्वी-शिला २ लकड़ी का पटिया और ३ पहले से विछा हुआ घास आदि का विछौना।

उपाश्रय में ठहरने के वाद यदि कोई स्त्री या पुरुष (स्त्री और पुरुष, मैथुन की इच्छा से) आजाय, तो मुनि जहाँ जिस स्थिति में हो, उसी में समभावपूर्वक रहे, न तो वाहर से भीतर आवे और न भीतर से वाहर जाय। उसे अपने स्वाध्याय या ध्यान में ही मग्न रहना चाहिए।

ध्यानस्थ रहे हुए मुनिराज के उपाश्रय को यदि कोई व्यक्ति आग लगा कर जलावे, तो मुनि को न तो उस ओर ध्यान ही देना चाहिए और न भीतर से वाहर अथवा वाहर से भीतर आना चाहिए, वल्कि निर्भीकतापूर्वक अपने ध्यान में ही लीन रहना चाहिए। यदि मनुष्य, मुनि को मारने को आवे, तो मुनि उसे एक वार या वारवार पकड़े नहीं, वह अपनी मर्यादा में ही रहे*।

प्रतिमाधारी मुनि जव विहार करते हो और चलते-चलते उनके पाँव में लकड़ी का ठूंठ (फांस) कांटा, काँच अथवा कंकर लग जाय, तो उसे निकालना नहीं चाहिए और अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति करते रहना चाहिये।

चलते हुए प्रतिमाधारी मुनि की आँखों में, मच्छरादि वारीक जीव, या वारीक वीज अथवा

---

* यह दशाश्रुतस्कन्ध की वृत्ति के आधार से लिखा है। इस मूलपाठ के दो हिस्से हैं। जैसे कि—

"मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स केइ उवस्सयं अगणिकाएणं झामेज्जा, णो से कप्पइ तं पडुच्च निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।"

"तत्थ णं केइ वाहाए गहाय आगसेज्जा नो से कप्पइ तं अवलंवित्तए वा पलंवित्तए वा, कप्पइ अहारियं रिइत्तए।"

किन्तु पूज्यश्री आत्मारामजी म० तथा श्री घासीलालजी म० सम्पादित प्रति में यह एक ही सूत्र है और उसका अर्थ निम्न प्रकार से किया है—

"मासिकी भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न मुनि के उपाश्रय को कोई अग्नि से जलादे, तो उस समय प्रतिमा प्रतिपन्न भिक्षु अन्दर हो तो अग्नि के भय से वाहर नहीं निकले। यदि वाहर हो तो भीतर नहीं आवे। उस समय यदि कोई उनकी भुजा पकड़ कर उसको खींचे, तो खींचने वाले को नारियल और ताल फल की तरह अवलम्ब और प्रलम्ब नहीं करे, अर्थात् उसकी भुजा आदि को पकड़ कर न लटके, किन्तु ईर्यासमिति के अनुसार चार हाथ के युग प्रमाण भूतल को देखता हुआ निकले।"

रज-कण पड़जाय, तो उसे निकालना नहीं चाहिए, किन्तु धैर्यपूर्वक सहन करते हुए साधना करते रहना चाहिए।

विहार करते हुए मुनि को, रास्ते में जहाँ सूर्य अस्त हो जाय वहीं ठहर जाना चाहिए, भले ही वह स्थान बिना ढका * हो, दुर्गम स्थल हो, नीचा स्थान हो, पर्वत हो, खड्डा हो, गुफा हो, अर्थात् कितना ही विषम और भयानक स्थान हो, तो भी जहाँ सूर्य अस्त हो जाय, वहीं ठहर जाय। वहाँ से एक चरण भी आगे नहीं बढ़े और सारी रात वहाँ समभावपूर्वक स्वाध्याय और ध्यान में व्यतीत करे। जब रात्रि पूर्ण हो कर सूर्य उदय हो जाय, तभी वहाँ से आगे बढ़े और जिधर जाना हो उधर ईर्यासमिति सहित जावे।

प्रतिमाधारी मुनिराज को सचित्त पृथ्वी पर थोड़ी या विशेष नींद (निद्रा या प्रचला) नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि वहाँ निद्रा लेने से हाथों से भूमिका स्पर्श होगा और उससे जीवों की हिंसा होगी। इसलिये विधिपूर्वक निर्दोष स्थान पर ही ठहरना चाहिए, या फिर अन्यत्र निर्दोष स्थान पर चला जाना चाहिए। यदि मुनि को लघुनीत या बड़ीनीत की बाधा हो जाय, तो उसे रोके नहीं, किन्तु पहले से देखे हुए निर्दोष स्थान पर जा कर उच्चार-प्रश्रवण परठे और परठ कर फिर उपाश्रय में आ जाय और विधिपूर्वक कायोत्सर्गादि करे।

यदि प्रतिमाधारी साधु के शरीर पर सचित्त रज लग गई हो, तो वैसी दशा में उसे गृहस्थ के यहाँ आहारादि की याचना के लिए नहीं जाना चाहिए। जब वह सचित्त रज, पसीना, मैल अथवा हाथ के स्पर्श आदि से अचित्त हो गई हो, तो फिर आहारादि के लिए गृहस्थ के यहाँ जाना कल्पता है।

प्रतिमाधारी साधु को अपने हाथ, पाँव, दाँत, मुँह और आँख आदि को अचित्त गर्म जल अथवा अचित्त ठंडे जल से नहीं धोना चाहिये। यदि आहार अथवा अशुचि आदि का लेप कहीं लग गया हो, या भोजन करते हाथ और मुँह पर लेप लगा हो, तो उसे धो सकता है।

प्रतिमाधारी मुनि के सामने मदोन्मत्त हाथी, दुष्ट घोड़ा, प्रचण्ड बैल, भयंकर भैंसा, क्रूर कुत्ता और विकराल सिंह, मुनि को मारने के लिए आता हो, तो मुनि को पीछे पाँव नहीं देना चाहिए, किन्तु धैर्य्य धारण कर के वहीं खड़े रह जाना चाहिये। यदि सामने आने वाला पशु, शान्ति से आता हो, तो युगप्रमाण (लगभग चार हाथ तक) पीछे हट जाना चाहिए।

साधु को शीत से बचने के लिए धूप में और धूप से घबड़ा कर छाया में नहीं जाना चाहिए। वह जहाँ है वहीं रह कर शीत अथवा उष्ण का कष्ट सहन करना चाहिए।

प्रतिमाधारी श्रमण, मासिकी भिक्षुप्रतिमा की इस प्रकार सूत्र में बताई हुई विधि के अनुसार,

---

* मूल पाठ में–'जलसि'–जलमें–शब्द है, जिसका अर्थ–शुष्क जलाशय अथवा जलाशय का किनारा समझना चाहिए,–ऐसा विवेचनकार लिखते हैं।

अपने कल्प के अनुकूल, मोक्ष-मार्ग के अनुरूप और निर्जरा तत्त्व के योग्य, समभाव पूर्वक पालन करे। शुद्ध आचार का पालन करते हुए भी यदि जानते या अनजानपने से कोई दोष लगा हो, तो उसकी प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करता हुआ पूर्ण करे। इस प्रकार शुद्धतापूर्वक मासिकी भिक्षुप्रतिमा को पूर्ण करता हुआ तथा जिन-धर्म, भिक्षुप्रतिमा और प्रतिमाधारियों की कीर्ति करता हुआ निर्ग्रंथ, जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है।

यह भिक्षु की प्रथम प्रतिमा की विधि हुई।

२ दोमासिकी भिक्षुप्रतिमा–प्रथम प्रतिमा में आहार और पानी की एक-एक दत्ति ही थी। इस प्रतिमा में एक-एक दत्ति बढ़ा कर दो दत्ति आहार और दो दत्ति पानी की ली जाती है। इसके सिवाय प्रथम प्रतिमा की समस्त विधि का पालन किया जाता है।

३ त्रिमासिकी भिक्षुप्रतिमा–तीसरे महीने में पूर्वोक्त सभी विधि के साथ एक-एक दत्ति बढ़ा कर तीन दत्ति आहार और तीन दत्ति पानी ली जाती है।

४ चौमासिकी भिक्षुप्रतिमा–चौथे महीने में पूर्वोक्त विधि के साथ चार-चार दत्ति ली जाती है।

५ पंचमासिकी भिक्षुप्रतिमा–पाँच दत्ति आहार और पाँच दत्ति पानी।

६ छःमासिकी भिक्षुप्रतिमा–छः-छः दत्ति ली जाती है।

७ सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा–सात-सात दत्ति ली जाती है+।

+ शंका हो सकती है कि सात-सात बार आहार लेने पर तप कैसे होगा? वैसे दो तीन दत्ति से ही पूर्ति हो सकती है, फिर सात दत्ति तो बहुत अधिक है? समाधान है कि–शंका उचित है, किन्तु प्रतिमाधारी के नियमों पर ध्यान देने से समाधान हो सकता है। प्रथम तो प्रतिमाधारी मुनि अज्ञात कुल की गोचरी करता है–जहाँ साधु के प्रति विशेष राग की सम्भावना नहीं, और प्रासुक आहार की प्राप्ति दुर्लभ होती है। दूसरा यह भी नियम है कि 'एक व्यक्ति के लिए जो भोजन लाया गया हो उसमें से ले।' यह नियम कितना कठोर है। एक व्यक्ति के लिए लाये हुए भोजन में से निर्दोष आहार कितना मिल सकता है? फिर यह भी तो नियम है कि 'ऐसे एक व्यक्ति के लिए लाये हुए भोजन में से भी थोड़ा ही ले। यदि उस थोड़े आहार का (चावल खिचड़ी आदि का) एक दाना भी पात्र में गिर गया अथवा पहले चम्मच भर दाल ही डाल दी, तो एक दत्ति पूरी हो चुकी। दाता को यह ख्याल तो होता ही नहीं कि यदि मेरी असावधानी से साधु के पात्र में पहले थोड़ी वस्तु गिर जायगी, तो बाद में वे लेंगे ही नहीं। श्रमणोपासक से भी ऐसी भूल हो सकती है, फिर अज्ञात व्यक्ति का तो कहना ही क्या?

यह ठीक है कि ज्यों-ज्यों दत्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों आहार ग्रहण विशेष होने की सम्भावना है, किन्तु नियमों को देखते हुए विचार होता है कि सभी दत्तियों का पूरा होना–कम सम्भव है। प्रथम तो दो रात से अधिक कहीं नहीं रहना, और विहार करते ही जाना। फिर छोटे गांव में निर्दोष आहार–एक व्यक्ति के खाने को लिया हो, ऐसा योग थोड़ा ही मिलता है। यदि मिले भी तो एक दो या तीन दत्ति थोड़ी-थोड़ी चीज की हुई कि गोचरी ही पूरी हो जाती है। इसके साथ यह भी तो नियम है कि दाता का एक पांव देहली के भीतर और एक पांव बाहर हो उसीसे लेना। इस नियम से

पूर्वोक्त सातों प्रतिमाएँ एक-एक महीने की है। इनमें कुल सात महीने लगते हैं। दत्तियों की वृद्धि के सिवाय और सभी विधि पहली प्रतिमा के समान ही है।

८ **प्रथम सात दिनरात की**–इसका समय सात दिन-रात का है। इसमें भी पहली प्रतिमा के सभी नियमों का पालन करना होता है। इसके सिवाय इस प्रतिमा में चौविहार उपवास कर के ग्राम से वाहर–वन में जा कर आकाश की ओर मुंह कर के सीधा सो जाना चाहिये। सोने के वाद करवट नहीं बदलना चाहिए, या किसी एक करवट से सोना चाहिए। अथवा निपद्यासन से बैठ कर ध्यान करते हुए समय व्यतीत करना चाहिए। ध्यान करते समय देव, मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग हो तो विचलित नहीं हो कर धैर्य और समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। यदि लघुशंका अथवा शौच की वाधा हो जाय, तो उसे रोके नहीं, और पहले से देखे हुए स्थान पर वाधा दूर करे और पुनः कायोत्सर्ग कर के ध्यान-मग्न हो जाना चाहिए।

९ **द्वितीय सप्त रात्रिदिवस प्रतिमा**–इसमें विशेष विधि यह कि चौविहार उपवासपूर्वक ग्राम वाहर जा कर दण्डासन, लगुड़ासन अथवा उकड़ु आसन से ध्यान करना चाहिये। अन्य सभी क्रियाएँ पूर्व प्रतिमा की पालन करनी चाहिए।

१० **तृतीय सप्त रात्रिदिवस प्रतिमा**–इसमें चौविहार उपवासपूर्वक ग्राम के वाहर गोदोहासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान करना चाहिए।

११ **एक दिन-रात की प्रतिमा**–यह प्रतिमा एक रात और एक दिन की है। चौविहार वेला कर के इस प्रतिमा की आराधना की जाती है। ग्राम के वाहर जा कर दोनों पाँवों को कुछ संकोच कर खड़ा रहे और दोनों हाथों को घुटनों तक लम्बे रख कर ध्यानस्थ रहे। वाकी विधि पूर्व प्रतिमा के अनुसार ही समझनी चाहिए।

१२ **एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा**–इसकी आराधना का काल केवल एक रात्रि का ही है। यह चौविहार तेले के तप से की जाती है। ग्राम के वाहर–निर्जन स्थान में जा कर अपने शरीर को थोड़ा आगे झुका कर और लम्बे हाथ रख कर खड़ा रहे। एक निर्जीव वस्तु पर अपनी दृष्टि स्थिर रख कर ध्यान करे। आँखों को वन्द नहीं करे, किन्तु अपलक दृष्टि उस पुद्गल पर ही रखे। अपनी सभी इन्द्रियों को गुप्त–अन्तर्मुखी और शरीर तथा अंगों को निश्चल रखे। ध्यान करते समय यदि देव मनुष्य या तिर्यञ्च का उपसर्ग उत्पन्न हो जाय, तो उसे स्थिर रह कर शान्तिपूर्वक सहन करे और उच्चार प्रश्रवण

तो एक दत्ति प्राप्त होना भी कठिन हो जाता है।

प्रथम मासकी एक दत्ति, दो तीन निवाले से अधिक क्या होगी? और विहार तो करना ही पड़ता है। कमजोरी दिनोंदिन अधिक वढ़ती है। ऐसी दशा में वढ़ी हुई दत्ति विशेष सहायक नहीं हो सकती। फिर वहुश्रुत —नावें वह सत्य है।

की बाधा उत्पन्न हो, तो पूर्व प्रतिमा में बताई हुई विधिपूर्वक करना चाहिए।

इस प्रतिमा का विधिपूर्वक से पालन नहीं कर के विचलित होने वाले अनगार को तीन प्रकार की हानि, अनिष्ट और कुफल होते हैं। वह उन्माद (पागलपन) और लम्बे समय तक चले ऐसे हठीले रोग के उत्पन्न होने से दुखी हो जाता है और वह धर्म से भ्रष्ट भी हो जाता है। और जो धीर, दृढ़ एवं साहसी मुनि अडिग रह कर (दृढ़तापूर्वक आत्मनिष्ठ हो कर) इस प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करते हैं, उन्हें अपूर्व लाभ होता है। उनको या तो अवधिज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, या मनःपर्यवज्ञान अथवा केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। वे सुखी होते हैं। उनकी आत्मा की मुक्ति हो कर समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है। (दशाश्रुतस्कन्ध दशा ७)

इस प्रकार भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का विधान है। पूर्वकाल के मुनिवर इनका पालन करते थे। वर्त्तमान में इनका पालन नहीं किया जाता है। कहा जाता है कि 'इनका विच्छेद+ हो गया है।' वास्तव में साधारण सत्त्ववाला श्रमण इनका पालन नहीं कर सकता। जिसका शरीर संहनन सुदृढ़ हो, मनोबल उत्तम हो, जो योद्धा के समान शौर्यपूर्वक परीषहों की सेना से टक्कर लेने योग्य हो, वही इनका सफलतापूर्वक आराधन कर सकता है।

प्रतिमा धारन करने की आज्ञा प्रदान करने वाले 'आगमव्यवहारी' महापुरुष हों, तो दीक्षा के प्रथम दिन ही बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा का आराधन किया जा सकता है। जैसे श्री गजसुकुमालजी ने दीक्षा के दिन ही बारहवीं प्रतिमा धारण की थी। यदि आज्ञा देने वाले आगमविहारी नहीं हो, तो भिक्षु की प्रतिमा धारण करने वाले की दीक्षा-पर्याय कम से कम बीस वर्ष की हो और आयु २९ वर्ष पूर्ण कर के तीसवाँ लग गया हो। उसका श्रुतज्ञान जघन्य नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व हो। इस प्रकार की योग्यता वाला मुनि प्रतिमा धारण कर सकता है। धन्य है वे मोक्षमार्ग के महान् सेनानी अनगार भगवंत, जो परीषहों की भयंकर सेनाओं के तीक्ष्ण और असह्य प्रहारों को सहन करते हुए ऊर्ध्वगामी बनते हैं।

इन प्रतिमाओं का पालन साध्वियाँ नहीं कर सकती (बृहद्कल्प उ. ५) उनके लिए आहार पानी की दत्ति रूप सप्तसप्तमिका आदि भिक्षु-प्रतिमा का पालन करना विहित है। जैसा कि अंतकृत सूत्र वर्ग ८ अ. ५ में महारानी सुकृष्णा महासतीजी की तपस्या के वर्णन में उल्लेख है। सप्तसप्तमिका में प्रथम सप्ताह में एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ली जाती है●। दूसरे सप्ताह में दो दत्ति

+ व्यवहार सूत्र उ. ६ के भाष्य में प्रतिमा का आराधन, प्रथम तीन संहनन वालों को माना है, शेष के लिए विच्छेद बताया है।

● व्यवहार सूत्र के ६ वें उद्देशे के मूल में भी इन प्रतिमाओं का वर्णन है, किन्तु स्व० पूज्यश्री अमोलकऋषिजी महाराज साहब के अनुवाद में इसकी विधि बताई गई कि 'सप्तसप्तमिका' में प्रथम सप्ताह के प्रथम दिन एक दत्ति

आहार की व दो पानी की। इस प्रकार सातवें सप्ताह में सात दत्ति आहार और सात दत्ति पानी की ली जाती है। इसमें ४९ दिन लगते हैं। 'अष्टअष्टमिका' में एक से लगा कर आठ दत्ति तक बढ़ा जाता है और प्रत्येक दत्ति आठ-आठ दिन की होती है। इसमें ६४ दिन लगते हैं। 'नवनवमिका' में एक से नौ दत्ति तक बढ़ा जाता है और प्रत्येक दत्ति ९ दिन की होती है। इसमें कुल ८१ दिन लगते हैं और 'दसदसमिका' में कुल १०० दिन लगते हैं।

साध्वी-वर्ग, भिक्षु की बारह प्रतिमा का पालन इसलिए नहीं कर सकती कि उनकी शारीरिक अनुकूलता नहीं है। इसीलिए निषेध किया गया है। उनके लिए बिना किवाड़ के मकान में रहना निषिद्ध है (बृहत्कल्प उ. १) वे खुले स्थान में भी नहीं रह सकती (बृहत्कल्प उ. २) शरीर वोसिराकर कायोत्सर्ग करना, वन में जा कर, ऊंचे हाथ रख कर, खड़े-खड़े ध्यान करना और उकड़ू आसन, उत्कटासन, वीरासन आदि कुछ आसन लगा कर ध्यान करने की भी मनाई है। यदि उन्हें आतापना लेनी हो तो चारों ओर से बन्द मकान में, चारों ओर कपड़ा बाँध कर खड़ी रहे और नीचे हाथ रख कर आतापना ले ऐसा विधान है (बृहत्कल्प उ. ५)।

जिनकल्प

स्थानांगसूत्र स्थान ३ सूत्र २०६ में तीन प्रकार की कल्प-स्थिति बतलाई है। यथा—१ निर्विष्टमान कल्प-स्थिति २ जिनकल्प स्थिति और ३ स्थविरकल्प स्थिति। इनमें से अनगार धर्म का सारा वर्णन प्रायः स्थविरकल्पी श्रमणों का है। निर्विष्टमानकल्पी श्रमण, परिहार-विशुद्धि चारित्र की आराधना वाले होते हैं, इनका वर्णन 'चारित्र के भेद' में किया गया है। परिहारविशुद्धि चारित्र पालक महात्माओं में से कई जिनकल्पी भी बन जाते हैं। जिनकल्प का स्वरूप कठोर साधना की दृष्टि से कुछ भिक्षु-प्रतिमा से मिलता है, फिर भी इसमें विशेषता है। भिक्षु-प्रतिमा की कालमर्यादा है, प्रत्येक प्रतिमा का काल नियत है, जब कि जिनकल्प की ऐसी कोई मर्यादा नहीं है। दत्तियों क्रमशः वृद्धि आदि भेद इनमें रहा हुआ है। साम्यता यह है कि भिक्षु-प्रतिमा और जिनकल्प के धारक का श्रुताभ्यास नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से कम नहीं हो और कठोर चर्या तथा परीषह उपसर्गादि सहन करने आदि कई बातों में समानता

आहार, एक दत्ति पानी, दूसरे दिन दो दत्ति, तीसरे दिन तीन, इस प्रकार सातवें दिन सात दत्ति। इसी प्रकार सात सप्ताह तक करे। व्यवहार भाष्य और टीका में पहले तो अंतकृतसूत्र के अनुसार विधि लिखी और बाद में दूसरे आदेश से वैसी विधि भी लिखी है। परन्तु अन्तकृत सूत्र के मूलपाठ के अनुसार पहली विधि ही ठीक है।

भी है। यहाँ बृहत्कल्प सूत्र उ. १ के 'मासकल्प सूत्र' के भाष्य और टीका तथा विशेषावश्यक भाष्य के आधार से कुछ वर्णन लिखा जा रहा है।

जिनकल्प धारण करने वाला कोई सामान्य साधु नहीं हो सकता और न दीक्षित होते ही जिनकल्पी बन जाता है। जिनकल्पी प्रायः वे ही होते हैं जिनकी चारित्र-पर्याय दीर्घ हो। जो महात्मा आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणावच्छेदक—इन पाँच पदों में से किसी पद पर रह कर योग्य शिष्य को विधिपूर्वक प्रव्रजित करे, उसे ग्रहण (सूत्राभ्यास) और आसेवन (समाचारी) शिक्षा दे कर शिक्षित करे। बारह वर्ष तक शिष्य को सूत्रपाठ की शिक्षा देवे। सूत्रागम में निष्णात और अर्थागम के पूर्ण योग्य होने पर बारह वर्ष पर्यन्त अर्थागम का अभ्यास करावे। इस प्रकार सूत्र और अर्थ से योग्य बने हुए शिष्य को कम से कम दो साधु साथ दे कर पृथक् रूप से ग्रामानुग्राम विहार करावे। वह शिष्य बारह वर्ष पर्यन्त ग्रामानुग्राम विहार कर, अन्य श्रुतज्ञानी एवं अनुभवी आचार्यों का दर्शन कर के उनसे सूत्रार्थ एवं समाचारी सम्बन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त करता है। अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध दे कर धार्मिक बनाता है। कइयों को धर्म में दृढ़ करता है और उनमें से किसी योग्य पात्र को दीक्षित भी करता है। वह उन देशों की भाषा और वहाँ के लोगों के आचार-विचारादि जान कर अनुभवी बन जाता है। अन्य साधुओं पर उसका विश्वास जम जाता है। वे उनके आश्रित हो जाते हैं। स्व और पर का उपकार करने में वह समर्थ हो जाता है। इस प्रकार आचार्य पद के सर्वथा योग्य बने हुए शिष्य को वह आचार्य, अपने पद पर स्थापित करता है। इस प्रकार सुदीर्घ चारित्र-पर्याय वाला वह महात्मा, अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो कर अन्तिम साधना के लिए तत्पर होता है।

सर्व प्रथम वह अपनी आयु-स्थिति का विचार करे। अपने विशिष्ट ज्ञान से अथवा दूसरे ज्ञानी से अपनी आयु-स्थिति को जानने का प्रयत्न करे। यदि आयु-स्थिति कम लगे तो संलेखनादि × कर के अनशन करे और साधनापूर्वक मृत्यु प्राप्त करे। यदि आयु-स्थिति विशेष लगे, तो जिनकल्प आदि विशिष्ट साधना में तत्पर बने। यदि आयुबल विशेष हो और जंघाबल क्षीण हुआ हो, तो स्थिरवास रहे। परन्तु शक्ति ठीक हो तो जिनकल्प आदि कोई विशेष साधना में तत्पर बने।

जिनकल्प की साधना में तत्पर बना हुआ महात्मा, मध्यरात्रि के प्रशान्त एवं एकान्त समय में विचार करे कि—'मैंने चारित्रधर्म की विशुद्ध साधना का और शिष्यों को दीक्षित-शिक्षित कर के परोपकार भी किया। गच्छ या संघ का परिपालन करने के योग्य मेरे शिष्य भी है। इसलिए गच्छ का भार शिष्य को दे कर अब मुझे विशेष रूप से आत्महित करना चाहिए।' इस प्रकार विचार कर अपनी योग्यता की तुलना निम्न-लिखित पांच प्रकार से करे—

×-संलेखनादि का वर्णन पृ. २१६ में किया गया है।

(१) तप से–क्षुधा-पिपासा परीषह सहन करने की शक्ति। यदि देवादि उपसर्ग से छह मास पर्यन्त भी निर्दोष आहार की प्राप्ति नहीं हो सके तो सहन कर सकूंगा ?

(२) सत्त्व भावना–भय को जीत कर निर्भयता की परीक्षा करे और निम्नलिखित पाँच प्रकार से अपने को तोले;–

१ रात्रि के समय जब सभी साधु निद्राधीन हो जाय तब स्वयं खड़ा हो कर उपाश्रय के भीतर ध्यानस्थ रहे। २ इसी प्रकार उपाश्रय के बाहर खड़ा रह कर ध्यान करे। ३ चोहटे में खड़ा रह कर ध्यान करे। ४ शून्यगृह और ५ रात्रि के समय श्मशान में स्थिर रह कर ध्यान करे।

इस प्रकार निर्भयता के विषय में अपनी परीक्षा करे।

(३) सूत्र भावना–सूत्र को पूर्ण रूप से कंठाग्र करे और इस प्रकार हृदयंगम करे कि वह अपने नाम के समान स्मृति में स्थिर रहे और आवृत्ति के अनुसार दिन या रात्रि में उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त आदि काल को भली भांति जान सके।

(४) एकत्व भावना–अपने संघाड़े के साधुओं के साथ बोल-चाल सुख-दुःखादि पृच्छा आदि सभी प्रकार का सम्बन्ध त्याग दे और अपने शरीर उपकरणादि को भी अपने से भिन्न अनुभव करे। इससे बाह्य एवं आभ्यन्तर ममत्व छूट जाता है।

(५) बल भावना–यह दो प्रकार की है–१ शारीरिक बल और मानसिक दृढ़ता। १ जिनकल्प के लिए तत्पर बनने वाले महात्मा का शारीरिक बल भी साधारण मनुष्य से विशिष्ट होना चाहिए। मानसिक बल भी सविशेष होना चाहिये। तपस्या, जरा और रोगादि से शारीरिक बल तो क्षिण हो सकता है, परन्तु मानसिक–धैर्यबल–दृढ़ता ऐसी हो कि भयंकरतम उपसर्गों में भी अडिग रह सके।

इस प्रकार पाँचों भावना से भावित हो कर, गच्छ में रहते हुए ही जिनकल्प के समान प्रवृत्ति करने के लिए–सर्व प्रथम तप भावना करे। तीसरे पहर में आहार के लिए निकले और आहार में भी भूना हुआ वाल चना आदि रूक्ष और गृहस्थ के द्वारा अनिच्छनीय ऐसा आहार ग्रहण करे। आहार सम्बन्धी सात प्रकार की पिण्डेषणा (पृ. २७९) में से प्रथम की दो–'संसृष्ट असंसृष्ट' छोड़ दे और शेष पाँच में से किसी एक एषणा का भोजन के लिए और दूसरी का पानी के विषय में अभिग्रह धारण कर के फिर भिक्षाचरी के लिए निकले। इसी प्रकार आगमोक्त अन्य विधानों से–गच्छ छोड़ने के पूर्व ही–आत्मा को भावित करे। पूर्ण निश्चय कर लेने के बाद संघ को एकत्रित करे। यदि संघ को एकत्रित नहीं कर सके तो अपने गच्छ को अवश्य एकत्रित करे। इसके बाद यदि तीर्थंकर भगवंत हों, तो उनके पास, तीर्थंकर के अभाव में गणधर भगवंत के पास, यों क्रमशः चतुर्दश पूर्वधर के निकट जा कर जिन-कल्प स्वीकार करे। यदि दस पूर्वधर का भी योग नहीं हो, तो बड़ पीपल या अशोक वृक्ष के नीचे जावे और अपने पद पर स्थापित किये आचार्य और बाल-वृद्ध युक्त समस्त गच्छ को तथा विशेषकर उन्हें जो

गच्छ में रहते समय अपने से विरुद्ध रहा हो, इस प्रकार सम्बोधित कर क्षमा याचना करे;–

"हे भगवन् ! यदि मैंने प्रमाद के वश हो कर आपके साथ अनुचित एवं खेदजनक व्यवहार किया हो, तो मैं शुद्ध हृदय से आपसे क्षमा याचना करता हूँ ।"

फिर वे सभी मुनि, जिनकल्प धारण करने वाले महात्मा को यथायोग्य वन्दना करते हुए खमाते हैं।

इस प्रकार क्षमा याचना करने वाले महात्मा को निःशल्यता, विनय, लघुता, एकत्वता और जिनकल्प में अप्रतिबन्धादि गुणों की प्राप्ति होती है। क्षमा याचना करने के पश्चात् वे महात्मा अपने उत्तराधिकारी आचार्य को सम्बोधित करते हुए कहते हैं;–

"तुम्हें इस गच्छ का पालन करना है और किसी पक्ष-विपक्ष में नहीं पड़ते हुए अप्रतिबद्ध रह कर, स्व-पर का हित साधन करना है और अन्त में तुम्हें भी मेरे समान जिनकल्पादि विशेष आराधना करनी है। जिनधर्म की साधना का यही क्रम है। जो विनय करने के योग्य हैं और जिनका विनय करते रहे हो, उनका उसी प्रकार करते रहना, उसमें प्रमाद नहीं करना। किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना–यह तुम जानते ही हो। इसी प्रकार आगे भी करते रहना," आदि।

आचार्य को शिक्षा देने के बाद अन्य मुनियों को उपदेश देते हुए कहते हैं;–

"ये आचार्य अभी छोटे हैं। ज्ञान-दर्शन या चारित्रादि में समान है अथवा श्रुत में मुझ से या किसी से कम श्रुत वाले हैं"–ऐसा सोच कर इनका निरादर मत करना। ये अब मेरे स्थान पर तुम्हारे लिए वन्दनीय-पूजनीय है।" इत्यादि शिक्षा दे कर, जिस प्रकार पक्षी अपने पंख सहित उड़ जाता है और बादलों में से बिजली निकल जाती है, उसी प्रकार अपने उपकरण ले कर और समुदाय–गच्छ से निरपेक्ष हो कर चल दे। वे महात्मा जब तक दिखाई दे, तब तक समुदाय उन्हें उल्लसित भाव से देखते रहे और जब दृष्टि से ओझल हो जाय, तब स्वस्थान लौट आवे।

ईर्यासमितिपूर्वक उसके सम्मुख ही चले जाते हैं।

जिनकल्पी महात्मा अकेले ही विचरते रहते हैं, परन्तु वे जिस स्थान पर ठहरें, वहां दूसरे जिनकल्पी आ जावें तो एक स्थान पर अधिक से अधिक सात जिनकल्पी रह सकते हैं, साथ रहते हुए भी वे एक-दूसरे से बोलते नहीं, मौन रहते हैं। लघुशंका, बड़ीशंका वे वहीं करते है, जहां मनुष्य या पशु का आगमन नहीं हो, उनकी दृष्टि भी नहीं पड़ती हो। रोग होने पर वे उपचार नहीं करते, यदि पांव में कांटा लग जाय और आंख में कंकर, धूल या कचरा गिर जाय तो निकालते नहीं और न किसी दूसरे से निकलवाते हैं। वे न तो किसी को उपदेश देते और न किसी से वार्तालाप करते हैं। वे किसी को शिष्य भी नहीं बनाते और न किसी प्रकार के अपवाद का सेवन करते हैं। जिनकल्प की साधना करने वाले महात्मा वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन वाले होते है।

इस प्रकार और भी नियम भाष्यकार ने बताये हैं। धीर-वीर गंभीर एवं कोई विरले महापुरुष ही ऐसी कठोर साधना अपना सकते हैं। हमारे इस युग में इस प्रकार की साधना का विच्छेद माना गया है।

प्रश्न— जिनकल्प की साधना इतनी उच्च प्रकार की एवं कठोर होने पर भी जिनकल्पी की मुक्ति नहीं होती और स्थविरकल्पी की मुक्ति हो जाती है। इसका क्या कारण है❀ ?

उत्तर— मुक्ति किसी भी कल्प में रहते नहीं होती, कल्पातीत होने पर ही मुक्ति होती है।

भाष्यकार आचार्यों ने जिनकल्पी के लिए उस भव में क्षपक-श्रेणी का आरोहण करना, केवलज्ञान प्राप्ति और मुक्ति का निषेध किया है। इसका कारण—मेरे विचार से यह हो सकता है कि जिस महात्मा ने लगभग चालीस वर्ष + तक संयम (स्थविरकल्पी) की शुद्ध रूप से साधना की और जीवन के किनारे तक पहुँच गये, तब भी मुक्ति नहीं मिली, तो उनकी आत्मा पर कर्मावरण विशेष छाये हुए हैं और दृढ़तर हैं। ऐसी आत्मा उस भव में विमुक्त नहीं हो सकती—ऐसा सोच कर यह विधान किया होगा। यह विधान प्रायिक हो सकता है, एकान्तिक नहीं। विचार होता है कि भिक्षु-प्रतिमा के आराधकों में से किन्हीं महात्माओं को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है, किन्हीं को मनःपर्यय और कई महात्मा ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो कर मुक्ति भी मिल सकती है (दशाश्रुतस्कन्ध ७) तब जिनकल्प साधक की मुक्ति क्यों नहीं हो सकती ? भिक्षु-प्रतिमा के धारक महात्मा, वे सभी परीषह और उपसर्ग सहन करते हैं, जो जिनकल्पी सहते हैं। जिनेश्वर भगवंत महावीर प्रभु ने कितने भयंकर उपसर्ग सहे। उन्हें भी केवलज्ञान हुआ, क्या उनकी साधना जिनकल्पी से कम थी ? गजसुकुमारजी का

❀ ये प्रश्न अमरभारती पत्रिका के जून ६८ अंक आधार से उपस्थित किये हैं।

+ दीक्षा के बाद जब शिष्य हो, उसे १२ वर्ष तक सूत्र और १२ वर्ष अर्थ पढ़ावे, फिर १२ वर्ष देशाटन कराने के बाद अपना उत्तरदायित्व सौंपे।

मस्तक आग से जलता रहा और उन्हें केवलज्ञान और मुक्ति हो गई, तो फिर जिनकल्पी की क्यों नहीं हो सकती ? यह प्रश्न विचारणीय है। इससे लगता है कि 'जिनकल्पी की मुक्ति उस भव में नहीं हो सकती'—यह बात प्रायिक हो सकती है। 'जिनके कर्मावरण अधिक हों और स्थविर-कल्प की दीर्घ साधना में भी नष्ट नहीं हो सके हों, वे जीवन के संध्याकाल में जिनकल्प की साधना करें, तो भी सभी कर्म नष्ट नहीं हो सकते और केवलज्ञान तथा मुक्ति नहीं हो सकती। वे उपशम श्रेणी तो कर सकते हैं, पर क्षपक श्रेणी नहीं कर सकते।' इन्हीं विचारों से भाष्यकार ने विधान किया हो। किन्तु इसे एकान्तिक नहीं मानना चाहिये। किसी महात्मा के कर्मावरण नष्ट हो कर, मुक्ति-लाभ होने में निषेध होने का कोई कारण समझ में नहीं आता। तत्त्व केवलीगम्य।

प्रश्न—जिनकल्प की साधना, एकाकी साधना है। एकाकी साधना से मुक्ति नहीं हो सकती। जैन-धर्म समूह को महत्व देता है। इसलिए स्थविरकल्प में मुक्ति बतलाई और जिनकल्प में निषेध किया—ऐसा कहा गया है, इस विषय में आपका क्या मत है ?

उत्तर—यह प्रश्न निःसार है। जैनधर्म साधना को महत्व देता है, चाहे वह एकाकी हो, या समूह में रह कर। साधारण मनुष्य एकाकी साधना नहीं कर सकता, इसलिए उसे गुरु, साधर्मी, गण एवं संघ का आश्रय लेना होता है और यह राजमार्ग है। इसमें पारस्परिक सहयोग से साधना चलती रहती है। फिर भी साधक को अपनी आत्मा में एकत्व भावना जगा कर विकसित करनी होती है, तभी वह आत्म-भावित होता है और उसका आत्म-बल विकसित होता है।

साधना के लिये समूह का सहयोग लिया जाता है.—साधना के लिए समूह है, समूह के लिए साधना नहीं। यदि एकाकी रह कर शान्तिपूर्ण साधना करने की क्षमता है, तो समूह निरपेक्ष रह कर भी सफलता प्राप्त की जा सकती है। भ. महावीर स्वयं अकेले ही रह कर साढ़े बारह वर्ष तक साधना करते रहे और केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। श्री गर्गाचार्य ने तो समूह—बिगड़ैल झुण्ड को त्याग कर, एकाकी साधना की और सिद्धि प्राप्त की। नमिराजर्षि, हरिकेशी आदि महात्मा एकाकी रह कर अपने अपने चारित्र के बल से सिद्ध हुए।

संघ का महत्व है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। धर्म-परपरा संघ-बद्ध चलती है। संघाश्रय से मोक्षमार्ग चलता रह कर भव्य जीवों का सहारा बनता है। सामान्य साधक संघबद्ध धर्म से लाभान्वित हो कर अपना उत्थान करते हैं। इतना होते हुए भी साधक को अनित्यादि एवं एकत्वादि भावना प्रबल बना कर आत्मस्थ रहने का प्रयत्न करते रहने का जैनधर्म ने निर्देश किया है। यदि कोई साधक, आत्मा में एकाकीपन की भावना नहीं जगावे, तो वह अप्रमत्तादि गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकता। जब गृहस्थ साधक भी सामायिकादि में एकत्वादि भावना जगा कर विशुद्धि प्राप्त करता है, तो साधुओं के लिए तो कहना ही क्या ?

फलित हुआ कि आत्मोत्थान में साधना का महत्त्व है, समूह या एकाकीपन का नहीं।

प्रश्न—श्रेणी आरोहरण में ध्यान का महत्व है, उग्र तप और कठोर साधना का नहीं। जिनकल्पी कठोर साधक तो होते हैं, परन्तु ध्यान उनका वैसा नहीं होता, इससे मुक्ति नहीं होती। इस आशय की बात भी अमरभारती में लिखी है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नहीं, यह असत्य है। जितना ध्यान जिनकल्पी कर सकते हैं, उतना स्थविरकल्पी नहीं। गमनागमन, स्थण्डिल और भिक्षाचरी के अतिरिक्त उनका सब समय स्वाध्याय एवं ध्यानस्थ रहने में लगता है। स्थविरकल्पी को तो अपने उतने उपकरणों की प्रतिलेखना, वाचना, पृच्छा, धर्मोपदेश, गुरु-साधर्मी की वैयावृत्य और गुर्वादिक के कार्य तथा दीक्षा-शिक्षादि कार्य भी करने पड़ते हैं, जिससे उन्हें ध्यानस्थ रहने की सुविधा उतनी नहीं रहती, जितनी जिनकल्पियों को रहती है।

जब उन्हें उपशम श्रेणी का आरोहण कर के ग्यारहवें गुणस्थानी, उपशांत-मोह वीतराग होना स्वीकार करते हैं, तब ध्यान साधना तो अपने-आप स्वीकार हो गई। यह प्रश्न ही बेसमझी का है कि जिनकल्पी कठोर साधना तो करते हैं, परन्तु ध्यान नहीं करते, या स्थविरकल्पी से कम करते हैं—ऐसा सोचना ही मूर्खता है।

जिन महात्माओं का कल्प जिनेश्वर भगवंतों के समान हो और इसीसे जो 'जिनकल्पी' कहलाते हों, उन्हें ध्यान-विहीन कोई बुद्धिमान तो नहीं कह सकता।

प्रश्न—यदि स्थविरकल्प से ही मुक्ति हो सकती है, तो जिनकल्प अपनाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। साधक की मुक्ति होने में सब से बड़ी बाधा आत्म-बन्धनों की है। जिसके बन्धन पहले से—पूर्वभवों से हलके हो चुके हों, शिथिल बन चुके हों, स्थिति जिनकी दीर्घतर नहीं रही हो और रसघात भी प्रयत्न-साध्य बन चुका हो, तो ऐसे कर्म-बन्धन, स्थविरकल्पी साधना से नष्ट हो कर मुक्ति हो सकती है। इसके विपरीत जिनके कर्मबन्धन अत्यन्त दृढ़ हों, साधरण साधना से नष्ट होने योग्य नहीं हों, वे महात्मा उन कठोर कर्मों को तोड़ने के लिए जिनकल्प की कठोर साधना आरम्भ करते हैं।

जिस प्रकार पानी निकालने के लिए कूआँ खोदा जाता है और जब तक मिट्टी और कच्चा पत्थर होता है, तब तक कुदाल, गेंता, सबल आदि साधारण साधनों से काम चलाया जाता है, किन्तु जब कठोर पत्थर की चट्टान बाधक बनती है, तब बारुद की सुरंग आदि जोरदार साधन अपना कर उसे तोड़ा जाता है। वहाँ साधारण कुदाली आदि से काम नहीं चलता। इसी प्रकार कर्मों के दृढ़तम बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए जिनकल्प जैसी कठोरतम साधना अपनाई जाती है।

साधारण भूमि पर सड़क बनाने में कुदाली फावड़ों से काम चल जाता है, परन्तु, जहाँ पहाड़ फोड़ कर मार्ग निकालना हो, तो जोरदार दानामाइट लगाना पड़ता है। इसी प्रकार जिनकल्प भी है।

साधकों के कर्म विविध प्रकार के होते हैं। भ. आदि प्रभु को हजार वर्ष तक छद्मस्थ रह कर कठोर साधना और दीर्घ तपस्या करनी पड़ी, किन्तु उनकी माता मरुदेवा और पुत्र भरतजी तो छद्मस्थ साधु रहे ही नहीं। मल्लिनाथ भगवान् एक पहर भर से अधिक छद्मस्थ नहीं रहे। यह सब कर्म-बन्धनों की विचित्रता है। स्थानांग सूत्र स्थान ४ उ. १ में मुक्ति पाने वालों के अल्पकर्म महाकर्मादि से अंतक्रिया के चार भेद इस प्रकार बतलाये हैं;–

"चत्तारि अंतकिरियाओ पण्णत्ता तं जहा–तत्थ खलु पढमा इमा अंतकिरिया–अप्पकम्मपच्चायाए यावि भवइ......तस्सणं णो तहप्पगारे तवे भवई, णो तहप्पगारा वेयणा भवइ,तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं परियाएणं सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ.....जहा से भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी। पढमा अंतकिरिया ॥१॥ अहावरा दोच्चा अंतकिरिया महाकम्मे पच्चायाए यावि भवइ.....जहा से गयसूमाले अणगारे.......॥२॥ अहावरे तच्चा अंतकिरिया महाकम्मे.....दीहेणं परियाएणं सिज्झइ.....जहा से सणंकुमारे राया चाउरंत-चक्कवट्टी ॥३॥ अहावरे चउत्था.....अप्पकम्मपच्चायाए......णो तहप्पगारे वेयणा......जहा सा मरुदेवा भगवई ॥४॥

तात्पर्य यह कि–भगवान् ने चार प्रकार की अंतःक्रियाएँ कही है। उनका स्वरूप इस प्रकार है–

(१) अल्पकर्म दीर्घ पर्याय–कोई जीव अल्पकर्म वाला हो कर देवलोक से मनुष्य-भव में उत्पन्न हुआ और संसार से विरक्त हो कर संयमी बना। वह बहुसंयमी, बहुत संवर और समाधि वाला होता है, किन्तु उसे तथा प्रकार का (भ० महावीर जैसा) घोर तप नहीं करना पड़ता और न वैसी वेदना ही सहन करनी पड़ती है। वह अल्पकर्मी जीव, बहुत काल तक संयम का पालन कर मुक्त हो जाता है। भरत चक्रवर्ती वत्।

(२) महाकर्म निरुद्ध पर्याय–किसी जीव के कर्म तो अधिक हो, किन्तु संयम-पर्याय अल्प हो, उसे थोड़े ही समय में घोर तप एवं अत्यन्त वेदना होती है और वह मुक्त हो जाता है। गजसुकुमार अनगार वत्।

(३) महाकर्म दीर्घ पर्याय–किसी जीव के महाकर्म के साथ पर्याय भी दीर्घ हो, वह दीर्घ तप और दीर्घ वेदना भोगने के बाद सिद्ध होता है। सनत्कुमार चक्रवर्ती वत्।

(४) अल्पकर्म निरुद्ध पर्याय–जिसके कर्म भी अल्प हों और संयम-पर्याय भी अल्प हो, वह न तो घोर तप करता है और न उसे वैसी वेदना ही होती है। वह सरलता से मुक्त हो जाता है। मरुदेवा भगवती वत्।

इस प्रकार आत्मा के कर्म-बन्धनों की विचित्रता के कारण मुक्ति होने में साधना की अल्पता-दीर्घतादि होते हैं। यह सत्य है कि जिनकल्प की साधना वे ही महापुरुष करते हैं जो स्थविरकल्प की दीर्घ साधना कर के जीवन के छोर के निकट पहुँच गए हों और जिन्हें अपने कर्मबन्धन दीर्घतर एवं

दृढ़तर प्रतीत हुए हों और जो जिनकल्प का सामर्थ्य रखते हों। जिनकल्प साधना कठोरतम साधना है। महान् धीरवीर ही इसे अपना सकते है। ऐसी उत्तमोत्तम साधना का महत्व घटाना सर्वथा अनुचित है।

भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगार

चरम तीर्थपति श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप जो मुनि-वृन्द था, वह कैसा था, उनकी चारित्र परिणति किस प्रकार थी, वे अनगार निष्परिग्रही होते हुए भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप रूप आत्मिक ऐश्वर्य से किस प्रकार समृद्ध थे, उनकी आत्मा कितनी पवित्र थी। इसका विस्तृत वर्णन 'औपपातिक सूत्र' में आया है। जब हम उस को देखते हैं, तो हमारी आत्मा में उन गुण समृद्ध और तपोधनी महात्माओं के प्रति प्रशस्त राग उत्पन्न होता है। कितने पवित्र और उत्तमोत्तम सन्त थे वे। हम उन महर्षियों के पार्थिव शरीर के तो दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु उनके पवित्र एवं उन्नत आत्म-स्वरूप की कुछ झाँकी तो पा सकते हैं। और उन अनगार भगवन्तों के विशुद्ध गुणों का आदरपूर्वक स्मरण करके अपनी आत्मा को भी शुभ परिणति में लगा सकते हैं। साथ ही हम सच्चे साधु-खरे निर्ग्रंथ का स्वरूप जान कर, वर्तमान श्रमण वर्ग की संयम-साधना में सहायक हो सकते हैं। पाठकों के सामने वह वर्णन उपस्थित करते हुए निवेदन करते हैं कि वे ध्यानपूर्वक पढ़ें और मनन करें तथा वर्तमान श्रमण-वर्ग के उत्थान में सहायक बने।

तेणंकालेणं तेणंसमएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोग पव्वइया......

भगवान् महावीर प्रभु के समय उनके समीप रहने वाले जो अनगार भगवन्त थे, उनमें बहुत-से उग्र कुल के, कितनेक भोग कुल के, कई राजन्य कुल के, कई ज्ञात कुल के, कितनेक कौरव कुल के, कई क्षत्रिय, सुभट, योद्धा, सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठी, सम्पत्तिशाली और अन्य अनेक उत्तम जाति और उत्तम कुल के थे। वे रूपवान्, विनयवन्त, विज्ञानवन्त (अनुभव ज्ञान सम्पन्न) लावण्यवन्त, पराक्रमी, सौभाग्यशाली और कान्तिवान् थे। उन्होंने भगवान् का उपदेश सुन कर और इस संसार को असार तथा दुःख रूप समझ कर, पूर्व पुण्य से प्राप्त विपुल धन, धान्य और कुटुम्ब परिवार को त्याग दिया था। उन्होंने सुन्दर स्त्रियें और विपुल भोग सामग्री को किंपाक फल-लुभावने विषफल के समान समझ कर तथा अस्थिर-जल के बुलबुले के समान नाशवान् एवं क्षणभंगुर मान कर छोड़ दिया था और भगवान्

हावीर के पास प्रव्रजित हो गये थे।

उनमें कोई सन्त तो कुछ दिनों के ही दीक्षित थे, कई मुनिवर कुछ महीनों से ही संयमी हुए ; बहुत-से संत वर्ष-दो वर्ष के और कई अनेक वर्षों की दीक्षापर्याय वाले थे। वे सब संयम और पस्या की उत्तम परिणति से अपनी आत्मा को निर्मल बनाते हुए, मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ रहे थे—बढ़े । जा रहे थे।

देवाधिदेव महावीर प्रभु के अन्तेवासी उन अनगार भगवन्तों में बहुत-से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी ई अवधिज्ञानी और मन:पर्यवज्ञानी थे और कई भगवान् महावीर के समान केवलज्ञानी (सर्वज्ञ सर्वदर्शी) ो थे। बहुत-से मनोबली—भयंकर परीषहों में भी अडिग रहने वाले थे। बहुत से वचनबली—जिनके चन प्रभावशाली और कुमति तथा मिथ्यावाद पर विजय पाने वाले थे, और कई शरीर बल वाले— ग्रविहार और वैयावृत्यादि कार्यों में शरीर को लगा देने वाले थे।

मुनिवरों को प्राप्त लब्धियाँ

कुछ मुनिवर मन से ही किसी पर अनुग्रह करने में समर्थ थे (उनमें ऐसी शक्ति थी कि वे जसके प्रति मन में अनुग्रह—हित-कामना कर लें उसका दुःख और दारिद्र्य नष्ट हो जाय और वह ुखी हो जाय) कई मुनिवर ऐसे थे कि जिन्हें वचन-सिद्धि प्राप्त थी। अनायास ही किसी के प्रति नके हित-वचन निकल जाय तो उसके भाग्योदय का कारण बन जाय और किसी का शरीर स्पर्श भी हितकारी होता था। कई महात्मा ऐसे विशिष्ट लब्धि सम्पन्न थे कि जिनके मुंह से निकला हुआ कफ ुगन्धित हो कर सभी प्रकार के रोगों के लिए अचूक औषधी रूप बन जाता। किन्हीं महात्माओं के शरीर ा मैल, लघुनीत+ बड़ीनीत आदि अशुचि पदार्थ भी महौषधी रूप बन कर असाध्य रोग के रोगियों के लए उपकारक बनते। मुनियों की लब्धियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

१ खेलौषधि–जिनके खेल=श्लेष्म से सुगन्ध आती है और जिससे रोग शान्त हो जाते हैं।

२ जल्लौषधि–जिनके कान, मुख, जिव्हा आदि का मैल औषधि रूप होता है।

३ विप्रुडौषधि–जिनके मल-मूत्र से सुगन्ध आती है और जिनके उपयोग से रोग शान्त हो जाते हैं।

४ आमर्शौषधि–जिनके हाथ-पांव आदि का स्पर्श ही राम-बाण औषधि तुल्य हो।

५ सर्वौषधि–जिनके शरीर के मल, मूत्र, श्लेष्म, नख, केश आदि सभी औषधि रूप हो।

६ कोष्ठक बुद्धि–कोठे में डाले हुए धान्य के समान, जिन मुनिवरों को पाया हुआ ज्ञान ज्यों का त्यों चिरकाल तक कायम रहे।

७ बीजबुद्धि-जिस लब्धिधारी मुनि को बीज रूप एक ही अर्थ–प्रधान पद प्राप्त होने पर अपनी बुद्धि से बिना सुना ऐसा सभी अर्थ जान ले, वह बीजबुद्धि लब्धि होती है। गणधर भगवन्तों में यह लब्धि होती है।

८ पट बुद्धि–वस्त्र में भर कर संग्रहित किये पुष्प एवं फल के समान, विशिष्ट वक्ताओं द्वारा कहे हुए प्रभूत सूत्रार्थ का संग्रह करने में समर्थ।

९ पदानुसारिणी–जिसके प्रभाव से एक पद सुन लेने पर बिना सुने ही बहुत से पद जान लिए जाएँ।

१० संभिन्नश्रोता–मात्र कानों से ही नहीं, किन्तु शरीर के सभी अंग-उपांगों से सुनने की शक्ति वाले। अथवा–

श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्शनेन्द्रिय इन्द्रियें, अपना-अपना काम करती है, किन्तु इस लब्धि के धारी मुनिराज के एक ही इन्द्री, शेष सभी इन्द्रियों का काम करती है। अथवा–

इस लब्धि के प्रभाव से बारह योजन में फैली हुई चक्रवर्ती की सेना के भिन्न-भिन्न एक साथ बजने वाले अनेक बाजों की ध्वनि को पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण करती है।

११ खीराश्रव-जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन, श्रोताओं को दूध के समान मधुर लगे।

१२ मधुराश्रव–श्रोताओं को जिनके वचन मधु जैसे मीठे प्रसन्नकारी और रोगहारी लगे।

१३ सर्पिराश्रव–श्रोताओं में घृत के समान स्नेह सम्पादन करने वाले वचन वली।

१४ अक्षीणमहानसी–जिसके प्रभाव से भिक्षा में लाये हुए थोड़े से आहार से, बाहर से आये हुए हजारों साधु-साध्वियों को भोजन करा दिया जाय, फिर भी वह उतना ही बचा रहे और लब्धि-धारी के भोजन करने पर ही आहार समाप्त हो।

१५ ऋजुमति–मनःपर्यवज्ञान का एक भेद। जिसका धारक ढ़ाई अंगुल कम ढ़ाई द्वीप परिमाण क्षेत्र में रहे हुए मन वाले जीवों के मन के भाव जान ले।

१६ विपुलमति–मनःपर्यवज्ञान का दूसरा भेद। जिसका धारक, ऋजुमति से ढ़ाई अंगुल प्रमाण

अधिक क्षेत्र के निवासियों के मन के भावों को विस्तारपूर्वक जान सके ।

१७ विकुर्वण ऋद्धि–अनेक प्रकार के रूप बनाने की शक्ति । जिससे लाखों-करोड़ों रूप बना सके ।

१८ चारण लब्धि–जिसके प्रभाव से आकाश में गमन करने की शक्ति प्राप्त हो । यह जंघाचारण और विद्याचारण के भेद से दो प्रकार की है । इसकी गमन-शक्ति बहुत ही तेज और शीघ्र-गामिनी होती है ।

जंघाचारण लब्धि वाला एक ही उड़ान में रुचकवर द्वीप पर पहुँच जाता है । किन्तु लौटते समय एक स्थान (नन्दीश्वर द्वीप) पर ठहर कर दो उड़ान में अपने स्थान पर आया जाता है ।

विद्याचारण लब्धि वाला जाते समय पहली उड़ान में मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उड़ान में नन्दीश्वर द्वीप पर जाता है । ये वापिस लौटते समय एक ही उड़ान में स्वस्थान आ जाते हैं । इनका विशेष वर्णन भगवती श. २० उ. ९ में है ।

१९ अवधि लब्धि–अवधिज्ञान–जिसके द्वारा अत्यन्त निकट या अत्यन्त दूर की रूपी वस्तु दिखाई देती है । भले ही वह स्थूल हो, या अत्यंत सूक्ष्म ।

२० केवल लब्धि–जिससे समस्त लोक और अलोक के सभी द्रव्यों की भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल की समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यायों (अवस्थाओं) को प्रत्यक्ष जाना जाय । (उववाई सूत्र)

२१ अरिहंत लब्धि–तीर्थंकर पद, चौंतीस अतिशय, पैंतीस वाणी युक्त । (समवायांग)

२२ चक्रवर्ती–छह खण्ड के स्वामी–एक-छत्र राज्य करने वाला । चौदह रत्न, नवनिधि युक्त नरेन्द्र की ऋद्धि । (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)

२३ बलदेव–वासुदेव के बड़े भ्राता । (समवायांग)

२४ वासुदेव–अर्ध चक्री-* आधे भरतखण्ड के स्वामी (समवायांग)

२५ गणधर–तीर्थंकर भगवंत के मुख्य शिष्य, श्रमण संघ के नायक, चार ज्ञान चौदह पूर्वधर । (भगवती १–१)

२६ पूर्वधर–पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने वाले । (नन्दी सूत्र)

२७ आहारक–अपने शरीर में से एक छोटासा पुतला तय्यार कर, दूरस्थ केवलज्ञानी के पास भेज कर समाधान प्राप्त करने की शक्ति वाले महात्मा । (प्रज्ञापना २१ तथा ३६)

---

* वासुदेव के बल के विषय में ग्रंथकार लिखते हैं कि वासुदेव में इतना बल होता है कि–यदि उन्हें जंजीर से बांध कर हाथी, घोड़े, रथ और सेना सहित सोलह हजार राजा खींचे तो भी उन्हें नहीं हिला सकते । किन्तु वासुदेव इन सभी को बांये हाथ से पकड़ कर खींच सकते हैं । इनमें बीस लाख अष्टापद (एक बड़ा ही बलवान पशु) जितना बल होता है । बलदेव में उनसे आधा और चक्रवर्ती में दुगुना होता है । तीर्थंकरों के बल का तो पार ही नहीं है ।

२८ पुलाक–चक्रवर्ती की सेना का भी अपनी शक्ति से विनाश कर देने की शक्ति रखने वाले। (भगवती २५-६)

२९ तेजोलेश्या–क्रुद्ध होने पर हजारों-लाखों मनुष्यों को भस्म कर देने की शक्ति विशेष। (भगवती १५)

३० शीतल लेश्या–संहारक तेजोलेश्या को भी शांत कर देने वाली शक्ति। (भगवती १५)

३१ आशीविष–जिनकी दाढ़ों में महान् विष होता है। ऐसे मनुष्य, बिच्छू, साँप और मेंढक। (भगवती ८-२)

इनमें से कुछ लब्धियों का उल्लेख 'अनुयोगद्वार' सूत्र में भी है। उसमें तो सम्यग्दर्शन लब्धि, गणिआचार्य लब्धि आदि अन्य लब्धियों का भी उल्लेख है। विभिन्न स्थलों में अन्य लब्धियों का उल्लेख भी मिलता है +।

संयमी और आत्मार्थी सन्त, लब्धि प्राप्त होते हुए भी उसका उपयोग नहीं करते, क्योंकि लब्धि का प्रयोग, चारित्र का विघातक है। यदि कोई सकारण भी उपयोग करे, तो वे प्रमादी माने जाते हैं और उन्हें प्रायश्चित्त ले कर अपनी शुद्धि करनी पड़ती है, तभी वे धर्माराधक माने जाते हैं। जब तक वे प्रायश्चित्त नहीं ले लेते, तब तक वे भगवान् की आज्ञा के पालक–आराधक नहीं माने जाते। (भगवती २०-९)

अनगारों की विशेषताएँ

कई मुनि 'कनकावली' तप करने वाले थे, तो कई 'एकावली,' 'लघुसिंह क्रीड़ा,' 'महासिंह

+ 'प्रवचनसारोद्धार' में २८ लब्धियों का उल्लेख है। यहाँ हमने ३१ की संख्या दी है। हमने इसमें उववाई सूत्र में आई हुई लब्धियाँ पहले ली। इसलिये प्रचलित क्रम में भी अन्तर पड़ा। संख्या में अन्तर आने का कारण यह है कि 'प्रवचनसारोद्धार' में "खीरमधुसर्पिराश्रव" नाम की लब्धि को एक ही गिना, जब कि उववाई सूत्र में तीनों पृथक्-पृथक् गिनाई। इससे दो अङ्क बढ़ गये और 'पटबुद्धि' नाम की लब्धि 'प्रवचनसारोद्धार' से इसमें अधिक है। इसका समावेश कोष्ठक बुद्धि में हो सकता है।

————प्रवचनसारोद्धार में लिखा है कि–अभव्य पुरुषों में निम्न लिखित १३ लब्धियाँ नहीं होती। जैसे–१ अरिहंत २ चक्रवर्ती ३ वासुदेव ४ बलदेव ५ सम्भिन्नश्रोत लब्धि ६ चारण ७ पूर्वधर ८ गणधर ९ पुलाक १० आहारक ११ केवली १२ ऋजुमति और १३ विपुलमति।

इन तेरह के अतिरिक्त १५ लब्धियें अभव्य पुरुष प्राप्त कर सकता है। अभव्य स्त्रियाँ इनके सिवाय 'क्षीर-मधुसर्पिराश्रव' लब्धि भी नहीं पा सकतीं।

क्रीड़ा,' 'भद्र प्रतिमा,' 'महाभद्र प्रतिमा,' 'सर्वतोभद्र प्रतिमा' और 'आयंबिल वर्धमान तप' करने वाले थे ●।

कई मुनिवर मासिकी भिक्षु-प्रतिमा के धारक थे, तो कई दो मासिकी यावत् सप्त मासिकी भिक्षु-प्रतिमा के धारक थे। कोई प्रथम सप्त-रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा के धारक थे, तो कई दूसरी, तीसरी सप्तरात्रि भिक्षु-प्रतिमा के पालक थे। कई दिन-रात की (११ वीं) भिक्षु-प्रतिमा की आराधना करते थे, तो कई एक रात्रि की (१२ वीं) भिक्षु की प्रतिमा को धारन किये हुए थे।

कई मुनिवर 'सप्तसप्तमिका भिक्षु-प्रतिमा' से लगा कर 'दसदसमिका भिक्षु-प्रतिमा' करने वाले है। 'लघुमोक प्रतिमा,' 'महामोक प्रतिमा,' 'यवमध्यचन्द्र प्रतिमा' और 'वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा' के आराधक अनगार भी भगवान् महावीर के अन्तेवासी थे।

य सभी मुनिवर संयम और तप से अपनी आत्मा को शुद्ध-पवित्र करते हुए विचरते थे।

भगवान् महावीर के उन सर्वत्यागी साधु भगवंतों में बहुत से स्थविर भगवंत (जो श्रुत, प्रव्रज्या और आयु में बड़े थे) उच्च जाति सम्पन्न थे, कुलीन थे, बलवान् थे, रूप सम्पन्न और विनय सम्पन्न थे। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, लज्जा और लघुता से युक्त थे। वे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे। उन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया था। उनकी इन्द्रियें उनके वश में थी। उन्होंने निद्रा क्षुधादि परीषहों को जीत लिया था। जीने की आशा और मृत्यु का भय तो उन्हें था ही नहीं। वे मुनिपुंगव, व्रत में प्रधान और गुणों में संसार के सभी साधुओं में उच्च स्थान धराने वाले थे। वे निर्दोष भिक्षाचरी आदि क्रिया में उत्तम और महाव्रत आदि चारित्राराधना में सर्वोत्तम थे। इन्द्रिय निग्रह अथवा दोषों को दूर करने में भी वे कुशल थे। वे निश्चय = विशुद्ध आत्म तत्त्व के जानकार थे, और उसी ध्येय की पूर्ति में प्रगतिशील रहते थे। व्यवहार में रहते हुए भी उनका लक्ष निश्चय की ओर ही रहता था। अच्छी-बुरी परिस्थितियों को वे अपने आत्मबल पर विश्वास रख कर सह लेते थे। वे संत-प्रवर सरलता, नम्रता, लघुता, क्षमा, निर्लोभता में बढ़ेचढ़े हुए थे। उनकी आत्मा. चारित्र में इतनी रंग गई थी कि जिससे अनेक प्रकार के उत्तम गुण प्रकट हो गये थे। वे विद्या में भी प्रधान थे। अनेक प्रकार की विद्या और मन्त्र तथा वेद के वे जानने वाले थे, किन्तु जानते हुए भी वे आचरण तो केवल मोक्ष-साधना में उपयोगी ऐसे ज्ञानादि उत्तम गुणों का ही करते थे। वे ब्रह्मज्ञाता, नयवाद के पारगामी और नियम पालने में दृढ़ थे। उनका जीवन और आचरण सत्य पर ही आधारित था, जिसमें दंभ की तो छाया ही नहीं थी। वे पवित्रता में प्रधान थे। उनके जैसी भावों की पवित्रता = अन्तर्शुद्धि, अन्यत्र मिलनी अशक्य ही थी। उनका वर्ण = आकृति उत्तम थी। वे तपस्वी और जितेन्द्रिय थे। उन्होंने

● तप का वर्णन पांचवें विभाग में किया जायगा।

अपनी इच्छाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। वे बाह्य और आभ्यन्तर-दोनों प्रकार से शुद्ध थे, अर्थात् उनका बाह्य जीवन (वाणी और शरीर सम्बन्धी क्रिया) शुद्ध-निर्दोष था और आभ्यन्तर जीवन भी पवित्र था। उनके चारित्र एवं तप का लक्ष्य, भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिये नहीं था अर्थात् निदान रहित था। उनकी उत्सुकता = चंचलता बहुत कुछ नष्ट हो चुकी थी। उनकी लेश्या-विचारणा, ज्ञानादि विषयों से बाहर नहीं जाती थी और अशुभ लेश्याओं के लिये तो वहाँ स्थान ही नहीं था। वे सदैव अपनी संयमी परिणति में ही रमण कर के, पूर्व के कुसंस्कारों को दृढ़ता से नष्ट करते थे। वे जो भी प्रवृत्ति करते थे, उन सब में निर्ग्रंथ-प्रवचन = आर्हत् सिद्धांत दृष्टिगत रहता था। वे मुनि-मतंगज निर्ग्रंथ-प्रवचन के प्रकाश में ही-उसी के अनुसार अपना जीवन चलाते थे।

वे अनगार भगवन्त आत्मवाद-स्व-सिद्धांत के जानकार थे। अर्थात् वे आत्म अनात्म के भेद ज्ञान में प्रवीण और परवाद-अन्य सिद्धांत के भी जानकार थे, अन्य दर्शनों की जानकारी भी उन्हें थी। वे स्व-पर सिद्धांत के ज्ञाता होते हुए भी स्व-सिद्धांत में स्थित रह कर उसकी आराधना करते थे। वे **आत्म-धर्म*** के पालक थे। जिस प्रकार नलिनी वन में हाथी, मस्त हो कर विचरते हैं, उसी प्रकार वे मुनिमतंगज भी गजेन्द्र के समान संयमरूपी रमणीय वन (आराम) में प्रसन्नतापूर्वक विचरते थे।

वे मेधावी-गीतार्थ मुनिवर, जिज्ञासुओं की शंका का समाधान करने में कुशल थे। उनके समाधान छलछिद्र रहित होते थे, अथवा उनके उत्तर खण्डित नहीं हो सकते थे। वे श्रमणवर ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय के आगार थे। वे उस कुत्रिकापण जैसे थे, जिसके यहाँ तीनों लोक की अलभ्य वस्तु प्राप्त होती थी, अर्थात् वे ज्ञान के भण्डार थे, उनमें सभी प्रकार की अलौकिक विद्याएँ थीं। कोई भी परवादी उन्हें विवाद में नहीं जीत सकता था, वे परवादी-मान-मर्दक थे। उन त्यागी, विरागी, विज्ञानियों के आगे मिथ्यावाद ठहर ही नहीं सकता था। आचार्य की महानिधि के समान द्वादशांग (सर्वश्रुत) रूप भाव धन के वे धनी-स्वामी थे। वे उस अलौकिक ऐश्वर्य के अधिपति थे कि जिसे लूटने और छीनने की शक्ति किसी में भी नहीं है। वे सभी अक्षरों की संधि, उनके संयोगों से उत्पन्न

निक्षेपण समिति और उच्चार-प्रसवणादि परिस्थापनिका समिति, इन पाँच समितियों के पूर्ण पालक थे। वे मनोगुप्त थे। उनका मन सांसारिक विषयों की ओर नहीं जाता था। क्योंकि उन्होंने स्वाध्याय ध्यान और ज्ञानाभ्यास में मन को लगा रखा था। इसलिए दूसरी ओर जाने का मन को अवकाश ही नहीं था। वे वचन-गुप्ति के धारक थे। उनका अधिकांश समय मौन में ही जाता था। वे तभी बोलते थे जब कि संयम साधना में बोलना आवश्यक होता, या जहाँ स्व-पर कल्याण की सम्भावना होती। जिन वचनों से कर्म-बन्धन बढ़े—संसार की परम्परा लम्बी हो, ऐसे सावद्य वचन तो वे बोलते ही नहीं थे। काय-गुप्ति भी उनमें पूर्ण रूप से थी। वे बिना ज्ञानादि आराधना और शारीरिक बाधा के काय संचालन नहीं करते थे। उनके शरीर से आरम्भजन्य तथा सावद्य क्रिया नहीं हो जाय, इसकी वे सतत सावधानी रखते थे। वे आत्मगुप्त थे। उनकी आत्मा स्वाध्याय, संयम और ध्यानादि की सीमा में ही रहती थी। उन महात्माओं की इन्द्रियें भी गुप्त थी। अनुकूल विषयों की ओर रुचि तथा प्रतिकूल विषयों की ओर अरुचि वे होने ही नहीं देते थे। वे ब्रह्मचर्य-गुप्ति के भी धारक थे। नव प्रकार की बाड़ से उन्होंने ब्रह्मचर्य की इस प्रकार रक्षा की थी कि जिससे उसे किसी प्रकार का खतरा नहीं हो सकता था। जिस प्रकार मुँजी अपने धन की रक्षा में पूर्ण सावधान होता है, उसी प्रकार वे ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्म = आत्मा, की रक्षा में पूर्ण सावधान थे। स्त्रीकथा, स्त्रियों के सौंदर्य को निरखना, पौष्टिक आहार करना, अति आहार करना, शरीर की विभूषा करना, इत्यादि कारण,ब्रह्मचर्य के घातक हैं। इन सभी निमित्तों से वे दूर ही रहते थे, इसी से वे ब्रह्मचर्य-गुप्ति के धारक कहे जाते थे।

वे ममत्व कर के रहित थे। वस्त्र पात्र तो दूर रहे, अपने निकट के साथी—शरीर पर भी उनका ममत्व नहीं था। उन्होंने संसार से, अथवा कर्मजन्य सभी संयोगों से अपना सम्बन्ध हटा लिया था। वे अपनी आत्मा के अतिरिक्त सभी पर वस्तुओं से विलग थे।

वे आदर्श मुनिवर अकिञ्चन थे। उनके पास धन तो था ही नहीं, पर दूसरे दिन के खाने के लिए भी कुछ नहीं रहता था। वस्त्र-पात्र वे आवश्यकता से अधिक रखते ही नहीं थे। वे एक या दो पात्र, एकाध वस्त्र रखते थे। तीन पात्र और तीन चद्दर से अधिक तो कोई रखते ही नहीं थे। वस्त्र-पात्र भी उनके सामान्य और स्वल्प मूल्य के होते थे। क्रोधादि कषाय, हास्यादि नोकषाय और मिथ्यात्व रूपी आभ्यन्तर गांठ तथा क्षेत्रवस्तु आदि बाह्य परिग्रह की गांठ को उन पवित्र मुनिपुंगवों ने तोड दी थी और आठ कर्मों की गांठ—बन्धन को काटने में प्रयत्नशील थे।

संसार परिभ्रमण (आश्रव) के मार्ग को उन संयमी संतों ने बन्द कर दिया था। उनका संसारी लोगों से लगाव नहीं रहता था। वे आवश्यक कार्य के सिवाय गृहस्थियों के निकट सम्पर्क में नहीं आते थे। संसारियों की समस्याओं को उनकी विचारणा में स्थान ही नहीं था। वे संसार के विविध रंगों में नहीं रंग कर दूर ही रहते थे। स्नेह की चिकास से वे निर्लिप्त रहते थे। उन्हें वीतराग होना था।

वीतराग होने के लिए पाप का सर्वथा त्याग तो सर्व प्रथम करना पड़ता है और १८ पाप के त्याग में संसारियों अथवा सांसारिक वस्तुओं से राग (१० वाँ पाप) और रति = आसक्ति (१६ वाँ पाप) त्यागना ही पड़ता है, तभी वीतरागता की ओर बढ़ सकते हैं। भगवान् महावीर देव के पवित्र अनगार भगवन्त, छिन्नश्रोत और निर्लेप थे।

उन्मुक्त विहारी–वे पवित्र अणगार, उन्मुक्त (अप्रतिबद्ध) विहारी थे। उनके किसी प्रकार का बन्धन नहीं था। जो बन्धन मुक्त है, वही स्वतन्त्र हो सकता है। जहाँ पराश्रय है वहाँ, बन्धन है। जहाँ स्वाश्रय है, वहाँ स्वतन्त्रता है। संसार में रहते हुए भी साधुओं को हम संसार-त्यागी कहते हैं। उसका यही कारण है कि उन्होंने संसार के स्नेहानुबन्ध से अपने को पृथक कर लिया है।

प्रतिबन्ध रहित

आत्मा, खुद बन्धन सजता है। अपनी पराधीनता खुद तय्यार करता है,– स्वाश्रय से नहीं, पराश्रय से। पराश्रय से ही बन्धन में जकड़ाता है। पराश्रय का ही दूसरा नाम पराधीनता है। यह बन्धन (प्रतिबन्ध) चार प्रकार का है। यथा–

१ द्रव्य प्रतिबन्ध २ क्षेत्र प्रतिबन्ध ३ काल प्रतिबन्ध और ४ भाव प्रतिबन्ध।

किसी वस्तु के प्रति स्नेह से बँध जाना 'द्रव्य-प्रतिबंध' है। यह तीन प्रकार का होता है–१ सचित्त २ अचित्त और ३ मिश्र।

सचित्त द्रव्य बन्धन–संसारियों का माता, पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री, मित्र, ज्ञाति, दास, दासी, शुक आदि पक्षी और अश्वादि पशु पर स्नेह होता है। संसार त्याग देने पर भी यदि पूर्व प्रतिबन्ध कायम रहे अथवा शिष्यों और उपासकों का स्नेह, बन्धन रूप बन जाय, तो यह सचित्त द्रव्यबन्धन है। शिष्य प्राप्ति के लिए कई साधु-साध्वी मर्यादा से बाहर हो कर अनुचित प्रयत्न करते हैं। कई शिष्यों की मर्यादा-हीनता को चलाते रहते हैं। यह सब मोह के कारण होता है, यह सचित्त द्रव्यबन्धन है। भगवान् महावीर के अनगार महात्मा, ऐसे प्रतिबन्ध से दूर रहते थे यदि कोई उनका शिष्यत्व स्वीकार करता अथवा भगवान् द्वारा उन्हें नवदीक्षित शिष्य दिया जाता, तो वे उसे श्रुतज्ञान का अभ्यास कराते और उसकी संयम साधना में सहायक होते, किन्तु उसे अपने लिए बन्धन रूप नहीं बना लेते थे। तात्पर्य यह कि वे सचित्त द्रव्य-प्रतिबन्ध से रहित थे।

ममत्व होने पर वन्धन रूप हो जाते हैं। ममत्व के कारण ही इनका विशेष संग्रह होता है और वह परिग्रह रूप वन जाता है। वे पवित्र अनगार लघुभूत थे। यदि एक वस्त्र और एक पात्र से ही काम चल जाता, तो वे दूसरा लेते ही नहीं। आजकल उपकरणों की अधिकता, उन्हें सुन्दर वनाने की रुचि, रंगविरंगे पात्र, लकड़ी और कोई-कोई अपने तथा अपने साथ राज्याधिकारियों और नेताओं के लिए हुए फोटुओं का संग्रह अपने पास रखते हैं। यह साधुता की परिणति के विपरीत है। संस्थाओं के लिए धन संग्रह करवाने की प्रवृत्ति भी कहीं-कहीं देखी जाती है। यह सव निर्ग्रन्थता पर कलंक है। भगवान् के अंतेवासी अनगार इस प्रकार के अचित्त द्रव्य-प्रतिवन्ध से भी रहित थे। वे संतवर अपने तप से उत्पन्न लब्धियों से भी निरपेक्ष थे।

मिश्र द्रव्य-प्रतिवन्ध—सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के द्रव्य का सम्मिलित योग हो और उस पर जो स्नेह हो जाता है वह 'मिश्र-द्रव्य-प्रतिवन्ध' है। उपकरणादि युक्त शिष्य (मोहक उपकरणादि युक्त) अथवा जन प्रशंसित, उपाधिधारी व लौकिक डिगरी प्राप्त शिष्य के मोह में वन्ध जाना, लोकनेता तथा अधिकार सम्पन्न या धनवान उपासकों के प्रेम में वन्ध जाना, मिश्र-द्रव्य-प्रतिवन्ध है। इस प्रकार के प्रतिवन्ध से भी वे सच्चे श्रमण रहित थे। सम्राट श्रेणिक, कुणिक, उदयन और श्रेष्ठिवर आनन्द जैसे महान् गृहस्थ उपासकों पर भी वे मोहित नहीं थे।

इस प्रकार के द्रव्य प्रतिवन्ध से वे श्रमणवर रहित थे।

क्षेत्र वन्धन—क्षेत्र-प्रतिवन्ध भी उन निर्ग्रथों के नहीं था। "अमुक नगर अथवा गांव अच्छा है। वहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद एवं शरीर के अनुकूल है। आहारादि की प्राप्ति इच्छानुसार सरलता से हो सकती है। अमुक वन, उपवन, खेत और खलिहान, स्थंडिलादि के लिए सुखप्रद है। अमुक उपाश्रय, उसके कमरे, उसका आंगन, ये सव वैठने, सोने आदि के लिए अच्छे हैं। ऐसा साताकारी क्षेत्र दूसरा नहीं है। यह क्षेत्र मेरा अनुरागी है, इसलिए मुझे यहीं रहना चाहिए। अन्य क्षेत्र में जाने पर इतनी अनुकूलता नहीं मिलेगी, और यहाँ कोई दूसरा आ कर प्रभाव जमा लेगा, तो मैं घाटे में रहूँगा।" इस प्रकार क्षेत्र पर ममत्व कर के उसके स्नेह-वन्धन में वन्धा जाता है। भ० महावीर के वे द्रव्य-भाव श्रमण, इस प्रकार के क्षेत्र-प्रतिवन्ध से भी रहित थे।

काल वन्धन—उन निर्ग्रंथ भगवन्तों पर काल का वन्धन भी नहीं था। उनकी तप साधना में काल वाधक नहीं वन सकता था। वे यह नहीं सोचते कि "अभी समय अनुकूल नहीं है, इसलिए उग्र साधना नहीं कर के ढीला आचार ही चलने देना चाहिए।" वे सावधानीपूर्वक यथासमय आवश्यक साधना और प्रतिक्रमणादि करते थे, किन्तु काल के वन्दी वन कर साधना में पोल नहीं चलाते थे। वे वर्षाकाल

के चार महीने एक स्थान पर रह कर व्यतीत करते थे और शेप आठ महीनों में गाँव में एक+ रात्रि और नगर में पांच रात्रि रह कर आगे कूच करते जाते थे। कोई तिथि, नक्षत्र, वार, दिक्शूल, योगिनी और कालराहू, उनके विहार या धर्म-साधना में बन्धन रूप नहीं हो सकते थे।

भाव बन्धन–उन महर्षियों के भाव प्रतिबन्ध भी नहीं था। किसी पर क्रोध कर के वे वैरानुबन्ध नहीं रखते थे। मान को उन्होंने मन से छोड़ दिया था, माया की गांठ भी उनके हृदय में नहीं थी और लोभ के बन्धन को उन्होंने काट दिया था। उनमें भय अथवा हास्यादि की प्रवृत्ति नहीं थी अर्थात् आभ्यन्तर परिग्रह त्याग ही उनकी भाव-प्रतिबन्ध रहितता थी। इस प्रकार वे बन्धन-मुक्त–स्वतन्त्र विहारी थे।

वासी-चन्दन-कप्प–वे बन्धन रहित–स्वतन्त्र तो थे ही, किन्तु हृदय भी उनका कितना पवित्र कि जहां मानापमान के विचारों को ही स्थान नहीं। कोई उनकी अर्चना करे, वन्दना-नमस्कार करे, सत्कार करे और अपने को चरणों में अर्पण कर दे, तो उससे वे प्रसन्न नहीं होते, तथा कोई अपमान करे, ताड़ना-तर्जना करे और वध भी करे, तो वे नाराज नहीं होते थे। वे पूजक निन्दक तथा वधक पर समान भाव–राग-द्वेष रहित परिणाम रखने वाले थे। जिस प्रकार चन्दन को वसूले से छिलने पर भी वह सुगन्ध ही देता है, उसी प्रकार वे पवित्र अनगार, निरादर और ताड़ना-तर्जना करने वाले का भी हित ही चाहते थे।

समलेट्ठुकंचणा–मिट्टी और सोना दोनों एक समान। जिन्होंने परिग्रह को पाप का मूल जान कर त्रिविध त्याग दिया, वे मिट्टी और सोने में विपम भाव क्यों रखें ? जहां मिट्टी के प्रति उपेक्षा हो और सोने के प्रति प्रेम हो, वहां परिग्रह की गांठ होती है। उन महात्माओं ने तो मिट्टी और सोने को पुद्गल परिणाम मान कर और दोनों को पृथ्वीकाय के विभिन्न रूप समझ कर उदासीन हो गए थे। सोना ही क्या, मूल्यवान हीरे भी उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं रखते थे और वे उन्हें भी कंकर के समान उपेक्षणीय मानते थे। आत्मार्थियों के लिए सोने और हीरे-मोतियों का महत्व ही क्या ? वे तो सब को पर समझ कर परे ही रहते थे।

समसुहदुक्खा–वे पौद्गलिक सुख-दुःख–शुभ कर्मोदय से प्राप्त साता और अशुभ कर्मों से प्राप्त असाता (दुःख) में भी कोई भेद नहीं रखते थे। आत्मिक आनन्द के भक्तों को पौद्गलिक सुख कब लुभा सकता है ? पौद्गलिक सुखों को तो उन्होंने जानबूझ कर छोड़ा है और परीषहों तथा उपसर्गों की सेना से युद्ध करने के लिए डट गए हैं, फिर वे आरामतलबी को कब पसन्द करेंगे। सुखशीलियापन

+ एक रात्री का–'एकसप्ताह' जिसमें सातों वार आ जाय, और पांच रात्रि का मासकल्प (२६ दिन) अर्थ करने की परम्परा है।

तो उनमें था ही नहीं, न दुःख भीरुता ही उनमें थी। यदि परीषह उत्पन्न हों, तो शान्तिपूर्वक सहन करना और अनुकूल आहारादि प्राप्त हो, तो उनमें राचना नहीं। दोनों अवस्थाओं में समभावपूर्वक रहना उनका स्वभाव वन गया था। 'सुख टिका रहे और दुःख दूर हो जाय,'—इस प्रकार का विचार भी उनके मन में नहीं आता था।

इहलोग-परलोग-अपडिवद्धा—इस लोक औरप रलोक के वन्धन से रहित। उन पवित्र परमार्थगामी निर्ग्रंथों के लिये, इस मनुष्य-लोक में कोई वस्तु लुभावनी नहीं थी। इस लोक सम्वन्धी सुख, यश, पूजा, प्रतिष्ठा अथवा सत्कार के प्रति उनकी रुचि नहीं थी और न परलोक—स्वर्ग सम्वन्धी सुखों को ही वे चाहते थे। इहलोक सम्वन्धी सुखों की अप्राप्ति एवं अभाव से पीड़ित हो कर भी कई दीक्षित होते हैं, और दीक्षित होने पर उसमें से अनेक तो अपनी कामनाओं को भस्म कर के विना किसी भौतिक इच्छा के मोक्ष साधना करते रहते हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं, जो या तो इस लोक सम्वन्धी सुखों की कामनाओं को मन में वनाये रखते हैं, या दैविक सुखों की लालसा हृदय में दवाये रखते हैं। श्री स्थानांग सूत्र ३–२–१५७ में इस प्रकार की लालसा युक्त दीक्षा ग्रहण करने वाले की दीक्षा को '**इहलोग पडिवद्धा, परलोगपडिवद्धा, उभयलोगपडिवद्धा**' वतलाया है। ऐसे साधक मात्र द्रव्य-साधु ही हो सकते हैं—भाव-साधु नहीं और ऐसी साधना मिथ्यादृष्टि भी कर सकते हैं। इहलोगादि वन्धन से युक्त प्रव्रज्या मोक्षदायिनी नहीं होती। जव उसमें से प्रतिवन्ध निकल कर '**अपडिवद्धा**' प्रव्रज्या होती है, तभी परमार्थ-गामिनी हो कर मोक्ष-प्रदायिका होती है।

आजकल तो कुछ साधु स्पष्ट रूप से कहने लगे हैं कि उनकी दीक्षा 'लोक-सेवा' के लिए है। मोक्षसाधना के सिद्धांत को ही वे गलत वतलाते हैं। स्वर्ग के विषय में उनकी श्रद्धा ही नहीं है। ऐसे साधु इस लोक के वन्धनों से वन्दी हैं। ऐसे इहलोक-प्रतिवद्धों की साधना का फल संसार ही है।

वे लोकोत्तम मुनिवर, न तो इस लोक के स्नेह-पाश में वँधे थे, न परलोक का सुनहरी एवं मोहक सुखसागर उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर सका था। वे दोनों ही प्रकार के वन्धनों से रहित—अप्रतिवद्ध थे।

संसारपारगामी—प्रश्न हो सकता है कि 'जव वे इस लोक से सम्वन्धित नहीं थे और परलोक से भी सम्वन्धित नहीं थे, तो उनका ध्येय क्या था? आखिर कुछ न कुछ तो लक्ष्य रहा ही होगा उनका? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वयं सूत्रकार कहते हैं कि वे 'संसार पारगामी थे।' इस अनादि अनन्त चतुर्गति रूप संसार-समुद्र से पार होने के लिए वे प्रयत्नशील थे। उनका ज्ञान, ध्यान, संयम, तप और कष्ट सहन, सव संसार के उस पार पहुँचने के लिए था, जहाँ जन्म, मरण, रोग, शोक, वियोगादि दुःख और नाशवान भौतिक सुख नहीं है। जहाँ अपने-आप में अनन्त सुखों का सागर परिपूर्ण रूप से भरा हिलोरें ले रहा है। उस अनन्त आत्मिक सुख रूपी समुद्र के सामने संसार का भौतिक सुख एक

बिन्दु के बराबर भी नहीं है। मुक्तात्मा में रहा हुआ आत्मिक सुख, मेरु पर्वत जितना है, तो संसार का नाशवान भौतिक सुख एक सरसव के दाने जितना भी नहीं है। प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे पद में तथा उववाई सूत्र में कहा है कि 'जो सुख आकाश के समस्त प्रदेशों में भी नहीं समा सकता, वह एक सिद्धात्मा में विद्यमान है। यह सुख साध्य है। प्रत्येक आत्मा को ऐसे सुख को प्राप्त करने का समान रूप से अधिकार है। किन्तु इसकी प्राप्ति उसी को होती है, जो इस पर दृढ़ श्रद्धा करे और श्रद्धा के बाद सम्यग् अभियान प्रारम्भ कर दे। इस लोक-परलोक से दृष्टि हटा कर संसार के उस पार पहुँचने का ही एक मात्र लक्ष्य रखे, तो देर-अबेर अवश्य ही पार पहुँच सकता है। यदि इसमें कठिनाई है, तो एक ही-श्रद्धा की। श्रद्धा होने में और टिकने में ही महान् बाधा होती है। दर्शन-मोहनीय कर्म का प्रबल प्रभाव, इस प्रकार की श्रद्धा होने में पूर्ण रूप से बाधक होता है और अनेक प्रकार के बाह्य निमित्त खड़े कर के आत्मा को भटकाता है। बड़े-बड़े साधुओं को भी इस मिथ्यात्व ने भटका दिया और वे मोक्ष के साधक (संसार त्यागी) कहे जा कर भी मोक्ष के विषय में कुश्रद्धा फैलाते हैं और संसार के गुणगान करते हैं।

अनन्त आत्मिक सुख रूप मोक्ष पर एक बार दृढ़ श्रद्धा जिसकी हो गई, वह कभी न कभी श्रद्धा को सफल करने का भी प्रयत्न करेगा और एक दिन ऐसा भी आयगा कि वह उस अनन्त सुख का स्वामी बन जायगा। एक बार के आत्माङ्कित हुए संस्कार महान् दुर्दशा से भी निकाल कर ऊपर उठा देंगे और उसे 'संसारपारगामी' बना देंगे। अनन्त काल के अनन्त जन्मों में, मिथ्या श्रद्धान तो अनन्त बार की, किन्तु जिनेश्वर भगवान् फरमाते हैं कि 'हे भव्यात्मा ! तू एक बार संसारपारगामी होने की श्रद्धा कर ले, अरे एक बार-एक मुहूर्त के लिए भी तू दृढ़तापूर्वक 'मोक्ष' की वास्तविक श्रद्धा कर ले, फिर देख ! तेरी आत्मा, अर्ध पुद्गल-परावर्त्तन काल से पहले ही परमात्मा बन कर अनन्त आत्मिक सुखों की स्वामीनि बन जायगी। हां, भगवान् के वे अनगार भगवंत संसारपारगामी थे। संसार के भले-बुरे से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। संसार में लोग सुखी हैं या दुःखी, रोगी हैं या निरोग, भूखे हैं या तृप्त और नंगे है या ढके, उन पर अत्याचार हो रहे हैं या सुख-समृद्धि बरसाई जा रही है, फसलें ठीक होती है या नहीं, वे नीति पर चलते हैं या अन्याय का आचरण करते हैं और आपस में हिलमिल कर सम्प से रहते हैं या लड़ाई झगड़ा करते हैं। इस प्रकार की चिन्ता-विचारणा से वे परे ही रहते थे। क्योंकि वे 'इहलोक-प्रतिबद्ध' नहीं हो कर 'संसारपारगामी' थे। वे समझते थे कि संसार के ये झगड़े आज-कल के नहीं हैं, किंतु अनादि काल के हैं। इनकी समस्याओं का हल आज तक नहीं हुआ। संसारी लोग अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते ही हैं। हम तो इन समस्याओं को संसार में ही छोड़ कर आये हैं। हमारे सामने संसार से पार होने की ही एक समस्या है-समस्या नहीं, कर्त्तव्य है। हमें यही करना चाहिए।' इस प्रकार उन पवित्र संतों का एकमात्र लक्ष्य संसार से पार होने का ही था।

निष्ठापूर्वक यथाशक्ति संयम का ठीक पालन करते हैं, तो दूसरे क्यों नहीं कर सकते ? क्या काल और संहनन दोष उन्हीं पर असर कर गया ? आज कई साधु, अल्प उपधि से काम चलाते हैं, तब बहुत-से साधु-साध्वी ऐसे हैं कि जिनके उपकरण मर्यादातीत हैं। प्लास्टिक के कई रंगीन प्याले, रकाबियें, गिलासें आदि रखते हैं। वस्त्रादि की मर्यादा भी नहीं निभाते। ज्ञान-ध्यान में जिनकी रुचि ही नहीं रही, व्यर्थ की वातों में समय विताने अथवा कर्म-बन्धन बढ़ाने वाली सांसारिक चर्चा में जिनका समय व्यतीत होता है। कई लौकिक पुस्तकें, समाचारपत्रादि पढ़ने के शौकीन हैं। इस प्रकार की दूषित प्रवृत्तियाँ भी क्या काल और संहनन दोष से हैं ? नहीं, यह चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय का परिणाम है और उस उदय के वश में हो कर वे तदनुसार असंयमी प्रवृत्तियें करते हैं और उदय को विफल करने में सावधान नहीं होते। यदि उपरोक्त लेख से त्यागी पाठकगण सावधान हो जायँ, तो वे भी लगभग वैसे ही अनगार भगवंत हो सकते हैं और श्रावक-समुदाय सावधान हो जाय, तो उसके योग से श्रमण संघ का भी हित हो सकता है।

अनगार भगवंत की उपमाएँ

१ **कांस्य-पात्र के समान**–भगवान् महावीर के अन्तेवासी निर्ग्रंथ, कांस्य-पात्र के समान स्नेह रहित थे। जिस प्रकार कांसी के पात्र पर पानी नहीं ठहरता, उस पर से फिसल जाता है, उसी प्रकार वे मुनिराज भी स्नेह रहित थे। मोह को जीतने के लिए स्नेह रहित होना आवश्यक भी है। स्नेही जीव, निर्मोही नहीं हो सकता और मोह नष्ट हुए बिना वीतरागता भी प्राप्त नहीं हो सकती।

२ **शंख के समान**–वे शंख के समान श्वेत थे। जिस प्रकार शंख पर किसी भी प्रकार का दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार वे प्रेम रंग से वंचित थे। संसारियों और भौतिक वस्तुओं तथा अपने शरीर के प्रति भी उनका प्रेम-राग नहीं था।

३ **जीव के समान**–वे जीव के समान सीधी गति वाले थे। जिस प्रकार पर-भव जाते हुए जीव की गति, किसी से भी नहीं रुक सकती, उसी प्रकार वे महात्मा, जिस दिशा की ओर विहार करते, उधर चले ही जाते। शहर गाँव और अच्छे-बुरे क्षेत्र, उनकी गति अथवा दिशा को मोड़ नहीं सकते। यदि मार्ग में भयानक जंगल आ जाय अथवा आहारादि की अनुकूलता नहीं हो, तो वे इससे नहीं रुक सकते और आर्य-देश में विचरते ही रहते थे। आत्मिक पथ–मोक्ष में भी वे बिना रुके आगे बढ़ते ही जाते थे।

४ **शुद्ध स्वर्ण के समान**–वे मुनि मतंगज शोधित स्वर्ण के समान कीट रहित निर्मल थे। जिस प्रकार

सोने को कीट नहीं लगता और वह सुन्दर दिखाई देता है, उसी प्रकार उनकी आत्मा पर कर्म रूप कीट नहीं चढ़ता था। आत्म-जाग्रति उनमें इतनी थी कि जिससे उनकी उज्ज्वलता निखरती ही जाती थी, उनकी आत्मा की चमक बढ़ती जा रही थी। उनका चारित्र सोने के समान निर्मल एवं निष्कलंक था।

५ **दर्पण के समान**—वे श्रमणवर आदर्श (दर्पण) के समान प्रकट भाव वाले थे। जिस प्रकार जैसा रूप होता है वैसा ही स्वच्छ दर्पण में दिखाई देता है, उसमें अन्तर नहीं आता, उसी प्रकार उन मुनिवरों का हृदय स्वच्छ था। भीतर और बाहर एक समान था। उसमें छुपाने जैसी कोई बात ही नहीं थी। उनके सरल एवं निष्कपट हृदय के दर्शन उनके चेहरे, उनकी वाणी और उनकी चर्या से ही हो जाते थे।

६ **कछुए के समान**—कछुए के समान उन यतिवरों की इन्द्रियें गुप्त थी। अपनी श्रोत्रादि इन्द्रियों को उन्होंने इस प्रकार अधिकार में कर लिया था कि जिससे उनके द्वारा उनके मन में विकार जाग्रत ही नहीं हो सकता था। वे विषयों को ग्रहण करने में उत्सुक नहीं रहती थी। मन पर अधिकार कर लेने से उनकी इन्द्रियाँ भी उनके आधीन हो गई थीं। इसका मुख्य कारण था ज्ञान का बलवान अवलम्बन। ज्ञान रूपी सुगन्धित पुष्पोद्यान में विचरण करने वाले उन महान् आत्माओं में विकारों की दुर्गन्ध पहुँच ही नहीं पाती थी। जिस प्रकार कछुए के अंगोपांग की रक्षा उसकी ढाल करती है, उसी प्रकार चारित्र रूपी ढाल के नीचे उन पवित्रात्माओं की इन्द्रियाँ दबी हुई थीं।

७ **कमल**—जिस प्रकार कमल का पत्र, कीचड़ से उत्पन्न हो कर भी कीचड़ से अलिप्त रहता है, कीचड़ तो ठीक, पर पानी से भी लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार उन महर्षियों की विषय-विकार रूपी कीचड़ से उत्पत्ति होते हुए भी वे उस कीचड़ से अलिप्त—भिन्न थे इतना ही नहीं वे संत मातापितादि के स्नेह रूप पानी (संसार समुद्र में डूबो देने वाले पानी) से भी वे ऊपर उठ चुके थे। अर्थात् कमल पत्र की तरह वे विषय-विकार रूपी कीचड़ और स्नेह रूपी पानी से ऊपर उठ कर अलिप्त हो चुके थे।

८ **आकाश**—वे आत्मावलम्बी वन्दनीय मुनिवर, आकाश की तरह आलम्बन रहित थे। आकाश अन्य द्रव्यों के लिये आधारभूत है, किन्तु आकाश के लिये कोई आधार नहीं है। वह स्वतः अपना और दूसरों का आधारभूत है। इसी प्रकार श्रेष्ठ मुनिवर भी अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के आश्रय+ से ही मोक्ष-मार्ग में विचरण करते थे। किसी असंयमी गृहस्थ अथवा सम्बन्धी के अवलम्बन की उन्हें आवश्यकता नहीं लगती थी। यद्यपि संयमी जीवन के लिये—१ छःकाय, २ गण, ३ राजा, ४ गृहपति और ५ शरीर का अवलम्बन स्वीकार किया गया है, तथापि वह निरवलम्बी साधना में सहायक होने के कारण ही ग्राह्य है। पृथ्वी चलने, फिरने, बैठने आदि काम में आती है। अप्काय पीने के काम में आता है। तेजस्काय के द्वारा प्रासुक बना हुआ आहार, स्थानांगसूत्र में वायु, भोजन और वस्त्र-पात्रादि

+ 'तत्थ आलम्बणं णाणं दंसणं चरणं तहा' (उत्तरा० २४)

में वनस्पति और ऊन का रजोहरण और कम्बलादि में त्रसकाय के अचित्त–मुकेलक पुद्गल काम में आते हैं। गण में रह कर संयम पालन किया जाता है। राजा के राज्य में विचर कर, संयमी जीवन बिताया जाता है। गृहपति द्वारा आश्रय-स्थान प्राप्त होता है और शरीर द्वारा ही आत्मा, संसार-समुद्र तिरता है। इस प्रकार इन पांच आलम्बन के सहारे से निरावलम्बी जीवन व्यतीत किया जाता है। जब तक ये पाँचों आलम्बन संयमी जीवन के सहायक होते हैं, तभी तक इनका उपयोग है। यदि इनमें से कोई भी बाधक बने, तो उसका त्याग कर दिया जाता है। यहाँ तक कि सदा का साथी और निरन्तर सहायक ऐसा शरीर भी यदि संयम का साधक नहीं रहता है, तो इसका भी त्याग किया जाता है और आहारादि का भी त्याग किया जाता है। वे मुनिवर इन पाँच अवलम्बनों का रुक्ष-भाव से और ज्ञान-दर्शन रूप संवल का हार्दिक लगन से अवलम्बन किये हुए थे। जब वे शरीर जैसे जीवनभर के साथी की भी चारित्र-साधना के आगे परवाह नहीं करते, तो गृहस्थों के आलम्बन के कायल वे कैसे हो सकते थे ?

वे श्रेष्ठ मुनिवर, स्वयं दूसरों के लिए अवलम्बनभूत थे। संयम-साधना में जिन राजाओं व गृहस्थों को अवलम्बनभूत माना है, उन्हीं राजा महाराजाओं के लिए वे अवलम्बनभूत होते थे। वे राजा और चक्रवर्ती सम्राट, अन्तर के उद्गार निकालते हुए कहते कि " साहुसरणंपवज्जामि " इतना ही नहीं, जिन छःकाय के निर्जीव कलेवर को आलम्बन माना, उन छःकाय के अनन्त जीवों के लिए भी वे उपकारक हैं–अवलम्बनभूत बन गये हैं। उन त्यागवीरों ने खुद आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर के उन जीवों को अपनी ओर से निर्भय बनाये हैं और उनके प्रताप से कई मनुष्य यावज्जीवन सर्वथा, और कइयों ने देश से त्याग कर अनन्त जीवों को अभयदान दिया है। उनके आश्रय से कई संयमी, अपना संयम पाल कर मोक्ष के साधक बनते थे। इस प्रकार वे दूसरों के लिए अवलम्बनभूत थे।

९ **वायु**–जिस प्रकार वायु, एक स्थान पर नहीं ठहरता, उसका कोई स्थान नहीं होता, उसी प्रकार मुनिराज के भी कोई घर नहीं होता। वे एक स्थान पर नहीं रह कर ग्रामानुग्राम विचरते ही रहते थे। वे किसी क्षेत्र, संघ अथवा व्यक्ति विशेष से बन्धे हुए नहीं थे। वायु, गरीब और अमीर, सब को स्पर्श करता है, उसी प्रकार वे निष्पृही मुनिराज, गरीब-अमीर का भेद रखे बिना सब को धर्मोपदेश-ज्ञान दान देते थे।

१० **चन्द्रमा के समान शीतल स्वभाव वाले**–जिस प्रकार चन्द्रमा, सौम्य और शीतल होता है। उसका शीतल प्रकाश रात्रि को सुहावनी बना देता है। गर्मी के दिनों में सूर्य के भीषण ताप से जब हम घबड़ा जाते हैं, तब चन्द्रमा के शीतल प्रकाश वाली रात्रि हमें बहुत ही शान्ति देती है, उसी प्रकार उन अनगार भगवन्तों की पवित्र लेश्या–शुभ परिणाम, सभी जीवों के लिए सुखदायक होते थे। संसार के त्रि-ताप से तपे हुए, घबड़ाये हुए और झुलसे हुए जीवों के लिए वे संतप्रवर, चन्द्रमा के समान शांति

प्रदायक थे। उनके चेहरे और वाणी से झरती हुई सुधा में सराबोर हो कर भव्य प्राणी अनुपम शांति का अनुभव करते थे।

अंधेरी रात में चन्द्रमा का प्रकाश, पथिकों के लिए आधारभूत होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व एवं अज्ञान रूपी भाव अन्धकार से भरे हुए इस भयानक संसार में, उन शीतल स्वभाव वाले संतों के ज्ञान का शीतल प्रकाश, मोक्ष-मार्ग के पथिकों के लिए शान्ति-दायक होता था। इस शीतल प्रकाश के अभाव से ही तो 'नन्द मनिहार' भटक कर मिथ्यात्व के गाढ़ अन्धकार में गिर गया था और आज भी लाखों भावुक भटक गये हैं।

११ सूर्य के समान तेजस्वी–जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से प्रकाशित हो रहा है, वैसे वे तपोधनी महात्मा अपने तप के तेज से देदिप्यमान हो रहे थे। तपस्या के प्रभाव से दुर्बल और निर्बल होते हुए भी आत्म-तेज बढ़ता है और उस आत्म-तेज के प्रभाव से तपस्वी के चेहरे का तेज भी बढ़ता है।

सूर्य का प्रकाश अन्धकार को मिटाता है, उसी प्रकार उन ज्ञानी महात्माओं का ज्ञान प्रकाश भी अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटाने वाला था। इस प्रकार भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगार सूर्य के समान तेजस्वी थे।

१२ सागर के समान गम्भीर–जिस प्रकार समुद्र गम्भीर होता है, वह क्षुद्र नाले की तरह छलक कर खाली नहीं हो जाता, उसी प्रकार वे महर्षि भी उदार और गम्भीर हृदयी थे। वे अनुकूल निमित्तों से प्रसन्न खुश नहीं होते और प्रतिकूल निमित्तों से नाराज नहीं होते तथा अनार्यों और म्लेच्छजनों के द्वारा दिये हुए कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन करते थे। उनकी गम्भीरता को भंग करने की शक्ति किसी देव-दानव में भी नहीं थी। वे 'नागश्री' का दिया हुआ हलाहल समान प्राणघातक तुम्बीपाक भी शान्ति-पूर्वक खा सकते थे और सोमिल द्वारा सिर पर आग भी रखवा सकते थे। क्या क्षमासागर अर्जुन मुनिराज की क्षमा असाधारण नहीं थी? इस प्रकार भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगार भगवंत, समुद्र के समान क्षमा के सागर और गम्भीर थे।

१३ पक्षी के समान बन्धन-मुक्त–जिस प्रकार पक्षियों के आकाश-विहार में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, वे स्वेच्छा से जहाँ चाहे चले जाते है, उसी प्रकार वे उन्मुक्त विहारी अनगार भी क्षेत्र विशेष के प्रतिबन्ध से रहित थे। वे अपनी मुनि मर्यादानुसार विचरते ही रहते थे। स्वजनादि का मोह अथवा स्थान या क्षेत्र-मोह के बन्धन से वे मुक्त थे। अनुयायिओं का प्रेम भी उन्हें नहीं रोक सकता था। जब तक जंघाबल साथ देता, तब तक वे अपने कल्प के अनुसार, बिना किसी प्रतिबन्ध के विहार करते रहते थे।

१४ मेरु पर्वत के समान स्थिर–जिस प्रकार सुमेरु पर्वत भयंकर बवण्डर से भी कम्पित नहीं होता और स्थिर रहता है, उसी प्रकार वे दृढ़ संयमी अनगारसिंह, संयम साधना में उपस्थित होते हुए

भयंकर उपसर्ग से भी नहीं डिगते, और संयम में अधिकाधिक स्थिर रह कर मृत्यु का भी सामना करते रहते थे। उन्हें न तो अनुकूल (स्त्री एवं सत्कार) परीषह डिगा सकते थे और न प्रतिकूल (रोग एवं वधादि) परीषह डिगा सकते थे। वे परीषहों और उपसर्गों के सामने धीर-वीर हो कर डट जाते थे।

१५ शरद ऋतु के जल के समान निर्मल–जिस प्रकार वर्षा के समाप्त हो जाने के बाद शरद ऋतु में जल निथर कर निर्मल हो जाता है, उसमें वर्षा के कारण बह कर आई हुई गंदगी और कूड़ा-कर्कट नहीं रहता, उसी प्रकार संसार त्यागने के बाद उन श्रमणवरों का हृदय भी निर्मल रहता था। उदय भाव के प्रवाह के कारण संसारावस्था में विषय-विकार रूपी आई हुई गंदगी, उन संतप्रवरों के हृदय से दूर हो कर शुद्धता आ गई थी। अब उनके पवित्र हृदय में अप्रशस्त राग-द्वेष के लिए स्थान नहीं रह गया था। जिस प्रकार शरीर का मैल, निर्मल जल से दूर होता है, उसी प्रकार वे निर्मल आत्माएँ, भव्यात्माओं के आत्म-मैल को दूर करने में सहायक होती थी।

१६ गेंडे के सींग के समान एकाकी–जिस प्रकार गेंडे के एक ही सींग होता है। वह उस एक ही सींग से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार वे अनगार, राग-द्वेष से रहित आत्मनिष्ठ हो कर विचरते थे। उनका आत्मनिष्ठा रूपी एकाकीपन, रक्षक बन कर उनकी विजय-कूच को आगे बढ़ा रहा था।

१७ भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त–शास्त्रों में आया है कि भारंड पक्षी आकाश में ही उड़ता रहता है, जब वह आहार के लिए पृथ्वी पर आता है, तो पूरी सावधानी के साथ, अपने पंखों को फैला कर ही बैठता है और जहां खतरे की आशंका हुई कि फौरन उड़ जाता है। उसी प्रकार भ० के साधु भी अपने ज्ञान-ध्यान रूपी धर्मोद्यान में ही विचरते रहते थे। वे गृहस्थों के संसर्ग में नहीं रहते थे। जब उन्हें आहारादि की आवश्यकता होती, तभी गृहस्थों के घरों में जाते थे और कार्य होते ही शीघ्र लौट आते थे। गृहस्थों के यहाँ वे अप्रमत्त–सावधान हो कर यह ध्यान रखते थे कि कहीं उनकी पवित्र साधुता एवं विशुद्ध समाचारी में दोष नहीं लग जाय। जहाँ दोष की आशंका होती, वहाँ से वे उसी समय चल देते थे। इस प्रकार वे अपनी संयम साधना में सदा सावधान रहते थे।

१८ हाथी के समान शौर्यवंत–जिस प्रकार हाथी, युद्ध में डट जाता है और भयंकर घाव लगते हुए भी पीछे नहीं हटता, उसी प्रकार वे शूरवीर मुनिवर भी परीषह रूपी सेना के सामने डट जाते थे। वे आपत्तियों से घबड़ा कर कभी पीछे पाँव नहीं रखते थे।

१९ वृषभ जैसे भारवाहक–जिस प्रकार मारवाड़ का धोरी वृषभ, उठाये हुए भार को उत्साह पूर्वक यथास्थान पहुँचाता है, उसी प्रकार वे उत्तम श्रमण, स्वीकार किये हुए संयम का, चढ़ते हुए भाव से यथाविधि जीवन पर्यन्त निर्वाह करते थे। उनके परिणामों में शिथिलता नहीं आती थी। वे गलियार बैल जैसे नहीं थे। वे धोरी एवं जातिवन्त वृषभ के समान थे।

२० सिंह के समान विजयी–जिस प्रकार सिंह, किसी भी पशु से पराजित नहीं होता, उसी

प्रकार वे श्रमण-सिंह, न तो परीषहों से पराजित होते थे, न मिथ्यात्व और अज्ञान के आक्रमण से भयभीत होते थे और पाखण्डियों के प्रहार भी उन पर व्यर्थ हो जाते थे। वे सिंह के समान निर्भीक हो कर अपनी संयम-यात्रा को आगे ही बढ़ाते जाते थे।

२१ पृथ्वी के समान सहनशील–जिस प्रकार पृथ्वी सर्दी, गर्मी, कूड़ा-कर्कट, विष्ठा, मूत्र तथा हल-कुदालादि के प्रहार सहती हुई भारवहन करती है, उसी प्रकार वे निर्ग्रंथ मुनिराज, अपने को वन्दन करने वालों तथा गाली देने और प्रहार करने वालों के प्रति समभाव रखते हुए, सभी प्रकार के कष्टों को सहन करते थे।

२२ घृत सिंचित अग्नि के समान देदीप्यमान–जिस प्रकार घृत से सिंचन की हुई अग्नि, विशेष रूप से जाज्वल्यमान होती है, उसी प्रकार वे उत्तम श्रमणवर, ज्ञान और तपस्या के तेज से देदीप्यमान थे।

अग्नि अपने को और दूसरों को प्रकाशित करती है, किन्तु वह किसी दूसरे से प्रकाशित नहीं होती, उसी प्रकार भ० महावीर के तपोधनी निर्ग्रंथ, अपने ज्ञान और तप के प्रभाव से स्वयं देदीप्यमान थे और दूसरे भव्य प्राणियों को भी प्रभावित करते थे, किन्तु उन्हें कोई प्रभावित नहीं कर सकता था।

भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगार भगवन्तों की २२ उपमाओं का यह वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार किया गया है। इस सूत्र में इतनी ही उपमाएँ हैं। किन्तु प्रश्नव्याकरण सूत्र श्रु. २ अ० ५ में नीचे लिखी ९ उपमाओं का वर्णन भी है। पाठकों के ज्ञानार्थ वे भी यहाँ दी जा रही है।

२३ राख से ढकी हुई अग्नि के समान–जिस प्रकार राख में दबी हुई अग्नि, ऊपर से दिखाई नहीं देती। ऊपर तो केवल राख ही दिखाई देती है, किन्तु उसके नीचे जाज्वल्यमान–प्रकाश देने वाली अग्नि अवश्य है। ऊपर राख आ जाने से अग्नि का तेज नष्ट नहीं हुआ। उसी प्रकार उन तपस्वी संतों का शरीर दुर्बल, रुक्ष और निस्तेज होते हुए भी उसमें तप के द्वारा प्रकाशमान और तेजस्वी आत्मा विद्यमान थी। अग्नि पर राख आ जाने से उसका तेज बाहर नहीं निकलता–भीतर ही दबा रहता है, किन्तु उन तपोधनी महात्माओं का आत्म-तेज, दुर्बल देह पर भी झलकता था। प्रातःस्मरणीय श्री धन्ना अनगार का शरीर, तपस्या की भट्टी में जल कर निस्तेज हो गया था, किन्तु आत्म-तेज इतना बढ़ गया था कि उसकी आभा, कृश शरीर पर भी प्रकट हो रही थी–'**तवरूवलावण्णे होत्था।**'

जब देह-दृष्टि होती है और आत्मा की ओर दुर्लक्ष होता है, तब शरीर की कान्ति बढ़ती है और आत्म-तेज घटता है, किन्तु जब देह-दृष्टि छूट कर आत्म-दृष्टि होती है तो तपस्या होने से शरीर का तेज घटता है और आत्म-तेज बढ़ता है। बढ़ते-बढ़ते वह इतना बढ़ जाता है कि उसकी दीप्ति शरीर पर भी झलक उठती है। उनकी देह कृश और आत्मा पुष्ट होती है। भगवान् महावीर प्रभु के पवित्र अनगार, राख में ढँकी हुई अग्नि के समान शरीर से दुर्बल और मुरझाये हुए हो कर भी आत्म-तेज से अपने-आप प्रकाशित हो रहे थे। शुभ योग से उनकी आत्म-पवित्रता अपना तेज फैला रही थी।

२४ गोशीर्ष चन्दन के समान-गोशीर्ष चन्दन शीतल और सुगन्धित होता है। उसके विलेपन से शरीर शीतल और सुगन्धित होता है, उसी प्रकार वे उत्तम मुनिराज, कषायाग्नि के शान्त हो जाने से शीतल थे और उनके पवित्र चारित्र की सुयश रूपी मिष्ट सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। तपस्वी होते हुए भी वे स्वभाव से उग्र नहीं थे। तपस्या की पवित्र अग्नि में कषाय का कचरा बहुत कुछ भस्म हो चुका था। उनके आत्म-तेज का प्रकाश, उष्ण एवं ज्वलन गुण वाला नहीं, किन्तु चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश वाला था। उपासकों में उनके चारित्र की बहुत प्रशंसा होती थी। यह उनके चारित्र की सुगन्धि का प्रभाव था।

२५ सरोवर के समान शान्त-जिस प्रकार हवा के नहीं चलने से सरोवर का जल स्थिर और सम रहता है, उसमें लहरें नहीं उठती, उसी प्रकार कषायें उपशान्त हो जाने से उन महात्माओं में समत्व आ गया था। परिस्थिति की विषमता उन्हें उत्तेजित नहीं कर सकती थी। उनके परिणामों में विचलितता नहीं आती थी।

सरोवर के उदाहरण में एक चौभंगी भी बताई जाती है। वह इस प्रकार है-

१ कुछ सरोवर ऐसे भी हैं कि उनमें से पानी निकल कर बाहर बहता है, किन्तु बाहर से द्रह के भीतर नहीं आता, उसी प्रकार भगवान् महावीर के पास ऐसे बहुत से मुनिराज थे जिनके ज्ञान की गंगा बाहर बहती थी। वे दूसरों को ज्ञानामृत पिलाते थे। किन्तु किसी से ज्ञान ग्रहण करते नहीं थे, क्योंकि अपने विशिष्ट क्षयोपशम से पूर्ण श्रुत-ज्ञान प्राप्त कर के वे श्रुतकेवली हो गए थे। उन्हें पढ़ने योग्य श्रुत शेष रहा ही नहीं था। वे दूसरों को ज्ञानदान देते, परन्तु दूसरे से लेते नहीं थे+।

२ समुद्र में बाहर से पानी आता तो है, किन्तु बाहर जाता नहीं। उसी प्रकार कई मुनि ऐसे थे कि वे ज्ञान ग्रहण करते थे, पर किसी को देते नहीं थे। जो ज्ञानाभ्यास में ही लगे रहते थे, वे स्वतः ज्ञान ग्रहण करते थे, किन्तु औरों को उपदेश नहीं देते थे।

३ कुछ सरोवर ऐसे भी होते हैं कि जिसमें पानी बाहर से आता भी है और बाहर जाता भी है। उसी प्रकार कई मुनिवर, ग्यारह अंगों का ज्ञान दूसरे मुनियों को पढ़ाते भी थे और स्वतः पूर्वो का ज्ञान पढ़ते भी थे।

४ ढ़ाई द्वीप के बाहर ऐसे सरोवर हैं कि जिनमें न तो पानी बाहर से सरोवर में आता है और न सरोवर से बाहर निकलता है। उसी प्रकार भगवान् महावीर के कई अनगार भगवंत, जिनकल्प धारण कर के विचरते थे। कई श्रुत पढ़ लेने के बाद स्वाध्याय, ध्यान और तपादि में लीन रहते थे। वे न तो नया ज्ञान पढ़ते थे और न किसी को पढ़ाते थे।

+ अवधि आदि ज्ञान का अभ्यास नहीं किया जाता, वे तो क्षयोपशम और क्षायिक भाव से आत्मा में ही प्रकट होते हैं।

इस प्रकार भगवान् महावीर प्रभु के शिष्य अनगार, सरोवर के समान शान्त और गम्भीर थे।

२६ ठूंठ के समान–जिस प्रकार सूखे हुए वृक्ष का ठुंठ निश्चल खड़ा रहता है और वायु के प्रचण्ड वेग से भी वह नहीं हिलता, उसी प्रकार कायोत्सर्ग में अडोल खड़े हुए मुनिराज, भयंकर उपसर्ग आने पर भी निश्चल और अडिग ही रहते थे।

२७ शून्य गृह के समान–जिस प्रकार सूना अथवा वीरान घर अस्वच्छ रहता है, उसकी सफाई नहीं होती, उसी प्रकार वे आत्मार्थी मुनिवर, अपने शरीर की सार-सँभाल नहीं करते थे। देह की सफाई-सजाई की ओर वे ध्यान ही नहीं देते थे। उनका ध्यान आत्मा की सफाई की ओर था। वे आत्मा को अधिकाधिक स्वच्छ करने में लगे रहते थे। देह-दृष्टि का तो उन्होंने गृहत्याग के साथ ही त्याग कर दिया था।

२८ दीपक के समान–जिस प्रकार वायु रहित स्थान में, दीपक की लौ बुझती नहीं, और निष्कम्प हो कर जलती ही रहती है, उसी प्रकार वे उत्तम संत, शून्य घर आदि में ध्यान धर कर निश्चल खड़े रहते थे और परीषहों के उत्पन्न होने पर भी नहीं डिगते थे। वे वायु रहित दीपक की लौ के समान निष्कम्प रहते थे।

२९ उस्तरे की धार के समान–जिस प्रकार उस्तरे के एक ही ओर धार होती है, वह एक ओर से ही चलता है, उसी प्रकार उन उत्तम मुनिवरों की प्रवृत्ति भी एक उत्सर्ग-मार्ग पर ही होती थी। वे अपवाद-मार्ग का आश्रय ही नहीं लेते थे। क्योंकि अपवाद-मार्ग, कमजोरी–विवशता वश अपनाया जाता है। वे उत्तम मुनिवर, मृत्यु को स्वीकार कर लेते थे, परन्तु अपने मार्ग से पीछे हटना स्वीकार नहीं करते थे।

३० सर्प के समान एक दृष्टि वाले–जिस प्रकार सर्प अपने लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखता है, इधर-उधर (अगल-बगल) नहीं देखता, उसी प्रकार भगवान् महावीर के अंतेवासी श्रेष्ठ मुनिराज, केवल मोक्ष की ओर ही दृष्टि रख कर आराधना करते रहते थे। उनका लक्ष्य मोक्ष की ओर ही रहता था। देव अथवा मनुष्य सम्बन्धी सुख या संसार की ओर उनका लक्ष्य नहीं जाता था।

३१ सर्प-गृह के समान–जिस प्रकार सर्प अपने रहने का घर (बिल) नहीं बनाता, किन्तु दूसरे द्वारा बनाये हुए बिल में रहता है, उसी प्रकार गृहत्यागी अनगार भगवंत, अपने लिए घर का निर्माण नहीं करते, किन्तु गृहस्थों ने अपने लिए जो घर बनाये हैं, उसी में वे ठहरते हैं। सर्प तो बिल बनाने वाले की इच्छा के बिना, उसे दुखी कर के, जबरदस्ती कब्जा कर लेता है, किन्तु अनगार भगवंतों में यह विशेषता रही हुई है कि वे किसी पर बलजबरी नहीं करते। किसी का दिल नहीं दुखाते, अपितु खुशीपूर्वक दिये हुए प्रासुक स्थान का उपयोग करते हैं और इसी प्रकार निर्दोष आहारादि ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार ३१ उपमाओं से युक्त उत्तम मुनिराज, इस भारतीय भूमि पर विचर कर स्व-पर...

कल्याण साध रहे थे। 'दुनिया में क्या हो रहा है, जगत् का प्रवाह किस ओर जा रहा है, संसार क्या चाहता है, लोग किस ओर झुक रहे हैं, जनता की माँग क्या है,'—इस प्रकार की बातें उनके मानस-क्षेत्र में उत्पन्न ही नहीं होती थी। चेड़ा-कुणिक का महान् संहारक युद्ध भी उनको विचलित नहीं कर सका। उनकी मोक्ष-साधना उस समय भी अबाध गति से चलती ही रही। उन्हें अपने धर्म की ही परवाह थी। दुनिया के वातावरण से उनका कोई वास्ता नहीं था। यदि कोई जिज्ञासु बन कर उनके समीप आता, तो उसे अपनी सीधी-सादी भाषा में, मोक्ष-मार्ग का उपदेश करते, अन्यथा अपने ध्यान में लीन रहते। उन्हें उपदेश देने, जाहिर व्याख्यान करने और अधिक से अधिक संख्या में सभा इकट्ठी करने का शौक नहीं था। शब्दाडम्बर और पाण्डित्य-प्रदर्शन से वे दूर ही रहते थे। इस प्रकार के ध्येयनिष्ठ निर्ग्रन्थ अनगार ही खरे तिन्नाणं तारयाणं होते थे। खुद को भुला कर दूसरों के तारक बनने की बुराई उनमें नहीं थी। उन पवित्र संतों के प्रताप से ही महान् ऋद्धिशाली देव, अपने प्रिय आमोद-प्रमोद को छोड़ कर, उन महर्षियों की चरण-वंदना करने के लिए इस पृथ्वी पर आते थे और उनके चरणों में अपनी भक्ति समर्पित कर के अपने को धन्य मानते थे।

कुछ आपवादिक नियम

महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि चारित्र का पालन करना उत्सर्ग-मार्ग है। सामान्य नियमों का पालन उत्सर्ग-मार्ग है और परिस्थिति विशेष के कारण विवश हो कर संयम अर्थात् मूल नियम की रक्षा के लिए रुक्ष-भाव से, दोषों का कुछ अंश में सेवन किया जाय, तो वह अपवाद-मार्ग है। कुछ साधुओं को विकट रोग आ घेरते हैं और साध्वोचित साधारण उपचार करने से रोग की उपशान्ति नहीं होती हो तथा वह रोग मानसिक संक्लेश का कारण हो कर हीयमान परिणाम का निमित्त बनता हो, और रोगोपशान्ति के बाद साधु के पुनः संयम साधना में तत्पर होने की सम्भावना हो ऐसी दशा में विवशता पूर्वक संयम की रक्षा के लिए ऑपरेशन आदि करवाना पड़े, अथवा अन्य प्रकार से मारणान्तिक कष्ट जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय और दोष के सेवन किये बिना संयम, जीवन और संघ की रक्षा नहीं हो सकती हो, तो ऐसी अनिवार्य परिस्थिति में अपवाद सेवन किया जाता है।

अपवाद अधो अथवा उलटा मार्ग है। इसे 'प्रतिसेवना'—विपरीताचरण भी कहते हैं। संकट-काल में राजमार्ग छोड़ कर उन्मार्ग पर चलना या पीछे की ओर चलने लगना—पीछे हटना, अपवाद-मार्ग है। संयमप्रिय आत्मा, संकटकाल में उत्पन्न भय से बचने के लिए विवशतापूर्वक, अनिच्छा से संयम छोड़ कर असंयम में प्रवेश करते हैं, वह अपवाद-मार्ग है। ऐसे अपवाद में दोष सेवन होता है। उसका प्रायश्चित ले कर शुद्धि करना आवश्यक है। बिना शुद्धि किये निर्दोषिता नहीं होती।

अपवाद-मार्ग का आश्रय, उस विष-भक्षण के समान है, जिसे रोगी के हित के लिए कुशल वैद्य, रोगोपशांति के लिए, रोगी को उचित मात्रा में देता है। इस प्रकार अपवाद का सेवन भी गीतार्थ के आश्रय में होता है। वे उचित समझते हैं और दूसरा उपाय नहीं देखते हैं, तब अपवाद की व्यवस्था करते हैं।

छेद ग्रंथों में कहा है कि "उत्सर्गात् परिभ्रष्टस्य अपवाद गमनम्"—उत्सर्ग मार्ग से गिराव हो, तब अपवाद में गमन होता है। रुचि और उत्साहपूर्वक तथा साधारण अवस्था में अपवाद मार्ग नहीं अपनाया जाता। यदि कोई रुचि एवं उत्साहपूर्वक दोष लगावे, तो वह संयम से दूर माना जाता है।

संयम में दूषण लगाने के निम्नलिखित दस कारण स्थानांग सूत्र स्था० १० तथा भगवती सूत्र श० २५ उ० ७ में बताये हैं। यथा—

१ दर्प—अहंकार से। मान पूजा की भावना से या कषायवश दोष लगावे।

२ प्रमाद के चलते। आलस्य से अथवा संयम के प्रति उपेक्षा से।

३ अनाभोग—अनजानपने से।

४ आतुरता—रोगी की सेवा करने के लिए अथवा स्वयं भूख-प्यास आदि से पीड़ित होने पर।

५ आपत्ति से—संकट उपस्थित होने पर।

६ संकीर्णता—सँकड़ाई अथवा भीड़भाड़ के कारण।

७ अकस्मात्—अचानक दोष लग जाय।

८ भय से—भयभीत हो कर दोष लगाले।

९ द्वेष से—ईर्षा एवं द्वेष वश दोष सेवन करे।

१० विमर्श से—शिष्य की परीक्षा के हेतु दोष लगावे।

इस प्रकार दस कारणों से चारित्र में दोष लगता है। इनमें से दर्प, प्रमाद और द्वेष के कारण जो दोष लगाये जाते हैं, उनमें चारित्र के प्रति उपेक्षा का भाव और विषय-कषाय की परिणति मुख्य है। भय, आपत्ति और संकीर्णता में चारित्र के प्रति उपेक्षा तो नहीं, किन्तु परिस्थिति की विषमता—संकटकालीन अवस्था को पार कर, उत्सर्ग की स्थिति पर पहुँचने की भावना है। अनाभोग और अकस्मात् में तो अनजानपने से दोष का सेवन हो जाता है और विमर्श में चाह कर दोष लगाया जाता है। यह भावी हिताहित को समझने के लिए है। इसमें भी चारित्र की उपेक्षा नहीं है।

दर्प, प्रमाद और द्वेष के कारण प्रतिसेवना—विपरीताचरण किया जाता है, वहाँ शुद्धाचार के लिए अवकाश नहीं रहता। आगमों में जो आपवादिक नियम बनाये हैं, उनमें भय और आपत्ति के कारण ही अधिक लगते हैं और उन दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त भी लेना पड़ता है। आपवादिक नियमों में से कुछ ये हैं;—

१ अन्यतीर्थी तथा भिक्षुओं के साथ आहारादि लेने जाने की मनाई, आचारांग श्रु० १ अ० ८ उ० १ तथा श्रु० २ अ० १ उ० १ में की है। यह उत्सर्ग मार्ग है। किन्तु कठिन परिस्थिति वश साधु को अन्यतीर्थियों के साथ, गृहस्थ द्वारा इकट्ठा-सम्मिलित दिये हुए आहार का संविभाग करे और स्वयं भी ले, तो आज्ञा उल्लंघन नहीं करता। (आचारांग २-१-५)

२ वर्षाकाल में एक ही स्थान पर रहने की और विहार बन्द कर देने की आज्ञा, आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० ३ उ० १ में है। किन्तु ठाणांग ठा० ५ उ० २ में, कारण उपस्थित होने पर वर्षाकाल में भी विहार करे, तो यह अपवाद है (देखो वर्षावास प्रकरण)।

३ साधु को पानी में चल कर अथवा बरसते पानी में आहारार्थ जाने की मनाई है (दशवै० ५-१-८) किन्तु उच्चार की बाधा होने पर, उसे नहीं रोक कर बरसते पानी में भी जावे, तो आज्ञा का लोप नहीं होता।

४ यदि चक्कर का रास्ता हो, तो साधु पृथ्वी पर चल कर ही जाते हैं, पानी में हो कर-नदी उतर कर नहीं जाते। किन्तु दूसरा मार्ग नहीं होने पर एक माह में दो बार और वर्ष में नौ बार नदी उतर कर जावे, तो यह अपवाद है (दशाश्रुतस्कन्ध-२) तथा ठाणांग ठा० ५ उ० २ में नीचे लिखे पाँच कारणों से नदी उतरने का उल्लेख है;-

१ राजा अथवा अधिकारी द्वारा भय उपस्थित होने पर।
२ दुर्भिक्ष के कारण आहारादि अलभ्य हो जाने पर।
३ यदि कोई शत्रु, नदी में फेंक दे तो।
४ बाढ़ आने पर वह जाय तो।
५ म्लेच्छों द्वारा उपद्रव हो तो।

५ साधु और साध्वी एक स्थान पर नहीं ठहर सकते, साध्वी के स्थान पर साधु अकारण बैठ नहीं सकता, खड़ा भी नहीं रह सकता (बृहत्कल्प उ० ३) इतना ही नहीं, जिस ग्राम में जाने और आने का केवल एक ही द्वार हो और वहाँ साध्वी रही हुई हो, तो साधु नहीं रह सकते (बृहत्कल्प उ० १)

किन्तु निम्न कारणों से एक स्थान पर रहने का ठाणांग ठा० ५ उ० २ में उल्लेख है-

१ दुर्गम अटवी में एक स्थान पर रहना पड़े तो।
२ किसी ग्राम में ठहरने का दूसरा स्थान नहीं मिले तो।
३ नागकुमारादि के मन्दिर में साध्वियें ठहरी हों, वह मन्दिर सूना हो, भय-प्रद हो, या लोगों का आना-जाना भी हो, तो ऐसे स्थान पर साध्वी की रक्षा के लिए साधु, साध्वी के साथ ठहर सकते हैं।
४ चोर के द्वारा साध्वी के वस्त्रादि लूट जाने का भय हो तो।

५ दुराचारी पुरुष का भय हो तो।

६ साधु, साध्वी का संघट्टा भी नहीं कर सकते, यह उत्सर्ग मार्ग है। किन्तु ठाणांग ५-२ तथा वृहत्कल्प उ० ६ के अनुसार निम्न कारणों से साधु, साध्वी का हस्तादि ग्रहण कर सहारा देवे, तो आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता।

१ यदि कोई उपद्रवी साँड आदि साध्वी को मारने के लिए आ रहा हो।

२ दुर्गम स्थान से गिरती हुई साध्वी को बचाने के लिए।

३ कीचड़ अथवा दलदल में फँसी हुई अथवा पानी में वहती हुई साध्वी को निकालते।

४ नौका पर चढ़ते या उतरते समय साध्वी को सहारा देते।

५ यदि कोई साध्वी, राग, भय, अथवा अपमान से यक्षाधिष्टित होने से, उन्माद से, अथवा उपद्रवादि से या फिर क्रोधादि से उद्विग्न हुई हो, तो उसे स्थिर करने के लिए।

७ निम्न पाँच कारणों से वस्त्रधारिणी साध्वी, नग्न साधु के साथ रहती हुई भी आज्ञा की विराधिनी नहीं मानी जाती।

१ शोक के कारण व्याकुल बने हुए अकेले नग्न साधु को सान्त्वना देते।

२ हर्ष से उन्मत्त बने हुए साधु को स्थिर करने के लिए।

३ यक्षादि के आवेश वाले साधु को सम्हालते।

४ वात आदि रोग से उन्मादित होने पर।

५ किसी साध्वी ने अपने पुत्र को दीक्षा दिलाने के बाद दीक्षा ली हो और कारणवश (दूसरे साधु का संयोग मिले वहाँ तक) पुत्र को साथ रखना पड़े तो।

८ साधु को साध्वी से वैयावृत्य कराना नहीं कल्पता है, किन्तु दूसरे साधु का योग न हो, तो वैयावृत्य करा सकता है।

९ यदि रात्रि या विकाल में साधु को सर्पदंश हो जाय और उसका उपचार जानने वाला कोई पुरुष नहीं हो, तो स्त्री से उपचार करा सकते हैं। इसी प्रकार साध्वी, पुरुष से उपचार करा सकती है। (व्यवहार० ५)

१० साधु के पाँव में काँटा लग गया हो और निकालने वाले कोई निपुण साधु नहीं हो, तो साध्वी से निकलवाने का उल्लेख है। इसी प्रकार आँखों में पड़े हुए कचरे को निकालने की भी छूट है। यही छूट साध्वी को साधु से काँटा आदि निकलवाने की है (वृहत्कल्प ६)।

११ जहाँ स्त्रियाँ रहती हो, वहाँ साधु नहीं जाते, तब राजा के अन्तःपुर (रनिवास) में तो जा

ही कैसे सकते हैं। किन्तु कारणवश अन्त:पुर में जाने की अनुमति भी ठाणांग ठा० ५ उ० २ में दी गई है। वे कारण ये हैं—

१ नगर के चारों ओर किला-प्रकोट हो और उसके दरवाजे बन्द किये गये हों, इस कारण बहुत से श्रमण-ब्राह्मण आहारादि के लिए न तो बाहर जा सकते हों और न बाहर से भीतर आ सकते हों। ऐसी दशा में अन्त:पुर में रहे हुए राजा को समझाने के लिए अथवा राज्याधिकार प्राप्त रानी को समझाने के लिए जाना पड़े तो।

२ यदि पडिहारे पाट-पाटले, शय्या-संस्तारक वहाँ से लाये हों, तो वापिस लौटाने के लिए।

३ मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा आदि आ रहा हो और साधु, अन्त:पुर के समीप ही हो, तो उससे बचने के लिए।

४ यदि कोई बरबस पकड़ कर अन्त:पुर में ले जाय तो।

५ किसी उद्यान में साधु ठहरे हों और वहाँ अन्त:पुर-रानियें भी पहुँच गई हों और वे साधु के चारों ओर बैठ जाय तो।

१२ साधु, हरी वनस्पति को नहीं छूते और संघटा टालते हैं, किन्तु अन्य मार्ग के अभाव में विषम-मार्ग से जाना पड़े और गिर पड़ने का भय हो, तो वृक्ष या लता को पकड़ कर अपने को बचावे, तो अपवाद है● (आचारांग २-३-२)।

१३ "**एगो एगित्थिए सद्धिं णेव चिट्ठे न संलवे**" (उत्तरा० १-२६) यह उत्सर्ग-मार्ग है, किन्तु निम्न कारणों से बातचीत कर सकते हैं—

१ मार्ग पूछने के लिए, २ मार्ग बताते हुए, ३ आहारादि देते हुए और ४ आहारादि दिलाते हुए। इन कारणों से बातचीत करता हुआ जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। (ठाणांग ठा० ४-२)

१४ जिस स्थान में अचित्त ठंडे अथवा गरम पानी के घड़े रखे हों, मदिरा के घड़े हों, रात भर दीपक या अग्नि जलती हो, तो ऐसे स्थान पर साधुओं का ठहरना निषिद्ध है। किन्तु अन्य स्थान नहीं मिले, तो अपवाद स्वरूप वहाँ एक या दो रात्रि ठहर सकते हैं। इसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। यदि दो रात्रि से अधिक ठहरे, तो प्रायश्चित्त आता है। (बृहत्कल्प उ० २)

● टब्बाकार श्री पार्श्वचन्द्रजी इसका अर्थ यों करते हैं कि—'ऐसे विषम मार्ग से साधु नहीं जावें, जिससे वृक्ष-लतादि अथवा पथिक का हाथ पकड़ना पड़े, इसे केवली भगवान् ने कर्म-बन्धन का कारण बताया है।

१५ स्वामी की आज्ञा के बिना मकान में प्रविष्ट हो कर ठहरना और पीठ-फलकादि काम में लेना निषिद्ध है। किन्तु वर्षादि विशेष कारण से शय्यातर की अनुपस्थिति में, शय्यासंस्तारक विना आज्ञा ले कर, फिर आज्ञा प्राप्त की जा सकती है। यह अपवाद है। (व्यवहार सूत्र उ० ८ सूत्र १०)

अपवाद का सेवन, शक्ति-सामर्थ्य की कमी के कारण, विकट प्रसंग उपस्थित होने पर, स्थविर-कल्पी साधु-साध्वियों में से कोई करते हैं। जिनकल्पी या कल्पातीत महात्मा अपवाद सेवन नहीं करते। वे शूरता के साथ उत्सर्ग-मार्ग में अडिग रहते हैं। स्थविरकल्पी साधुओं में अपवाद सेवन के प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं और वे अपवाद का सेवन करते हैं, तो लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त ले कर शुद्ध भी होते हैं। जैसे-

साधु-साध्वियों को फोड़ा-फुन्सी गांठ आदि खुलवाने, चर्म छेद करवाने (ऑपरेशन करवाने) का निषेध है। परन्तु यदि कोई व्रणादि का छेदन कर मवाद निकाले, धोए और दवा लगावे, तो यह अप-वाद है। इसका प्रायश्चित्त निशीथ उ० ३ में बताया है। यदि यही कार्य दूसरे साधु से करवाया जाय तो उसका प्रायश्चित्त निशीथ उ० ४ में और गृहस्थादि से करवाये जायँ तो उ० १५ में प्रायश्चित्त विधान किया है। इस प्रकार सदोष अपवाद का प्रायश्चित्त ले कर निर्दोष बनना आवश्यक है। किन्तु मध्यकाल के कुछ भाष्य और चूर्णिकारों ने सदोष अपवाद को भी-'कल्पनीय प्रतिसेवना' बता कर निर्दोष बताया है, यह अनुचित है। उन कल्पनीय प्रतिसेवनाओं में दुराचार का खुला रूप दृष्टिगोचर हो रहा है। जैसे कि निशीथ सूत्र के भाष्य-चूर्णि में लिखा है कि-

१ धूप की गरमी सहन नहीं हो, तो भूमि खोद कर, खूंटे गाड़े और कपड़ा तान कर छाया कर ले। (भाष्य गा० १६६ चूर्णि)

२ वनस्पति का मूल एवं जड़ें खोद कर खाने के लिए भूमि खोदे।

३ साधु, संघ और चैत्य के विरोधी को कठोर दण्ड देने या मारने के लिए, उसकी मिट्टी की मूर्ति बना कर मन्त्र प्रयोग करे और उस मूर्ति के मर्मस्थान में शूल भोंके। इससे विरोधी पीड़ित होता है और मर भी जाता है (भा० गा० १६७ चूर्णि)।

४ पृथ्वीकाय के समान अप्काय आदि की विराधना करने और फल-फूल आदि के लिए वनस्पतिकाय की हिंसा करने का विधान कर के उसे निर्दोष बताया है। वैरी को भयभीत करने के लिए कदलि का पेड़ काट कर उसे धमकी देवे कि-'यदि तू नहीं मानेगा तो तेरा मस्तक इस प्रकार काट दिया जायगा'-लिखा है (भा० गा० २५५ चू० तथा गा० ४०४१ चू०)।

सचित्त आम खाने (गा० ४६९५) अनन्तकाय खाने (गा० २५७) आदि कई पापों को निर्दोष बताया है।

५ त्रस जीवों की विराधना में-साधुओं के शत्रु, साध्वी का शील हरण करने वाले और चैत्य

तथा चैत्यद्रव्य का विनाश करने वाले मनुष्य को मार डालने का विधान कर के उसे भी निर्दोष बताया है।
(गा० २८९ चू०)

६ हिंसा के अतिरिक्त झूठ बोलने, अदत्तग्रहण आदि सभी पापों के सेवन को तथा स्वयं भोजन बना कर खाने और मांस-भक्षण तक का विधान कर के उसे भी निर्दोष बताया है।
(गा० ३४३९। ४३६ चू०)

७ कारणवश मैथुन सेवन भी कल्पनीय मान लिया गया है (गा० ३६३ से ३७५ और २२२९ से आगे) विस्तार से वर्णन किया गया है। किन्तु इसका कुछ प्रायश्चित्त भी बतलाया है (गा० ३७४)।

इस प्रकार के संयम-विघातक दुराचारी विधान, मध्यकाल की असंयमी तथा वेशोपजीवी स्थिति का परिणाम है। निर्ग्रंथ श्रमण, संयमप्रिय होते हैं। उनका चारित्र निर्मल होता है। चलने-फिरने में उपयोग रखते हुए भी अनजान में विराधना होने की सम्भावना का जो ईर्यापथिकी आलोचना कर के कायोत्सर्ग करने रूप प्रायश्चित्त लेते हैं, वे दुराचारी प्रवृत्ति को निर्दोष कैसे मान सकते हैं? सूत्रकार महर्षि, फोड़ा-फुन्सी को चिरा लगा कर मवाद निकालने और मरहम लगाने का भी प्रायश्चित्त विधान करें, तो इतने बड़े दुराचारों को निर्दोष कैसे बता सकते हैं? वास्तव में इस प्रकार के विधान, उस समय की संयम-हीन यति-परम्परा के भाष्य-चूर्णिकार विद्वानों की खुद की रुचि का प्रदर्शन है। उन्होंने अपने बचाव में ऐसे दुराचारी विधान कर दिये। इतना होते हुए भी उन्हें दुराचार बढ़ने का भय था, इसलिए उन्होंने ऐसे ग्रंथ को गुप्त रखा और विधान किया कि—प्रौढ़ अनुभवी गीतार्थ, दीर्घ एवं दृढ़ संयमी और गम्भीर महात्मा ही इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं। यदि किसी ने अनुभव-हीन, दुर्बल चारित्र, अपवाद-प्रिय, पासत्य, कुशीलादि साधु, श्रावक और गृहस्थ को यह ग्रन्थ बताया, तो वह प्रवचन-घातक—धर्म-शत्रु होगा।
(गा० ४९५—४९६ चू०)

इस प्रकार प्रतिबन्ध होते हुए भी इस विषमकाल का कुटिल प्रभाव, एक वेशोपजीवी दुराचारी साधु पर पड़ा और उसने इसे छपवा कर गृहस्थों ही नहीं, अजैन विद्वानों के पास पहुँचा दिया। पतनोन्मुखी साधुता के वंचनापूर्ण दुराचार में इस ग्रन्थ के निमित्त से खूब वृद्धि हुई। स्वच्छन्दीजन मूल आगमों के निषेधक विधान की उपेक्षा कर के इस ग्रन्थ को ही सर्वोपरि स्थान देने लगे। यह पतन का स्पष्ट प्रमाण है। धर्म-प्रियजन ऐसे दुराचार वर्धक और धर्म-घातक ग्रन्थों और उसके विधानों से अपने आपको वंचित रखें और आगमिक विधानों को मान्य करे। वास्तव में आगम ही मान्य होने चाहिए। इन आगमों के भाष्य-चूर्णि और टीका रूप विविध व्याख्याओं की वैसी बातें मान्य नहीं होनी चाहिए जो संयम-घातक हो, आगम विरुद्ध हो, निर्मूल हो और निर्ग्रन्थ संस्कृति के महत्व को गिराने वाली हो।

फुटकर विधान

अनगार धर्म से सम्बन्ध रखने वाले कुछ फुटकर नियम यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

१ इस लोक में अनेक प्रकार के वाद चल रहे हैं और लोगों के अनेक ही प्रकार के अभिप्राय हैं, किन्तु साधु को उन लौकिक वादों और अभिप्रायों में नहीं उलझ कर संयम में ही दृढ़ रहना चाहिए।
(उत्तरा० २१-१६ तथा सूयग० १-१-४-५)

२ आरम्भ-समारम्भ में जाते हुए मन, वचन और शरीर को रोके। (उत्तरा० २४)

३ अज्ञानी और अविरत जीवों की संगति से दूर रहना, गुरु एवं वृद्धजनों की सेवा करना और एकांत में शांतिपूर्वक स्वाध्याय करना तथा सूत्र और अर्थ का चिंतन करना—यही मोक्ष मार्ग है।
(उत्तरा० ३२-३)

४ यदि अच्छा (विनयी और आचारवंत) साथी नहीं मिले, तो समस्त पापों का त्याग कर के तथा काम-भोगादि में अनासक्त रहता हुआ, अकेला ही विचरे। (उत्तरा० ३२-५)

अकेला विचरना साधारणतया निषिद्ध है, क्योंकि इससे संयम-विघातक निमित्त उपस्थित हो कर पतन का कारण बनता है और मर्यादा का भंग होता है, किन्तु असंयमी व शिथिलाचारी के साथ रहने के बनिस्वत दृढ़ संयमी हो कर शुद्धाचारपूर्वक अकेला विचरना उत्तम बताया गया है।

५ संवर के द्वारा नये कर्मों को रोक कर, तप के द्वारा पुराने कर्मों को क्षय करे।
(उत्तरा० ३३-२५)

६ यदि साधु को रोग हो जाय, तो शरीर को नाशवान मान कर समभाव से सहन करे।
(आचा० १-५-२)

७ सोते समय सारे शरीर का प्रमार्जन कर के यतनापूर्वक शयन करना। श्वासोच्छ्वास, खाँसी, छींक अथवा उवासी आदि लेते समय, हाथ द्वारा मुख को ढक कर यतनापूर्वक उच्छ्वासादि लेना चाहिए। (आचारांग २-२-३)

[क्योंकि खाँसी आदि लेते समय मुख द्वारा वायु जोर से निकलती है, जिसमे मुखवस्त्रिका होते हुए भी अयतना हो जाती है। इस अयतना को रोकने के लिए ही यह विधान किया गया है।]

८ साधु, जहाँ सूर्य अस्त हो, वहीं ठहर जाय। (सूय० १-२-२-१४)

९ उत्तमोत्तम धर्म को सुन कर और संसार के समस्त सम्बन्धों को महान् आस्त्रव जनक—"**सव्वे संगा महासवा,**" समझ कर जीवनभर के लिए त्याग दे—उनकी इच्छा भी नहीं करे।
(सूय० १-३-२-१३)

१० मुनि, समस्त विश्व के प्रति समभाव रखे। वह न तो किसी का प्रिय करे और न किसी

का अप्रिय ही करे। (सूय० १-१०-७)

११ विश्व में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन सभी में विरति (निवृत्ति) धारण करे, क्योंकि विरति ही से निर्वाण होना बताया गया है। (सूय० १-११-११)

१२ मुनि को चाहिए कि संयम स्वीकार करने के बाद कर्म और शरीर को झटक दे-हलके कर दे-"**धूणे कम्म सरीरगं**" और रूखा-सूखा भोजन करे। (आचारांग १-२-६ तथा १-५-३)

१३ हे मुनि ! तू अपने शरीर को कृश तथा जीर्ण कर दे-"**कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं**" क्योंकि जिस प्रकार पुरानी लकड़ी शीघ्रता से जल कर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार स्नेह रहित-कमजोर बने हुए कर्म जल्दी नष्ट हो जाते हैं। (आचा० १-४-३)

१४ हे मुनि ! मोक्ष की ओर दृष्टि रख कर पौद्गलिक प्रतिवन्ध को तोड़ते हुए आरम्भ रहित हो कर विचर। (आचा० १-४-४)

१५ हे पुरुष ! तू परम दृष्टि = परमार्थ = मोक्ष की ओर दृष्टि रख कर संयम में पराक्रम कर "**-पुरिसा ! परमचक्खु विपरिक्कमे।**" (आचा० १-५-२)

१६ जिनाज्ञा के बाहर प्रवृत्ति और जिनाज्ञा में आलस्य नहीं करना चाहिए। (आचा. १-५-६)

१७ भगवान् ने जैसा आचार पाला है, वैसा ही पाले, किन्तु वैसा आचरण नहीं करे, जो भगवान् ने नहीं किया है। (आचा० १-२-६)

१८ जैसे दिवाल पर का लेप (लेवड़ा) हटा देने से दिवाल कृश हो जाती है, उसी प्रकार अनशन आदि तप के द्वारा शरीर को कृश कर देना चाहिए और अहिंसा धर्म का ही पालन करना चाहिए। (सूत्र० १-२-१-१४)

१९ जो कहते हैं कि गृहवास में रहते हुए भी धर्म का पालन हो सकता है, वे मोहान्ध हैं। अर्थात् अनगार-धर्म के विरोधी हैं। (सूय० १-३-२-१८)

२० जो भाट की तरह स्वार्थवश दूसरों की प्रशंसा करते हैं, वे 'मुखमंगलिक' हैं। (सूय० १-७-२५)

२१ कोई कितना ही भाग्यशाली, पराक्रमी, शक्तिशाली और लोकपूज्य हो, यदि वह मिथ्यादृष्टि हो, तो उसका उग्र आचार और विकट तप भी कर्म-फल बढ़ाने वाला ही होगा। (सूय० १-८-२२)

[कर्म नष्ट करने वाला पराक्रम, सम्यग्दृष्टि के सद्भाव में ही होता है]

२२ सभी प्राणियों में मैत्री भाव रखे। (सूय० १-१५-३)

२३ मोक्ष के प्रतिपादन में विशारद-कुशल हो कर असंयम का निराकरण करे और मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करे-"**भिक्खू मोक्ख विसारए।**" (सूय० १-३-३-११)

२४ साधु, परमार्थ = मोक्ष, का अनुगमन करे-"**परमट्ठाणुगामियं।**" (सूय० १-९-६)

२५ आत्मदृष्टि अथवा तत्त्वदृष्टि वाला पुरुष, माया से रहित होता है–"एगंतदिट्ठीए अमाई रूवे।" (सूय० १–१३–६)

२६ यदि दोषी साधु, रोगी हो जाय, तो उसे गच्छ के बाहर नहीं करे, किन्तु उसकी सेवा करे, और नीरोग हो जाने पर, दोषी की सेवा करने का प्रायश्चित्त ले। (व्यवहार २–७)

२७ वर्षा होते समय, धूंअर–कुहरा पड़ते समय, आँधी आदि से प्रबल वायु चलते समय, तथा मच्छर, तीड़ आदि त्रस जीव उड़-उड़ कर गिरते हों, उस समय गोचरी आदि के लिए नहीं निकले। (दशवै० ५–१–८)

२८ वेश्या के मुहल्ले में गोचरी नहीं जावे। (दशवै० ५–१–९)

२९ शंकास्पद सभी स्थानों का त्याग कर दे। (दशवै० ५–१–१५)

३० निषिद्ध कुलों में गोचरी नहीं जावे। (दशवै० ५–१–१७)

३१ यदि डाँस-मच्छर रक्त-मांस चूसे, तो उन्हें रोके नहीं। (उत्तरा० २–११)

३२ जो शब्दादि विषयों में अगुप्त है (विरत नहीं है) वह भगवान् की आज्ञा से बाहर है। (आचा० १–१–५)

३३ याचकों, पथिकों और भिखारियों को दान देने के लिए दानशालादि स्थापन करने के विषय में साधुओं से कोई दानी व्यक्ति प्रश्न करे, तो साधु उसकी न तो अनुमति दे और न निषेध ही करे, क्योंकि अनुमति देने से प्राणि-हिंसा की अनुमोदना होती है और निषेध करने से याचकों को अन्तराय लगती है। (सूय० १–११–१७ से २१)

३४ जिन कुकर्मों का प्रायश्चित्त कम नहीं हो सकता, ऐसे बड़े ५ कर्म हैं। यथा–

१ हस्तकर्म २ मैथुन ३ रात्रि-भोजन ४ शय्यातर-पिण्ड और ५ राज-पिण्ड। (ठाणांग ५–२)

३५ वाचना देने–ज्ञानाभ्यास कराने के अयोग्य––

१ अविनीत २ विगयगृद्ध–रस-लोलुप ३ क्रोधी और ४ कपटी। (ठाणांग ४–३)

३६ संमोहना–मिथ्यात्व वर्धक, कर्म बांधने के चार कारण। १ कुमार्ग देशना २ सद्मार्ग का आचरण करने वाले को अन्तराय डालना ३ कामासक्ति और ४ निदान करना। (ठाणांग ४–४)

३७ 'णो लोगस्सेसणं चरे–' लोकैषणा–जनता की गरज–लोकानुगमन अथवा समाज से संमान की आशा नहीं करे। (आचारांग १–४–१)

३८ नाटक, मोहक दृश्य तथा सुरूप सम्पन्न वस्तु नहीं देखे। गायन, वादिन्त्रादि नहीं सुने। (आचा० २–११–१२)

३९ जो जिन-धर्म से बाहर है, उन अन्य-तीर्थियों की उपेक्षा ही करनी चाहिए, उनके आचार-

विचार की ओर आकर्षित नहीं होना चाहिए। (आचा० १-४-३)

४० साधु, स्त्री और पशु का स्पर्श नहीं करे। (सूत्र० १-४-२-२०)

४१ गहन झाड़ी निकुंज आदि में नहीं रहे। (दशवै० ८-११)

४२ प्रव्रज्या का पालन परीषह सहन रूप है। (उत्तरा० २१-११)

४३ जिस ग्राम में प्रवेश करने और निकलने का एक ही मार्ग है, उस ग्राम में साधु रहे, तो साध्वी नहीं रहे और साध्वी रहे, तो साधु नहीं रहे। (बृहत्कल्प उ० १)

४४ जहाँ मनुष्य अधिक एकत्रित होते हों, ऐसे राजपथ = मुख्यमार्ग = सदर बाजार, धर्मशाला और तीन-चार रास्ते मिले, ऐसे स्थान पर साध्वी नहीं रहे। (बृहत्कल्प उ० १-२)

४५ साधु, बिना किंवाड़ के स्थान में रह सकता है, किन्तु साध्वी नहीं रह सकती। (बृह० १)

४६ नदी, तालाब आदि जलाशय के किनारे बैठना, सोना, पानी पीना, आहार करना, उच्चार तथा स्वाध्यायादि करना नहीं कल्पता है। (बृह० १)

४७ जो क्लेश अथवा क्रोधादि का उपशमन करते हैं और क्षमा रख कर शांति स्थापित करते हैं, उन्हें धर्म की आराधना होती है, किन्तु जो क्लेश का शमन नहीं करते, उन्हें धर्म की आराधना नहीं होती। वे विराधक होते हैं, क्योंकि साधुता का सार ही उपशमन-शांति है।

"जे उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जे न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा..........उवसम सारं सामण्णं।" (बृह० १-३५)

४८ साधु खुले स्थान में रह सकते हैं, किन्तु साध्वी को खुले स्थान में नहीं रहना चाहिए। (बृह० २-११)

४९ राज्य परिवर्त्तन होने पर, नये राजा की आज्ञा ले कर उसके राज्य में विचरे। (व्यवहार ७-२५)

५० पाट-पाटले ऐसे लावे जो एक हाथ से उठ सके। (व्यवहार ८-२)

५१ आठ वर्ष से कम उम्र वाले को दीक्षा देना और उसके साथ आहार करना नहीं कल्पता है। (व्यवहार १०-२४)

५२ गरमी लगने पर पंखे अथवा वस्त्रादि से हवा नहीं करे (उत्तरा० २-९ तथा दशवै० ३)।

५३ जीवन को अस्थिर और आयु को परिमित जान कर तथा मोक्ष-मार्ग को कल्याणकारी समझ कर सभी प्रकार के भोगों से निवृत्त हो जाना चाहिए। (दशवै० ८-३४)

५४ जो भोजन कर के सज्झाय में लीन हो जाय वही साधु है-" **भोच्चा सज्झाय रएजे स भिक्खू**" (दशवै० १०-९)

५५ जिसके हाथ-पाँव और इन्द्रियाँ तथा वचन वश में है, जो आत्मनिष्ठ हो कर समाधिभाव

में रहता है और सूत्र तथा अर्थ का ज्ञाता होता है वही भिक्षु है। (दशवै० १०-१५)

५६ संयमी हो कर आत्म-गवेषणा करे–"**चरेज्जत्त गवेसए**" (उत्तरा० २-१७)

५७ जिस प्रकार खाली-मुट्ठी और खोटा-सिक्का असार है, तथा चमकते हुए कांच का मूल्य वैडुर्यमणि के सामने कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार संयम से शून्य द्रव्य-लिंग भी निःसार = व्यर्थ ही है। (उत्तरा० २०-४२)

५८ जो मोक्ष में विपरीत विचार रखता है, उसकी संयम-रुचि भी व्यर्थ ही है। (उत्तरा० ३०-४९)

५९ जिस प्रकार संग्राम में गया हुआ योद्धा, विजय के लिए अपने शरीर की भी परवाह नहीं करता, उसी प्रकार मुनि भी कर्मों के साथ संग्राम करते हुए शाश्वत सुखों (निर्मल आत्म स्वरूप) का ही ध्यान रखे। इस नाशवान शरीर के नष्ट होने का विचार नहीं करे–"**कायस्स वियाघाए संगामसीसे वियाहिए।**" (आचा० १-८-५)

६० साधु एकत्व-भावना का ही चिन्तन करता रहे, अर्थात् अपने आत्मा के (पुद्गल रहित) अकेलेपन का ध्यान करता रहे, इसी से मुक्ति होती है। (सूय० १-१०-१२)

६१ जो निर्वाण को ही सर्वोत्तम मानते हैं, वे नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान हैं–"**निव्वाणं परमं-वुद्धा, नक्खत्ताण व चंदिमा।**" (सूय० १-११-२२)

६२ काश्यप–भगवान् महावीर के धर्म को ग्रहण करे और आत्म-रक्षा के लिए प्रव्रजित हो कर संसार के घोर प्रवाह को तिर जाय–"**अत्तत्ताए परिव्वए।**" (सूय० १-११-३२)

६३ "**आरंभं तिरियं कट्टु अत्तत्ताए परिव्वए**" अर्थात्–आरंभ का त्याग करके आत्मत्व प्राप्ति के लिए प्रवर्जित हो जाय। (सूय. १-३-३-७)

६४ "**उट्ठिए णो पमायए**"–सावधान हो जाओ। दीक्षित हो कर तुम्हें प्रमाद नहीं करना चाहिए। (आचा० २-५-२)

६५ "**वंध य मुक्खो तुज्झ अज्झत्थेव**"–तुझे तेरे आध्यात्मिक पुरुषार्थ से ही वन्धन से मुक्ति मिलेगी (और कोई तुझे मुक्त नहीं कर सकेगा, अपनी मुक्ति का प्रयत्न तू खुद ही कर) (आचा. १-५-२)

६६ तू अपने आप से युद्ध कर, वाहर के युद्ध से तुझे क्या प्रयोजन है? फिर युद्ध के योग्य शरीर (मानव भव) की प्राप्ति दुर्लभ हो जायगी। (आचा० १-५-३)

६७ जो ढीले हैं, विषयासक्त हैं, स्त्रियादि में अनुरक्त हैं, मायावी हैं, प्रमादी हैं और गृहवास में रहे हुए हैं, उनसे संयम का पालन होना शक्य नहीं है। (आचा० १-५-३)

६८ आगमों की कोई वात समझ में नहीं आवे, तो "**तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं**"–जिनेश्वरों ने फरमाया है, वही सत्य है। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती। इस प्रकार

सोच कर समाधान कर लेना, किन्तु अश्रद्धालु नहीं होना चाहिए। (आचा. १-५-५ तथा भगवती १-३)

६९ संसार में जितनी भी उपाधि-दुःख है, वह सब कर्म से ही उत्पन्न हुई है-" कम्मणा उवाहि जायति।" इसलिए अकर्मी होने का प्रयत्न करना चाहिए। (आचा० १-३-१)

७० सभी परवादियों में पाप रहा हुआ है-" सव्वत्थ समयं पावं," इसलिए उनका संग नहीं करना। (आचारांग १-८-१)

७१ आठ प्रकार के सूक्ष्म प्राणियों में भी साधु दया का अधिकारी होता है। (दशवै० ८-१३)

७२ अनन्त ज्ञान-युक्त साधु भी आचार्य को नमस्कार करते हैं-सेवा करते हैं। (दशवै. ९-१-११)

७३ इन तीन कारणों से मुनि संसार के उस पार पहुँच कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं यथा;- १ निदान नहीं करने से २ दृष्टि सम्पन्नता से (सम्यग्दृष्टि युक्त रह कर) और ३ योगवहन-तपपूर्वक श्रुत पढ़ने तथा योगों को समाधि में रखने से। (ठाणांग ३-१)

७४ पूर्व कर्मों का नाश करे और नूतन कर्म नहीं बांधे। (सूत्र० १-१५-२२)

७५ संयम का पालन करते हुए भी जो कषाय करते हैं, उनका संयम, ईख के फूल के समान निष्फल होता है। (सूय० १-११-३४)

७६ साधु, सदैव आत्म गुप्त रहे। (उत्तरा० २१-१९)

७७ आत्महित के लिए विरक्त होवे। (उत्तरा० २१-२१)

७८ जैसा आचार निर्ग्रंथों का है, वैसा लोक में किसी का नहीं है। (दशवै० ६-५)

७९ संसार की विचित्रता-उदयभाव की विविध दशा देख कर सभी जीवों से विरत हो जाय -" उवरओ सव्वभूएसु।" (दशवै० ८-१२)

८० " पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे "-पूर्व के बांधे हुए कर्मों को क्षय करने के लिए इस देह को टिकावे। (उत्तरा० ६-१४)

८१ साधु के लिए न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय है। (उत्तरा० ९-१५)

८२ एकत्वभाव से रहने वाला मुनि बहुत सुखी है। (उत्तरा० ९-१६)

८३ शत्रु या मित्र कोई भी हो, साधु को चाहिए कि संसार के सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखें। (उत्तरा० १९-२६)

८४ केश-लुंचन दुष्कर है। (उत्तरा० १९-३४)

८५ जो आश्रव बढ़ाने वाली विद्या का प्रयोग करता है, वह अनाथ है। (उत्तरा० २०-४५)

८६ असंयम से निवृत्त हो कर संयम में प्रवृत्ति करे। (उत्तरा० ३१-२)

८७ जिनेन्द्र ने एकान्त समाधि भाव में रहने का कहा है। (सूय० १-१०-६)

८८ "**सव्वं जगं तु समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा**"– समस्त विश्व के प्रति समताभाव रखे और किसी का भी (भौतिक दृष्टि से) प्रिय तथा अप्रिय नहीं करे। (सूय० १–१०–७)

८९ अपने और दूसरों के लिए, त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करना, कराना और अनुमोदन करना–अर्थ-दण्ड है। साधु इसे त्याग दे। (सूय० २–२)

९० तू ही मेरा मित्र है, बाहर क्यों देखता है–"**पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्त-मिच्छसि।**" (आचारांग १–३–३)

९१ मुक्त जीवों को बताने में कोई समर्थ नहीं है। (आचारांग १–५–६)

९२ "**एगे अहमंसि ण मे अत्थि कोई णयाहमवि कस्सइ**"–मैं अकेला ही हूँ। मेरा कोई भी नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ। (आचारांग १–८–६)

९३ परमार्थ-दर्शी, मोक्षमार्ग से अन्यत्र रमण नहीं करता। (आचारांग १–२–६)

९४ अपने कर्मों को तोड़ने से ही पवित्र आत्म-स्वरूप के दर्शन होते हैं–"**पलिच्छिंदिया णं निक्कम्मदंसी।**" (आचा० १–३–२)

९५ शरीर में रोग हो जाय और कोई गृहस्थ उसका उपचार करे, दबावे, तेल, घृत, मलम आदि लगावे, धोवे या अन्य क्रिया करे, तो उसे स्वीकार नहीं करना और अच्छा भी नहीं जानना और यही सोचना कि–'सभी जीव पूर्व में दूसरों को उपजाई हुई वेदना ही भुगत रहे हैं–"**कट्टु वेयणा-पाणभूतजीवसत्ता वेयणं वेदेंति।**" इस प्रकार सोच कर शान्ति धारन करना। (आचारांग २–१३)

९६ जीवों को जो भी दुःख होते हैं, वे आरम्भ (हिंसा) से ही उत्पन्न हुए हैं–'**आरंभजं दुक्ख मिणंति णच्चा।**" (आचारांग १–३–१)

९७ **सव्वओ पमत्तस्सभयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं**–प्रमादी को सर्वतः भय है, अप्रमादी को नहीं। (आचारांग १–३–४)

९८ यह देखो कि लोक में महान् भय रहा हुआ है–"**पास लोए महब्भयं**" (आचा० १–६–१)

९९ इसलोक और परलोक की आशा त्याग दे–"**अणिस्सिओ लोग मिणं तहापरं**" (आचारांग २–१६)

१०० जो बन्धन से मुक्त होने का उपाय खोजने और कर्मों को नष्ट करने में कुशल है, वही पंडित है–"**से मेहावी अणुग्घायणस्स खेयण्णे जे य बन्धप्पमुक्खमन्नेसी कुसले।**" (आचारांग १–२–६)

१०१ "**आयगुत्ते सया वीरे जायामायाइ जावए**"–वीर पुरुष, आत्म-गुप्त होवे और देह को संयम-यात्रा का साधन मान कर निर्वाह करे। (आचारांग १–३–३)

१०२ "**दुरणुचरो मग्गो वीराण अनियट्टगामीणं**"–मोक्ष प्राप्त करने वाले वीरों का मार्ग बड़ा विकट है। (आचारांग १–४–४)

१०३ जिसे तू हनना चाहता है, उसमें तू अपने ही को देख। जिस पर तू हुकूमत करना चाहता है, जिसे अपने दबाव में रखना चाहता है और जिसे तू संताप देना चाहता है, हे पुरुष ! वहाँ तू अपने आप ही को देख कि वहाँ भी मैं ही हूँ। (आत्मा के प्रति अद्वैत भाव रखने से हिंसकभाव दूर हो जाता है) (आचारांग १-५-५)

१०४ "जिन धर्म ही सर्वोत्तम धर्म है।" (सूय० १-२-२-२४ तथा १-६ गा० ७ व १६)

१०५ गृह त्याग कर जीवन से निरपेक्ष हो जाओ और शरीर का व्युत्सर्ग कर दो। (सूय० १-१०-२४)

१०६ जो अविरत है, अप्रत्याख्यानी है, वह पाप नहीं करता हुआ भी पापी है (भले ही वह एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय हो)। (सूय० २-४-६४)

१०७ सिद्धि ही जीव का निज-स्थान है। (सूय० २-५-२६)

१०८ अनारम्भी एवं अपरिग्रही पुरुष की ही शरण में जाओ। (सूय० १-१-४-३)

१०९ अठारह पाप से विरत, दाँतों को नहीं धोने वाला, आँखों में अंजन नहीं लगाने वाला, वमन नहीं करने वाला, सावद्य क्रिया से रहित एवं उपशान्त कषायी हो, ऐसे संयमी साधु को भगवान् ने संवर युक्त एवं एकान्त पण्डित कहा है। (सूय० २-४)

११० संसार में अपना कोई शत्रु नहीं है, किन्तु कषाय तथा इन्द्रियों के वश में पड़ा हुआ अपना आत्मा ही अपना शत्रु है–"एकप्पा अजिए सत्तु, कसाया इन्दियाणिय।" (उत्तरा० २३-३८)

१११ "**सच्च पइण्णा ववहारा**"–संसार में सत्य प्रतिज्ञापूर्वक व्यवहार चलता है। (व्यवहार २)

११२ साधु-साध्वी को रात को अथवा विकाल (संध्या) को विहार करना नहीं कल्पता है और रात के समय अथवा विकाल में स्थंडिल अथवा स्वाध्याय के लिए बाहर जाना नहीं कल्पता है। यदि जाना आवश्यक हो, तो अकेले नहीं जावे। साधु दो या तीन और साध्वी तीन या चार साथ जा सकती हैं। (बृहत्कल्प उ० १)

११३ अकेले विहार करने वाले साधु, बहुत क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, पापी, ढोंगी और धूर्त होते हैं। (आचा० १-५-१)

११४ साध्वी तीन से कम नहीं रहे। (व्यवहार ५)

११५ कैंची, उस्तरे आदि से हजामत नहीं करे, डाढ़ी-मूंछ आदि के बाल नहीं काटे। यदि काटे तो प्रायश्चित्त। (निशीथ ३)

११६ साधु, चित्र, प्रदर्शनी, मेले, उत्सवादि देखे तो प्रायश्चित्त। (निशीथ १२)

११७ साधु, पाँव में जूते आदि नहीं पहने। (सूय० ९-१८)

११८ पानी या कीचड़ से बचने के लिए पत्थर आदि रखे या किसी अन्यतीर्थी से या गृहस्थ से

रखवावे, तो प्रायश्चित्त । (निशीथ १-२)

११९ सदा एक ही घर से आहार ले, तो प्रायश्चित्त । (नि० २)

१२० दोषी, शिथिलाचारी आदि के साथ स्थंडिल या गोचरी आदि जावे, विहार करे, तो प्रायश्चित्त । (नि० २)

१२१ शय्यातर के घर का अथवा उसकी दलाली का आहार ले तो प्रायश्चित्त । (नि० २)

१२२ विना प्रतिलेखना किये उपधि रखे तो प्रायश्चित्त । (नि० २)

१२३ जो साधु अचित्त पानी से भी पाँव धोवे तो प्रायश्चित्त । (नि० ३)

१२४ राजा, मन्त्री आदि उच्चाधिकारी को अर्थी (मुहताज) आदि बनावे तो प्रा० (नि० ४)

१२५ पासत्थे एवं दोषी के साथ शिष्यादि का आदान-प्रदान करे तो प्रा० (निशीथ उ० ४)

१२६ उच्चार-प्रस्रवण आदि अविधि से परठे और शुचि नहीं करे तो प्रा० (नि० ४)

१२७ सूत आदि का धागा, ढेरा तकली आदि से कात कर बढ़ावे तो प्रा० (नि० ५)

१२८ साधु-साध्वी के लिए बनाये अथवा साफ किये हुए मकान में ठहरे तो प्रा० (नि० ५)

१२९ रजोहरण को अपने से अधिक दूर रखे, विना रजोहरण के गमनागमन करे अथवा रजोहरण का तकिया बनावे तो प्रा० (नि० ५)

१३० रोगी साधु की सेवा नहीं करे तो प्रा० (नि० १०)

१३१ पर्युषण काल में पर्युषण (संवत्सरी) नहीं करे, पर्युषण काल के विना पर्युषण करे, पर्युषण को गो-रोम जितने भी बाल रखे और पर्युषण के दिन चारों प्रकार का आहार करे तो प्रा० (नि० १०)

१३२ धर्म का अवर्णवाद और अधर्म की प्रशंसा करे तो प्रा० (नि० ११)

१३३ अन्यमतियों, उनके तीर्थ तथा ग्रंथादि की प्रशंसा करे तो प्रा० (नि० ११)

१३४ अयोग्य को दीक्षा दे, उपस्थापना करे तो प्रा० (नि० ११)

१३५ गृहस्थ के उपकरण (वर्तन, वस्त्र, आसन, पलंग आदि) काम में लेवे तो प्रा० (नि० १२)

१३६ गृहस्थ की औषधि करे, करावे, अनुमोदे तो प्रा० (नि० १२)

१३७ दो कोस के उपरान्त आहार-पानी ले जावे तो प्रा० (नि० १२)

१३८ गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थी को कला, काव्य, मन्त्रादि सिखावे तो प्रा (नि० १३)

१३९ पासत्थ, कुशील आदि की प्रशंसा करे तो प्रा० (नि० १३)

१४० पात्र आदि उपकरण प्रमाण से अधिक रखे तो प्रा० (नि० १४, १६)

१४१ क्लेश कर के निकले हुए साधु के साथ संभोग करे तो प्रा० (नि० १६)

१४२ दुर्गंछनीय कुल का आहारादि ले तो प्रा० (नि० १६)

१४३ समान आचार वाले को अपने स्थान पर नहीं उतरने दे तो प्रा० (नि० १७)

१४४ साधु, गावे, बजावे, संसार के अनेक प्रकार के गीत-गायन और गाजे-बाजे तथा रुदनादि सुनने की इच्छा भी करे तो प्रा० (नि० १७)

१४५ डूबती हुई नावा को निकाले, नावा में भरे हुए पानी को उलीचे अथवा रोके तो प्रा० (नि० १८)

१४६ अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे, स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय नहीं करे और चतुष्काल स्वाध्याय नहीं करे तो प्रा० (नि० १९)

१४७ आचारांग सूत्र को छोड़ कर पहले दूसरे सूत्र पढ़ावे तो प्रा० (नि० १९)

१४८ "**अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ**"–इस लोक और परलोक की आकांक्षाओं से विरत रहना चाहिए। (उत्तरा० १९-९३)

१४९ जो लम्बे समय से दीक्षित हो कर भी व्रतों में स्थिर नहीं है और नियम से भ्रष्ट है, ऐसा साधु, बहुत काल तक आत्मा को क्लेशित कर के भी संसार से मुक्त नहीं हो सकता। (उत्तरा० २०-४१)

१५० "**आणाए जिणिंदाणं, ण हु बलियतरा उ आयरिय आणा**"–जिनेन्द्र की आज्ञा, जो सूत्रों में उल्लिखित है और निर्दोष है। आचार्य भी उसी आज्ञा का उपदेश करते हैं, किन्तु कोई आचार्य, उस आज्ञा का अतिक्रमण कर के उसके विपरीत आज्ञा दे, तो मानने योग्य नहीं है। क्योंकि आचार्य की आज्ञा से जिनेश्वर की आज्ञा अत्यधिक बलवान है। जिनेश्वर की आज्ञा के सामने, आचार्य की आज्ञा का कोई महत्व नहीं है। (बृहत्कल्प उ० ४ सूत्र २० भाष्य गाथा ५३७७)

१५१ "**नवणीय तुल्लहियया साहु**"–साधु का हृदय मक्खन के तुल्य कोमल होता है। (व्यवहार उ० ७ भाष्य)

साधु के हृदय में अहिंसा का निवास होता है, इसलिए वह कोमल होता है खेदज्ञ होता है। उसमें क्रूरता की कठोरता नहीं होती। किन्तु कर्मों के साथ युद्ध करने में और परीषहों को सहन करते समय वह वज्र के समान कठोर हो जाता है।

१५२ "**असती निव्वाणस्स य, दिक्खा होति निरत्थगा**"–निर्वाण के ध्येय के अभाव में दीक्षा निरर्थक होती है। (व्यवहार उ० ७ भाष्य गाथा० २१८)

१५३ "**अज्जो! उवसमेह। अणुवसमंताण कओ संजमो? कओ वा सज्झाओ?**"

–हे आर्य! शान्त हो जा। कषाय की ज्वाला धधकती हो, वहाँ संयम कैसे रह सकता है और कषाय की तीव्रता में स्वाध्याय भी कैसे हो सकता है? (निशीथ उ० १० भाष्य गाथा २७९१ चूर्णि)

१५४ "**जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडिए।**
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं॥ (बृहत्कल्प भाष्य गा० २७१५)

कुछ कम करोड़ पूर्व तक चारित्र का पालन कर के जिस चारित्र रूपी ऋद्धि का संग्रह किया जाता है, वह थोड़ी-सी कषाय से, मुहूर्त मात्र में ही नष्ट हो जाती है। अर्थात् कषाय, सुदीर्घ काल के चारित्र को भस्म करने वाली आग के समान है।

१५५ "**दंसणनाणचरित्ते, जम्हा गच्छम्मि होइ परिवुड्ढी।**
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ॥

जिस गच्छ (समुदाय) में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि होती रहती है, वही गच्छ उन्नत और धर्म-ऋद्धि से महान् ऋद्धिशाली है। (वृहत्कल्प भाष्य गा० २११०)

रयणायरो उ गच्छो, निप्फादओ नाणदंसण चरित्ते।
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ॥

वही गच्छ, रत्न को उत्पन्न करने वाले रत्नाकर (समुद्र) के समान है, जिसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्न उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार रत्नों की खान होने के कारण ही गच्छ महान् ऋद्धिशाली होता है, संख्या वढ़ जाने मात्र से नहीं। (वृहत्कल्प भाष्य गा० २१२२)

१५६ "**चरणकरणप्पहीणे, पासत्थे जो उ पविसए समणो।**
जतमाणए पजहिउं, सो ठाणे परिच्चयइ तिण्णि॥"

—सिंह की गुफा, व्याघ्र की गुफा और समुद्र आदि खतरे के स्थानों में जाने वाले के लिए मृत्यु निश्चित् होती है (पूर्व गाथा का भाव) इसी प्रकार चारित्र से हीन पार्श्वस्थ (शिथिलाचारी) के पास रहने वाले सुश्रमण के संयमी जीवन की समाप्ति हो जाती है। सिंहादि के द्वारा तो एक ही भव में मृत्यु होती है, किन्तु पासत्थों—कुशीलों की संगति से तो अनेक भवों में मरण होता है।

(वृहत्कल्प भाष्य गा० ५४६५)

१५७ "**परकिरिअं च वज्जए नाणी**"—हे ज्ञानी! तू अपनी आत्मा की ही क्रिया कर। दूसरी पौद्गलिक अथवा कर्मबन्ध वढ़ाने वाली क्रिया को त्याग दे। (सूय० १-४-२-२१)

१५८ "**आरंभसत्ता गढिया य लोए, धम्मं ण जाणंति विमोक्ख हेउं**"—जो आरम्भ में आसक्त है और लोक में ही फँसे हुए हैं, वे मोक्ष-प्रदायक धर्म को नहीं जान सकते। (सूय० १-१०-१६)

१५९ "**पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं**"—रसयुक्त गरिष्ठ आहार, शीघ्र ही विकार वढ़ाता है। (उत्तरा० १६-७)

१६० "**माई पमाई पुण एइ गब्भं**"—मायावी जीव, प्रमादवश बारम्बार गर्भ में आता रहता है। (आचारांग १-३-१)

१६१ "आरंभसत्ता गढिया य लोए, धम्मं ण जाणंति विमोक्ख हेउ"–आरम्भ में आसक्त और लोक में जकड़े हुए मनुष्य, मोक्ष के हेतु ऐसे धर्म को नहीं जानते हैं। (सूय० १-१०-१६)

१६२ "आयगुत्ते सया दंते छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाइ, पडिपुण्णमणेलिसं॥"

–शुद्ध धर्म का यथातथ्य उपदेश वही कर सकता है जो आत्म-गुप्त, जितेन्द्रिय, आस्रव के श्रोत को काटने वाला एवं अनास्रवी (संयमी) हो। (सूय० १-११-२४)

१६३ "एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं"–अपनी आत्मा को अकेली–शरीर से भिन्न जान कर शरीर को धुनक डालो–कृश कर दो। (आचा० १-४-३)

१६४ "एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए"–इस प्रकार सावधान हो कर मुनि आत्मा को मोक्ष-मार्ग में स्थित कर के राग-द्वेष रहित होवे और परीषह उपस्थित होने पर अचल रह कर विचरे तथा संयम के बाहर विचार नहीं करता हुआ संयम साधना में ही लगा रहे। (आचा० १-६-५)

१६५ "निज्झोसइत्ता खवए तवस्सी"–तपस्वी मुनि, तप में अपने आत्म-मल को झोंक कर क्षय कर दे। (आचा० १-३-३)

। आराहिआ खंडिय सक्कियस्स ।

। नमो नमो संजम-वीरिअस्स ।

मोक्ष मार्ग

पंचम खण्ड

तप धर्म

अब तक जो वर्णन हुआ, वह संवर धर्म से सम्बन्धित था। अगार धर्म और अनगार धर्म, संवर धर्म से सम्बन्धित है। संवर से मुख्यतः आश्रव की रोक होती है, किन्तु पुराने कर्मों की निर्जरा नहीं होती। आत्मा के साथ पहले के बंधे हुए कर्मों को तोड़ कर अलग करने का उपाय तो मुख्यतः तप ही है। कहा है कि—

"जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे। उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणाभवे ॥५॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे। भवकोडी संचियं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जई ॥६॥

(उत्तराध्ययन अ० ३०)

अर्थात् जिस प्रकार बड़े भारी तालाब को खाली करने के लिए, पहले उसके पानी के द्वारों को बन्द कर के बाहर से आने वाले पानी को रोकने की आवश्यकता रहती है। उसके बाद तालाब में पहले से भरे हुए पानी को निकालने की क्रिया होती है। वह एक तो उलीचने (निकाल कर बाहर करने) रूप होती है और दूसरी सूर्य के ताप से सुखाने रूप। इसी प्रकार संयमी पुरुष, पहले संवर द्वारा नये पाप-कर्मों की आवक रोक देते हैं और बाद में अपनी आत्मा में करोड़ों भवों के संग्रहित किये हुए कर्मों को तपस्या के द्वारा निर्जरा कर देते हैं—क्षय करते हैं।

तपस्या का फल बतलाते हुए उत्तराध्ययन अ० २९ में लिखा है कि—

"तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? तवेणं वोदाणं जणयइ ॥२७॥

प्रश्न—हे भगवान् ! तप से किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—तप से व्यवदान=पूर्व के बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

यह है तप का प्रभाव। तप का आचरण पूर्व के सभी महापुरुषों ने किया। भ० ऋषभदेवजी के समय एक वर्ष तक का तप किया जाता था। मध्य के तीर्थङ्करों के समय आठ मास तक का और भ० महावीर के समय छः महीने तक का तप किया जाता था। स्वयं भगवान् ने छः मास का तप किया था।

तपस्या जो भी की जाय वह विशुद्ध भावों से, मात्र कर्म-निर्जरा के लिए ही करनी चाहिए। इसके लिए किसी प्रकार की दूसरी भावना नहीं होनी चाहिए। आगमकार महाराज तप-समाधि का उपदेश करते हुए फरमाते हैं कि—

"चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तं जहा—१ नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, २ नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ३ नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ४ नन्नत्थ णिज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।" (दशवैकालिक अ० ९ उ० ४)

अर्थात्—चार प्रकार की तप समाधि है। जैसे—१ इस लोक सम्बन्धी सुखों की कामना से तपस्या नहीं करे, २ परलोक में प्रचुर वैभव और उत्तमोत्तम भौतिक सुखों की चाहना रख कर तप नहीं करे, ३ अपनी प्रशंसा हो इस भावना से, कीर्ति की लालसा से, जनता से यशोगान करवाने और धन्य-धन्य कहलाने के लिए तप नहीं करे। किन्तु ४ एक मात्र अपने कर्मों की निर्जरा के लिए ही तपस्या करे। कर्म-निर्जरा के सिवाय और किसी भी भावना से तपस्या नहीं करे।

आगे एक गाथा में बताया है कि—

"विविहगुणतवोरए णिच्चं, भवइ निरासए णिज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥४॥"

अर्थात्—निर्जरार्थी (मोक्षार्थी) को चाहिए कि मन में इहलौकिक और पारलौकिक (पौद्‌गलिक) सुखों की आशा नहीं रखते हुए सदैव तप-समाधि में ही संलग्न रहे और विविध गुणों युक्त तप में निरन्तर लगा रहे। वह केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही तप का आचरण करे। इस प्रकार शुद्ध भाव से किये हुए तप से पूर्व-संचित पाप-कर्म नष्ट हो जाते हैं।

तप-समाधि उसी को होती है, जो पौद्‌गलिक आकांक्षाओं और क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषाय से रहित हो कर विशुद्ध भावों से, केवल आत्म-शुद्धि—निर्जरा के लिए ही तपस्या करे। निर्ग्रन्थ का जीवन ही तप-संयममय होता है। जिनेश्वर भगवंतों ने उसी को साधु कहा है जो संवर और तप

से युक्त हो। जैसे—

"तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू।"

तथा—

"तवे रए सामणिए जे स भिक्खू।" (दशवै० १०)

धर्म साधना में अहिंसा और संयम के साथ तप की भी अनिवार्य आवश्यकता है। इसलिए दशवैकालिक सूत्र के आरम्भ में उसी उत्कृष्ट मंगलमय धर्म का उपदेश दिया, जो अहिंसा, संयम और तप से युक्त हो। बिना तप के संयम सुरक्षित नहीं रह सकता। तपस्वी के मन में विकार रूपी विष जोर नहीं कर सकता। यदि तप का आचरण नहीं हो और यथेच्छ खानपानादि एवं शब्दादि विषय चलते रहें, तो संयम भी सुरक्षित नहीं रह सकता। संयम की सुरक्षा एवं वृद्धि के लिए तप रूपी कवच, प्रबल साधन है। इसी से विषयों—वासनाओं का निरोध होता है। तप का काम ही भौतिक इच्छाओं का निरोध करना है—'**इच्छानिरोधस्तपः**।' भगवान् महावीर ने वासनाजन्य विकार को नष्ट करने के लिए तप रूपी महौषधि सेवन करने का विधान किया है।

"**उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि णिब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दुइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थिसु मणं।**" (आचारांग १—५—४)

अर्थात्—साधु, इन्द्रियों के विषयों से विकार-ग्रस्त बन रहा हो, तो उस विकार को नष्ट करने के लिए रूखा-सूखा और सत्त्व रहित वस्तु का आहार करे या आहार कम करे अर्थात् ऊनोदरी तप करे, अथवा ऊँचे स्थान पर स्थित हो जाय अर्थात् कायोत्सर्गपूर्वक शीत और ताप की आतापना ले, या ग्रामानुग्राम विहार करे। यदि इससे भी विकार नहीं मिटे, तो आहार का सर्वथा त्याग कर दे, किन्तु स्त्रियों की ओर मन को नहीं जाने दे।

इस प्रकार तप रूपी धर्म, एक ओर संयम की रक्षा करता है, तो दूसरी ओर आत्मा की सफाई करता हुआ निर्मल बनाता है। अन्तर्मल की शुद्धि तप से ही होती है—"**तवेण परिसुज्झई**" (उत्तरा० २८)

जिस प्रकार सम्यक् ज्ञान-दर्शन पूर्वक ही चारित्र की आराधना सफल होती है, उसी प्रकार सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चारित्रपूर्वक किया हुआ तप ही आत्मा को शुद्ध एवं निर्मल बनाता है। जिस तप के साथ ज्ञान दर्शन और चारित्र का योग नहीं हो, तो वैसा तप, पुण्य बन्ध तो करवा सकता है, किन्तु मोक्ष के निकट नहीं पहुँचा सकता। संयम से नियन्त्रित नहीं किया हुआ और क्षमादि धर्म से सुरक्षित नहीं रखा हुआ तप, शस्त्र रूप बन कर अपने आपके लिए (स्वयं तपस्वी के लिए) भी घातक बन जाता है। चण्डकौशिक सर्प, पहले एक तपस्वी संत ही था। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने पूर्व-भव के तप का

दुरुपयोग किया और सातवीं नरक में गया। जितने भी वासुदेव होते हैं, वे सब नरक में जाते हैं। इसका मूल कारण तप का दुरुपयोग है। तप रूपी महारसायन, संयम और क्षमा रूपी पथ्य सेवन से ही आत्मा को पुष्ट कर के अनन्त सुख प्रदान करने वाली होती है। यदि कषाय अथवा विषय रूपी कुपथ्य का सेवन किया, तो यही रसायन क्षणिक इच्छा पूरी कर के फिर महान् दुःखदायक बन जाती है।

तप का ढोंग भी बुरा होता है। तपस्वी नहीं होते हुए भी अपने को तपस्वी बताना पाप है। आगमकार ऐसे व्यक्ति को '**तप चोर**' कहते हैं। जैसे–

"**तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे। आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिव्विसं।**" (दशवै० ५-२)

अर्थात्–जो साधु, तप-चोर, व्रत-चोर, वचन-चोर, रूप-चोर और आचार भाव का चोर होता है, वह किल्विषी देवों–नीच जाति के देवों में उत्पन्न होता है और वहाँ से च्यव कर भेड़-बकरा होता है। इसके बाद नरक गति प्राप्त कर दुखी होता है।

तप-चोर बन कर जनता को धोखा देना बहुत बुरा है। प्रशंसा के लिए या और किसी भावना से तप-चोर बनना 'स्वात्म घात' है। इससे महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है। तप-चोर के विषय में महामोहनीय कर्म के २४ वें भेद में लिखा है कि–

"**अतवस्सी य जे केइ, तवेण पविकत्थइ। सव्वलोए परे तेणे, महामोहं पकुव्वइ।**" (दशाश्रु० ९)

अर्थात्–जो तपस्वी नहीं होता हुआ भी जनता में अपने आपको तपस्वी के रूप में उपस्थित कर के सम्मान प्राप्त करता है, वह समस्त लोक में बड़ा भारी चोर है। वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

धन के लोभी चोर, चोरी करते हुए धर्मात्मा नहीं कहलाते और जाहिर में लोगों से दबते रहते हैं, किन्तु तप-चोर तो धर्म-ठग होते हैं। वे जनता की श्रद्धा और भक्ति का अपहरण करते हुए पूज्य एवं सिरसावंद्य बने फिरते हैं। अतएव ऐसे धर्म-ठग, साधारण चोरों की अपेक्षा विशेष चोर हैं।

जिस प्रकार उत्तम फल की प्राप्ति के लिए भूमि भी उत्तम होनी चाहिए। उत्तम भूमि में ही उत्तम फल का बीज अंकुरित होता है और फूलता फलता है, उसी प्रकार तप का यथार्थ फल (कर्म-निर्जरा) के लिए मन रूपी क्षेत्र विशुद्ध रहना चाहिए। तभी कर्मों का क्षय हो कर मोक्ष फल की प्राप्ति होती है।

तप के मुख्यतः दो भेद किये हैं–१ बाह्य तप और २ आभ्यन्तर तप। इनका स्वरूप इस **प्रकार है–**

बाह्य तप

अनशन

बाह्य तप छः प्रकार का होता है। उसमें पहला प्रकार 'अनशन' का है। अनशन दो प्रकार का होता है–१ इत्वर–थोड़े समय का और २ जीवन-पर्यन्त।

इत्वर–थोड़े समय का तप, एक उपवास से लगा कर उत्कृष्ट छः महीने तक का होता है। अपनी शक्ति के अनुसार कोई उपवास करते, कोई दो दिन, तीन दिन, एक महीना, दो महीना करते और कोई छः महीने का तप करते हैं। उनकी दृष्टि खाने की या देहपुष्टता की ओर नहीं रहती, किन्तु आत्म-विशुद्धि की ओर ही रहती है। वे पारणा करते हैं तो भी उनका लक्ष्य तप बढ़ाने का ही रहता है। स्वयं गणधर भगवान् गौतमस्वामीजी महाराज, चौदह हजार श्रमण और छत्तीस हजार श्रमणियों के अग्रसर भी, बेले-बेले (दो-दो उपवास) तप करते ही रहते थे। दो दिन तक कुछ भी नहीं खाते-पीते और तीसरे दिन, दिन के तीसरे प्रहर, स्वयं गोचरी ला कर, एकबार थोड़ा खा-पीकर फिर तपस्या कर लेते थे। उनका खाना तो बहुत थोड़ा और तपस्या बहुत अधिक होती थी। उन आत्म-वीरों को कभी यह विचार भी नहीं आया कि–"मैं बहुत दुर्बल और कमजोर हो गया हूँ, मेरा शरीर अत्यन्त अशक्त और रोगों का घर हो गया है। अब मुझे तप करना बन्द कर के कुछ दिन, घृत-दुग्धादि का विशेष सेवन कर के कुछ सशक्त बन जाना चाहिये।" इस प्रकार के कमजोर विचार उनमें नहीं थे। वे तप की अग्नि में अपने को झोंक ही देते थे। उनका लक्ष्य ही अनाहारी बनने का था, फिर वे आहार और शरीर की परवाह ही क्यों करे? साधुओं के आहार करने के निम्न छः कारण होते हैं–

१ जब क्षुधावेदनीय अति बढ़ जाय और आत्मशान्ति में बाधक होने लगे, २ वैयावृत्य में बाधा पड़ने जैसी हो, ३ ईर्यापथिकी शोधने में कठिनाई हो, ४ धर्म ध्यान में विघ्न होता हो, ५ संयम साधना और ६ अपने प्राणों की रक्षा में अड़चने आने जैसा लगे, तो इन बाधाओं को दूर करने के लिए आहार किया जाता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३० में इत्वर अनशन के निम्न भेद किये हैं–

१ श्रेणी तप–क्रम से तप करना श्रेणी तप है। उपवास, बेला, तेला इस प्रकार क्रम से तप किया जाय उसे श्रेणी तप कहते हैं और यह छः महीने तक किया जा सकता है।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

२ प्रतर तप–श्रेणी को श्रेणी से गुणन करना प्रतर है। जो तप प्रतर युक्त हो उसे प्रतर तप कहते हैं। जैसे उपवास, बेला, तेला और चोला, इन चार पदों की एक श्रेणी है। इस श्रेणी को श्रेणी से (४ से) गुणन करने पर १६ पद होते हैं। प्रतर की लम्बाई-चौड़ाई बराबर होती है। इस की रचना नक्शे के अनुसार है।

३ घन तप–उपरोक्त प्रतर को श्रेणी से गुणन करने से घन तप होता है, अर्थात् १६ को ४ से गुणा करने पर ६४ होते हैं। इस प्रकार घन युक्त तप, घन तप है।

४ वर्ग तप–घन को घन से अर्थात् ६४ को ६४ से गुणा करने से आई हुई संख्या ४०९६ 'वर्ग' है। इस प्रकार का तप 'वर्ग तप' कहलाता है।

५ वर्गवर्ग तप–उपरोक्त वर्ग को वर्ग से गुणन करने पर अर्थात् ४०९६ से गुणन करने पर १६७७७२१६ की संख्या होती है। इस प्रकार का तप, वर्ग-वर्ग तप कहलाता है।

६ प्रकीर्णक तप–श्रेणी आदि से नहीं कर के शक्ति के अनुसार फुटकर तप किये जायँ, उन्हें प्रकीर्णक तप कहते हैं।

गुणरत्न-सम्वत्सर तप

तपदिन	तप	पारणा	सर्व दिन
३२	१६ १६	२	३४
३०	१५ १५	२	३२
२८	१४ १४	२	३०
२६	१३ १३	२	२८
२४	१२ १२	२	२६
३३	११ ११ ११	३	३६
३०	१० १० १०	३	३३
२७	९ ९ ९	३	३०
२४	८ ८ ८	३	२७
२१	७ ७ ७	३	२४
२४	६ ६ ६ ६	४	२८
२५	५ ५ ५ ५ ५	५	३०
२४	४ ४ ४ ४ ४ ४	६	३०
२४	३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३	८	३२
२०	२ २ २ २ २ २ २ २ २ २	१०	३०
१६	१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १		१६–३२

प्रकीर्णक तप अनेक प्रकार के होते हैं। पूर्व के महात्माओं और महासतियों के तप का वर्णन सूत्रों में आया है, वह प्रकीर्णक तप के अन्तर्गत है। उनमें से कुछ इस प्रकार है–

गुणरत्न सम्वत्सर तप की विधि इस प्रकार है–

प्रथम मास में निरंतर उपवास करना। दिन में सूर्य के संमुख दृष्टि रख कर आतापना लेना और रात्रि में वस्त्र रहित हो कर वीरासन से बैठ कर ध्यान करना।

दूसरे मास में बेले-बेले तप करना। तीसरे मास में तेले-तेले, इस प्रकार प्रत्येक मास में क्रमशः एक-एक उपवास का तप बढ़ाते हुए सोलह-सोलह का (दो सोलह) तप करना। आतापना आदि पहले की तरह करते रहना।

इस तप में कुल सोलह मास लगते हैं। इनमें तेरह महीने सत्रह दिन तप के और दो मास तेरह दिन पारने के होते हैं (भगवती श० २ उ० १)।

एकावली तप

एकावली तप की विधि इस प्रकार है—

क्रमशः चतुर्थ षष्ठ और अष्टमभक्त। इसके वाद आठ चौथभक्त। फिर चौथभक्त से लगा कर क्रमशः चौंतीसभक्त तक चढ़ना। इसके वाद चौंतीस चौथभक्त करना। इसके वाद चौंतीस भक्त कर के क्रमशः चौथभक्त तक नीचे उतरना। इसके वाद आठ चौथभक्त। इसके वाद अष्टमभक्त, षष्ठमभक्त और चतुर्थभक्त। शेष पूर्ववत्।

एक परिपाटी का काल—१ वर्ष २ महीने और २ दिन।

चार परिपाटी में—४ वर्ष ८ महीने और ८ दिन।

(उववाई)

प्रथम परिपाटी में पारणे में विगय ली जा सकती है, किन्तु दूसरी परिपाटी में विगय का त्याग होता है। तीसरी परिपाटी में तो विगय का लेप लग गया हो, तो वह भी नहीं लिया जाता और चौथी परिपाटी तो आयम्बिल तप युक्त होती है।

रत्नावली तप

इसमें पहले उपवास किया जाता है। उपवास का पारणा कर के उसके दूसरे दिन बेला किया जाता है। बेले के पारणे के बाद तेला और तेले के पारणे के बाद आठ बेले किये जाते हैं। आठ बेले पूरे होने के बाद उपवास किया जाता है। फिर बेला, तेला, चौला, पचोला, छः, सात, अठाई, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह, पन्द्रह और पन्द्रह का पारणा कर के सोलह दिन का तप किया जाता है। इसके बाद चौंतीस बेले किये जाते हैं। चौंतीसवें बेले का पारणा कर चुकने के बाद सोलह दिन की तपस्या की जाती है। इसका पारणा कर के पन्द्रह दिन का तप किया जाता है। इसी प्रकार चौदह, तेरह, बारह, ग्यारह, दस, नौ, आठ, सात, छः, पाँच, चार, तीन, दो और उपवास किया जाता है। उपवास का पारणा कर के आठ बेले किये जाते हैं। आठवें बेले का पारणा कर के तेला, बेला और बेले का पारणा कर के उपवास किया जाता है।

		१								१		
		२								२		
		३								३		
२	२	२	२	२				२	२	२	२	२
	२	२	२						२	२	२	
		१								१		
		२								२		
		३								३		
		४								४		
		५								५		
		६								६		
		७								७		
		८								८		
		९								९		
		१०								१०		
		११								११		
		१२								१२		
		१३								१३		
		१४				२				१४		
		१५			२		२			१५		
		१६	२		२		२	२		१६		
		२	२		२		२	२		२		
		२	२		२		२	२		२		
		२	२		२		२	२		२		
		२	२		२		२	२		२		
					२		२					
						२						

यह रत्नावली तप की एक परिपाटी हुई। इसमें पारणे के दिन आहार में घृतादि विगय का त्याग आवश्यक नहीं है। इस एक परिपाटी में एक वर्ष तीन महीना और बाईस दिन लगते हैं। इसमें ३८४ दिन तो तप के होते हैं और ८८ दिन पारणे के होते हैं। कुल दिन ४७२ होते हैं।

रत्नावली तप की दूसरी परिपाटी के तप की विधि भी पहली परिपाटी के अनुसार ही है। इसमें विशेषता यह है कि पारणे में सभी प्रकार की विगयों का त्याग होता है। तीसरी परिपाटी में आहार में विगय का लेप लग गया हो, तो उसका

भी त्याग होता है। चौथी परिपाटी में भी तप तो उसी प्रकार होता है, किन्तु पारणा आयम्बिल तप पूर्वक किया जाता है।

इस तप की कुल चार परिपाटी होती है, जिसमें पाँच वर्ष दो महीने और अट्ठाईस दिन लगते हैं।

विधि

कनकावली तप भी बहुत कुछ रत्नावली तप के समान है। इसमें विशेषता यह है कि जहाँ रत्नावली तप में दो स्थानों पर आठ-आठ और एक स्थान पर चौंतीस बेले आये, वहाँ इस तप में तेले आते हैं। इस तप की एक परिपाटी में एक वर्ष पाँच महीने और बारह दिन लगते हैं। इसमें पारणे के दिन ८८ होते हैं और तप के एक वर्ष दो महीने और चौदह दिन होते हैं। चारों परिपाटी में पाँच वर्ष नौ महीने और अठारह दिन लगते हैं। शेष विधि रत्नावली तप के अनुसार है।

कनकावली तप

लघुसिंह-निष्क्रीड़ित तप

इस लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप में सबसे पहले उपवास किया जाता है। उसके बाद बेला। बेले का पारणा कर के उपवास। उसके बाद तेला, फिर बेला, चोला, तेला, पचोला, चोला, छः, पांच, सात, छः, अठाई, सात, नौ, अठाई। इसके बाद नौ, फिर सात, उसके बाद अठाई, फिर छः, सात, पांच, छः, चोला, पचोला, तेला, चोला, बेला, तेला, उपवास, बेला और उपवास किया जाता है।

१		१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९	८	९

इस प्रकार इसकी एक परिपाटी होती है। इसमें छः मास और सात दिन लगते हैं। तप के पाँच मास, चार दिन और पारणे के तेतीस दिन होते हैं। चार परिपाटी में दो वर्ष और २८ दिन लगते हैं।

महासिंह-निष्क्रीड़ित तप

१		१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९		९
८		८
१०		१०
९		९
११		११
१०		१०
१२		१२
११		११
१३		१३
१२		१२
१४		१४
१३		१३
१५		१५
१४		१४
१६	१५	१६

विधि

लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप में उपवास से ले कर ९ उपवास तक चढ़ा जाता है और नौ से लौट कर नीचे उतरा जाता है और महासिंह निष्क्रीड़ित तप में उपवास से ले कर उसी पद्धति से सोलह उपवास तक चढ़ा जाता है और उसी प्रकार उतरा जाता है। इसकी एक परिपाटी में एक वर्ष छः महीने और अठारह दिन लगते हैं। तप के दिन एक वर्ष चार महीना और सतरह दिन, और पारणे के कुल ६१ दिन होते हैं। चार परिपाटियों में छः वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते हैं।

(अन्तगड वर्ग ८)

मुक्तावली

१		१
२		२
१		१
३		३
१		१
४		४
१		१
५		५
१		१
६		६
१		१
७		७
१		१
८		८
१		१
९		९
१		१
१०		१०
१		१
११		११
१		१
१२		१२
१		१
१३		१३
१		१
१४		१४
१		१
१५	१६	१५
१	१	१

मुक्तावली तप में सर्व-प्रथम उपवास किया जाता है। फिर बेला, उसके बाद उपवास। उपवास के बाद तेला, उपवास और चोला, उपवास और पचोला, यों बीच में उपवास करते हुए पन्द्रह तक बढ़ते हैं। पन्द्रह के बाद उपवास करते हैं और उसके बाद सोलह करते हैं और उसके बाद उपवास करते हैं। इसके बाद उतरने का क्रम होता है। उपवास और पन्द्रह, उपवास और चौदह, यों बीच में उपवास करते हुए नीचे उतरना होता है। एक परिपाटी में ग्यारह महीने और पन्द्रह दिन होते हैं। तप के दिन २८६ और पारणे के ५९। चारों परिपाटी में तीन वर्ष और दस महीने होते हैं।

पहली परिपाटी में विगय का त्याग नहीं होता। दूसरी में विगय का त्याग होता है। तीसरी में विगय का लेप लगा हो, वैसा आहार भी नहीं लिया जाता और चौथी परिपाटी में पारणे में आयम्बिल किया जाता है (अन्तगड व. ८)।

लघु-सर्वतोभद्र प्रतिमा

इस तप में सर्व-प्रथम उपवास होता है।

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

उसके बाद बेला, तेला, चोला और पचोला किया जाता है। इसके बाद तेला, चोला, पचोला, उपवास और बेला किया जाता है। इसके बाद पचोला, उपवास, बेला, तेला और चोला। फिर बेला, तेला, चोला, पचोला और उपवास। इसके बाद चोला, पचोला, उपवास, बेला और तेला किया जाता है।

यह प्रथम परिपाटी हुई। इसमें एक सौ दिन लगते हैं। जिसमें तप के दिन ७५ और पारणे के २५ होते हैं। चार परिपाटी में एक वर्ष एक मास और दस दिन लगते हैं।

महा-सर्वतोभद्र प्रतिमा

इस तप में पहले उपवास, उसके बाद बेला,

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

तेला, चोला, पचोला, छः और सात किये जाते हैं। यह प्रथम लता हुई।

दूसरी लता—चोला, पचोला, छः, सात, उपवास, बेला और तेला।

तीसरी लता–सात, उपवास, वेला, तेला, चोला, पचोला और छः।

चौथी लता–तेला, चोला, पचोला, छः, सात, उपवास और वेला।

पाँचवीं लता–छः, सात, उपवास, वेला, तेला, चोला और पचोला।

छठी लता–वेला, तेला, चोला, पचोला, छः, सात और उपवास।

सातवीं लता–पचोला, छः, सात, उपवास, वेला, तेला और चोला।

इस प्रकार सात लताओं में उपवास से लगा कर सात तक की तपस्या की जाती है, एक परिपाटी में आठ महीने और पांच दिन लगते हैं। तप के छः मास सोलह दिन और पारणे के एक मास और उन्नीसदिन होते हैं। चार परिपाटियों में दो वर्ष आठ मास और वीस दिन लगते हैं।

भद्रोत्तर प्रतिमा

इसमें सर्व प्रथम पचोला किया जाता है। उसके वाद छः, सात, आठ और नो किये जाते हैं। यह प्रथम लता हुई।

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

दूसरी लता–सात, आठ, नौ, पांच और छः।

तीसरी लता–नौ, पांच, छः, सात और आठ।

चौथी लता–छः, सात, आठ, नौ और पाँच।

पांचवीं लता–आठ, नौ, पाँच, छः और सात।

उपरोक्त पाँच लताओं से एक परिपाटी पूरी होती है। इसमें १७५ दिन तप के और २५ दिन पारणे के, कुल छः मास और वीस दिन होते हैं। चारों परिपाटी में दो वर्ष, दो मास और बीस दिन लगते हैं।

सप्त-सप्तमिकादि भिक्षु-प्रतिमा

इसमें प्रथम सप्ताह में प्रतिदिन एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। दूसरे सप्ताह दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की, तीसरे में तीन-तीन, यों क्रमशः सातवें सप्ताह में प्रतिदिन सात दत्ति अन्न की और सात दत्ति पानी की ली जाती है। ४९ दिन में भिक्षा की १९६ दत्ति होती है।

अष्ट-अष्टमिका के प्रथम अष्टक में (आठ दिन तक) एक दत्ति आहार और एक दत्ति पानी

की भिक्षा में ली जाती है। दूसरे अप्टक में दो, तीसरे में तीन, यों क्रमशः आठवें अप्टक में आठ-आठ दत्ति ली जाती है। इसमें ६४ दिन लगते हैं और कुल दत्ति २८८ होती है।

नवनवमिका में नौ-नौ दिन होते हैं। प्रथम नवक में आहार-पानी की एक-एक दत्ति ली जाती है। यों क्रमशः वढ़ते हुए नौवें नवक में नौ-नौ दत्ति ली जाती है। इसमें ८१ दिन लगते हैं। कुल दत्ति ४०५ होती है।

दसदसमिका भी इसी प्रकार होती है, किन्तु इसमें दस दिन के दसक से गिनती होती है और दस-दस दत्ति तक बढ़ा जाता है। इसमें एक सौ दिन लगते हैं और कुल दत्तियें आहार-पानी की ५५० होती है।

आयम्बिल वर्धमान तप

इसमें सर्व प्रथम एक आयम्बिल किया जाता है। उसके वाद उपवास होता है। फिर दो आयंबिल और उपवास, तीन आयम्बिल और उपवास, चार आयम्बिल और उपवास, यों वीच में उपवास करते जाते हैं और आयम्बिल क्रमशः एक-एक वढ़ाते रहते हैं। इसका क्रम एक सौ आयम्बिल तक जाता है और उसके वाद उपवास किया जाता है। इस प्रकार "आयम्बिल वर्धमान" तप चौदह वर्ष तीन मास और वीस दिन में पूरा होता है। इसमें आयम्बिल के दिन पांच हजार और पचास होते हैं और उपवास के दिन एक सौ होते हैं। कुल पांच हजार एक सौ पचास दिन होते हैं। इस तप में चढ़ना ही होता है, उतरना नहीं होता।

लघुमोक प्रतिमा

(प्रस्रवण सम्बन्धी अभिग्रह) द्रव्यतः–नियमानुकूल हो, तो अप्रतिष्ठापना, क्षेत्रतः–ग्रामादि से वाहर, कालतः–शीत या ग्रीष्म काल में भोग कर करे तो चतुर्दश भक्त से और विना भोगे करे तो पोडश भक्त से या अष्टादश भक्त से पूर्ण होती है। भावतः–दिव्यादि उपसर्ग सहना।

महामोक प्रतिमा भी इसी प्रकार की जाती है। अन्तर इतना ही है कि यह पोडश भक्त से या अष्टादश भक्त से पूर्ण होती है।

लेना और अमावश्या को उपवास करना।

वज्र-मध्य-चन्द्र प्रतिमा

कृष्ण-पक्ष की प्रतिपदा के दिन प्रारम्भ हो कर चन्द्रकला की हानि-वृद्धि के अनुसार दत्ति की हानि-वृद्धि से वज्राकृति में पूर्ण होने वाली एक महीने की प्रतिमा।

इसमें प्रारम्भ में पन्द्रह दत्ति, फिर क्रमशः घटाते हुए अमावश्या को एक दत्ति। शुक्ल-पक्ष की प्रतिपदा को दो, फिर क्रमशः एक-एक बढ़ाते हुए चतुर्दशी को पन्द्रह दत्ति और पूर्णमासी को उपवास किया जाता है (व्यवहार०)।

यावज्जीवन अनशन

यावज्जीवन अनशन, भयङ्कर उपसर्ग और असाध्य रोगादि में, मृत्यु निकट जान कर किया जाता है। यह तीन प्रकार का है-१ पादपोपगमन २ भक्त-प्रत्याख्यान और ३ इंगित मरण।

१ पादपोपगमन-अनशन उसे कहते हैं कि जिसमें शरीर का हलन-चलनादि नहीं किया जाता और पादप-कटे हुए वृक्ष के समान निश्चल पड़ा रहना होता है। इसके दो भेद हैं-१ सिंहादि हिंसक पशु तथा दावानल आदि का उपद्रव होने पर किया जाय, तो वह "व्याघातिम पादपोपगमन" अनशन है और २ बिना किसी उपद्रव के स्वेच्छा से ही किया जाय, तो वह 'निर्व्याघातिम पादपोपगमन' अनशन है। इस पादपोपगमन अनशन में न तो किसी से सेवा कराई जाती है और न स्वयं ही अपने शरीर की सार-सम्भाल की जाती है।

२ भक्त-प्रत्याख्यान अनशन भी व्याघात=उपसर्ग उत्पन्न होने पर और निर्व्याघात=बिना उपसर्ग के भी किया जाता है। इसमें हलन-चलन और देह सम्बन्धी आवश्यक क्रिया भी की जाती है।

३ 'इंगित मरण' यह पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान के बीच का है। इसमें पहले से निश्चित स्थान में हलन-चलन का आगार रख कर शेष का त्याग कर दिया जाता है। फिर अपने स्थान को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाते, किन्तु एक ही स्थान पर रह कर जीवन-पर्यन्त उसी में हलन-चलनादि करते हैं। इसमें किसी से सेवा भी नहीं करवाई जाती (सम० १७)।

ये अनशन निर्हारिम और अनिर्हारिम-यों दो प्रकार के होते हैं।

निर्हारिम-यह अनशन, ग्रामादि बस्ती के किसी उपाश्रय में होता है, जहाँ से अनशन पूर्ण होने पर, अनशन कर्त्ता का शव, ग्राम के बाहर निकाला जाता है *।

* इसके अर्थ में मत-भेद है, स्थानांग २-४-१०२ तथा भगवती २-१ की टीका में ऐसा ही अर्थ किया गया

विश्वासकारी और दोष रहित उपकरण रखना।

भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी अनेक प्रकार की होती है। जैसे आठ कवल प्रमाण ही आहार करना-अल्पाहार ऊनोदरी है। बारह कवल प्रमाण आहार अवड्ढ ऊनोदरी है। सोलह कवल प्रमाण आहार अर्द्ध ऊनोदरी (आधी भूख मिटा कर फिर आगे नहीं खाने रूप तप) चौबीस कवल प्रमाण आहार करना प्राप्त (पाव) ऊनोदरी है। इकत्तीस कवल प्रमाण आहार करना किंचित् ऊनोदरी है। (यहाँ तक स्वल्प मात्रा में भी तप है) और ३२ कवल प्रमाण आहार करना तो प्रमाणोपेत--पूर्ण आहार है। पूर्ण आहार तप नहीं माना जाता। एक कवल आहार भी कम करे, वहाँ तक थोड़ा भी तप अवश्य है। जैन श्रमण तो नित्य तप करने वाले होते हैं। अधिक खाने वाले से ज्ञानादि आचार का पालन बराबर नहीं होता।

कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं कि जिनका पूर्ण आहार ३२ कवल प्रमाण से कम नहीं होता है। उन्हें भी तप के लिए पेट को कुछ खाली रखने से ही ऊनोदरी होती है। जिनका पेट २४ कवल से भर जाता हो, वह यदि ३१ कवल आहार करे, तो वह ऊनोदरी नहीं होगी। सूत्र का विधान साधारणतया है। अपनी साधारण खुराक में से एक भी ग्रास कम खाने वाला, प्रकाम-रस भोगी नहीं, किन्तु ऊनोदरी तप करने वाला कहा जाता है।

ऊनोदरी के अन्तर्गत अभिग्रह का वर्णन उत्तराध्ययन के ३० वें अध्ययन में इस प्रकार बताया है-

"स्त्री अथवा पुरुष, अलङ्कार सहित या रहित, अमुक वय वाला, अमुक वर्ण वाला अथवा अमुक भाव वाला दाता हो, उससे ही भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा कर के निकलना-भाव ऊनोदरी है।" इसमें भी प्रतिज्ञानुसार भिक्षा नहीं मिलने पर कषाय को उत्तेजित नहीं होने दे कर शान्ति से सहन करना तो है ही।

ऊनोदरी के क्षेत्र, काल और पर्याय ये तीन भेद इस प्रकार हैं--

क्षेत्र ऊनोदरी-ग्राम, नगर, राजधानी आदि में अमुक प्रकार के घरों में, अमुक गलियों में और इतने घरों में ही गोचरी के लिए जाने का निश्चय करना। यह गोचरी निम्न छः प्रकार के अभिग्रह में से किसी भी प्रकार का अभिग्रह कर के की जाती है।

१ पेटिका-भिक्षा स्थान (ग्राम अथवा मुहल्ले) की, पेटी के समान चार कोनों में कल्पना करे और बीच के स्थानों को छोड़ कर चारों कोनों के घरों में भिक्षार्थ जावे।

२ अर्धपेटिका-उपरोक्त चार कोनों में से केवल दो कोनों (दिशाओं) में ही गोचरी करे।

३ गोमूत्रिका-‡ जिस प्रकार चलता हुआ बैल पेशाब करता है, वह वक्राकार (टेढ़ामेढ़ा) पड़ता

‡ पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र पृष्ठ २६९ में गोमूत्र को "वलयाकार" (गोलाकार) बताया, किंतु अन्य साहित्य, टीका तथा कोष में और प्रत्यक्ष से यह अर्थ संगत नहीं होता, "वक्राकार" ही ठीक लगता है।

है, उसी प्रकार घरों की आमने-सामने की दोनों पंक्तियों में से प्रथम एक पंक्ति (लाइन) के एक घर से आहार लेवे, उसके बाद सामने की दूसरी पंक्ति में के घर से आहार लेवे, इसके बाद फिर प्रथम पंक्ति का एक घर छोड़ कर आहार लेवे। इस प्रकार की वृत्ति को 'गोमूत्रिका' कहते हैं।

४ पतंग-विथिका–पतंग के उड़ने की रीति के अनुसार एक घर से आहार ले कर फिर कुछ घर छोड़ कर आहार लेवे।

५ शम्बूकावर्ता–शंख के चक्र की तरह गोलाकार घूम कर गोचरी लेना। यह गोचरी दो प्रकार से होती है–१ आभ्यन्तर शम्बूकावर्त–बाहर से गोलाकार गोचरी करते हुए भीतर की ओर आवे, २ बाह्य शम्बूकावर्त–भीतर से गोलाकार गोचरी करते हुए बाहर निकले।

६ गत-प्रत्यागता–एक पंक्ति के अन्तिम घर में भिक्षा के लिए जा कर वहाँ से वापिस लौट कर भिक्षा ग्रहण करे।

उपरोक्त छः प्रकार के अभिग्रहों में से किसी एक प्रकार का अभिग्रह ग्रहण कर के गोचरी के लिए निकलना–'क्षेत्र ऊनोदरी तप' है। इसमें गोचर-क्षेत्र की सीमा में कमी की जाती है।

काल ऊनोदरी–दिन के चार प्रहर में से अमुक प्रहर में भिक्षा लेना अथवा तीसरे प्रहर के अन्तिम (चौथे) भाग में भिक्षा लेना और शेष काल में नहीं लेना–काल ऊनोदरी है। काल ऊनोदरी द्वारा भिक्षा-काल में कमी की जाती है।

भाव ऊनोदरी अनेक प्रकार की है, जैसे–अल्प क्रोध, अल्प मान, अल्प माया, अल्प लोभ, अल्प कलह और अल्प झञ्झ। अपनी कषायों को घटाना–कम करना, अपनी आत्मा को कषायों से खाली रखना 'भाव ऊनोदरी' है।

पर्याय ऊनोदरी–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारों प्रकार की ऊनोदरी करने वाले साधु को 'पर्याय ऊनोदरी' तप होता है।

ऊनोदरी का अर्थ है–अपने आहारादि सामग्री में कमी करना, आवश्यकता को कम करना। उसकी प्राप्ति के क्षेत्र और काल में भी कमी करना।

यद्यपि ये बाह्य-तप के भेद हैं, तथापि इन सब में आभ्यन्तर तप भी गर्भित है। भाव ऊनोदरी इसका स्पष्ट प्रमाण है।

भिक्षाचरी

जीवनपर्यन्त तप के अतिरिक्त जो साकांक्ष तप होता है, उनकी पूर्ति होती है और पूर्ति पर भोजन किया जाता है। भोजन, भिक्षाचरी द्वारा ही प्राप्त होता है, किन्तु महात्माओं को भिक्षाचरी

भी तप युक्त होती है। वे खाने के लिए भोजन प्राप्त करते हुए भी कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं ऐसा नहीं कि चट गये और ले आये। उनके आहार प्राप्ति के नियम भी ऐसे कठोर होते हैं कि जिस आहार की प्राप्ति सरलतापूर्वक नहीं हो कर, कष्ट-साध्य होती है और आहार भी वैसा होता है। जिससे 'रस-परित्यागादि' तप भी हो जाता है।

भिक्षाचरी के अनेक भेद हैं। जैसे कि-

१ द्रव्य से-भिक्षाचरी के लिए तत्पर होने के पूर्व यह निश्चित कर ले कि मैं अमुक वस्तु अथवा इतने द्रव्य ही लूंगा।

२ क्षेत्र से-अमुक क्षेत्र की सीमा में से ही मिलेगा तो लूंगा।

३ काल से-अमुक समय में ही मिलेगा तो लूंगा।

४ भाव से-अनेक प्रकार के अभिग्रह होते हैं। जैसे कि-

हँसता हुआ, बातें करता हुआ, प्रौढ़ पुरुष, युवा अथवा वृद्ध, नंगे सिर या पगड़ी आदि पहने हुए, इत्यादि किसी प्रकार के भाव से युक्त दाता से लेने का अभिग्रह कर के निकले।

५ उत्क्षिप्त चरक-गृहस्थ ने अपने या कुटुम्ब के लिए, भोजन के पात्र में से भोजन निकाला हो और ऐसे आहार में से देवे तो ही लेना, अन्यथा नहीं लेना।

६ निक्षिप्त चरक-भोजन, पकाये हुए पात्र में से निकाल कर दूसरे पात्र में डाल दिया हो, उसमें से देवे तो लेना।

७ उत्क्षिप्तनिक्षिप्त चरक-भोजन के पात्र में से कुछ भोजन बाहर निकाले हुए और कुछ नहीं निकाले हुए देवे तो लेना। अर्थात् निकालते हुए देवे तो लेना।

८ निक्षिप्त उत्क्षिप्त चरक- निकाले हुए भोजन को पुनः पात्र में डाल कर फिर निकाले और उसमें से देवे तो लेना।

९ वर्त्यमान चरक-खाने के लिए थाली में परोसे जाते हुए आहार में से देवे तो लेना।

१० साहरिज्जमान चरक-ठण्डा करने के लिए थाली आदि में ले कर फिर बर्तन में डाल दिया हो वैसे आहार की गवेषणा करना।

११ उपनीत चरक-किसी अन्य को देने के लिए लाये हुए आहार की गवेषणा करना।

१२ अपनीत चरक-बचे हुए आहार को पात्र में से निकाल कर अन्यत्र रखा हो, उसे लेना।

१३ उपनीतापनीत चरक-उपरोक्त दोनों प्रकार के आहार की गवेषणा करना अथवा वस्तु गुण और दोष सुन कर लेना।

+ जैसे कि भात आदि अधिक निकाल लिया हो, तो बचने पर ठण्डा नहीं हो जाय-इस आशय से पुनः डाल कर फिर निकाला हो।

१४ अपनीतोपनीत चरक–वस्तु के मुख्य अवगुण और सामान्य रूप से गुण सुन कर फिर लेना।
१५ संसृष्ट चरक–आहार से लिप्त हाथ अथवा पात्र से देवे वैसे आहार की गवेषणा करना।
१६ असंसृष्ट चरक–अलिप्त हाथ से देवे वैसा आहार लेना।
१७ तज्जात संसृष्ट चरक–उसी पदार्थ अथवा उसके समान पदार्थ से लिप्त हाथों से दिया जावे ऐसे आहार को लेना।
१८ अज्ञात चरक–अपरिचित घरों से आहार लेना।
१९ मौन चरक–विना बोले मौनपूर्वक आहार प्राप्त करना।
२० दृष्ट लाभिक–आहार की जिस वस्तु पर प्रथम दृष्टि पड़े वह अथवा जिस दाता पर प्रथम दृष्टि पड़े, उसी से प्राप्त हो तो लेना।
२१ अदृष्ट लाभिक–दिखाई नहीं देने वाले स्थान में रहे हुए आहार की गवेषणा करना।
२२ पृष्टलाभिक–दाता पूछे कि "आपको किस वस्तु की आवश्यकता है," इस प्रकार पूछने वाले से लेना।
२३ अपृष्टलाभिक–किसी प्रकार का प्रश्न नहीं पूछने वाले दाता से लेना।
२४ भिक्षा लाभिक–रूखे-सूखे तुच्छ आहार की गवेषणा करना।
२५ अभिक्षा लाभिक–सामान्य आहार लेना।
२६ अण्णग्लायक–प्रातःकाल ही गवेषणा करने का निश्चय करना।
२७ औपनिहितक–निकट रहने वाले दाता से गवेषणा करना।
२८ परिमितपिण्डपातिक–परिमित आहार की गवेषणा करना।
२९ शुद्धैषणिक–निर्दोष एवं तुच्छ आहार की गवेषणा करना।
३० संख्यादत्तिक–दत्ति की संख्या निश्चित कर के गवेषणा करना।

इस प्रकार कठिन अभिग्रहों के साथ भिक्षाचरी करना भी एक तप ही है। क्योंकि इससे आहार प्राप्ति में कठिनाई होती है। भूख-प्यास तथा परिश्रम की परवाह नहीं कर के इस प्रकार की भिक्षाचरी करने वाले निर्ग्रन्थ अनगार, सचमुच उच्च कोटि के सन्त हैं।

रस-परित्याग

वाह्य तप का चौथा भेद रसना इन्द्रिय का निग्रह करना है। खाते-पीते हुए भी रस-लोलुपता का त्याग करना भी तप है। स्वादजयी अनगार, रसयुक्त आहार का त्याग कर देते हैं। इस रस-परित्याग तप के अनेक भेद हैं, किन्तु मुख्यतः भेद ये हैं,–

१ विगय त्याग–घृत, गुड़, तेल, दूध, शक्कर आदि विकार बढ़ानेवाली वस्तुओं का त्याग करना
२ प्रणीत रस त्याग–घृत, चासनी आदि रस में सराबोर कि जिसमें से घृतादि झरता हो, ऐसे आहार का त्याग करना।
३ आयम्बिल–रूखी रोटी भात अथवा भूने चने आदि ही लेना।
४ आयाम सिक्थ भोजी–ओसामन आदि के साथ गिरे हुए चावल आदि ही लेना।
५ अरसाहार–मिर्च मसालों से रहित आहार लेना।
६ विरसाहार–पुराना होने के कारण जिसका स्वाभाविक स्वाद भी चला गया हो, ऐसे धान्य का आहार लेना।
७ अन्ताहार–हलका–जिसे गरीब लोग खाते हैं, ऐसा आहार लेना।
८ प्रान्ताहार–खाने के बाद बचा हुआ आहार लेना।
९ रूक्षाहार–रूखा-सूखा आहार लेना। किसी प्रति में 'तुच्छाहार' पाठ भी है, जिसका अर्थ तुच्छ–सत्त्व रहित–निःसार (छिलके आदि का) आहार लेना।

इस प्रकार का आहार ले कर केवल पेटपूर्ति करना भी तप है। खाते हुए भी जिन मुनिवरों की दृष्टि तप-संयम की ओर ही रहती है, वे रसों का त्याग कर देते हैं। वे सोचते हैं कि पेट तो रस रहित आहार से भी भर सकता है, फिर मीठे, मधुरे, चरपरे और घृतादि की क्या जरूरत है ? खाते-पीते भी तप धर्म की आराधना क्यों न कर ली जाय ? आत्मार्थी अनगार, रस रहित आहार लेते हैं और समरस में लीन रहते हुए आत्मा को उन्नत बनाते हैं।

कायक्लेश

जिससे सुखशीलियापन (आरामतलबी) मिटे और शरीर को परिश्रम से कसा जा सके, वह 'कायक्लेश' तप है। 'आराम हराम' के आत्मोत्थानकारी घोष का गुञ्जारव निर्ग्रन्थ-परम्परा में सदा से है। इस प्रकार के श्रम-युक्त तप से अपने 'श्रमण' पद को सार्थक करना, जैन श्रमण परम्परा का नियम रहा है। इसके भी अनेक भेद हैं। मुख्य भेद इस प्रकार हैं–

१ स्थानस्थितिक–निश्चल रह कर कायोत्सर्ग करना।
२ स्थानातिग–किसी विशेष आसन से बैठ कर कायोत्सर्ग करना।
३ उत्कुटकासन–पुट्ठे को नहीं टिकाते हुए पैरों पर ही आधार रख कर झुके हुए बैठना।
४ प्रतिमास्थायी–भिक्षु की प्रतिमाओं में से कोई प्रतिमा धारण कर के विचरना।
५ वीरासनिक–सिंहासन के समान, केवल पैरों पर ही शरीर को टिका कर बैठना।

६ नैषेधिकी-निषद्य–किसी प्रकार के एक आसन से भूमि पर बैठना।

७ दण्डायतिक–भूमि पर पड़े हुए दण्ड के समान लम्बे लेट कर तप करना।

८ लगण्डशायि–एड़ियाँ और सिर को भूमि पर टिका कर, शेष शरीर कूबड़ के समान अधर रखते हुए लेटना।

९ आतापक–शीतकाल में रात के समय खुले स्थान में बैठ कर, तथा उष्णकाल में कड़कड़ाती धूप में बैठ कर आतापना लेना।

१० अप्रावृत्तक–खुले शरीर से आतापना लेना, शीत सहन करना।

११ अकण्डूयक–खाज चलने पर भी शरीर को नहीं खुजलाते हुए आतापना लेना।

१२ अनिष्ठीवक–मुँह में आये हुए पानी को नहीं थूकते हुए आतापना लेना।

१३ सर्व-गात्र-परिकर्म-विभूषा रहित–शरीर के अंगोपांग, दाढ़ी-मूँछ आदि के बाल आदि को सम्हारे नहीं–शोभनिक नहीं बनावे।

कायक्लेश तप वही कर सकता है–जिसकी देह-दृष्टि नहीं हो कर आत्मा को ही प्रभावित करने की वृत्ति हो।

प्रतिसंलीनता

अशुभ मनोयोग का निग्रह करना–रोकना 'प्रतिसंलीनता' है। यह चार प्रकार से होती है। यथा–

१ इन्द्रिय प्रतिसंलीनता–श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन, इन पाँचों इन्द्रियों को, अपने-अपने विषयों में जाती हुई को रोकना। यदि रोकते हुए भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल शब्दादि आ जाय, तो उनमें राग-द्वेष नहीं करना–यह 'इन्द्रिय प्रतिसंलीनता' है।

२ कषाय प्रतिसंलीनता–क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों कषायों के उदय के कारणों को रोकना अर्थात् कषाय की परिणति नहीं होने देना। यदि रोकते हुए भी क्रोधादि का उदय हो जाय, तो उसे क्षमादि के सहारे से निष्फल करना–'कषाय प्रतिसंलीनता' है।

३ योग प्रतिसंलीनता–यह मन, वचन और काया के भेद से तीन प्रकार की होती है।

१ मन योग प्रतिसंलीनता–बुरे विषयों में जाते हुए मन को रोकना और शुभ मनोयोग की प्रवृत्ति करना।

२ वचन योग प्रतिसंलीनता–वचन की अकुशल प्रवृत्ति को रोकना और शुभ प्रवृत्ति में लगाना।

३ काययोग प्रतिसंलीनता–हाथ-पाँव आदि अंगों को भली प्रकार–कछुए के समान संकोच

कर गुप्तेन्द्रिय होना और समाधिपूर्वक स्थिर रहना।

४ विविक्त शय्यासनता–स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित ऐसे उद्यान, आराम, देवालय और सभा, आदि निर्दोष स्थान में, प्रासुक और एषणीय शय्या-संथारा ले कर रहना, यह विविक्त-शय्यासन नामक चौथी प्रतिसंलीनता है।

तात्पर्य यह कि उन सभी स्थानों को वर्जना चाहिये, जहाँ विकार की उत्पत्ति होती हो। विविक्त-शय्यासन का उद्देश्य ही विकारोत्पादक निमित्तों से दूर रहना है।

यह छः प्रकार का बाह्य तप हुआ। इसका आचरण भी मोक्ष मार्ग के पथिकों के लिए आवश्यक है। "बाह्य तप" कह कर इसकी उपेक्षा करना अनुचित है। क्योंकि कोई भी बाह्य तप, आभ्यन्तर तप से सर्वथा शून्य तो नहीं है। प्रत्येक तप में मनोयोग की अनुकूलता तो है ही। और मनोयोग सम्पन्न तप को केवल बाह्य तप कैसे कहा जाय? 'बाह्य तप' इसलिए कहा गया कि इसका प्रभाव शरीर पर अधिक पड़ता है और इसमें आहारादि बाह्य वस्तुओं का त्याग होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें शुभ भावों का योग नहीं है। यदि अशुभ भाव युक्त बाह्य तप हो, तो वह सकाम-निर्जरा का कारण नहीं बनता। साधारण व्यक्तियों के लिए बिना बाह्य तप के आभ्यन्तर तप होना कठिन हो जाता है। स्वाद-विजय, प्रतिसंलीनतादि के सद्भाव में, अशुभ मनोयोगादि का निरुंधन हो कर विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यानादि की प्रवृत्ति सुगम हो जाती है। बाह्य तप के अभाव में आभ्यन्तर तप की प्रवृत्ति क्षणिक भले ही हो जाय, चिरकाल तक नहीं चलती। इसलिए बाह्य तप, आभ्यन्तर तप का उपकारी है। इसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न–बाह्य तप से तो गुणस्थान भी नहीं बढ़ता, गुणस्थान बढ़ता है आभ्यन्तर तप से। फिर बाह्य तप पर जोर क्यों दिया जाता है?

उत्तर–ऊपर बताया गया है कि आभ्यन्तर तप से रहित निःकेवल बाह्य तप को जैनदर्शन ने निर्जरा की आराधना में नहीं गिना, उसे बन्ध-प्रधान माना है। अतएव प्रश्न को अवकाश ही नहीं रहता।

बाह्य तप केवल शरीर से ही नहीं होता, उसमें मनोयोग भी होता है। जिसमें मनोयोग सम्मिलित हो, वह आभ्यन्तरपूर्वक बाह्य तप होता है।

यदि कायक्लेश रूपी भयंकरतम बाह्य तप, महामुनि श्री गजसुकुमालजी नहीं करते और मात्र आभ्यन्तर तप–ध्यान कर के ही खड़े हो जाते, तो उनके निविड़ कर्म कदापि नष्ट नहीं होते। अर्जुन अनगार, भी अनशन के साथ वाक्प्रहार रूपी आक्रोश परीषह सहने रूप-प्रतिसंलीनता तप नहीं करते, तो क्या उनकी आत्मा शुद्ध हो सकती थी? नहीं।

आभ्यन्तर तप भी प्रायः बाह्य तप युक्त होता है। जितनी देर आत्मा आभ्यन्तर तप में लीन

हती है, उतनी देर बाह्य तप प्रायः होता रहता है। आभ्यन्तर तप भी अधिक शक्तिशाली बनता है–ाह्य तप से। यदि बाह्य तप बिलकुल नहीं हो, तो आभ्यन्तर तप भी प्रायः कमजोर और सुविधानुसार ागा, जिसे हम 'जघन्य' या निम्न स्थानीय मध्य-कोटि का कह सकते हैं। ऐसे तप से निर्जरा भी ोड़ी होगी।

गुणस्थान बढ़ने में बाधक बनने वाले आवरण निःकेवल आभ्यन्तर तप से कटते हैं, उन्हें समाप्त रने के लिये आभ्यन्तर तप को बाह्यतप का विशेष बल आवश्यक है। बाह्यतप का विशेष योग ा कर आभ्यन्तर तप विशेष बलवान बनता है, जिससे कर्मावरण विशेष नष्ट हो कर गुणस्थान बढ़ता । अतएव बाह्यतप भी आत्मा के लिए उपकारी है, आवश्यक है और अवश्य करणीय है।

छठे-सातवें गुणस्थान में साधु अनेक वर्षों और पूर्वों तक रहते हैं। उनमें प्रायश्चित्त विनय, वैया-त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग रूप आभ्यन्तर तप भी होता है, फिर भी वे सातवें गुणस्थान से ागे नहीं बढ़ सकते, तो क्या वर्षों और हजारों पूर्वों तक किये गये आभ्यन्तर तप को भी बाह्य तप ी तरह व्यर्थ मानेंगे ?

कई मुनि ऐसे होते हैं कि जिनसे उपवास होना भी कठिन होता है, किन्तु वे बड़े विनयी, वैया-ाच्ची, अध्ययनशील और प्रशस्त योग वाले होते हैं। वे आभ्यन्तर तप विशेष करते हैं, परन्तु जीवन-र की साधना में वे छठे-सातवें गुणस्थान से आगे बढ़ ही नहीं सके। ऐसी स्थिति में तो आभ्यन्तर तप ो व्यर्थ मानोगे क्या ? नहीं, वह भी आत्म-विकास में आवश्यक है। इसी प्रकार बाह्य तप को भी ाभ्यन्तर तप की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि करने वाला मानना चाहिए, निःसार नहीं।

प्रश्न–भगवान् आदिनाथ ने वर्षभर तक तप किया और भगवान् महावीर ने छहमासी तप किये। इतने उग्र एवं घोर तप करने पर भी उनका गुणस्थान नहीं बढ़ा, वे केवली नहीं हुए और जब केवल-ज्ञान हुआ तब बेले का सामान्य तप ही था। इससे स्पष्ट होता है कि लम्बी तपस्याएँ आत्मा के लिए उपकारी नहीं है। आत्मा का विकास तो ध्यान से ही होता है। यह शास्त्रीय बात स्वीकार क्यों नहीं की जाती ?

उत्तर–आप तो एक वर्ष और छह महीने के बाह्य तप की बात करते हैं, परन्तु मैं पूछता हूँ कि भ० आदिनाथ एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ रहे और भ० महावीर साढ़े बारह वर्ष। उनका यह लम्बा छद्मस्थ काल भी आभ्यन्तर तप में व्यतीत हुआ और बाह्य तप के साथ भी उनका आभ्यन्तर तप चलता ही रहा था। इतने लम्बे काल तक ध्यान करते रहने की क्या आवश्यकता थी, जब कि भगवान् मल्लिनाथ को उसी दिन केवलज्ञान हो गया–जिस दिन उन्होंने दीक्षा ली और वे लगभग एक पहर ही छद्मस्थ रहे थे ?

हमारे इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि–"भ० आदिनाथ और महावीर का ध्यान

उतने लम्बे काल के बाद परिपक्व हो कर फलित हुआ और भ० मल्लिनाथ का उसी दिन परिपक्व हो गया—ध्यान-धारा जम कर सबल-प्रबल हो कर सफल हो गई, और गुणस्थान चढ़ कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। वस्तुतः आत्म-विकास में आभ्यन्तर तप ही सफल होता है, बाह्य तप नहीं ?"

समाधान में कहा जाता है कि—उपरोक्त कथन निःसार है। जिनेश्वर भगवंत आदिनाथजी और भ० महावीर के छाद्मस्थिक साधना-काल में वर्षों तक किये हुए ध्यान को अपरिपक्व और भ० मल्लिनाथ के ध्यान को कुछ घड़ियों में ही परिपक्व कहना, वस्तु स्वरूप की अनभिज्ञता अथवा वास्तविक कारण का शाब्दिक छल से अपलाप करना है। वास्तविक स्थिति यह है कि जिस आत्मा पर कर्मावरण अत्यधिक हों, और दीर्घकाल की सुदृढ़ स्थिति वाले हों, उन्हें शुक्ल ध्यान की प्राप्ति भी विलम्ब से होती है और जिनके आवरण शिथिल हों, उन्हे शुक्लध्यान शीघ्र प्राप्त हो जाता है। जैसे—

पहाड़ी और पथरिली भूमि में—जहाँ पानी बहुत गहरा हो, वहाँ कूआँ खोदा जाय, तो पानी तक पहुँचने में दीर्घकाल तक कठोर श्रम करना पड़ता है और नदी के किनारे या खूब सजल प्रदेश में खोदते पर उसी दिन पानी निकल आता है। जिस प्रकार कर्ज का भारी बोझ उतारना अत्यन्त कठिन होता है और उसमें लम्बा काल लगता है और कई तो कर्ज ले कर ही मर जाते हैं, किन्तु अल्प कर्ज वाला सरलता से चुका देता है। जिस प्रकार महारोग, सरलता से नहीं छूटता और लम्बे काल तक चलता है, इसके विपरीत अल्परोग शीघ्र छूट जाता है। उसी प्रकार जिस आत्मा पर कर्मबन्धन अत्यधिक हों, दृढ़ हों, दीर्घ स्थिति वाले हों, उन्हें शुक्ल-ध्यान में प्रवेश करने में लम्बा समय लग जाता है और जिसके स्वल्प हों, उसे थोड़े समय में हो जाता है। भ० मल्लिनाथजी तो दीक्षित होने के बाद पहरभर छद्मस्थ भी रहे, परन्तु भगवती मरुदेवा और प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने तो प्रव्रज्या ग्रहण की ही नहीं, आर्त्तध्यान से धर्मध्यान (अनित्य-अशरण भावना) में प्रविष्ट हो कर शुक्ल-ध्यान में चले गये और केवली हो गए। इस प्रकार की विचित्र-स्थिति, ध्यान की अपरिपक्वता नहीं, किन्तु प्रत्येक आत्मा की विविध प्रकार की स्थिति है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो बहुत बड़ी बाधा उपस्थित होगी। फिर यह भी मानना होगा कि तीर्थङ्कर भगवंत अनन्तबली नहीं है, एक वृद्ध नारी (भगवती मरुदेवा) जितनी भी शक्ति आदिनाथ में नहीं थी कि जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए हजार वर्ष लग गये और भ० महावीर में इतनी भी शक्ति नहीं, जितनी अर्जुन मालाकार मुनि में थी, जो छह मास में ही मुक्ति पा गए ? आगमकार भगवंत ने इस विषय में अंतक्रिया की एक चौभंगी बताई है। देखें पृ० ४४५।

इससे भी विशेष बात यह कि कोई असोच्चा केवली जीवनभर प्रथम गुणस्थानी रहे, किन्तु जीवन के अंतिम भाग में—मुहूर्त-मात्र में सम्यक्त्व, साधुता और धर्म-शुक्ल ध्यानी और केवली हो कर सिद्ध भी हो जाते हैं (भगवती ९-३१)। यह आत्माओं के बन्धनों की विचित्रता है।

कर्मों की विचित्रता का ही यह फल है कि घातिकर्मों से के क्षय होने के बाद भी कुछ आत्माएँ तो उसी दिन अघातिकर्मों से भी मुक्त हो कर सिद्ध हो जाती है और कुछ हजारों-लाखों वर्षों और पूर्व तक शरीर के बन्धन में रहती हैं तथा साता-असाता वेदना सहन करती है। भ० आदिनाथजी केवली होने के बाद एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक शरीर के बन्धन में रहे थे। यह सब अपने-अपने कर्मों के बन्धन का परिणाम है। इसे बाह्य या आभ्यन्तर तप की साधना की व्यर्थता या कमजोरी बतलाना समझदारी का अभाव है।

प्रश्न—वीतरागता प्राप्त करने के लिये वासना को जीतना आवश्यक है, तप कर के शरीर को सुखाने की कोई आवश्यकता नहीं। क्या यह कथन अनुचित है ?

उत्तर—वासना को जीतने के लिये भी बाह्य तप अति आवश्यक है। अनशन—उपवासादि तप इन्द्रियों को शिथिल करता है, मन में उठते हुए विकारों का शमन करता है और वासना को उभाड़ने वाले निमित्तों से बचाता है। इससे वासना रुकती है और क्रमशः नष्ट होती रहती है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसे शस्त्रादि साधनों से दुर्बल बनावे, उसे मिलती हुई कुमक रोके। इससे शत्रु पर विजय प्राप्त करना सरल हो जाता है। इसी प्रकार बाह्य तप से विषय-वासना का ह्रास होता है। अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता—ये बाह्य तप विषय-विकार को जीतने के प्रबल उपाय हैं। इनमें से अनशन तो वासना को निर्बल करने का अचूक उपाय है। आचारांग सूत्र श्रु० १ अ० ५ उ० ४ में साधु के लिये यह विधान किया है कि— "**उब्बाहिज्जमाणे**........यदि मुनि में विषय-वासना उद्दिप्त हो और साधना में बाधक हो तो निर्बल—रूखा-सूखा आहार करे, थोड़ा आहार करे, खड़ा हो कर ध्यान करे और ग्रामानुग्राम विहार करे। यदि इतने पर भी विकार नष्ट नहीं हो, तो "**आहारं वुच्छिदिज्जा**"—आहार का सर्वथा त्याग कर दे।

इस प्रकार वासना पर विजय प्राप्त करने का अचूक उपाय अनशन है। इसके साथ '**इंद्रिय-प्रतिसंलीनता**'—इन्द्रियजन्य वासना पर विजय पाना भी बाह्य तप है और 'कषाय-प्रतिसंलीनता, योग-प्रतिसंलीनता तथा विविक्त-शयनासन' भी बाह्य तप है। इन सब का पालन मनोयोगपूर्वक होना है। इसलिए इनको निःकेवल बाह्य तप=शरीर-शोषण बताना असत्य है। शरीर के प्रत्येक प्रदेश में जीव दूध-पानी की तरह मिला हुआ है। इसलिए आत्म-विशुद्धि के लिए शरीर-शोषण भी उतना ही आवश्यक है—जितना दूध में मिला हुआ पानी, घृत में मिली हुई छाछ और सोने में मिली हुई मिट्टी को जला कर नष्ट करने के लिए दूध, घृत और सोने को तथा उनके पात्र को आग पर चढ़ा कर तपाना आवश्यक है। तपाने से ही इनकी शुद्धि होती है।

जिस प्रकार संग्राम में विजयी होने की भावना वाला योद्धा, अपने शरीर की चिन्ता नहीं करता,

जिस प्रकार अपने शील को अखण्डित रखने की भावना वाली सती महिला, सतीत्व के रक्षण के लिए अपने जीवन की बाजी लगा कर, मृत्यु का आव्हान करती है, उसी प्रकार उत्तम श्रमण भी विकारों को नष्ट करने एवं कर्मों से मुक्त होने के लिए योद्धा के समान अपने शरीर-रक्षण की चिन्ता नहीं करते–" **कायस्स वियाघाए संगामसीसे वियाहिए** " (आचारांग १–६–५) ।

आचारांगसूत्र श्रु० १ अ० ८ उ० ४ के अंतिम सूत्र में तो स्पष्ट लिखा है कि–चारित्र को सुरक्षित रखने के लिए यदि और कोई मार्ग नहीं हो और परीषह दुर्वार हो, तो जीवन का अन्त करने-मरने–आत्म-घात करने के लिए तत्पर हो जाय, किन्तु अकृत्य नहीं करे । और अपने उस आत्म-घात को भी समय-प्राप्त मृत्यु के समान माने । इससे उसके कर्म नष्ट होंगे । ऐसा मरण उसके लिए हित, सुख, क्षेम एवं मुक्ति के योग्य होगा ।

इससे अधिक और क्या कहा जाय ? शरीरादि से मुक्त–अशरीरी बनने के लिए तत्पर हुआ श्रमण, शरीर को मुख्यता दे कर बाह्य तप के विरोध में कुतर्क करे, यह संग्राम से भयभीत कायर के समान है, सुखशीलियापन है ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के ३० अ० में स्पष्ट कहा है कि–

"एवं तवं तु दुविहं जे सम्मं आयरे मुणी ।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ " ॥३७॥

–बाह्य और आभ्यन्तर–दोनों प्रकार के तप की जो सम्यग् आचरणा करता है, वह शीघ्र मुक्ति लाभ करता है ।

प्रश्न–बाह्य तप तो साँप मारने के लिए बाँबी पीटने के समान है । क्या बाँबी पीटने से साँप मर जाता है ?

उत्तर–बाँबी और साँप का उदाहरण गलत है । आप शरीर को बाँबी के समान और आत्मीय विकारों को साँप के समान बता रहे हैं । जैसा भेद और भिन्नत्व बाँबी और साँप में हैं, वैसा शरीर और आत्मा में नहीं । बाँबी तो हमारे रहने के घर के समान है,–शरीर से स्पष्ट ही भिन्न–अत्यन्त भिन्न है । जिस प्रकार बाँबी पीटने से साँप नहीं मरता, उसी प्रकार घर पीटने से हमारे शरीर पर चोट नहीं आती । किन्तु जिस प्रकार साँप पर प्रहार करने से वह मर जाता है, उसी प्रकार बाह्य तप से हमारा विषय-वासना रूपी साँप क्षिण होता है । आपको स्मरण में रखना चाहिये कि शरीरधारियों की आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं है । शरीर और आत्मा क्षीर-नीरवत् एकमेक है, बाँबी की तरह भिन्न नहीं। अतएव दृष्टांत विषम एवं अनुपयुक्त है ।

प्रश्न–"हम इस तथ्य को भूल गए कि यह भौतिक शरीर, आत्मा का मन्दिर है । और समस्त

संसार के सत्य भगवान् का तीर्थ है। क्या मन्दिर की उपेक्षा, उसमें प्रतिष्ठित देव का अपमान नहीं है? क्या तीर्थ का तिरस्कार उसमें रहने वाले सत्य भगवान् की अवगणना नहीं है * ?

उत्तर—कल्पना तो मजेदार है, परन्तु अतिशयोक्ति से भरपूर होती हुई भी अन्य अपेक्षा से उपयुक्त मानी जा सकती है—दूसरे जीवों को पीड़ित-परितापित नहीं करने की दृष्टि से। भले ही वह आत्मा अभी तीर्थ और भगवान् रूप नहीं हो, परन्तु अपनी आत्मा के सदृश्य मान कर पीड़ित-परितापित तो नहीं करना चाहिए। परन्तु ये विचार यहाँ उपयुक्त नहीं है। उपरोक्त पंक्तियाँ जैनधर्म के बाह्य तप के निषेध में लिखी गई है और इस दृष्टि से यह बात हास्यास्पद बन गई है। क्योंकि कोई भी जैन साधक अपने-आपको तीर्थ एवं भगवान् स्वरूप और अपने शरीर को भगवान् का मन्दिर नहीं मानता। जो ऐसा मानता है, वह अपने आत्म-भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यथेच्छ विचरण करता है और वैषयिक सुखों से आत्मा को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता है. साथ ही शरीर रूपी मन्दिर की भरपूर शुश्रूषा कर के रंगाचंगा रखने का प्रयत्न करता है और मौज-शौक के सभी साधन अपनाता है। जैन-दर्शन इसे आराधना नहीं, विराधना मानता है। जैन-साधक अपनी आत्मा को तीर्थ एवं भगवान् नहीं मान कर साधारण बद्ध-जीव मानता है और शरीर को मानता है—बन्दीगृह। बन्धन से मुक्त—भगवान् होने के लिए वह बन्दीगृह से स्नेह नहीं करता, आदर-सम्मान नहीं करता, वरन् बन्धन तोड़ कर स्वतन्त्र होने का भरपूर प्रयास करता है।

इस प्रकार के कुतर्क करना तो जिनेश्वर भगवंतों को भी मूर्ख एवं मूढ़ बताने के समान है कि जिन्होंने अनशनादि बाह्य तप का विधान किया, स्वतः उग्र एवं घोर तप किया और अपने साधु-साध्वियों को भी घोर तप करने की अनुज्ञा दी। कुतर्ककार जैन साधु हो कर, इतना भी नहीं समझते कि मुक्ति-लाभ के लिए उठा हुआ वीर-श्रमण, शरीर निरपेक्ष हो कर इस प्रकार का विचार करता है कि—

"इमं सरीरं अणिच्चं, असुई असुइसंभवं।
असासयावासमिणं दुक्खकेसाण भायणं ॥१३॥
असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसण्णिभे ॥१४॥
माणुसत्ते असारम्मि, वाहीरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥१५॥

(उत्तरा० १९)

महामुनि मृगापुत्रजी की यह भावना और भ० महावीर का यह उपदेश कि—

* अमर भारती वर्ष २ अंक १ जनवरी १९६५ पृ० १२।

"इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं।"

–जिनेश्वरों की आज्ञा का पालन करने की इच्छा वाला पंडित मुनि, स्नेह त्याग कर, अपनी आत्मा को अकेली माने और शरीर (–रूपी बन्दीगृह) को धुनक डाले–झटक दे। तपस्या कर के शरीर को कृश और जीर्ण कर दे। (आचारांग १-४-३)

"धूणिया कुलियं व लेववं, किसए देह मणासणाइएहिं।"

–जिस प्रकार लेप वाली भींत का लेप हटा कर कृश कर दी जाती है, उसी प्रकार अनशनादि तप कर के शरीर को कृश कर देना चाहिए। (सूयग० १-२-१)

"देहदुक्खं महाफलं।" (दशवै० ८-२७)

अनेक स्थानों पर ऐसे प्रेरणादायक उपदेश हैं, जिनमें देह-राग छोड़ कर उग्रतप एवं घोरतप करने की प्रेरणा भरी हुई है। भगवान् के ऐसे उपदेश और स्वयं भगवान् द्वारा आचरित घोरतप का ही यह प्रभाव था कि हजारों भव्यात्माएँ लम्बी तपस्याएँ कर के अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाती थीं। बहुत-सी महारानियाँ भी उग्रतप का आचरण कर के बन्धन-मुक्त हो गई, तब आज का वेशधारी, इस प्रकार के कुतर्क खड़े कर के खोटा प्रचार करे, यह उनके गाढ़ मिथ्यात्व का उदय है।

अपने शरीर को मन्दिर, और आत्मा को भगवान् बता कर, भोग-विलास में रत रहने की बात कदाचित् पुष्टिमार्ग की तो हो सकती है, परन्तु जैनधर्म की तो कदापि नहीं है, हरगिज नहीं है।

प्रश्न–मुक्ति का सीधा सम्बन्ध आभ्यन्तर तप से है, बाह्य से नहीं। केवलज्ञान और मुक्ति आभ्यन्तर तप–ध्यान से होती है। इस ओर क्यों नहीं देखा जाता है?

उत्तर–इस प्रकार का तर्क मूलोच्छेदक है। इससे धर्म का मूल ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि धर्म की भूमिका या मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के बाद विरति आती है, तब चौथे गुणस्थान से पाँचवाँ छठा आदि होता है। छठे-सातवें गुणस्थान का सीधा सम्बन्ध चारित्र से है, दर्शन से नहीं। इस समय दर्शन परम्पर कारण रहता है और चारित्र अनन्तर कारण। चारित्र में भी वीतरागता और सर्वज्ञता का अनन्तर कारण यथाख्यात चारित्र होता है, सामायिकादि चार चारित्र, परम्पर कारण बन जाते हैं। श्रेणी आरोहण में शुक्ल-ध्यान अनन्तर कारण होता है, धर्मध्यान नहीं। किन्तु इतने मात्र से सम्यक्त्व पूर्व के चार चारित्र और धर्मध्यान उपेक्षणीय या हेय नहीं बन जाते। परम्पर कारण में से ही अनन्तर कारण की उत्पत्ति होती है। परम्पर कारण का उच्छेद कर देने पर अनन्तर कारण होता ही नहीं, बनता ही नहीं। क्या बीज नष्ट कर देने पर कन्द, मूल, अंकुर, पत्र, पुष्प और फल प्राप्त हो सकते हैं? नहीं, कदापि नहीं। इसी प्रकार अनन्तर–सीधे कारण का कुतर्क खड़ा करने से तो धर्म का मूल सम्यक्त्व और उससे उत्पन्न सराग चारित्र भी नष्ट हो जाते हैं, तब वीतराग चारित्र रूपी फल प्राप्त होगा कैसे? अतएव कुतर्क व्यर्थ है।

वैसे अनशन तप भी मुक्ति का अनन्तर–सीधा कारण है। तीर्थंकर भगवंत स्वयं बाह्य तप से युक्त सिद्ध होते हैं। भ० प्रथम जिनेश्वर ने छः दिन के पादपोपगमन अनशन सहित मुक्ति लाभ की, भ० महावीर प्रभु ने बेले और मध्य के २२ जिनेश्वरों ने मासखमण के उग्र तप सहित मुक्ति प्राप्त की। साधारण साधु-साध्वियों ने भी बाह्य तप सहित सिद्ध गति प्राप्त की। अतएव अनशन तप को मुक्ति का सीधा–अनन्तर कारण मानना भी उचित है।

इस प्रकार बाह्य तप के विषय में प्रचारित किये गये कुतर्कों को प्रश्न रूप में उपस्थित कर के समाधान किया गया है। खेद की बात यह है कि अनशनादि बाह्य तप की मान्यता नष्ट करने की इच्छा से ये कुतर्क श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के उपाध्याय कविश्री अमरचन्दजी म० ने किये हैं। उन्हें जिनेश्वर भगवन्तों और उनके किये आगमिक विधानों के प्रति विद्रोह करते कुछ भी संकोच नहीं हुआ।

जिस प्रकार समुद्र की सतह पर ही खोजने वाले को मोती प्राप्त नहीं हो सकते। मोती मिलते हैं। गहरा उतर कर तल में पहुँचने पर, उसी प्रकार सिद्धांत-निरपेक्ष तर्क से तत्त्व का वास्तविक लाभ नहीं होता। तत्त्वोपलब्धि होती है गंभीर चिन्तन से–कुतर्क की सतह छोड़ कर तलस्पर्शी सुतर्क के सहारे से और दुराग्रह छोड़ कर तत्त्वानुरूप गम्भीर चिन्तन से। तर्क तो प्रतिकूल भी होते हैं और अनुकूल भी। जिसकी दृष्टि और भावना में विकार भरा होता है, वह कुतर्क ही ढूंढता है और जो विशुद्ध दृष्टि है वह तत्त्वानुकूल तर्क का सहारा लेता है। कुतर्क उन्मार्ग है, भटकाने और चक्कर में डालने वाला है, तो सुतर्क सन्मार्ग है, पार लगाने वाला है। कुतर्क रूपी तलवार, अपने को ही काटती है और सुतर्क रक्षा करती है। तर्क होता है समझने के लिए, किन्तु कुतर्क होता है–विरोधी भावना से सत्य का अपलाप करने के लिए।

उनके तर्क कितने पोचे थोथे और व्यर्थ हैं, यह उपरोक्त उत्तरों से पाठक समझ जाएँगे और अपनी श्रद्धा शुद्ध रखेंगे।

बाह्य तप के प्रति जो तर्क हुए हैं, वे धर्म-भावना नष्ट करने की नीयत से हुए हैं। तार्किक महाशय ने यह भी नहीं सोचा कि तीर्थंकर भगवंतों और संत-सतियों ने उग्र बाह्य तप का आचरण किया, वह बिना सोचे-समझे नहीं किया। वे मूर्ख नहीं थे। तीर्थंकर भगवंतों द्वारा निरूपित तत्त्व एवं विधान, इन तार्किकों की कुतर्क रूपी फूंक से नहीं उड सकते। पाठकों की श्रद्धा एवं निष्ठा स्थिर रखने के लिए ही ये प्रश्नोत्तर दिये गये हैं।

आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का है। यथा—१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ ध्यान और ६ व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त

चारित्र में लगे हुए दोषों को दूर करने के लिए जो शुद्धि की जाती है, उसका नाम प्रायश्चित्त है। आत्मार्थी मुनि, सावधानीपूर्वक चारित्र का पालन करते हैं। वे दोष लगाना नहीं चाहते। फिर भी प्रमाद के चलते अथवा परिस्थितिवश विवश हो कर जो दोष सेवन होता है, उसकी शुद्धि करने के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है। वह प्रायश्चित्त दस प्रकार का होता है। यथा—

१ आलोचनार्ह—अपने दोष को प्रकट करना। गुरु अथवा रत्नाधिक के समक्ष अपने कार्य की क्रिया को प्रकट करना। भिक्षा व स्थंडिल आदि के लिए गमनागमन करने, शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्रादि के ग्रहण आदि क्रियाओं में उपयोग रखते हुए भी सूक्ष्म प्रमाद बना हो, उसकी शुद्धि के लिए आलोचना कर के शुद्धि करना। कम से कम प्रायश्चित्त है—आलोचना। जिसे छठे गुणस्थानवर्ती सभी साधु करते हैं।

२ प्रतिक्रमणार्ह—प्रतिनिवर्तन, दोषों का त्याग कर पुनः शुद्धाचार की स्थिति में आना, मिथ्या-दुष्कृत दे कर पुनः दोष सेवन नहीं करने की सावधानी रखना।

पाँच समिति, तीन गुप्ति में सहसात्कार—अचानक अथवा अनजानपने से दोष लग जाय, मनोज्ञ शब्दादि विषय इन्द्रिय गोचर हो जाय और उनमें किञ्चित् राग-द्वेष हो जाय, तो वह प्रतिक्रमण—मिथ्या-दुष्कृत से शुद्ध होता है।

३ तदुभयार्ह—जिसकी शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण से हो, वह 'तदुभयार्ह' प्रायश्चित्त है। निद्रावस्था में साधारण दुःस्वप्न से महाव्रतों में दोष लगने की शङ्का होने पर उसकी शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण से होती है।

४ विवेकार्ह—त्यागना। अनजान में अकल्पित—आधाकर्मादि दोष युक्त आहार एवं वस्त्र-पात्रादि आ जाय, किन्तु पीछे से उसकी सदोषता मालूम हो जाय, तो उस सदोष वस्तु का त्याग कर देना—'विवेकार्ह' प्रायश्चित्त है।

५ व्युत्सर्गार्ह—कायोत्सर्ग से जिस दोष की शुद्धि हो—वह व्युत्सर्गार्ह है। उच्चारादि परठने तथा गमनागमन के साधारण दोषों का कायोत्सर्ग करना। विवशतावश लगे दोषों की शुद्धि कायोत्सर्ग से होती है।

६ तपार्ह–जिस दोष की शुद्धि तपाचरण से हो। सचित्त पृथ्वी आदि का स्पर्श हो जाने से, तेलेखना प्रमार्जना नहीं करने, आवश्यकी नैषेधिकी नहीं करने तथा नदी उतरने से और गुरु को प्रणाम ीं करने आदि से प्रायश्चित्त आता है।

७ छेदार्ह–दीक्षा-पर्याय का कम करना, जिससे कि बाद के दीक्षित को भी नमस्कार करना पड़े। ेत्त पृथिव्यादि की विराधना करने और प्रतिक्रमण नहीं करने आदि से।

८ मूलार्ह–जिससे चारित्र ही नष्ट हो जाय और नई दीक्षा लेनी पड़े। किसी भी महाव्रत का । होना–जान बूझकर हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह का सेवन, रात्रि-भोजन करना आदि। से नई दीक्षा आती है।

९ अनवस्थाप्यार्ह–ऐसा दुष्कर्म करे कि जिससे साधुता नष्ट हो जाय, फिर उसे साधु-वेश में तपस्या करा कर और गृहस्थभूत बना कर बाद में दीक्षा दी जा सके।

१० पारांचिकार्ह–गच्छ से बाहर करने के बाद घोर तप करने पर, गृहस्थभूत कर के दीक्षा दी सके। ऐसा कार्य–उत्सूत्र प्ररूपणा, साध्वी के शील का खण्डन आदि महापापों की शुद्धि जिससे हो ।

वर्तमान में पूर्व के आठ प्रायश्चित्त ही प्रचलन में हैं। संहनन और धृति-बल की हीनता से छले दो प्रायश्चित्त अभी नहीं दिये जाते।

उपरोक्त प्रायश्चित्त विधान उन्हीं आत्मार्थियों के लिए है, जो दोष सेवन हो जाने पर भी म-प्रिय हैं। उदय भाव की प्रबलता के कारण दोष लगा, किन्तु उसके लिए उनके हृदय में पश्चात्ताप और वे भविष्य में निर्दोष चारित्र पालना चाहते हैं। उनका प्रायश्चित्त ग्रहण भी हृदय से होता है। मानते हैं कि यह प्रायश्चित्त-दान, हमारी शुद्धि के लिए, हम पर उपकार कर के दिया गया है। वे ना मन के अथवा दबाव से प्रायश्चित्त नहीं लेते। किन्तु प्रायश्चित्त के द्वारा अपना उद्धार मान कर य से ग्रहण करते हैं। जो प्रायश्चित्त हृदय से ग्रहण नहीं हो और जिसे दण्ड मान कर भुगता जाय, निर्जरा का कारण नहीं होता। उसकी गिनती तप में नहीं होती। आत्म-शुद्धि के लिए किया हुआ ही निर्जरा एवं तप रूप होता है।

साधु-साध्वियों को प्रमत्त दशा के कारण साधारण दोष लगने की सम्भावना है। जिसके लिए लोचना प्रतिक्रमणादि प्रायश्चित्त रोज लेते हैं। गणधर भगवान् श्री गौतम स्वामीजी जैसे भी भिक्षा- री के बाद-स्वस्थान आ कर प्रभु के समक्ष आलोचना करते थे। आत्मार्थी मुनिराज, प्रायश्चित्त लेने विलम्ब नहीं करते हैं। दोष को अधिक देर तक दबा कर रखना वे अधिक से अधिक हानि मानते । क्योंकि उससे मायाचार का सेवन हो कर द्विगुणित पाप होता है।

विनय

जिसके द्वारा आत्मा के कर्म रूपी मैल को हटाया जा सके, उसे विनय कहते हैं। यह गुण और गुणों के पात्र की भक्ति, आदर एवं बहुमान करने से होता है। इस विनय तप के ७ भेद हैं। जैसे--१ ज्ञान विनय २ दर्शन विनय ३ चारित्र विनय ४ मन विनय ५ वचन विनय ६ काय विनय और ७ लोकोपचार विनय।

१ ज्ञान विनय–१ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मन:पर्ययज्ञान और ५ केवलज्ञान, इस प्रकार ज्ञान-विनय के पाँच भेद हैं। इन पाँच प्रकार के ज्ञान और ज्ञानी के प्रति श्रद्धा भक्ति रखना, बहुमान करना और ज्ञान की निरतिचार आराधना करना–ज्ञान-विनय है।

२ दर्शन विनय–यह दो प्रकार का होता है–१ शुश्रूषा और २ अनाशातना।

शुश्रूषा=सेवा करना। यह अनेक प्रकार से होता है, जैसे–गुणाधिकों के आने पर, खड़े हो कर आदर देना, उन्हें आसन देना, सत्कार करना, बहुमान देना, विधियुक्त वंदना करना, उनके सामने हाथ जोड़ कर रहना, आते हुए जान कर संमुख जाना, बैठने पर सेवा करना और जाते समय कुछ दूर तक पहुँचाने जाना इत्यादि प्रकार से शुश्रूषा-विनय होता है।

अनाशातना विनय–यह पेंतालीस प्रकार का है– १ अरिहंत २ अरिहंत-प्रणीत धर्म ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ स्थविर ६ कुल ७ गण ८ संघ ९ क्रियावंत १० सांभोगिक ११ श्रुतज्ञानी १२ मतिज्ञानी १३ अवधिज्ञानी १४ मन:पर्यवज्ञानी और १५ केवलज्ञानी। इन पन्द्रह की आशातना नहीं करना=विपरीताचरण नहीं करना, ३० इन पन्द्रह की भक्ति करना, बहुमान करना, (हाथ जोड़ना आदि भक्ति और हृदय में श्रद्धा एवं आदरभाव रखना बहुमान है) और ४५ इनके गुणों का कीर्तन करना। यह अनाशातना विनय है।

३ चारित्र विनय–यह पांच प्रकार का है–१ सामायिक चारित्र का विनय २ छेदोपस्थापनीय-चारित्र विनय ३ परिहारविशुद्ध ४ सूक्ष्मसम्पराय और ५ यथाख्यात चारित्र। इन पाँच प्रकार के चारित्र में श्रद्धा रखना, यथाशक्ति पालन करना, उच्चचारित्र पालन करने की भावना रखना, भव्य प्राणियों के सामने चारित्र धर्म की प्ररूपणा करना तथा चारित्रवंतों का विनय करना।

४ मन विनय–यह दो प्रकार का है–१ अप्रशस्त मन विनय और २ प्रशस्त मन विनय।

अप्रशस्त मन विनय–अप्रशस्त=पापयुक्त मन, यह बारह प्रकार का होता है, जैसे–१ सावद्य=पापकारी विचार, २ सक्रिय = जिससे कायिकी आदि क्रिया लगती हो, ३ कर्कश = मानसिक कठोरता; दया-विहीन मानस, ४ कटुता = अशुभ (कृष्णादि लेश्या युक्त) मानस, ५ निष्ठुर = मृदुता रहित, ६ परुष = स्नेह रहित–क्रूर मानस; ७ हिंसादि आस्रव युक्त, ८ छेद कर = अंगादि काटने रूप विचार, ९ भेद कर =

नासिकादि भेद करने अथवा फूट डालने के विचार १० परितापनाकारी = प्राणियों को परितापना उत्पन्न करने रूप विचार ११ उपद्रवकारी = किसी पर महान् आपत्ति आ जाय-प्राण संकट में पड़ जाय, वरवाद हो जाय-ऐसे विचार और १२ भूतोपघातक = प्राणियों की घात हो जाय, इस प्रकार के विचार करना -अप्रशस्त मन होता है। इस प्रकार के अप्रशस्त भाव, मन में नहीं आने देना ही 'अप्रशस्त मन विनय' है+।

प्रशस्त मन विनय-उपरोक्त वारह प्रकार के अप्रशस्त मन से उलटे विचार, वारह प्रकार का प्रशस्त मन विनय है। जैसे-१ निरवद्य विचार २ कायिकादि क्रिया से रहित मन ३ अकर्कश मन ४ अकटु (मधुर) ५ कोमल ६ अक्रूर ७ अनास्रव = संवर युक्त ८ अछेदकर ९ अभेदकर १० परितापना रहित ११ उपद्रव रहित और १२ भूतोपघात विरत मानस। प्रशस्त मन ही विनय धर्म का साधक है। अतएव ऐसे मन को धारण करना।

५ जिस प्रकार मन-विनय के अप्रशस्त और प्रशस्त ऐसे मुख्य दो भेद और प्रत्येक के वारह प्रभेद हैं, उसी प्रकार वचन-विनय के भी दो भेद और प्रत्येक भेद के वारह प्रभेद हैं।

६ काय विनय-इसके भी मुख्य भेद-अप्रशस्त काय-विनय और प्रशस्त काय-विनय ऐसे दो भेद ही हैं।

अप्रशस्त काय-विनय-सात प्रकार का है। यथा-१ असावधानी से चलना २ अनुपयोगपूर्वक ठहरना ३ उपयोग रहित हो कर बैठना ४ वैसे ही सोना ५ उल्लंघन करना ७ प्रलंघन = वारम्बार इधर-उधर उल्लंघन करना और ७ उपयोग-शून्य हो कर देह और इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना। यह सात प्रकार का 'अप्रशस्त काय-प्रयोग' होता है। अप्रशस्त काय प्रयोग का निरोध अथवा त्याग करना ही अप्रशस्त काय-विनय रूप आभ्यन्तर तप होता है।

प्रशस्त काय-विनय-अप्रशस्त काय-विनय से उलटा 'प्रशस्त काय-विनय' है। जैसे आवश्यकता होने पर सावधानी से उपयोगपूर्वक यतना से चलना, आदि।

+ स्थानांग ७ और भगवती २५-७ में अप्रशस्त मन-विनय के ७ भेद ही किये हैं। यथा-१ पाप युक्त मन, २ सावद्य, ३ सक्रिय, ४ क्लेशित, ५ अणण्हवकर, ६ छविकर और ७ भूताभिसंकणे। इन दोनों पाठों में-"**तहप्पगारं मणं णो पहारेज्जा**"-अर्थात् इस प्रकार के अप्रशस्त विचार मन में नहीं आने दे-यह पाठ नहीं है, जो उववाई सूत्र के मूल में है। तथापि अर्थ तो सर्वत्र यही है कि अप्रशस्त मन का त्याग करना अथवा अप्रशस्त भाव मन में नहीं आने देना ही अप्रशस्त मन-विनय है। पापयुक्त, अशुभ मन-विनय रूप तप का कारण नहीं हो सकता। व्यवहार भाष्य गाथा ७७ में कहा है कि-"**माणसिओपुणविणओ, दुविहोउ समासओ मुणीयव्वो। अकुसलमणो रोहो, कुसल-मणउदीरणं चेव।**" अतएव अप्रशस्त मन का निरोध ही मन-विनय रूप होता है। कोई-कोई अप्रशस्त मनादि प्रयोग को भी विनय रूप मानते हैं-यह उचित नहीं लगता।

७ 'लोकोपचार विनय'–गृहस्थ का गृहस्थों के साथ और साधु का साधुओं के साथ होता है। कलाचार्य आदि से कलाग्रहण करने का सम्बन्ध रहता है। इसलिए उनका 'परछन्दानुवर्तिक' आदि विनय करने पड़ते हैं। किन्तु मुनियों को गृहस्थों का विनय नहीं करना है। क्योंकि यह प्रायश्चित्त स्थान है। लोकोपचार विनय भी सात प्रकार का है।

१ अभ्यास वर्तित–गुरु आदि बड़ों के समीप रह कर ज्ञानाभ्यास करना २ परछन्दानुवर्ती–गुरु आदि बड़ों की इच्छानुसार चलना ३ कार्य हेतु–ज्ञानदानादि कार्य के लिए विनय करना ४ कृतप्रतिकृत्य–अपने पर किये हुए उपकारों के बदले आहारादि द्वारा गुरुजनों की सेवा करना और इस इच्छा से कि वे प्रसन्न होंगे, तो मुझे विशेष ज्ञान दान देंगे आदि ५ आर्त्त-गवेषणा–वृद्ध और रोगी साधु के लिए औषधि एवं पथ्य ला कर देना ६ देशकालज्ञता–देश और समय को देख कर चलना और ७ सर्वत्र अप्रतिलोमता–सभी कार्यों में अप्रतिकूल–अविरोधी रहना।

यह सातवाँ भेद–वर्तमान में कहीं-कहीं मतभेद का कारण बन गया है। कोई-कोई विद्वान, लोकोपचार विनय का सम्बन्ध लोगों से–जनता से जोड़ते हैं+। यह अनुचित है। असंयत अविरत ऐसे

+ एक प्रसिद्ध मुनिपुंगव ने ध्वनि-प्रसारक यन्त्र के पक्ष में सैद्धांतिक दृष्टि उपस्थित करते हुए 'लोकोपचार विनय' के आखरी भेद 'सर्वत्र अप्रतिलोमता' = सर्वानुकूलता को उपस्थित किया था। उनका तर्क था कि "जनता की अनुकूलता के अनुसार वर्तन करना 'लोकोपचार विनय' का भेद है और वह निर्जरा में माना गया है। अतएव ध्वनि-विस्तारक यन्त्र का उपयोग, श्रोता की अनुकूलता के कारण होने से उपादेय है।" हमारी दृष्टि में इस प्रकार का तर्क बौद्ध संस्कृति के अनुकूल तो हो सकता है, किन्तु निर्ग्रन्थ संस्कृति के अनुकूल नहीं हो सकता। क्योंकि बौद्ध संस्कृति ने लोकहित को अपनाया, किन्तु जैन संस्कृति तो लोक संसर्ग से दूर रह कर निश्रेयस = मोक्ष के ध्येय वाली है और निर्ग्रन्थों की साधना भी निरवद्य हो कर संवर युक्त है। उन्हें लोकानुसरण नहीं करने की आज्ञा दी है। अतएव निर्ग्रन्थ लोकानुकूल नहीं हो सकते और 'सर्वत्र अप्रतिलोमता' का यह अर्थ भी नहीं है। व्यवहार भाष्य गाथा ८४ में इस भेद का अर्थ बताते हुए लिखा है कि–

"समायारिपरूवणनिद्देसे चेव बहु विहे गुरुओ।
एमेयत्ति तहत्तिय सव्वत्थणुलोमयाएसा ॥८४॥

इच्छामिच्छाकारादि रूप समाचारी, सिद्धान्तानुकूल प्ररूपणा, गुरु आदि के निर्देश के अनुसार आज्ञा पालक होना–गुर्वादि के सर्व प्रकार से अनुकूल रहना सर्वानुलोमता है। आगे बताया गया कि व्यवहार के विपरीत आचरण नहीं करना भी सर्वानुलोमता विनय है। जैन साधु का सतत सम्पर्क अपने साधुओं के साथ रहता है। अपने साथी साधुओं और समाचारी तथा जिनाज्ञा के अनुकूल रहना–प्रतिकूल बरताव नहीं करना उसका कर्त्तव्य है और यही सर्वानुकूलता विनय है। जैन श्रमण की जो भी प्रवृत्ति होती है, वह मोक्ष के अपने ध्येय और संवर-निर्जरा के आचरण के अनुकूल ही होती है–प्रतिकूल नहीं। जिस व्यवहार से अपने ध्येय एवं संवर-निर्जरा धर्म को बाधा पहुँचे, उस व्यवहार से पृथक् रहना ही अनगार भगवंतों का कर्त्तव्य है।

लोकसमूह से इसका सम्बन्ध नहीं है। यह कैसे हो सकता है कि लोकसमूह का संसर्ग और सम्वन्ध त्यागने वाला निर्ग्रन्थ, जनता का अनुसरण करे, उसकी इच्छानुसार चले (परच्छन्दाणुवत्तियं) ? वास्तव में इसका सम्बन्ध रत्नाधिक, वृद्ध अथवा रोगी आदि श्रमणों से ही है, असंयत जनता से नहीं। व्यवहार भाष्य गाथा ८५ में भी लिखा है कि–

"लोगोवयारविणओ, इय एसो वण्णितो सपक्खम्मि।"

टीका–"इति एवमुक्तेन प्रकारेण एष लोकोपचारविनयः स्वपक्षेसुविहितलक्षणे वर्णितः।"

इस प्रकार लोकोपचार विनय का सम्बन्ध संसारी लोगों से नहीं, किन्तु गुर्वादि श्रेष्ठ श्रमणों से ही है। पूर्व के छः भेद, मुख्यतः साधक आत्मा के खुद से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें दूसरे श्रमणों से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना इस सातवें भेद में है। इसमें औपचारिक क्रिया की मुख्यता है, इसी से इसे लोकापचार विनय कहते है।

वैयावृत्य

गुरु, तपस्वी, वृद्ध आदि साधु की आहार-पानी आदि से सेवा करना और संयम पालन में सहायता देना–'वैयावृत्य' तप कहलाता है। यह पात्र-भेद से दस प्रकार का है–

१ आचार्य की वैयावच्च, २ उपाध्याय की, ३ शैक्ष (नवदीक्षित) की, ४ रोगी की, ५ तपस्वी की, ६ स्थविर (वृद्ध) की, ७ साधर्मी–समान धर्म वाले की, ८ कुल–एक आचार्य के परिवार की, ९ गण (कुल के समुदाय) की और १० संघ (गण के समुदाय) की वैयावृत्य ❀।

इस प्रकार उपरोक्त साधुओं की यथोचित सेवा करना 'वैयावृत्य' नाम का तप है। यदि वैयावृत्य की आवश्यकता हो, तो उस समय स्वाध्यायादि छोड़ कर वैयावृत्य करना चाहिये। वैयावृत्य में भी परिश्रम होता है, इसलिए इसे तप कहा है। यह हितबुद्धि से भावपूर्वक की जाय, तभी आभ्यन्तर तप होता है।

यद्यपि वैयावृत्य अन्य साधुओं की कीजाती है, इसमें दूसरे साधुओं से वाह्य सम्वन्ध रहता है, तथापि इस निमित्त से सेवा करने वाले की आत्मा भी प्रभावित होती है। उसकी आत्म-शुद्धि बढ़ती रहती है। संयमी की सेवा संयम शुद्धि में सहायक होती है। इस प्रकार आत्म-शुद्धि के कारण इसे आभ्यतन्र तप कहा जाता है। यदि वैयावृत्य में आत्मा पूर्ण रूप से लीन हो कर एक रस हो जाय, तो उत्कृष्ट योग से तीर्थङ्कर नाम-कर्म का वन्ध भी हो सकता है (उत्तरा० २९–४३)।

❀ भगवती २५–७ में दस भेदों का वर्णन है, किन्तु क्रम में अन्तर है। वहाँ १ आचार्य २ उपाध्याय ३ स्थविर ४ तपस्वी ५ ग्लान ६ शक्ष ७ कुल ८ गण ९ संघ और १० साधर्मिक, इस प्रकार क्रम-भेद से वर्णन है।

स्वाध्याय

भावपूर्वक, अस्वाध्याय के कारणों को टाल कर, आगमों का स्वाध्याय करना–अध्ययन करना, स्वाध्याय नाम का तप है। भक्ति और बहुमानपूर्वक जिनवाणी का पठन एवं मनन करने से आत्मा की अशुद्ध पर्यायों का क्षय होता है, अर्थात् ज्ञान-शक्ति को ढकने–दबाने वाले ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है और ज्ञान में वृद्धि होती है। आगमों के अभ्यास से आत्मा का स्वरूप, उसकी शुद्धि के उपाय तथा परमात्म स्वरूप का ज्ञान होता है। आगमों के आधार से हम तत्त्वों का स्वरूप तथा हिताहित जान सकते हैं। इसीसे इस क्रिया को स्वाध्याय = स्व (अपना) अध्ययन कहा है। इसके पाँच भेद इस प्रकार हैं–

वाचना–शिष्यों को आगमों की वाचना देना और शिष्य का गुरु से भक्तिपूर्वक वाचना लेना, यह 'वाचना स्वाध्याय' है। आगमों का विधिपूर्वक वांचन करना भी वाचना ही है। मन को एकाग्र कर के वाचना करने से ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होती है और ज्ञान-पर्याय खुलती है। जिससे नूतन ज्ञान की प्राप्ति होती है और तीर्थधर्म का दृढ़ अवलम्बन हो कर महान् निर्जरा होती है (उत्तरा० २९)।

पृच्छना–वाचना ग्रहण करते समय उत्पन्न हुई शंका के लिए पूछना अथवा सीखे हुए ज्ञान पर विचारणा करते हुए जो संशयात्मक विकल्प उठे, उनके समाधान के लिए पूछना, यह 'पृच्छना' नाम का स्वाध्याय है। इससे शंका दूर हो कर, ज्ञान में विशुद्धि होती है तथा कांक्षामोहनीय कर्म की निर्जरा होती है।

कुतर्क से सिद्धान्त को बाधित करने के विचार से पूछे जाने वाले प्रश्न, स्वाध्याय के भेद में नहीं आते। क्योंकि उसका उद्देश्य स्वाध्याय नहीं, किन्तु "पराध्याय" है। समझने के लिए पूछना ही स्वाध्याय है।

यदि गुरु के समझाने पर भी क्षयोपशम की मन्दता से समझ में नहीं आवे, तो अपनी अयोग्यता समझनी चाहिए। कितनी ही बातें (अभव्य, अव्यवहारराशि, ज्ञानदर्शन का क्रमिक उपयोग आदि) ऐसी है कि जो सब की समझ में नहीं आ सके। ऐसी बातों के लिए जिनवाणी पर श्रद्धा रखते हुए यही मानना ठीक है कि–

"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"–भगवान् के वचन सत्य और सन्देह रहित है। मेरी ही बुद्धि का दोष है, जो मेरी समझ में नहीं आ रहे हैं। उदय भाव की विचित्रता से समझ में भी विचित्रता होती ही है। सांसारिक सभी विषयों का ज्ञान भी किसी एक व्यक्ति को नहीं होता। भाषा और तर्क में पारंगत व्यक्ति, रोज के उपयोग की वस्तु दूध, घृत आदि की विशुद्धता की भी परीक्षा नहीं कर सकता, तो सर्वज्ञ के सिद्धान्तों की सभी बातें, एक व्यक्ति नहीं समझ सके, इसमें अचरज की कोई

बात नहीं है।

परिवर्तना-सीखे हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करते रहना, जिससे भूल न जाय, उस पर अज्ञान का आवरण नहीं चढ़ जाय। ज्ञान की स्थिरता इसीसे होती है और वह आत्मसात् हो जाता है।

अनुप्रेक्षा-वाचनादि द्वारा प्राप्त ज्ञान पर चिन्तन-मनन करते रहना, उस पर बार-बार विचार करते रहना-'अनुप्रेक्षा' है। आगमों में संसार की अनित्यता, पुद्‌गल का मिलन-बिछुड़नादि धर्म, द्रव्य की उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक अवस्था तथा गुणादि विषयों पर एकाग्रतापूर्वक मनन करते रहने से अनुभव-ज्ञान में वृद्धि होती है। अनुभव-ज्ञान थोड़ा हो, तो भी बहुत फलदायक होता है।

अनुप्रेक्षा में एकाग्रता होने पर आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य सभी कर्मों की स्थिति और रस आदि में कमी हो जाती है। जो अशुभ कर्म, दुःखपूर्वक लम्बे काल तक भुगतने योग्य होते हैं, वे थोड़े काल के हो जाते हैं। उनका यह दुःखदायक फल भी बहुत-कुछ नष्ट हो कर स्वल्प रह जाता है। अनुप्रेक्षा को बढ़ाते रहने वाली आत्मा, इस संसार-समुद्र से शीघ्र ही पार हो कर मोक्ष के परम सुख को प्राप्त कर लेती है।

धर्मकथा-वाचना, पृच्छा, परावर्तना और अनुप्रेक्षा द्वारा प्राप्त श्रुतज्ञान को धर्मकथा द्वारा भव्य जीवों को सुनाना-'धर्मकथा' है। इससे श्रुतज्ञान की वृद्धि होती है। मोक्ष-मार्ग का प्रवर्त्तन होता है और जिन धर्म की प्रभावना होती है। धर्मकथा अपने कर्मों की निर्जरा के उद्देश्य से ही होनी चाहिए, तभी वह स्वाध्याय रूप तप में गिनी जाती है। यदि मान-पूजा की भावना से धर्मकथा की जाय तो वह उलटी कर्मबन्ध की कारण बन जाती है।

धर्मकथा के चार प्रकार श्री स्थानांग सूत्र ४-२ में इस प्रकार बताये हैं-

१ आक्षेपनी धर्मकथा-संसार और विषयादि की ओर बढ़ते हुए श्रोताओं के मोह को हटा कर, धर्म में लगाने वाली कथा-'आक्षेपनी' धर्मकथा है। इसके द्वारा श्रोता के हृदय में धर्म का प्रवेश कराया जाता है। यह आक्षेपनी कथा भी चार प्रकार की है-

१ आचार आक्षेपनी-अहिंसादि, तथा अस्नान और पादविहारादि आचार का उपदेश करना अथवा दशवैकालिक आचारांगादि आचार-प्रदर्शक सूत्रों का उपदेश करना।

२ व्यवहार आक्षेपनी-अतिक्रमादि दोष रूप मैल को हटाने की रीति, आलोचना, प्रायश्चित्त आदि का कथन कर के श्रोता को जैनधर्म की निर्दोषता समझाना।

३ प्रज्ञप्ति आक्षेपनी-श्रोता की शंका का समाधान कर के तत्व-श्रद्धा को दृढ़तर बनाने वाली कथा अथवा व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि का उपदेश कर के तत्वज्ञान का विशेष बोध देने वाली कथा।

भोगादि विषयक चिन्ता, इच्छा, विचारणा ये सब आर्त्त-ध्यान में सम्मिलित है। भौतिक सुख-दुःख के कारण जितने भी विचार होते हैं, वे सब आर्त्त-ध्यान के अन्तर्गत है। इस आर्त्त-ध्यान के भी चार भेद हैं-

१ अमनोज्ञ संयोग के वियोग की चिन्ता-अरुचिकर शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श की प्राप्ति (प्रतिकूल विषयों का संयोग) होने पर, उनसे बचने, उनसे पृथक् होने की चिन्ता करना।

२ इष्ट अवियोग चिन्ता-माता, पिता, पत्नी, पुत्र, धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा एवं इच्छित कामभोग की प्राप्ति होने पर-"उनका वियोग नहीं हो जाय, वे सदाकाल बने रहे," इस प्रकार की चिन्ता।

३ रोग-मुक्ति चिन्ता-किसी भी प्रकार के रोग की उत्पत्ति होने पर उससे मुक्त-निरोग होने की चिन्ता, उसके निवारण के उपाय तथा निरोगता बनी रहे-रोग उत्पन्न नहीं हो-इत्यादि बातों का चिन्तन।

४ काम-भोग अवियोग चिन्ता-इन्द्रियों के काम-भोग सदाकाल बने रहे, इनका कभी भी वियोग नहीं हो और किन उपायों से ये स्थायी रहें, इस सम्बन्धी विचार करना। इस भेद में 'निदान'(अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने सम्बन्धी चिन्ता) का समावेश भी होता है। दूसरों के पास उत्तम भोगों को देख कर वैसे भोग प्राप्त करने की चिन्ता करना तथा करणी के फल को भोग प्राप्ति के दाव पर लगाना भी इस भेद में गिना जाता है।

आर्त्त-ध्यान के चार लक्षण हैं। यथा-१ आक्रन्दन करना-उच्च स्वर से रोना, २ शोचन-शोकाकुल हो कर दीनता धारण करना, ३ अश्रुपात करना और ४ क्लेशयुक्त वचन बोलना।

आर्त्त-ध्यान की सीमा बहुत बड़ी है। जिसमें रौद्र-ध्यान नहीं हो और शुभ-ध्यान भी नहीं हो, उन सभी में आर्त्त-ध्यान रहता है। केवल रोना और चिन्ता करना ही आर्त्त-ध्यान नहीं, किन्तु साधारणतया भौतिक सुखों में रञ्जित होना भी आर्त्त-ध्यान ही है। अच्छे वस्त्राभूषण पहन कर मोह में लीन हो जाना भी आर्त्त-ध्यान है।

रौद्र-ध्यान

रौद्र-ध्यान-क्रोध की परिणति अथवा क्रूरता के भाव जिसमें रहे हों। दूसरों को मारने, पीटने, लूटने, ठगने एवं दुखी करने की भावना जिस चिन्तन के मूल में हो, ऐसे कुविचारयुक्त ध्यान को रौद्र-ध्यान कहते हैं। इसके चार भेद ये हैं-

१ हिंसानुबन्धी-किसी प्राणी को मारने, पीटने, क्रोधित हो कर बाँधने, जलाने, डाम लगाने अथवा स्वार्थवश नासिका विंधने और ऐसे किसी भी प्रकार से किसी जीव को दुखित करने के विचारों का समावेश-हिंसानुबन्धी रौद्र-ध्यान में होता है।

२ मृषानुवन्धी–दूसरों को अपमानित करने और उसके हृदय को वचन के वाणों से विंधने अर्थात् कठोर वचनों द्वारा किसी को दुःख पहुँचाने, तथा सत्य वस्तु का अपलाप करने एवं सत्य तथा उत्तम सिद्धांतों को झुठलाने के लिए मिथ्या-भाषण सम्वन्धी विचार करना तथा झूठी योजना वनाना– 'मृषानुवन्धी रौद्र-ध्यान' है।

३ चौर्यानुवन्धी–तीव्र लोभ के वश हो कर, किसी की वस्तु का अपहरण करने–चुराने या लूट कर दुखी करने सम्वन्धी विचार करना।

४ संरक्षणानुवन्धी–भौतिक सुख एवं विषयेच्छा के साधन तथा उनकी प्राप्ति का प्रमुख साधन–धन-सम्पत्ति एवं मान-प्रतिष्ठा और पद की रक्षा के लिए किसी विरोधी आदि को दवाने, अलग हटाने अथवा मारने आदि का विचार करना।

रौद्र-ध्यान को पहिचानने के चार लक्षण इस प्रकार हैं–

१ ओसन्न दोष–हिंसा-मृषा आदि में से किसी एक दोष में वहुलता से प्रवृत्ति करना।

२ वहुल दोष–हिंसादि किसी एक या चारों में प्रवृत्त रहना।

३ अज्ञान दोष–अज्ञान अथवा मिथ्या शास्त्रों के प्रभाव से हिंसादि अधर्म में उत्तरोत्तर वृद्धि करना।

४ आमरणान्त दोष–मृत्युपर्यन्त अनिष्ट तथा क्रूर विचारों में ही लगे रहना।

रौद्र-ध्यान, दूसरों के दुःख की अपेक्षा (परवाह) नहीं करना। इसमें क्रूरता मुख्य होते हुए भी यह चारों कषायों से सम्वन्धित है। रौद्र-ध्यान नरक गति का कारण होता है।

आर्त्त-ध्यान छठे गुणस्थान तक रहता है तो रौद्र-ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक रहता है। जितना भयानक रौद्र-ध्यान है, उतना आर्त्त-ध्यान नहीं है। हां, आर्त्त-ध्यान के निमित्त से रौद्र-ध्यान आ सकता है। अनिष्ट संयोग होने पर, अनिष्ट के निमित्तभूत वनने वाले के प्रति रौद्र-ध्यान हो सकता है। ऐसे समय में सम्यग्-दृष्टि को अपने अशुभ कर्म-विपाक का विचार कर के रौद्र-ध्यान नहीं आने देना चाहिए और यदि आ भी जाय तो निष्फल कर देना चाहिए।

इन दो ध्यानों को छोड़ना आभ्यन्तर तप रूप निर्जरा में है।

धर्म-ध्यान

धर्म-ध्यान–धर्म सम्वन्धी ध्यान, धर्म-ध्यान है। वस्तु का स्वरूप–तत्त्व विचारणा, जिनेश्वरों की आज्ञा और आत्मा को निर्मल करने वाला ध्यान–धर्म-ध्यान है। जिस ध्यान में श्रुतधर्म और चारित्र धर्म सम्वन्धी विचारणा हो, आस्रव और वन्ध, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष सम्वन्धी सम्यग् चिंतन

हो, हेय-उपादेय के विवेकपूर्वक विचारधारा चल रही हो, वह धर्म-ध्यान है । देव और गुरु के गुणचिंतन, स्मरण, स्तुति भी धर्म-ध्यान का ही अंग है । इस धर्म-ध्यान के भी चार प्रकार हैं । यथा-

१ आज्ञा विचय-जिनेश्वरों की आज्ञा को सत्य मान कर, उसके प्रति बहुमान की भावना रखते हुए विचार हो कि 'अहो ! जिनेश्वर भगवंत की उत्तम वाणी परम सत्य है, तथ्यकारी है । इसमें तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन है । संसार की समस्त वाणियों से जिनेश्वरों की वाणी परमोत्तम और एकदम निराली है । समस्त प्राणियों की हितकर्त्ता, शाश्वत सुखों की दाता और महान् अर्थ वाली है । सप्तभंग, चार निक्षेप, चार प्रमाण एवं सप्तनय युक्त है । संसार-समुद्र से पार पहुँचाने वाली महाशक्ति इस जिनवाणी में-जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा में सुरक्षित है । भगवान् की आज्ञा पूर्णतया सत्य है और शंका रहित है । संसार में परम अर्थ वाली कोई वस्तु है, तो एकमात्र जिनेश्वर भगवंत की परमोपकारी आज्ञा-जिनवाणी ही है । धन्य है परमतारिणी, परमार्थ-प्रकाशिनी, पापपंक-नाशिनी, भवजलधि-पार-उतारिनी जिनेश्वर भगवंत की वाणी । इस प्रकार जिनेश्वरों की आज्ञा के प्रति बहुमान रखते हुए विचार करना-'आज्ञा विचय' धर्म-ध्यान है ।

२ अपाय विचय-अपाय का अर्थ-पाप है । राग, द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव और उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले चतुर्गति संसार भ्रमण और दुःख परम्परा का विचार करना और पाप सेवन से होने वाली आत्मा की अधोगति पर यथाशक्ति विचार कर, इससे बचने की भावना करना-'अपाय विचय' धर्म-ध्यान है ।

३ विपाक विचय-कर्म के शुभाशुभ फल विषयक चिन्तन करना । जीव कभी शुभ कर्मों के उदय से अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करता है । देवलोक का सुख पा कर उसमें गृद्ध हो जाता है और कभी अशुभकर्म के उदय से वही जीव, हीन अवस्था को पा कर दुखी हो जाता है तथा नरक-निगोद के महान् असह्य दुखों का भोक्ता बन जाता है । कैसी विचित्र कर्मगति है ! आत्मा अपने-आप में तो शुद्ध, पवित्र एवं आनन्द रूप है, किन्तु शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप ही वह विविध प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव करता है । जो भव्यात्मा, बन्ध के मूल कारण ऐसे राग-द्वेष का मूल काट कर-विभाव दशा को छोड़ कर स्वभाव की ओर मुड़ते हैं, वे शुभाशुभ विपाक से वंचित रह कर परमानन्द को प्राप्त कर लेते हैं । कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का विचार करना-'विपाक विचय' धर्म-ध्यान है ।

४ संस्थान विचय-लोक का स्वरूप, ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक, द्वीप, समुद्र, नरकादि का स्वरूप आकृति आदि का विचार करना, फिर इसमें जीव की गति आगति आदि का विचार करना, संसार-समुद्र में होती हुई जीव की विडम्बना-डूबने-उतराने के भयंकर दुखों से परिपूर्ण, इस लोक में धर्म रूपी जहाज का चिंतन करना, इस धर्म रूपी नौका में ज्ञानदर्शनादि रूप रत्न भर कर उत्तम आत्माएँ प्रयाण करती है । संवर रूपी उत्तम साधनों से नावा के छिद्र बन्द कर दिये जाते हैं, जिससे डूबने का भय

नहीं रहता। फिर तप रूपी अनुकूल पवन से धर्म-जहाज, कूच करता हुआ मोक्ष रूपी महानगर को पहुँच जाता है और लोक के मस्तक पर स्थिर हो कर परम सुखी हो जाता है। इस प्रकार का ध्यान 'संस्थान विचय' धर्म-ध्यान है।

धर्म-ध्यान के लक्षण

धर्म-ध्यानी को पहचानने के चार लक्षण हैं-१ आज्ञा-रुचि-आगमों के विधि-विधानों पर रुचि होना।

२ निसर्ग-रुचि-बिना किसी उपदेश के स्वभाव से ही जिनेश्वर की आज्ञा में रुचि होना।

३ सूत्र-रुचि-आगम प्रतिपादित तत्त्वों पर श्रद्धा रखना।

४ अवगाढ़-रुचि-जिनागमों का विस्तारपूर्वक ज्ञान कर के विश्वास करना अथवा उपदेश सुन कर धर्म पर श्रद्धा होना।

धर्म-ध्यान के अवलम्बन

धर्म-ध्यान में प्रवेश होने के लिए चार प्रकार के अवलम्बन हैं, जो इस प्रकार हैं,-

१ वाचना-श्रुतज्ञान पढ़ना।

२ पृच्छा-समझने के लिए गुरु आदि से पूछना।

३ परिवर्तना-पढ़े हुए श्रुत-ज्ञान को भूल नहीं जाय, इसलिए पुनः-पुनः आवृत्ति करना।

४ + धर्मकथा-श्रुत चारित्र रूप धर्म का उपदेश करना।

उपरोक्त चार अवलम्बन के सहारे से जीव, धर्म-ध्यान रूपी भवन के शिखर पर पहुँच सकता है।

धर्म-ध्यान की भावनाएँ

धर्म-ध्यान की चार भावनाएँ इस प्रकार हैं -

१ अनित्य भावना-'यह घर-बार, कुटुम्ब-परिवार तथा शरीर सभी अनित्य है। नाशवान है। सभी संयोग, वियोग-मूलक हैं। इनका वियोग होगा ही। फिर इन पर मोह क्यों करूँ,'-इस प्रकार विचार कर धर्म का अवलम्बन करना।

+ औपपातिक और भगवती २५-७ में चौथा अवलम्बन 'धर्मकथा' है किन्तु ठाणांग ठा० ४ उ० १ में इसके बदले 'अनुप्रेक्षा' है, जिसका अर्थ-'सूत्र और अर्थ का चिन्तन एवं मनन करना है।

२ अशरण भावना—जन्म-जरा और मृत्यु के भय से भयभीत तथा आधि, व्याधि और उपाधि से पीड़ित जीव को संसार में शरणभूत कोई नहीं है। संसार-समुद्र में चारों ओर बड़े विकराल मगर-मच्छ मुँह खोल कर खाने को तय्यार हैं। ऐसी भयंकर दशा में परम आश्रयभूत कोई है, तो एकमात्र जिनेश्वर का धर्मरूप द्वीप ही है। अर्थात् अशरणभूत संसार में धर्म रूपी शरण का अवलम्बन करना।

३ एकत्व भावना—इस सारे संसार में, मैं अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं है और न मैं ही किसी दूसरे का हूँ। 'एगोहं नत्थिमेकोइ.......गाथा का चिन्तन करना और पर-भाव का त्याग कर स्वभाव में लीन होना।

४ संसार भावना—संसार कैसा विचित्र है। इसमें एक जीव, दूसरे जीवों के साथ, माता, पिता, पत्नी और पुत्रादि के अनेक सम्बन्ध कर चुका है। जो आज पुत्र है, वह कभी पिता, माता और पत्नी रूप भी हो चुका है। जो आज मनुष्य है, वह कभी कीट, पतंग और निगोद का निकृष्टतम प्राणी भी हो चुका है। इस प्रकार संसार की विचित्रता का विचार कर मोक्ष की एकरूपता का चिन्तन करना।

आर्त्त और रौद्र ध्यान का त्याग कर के धर्म-ध्यान का आश्रय लेने से आत्मा का उत्थान होता है। धर्म-ध्यान का आरम्भ, चतुर्थ गुणस्थान से हो कर सातवें गुणस्थान तक रहता है।

शुक्ल-ध्यान

शुक्ल-ध्यान—जो आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर कर के आत्मा को शुद्ध करता है, वह शुक्ल-ध्यान है। शुक्ल-ध्यान का आरम्भ, पर-लक्ष को छुड़ा कर स्वात्मलीनता में स्थिरता होने के साथ होता है। इसमें बाह्य दृष्टि का अभाव होता है।

शुक्ल-ध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं,—

१ पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी—पूर्वगत श्रुत के अनुसार एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का विस्तार से, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय से तथा अनेक भेदों से विचार करना। यह ध्यान विचार सहित होता है। इसमें शब्द से अर्थ में, अर्थ से शब्द में, शब्द से शब्द में और अर्थ से अर्थ में तथा एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है।

जिन्हें पूर्वो का ज्ञान नहीं है, उन्हें अर्थ, व्यंजन और योगों में परस्पर संक्रमण रूप शुक्ल-ध्यान

उपरोक्त दूसरे भेद की प्राप्ति से आत्मा में स्थिरता आ जाती है। इसके बाद केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो कर ध्यानान्तर दशा हो जाती है।

३ सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती–जब केवलज्ञानी भगवान् का निर्वाण समय निकट आता है, तब अन्तर्मुहूर्त पूर्व अर्थात् १३ वें गुणस्थान के अंतिम अन्तर्मुहूर्त में, यह तीसरा भेद प्राप्त होता है। इस भेद के चलते योग निरुंधन होता है। उस समय केवलज्ञानी के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया रहती है। यहाँ परिणाम विशेष रूप से वृद्धिगत होते हैं।

४ समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती–शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवलज्ञानी भगवंत, इस भेद में आ कर सभी योगों का निरुंधन कर लेते हैं। यहाँ उनकी सूक्ष्म क्रियाएँ भी नष्ट हो जाती है। इसलिए इसे 'समुच्छिन्न क्रिया' कहा है। यह ध्यान स्थायी एवं स्वभावरूप से स्थिर हो जाता है, फिर कभी जाता ही नहीं है। इसलिए इसे 'अप्रतिपाती' कहा है।

प्रथम भेद, सभी योगों में होता है। दूसरा भेद किसी एक योग में होता है। तीसरा भेद केवल काय-योग में होता है और चौथा अयोगी अवस्था में होता है।

यदि प्रथम और द्वितीय भेद उपशम-श्रेणी में हो, तो वहाँ से पतन होना अनिवार्य हो जाता है। क्षपक-श्रेणी में पतन नहीं होता और आगे बढ़ते हुए सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाते हैं। वहाँ ध्यानान्तर दशा होती है। जब आयु पूर्ण होने का समय आता है तो अन्तर्मुहूर्त में क्रमशः तीसरा और चौथा भेद प्राप्त हो कर मुक्त हो जाते हैं।

शुक्ल-ध्यान के लक्षण

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण + इस प्रकार हैं–

१ विवेक–आत्मा को देह से तथा समस्त सांसारिक सम्बन्धों से भिन्न मानने रूप विवेक लक्षण।

२ व्युत्सर्ग–शरीर तथा उपधि का त्याग करने रूप व्युत्सर्ग लक्षण युक्त।

३ अव्यथा–परीषह तथा उपसर्ग से चलित नहीं होने रूप लक्षण युक्त।

४ असम्मोह–गहन विषयों में अथवा देवादि कृत छलना में सम्मोह नहीं होने रूप।

तात्पर्य यह कि शुक्ल-ध्यानी अपने ध्यान से विचलित नहीं हो कर स्थिर रहते हैं। यह उनका

शुक्ल-ध्यान के अवलम्बन

शुक्ल-ध्यान के चार आलम्बन + इस प्रकार हैं,–

१ क्षमा–क्रोध नहीं करना ।

२ मुक्ति–लोभ से रहित होना ।

३ आर्जव–माया से रहित हो कर सरल होना ।

४ मार्दव–मान नहीं करना ।

उपरोक्त चार कषायों से रहित होता हुआ भव्यजीव, शुक्ल-ध्यान में उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है ।

शुक्ल-ध्यान की भावनाएँ

शुक्ल-ध्यान की नीचे लिखी चार भावनाएँ हैं,–

१ * अपायानुप्रेक्षा–आश्रवों से तथा कषायों से होने वाले दुःखों का विचार करना । संसार की वृद्धि के कारणभूत पापों का चिन्तन करने रूप भावना (आश्रव भावना)।

२ अशुभानुप्रेक्षा–संसार की असारता, अशुभ परिणाम आदि (अशुचि भावना) का विचार करना ।

३ अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा–अनन्त जन्म-मरण और अनादि काल से होते हुए, अनन्त भव-भ्रमण (लोक स्वरूप भावना) का विचार करना ।

४ विपरिणामानुप्रेक्षा–वस्तुओं के परिणमन की विविधता, शुभ से अशुभ, संयोग से वियोग, तथा देव और मनुष्य सम्बन्धी सुख सामग्री की विनाशकता (अनित्य भावना) का चिन्तन करना ।

बारह भावना मुख्यतः धर्म-ध्यान से सम्बन्धित है । फिर भी शुक्ल-ध्यान की भावना में भी क्रमशः, आश्रव भावना, अशुचि भावना, लोक स्वरूप भावना और अनित्य भावना का समावेश हो सकता है । शुक्ल-ध्यान पर आरूढ़ भव्यात्मा, यदि मलिनता को दबावे नहीं, किन्तु नष्ट करती जाय तो मुहूर्तमात्र में आराधक से आराध्य हो कर परमानन्द में लीन हो सकती है ।

+ भगवती २५–७ में इन्हें 'लक्षण' माना है । स्थानांग ४–१ में तीसरा भेद 'मार्दव' का और चौथा 'आर्जव' का है ।

* स्थानांग ४–१ तथा भगवती २५–७ में क्रम इस प्रकार है–१ अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा २ विपरिणामानुप्रेक्षा ३ अशुभानुप्रेक्षा ४ अपायानुप्रेक्षा ।

व्युत्सर्ग

तप का अन्तिम भेद 'व्युत्सर्ग' है और व्युत्सर्ग का अर्थ है–त्याग। अन्त:करण से ममत्व-रहित हो कर, आत्म-सान्निध्य से पर वस्तु का त्याग करना–'व्युत्सर्ग' नाम का आभ्यन्तर तप है। इसके मुख्यत: दो भेद हैं–१ द्रव्य व्युत्सर्ग और २ भाव व्युत्सर्ग।

द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का है। यथा–

१ शरीर व्युत्सर्ग–ममत्व रहित हो कर शरीर का त्याग कर देना।

२ गण व्युत्सर्ग–संगी-साथियों–शिष्यादि का त्याग कर एकाकी हो जाना, अर्थात् नि:संग हो कर आत्म-निर्भर हो जाना और रोगादि अथवा उपसर्गादि भयंकर परीषहों को समभावपूर्वक सहन करना।

३ उपधि व्युत्सर्ग–उपकरणों से हलका होना। अपनी आवश्यकताओं को अत्यन्त कम कर देना अथवा रजोहरण-मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त उपकरणों का सर्वथा त्याग कर देना या कम से कम रखना।

४ भक्त-पान व्युत्सर्ग–खाने-पीने का त्याग कर देना।

यह द्रव्य व्युत्सर्ग है। क्योंकि इसका सम्बन्ध शरीर, गण, उपधि और आहारादि अन्य द्रव्यों से है। इनका त्याग 'द्रव्य व्युत्सर्ग' कहलाता है।

भाव व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है। यथा–

१ कषाय व्युत्सर्ग–क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करना।

२ संसार व्युत्सर्ग–सांसारिक वासना अथवा नरक व तिर्यञ्च गति के प्रति द्वेष और मनुष्य तथा देव गति के प्रति राग–इनके सुख की कामना का त्याग करना अर्थात् चारों गति के बन्ध के कारण–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय का त्याग करना।

३ कर्म व्युत्सर्ग–ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध के कारणों का त्याग करना एवं कर्म-निर्जरा के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील होना।

प्रत्याख्यान

कर्म-निर्जरा के लिए किया जाने वाला तप, प्रत्याख्यानपूर्वक होता है। प्रत्याख्यान के दस भेद स्थानांग सूत्र स्था० १० तथा भगवती सूत्र श० ७ उ० २ में इस प्रकार बताये हैं–

(१) अनागत–आगे आने वाले पर्व पर किये जाने वाले तप को, कारणवश पहले ही कर लेना।

(२) अतिक्रांत–वैयावृत्यादि कारणवश निश्चित समय (पर्वादि) पर तप नहीं कर के वाद में करना।

(३) कोटी सहित–एक प्रत्याख्यान की समाप्ति और दूसरे का प्रारम्भ, एक ही दिन हो, उसे 'कोटी तप' कहते हैं।

(४) नियन्त्रित–जिस दिन जो प्रत्याख्यान करना हो, वह उसी दिन करना। रोगादि बाधा खड़ी हो जाने पर भी प्रत्याख्यान का पालन करना।

(५) सागार–प्रत्याख्यान में आगार रखना और कारण उपस्थित होने पर आगार को काम में लेना।

(६) अनागार–जिसमें महत्तरागार आदि आगार नहीं हो (अनाभोग और सहसाकार तो उसमें भी होता है)।

(७) परिमाण कृत–दत्ति, काल, द्रव्य आदि की मर्यादा करना।

(८) निरवशेष–अशनादि चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करना। शेष कुछ भी नहीं रखना।

(९) संकेत–अंगूठा, मुट्ठी, गांठ, अंगूठी बदलना आदि संकेतयुक्त प्रत्याख्यान करना।

(१०) अद्धा प्रत्याख्यान–काल का नियम बना कर प्रत्याख्यान करना, जैसे–नमुक्कारसी, पोरिसी आदि।

इस अद्धा प्रत्याख्यान के दस भेद इस प्रकार हैं,–

(१) नमस्कार सहित–सूर्योदय से लगा कर मुहूर्त (४८ मिनिट) तक चारों आहार का त्याग करना। इसे साधारण बोलचाल में "नवकारसी" तप कहते हैं। आहार के चार भेद ये हैं;–

१ अशन–रोटी, चावल, दाल, दूध, + दही, मट्ठा और मिष्ठान्नादि भोजन सामग्री।

+ तिविहार में प्यास बुझाने के लिए पानी, धोवन या छाछ ही लिया जाता है। दूध, मट्ठा आदि नहीं लिया जाता। जो लोग "पान" के भेद में दूध आदि भी बतलाते हैं, वे अनर्थ करते हैं। पञ्चाशक में "खीराइ" शब्द से दूध, दही, घृत, छाछ और ओसामन को भी 'अशन' (भोजन) में लिया है।

२ पान–पानी, छाछ का आछ और काँजी के ऊपर का निथरा हुआ जल, जिससे प्यास मिटती हैं।

३ खादिम–बादाम, दाख और आम आदि फल।

४ स्वादिम–सुपारी, इलायची, लौंग, स्वादिष्ट चूर्ण, गोली आदि।

आहार के ये चार भेद हैं। 'चौविहार' में खाने-पीने का सर्वथा त्याग हो जाता है। इस त्याग में नीचे लिखे दो आगार रहते हैं:–

१ अनाभोग–प्रत्याख्यान को भूल कर कुछ खा-पी लेना। यह आगार तब तक ही रहता है, जब कि याद आने पर खाना बन्द कर दिया जाय और मुँह में रही हुई वस्तु थूक कर प्रत्याख्यान का पालन करने को तत्पर हो जाय।

२ सहसाकार–अचानक मुँह में किसी वस्तु का प्रवेश हो जाना। जैसे मुँह खुला हो और दूध, दही, छाछ आदि प्रवाही वस्तु, एक पात्र में से दूसरे पात्र में लेते समय छींटा उड़ कर मुँह में गिर जाय अथवा शक्कर जैसी बारीक वस्तु उड़ कर मुँह में पहुँच जाय।

इन दो आगारों से यह प्रत्याख्यान होता है।

(२) पौरुषी–सूर्योदय से लगा कर एक प्रहर तक के प्रत्याख्यान, 'पौरुषी' के प्रत्याख्यान कहलाते हैं। इसके छः आगार होते हैं। इनमें दो आगार तो वे ही हैं, शेष ये हैं;–

३ प्रच्छन्न-काल–बादल से घिर जाने या आँधी आदि के कारण सूर्य नहीं दिखाई दे, अर्थात् पौरुषी-काल हो जाने का सही ज्ञान कराने वाले (घड़ी आदि) साधन के अभाव में पौरुषी हो जाने का भ्रम हो जाय तो आगार।

४ दिशामोह–दिशा सम्बन्धी भ्रम हो जाय तो आगार।

५ साधु वचन–'पौरुषी आ गई है,'–इस प्रकार किसी बड़े व्यक्ति (गुरु आदि आप्तजन) के कहने पर पार लेना।

६ सर्वसमाधिप्रत्ययाकार–अकस्मात् असह्य रोग उत्पन्न हो जाय और उसकी शान्ति के लिए औषधि आदि लेना पड़े।

(३) पूर्वार्ध–सूर्योदय से लगा कर दोपहर दिन चढ़े वहाँ तक अर्थात् दिन के दो भागों में से पूर्व का आधा भाग व्यतीत होने तक के प्रत्याख्यान। इसके सात आगार हैं। छः तो पोरिसी के अनुसार और सातवाँ 'महत्तरागार' है। वैयावृत्य आदि किसी विशेष कार्य के लिए गुरु आदि बड़े की आज्ञा होने पर, समय के पूर्व ही प्रत्याख्यान पारना पड़े तो यह आगार है।

(४) एकासन–एक बार भोजन करना "एकासन" है। यह पोरुषी या दो पोरुषी अथवा तीन पोरुषी से भी किया जाता है। इसमें अचित्त भोजन पानी ही लिया जाता है। यह चौविहार भी होता

है और तिविहार भी। तिविहार हो तो बाद में पानी पिया जा सकता है। इसके आठ आगार हैं। इनमें से–१ अनाभोग २ सहसाकार ३ महत्तरागार और ४ सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार–ये चार आगार तो पहले के ही हैं। शेष इस प्रकार हैं–

५ सागारिकागार–* गृहस्थ के देखते हुए आहार नहीं किया जाता। यदि गृहस्थ आ जाय और वह वहाँ जम जाय, तो वहाँ से उठ कर अन्यत्र जा कर भोजन करना। इस प्रकार वहाँ से उठ कर दूसरी जगह बैठ कर भोजन करे, तो इस आगार से व्रत का भंग नहीं होता।

६ आकुञ्चन प्रसारण–भोजन करते समय हाथ-पाँव सिकोड़ना या फैलाना पड़े तो।

७ गुर्वभ्युत्थान–गुरुजन या किसी बड़े आदमी के आने पर आदर देने के लिए उठना पड़े तो।

८ परिष्ठापनिकाकार–यदि साथ वाले मुनि के पास अधिक आहार आ गया हो और वह परठना पड़ रहा हो, उस समय गुरु आज्ञा से उस आहार को करना पड़े, तो आगार।

यह आठवाँ आगार साधुओं के लिए है। एकासन कर चूकने के बाद कभी किसी के ऐसा प्रसंग आ सकता है।

एकासन की तरह बियासन (दो बार भोजन) के प्रत्याख्यान भी किये जाते हैं।

(५) एक स्थान–एक स्थान पर एक ही आसन से बैठ कर भोजन करना। जिस आसन से बैठे हो, उसी आसन से बैठे रह कर भोजन करना, उस आसन को बदलना नहीं। यह चौविहार भी किया जाता है और तिविहार भी।

इसके सात आगार हैं। एकासन के आठ आगारों में से 'आकुञ्चन प्रसारण' का आगार इसमें नहीं है।

(६) आयम्बिल–दिन में एक बार बिना नमक, मिर्च, मसाले और घृत, तेल, गुड़, शक्कर, दूध, दही, छाछ आदि के, केवल रूखी रोटी, चावल, भूने चने, या ऐसी ही वस्तु से आयम्बिल किया जाता है। उबाल कर सिझाये हुए गेहूँ, मक्का, ज्वार या उड़द के बाकले, बिना नमक आदि के इसमें लिये जाते हैं। आयम्बिल में रस और स्वाद रहित आहार किया जाता है और केवल आटा पानी में घोल कर भी पिया जाता है।

---

* प्रत्याख्यान करने वाला गृहस्थ हो और वह किसी भुक्खड़ या क्रूरदृष्टि वाले व्यक्ति के सामने भोजन करना नहीं चाहता हो, तो उसके लिए भी यह आगार है।

प्राप्त रूखा-सूखा आहार, पकाये गए बरतन के पेंदे में जमे हुए चावल खिचड़ी आदि का जम कर कड़ा हुआ अंश (खुरचन) ले कर उसे पानी में धो कर खाना और उसी पानी को पीना। ऐसा आचाम्ल तप, वेले-वेले के पारने में श्री धन्ना अनगार करते थे (अनुत्तरोववाई)।

आयम्बिल के आठ आगारों में पाँच तो पहले में के हैं। शेष तीन इस प्रकार है–

१ लेपालेप–आहार पर तो घृत आदि का लेप नहीं हो, किन्तु जिस वर्तन पर कुछ लगा हो या आहार देने वाले का हाथ घृतादि लेप युक्त हो, तो पात्र या हाथ पोंछ कर देने पर भी लेप का अंश रहता है। ऐसे लेपालेप वाले पात्र या हाथ से लेना पड़े तो आगार।

२ उत्क्षिप्त विवेक–रोटी आदि पर रखे हुए सूखे गुड़ या शक्कर को अलग कर के दिया जाय तो लेने का आगार।

३ गृहस्थ संसृष्ट–जिसमें गृहस्थ के द्वारा स्वल्प मात्र घृतादि का लेप लग गया हो या घृतादि से लिप्त रोटी आदि का लेप, रूखी रोटी के लग गया हो अथवा सिझाये हुए चावल या किसी धान्य में या रोटी में पहले नमक डाल दिया हो, या आटे में कुछ घी या तेल डाला हो तो उसका आगार। विगय स्पर्श का अंश बिलकुल स्वल्प हो तभी आगार रूप होता है।

ये आगार प्रायः साधु के लिए हैं।

(७) अभक्तार्थ–भोजन का त्याग करना अर्थात् उपवास करना। यह चौविहार भी होता है और तिविहार भी। चौविहार के उपवास में पाँच आगार होते हैं। जैसे–१ अनाभोग २ सहसाकार ३ परिष्ठापनिकाकार (यह गृहस्थ के नहीं रहता) ४ महत्तरागार और ५ सर्वसमाधि प्रत्ययाकार।

तिविहार में निम्न आगार विशेष हैं;–

१ लेपकृत–जो धोवन लेपकारी हो, जिसमें धोई हुई वस्तु का पात्र में लेप लगता हो, वैसा पानी।

२ अलेपकृत–छाछ का निथरा हुआ आछ और कांजी का पानी जो बिल्कुल निथर गया हो और जिसका लेप पात्र को नहीं लगता हो।

३ अच्छ–गर्म किया हुआ जल।

४ बहल–तिल, चावल, जौ आदि का धोवन।

५ ससित्थ–आटा आदि लगे हुए हाथ या पात्र का धोया हुआ धोवन, जिसमें आटे का कुछ अंश भी हो।

६ असिक्थ–आटे आदि के धोवन को छान कर ऐसा कर दिया हो कि जिसमें उसका अंश नहीं रहा हो।

(८) दिवस चरिम–दिन अस्त होने के पूर्व किया जाने वाला प्रत्याख्यान। इसमें शेष रहे हुए दिन और पूरी रात का त्याग हो जाता है। यह चौविहार भी होता है और तिविहार भी।

इसका दूसरा भेद '**भव चरिम**' भी है। जब भव का–इस जीवन का अन्तिम समय निकट हो, तब भवान्त तक=सदा के लिए प्रत्याख्यान करना और संथारा ग्रहण कर के आराधक बनना है। भव-चरिम प्रत्याख्यान का उत्तम रीति से पालन किया जाय, तो फिर मुक्ति होने में विशेष भव नहीं करने पड़ते। थोड़े ही भवों में वह भव्यात्मा, भवान्त कर के सिद्ध भगवान् बन जाती है।

(९) अभिग्रह–किसी प्रकार का नियम बना कर मन में निश्चय कर लेना कि अमुक प्रकार का योग मिलेगा, तभी आहारादि लूँगा। इस प्रकार निश्चय कर के प्रत्याख्यान करना 'अभिग्रह' है। अभिग्रह का कुछ उल्लेख पृ० ५०२ में हुआ है। उनके अतिरिक्त भी अभिग्रह हो सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि अभिग्रह किसी प्रकार के दोष से युक्त नहीं हो। अभिग्रह में दिनों की मर्यादा भी होती है। मर्यादित काल के मध्य में अभिग्रह पूर्ण हो जाय तो पूर्ण होने पर पार लिया जाता है, अन्यथा निर्धारित समय तक तप चलता रहता है।

(१०) निर्विकृतिक–जिन वस्तुओं के खाने से मन में विकृति उत्पन्न हो, उनका त्याग करना 'निर्विकृतिक' है। दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड़ और मधु। दुग्धादि से बनी खीर, मावा (खोया) आदि और गरिष्ठ वस्तु का त्याग करना। इसके नौ आगार हैं। आठ आगार तो पहले के समान हैं और नौवाँ है–'प्रतीत्यम्रक्षित'–भोजन बनाते समय यदि घृत-तेल आदि का अंगुली से लेप लग गया हो तो लिया जा सकता है।

(यह विषय 'प्रवचन सारोद्धार' के प्रत्याख्यान द्वार और आवश्यक हारिभद्रीय के आधार से 'जैन सिद्धांत बोल संग्रह' में भिन्न-भिन्न स्थलों पर आया है और उसके आधार से यहाँ उपस्थित कियाहै।)

छोटे-बड़े किसी भी प्रत्याख्यान से आत्मा को सतत प्रभावित करते रहने से उत्तरोत्तर विशुद्धि होती रहती है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन के १३ वें प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि–

"पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छारोनिहं जणयई, इच्छारोनिहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरई।"

अर्थात्–प्रत्याख्यान से आश्रव द्वारों को बन्द किया जाता है और इच्छा का निरोध हो जाता है। इच्छा-निरोध होने से जीव की तृष्णा मिट जाती है। वह सभी प्रकार के द्रव्यों से तृष्णा रहित, शान्त, **निश्चिन्त और शीतल हो जाता है।**

अतएव परम शांति प्राप्त करने के लिए प्रत्याख्यान से आत्मा को सतत प्रभावित करते ही रहना चाहिए।

प्रत्याख्यान का विशुद्ध रीति से निर्वाह करने विषयक नियम इसी ग्रंथ के पृ. २१९ में देखना चाहिए।

तप, शक्ति के अनुसार करना चाहिए। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्यायादि और अन्य धार्मिक क्रिया में विक्षेप नहीं पड़े, मन में उत्साह बना रहे और अपने सभी काम स्वयं ही कर लिया करें, इस स्थिति को कायम रखते हुए तप हो, तो वह साधारणतया चलता रहता है। इससे न तो किसी से वैयावृत्य कराने की आवश्यकता होती है, न विहारादि ही रुकता है, बल्कि अन्य रोगी या वृद्ध संतों की वैयावृत्य भी हो सकती है। विशेष स्थिति में वैयावृत्य करानी पड़े, तो वह विवशता है।

आगमों में बताये हुए तप के भेदों को जान कर-समझ कर जो महानुभाव यथाशक्ति शुद्ध तप करते रहेंगे, वे अपने कर्मों की निर्जरा कर के मोक्ष को प्राप्त हो जावेंगे।

"एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्व संसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ॥" (उत्तरा० ३०)

कम्म दुमुम्मूलण कुंजरस्स,
नमो नमो तिव्व तवोभरस्स॥

उपसंहार

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चार अंगों से परिपूर्ण धर्म ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है। इसीसे जीव, संसार रूपी भयानक अटवी और रोग, शोक, जन्म, जरा, मरण तथा सभी प्रकार के भय से मुक्त हो कर, परमात्म दशा को प्राप्त होता है।

धर्म के चार अंगों का फल बतलाते हुए आगमकार महाराज फरमाते हैं कि–

"नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥३५॥
खवित्तापुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो" ॥३६॥ (उत्तरा० २८)

उत्तराध्ययन के 'मोक्ष-मार्ग गति' नाम के २८ वें अध्ययन का उपसंहार करते हुए फरमाया है कि–जीव, ज्ञान से वस्तु तत्त्व और हेय ज्ञेय और उपादेय को जानता है और दर्शन से श्रद्धा करता है। ज्ञान से जानी हुई और दर्शन से श्रद्धा की हुई हेय वस्तु–आश्रवद्वार को संयम से रोकता है और तप से आत्मा की शुद्धि करता है।

जो महर्षि हैं, वे संयम और तप से अपने पूर्व-संचित कर्मों को क्षय करते हैं और समस्त दुःखों का नाश कर के सिद्ध-गति को प्राप्त करते हैं। उनकी मुक्ति हो जाती है।

इस प्रकार श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 'मोक्ष-मार्ग गति' नामक २८ वें अध्ययन की प्रथम गाथा– "**मोक्खमग्गगइं तच्चं**" से प्रारम्भ हुआ यह ग्रंथ, इसकी अन्तिम गाथा के उपसंहार से पूर्ण हो रहा है। इस ग्रन्थ में जो कुछ वर्णन हुआ है, वह मुख्य अथवा गौण रूप से इसी अध्ययन का विस्तार है। जो भव्यात्मा, जिनेश्वर भगवन्त की परमपावनी पवित्र वाणी को हृदय में धारण कर, विश्वास कर, आचरण में लावेंगे, मोक्ष-मार्ग पर चलेंगे, वे मोक्ष प्राप्त कर के परमानन्द में लीन होंगे।

॥ सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥

(१)

जैनधर्म का आस्तिकवाद

[यह परिशिष्ट, इस ग्रन्थ के पृ. ५२ के 'स्थान छः' का विस्तृत विवेचन है। वैसे इसका सम्बन्ध पृ. ७७ के 'आस्तिकता' से भी है]

आस्तिकवाद और नास्तिकवाद, इन दो वादों में संसार की समस्त विचारधाराएँ विभक्त हो सकती है। आस्तिकवाद का सामान्य अर्थ है–'अस्तित्व स्वीकार करने वाला मन्तव्य' और नास्तिकवाद का अर्थ है–'अस्तित्व को अस्वीकृत करने वाली विचारधारा।' सामान्यतया एकान्त रूप से आस्तिक या नास्तिक तो कोई भी व्यक्ति नहीं मिलेगा। मनुष्य में किसी न किसी विषय में आस्था और अनास्था रहती ही है। कम से कम अपने जीवन, शरीर टिकाने के साधन–भोजन, पानी, रोग-निवारण के साधन औषधी, माता-पिता, भाई-भगिनी, पत्नी, पुत्रादि तथा सोना, चाँदी, घर आदि सम्पत्ति और दृश्यमान पदार्थों पर आस्था तो सभी को होती है। चन्द्र, सूर्य, वर्षा, जन्म, बचपन, युवावस्था, मृत्यु, राजा, राष्ट्रपति आदि अधिकार और अधिकारी, ऐसे बहुत से विषयों में आस्था रखता है और आत्मा, स्वर्ग-नरकादि अदृश्य वस्तुओं में अनास्था रखता है। कोई भी व्यक्ति एकान्त रूप से आस्तिक या नास्तिक नहीं होता। किन्तु आस्तिकवाद और नास्तिकवाद का वाद के रूप में जो प्रचलन है, वह उपरोक्त सामान्य अर्थ से सम्बन्धित नहीं हो कर विशेष अर्थ रखता है।

आत्मा, आत्मा की ध्रुवता–शाश्वतता, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, पुण्य, पाप, धर्म, कर्त्ता, भोक्ता, मुक्ति, मुक्ति के उपाय, स्वर्ग, नरक आदि विषयों के अस्तित्व में विश्वास रखना–'आस्तिकता' है और इनके अस्तित्व को नहीं मानना–नास्तिकता है।

आस्तिकवादियों में भी मत-भिन्नता है। कोई संसार का सर्जक, पोषक, रक्षक, नियामक तथा संहारक किसी एक महाशक्ति–ईश्वर अथवा ईश्वर और माया को मानते हैं, तो कोई नियति को, कोई क्रियावाद को ही स्वीकार कर ज्ञानवाद का निषेधक है, तो कोई ज्ञानवाद में आस्था रख कर क्रिया में

नास्तिक है। एक मत जीव का पूर्वजन्म और पुनर्जन्म नहीं मानता, किन्तु यह मानता है कि एक दिन ऐसा भी आएगा कि जब सभी मृतक अपनी कब्रों से उठ खड़े होंगे और खुदा उनका इन्साफ करेगा। फिर वे बिहिश्त या दोजख में भेज दिये जावेंगे और वहाँ सुख-दुःख भोगते रहेंगे।

कोई आत्मा का स्वरूप अन्यथा मानता है, तो कोई मुक्ति और उसके उपाय के विषय में असम्यक् विचार रखता है। आश्रव का सेवन कर के मुक्ति होना मानता है, असम्यक् तप करता है। इस प्रकार आस्तिकवादियों में भी अनेक मत-भेद हैं। हम इस निबन्ध में जैन दृष्टि से आस्तिकता का निरूपण करने का प्रयत्न करते हैं।

आत्मा का अस्तित्व

आस्तिकवाद में सबसे पहला विषय है—आत्मा का अस्तित्व मानना, 'आत्मा है'—ऐसा विश्वास रखना। कई मत आत्मा (जीव) का अस्तित्व ही नहीं मानते। उनका मत है कि "पाँच महाभूतों से बना हुआ हमारा शरीर ही सब कुछ है। पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतों से बने हुए शरीर ही से जीवन है और इन भूतों के सम्मिलन से उत्पन्न शक्ति से ही जीव हलन-चलनादि क्रिया करता है। जब इन भूतों में कमी या क्षति होती है, तेज और वायु निकल जाता है या नष्ट हो जाता है, तब मृत्यु हो जाती है। इन भूतों के अतिरिक्त जीव कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है।" इस प्रकार भूतवादी मत का अभिप्राय है और यह नास्तिकवाद है।

आस्तिकवादी, आत्मा का अस्तित्व मानता है। आत्मा है, वह ज्ञानादि गुण सम्पन्न है। जानना, समझना, चिन्तन-मनन करना, अनुभव करना और स्मृति रखना इत्यादि आत्मा के कार्य हैं। ज्ञान-विज्ञान का धारक आत्मा ही है, भूत नहीं, जड़ नहीं। जीव ही जीवन वाला है, प्राण धारक है। जीवन-मरण-संवेदनादि जीव के ही होते हैं, अजीव के नहीं।

"मैं हूँ, मेरा शरीर है, मेरे हाथ-पाँवादि है, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मेरे माता-पितादि सम्बन्धी है, मैं सम्पन्न हूँ, विपन्न हूँ, मुझे किसी से लेना है, देना है, मैं भूखा हूँ, प्यासा हूँ, रोगी हूँ, निरोग हूँ" आदि विचार जीव ही कर सकता है। ज्ञान-विज्ञान, उपयोग, अनुभव, सुख-दुःख वेदन—ये जीव के असाधारण गुण है। इसी गुण से वह सुख के साधन जुटाने में और दुःख के कारणों को मिटाने में प्रवृत्त होता है। भूख-प्यास का अनुभव कर के उसे मिटाने के लिए भोजन-पानी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। शीत-ताप से बचने के साधनों का सेवन करता है। इस प्रकार की और भी चेष्टाएँ जीव ही करता है, पृथिव्यादि भूत नहीं करते, न कर ही सकते हैं। इन भूतों में यह शक्ति है ही नहीं।

मनुष्य कानों से सुनता है, परन्तु सुनी हुई बात वर्षों तक याद कौन रखता है?—कान? नहीं

स्मृति रखना कानों का कार्य नहीं, गुण भी नहीं, कान तो सुनने का साधन मात्र है, सुनने वाला आत्मा ही है। कान बहरे हो जाने, कट जाने या बेकार (निष्क्रिय) होने पर भी स्मृति रहती है, पुरानी सुनी हुई बातें याद रहती है। यदि याद रखना भूतों का गुण होता, तो कानों की निष्क्रियता होने पर स्मृति भी नहीं रहनी थी, किन्तु बहरे लोगों को भी पुरानी सुनी हुई बातें याद रहती है और वे वैसी बातें सुनाते हैं।

आँखें देखने का काम करती है, परन्तु वर्षों पूर्व देखे हुए दृश्य याद नहीं रख सकती। याद जीव ही रखता है। आँखों की ज्योति मन्द होने पर स्मृति मन्द नहीं होती। आँखों की ज्योति सर्वथा नष्ट होने तथा फूट जाने पर भी पूर्व के देखे हुए दृश्यों की याद बराबर कायम रहती है। यदि याद रखना भी आँखों (भूतों) का ही गुण होता, तो उनके नष्ट होने पर स्मृति भी नष्ट हो जाती। इससे सिद्ध होता है कि पृथिव्यादि भूतों के अतिरिक्त ऐसी कोई अन्य शक्ति भी है, जो ऐसी स्मृतियाँ रखती है। इसी प्रकार गन्ध, रस तथा स्पर्श सम्बन्धी स्मृतियाँ भी रहती है और उन स्मृतियों का धारक आत्मा है।

इस प्रकार की स्मृतियाँ और चिन्तन-मनन तथा अनुभव करना, यदि पृथिव्यादि भूतों का गुण होता, तो इन भूतों में भी ये गुण होते, किन्तु किसी भी भूत में या पाँचों को मिलाने से भी ये गुण दिखाई नहीं देते।

गाय, भैंस, गधा, घोड़ा और हाथी आदि के शरीर में मनुष्य से भी अधिक परिमाण में भूतों का संग्रह दिखाई देता है, उनके शरीर मनुष्य से बड़े और अधिक वजन वाले हैं। यदि ज्ञान-विज्ञानादि गुण भूतों का होता, तो इन बड़े पशुओं में मनुष्य से भी अधिक ज्ञान-विज्ञान होता। किन्तु ऐसा नहीं होता। यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अतएव यह कल्पना ही असत्य है।

यदि भूतों से ही ज्ञान-विज्ञानादि है, तो मोटे मनुष्य में ज्ञानादि गुण अधिक होते और दुबले-पतले मनुष्य में कम होते। किन्तु ऐसा भी नहीं है।

यदि भूतों से ही ज्ञानादि गुण एवं स्मृति आदि होते, तो शरीर का अमुक भाग—हाथ-पाँव आदि कट जाने पर, ज्ञानादि में भी न्यूनता होती, किन्तु ऐसा भी नहीं होता। अतएव आत्मा में अविश्वास रखने वालों की मान्यता सत्य नहीं है। आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणों का अस्तित्व स्वीकार करना उचित, यथार्थ एवं सत्य है।

मनुष्य में शरीर के भौतिक तत्त्व जैसे हैं, वैसे रहते हुए भी अनुभूति में विविधता क्यों है ? वह कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी उदास होता है, कभी निडर हो जाता है और कभी भयभीत हो कर छुपने की चेष्टा भी करता है। मित्र को देख कर प्रसन्न होता है, शत्रु को देख कर रुष्ट या उदासीन होता है, सुन्दरी को देख कर मोहित और विष्ठादि घृणित दृश्य देख कर नाक-भौं सिकोड़ता है, तो क्या यह सब अनुभूति भौतिक शरीर की है ? नहीं, शरीर तो एक साधन मात्र है। इसका साधक इसके

भीतर रहा हुआ और रग-रग में बसा हुआ आत्मा है। शत्रु-मित्र तथा भले-बूरे का विवेक आत्मा ही करती है। जड़ भूत नहीं करते।

एक व्यक्ति भोजन करने बैठा है, उसके सामने भिखारी आ जाय तो वह झिड़क देता है, मित्र आ जाय तो उसे भोजन करने का आग्रह करता है और घर का नौकर आ जाय तो उसे कार्य बता कर चलता करता है। एक ही व्यक्ति विभिन्न व्यक्तियों को देख कर विभिन्न प्रकार की अनुभूति कर पृथक्-पृथक् कार्य बतलाता है। ऐसा काम सिवाय ज्ञानवान् आत्मा के, जड़ भूत नहीं कर सकते। अतएव आत्मतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता मानना ही उचित है, सत्य है।

सुनते हैं कान, देखती है आँखें, सूंघता है नाक, चखती है जीभ और स्पर्श करता है शरीर, किंतु इन सब का वर्णन मुँह से किया जाता है, लेखन हाथ से किया जाता है—पाँचों विषयों का। कान, आँख, नाक आदि अपनी बात नहीं कह सकते। देखने-सुनने और चखने वाली इन्द्रियाँ दूसरी, और कह कर अनुभव सुनाने वाला साधन (—मुँह) दूसरा, किन्तु इन सबका नियामक, चालक एवं संयोजक कोई अन्य ही है और वही ज्ञान-विज्ञान का धारक आत्मा है। वह दूसरे के प्रश्न का उत्तर देता है, विवाद का निर्णय करता है। रोगी के रोग का निदान, सोना, चाँदी, हीरा, मोती आदि की परख और नूतन आविष्कारों का सर्जन भी वही करता है और तो ठीक पर अन्धेरे घुप स्थान में पड़े हुए पाँच दस व्यक्तियों के जुतों की पहचान, मात्र पाँव के स्पर्श से ही वही आत्मा कर लेती है। बालक प्रारम्भ में अपनी मातृभाषा ही बोलने लगता है, किन्तु पढ़ने पर वह विदेशी भाषा भी बोलता है। यदि ऐसा करना मात्र भूतों का ही गुण होता तो यह गुण प्रारम्भ से ही विकसित होना था। किन्तु यह होता है—ज्ञानाभ्यास से। अतएव सिद्ध है कि यह भूतों का गुण नहीं, आत्मा का गुण है।

सोचिये—प्रभाव शरीर पर आत्मा का होता है या आत्मा पर शरीर का ? वास्तव में आत्मा का प्रभाव शरीर पर होता है। शरीर का आत्मा पर प्रभाव होना अनिवार्य नहीं है। शरीर भले ही हृष्ट-पुष्ट और दृढ़ हो, परन्तु आत्मा में कायरता है, तो उसका प्रभाव शरीर पर हुए बिना नहीं रहेगा। प्रसन्नता, रोष और भय तथा कामावेग का प्रभाव चेहरे पर होता ही है, यह आत्म-प्रभाव है। किन्तु शरीर का प्रभाव आत्मा पर नहीं भी होता। कई धैर्यवान्, सहनशील और प्रशान्त आत्माएँ, अपने दुर्बल या रोगी शरीर के दुःख को शांति तथा प्रसन्नता से सह लेती हैं। कई तपस्वी महात्माओं का शरीर तो कृश हो जाता है, परन्तु उनकी आत्मा प्रसन्न, शांत एवं साधनारत रहती है। शरीर के दुःख का उनकी आत्मा पर असर नहीं होता।

इन सब बातों पर विचार करते आत्मा का अस्तित्व मानना ही उचित है, सत्य है और तथ्य है। आत्मा स्व-स्व शरीर प्रमाण है, असंख्य प्रदेशी है, अरूपी है और तिल में तेल और पुष्प में सुगन्ध की तरह शरीर में निवास करती है।

मैं स्वयं आत्मा हूँ। अन्य मनुष्यों, पशुओं और समस्त प्राणियों में आत्मा है। सभी आत्माएँ पृथक्-पृथक् और अनन्त हैं।

इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना आस्तिकवाद का मूल विषय है।

आत्मा शाश्वत है

आत्मा का शरीर से पृथक् अस्तित्व मानने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आत्मा इस भौतिक शरीर की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो कर, मृत्यु के साथ ही नष्ट हो जाती है, या इसका पूर्व-पश्चात् भी अस्तित्व रहता है ? 'तज्जीव-तच्छरीरवादी' मानता है कि जीव है,किंतु वह शरीर की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होता है और विनाश के साथ नष्ट भी हो जाता है। रायपसेणीसूत्रस्थ पदेसी राजा की मान्यता भी ऐसी ही थी। वे पूर्वभव या पुनर्भव को नहीं मानते थे। यह मान्यता भी भूतवादियों जैसी है, क्योंकि ये जीव की उत्पत्ति शरीर के साथ ही मानते हैं। वास्तव में यह मान्यता भी विचारपूर्ण नहीं है।

यदि शरीर के साथ ही जीव की उत्पत्ति होती, तो जब तक शरीर रहे, तब तक जीव भी रहना था, किंतु शरीर पूर्णरूप मे मौजूद रहते हुए भी जीव निकल जाता है और मृत्यु हो जाती है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जीव, शरीर से भिन्न है और वह शरीर रहते हुए भी उसे छोड़ कर अन्यत्र चला जाता है और पुन: नया शरीर बना लेता है। वास्तव में जड़ में से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जड़—किसी भी भूत में, चैतन्य एवं ज्ञान (उपयोग) गुण नहीं है। जो गुण जिस कारण में नहीं है, वह उसके कार्य में उत्पन्न कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। अतएव यह कल्पना ही असत्य है। हम जीव की कुछ विशेष क्रियाओं से उसकी पूर्वानुभूति देखते हैं। जन्म के बाद बच्चे प्राय: तत्काल ही रोते हैं। सोचना चाहिए कि उस सद्यजात बच्चे ने रोना कहां सीखा ? किसने सिखाया ? वह बिना सीखे ही रोता है, हँसता भी है, माँ का स्तन पान करता है। इन क्रियाओं से वह परिचित है। भूख लगने या मूत्र से बिछौना भीगने पर ठंडा लगने से, अथवा हाथ-पाँव दबने से कष्ट होने पर वह रो कर अपनी पीड़ा बतलाता है, प्रसन्न होने पर हँसता है, हाथ-पाँव हिलाता है। इन सारी क्रियाओं से वह परिचित है, तभी करता है और यह परिचय इस जन्म के पूर्व का ही होना चाहिए, तभी वह जन्मते ही (बिना सिखाये ही) रोता है, स्तन चूसता है और हँसता है, तथा हाथ-पाँव हिलाता है। इससे सिद्ध होता है कि जन्म से पहले भी जीव का अस्तित्व था।

जीव न तो नया उत्पन्न होता है और न सर्वथा मरता—नष्ट होता है। जैन-सिद्धांत मानता है कि जीव शाश्वत है, नित्य है और अनादिनिधन है, अक्षय अमर एवं अविनाशी है। जीव की अपनी

शुभाशुभ विभाव परिणति के अनुसार भूतों का संयोग सम्बन्ध होता है और वियोग भी होता है। जन्म-मरण भी भूतों का संयोग-वियोग है और यही सुख-दुःख, गति-आगति है। जीव अपने साथ पूर्व-भवों के संस्कार लाता है। क्षुधा, पिपासा, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, घृणा, वेद, काम-विकार, विषय-कषाय आदि अपने साथ लाता है। ये वैभाविक संस्कार उसके साथ अनादिकाल से लगे हुए हैं। जब ये संस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं, तभी जीव परमात्म-पद प्राप्त कर अशरीरी बन जाता है। इसके साथ ही जन्म-मरण की जंजीर कट जाती है।

कई जीवों को पूर्वभव की स्मृति इस भव में हो जाती है। इस विषय की अनेक घटनाएँ समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो चुकी है। कुछ घटनाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

एक आठ वर्ष की छोटी बालिका 'कल्पना' ने अपने कंठाग्र शास्त्र-ज्ञान की स्मरण-शक्ति का वह प्रदर्शन किया कि जिसे देख कर राज्यपाल श्री गुरुमुखनिहालसिंह और राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी भी चकित हो गए और उस आठ वर्षीय बालिका को 'महापंडिता' की उपाधि से सम्मानित किया। यह बात 'नवभारत टाइम्स' के २९-८-६० के अंक में छपी है।

एक अनपढ़ निरक्षर २४ वर्षीय युवक 'कृष्णदत्त' सलेमानाबाद (मुजफ्फर नगर) के विषय में प्रसिद्ध हुआ कि वह निद्रावस्था में अपनी विद्वत्ता से लोगों को चकित कर देता है। वह नींद में धारा-प्रवाह रूप से संस्कृत के श्लोक बोलता है और विशुद्ध हिन्दी बोलता है। किंतु जगने पर वह यह सब भूल जाता है और अपनी मातृ-भाषा ही बोलता है (न. भा. टा. २५-८-६४)।

इस प्रकार की अनेक घटनाएँ पूर्वभव की मान्यता सिद्ध करती है और यह बतलाती है कि उन आत्माओं ने पूर्व-भव में यह ज्ञान प्राप्त किया था। उस ज्ञान पर उतना अधिक आवरण नहीं था जो उसे अत्यंत आवरित कर ले। उनके ज्ञानावरणीय के तथा-प्रकार के क्षयोपशम ने उस अध्ययन को कुछ उद्घाटित कर दिया, जिससे उन्हें स्मरण हो जाता है। अन्यथा इस भव में बिना ही पढ़े वे कैसे बतला सकते हैं? ऐसी तो अनेक घटनाएँ प्रकाश में आ चुकी है, जिनमें बालक द्वारा पूर्वभव के सम्बन्ध बताए गए और जो सत्य सिद्ध हुए।

"बंबई के ३ वर्षीय बालक की कहानियों का संकलन अंग्रेजी और गुजराती भाषाओं में प्रकाशित हुआ है, यह बालक अपनी कहानियां गुजराती में सुनाता है, जिन्हें उनका पिता लिपिबद्ध करता है, एक आठ वर्षीय बालिका ने उन गुजराती कहानियों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है, यह बालक और बालिका शायद विश्व में सब से कम उम्र वाले कहानीकार और अनुवादक होंगे।"

"मास्को का समाचार है कि वहां एक १२ वर्षीय छात्र विश्वविद्यालय में दाखिल हुआ है, वह गणित शास्त्र का विद्यार्थी है और उसकी प्रगति बड़ी संतोषजनक है।"

('नवभारत-टाइम्स' १६-११-६८ विचार-प्रवाह से)

"नवभारत-टाइम्स" के रविवारीय संस्करण में, पूर्वजन्म के माता, पिता, पुत्र, पत्नी, भाई, गाँव, घर, खेत और विशिष्ट घटनाओं का, इस जन्म में बालक को ज्ञान होने की देश और विदेशों की घटनाएं कई महीनों तक लगातार प्रकाशित होती रही कि जिन्हें संग्रह कर प्रकाशित किया जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक बन सकती है और कुछ वर्षों से तो इस विषय में खोज भी होने लगी है।

मृतात्माओं से सम्पर्क साधने की बातें भी प्रकाश में आ चुकी हैं। 'नवभारत टाइम्स' के रविवारीय संस्करण जुलाई ६४ से अक्टूबर तक के अंकों में उनका प्रकाशन भी हुआ है, और उनके आधार पर स. द. ५-१०-६५ अंक पृ. ४६३ में लिखा भी है। पूर्वभव मानने पर पुनर्भव अपने-आप स्वीकृत हो जाता है, क्योंकि वर्तमान भव, पुनर्भव है और मृतात्माओं से सम्पर्क भी पुनर्भव को मान्य कर रहा है।

वास्तव में जीव शाश्वत अमर एवं अविनाशी है, ध्रुव है, इसकी अवस्थाएँ परिवर्तनशील हैं। कृत-कर्मानुसार शरीर-इन्द्रियादि का संयोग होता है, सुख-दुःख का अनुभव होता है और स्थिति पूर्ण होने पर मरता है—वर्तमान शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर धारण करता है।

जीवों की विभिन्न गतियाँ, जातियाँ, सुख-दुःख आदि देखने से भी यह मानना पड़ेगा कि वे पूर्वकृत कर्मों का शुभाशुभ फल भोग रहे हैं। एक ही पिता और माता से उत्पन्न दो, चार या पाँच पुत्रों के शरीर के वर्णादि, शरीरबल, इन्द्रियबल, बुद्धिबल तथा सम्पन्नता-विपन्नता और सुख-दुःख की विभिन्नता एवं एक दूसरे की परस्पर उलटी दशा, यह स्पष्ट बतलाती है कि वे सभी अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के फल से वर्तमान में एक-दूसरे से विपरीत दशा को प्राप्त हैं। शान्त प्रकृति के माता-पिता के अशांत एवं क्रोधी पुत्र भी उत्पन्न होते हैं और सदाचारी के दुराचारी भी, तथा आस्तिक के नास्तिक भी होते हैं। यह सब वर्तमान शरीर का परिणाम नहीं, किन्तु आत्मा के पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है। इससे जीव का इस जन्म से पूर्व भी अस्तित्व होना पाया जाता है।

जीव कर्म का कर्त्ता है

[कर्म—उदयभाव से युक्त आत्मा की कापायिक परिणति एवं योग-क्रिया से, उसके निकट—वहीं आकाश में रही हुई, कर्म रूपी अदृश्य धूल का आत्मा से चिपक कर सम्बद्ध होना]

जीव है और शाश्वत है, इतना मान लेने पर अब यह समझना आवश्यक है कि जीव कुछ करता भी है, या अजीव (पुद्गल) के समान अकर्त्ता है ? जिस प्रकार ईंट, चूना, पटिया, हथौड़ा, कवेलु, बर्तन, कपड़ा, कागज और दर्पणादि स्वयं कुछ नहीं कर के जहाँ रखो वहीं पड़े रहते हैं और मनुष्य उनका चाहे जैसा उपयोग करता है, उसी प्रकार क्या जीव भी अक्रिय—अकर्त्ता है ?

जीव कर्त्ता है। वह प्राण, चैतन्य, ज्ञान एवं उपयोग सम्पन्न है। संसारस्थ जीव योग सहित है,

जिससे वह क्रिया करता है और इस क्रिया से कर्म एवं कार्य बनता है। जीव अध्यवसायों से युक्त है। इच्छा, कामना और सोच-विचार से वह भाव-कर्म करता है और भाव-कर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का भाव-कर्म भी द्रव्य-कर्म के उदय से होता है। जीव के दृश्य कर्म (दृश्यमान कार्य-किये जाते हुए या किये गये कार्य, प्राप्त शुभाशुभ फल के रूप में) प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। किन्तु इसकी पूर्व-दशा तो तत्काल उत्पन्न अदृश्य कर्म है। अदृश्य कर्म की उत्पत्ति, भाव-कर्म के साथ तत्काल हो जाती है। जीव की काषायिक परिणति और योग-व्यापार से कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध ही यथासमय दृश्य कार्य निष्पन्न करता है।

क्रिया ही कर्म की जननी है। आत्मा सक्रिय है, जड़ के समान निष्क्रिय नहीं। इसकी ज्ञान-दर्शन रूप भाव-क्रिया तो चलती ही रहती है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग रूप भाव-क्रिया से आत्मा एक क्षण-एक सूक्ष्म समय भी वञ्चित नहीं रह सकती, क्योंकि यही उसका स्वभाव है। जीवत्व है, वह भाव-क्रिया तो करता ही रहता है। यदि आत्मा स्वभाव में स्थित है, राग-द्वेष एवं योग से रहित शुद्ध एवं परम पवित्र है, तो उसकी भाव-क्रिया, द्रव्य-कर्म की उत्पादिका नहीं बनती। वह भाव-फल (अनन्त आत्म-सामर्थ्य एवं आत्मानन्द) से युक्त रहती है, परन्तु विभाव-दशा में द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति (संबंध अवश्य होता है और द्रव्य-कर्म ही दृश्यमान प्रत्यक्ष और परोक्ष, ऐसे विचित्र संसार के रूप में निष्प होता है। स्वभाव से तो सभी जीवों का स्वरूप एक समान है। पारिणामिक भाव में जीवत्व सभी समान है और सभी जीव ज्ञानदर्शनोपयोग युक्त हैं, असंख्य प्रदेशात्मक हैं और अनादिनिधन हैं। इ भव्य अभव्य भेद भी विभाव दशा में है, बद्ध दशा के हैं। भव्य जीव, विभाव से रहित हो कर स्व दशा में आता है, तब उसका भव्यत्व भी छूट जाता है और वह 'नो भव्य नो अभव्य' कहलाता अभव्य जीव इस दशा को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। वह सदा-सर्वदा कर्मों के बन्धनों में ही रहता है। यह भी उसका अपना स्वभाव है, परिणति है। इसके सिवाय सभी जीवों का आ स्वरूप समान होता है। जो असमानता है, वह विभाव दशा से है और वही कर्म-बन्ध का प है। जीव की विभाव दशा अनादि काल से है। वह कषाय और योग के चलते कर्म करता ह और अपने आपको कर्म-बन्धनों से जकड़ता रहा। इसी का परिणाम है—यह चतुर्गतियुक्त विचित्र सं

कोई भी क्रिया व्यर्थ नहीं होती, चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, दृश्यमान हो या अदृश्य। कि कर्म की उत्पत्ति होती ही है। हम अपने आपको देखें और सोचें कि क्या हम कभी निष्क्रिय रह हम भले ही अपने शरीर और वचन से—स्थूल रूप में, शरीर और वाणी का व्यापार नहीं कर किन्तु हमारा मन तो कुछ न कुछ करता ही रहता है। उसके सोच-विचार रूपी मनोयोग च रहता है, अध्यवसायों का तांता लगा ही रहता है। दिन-रात, सोते-जागते और जान-अनजा

अध्यवसायों का क्रम चलता ही रहता है। इससे कोई भी आत्मा एक सूक्ष्म समय भी निष्क्रिय नहीं रह सकती। यह आभ्यन्तर क्रिया विना रुके जारी रहती है और इससे भाव-कर्म होता रहता है। इस भाव-कर्म के आकर्षण से द्रव्य-कर्म वर्गणाएँ आकर्षित हो कर आत्मा से सम्बन्धित हो जाती है। बस यही उसका कर्त्तापन है।

मोटे रूप से जीव, अपनी विभिन्न कृतियों का ही अपने को कर्त्ता मानता है। जैसे—'मैंने यह भवन बनाया, मोटर खरीदी, धन कमाया, विवाह किया, सन्तान उत्पन्न की, खेत, बाग-बगीचे, कूएँ, धर्मशाला और मन्दिरादि बनाये, मैंने ग्रन्थ रचना की, मैंने सैकड़ों काव्य रचे, महाकाव्य रचे।' इस प्रकार मनुष्य अपने को कर्त्ता मानता है। किन्तु इनके सिवाय भी वह अपने लिए शुभा-शुभ कर्म का सर्जन करता है, भावी सुख-दुःख के निर्माण की नींव रख कर चयन कर रहा है इसका उसे ज्ञान ही नहीं है। यह जीव का अज्ञान है।

कर्म करने से ही होता है। किसान खेत में से धान्य आदि की फसल लेता है, वह बिना कर्त्ता बने नहीं ले सकता। वह खेत में बीज बोने और सींचने आदि के रूप में कर्त्ता बना ही है। किसी कर्म का कर्त्तापन प्रत्यक्ष होता है और किसी का परोक्ष। प्रत्यक्ष कर्त्तापन को जीव स्वीकार कर लेता है, किन्तु परोक्ष कर्त्तापन को बहुत से जीव मानते ही नहीं। यह उनका अज्ञान है।

सभी जीव अपने-अपने कर्मों के स्वयं कर्त्ता हैं। उनके कर्म न तो किसी दूसरों के द्वारा निर्माण हुए और न वे किसी दूसरे के कर्मों का निर्माण कर सकते हैं। आत्मा स्वयं अपने कर्म की कर्त्ता है—"**अप्पाकत्ता विकत्ताय।**"

ईश्वर-कर्तृत्ववादी आत्मा को कर्त्ता नहीं मान कर ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं। उनकी यह मान्यता अनुचित है। यदि ईश्वर ही कर्त्ता होता, तो वह करण-योग युक्त-साकार होता, सशरीर होता, क्योंकि पर वस्तु के कर्तृत्व में करण-योग एवं शरीर अनिवार्य होता है। इनके बिना कोई भी वस्तु नहीं बनाई जा सकती। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो बिना शरीर के एक तिनका भी उठा सके या तोड़ सके। दूसरी बात यह कि कोई भी समझदार व्यक्ति अच्छी वस्तु का ही निर्माण करता है। यदि ईश्वर कहाने वाली परमोत्तम शक्ति भी चोर, उचक्के, हत्यारे और दीन-दरीद्र उत्पन्न करे, तो वह परमात्मा कैसे माना जा सके? अतएव आत्मा को अपने कर्म का स्वयं कर्त्ता नहीं मान कर, ईश्वर को कर्त्ता मानना अनुचित्त है।

प्रश्न—जब जीव अपने कर्म का खुद कर्त्ता है, तो वह कर्त्ता बने ही क्यों, जिससे कि बन्धन में जकड़ाना पड़े और फल भोगना पड़े?

उत्तर—हमें कर्मों का ग्रहण तो करना ही पड़ता है, क्योंकि हममें कषाय और योग रूपी कारण

रहा हुआ है। जब तक यह कारण रहेगा, तब तक शुभाशुभ क्रिया एवं कार्य होगा ही। हाँ, विवेकी जीव चाहे, तो अशुभ प्रवृत्ति रोक कर शुभ प्रवृत्ति कर के आत्मा को कर्म-वन्ध से हलकी करता रहे, विरति के अंकुश से पाप-प्रवृत्ति रोक कर आत्मा को उन्नत करता रहे। ऐसा करते रहने पर कषायें क्षिण होगी और होते-होते एक दिन ऐसा भी आ सकेगा कि कषायें सर्वथा नष्ट हो कर वीतरागता आ सकेगी और फिर कर्म नाश हो कर परमात्म-दशा प्राप्त कर लेगी। इसके बाद आत्मा, कर्म की कर्त्ता नहीं रहेगी। कर्म का कर्त्ता सकर्मक जीव ही होता है, अकर्मक नहीं।

प्रश्न–आत्मा अरूपी मानी जाती है, तो वह रूपी कर्म की कर्त्ता कैसे वन सकती है?

उत्तर–आत्मा स्वभाव से अरूपी होते हुए भी विभाव दशा में रूपी है, वर्णगन्धादि से युक्त है, और कर्म-वन्धनों में बँधी हुई है। पूर्व के बँधे हुए कर्मों के उदय से वह पुनः-पुनः कर्म-वन्धनों को उत्पन्न करती रहती है। जिस प्रकार कारागृह में रहा हुआ वन्दी, अपनी दुष्प्रवृत्तियों से पुनः दण्ड पाता रहता है, उसी प्रकार सकर्मक जीव भी कर्म करता रहता है। जीव की विभाव दशा (सकर्मक अवस्था) भी अनादि काल से है। पहले हमारा जीव कभी भी अकर्मक नहीं रहा। अतएव संसारी आत्मा, कर्म-पुद्गलों से आबद्ध-परिबद्ध हो कर रूपी बनी हुई है। वह सिद्ध भगवंतों के समान एकान्त अरूपी नहीं है, इसलिए कर्म की कर्त्ता है।

इस प्रकार जीव 'अपने कर्म का स्वयं कर्त्ता है'–ऐसा मानना चाहिये। जब हम अच्छी-बुरी बातें सोचते हैं, अच्छे-बुरे कार्य करते हैं, तो उससे उत्पन्न कर्म के कर्त्ता क्यों नहीं होंगे? अवश्य होंगे।

जो एकान्तवादी मत, आत्मा को एकान्त अरूपी मानते हैं और कर्म की करने वाली नहीं मानते, वे तो प्रत्यक्ष झूठे हैं। क्योंकि वे स्वयं भी सोचने–मनन करने, बोलने, खाने-पीने और शंका-समाधान आदि क्रिया करते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। उनकी ये क्रियाएँ कर्मों को उत्पन्न करती ही है। इन क्रियाओं के मूल में उनकी आत्मा एवं अध्यवसाय है ही। समस्त क्रियाएँ आत्म-निरपेक्ष नहीं होती। इस प्रकार उनकी सक्रिय आत्मा, अकर्मक एवं कर्म की अकर्त्ता कैसे रह सकती है? जब वे ध्यान में निश्चल रहते समय भी चिन्तनादि मनोयोग क्रिया और राग-द्वेष युक्त रहते हैं और उस समय भी कर्म के अकर्त्ता नहीं माने जाते, तो दिखाई देने वाली बाह्य क्रियाओं से युक्त होने पर भी अपने को अकर्त्ता मानते हैं, उनकी यह भूल प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। वे अपने हठ को नहीं छोड़े, तो यह उनकी हठधर्मी कही जायगी।

अतएव जीव कर्म का कर्त्ता है, ऐसा दृढ़ विश्वास के साथ मानना चाहिए।

जीव कर्म-फल का भोक्ता है

जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है, शाश्वत है और अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता है। इतना मान लेने के

बाद जीव को कर्म के फल का भोग करने वाला भी मानना ही चाहिए। जीव कर्त्ता तो हो, परंतु भोक्ता नहीं हो, यह कैसे हो सकता है ? किन्तु कई मनुष्य कुश्रद्धा या अश्रद्धाजन्य तर्क के चक्कर में पड़ कर कर्म-फल का भोग नहीं मानते। किये हुए कार्यों के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले फल को तो वे स्वीकार करते हैं, जैसे—औषधी खाने से रोग-निवृत्ति, विष-भक्षण से प्राणनाश, भोजन करने से क्षुधा मिटना, पानी पीने से प्यास मिटना, गर्म वस्त्रों से शीत-निवारण और चोरी, जारी, हत्या आदि के फलस्वरूप दण्ड-भोग आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले कर्म-फल तो नास्तिक और कुतर्की भी मानते हैं, किंतु परोक्ष कर्म—पूर्व-भवों में किये हुए कर्मों का भवान्तर में होने वाले फल को वे लोग नहीं मानते। यही विवाद का विषय है और यही उनकी भूल है। वे परोक्ष कार्य के प्रत्यक्ष फल से भी इन्कार नहीं कर सकते। जैसे—किसी ने भोजन, दूध या दवाई में विष मिला कर किसी को खिला दिया। यह विष-दान खाने वाले ने या और किसी ने नहीं देखा, किंतु जब उस अदृश्य कार्य का फल प्रत्यक्ष हुआ, तब वे मान गए कि इसे किसी ने विष दिया—विष दे कर मार डाला है। इस प्रकार परोक्ष कार्य का प्रत्यक्ष फल मानते हुए भी वे इसे पूर्व में अपने किये हुए कर्म का फल नहीं मानते। वे फल-भोग के बाहरी निमित्त को ही स्वीकार करते हैं, आभ्यन्तर उपादान को नहीं मानते। वे यह तो मान लेते हैं कि—अनुकूल औषधी के सेवन से आरोग्य लाभ हुआ, किंतु किसी कर्म के फलस्वरूप आरोग्य लाभ होना वे नहीं मानते। वास्तव में जीव ने कभी किसी प्राणी को दुःख, शोक और संताप दे कर असातावेदनीय कर्म का बन्ध किया था। उस समय वह कर्म इतना उग्रतम नहीं था कि तत्काल—अन्तर्मुहूर्त में ही उदय में आवे। यदि उग्र था भी तो उस समय उसके सातावेदनीय कर्म के प्रबल उदय के कारण वह दबा रहा—सत्ता में अनुदय अवस्था में रहा। वह कालान्तर में उदय में आने योग्य था, ऐसा हम प्रत्यक्ष देखते है। कोई शक्ति-सम्पन्न अनार्य क्रूर मनुष्य, अनेक निरपराधी जीवों को निर्दयता से मारता-मरवाता है, जैसे—जर्मनी का हिटलर, चीन का माउत्सेतुंग और भौतिकवाद की लपेट में आये हुए कम्युनिस्टादि, राजनैतिक लाभ के लिए अनेक प्रकार के अनर्थ किये और करते हैं, किसी को छुरा भोंक कर मार डालते हैं, कहीं आग लगा कर भस्म कर देते हैं, बम से रेलगाडी उडा कर कई मनुष्यों को मार डालते हैं और वायुयान में टाइम-बम रख कर ध्वस्त कर देते हैं और ये दुष्ट पकड़ में भी नहीं आते, तब क्या इनका किया हुआ यह दुष्कर्म व्यर्थ ही गया ? इन दुष्कर्मों का इन पापियों को कोई फल नहीं मिलेगा ? —अवश्य मिलेगा। आज यदि इनके पुण्य का उदय है, ये पूर्व-पुण्य का शुभ फल भोग रहे हैं, जिससे इनको पाप का फल नहीं मिल रहा है। किन्तु जब पुण्य नष्ट हो जायगा और पाप का उदय होगा, तब इन्हें करणी का फल अवश्य भोगना पड़ेगा।

पुण्य और पाप का फल यहीं, इसी भव में ही मिलता है—ऐसी एकान्त बात नहीं। कई कर्मों का फल यहीं मिल जाता है और कई कर्मों का अन्यत्र। कई इसी भव में भोग लिये जाते हैं और कई

भवान्तर में। जैसे कि–

हत्या के एक अपराधी का अपराध छुप गया और उसके वदले एक निरपराध पकड़ा गया। अभियोग चला। प्राथमिक न्यायालय में, पुलिस-प्रयत्न सफल रहा और शेसन्सकोर्ट ने उसे अपराधी मान कर मृत्यु-दण्ड सुना दिया। हाइकोर्ट में अपील हुई। उच्च न्यायालय ने पुलिस प्रमाणों को बनावटी या अविश्वसनीय मान कर, उस निरपराध को मुक्त कर दिया। मुक्त होने के बाद उसने खुद ने प्रच्छन्न प्रयत्न किया। कुशल भेदिये द्वारा पता लगाया और वास्तविक हत्यारे को पकड़वा दिया।

इस घटना में कर्म-सिद्धांत की दृष्टि का निर्णय होगा। हत्यारे को हत्या करते समय, पाप करते हुए भी पूर्वभव का पुण्य बचा रहा था। जब तक पुण्य-प्रभाव उदय में रहा और पाप-कर्म सत्ता में ही दबा रहा, तब तक उसका पाप छुपा रहा, किंतु जब पुण्योदय समाप्त हो गया और सत्ता में रहा हुआ पाप-पुंज उदयमान हुआ, तो वर्षों का दबा हुआ हत्या का अपराध प्रकट हुआ और हत्यारा पकड़ में आ कर मृत्युदण्ड को प्राप्त हुआ।

प्रश्न होगा कि 'वह निर्दोष, एक लम्बे काल तक हवालात में वन्दी रहा और मृत्युदण्ड की संभावना का आतंक भोगता रहा, तो उसने इतने काल तक किस अपराध का दण्ड भोगा ? यह बिना कर्म किये ही फल-भोग हुआ या नहीं ?' समाधान है कि–नहीं, बिना कर्मोपार्जन के फल-भोग नहीं होता। उस निर्दोष दिखाई देने वाले ने पूर्व के किसी भव में किये हुए वैसे पाप-कर्म का ही फल पाया है। उसने किसी पर झूठा कलंक लगा कर दुःखी किया होगा और कुछ काल सताने के बाद वह निर्दोष माना गया होगा, तदनुसार यहां भी उसे उस पाप का फल भोगना पड़ा।

एक व्यक्ति ने किसी मनुष्य की हत्या कर दी और वहाँ से भाग कर अन्य सुदूर प्रान्त में चला गया। पुलिस ने बहुत तपास की, किन्तु उसका पता नहीं लगा। उस प्रान्त में वह नाम बदल कर रहा। भाग्य से उसकी नौकरी लग गई और उसने एक युवती कुमारी से शादी कर के घर भी बसाया। कालान्तर में नौकरी छोड़ कर स्वतन्त्र व्यापारी बन गया, पैसा कमाया और बाल-बच्चे भी हुए। वर्षो बाद उसका पाप खुला। उसी प्रान्त का कोई मनुष्य वहां पहुँचा। उसने उसे पहचान कर रहस्य खोल दिया। बस, वह पकड़ा गया, और हत्या वाले स्थान पर लाया गया। फिर अभियोग चल कर कारावास का दण्ड पाया।

यह व्यक्ति उस प्रान्त और नगर के नागरिकों की दृष्टि में निर्दोष एवं भला था। वहां उसने हत्या नहीं की थी। वहाँ के परिचित उसे निर्दोष समझ कर उसकी गिरफ्तारी को अन्याय तथा सच्चे और चरित्रवान् व्यक्ति को दण्डित करना मान रहे थे। पूर्व के पाप की उन्हें जानकारी ही नहीं थी। किन्तु उसे मिला हुआ दण्ड, अपराध का ही फल था। इसी प्रकार जो आज निर्दोष दिखाई देता है, उसके फल-भोग का कारण-पूर्व के किसी भव का किया हुआ पाप-कर्म ही है।

विद्याध्ययन करने वाले विद्यार्थियों में कोई ऐसा भी होता है कि जो प्रयत्न करते हुए भी ठोठ रहता है। उसके सहपाठी उत्तीर्ण हो कर आगे बढ़ जाते हैं और वह बुद्धिहीन वहीं रह जाता है। उसके माता-पिता का पुस्तकादि साधन और शिक्षक-उपशिक्षक की अनुकूलता तथा उसका स्वयं का प्रयत्न भी उसे विद्या प्राप्ति में सफल नहीं बना सके। इस असफलता का उपादान (मूल) कारण उस आत्मा पर ज्ञान को आवरित करने वाले, उन पापकर्मों का विशेष उदय है, जो उसने पूर्व के किसी भव में किये थे।

इस भव में सीधा-सादा और संयमी दिखाई देने वाला मनुष्य भी कई प्रकार की व्याधियों, दुःखों और शोक-संताप से युक्त दिखाई देता है। यह भी उसके पूर्वभव के किये हुए पापकर्मों का फल है।

कोई निरन्तर कड़ा परिश्रम करते रहने वाला, अपने व परिवार के लिए भोजन भी बड़ी कठिनाई से जुटा पाता है, किन्तु दूसरी ओर कम से कम प्रयत्न या कोई बिना प्रयत्न भी विशेष धन प्राप्त कर लेता है। यह उसके पूर्वभव के शुभाशुभ कर्मों का फल है।

कोई-कोई विद्वान कहते हैं कि 'कर्मों की प्रकृतियाँ चार प्रकार की हैं,'—१ जीवविपाकिनी, २ पुद्गलविपाकिनी, ३ भवविपाकिनी और ४ क्षेत्र-विपाकिनी। जीव-विपाकिनी प्रकृतियों का फल मुख्यतः जीव को भुगतना होता है, पुद्गल-विपाकिनी का उदय, शरीर और इन्द्रियों पर होता है, भवविपाकिनी, आयुकर्म से सम्बन्धित है और क्षेत्र-विपाकिनी का उदय नारकादि स्थान प्राप्त करवाती है। धन-सम्पत्ति की प्राप्ति-अप्राप्ति, लाभ-हानि, स्त्री-पुत्रादि की अनुकूलता-प्रतिकूलता से कर्मोदय का कोई सम्बन्ध नहीं। रोगोत्पत्ति आरोग्यता आदि का होना कर्मोदय का फल नहीं है। इनके कारण तो इसी भव के आचरण का फल है। जैसे—धन की प्राप्ति का कारण है—बेईमानी, ठगाई, कालाबाजार आदि, रोग का कारण है—अपथ्य सेवन या भोग-गृद्धिता, जय-पराजय का कारण है—सेना और अस्त्र-शस्त्रादि साधनों की अनुकूलता-प्रतिकूलता और बुद्धि की हीनाधिकता। धन-सम्पत्ति आदि बाह्य सामग्री की प्राप्ति का कारण कर्मोदय नहीं। उनकी यह बात अनुचित है।

पुद्गल-विपाकिनी प्रकृति केवल शरीर और इन्द्रियों पर ही प्रभावित नहीं होती, वह शुभाशुभ पुद्गलों का योग भी मिलाती है। वेदनीय-कर्म की पाप प्रकृति का बन्ध, जीवों को पीड़ित-खेदितादि करने से होता है और पुण्य-प्रकृति का इस पाप से बच कर रहने से होता है। सातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप प्राप्त सुख-सामग्रियों का उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र पद २३ उ. १ में बताया है। लिखा है कि—

सातावेदनीय कर्म के उदय से मनमोहक—१ शब्द, २ रूप, ३ गन्ध, ४ रस और ५ स्पर्श की प्राप्ति होती है और खुद के ६ मन ७ वचन और ८ काया भी सुखदायक होते हैं। संसार की जितनी भी सुख-दुःख-दायक वस्तुएँ हैं, वे शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमय है। इनमें सभी प्रकार की भौतिक

सामग्री आ गई। धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार, दास-दासी, गान-तान आदि वादन सामग्री, नृत्य-नाटक सिनेमादि दृश्य, रेडियो, भवन, कार आदि वाहन, आसन-शयनादि, वस्त्र, अलंकार, सुन्दर, मोहक और पूर्ण अनुकूल पत्नी, आज्ञाकारी पुत्र, स्नेह-शील कुटुम्ब और उच्चाधिकार आदि उत्तम एवं सुखदायक सामग्री की प्राप्ति और वाद या युद्धादि में विजय, ये सब शुभ-कर्मों के उदय से होते हैं। यह सब सुख या इनमें से कोई भी सुख, शुभ-कर्म के उदय से ही प्राप्त होता है। कर्मोदय है-उपादान कारण-अपनी खुद की योग्यता और निमित्त है व्यापार-व्यवसायादि से प्राप्त धन आदि सामग्री। अपना उपादान अनुकूल हो, तभी वैसा निमित्त मिलता है।

कोई भी कार्य, केवल बाह्य निमित्त से नहीं बनता, उसके लिए आभ्यन्तर कारण भी चाहिए। बिना आभ्यन्तर कारण के बाह्य निमित्त कुछ नहीं कर सकता। जैन-सिद्धांत पाँच समवाय मानता है, जिनकी अनुकूलता एवं परिपक्वता से ही कार्य-सिद्धि होती है। ऐसी दशा में केवल बाह्य निमित्तों को ही कारण मान कर, आभ्यन्तर-उत्पादन को उपेक्षित करना समझदारी नहीं।

व्यापार-व्यवसाय बहुत से लोग करते हैं, किंतु सभी लाभान्वित होते ही हैं और समान रूप से होते हैं-ऐसी बात नहीं, न धन का संग्रह मात्र कालेबाजार, चोरी, ठगाई, धूर्त्तता और अवैध संग्रह से ही होता है। साहुकारी एवं सच्चाई पूर्ण व्यापार-व्यवसाय से भी धन की प्राप्ति होती है। कालाबाजार और धोलाबाजार भेद तो पिछले कुछ वर्षों से हुआ। इसके पूर्व भी व्यापारी कमाते थे। माल का संग्रह होता ही था और उसमें हानि भी होती थी और लाभ भी होता था। कई मनुष्य हीरे की खान में से बहुमूल्य हीरा मिल जाने के कारण धनवान बन जाते हैं, कई लाटरी जीत कर धन प्राप्त कर लेते हैं, कई उत्तराधिकार में लाखों के स्वामी बन जाते हैं, किन्हीं को पूर्वजों का गड़ा हुआ धन मिल जाता है। पहले जमाने में राजा-महाराजा, किसी योद्धा के पराक्रम से प्रसन्न हो कर गाँव के गाँव जागीर में देकर, दरिद्र को ठाकुर बना देते थे। कई दरिद्र कुल की रूप-सुन्दरियाँ राजा-महाराजा या कोट्याधिपति की प्रेम-पात्री और लक्ष्मीदेवी-सी बन कर, एक रानी के समान वैभवशालिनी हो जाती थी। इस प्रकार बिना चोरी, ठगाई, कालाबाजारी आदि के भी धनवान बन जाते हैं। इन वर्षों में तो खेती भी धनवान बनने का साधन बन गई। साहुकारों को व्याज देने वाले उलटे साहुकारों से व्याज लेने वाले हो गए। यह सब पुण्योदय के प्रभाव से हुआ। जिनके पाप का उदय था, उन्हें या तो उपयुक्त साधन नहीं मिला, या बीज खराब मिला, जमीन खराब हो गई, वर्षा न्यूनाधिक हुई, कीड़े लग कर खा गए या फसल चोर ले गए। किसी भी निमित्त से हानि हो गई। हमने देखा है-एक खेत वाले के फसल अच्छी होती है, तब उसके पड़ोस वाला खेत कमजोर है। उसकी फसल खराब है। इनमें बाहर दिखाई देने वाले निमित्त ही सबकुछ नहीं होते, आभ्यन्तर कारण भी रहता ही है। वह आभ्यन्तर कारण शुभाशुभ कर्मों का उदय है।

अभी फ्लु का प्रकोप हुआ, घर में ५–७ व्यक्ति रहते हैं। उनमें से कइयों को फ्लु का कष्ट भोगना पड़ा। पहले एक को और फिर दूसरा, तीसरा, इस प्रकार फ्लु एक-दूसरे को लगने लगा। किंतु घर में एक या दो मनुष्य ऐसे भी रहे, जिन्हें फ्लु ने स्पर्श ही नहीं किया। छोंत का वाह्य निमित्त उपस्थित रहने पर भी वे अप्रभावित रहे। इसका मुख्य कारण यही कि उनके उस समय असातावेदनीय कर्म का उदय नहीं था। इस रोगावस्था में वहुत से पलंग पर लेटे रहे, उनकी सार-सँभाल कुटुम्वीजन करते थे। किन्तु हम वैसी दशा में कुटुम्व से दूर दिल्ली की होटल के एक कमरे में अकेले पड़े रहते और विशेष में कोर्ट में उपस्थित हो कर और सीढ़ियाँ चढ़ कर, वड़े कष्ट से जाना पड़ता था। यह सव असातावेदनीय कर्म का विशेष उदय था।

एक मनुष्य दरिद्र है। दिनभर शरीर-तोड़ परिश्रम कर के शाम को मजदूरी के पैसे लाता है, तव धान्य ला कर खाने की जुगत करता है और तव तक मातृहीन छोटे-छोटे वच्चे भूख के मारे इधर-उधर पड़े रहते हैं। कभी उस दुर्भागी मजदूर के हाथ से कोई ऐसी भूल या हानि हो जाती है कि जिससे उसकी मजदूरी भी जव्त हो जाती है। उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है और अपने और वच्चों की भूख का विकट प्रश्न मुँह फाड़े सामने खड़ा हो जाता है, इतना ही नहीं, मालिक उसे काम से पृथक् भी कर देता है। इस प्रकार परिश्रम से प्राप्त रकम से वंचित रखने और आगे के लिए मजदूरी का साधन ही छूट जाने में, वाह्य रूप से दिखाई देने वाली भूल या अकस्मात् ही एक मात्र कारण नहीं, उसका दुर्भाग्य (पाप-कर्म का उदय) भी कारण है, अवश्य है। वह उसी का फल भोग रहा है। असाता-वेदनीय का तीव्र उदय उसे सुखप्रद द्रव्य का सुयोग प्राप्त नहीं होने देता। यदि रूखे-सूखे से पेट भरने जितनी जुगत, वड़े परिश्रम से लगाता है, तो अन्तराय-कर्म का तीव्र उदय उसमें भी वाधक वन जाता है।

मनुष्य कई प्रकार के पाप करता है। ईर्षा-द्वेष वश वह दूसरों के लाभ में वाधक वनता है। दूसरों के अभ्युदय से जलता है, दूसरों को हानि पहुँचाने में तत्पर रहता है और दूसरों की वनती हुई को विगाड़ कर प्रसन्न होता है। ऐसे ही पापों का उदय जव होता है और खुद की हालत विगड़ती है, तव वह वाह्य निमित्त को ताकता है और पुनः पाप करने लगता है।

यदि कोई जीव, किसी पापकर्म का कर्त्ता नहीं वना, तो वह भोक्ता भी नहीं वन सकता, फिर परिस्थितियाँ चाहे जितनी विपरीत हों। उसके लिए रोपे गए शूल भी फूल वन जाते हैं। वे संकटों से भरे हुए स्थान से पूर्ण सुरक्षित निकल जाते हैं। उन्हें कोई क्षति नहीं होती। वड़े-वड़े साम्राज्यों द्वारा एक साधारण व्यक्ति के विरुद्ध रचे हुए सुदृढ़ षड्यन्त्र में से भी वे निरावाध निकल जाते हैं। खिलाया या पिलाया हुआ विष भी प्राण नहीं ले सकता और फेंका हुआ तोप का गोला भी वेकार जाता है। भारत के अंग्रेज वायसराय, लार्ड हार्डिञ्ज, हाथी पर सवार थे। उन पर क्रान्तिकारियों ने गोला फेंका,

किन्तु उनका कुछ नहीं बिगड़ा। वे साफ बच गए। एक वायसराय की स्पेशल ट्रेन उड़ाने का प्रयत्न हुआ, किन्तु वे तो बच गए और पीछे के डिब्बे में रहा हुआ खानसामा मारा गया। जिन्हें मारना था, वे बच गए और जिन्हें मारने का सोचा भी नहीं था, वे मारे गए। इसका कारण यही था कि निमित्त प्रबल होते हुए भी उपादान की अनुकूलता, शत्रुओं के पक्ष में नहीं थी, इसलिए वे सफल नहीं हुए। ये सब निमित्त वायसराय के लिए उत्पन्न किये गए थे, खानसामा के लिए नहीं, किन्तु खानसामा की मृत्यु का योग था। उसका आयुकर्म समाप्त होने वाला था, इसलिए वायसराय के लिए सर्जित निमित्त, सर्जक की इच्छा के बिना ही, खानसामा का मारक बन गया। म० गांधी को मारने का प्रयत्न सात बार व्यर्थ हुआ। उनका उपादान अनुकूल था, तो मारक का प्रतिकूल निमित्त भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका और जब उपादान प्रतिकूल बना, तो पुलिस की उपस्थिति भी बेकार हो गई और बम्बई में पहले से मिली सूचना भी उपेक्षणीय हो गई।

सन् १९६५ में भारत-पाक युद्ध हुआ था। राजस्थान की सीमा पाकिस्तान से मिली हुई है। राजस्थान का प्रमुख हवाई अड्डा जोधपुर के निकट है। इस अड्डे को नष्ट करने के लिए पाकिस्तान ने १७९ बम जोधपुर पर गिराये, इनमें से अधिकांश बम जोधपुर की घनी आबादी पर गिरे, किन्तु सिवाय एक के सभी व्यर्थ गए। दो मकानों की गलियों के बीच या खुली जगहों पर गिर कर रेत में दब गए। केवल एक बम कारागृह पर गिरा और उससे कुछ बन्दी मारे गए। शेष सभी बम व्यर्थ गए। यदि इनमें से थोड़े-से बम ही निर्धारित स्थानों पर गिरते, तो जोधपुर की क्या दशा होती? उपादान की प्रतिकूलता ने पाकिस्तानी बम के भयंकर निमित्त को भी व्यर्थ कर दिया।

एक सेठ किसी गाँव से हजारों रुपये ले कर अपने घर जा रहा था। रात होते समय रेल्वे-स्टेशन पर पहुँचा। गाड़ी प्रातःकाल मिलने वाली थी। उसने स्टेशन-मास्टर से कहा;—

"मुझे रात भर यहीं रहना है। मेरे पास जोखिम है।" स्टेशन-मास्टर ने कुछ देर उसे अपनी आफिस में बिठाया, फिर चौकीदार से मुसाफिरखाने में एक खटिया डलवा कर सेठ से बोला;—

"आप आनन्द से सो जाइए, यहाँ कुछ भी डर नहीं है। मैं चौकीदार को कह दूँगा, वह आपका ध्यान रखेगा।" रात १० बजे की गाड़ी निकलने के बाद मास्टर, आफिस बन्द कर के अपने क्वार्टर में चला गया। स्टेशन-मास्टर के मन में लोभ जागा और उग्र हुआ। सेठ का धन उसे ललचा रहा था। उसकी नृशंसता उभरी। उसने चौकीदार को बुला कर मन्त्रणा की।

सेठ खटिया पर सो रहा था कि स्टेशन-मास्टर का युवक पुत्र आया। उसने देखा—घर के किंवाड़ बन्द है। उसने सोचा "घर के लोगों को क्यों जगाऊँ। स्टेशन पर खटिया रखी है, उसी पर सो जाऊँ।" वह स्टेशन के मुसाफिरखाने में पहुँचा। खटिया पर सेठ को सोया देख कर उसका क्रोध जागा। उसने ठोकर मार कर सेठ को उठाया और खटिया अपने अधिकार में कर के सो गया। सेठ वहाँ से हट कर

वाहर एक पेड़ के नीचे जा कर सो गया। योजना के अनुसार चौकीदार दो साथियों सहित तलवार ले कर आया और विना देखे-भाले अन्धेरे में ही, खाट पर सोये व्यक्ति की गर्दन पर भरपूर वार कर दिया। गर्दन कट कर अलग हो गई। फिर तड़पते हुए मनुष्य को उठा कर दूर जंगल में ले गये। उसकी जेवें टटोली, तो वहाँ था ही क्या, कुछ पैसे ही मिले। उनके मन में धसका लगा। दूसरी वार टटोला, पूरा शरीर और सभी कपड़े जाँच लिए, फिर निराशापूर्वक खड्डे में डाल ऊपर मिट्टी डाल दी। लौट कर विस्तर तपासा, तो वहाँ भी धन नहीं मिला। उन्होंने पहले विस्तर खटिया और आँगन धोया, रक्त के निशान मिटाये और स्टेशन-मास्टर के पास पहुँचे। चौकीदार का चेहरा मुरझाया हुआ था। उसने निराशाजनक समाचार सुनाये। मानव-हत्या का पाप व्यर्थ रहा। दोनों चिन्ता-मग्न हो गए। प्रातःकाल गाड़ी के समय मास्टर, स्टेशन पर पहुँचा और टीकिट देने लगा। सेठ भी पीपल के पेड़ के नीचे से उठ कर टीकिट लेने खिड़की पर आया और टीकिट माँगा। सेठ का मुँह देखते ही मास्टर का हृदय वैठ गया। उसे लगा, जैसे सेठ का भूत सामने खड़ा हो। उसने सेठ को संकेत से आफिस में वुलाया। सेठ ने आते ही कहा—

"साहव ! आपने तो कृपा कर खाट दिया था, किन्तु आधी रात के वाद एक साहव आये। उन्होंने ठोकर मार कर मुझे उठाया और आप सो गए। मुझे उस सामने के पेड़ के नीचे सो कर रात वितानी पड़ी। अव टीकिट दीजिए, गाड़ी आने वाली है।"

स्टेशन-मास्टर अवाक्। उसे विचार हुआ—'कहीं जयंत तो इसकी खाट पर नहीं सोया था।' इधर वह सोच में डूवा था, उधर खिड़की पर लोग चिल्ला रहे थे—"वावूजी ! टीकिट दो। गाड़ी आ रही है।" भान-भूल स्टेशन-मास्टर ने टीकिट दिए। गाड़ी आई और सेठ तथा अन्य सवारियाँ गाड़ी में वैठीं। गाड़ी चल दी।

गाड़ी रवाना कर मास्टर घर गया। पुत्र की तलाश की। पुत्रवधू ने कहा—"रात को आये ही नहीं।" मास्टर के होश उड़ गए। उसे लगा—"मेरी तृष्णा का शिकार, मेरा पुत्र जयंत ही हुआ।" वह धसका खा कर भूमि पर गिर पड़ा। पाप का घड़ा भी फूट गया।

उपरोक्त घटना में मृत्यु की भयानक विपत्ति, एकमात्र सेठ पर ही मंडरा रही थी। उसके लिए षड्यन्त्र रचा गया था। हत्यारों ने तलवार का वार सेठ पर ही किया था। किन्तु सेठ के वलवान उपादान ने जयंत का निमित्त उपस्थित कर दिया और सेठ को तलवार के झटके से पूर्व ही वहाँ से हटा कर जयंत को शिकार वना दिया। जयंत का गला कटाने वाले उपादान ने, सेठ के मारक निमित्त को अपनी ओर मोड़ लिया।

इस प्रकार की घटनाओं को मात्र अकस्मात या संयोग मान कर, कर्म-भोग के सिद्धांत की अवहेलना करना—नास्तिकता है।

कर्मों के फल-भोग में उदयानुसार तरतमता होती है। उदय सूक्ष्म भी होता है और स्थूल भी। जघन्य एवं सामान्य मध्यम उदय का फल-भोग अनजान में भी हो जाता है। जैसे—किसी व्यक्ति के पेट में सामान्य उदर-विकार हो, हलका-सा दर्द हो रहा हो, किन्तु उसी समय उसे किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने की प्रसन्नता हो, तो वह उस दर्द को भूल कर, सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार जघन्य अथवा सामान्य मध्यम प्रकार का दुःखानुभव, विशिष्ट सुखानुभव में दब कर रह जाता है।

कई फल-भोग ऐसे होते हैं, जिनका उदय एवं क्षयोपशम विचित्र प्रकार का होता है। थोड़ी देर में उदय और थोड़ी देर में उपशान्त, पुनः उदय, पुनः उपशान्त। जैसे—पेट में हलका-सा दर्द हो। थोड़ी देर दर्द रह कर रुक गया हो और फिर होने लगता हो। विशेष प्रकार के उदय से दुःख का विशेष अनुभव होता है। कोई सामान्य प्रयत्न से उपशान्त हो जाता है, कोई विशेष प्रयत्न से और कोई असाध्य भी होता है।

ज्ञानावरण कर्म का उदय, सभी छद्मस्थ जीवों के होता है, किन्तु तरतमता कितनी? कहाँ निगोद के क्षुद्रतम जीवों के ज्ञानावरण का उदय और कहाँ गणधर भगवन्तों और बारहवें गुणस्थान में प्रवेश करने वाली महान् आत्माओं का नष्टप्रायः ज्ञानावरण का उदय? कितना अन्तर है इनमें? श्रुत-केवली महात्माओं के भी ज्ञानावरणीय की पाँचों प्रकृतियों का उदय रहता है, फिर भी वे कितने ज्ञानी हैं? श्रुत-सागर के पारगामी उन महात्माओं के ज्ञानावरणीय कर्म का कितना अधिक क्षयोपशम और निगोद के जीव का कैसा प्रगाढ़तम उदय?

चक्षुदर्शनावरण का उदय निगोद के जीवों के भी है और मनुष्यों के भी, किन्तु अन्तर कितना? एकेन्द्रिय से तेइन्द्रिय तक के जीवों के लिए सर्व-घाती और चौरीन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय के लिए देशघाती। इसमें भी बहुत अन्तर है। किसी के आँखे होते हुए भी दिखाई नहीं देता और किसी को बहुत कम दिखाई देता है। किसी पक्षी की दृष्टि मनुष्य से भी अधिक तेज होती है। क्षयोपशम और उदय की विचित्रता देखिये कि कभी उदय विशेष, तो कभी क्षयोपशम भी विशेष होता है। क्षयोपशम वाले अंजन या चश्मे का निमित्त पा कर देख सकते हैं और ऐसे क्षयोपशम वाले के उदय का जोर हो, तो चश्मा टूट-फूट या खो जाता है। फिर उदय का जोर कम हुआ कि खोया हुआ चश्मा मिल जाय। दुर्बिन प्राप्त कर विशेष सूक्ष्म या अधिक दूर की वस्तु देख सकते हैं। अन्तर मुहूर्त में उदय और अन्तर मुहूर्त में क्षयोपशम होने योग्य कर्म भी होते हैं। तात्पर्य यह कि उदय का मन्दतम रस भी होता है और तीव्रतम भी और स्थिति जघन्य काल की भी होती है और उत्कृष्ट काल की भी। उदय स्थान भी अनन्त होते हैं।

कई कर्म ऐसे भी होते हैं कि जिनका फलभोग नहीं होता। कमजोर कर्म, बिना रस-भोग के ही उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं, कुछ शुभ परिणति से नष्ट हो जाते हैं। कुछ कर्मों की फल-दान शक्ति एवं स्थिति में न्यूनता आ जाती है। इस प्रकार बँधे हुए सभी कर्म, रस-भोग द्वारा भुगते ही जाते

हों—ऐसी बात नहीं है। सभी कर्म उसी रूप से भुगतने पड़ते हों—ऐसा नहीं होता। बन्धने के बाद प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश में हानि भी होती है और वृद्धि भी। पुण्य या पाप-प्रकृति के बन्ध के बाद उसी प्रकार की शुभाशुभ परिणति से हानि-वृद्धि भी हो सकती है और कई कर्म प्रदेशोदय से ही नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जो भोग में आते हैं, वे कर्मोदय का फल ही है।

जीव, कर्म का बन्ध अकेला भी करता है और दो, चार, दस, बीस, सैकड़ों, हजारों और लाखों-करोड़ों व्यक्ति मिल कर भी एक साथ बन्ध करते हैं। उनका उदय भी एक साथ होता है। जैसे—फ्लू, चेचक, प्लेग, हेजा आदि रोगों के व्यापक होने पर हजारों-लाखों पीड़ित होते हैं। युद्ध होने पर उभय राष्ट्रों के करोड़ों व्यक्तियों पर उसका प्रभाव होता है और लाखों मनुष्य मर-खप जाते हैं, घायल हो जाते हैं और स्थान-भ्रष्ट हो कर पीड़ित हो जाते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुष्काल, मँहगाई आदि के दुःख हजारों-लाखों मनुष्य एक साथ भोगते हैं। यह सब सामूहिक कर्म-बन्धन का सामूहिक उदय है।

एक कम्पनी के शेअर-होल्डर—हिस्सेदार हजारों-लाखों होते हैं और उसका हानि-लाभ सभी शेअर-होल्डरों को भोगना पड़ता है। उसी प्रकार सामूहिक कर्मफल भोगा जाता है। फिर भी प्रत्येक आत्मा की परिणति में भिन्नता रहती है। विचारों में मन्दता-तीव्रता होती है। कोई पुरुष शान्त एवं उदासीन भी होता है। आत्म-परिणति की मन्दता-तीव्रता के अनुसार बन्ध और फल-भोग में न्यूनाधिकता रहती है। इनमें से कोई व्यक्ति निर्लेप भी रह जाते हैं, जो बन्ध-प्रसंग पर उदासीन रहे, वे दुःख-भोग से भी वंचित रह जाते हैं। ऐसी स्थिति हम रोग, युद्ध एवं बाढ़-प्रकोपादि व्यापक उपद्रवों के समय देख-जान सकते हैं। जिनमें कई मर जाते हैं, कई घायल होते हैं, कई बे-घरबार हो जाते हैं। कई को अधिक भोगना पड़ता है, कई को कम, तो कोई पूर्ण रूप से बच जाते हैं। यह सब उदय भाव की विचित्रता के फल का दृश्यमान प्रमाण है।

न्याय भी यही कहता है कि जो कार्य बनता है, वह अपने कारण से बनता है। अपना कारण ही उपादान है। निमित्त कारण भी होते हैं, परन्तु विविध। निमित्त मुख्य भी होता है और गौण भी। बिना उपादान के निमित्त कुछ भी नहीं कर सकता। उपादान बलवान् हो, अनुकूल हो, तो खिलाया-पिलाया हुआ विष भी वमनादि से निकल जाता है और मारक, हत्या के अपराध में फँस जाता है। अतएव दिखाई देने वाले निमित्त को ही सब कुछ मान कर कर्म-फल भोग के उपादान को नहीं मानना भी नास्तिकता है।

भवों में । कोई कर्म जिस प्रकार किया, उसी प्रकार फल देता है और कोई अन्य प्रकार से । पापी मनुष्य संसार में भ्रमण करता रहता है और पूर्व-कर्म का फल भोगते हुए नये कर्म बाँधते रहते हैं ।

(सूयग. १-७-४)

(२) "सकम्मुणा विप्परियासुवेइ"-जीव सुख चाहता हुआ भी अपने कर्म से दुःखी होता है।

(सूयग. १-७-११)

(३) "ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिइमरणाणं भाईमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूयसुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्माणस्साणं आभागिणो भविस्संति ।"

-वे पापी जीव अपने पाप-कर्म के फल से अनेक वार दण्ड, मुण्डन, तर्जन, ताड़न, बन्धन यावत् घोलन को प्राप्त होते हैं । उन्हें मातृ-मरण, पिता मरण, भ्राता मरण, भगिनी, भार्या, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू की मृत्यु का दुःख भोगना पड़ता है । वे दारिद्र, दुर्भाग्य, अप्रिय संवास, प्रिय-वियोग तथा अनेक प्रकार के दुःख एवं दौर्मनस्य के भागी होते हैं । (सूयग. २-२-४१)

(४) "कम्मसंगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा"-कर्मों के सम्बन्ध से मूढ़ बने हुए प्राणी बहुत ही दुःखी होते हैं और दुःखों का वेदन-भोग करते हैं । (उत्तरा. ३-६)

जिस प्रकार पापकर्मों का फल-भोग आगमों में बताया है, उसी प्रकार पुण्य-कर्मों का फल-भोग भी बताया है । जैसे;-

(५) "इड्ढि जुइ जसो वण्णो, आउं सुहं मणुत्तरं ।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जइ ॥२७॥"

-(वह पुण्यात्मा, देव-भव के बाद) मनुष्य-भव में, वहाँ जन्म लेता है, जहाँ ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और सुख उत्तमोत्तम हों । (उत्तरा. ७)

(६) "खेतं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास पोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जई ॥१७॥"

-(वह पुण्यात्मा) ऐसे स्थान पर उत्पन्न होती है, जहाँ-१ खेत, बगीचे, भवन, २ सोना-चांदी, ३ पशु और ४ दास-दासी, ये चार कामस्कन्ध हों । (उत्तरा. ३)

(७) "महिड्ढियं पुण्ण फलोववेयं"-पुण्य के फलस्वरूप महान् ऋद्धि का स्वामित्व होता है ।

(उत्तरा. १३-११)

(८) "सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति,दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति ।"

अच्छे आचरण से उत्पन्न पुण्य-कर्म का उत्तम (सुखदायक) फल होता है और दुराचरण से उत्पन्न अशुभ कर्म का बुरा फल होता है । (औपपातिक सूत्र-भगवान् महावीर की देशना)

इस प्रकार पूर्वोपार्जित कर्मों का फल-भोग, आगम-प्रमाणों से भी सिद्ध है। जो भी फल-भोग होता है, वह अपने किये कर्मों का होता है, बिना किये नहीं होता। इस सिद्धांत को अवश्य मानना चाहिए। इस प्रकार का दृढ़ विश्वास ही आस्तिकवाद है।

मुक्ति है

आत्मा के साथ कर्मों का वन्धन होता है—यह मानने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वन्धनों से मुक्ति भी होती है, या केवल वन्ध और भोग ही होता है ?" उत्तर में कहा जाता है कि—

वन्ध-परम्परा, संतति रूप से अनादि मानते हुए भी प्रतिसमय होने वाले वन्ध की आदि है और स्थिति पूरी होने पर अन्त भी होता है। इस प्रकार वन्ध का आदि-अन्त भी चलता ही रहता है। प्रतिसमय वंध और प्रतिसमय निर्जरा, यह क्रम अनादिकाल से चलता आया है और चलता ही रहता है, वहाँ तक चलता रहता है, जहां-तक वन्ध-परम्परा चलती रहती है। बन्ध रुकने के बाद मुक्ति होती है। अब प्रश्न उठेगा कि क्या कभी वन्ध-परम्परा भी रुक सकती है ? उत्तर होगा कि—हां, वन्ध-परम्परा रुकती भी है। जबतक योग-प्रवृत्ति है, तब तक वन्ध-परम्परा भी न्यूनाधिक रूप से चलती रहती है। जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति चलती ही रहती है—शुभ या अशुभ, भली या बुरी। मनुष्य बैठा या सोया हो, तब भी योग-प्रवृत्ति चालू रहती है। मन तो उसका काम करता ही रहता है—व्यक्त या अव्यक्त रूप से। वचन का उच्चारण मोटे रूप में नहीं हो, तब भी सूक्ष्म रूप में वचन-प्रवृत्ति एवं वचनाकृति—भीतर ही भीतर बनती-बिगड़ती रहती है। मनुष्य अपने आप वचन की योजना करता रहता है। अपने-आप ही किसी से कुछ कहने कहलाने के शब्दों की योजना बनाता रहता है। यह सभी के अनुभव की बात है। मनुष्य अपने मन में ऐसे कई सम्भव-असम्भव कार्यों और तत्सम्बन्धी बातों को बनाता रहता है जो शब्द रूप होती है। इस प्रकार की वचन-प्रवृत्ति बाहर व्यक्त न होते हुए और अपने-आप में ही चलते हुए भी बादर (मोटे रूप में) है। सूक्ष्म वचन प्रवृत्ति तो निरन्तर चलती ही रहती है, जिसे हम जान ही नहीं सकते। इसी प्रकार शरीर को एक स्थान पर स्थिर रखते हुए भी काय-प्रवृत्ति चलती ही रहती है। आहार पचाने, श्वासोच्छ्वास, रक्त-संचालन एवं नाड़ी-स्पन्दनादि रूप से। प्रयत्न करने पर भी इस प्रकार की योग-प्रवृत्ति नहीं रुक सकती।

मन, वचन और काया, इन तीनों योगों की प्रवृत्ति तो संज्ञी पंचेन्द्रिय—मन वाले मनुष्यों, तिर्यंचों, देवों और नारकों के होती है, शेष जीव असंज्ञी है, उनके मन नहीं है। उनमें से पर्याप्त बेइन्द्रिय जीवों से लगा कर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के वचन और काय-योग ही होता है और पृथिव्यादि पाँच स्थावर-काय जीवों और सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के एकमात्र काय-योग ही होता है। ये अपने-अपने योग के अनुसार

प्रवृत्ति करते हैं। पृथ्वीकाय के जीव—पत्थरादि हमें एक ही स्थान पर स्थिर रहे हुए दिखाई देते हैं, फिर भी इनमें काय-योग की प्रवृत्ति है। ये जीव अपनी खुराक ग्रहण करते हैं. श्वासोच्छ्वास भी इनमें हैं। इस प्रकार इनमें भी प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति, बन्ध उत्पन्न करती है।

बन्ध-परम्परा रुकने पर मुक्ति होती है। जब बन्ध-परम्परा है, तो ऐसी भी स्थिति होती है कि जिससे बन्धोत्पत्ति रुक जाय और जीव मुक्त हो जाय।

अपराधी को कारागृह में बन्दी बनाया जाता है। उस दण्ड की काल-सीमा भी है और समय पूर्ण होने पर वह कारागृह से मुक्त भी हो जाता है। इसी प्रकार बन्धनों की भी आदि और अन्त होता है और मुक्ति भी होती है।

वृक्ष हमेशा हरा-भरा रहता है। समय पर उसमें नये पत्ते, पुष्प, फल और बीज उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। पुनः उत्पन्न और पुनः नष्ट—यह परम्परा चलती ही रहती है। किन्तु एक दिन ऐसा भी आता है कि वह वृक्ष सूख जाता है, गिर पड़ता है, या काट दिया जाता है। फिर उसमें पत्र-पुष्पादि उत्पन्न नहीं होते। इसी प्रकार भव्य-जीव के लिए कभी ऐसा भी समय आता है कि उसकी बन्ध-परम्परा नष्ट हो कर मुक्ति हो जाती है।

मनुष्य की वंश-परम्परा कब से है? एक मनुष्य की वंश-परम्परा कब से चली? क्या इसका पता चल सकता है? नहीं शास्त्रों के आधार से यह तो कहा जा सकता है कि मनुष्य अकर्मभूमिज से कर्मभूमिज हुआ, किन्तु ऐसा कोई समय नहीं रहा कि जब मनुष्य का अस्तित्व था ही नहीं और उसकी उत्पत्ति नई ही हुई हो। वास्तव में मनुष्य की परम्परा भी अनादि है और वंश-वेल अनादिकाल से चली आई है। हम दो-चार या अधिक से अधिक दस-बीस पीढ़ी के पूर्वजों का नाम मालूम कर सकते हैं, उसके आगे का नहीं। किन्तु यह तो निश्चित्त ही है कि उनसे पूर्व भी अज्ञात पूर्वज थे और वे मनुष्य ही की सन्तान थे। इस प्रकार वंश-वेलि अनादि से चली आ रही है, फिर भी इसका छेदन होना हम देखते हैं। किसी पुरुष के कोई सन्तान ही नहीं हुई या हो कर मर गई, तो वह वंश-वल्ली वहीं समाप्त हो जाती है। अनादि काल से चली आ रही वंश-वल्ली एक पुरुष के निःसंतान मरने पर वहीं कट जाती है, इसी प्रकार जीव की कर्म-संतति भी नष्ट हो कर मुक्ति हो सकती है। अतएव मुक्ति का अस्तित्व भी मानना ही चाहिए।

मुक्ति के यहाँ दो अर्थ हैं—१ आत्मा की सर्वथा निर्मल एवं परम विशुद्ध दशा, जिसमें सभी प्रकार के बन्धनों का आत्यंतिक अभाव हो + और २ वह स्थान जहाँ मुक्तात्मा सादि-अपर्यवसित निवास करती हो। दूसरी प्रकार की मुक्ति—मुक्तात्मा का निवास स्थान लोकाग्र पर है। जो आत्मा सर्वथा मुक्त होती

+ वैसे देश-मुक्ति और सर्व-मुक्ति भेद भी है। यथा—"देशविमुक्का साहू।"

है, वह शरीर से मुक्त हो कर और एकदम ऊँची उठ कर लोकाग्र पर पहुँच जाती है। जिस प्रकार सूखी हुई उड़द, मूँग या एरण्ड की फली के फूटने पर, दाना उछल कर ऊपर जाता है, जलाशय के अन्तस्तल में दबी हुई तुम्बी, बन्धन नष्ट होने पर ऊपर उठ आती है, उसी प्रकार समस्त बन्धनों से मुक्त हुई आत्मा भी लोकाग्र के सिद्ध क्षेत्र पर पहुँच जाती है और फिर सदाकाल वहीं रहती है।

"मुक्त जीव, जिस क्षेत्र में मुक्त हो, वहीं उसी स्थान पर रह जायँ"—ऐसा सोचना उचित नहीं। क्योंकि यह स्थान अपवित्र, गति-सम्बद्ध और विकारी है, उत्तम नहीं है। इससे विशेष उत्तम देवलोक है, देवों में भी अत्युत्तम स्थान अनुत्तर विमान है और उससे भी अत्यंत उच्चतम स्थान लोकाग्र का सिद्ध-स्थान है। मुक्तात्मा वहीं पहुँच कर सादि-अपर्यवसित रहती है—सर्वथा निश्चल, परम स्थिर।

नास्तिक लोग मुक्ति नहीं मानते हैं, किंतु कुछ आस्तिक भी मुक्ति नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मुक्ति एक कल्पना मात्र है। एकेश्वरवादियों में से कुछ में मुक्ति की मान्यता है, किंतु स्वरूप के विषय में भ्रम है। वे एकेश्वरवादी लोग, मुक्तात्मा को भी ईश्वर से कम दर्जे पर मानते हैं। श्री दयानन्द सरस्वती आदि तो मुक्तात्माओं की पुनरावृत्ति भी मानते थे। विश्वभर में मात्र एक ही ब्रह्म मानने वाले अद्वैतवादी के मत से तो मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जब एक ब्रह्म के सिवाय दूसरी कोई आत्मा ही नहीं, तो मुक्ति किसकी हो? आत्मा को कूटस्थ, अपरिणामी एवं उत्पाद-व्यय-रूप पर्यायों से रहित मानने वाले मत में मुक्ति की मान्यता भी कैसे घट सकेगी? उस मत में न तो बन्धन घट सकेगा, न मुक्ति ही। बौद्ध मत की स्थिति विचित्र है। वह आत्मा को नहीं मानता। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार, इन पाँच स्कन्धों के समूह से उत्पन्न होने वाली शक्ति को आत्मा अथवा विज्ञान कहता है और इसे भी प्रतिक्षण नष्ट होने वाला मानता है। फिर भी बोधिसत्व के भव एवं पुनर्जन्म स्वीकार करता है। निर्वाण मान कर भी बुद्ध को संसार के निर्वाण के लिए प्रवृत्ति-रत मानता है। जहाँ आत्मा की प्रवृत्ति शेष रह जाती है, वह मुक्ति ही कैसी? प्रवृत्ति होती है—योग से और योग होते हैं—काया-शरीर में। शरीर अपने आप उदय जन्य होता है, जिसके साथ सुख-दुःख की परम्परा लगी ही रहती है। फिर यह मुक्ति ही कैसी? जहाँ शरीर सम्बन्ध है, वहाँ जन्म और मृत्यु भी है ही। उसे मुक्ति कैसे कही जाय?

ईश्वरवादी, अवतारवादी, कर्तृत्ववादी—ये सब अपनी प्ररूपणा से ईश्वर को मुक्त नहीं, किंतु राग-द्वेष युक्त एवं योग-सम्पन्न बतलाते हैं। कर्त्ता को योग-सम्पन्न मानना ही पड़ता है। जैन-दर्शन सम्मत मुक्ति ऐसी नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार वही आत्मा मुक्त हो सकती है कि—जिसका दृष्टि-विकार नष्ट हो चुका हो, संयमी बन कर सभी प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियाँ रोक दी हो, प्रमाद, कषाय और अज्ञानादि नष्ट कर के अयोगी बन चुकी हो। ऐसी विशुद्ध आत्मा ही शरीर एवं कर्म-बन्धनों को नष्ट कर मुक्त हो सकती है।

आत्मा, सबसे पहले अपना दृष्टि-विकार नष्ट करती है, फिर मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति पर विरति की रोक लगाती है। इसके बाद कषायों को नष्ट करती हुई वीतराग बन जाती है और ज्ञान-दर्शन तथा शक्ति पर लगे हुए आवरणों को नष्ट कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तथा अनन्त शक्ति सम्पन्न हो जाती है। इसके बाद आयुपर्यन्त शुभ-योग प्रवृत्ति मात्र रहती है, वह भी समाप्त हो कर पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाती है। फिर देह त्याग कर सर्वथा विशुद्ध, पौद्गलिक सम्बन्ध से सर्वथा रहित, परमात्मा बन जाती है। ऐसी मुक्तात्मा, जिन आकाश-प्रदेशों में स्थिर हो जाती है, वहीं सादि-अपर्यवसित रहती है—सर्वथा निस्पन्द, निष्कम्प और निश्चल। इन मुक्तात्माओं में न तो कभी किसी प्रकार की प्रवृत्ति होती है और न पुनरागमन। ये अपने स्वभाव—अनन्त ज्ञान-दर्शन आनन्द एवं आत्म-सामर्थ्य युक्त रहती है। ऐसी अनन्त आत्माएं परमात्मा बन चुकी हैं और आगे भी बनेगी। इस प्रकार अनन्त ईश्वर की मान्यता जैन-दर्शन की है और सभी मतों से स्वतन्त्र एवं अद्वितीय है। परमात्मा बन जाने पर फिर उन परमात्माओं का कोई भी प्रयोजन शेष नहीं रहता। वे सम्पूर्ण रूप से कृतकृत्य एवं अपने आप में लीन रहते हैं। संसार में कैसी भी परिस्थिति हो, उनका उससे कोई प्रयोजन नहीं रहता। जब सशरीर एवं सयोग वीतराग सर्वज्ञ भगवंत भी सांसारिक परिस्थितियों से अलिप्त रहते हैं और भीषण-तम परिस्थितियों में भी उनकी आत्मा निर्विकार एवं निर्लिप्त रहती है, तो अशरीरी परमात्मा, संसार के हितार्थ पुनरागमन स्वीकार करें—यह कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार जैन-दर्शन सम्बन्धी मुक्ति की मान्यता विशुद्ध है, निर्दोष है और सर्वथा स्वतन्त्र है। इस प्रकार मुक्ति के अस्तित्व का भी विश्वास रखना ही चाहिए। यदि मुक्ति पर श्रद्धा नहीं हुई, तो भी नास्तिकता का दोष रह जाता है। इस दोष से बचने के लिए दृढ़ श्रद्धा रखना चाहिए। "**अत्थि सिद्धि अत्थि सिद्धा**" (उववाई सूत्र)।

× × × ×

लोक है—लोक—जिसमें धर्मास्तिकायादि छह द्रव्य रहे हुए हैं। जो ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् भेद से चौदह रज्वात्मक लम्बा है। जिसमें नीचे सात नरक और भवनपति देव, तिर्छे लोक में व्यन्तर, ज्योतिषी देव, द्वेन्द्रियादि तिर्यंच और मनुष्य रहते हैं। ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देव और सर्वोपरि सिद्ध परमात्मा निवास करते हैं। एकेन्द्रिय जीवों से तो यह सारा लोक भरा हुआ है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय के एकेन्द्रिय जीव, पुद्गलास्तिकाय और आकाशास्तिकाय से समस्त लोक भरा हुआ है। आकाशास्तिकाय भाजन रूप है। इसमें ये सभी द्रव्य निवास करते हैं। पुद्गल प्रतिबद्ध जीव, इस लोक में जन्म-मरण और गति-आगति करता रहता है। चार गति, चौवीस दण्डक और समस्त तत्त्वज्ञान, संयोग-वियोगादि इस लोक में ही होते हैं। अधोलोक में क्रमशः अशुभ परिणमन अधिक होता है और ऊर्ध्व

लोक में क्रमश: शुभ परिणमन अधिक होता है। पाँच अस्तिकायों के अतिरिक्त छठा निश्चय काल तो सर्वत्र है और व्यवहार काल मनुष्यलोक में ढ़ाई द्वीप प्रमाण है। लोक का विस्तृत स्वरूप आगमों तथा 'लोकप्रकाश' आदि ग्रंथों में विस्तार से वताया गया है। जिज्ञासुओं को वहाँ से देख लेना चाहिए।

अलोक है–जहाँ आकाश की पोलार के सिवाय और कुछ भी नहीं हो, वह अलोक है। अलोक अनन्त है। इस अनन्त अलोकाकाश के मध्य में लोकाकाश छोटा-सा असंख्य योजन प्रमाण है।

अजीव है–जिस प्रकार जीव का अस्तित्व है, उसी प्रकार अजीव का भी अस्तित्व है। जीव अपने-आप में अरूपी है, किन्तु रूपी अजीव–पुद्गल से सम्बद्ध होने के कारण ही हम इसे देख सकते हैं। शरीर और इन्द्रियों का व्यापार, अजीव-प्रतिवद्ध जीव ही कर सकता है। शव्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शात्मक सभी वस्तुएँ अजीवमय है और रूपी है, फिर भले ही वे सूक्ष्म हो या स्थूल। अरूपी अजीव तो केवल धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाशास्तिकाय है और ये एक-एक द्रव्य हैं। काल-द्रव्य भी अरूपी अजीव है। पुद्गलास्तिकाय रूपी है–परमाणु हो या स्कन्ध। संसार में हम जो भी देखते, सुनते, सूंघते, चखते और स्पर्श करते हैं, वह सभी पुद्गलास्तिकाय है। इस प्रकार अजीव द्रव्य का अस्तित्व भी है ही।

पुण्य-पाप है–अच्छा आचरण करने वाले और बुरा आचरण करने वाले भी होते हैं। भूखे-प्यासे को भोजन-पानी देना, दुखियों को शान्ति पहुँचाना, रोगी, दुर्वल, विपत्तिग्रस्त असहायों की सहायता करना आदि पुण्य-कर्म भी है और प्राणातिपातादि पापकर्म भी है। पुण्यकर्म का फल सुखदायक होता है और पाप का फल दु:खदायक होता है।

आस्रव-संवर है–पुण्य और पापमय आत्म-परिणति से, आत्मा में कर्म रूपी मैल आता है और विरति से आस्रव का मार्ग वन्द किया जाता है। कषायात्मा, योग युक्त होती है। योग जहाँ है, वहाँ क्रिया भी होती है और कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होती, जिससे आस्रव की उत्पत्ति नहीं होती हो। आस्रव की रोक होना संवर है। हिंसादि पापों से विरत होना संवर है। आस्रव वन्ध का कारण है, तो संवर मुक्ति का कारण है।

वेदना है–जव पुण्य, पाप और आश्रव है, वन्ध है, तो उसका फल सुख-दु:ख वेदन रूप वेदना भी है ही। हम सभी भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी, सुख-दु:ख आदि भावों का वेदन करते ही हैं। अतएव वेदना का अस्तित्व भी मानना ही चाहिए।

निर्जरा है–जव कर्म-वन्ध माना, तो निर्जरा भी माननी ही होगी। यह निर्जरा दो प्रकार की होती है–१ अकाम-निर्जरा और २ सकाम-निर्जरा।

अकाम-निर्जरा–असम्यक् अविरत अवस्था में होने वाली निर्जरा। जो दु:ख-सुख भोग कर तथा स्थिति पूर्ण कर कर्म-वन्धन कटते हैं अथवा असम्यक् साधना से जो कर्म हटते हैं, वह अकाम-निर्जरा है। इससे निर्जरा के साथ वन्ध का उपार्जन भी होता रहता है।

सकाम-निर्जरा—सम्यक् साधना—बन्धच्छेद क्रिया—तपस्या से, आत्मा के लगे हुए कर्म-कचरे को हटाना सकाम-निर्जरा है। जो यथार्थ रूप में बन्धच्छेद का कार्य करे, वह सकाम-निर्जरा है।

अरिहंत है—घातिकर्मों को नष्ट कर के जो परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए हैं। जिन्होंने भवांकुर नष्ट कर दिया और भव्य जीवों को मुक्ति का मार्ग दिखाया, ऐसे अरिहंत भगवंत भी होते हैं। उन्हीं सर्वज्ञ भगवंतों के उपदेश से हम धर्मास्तिकायादि अमूर्त द्रव्य, लोकालोक का स्वरूप, सिद्ध भगवंत, मुक्ति के सम्यग्ज्ञानादि उपाय आदि जानते हैं। अरिहंत सामान्य भी होते हैं और विशिष्ट-तीर्थंकर भगवंत भी। आयु पूर्ण होने पर ये अरिहंत भगवंत, सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव जैसे संसार में श्लाघनीय पुरुष भी कभी-कभी होते हैं।

नरक और नारक भी है—अधोलोक में सात नरक पृथ्वियाँ है और उनमें नारक जीव अपने पिछले भव के उत्कृष्ट पापों का दुःख-रूप फल भोगते हैं। जिन क्रूर-कर्मियों, महापापियों का पाप-कर्म इतना उग्र हो कि जो हजारों-लाखों वर्षों, पल्योपमों और सागरोपमों जितनी अत्यंत दीर्घ आयुष्य तक भोगना पड़े, उनके लिए अधोलोक का नरक स्थान ही उपयुक्त है। अतएव नरक स्थान और नारकीय जीवों का अस्तित्व मानना भी उचित है।

तिर्यंच योनि और मनुष्य योनि हमारे प्रत्यक्ष ही है। माता-पिता भी है ही। माता-पिता और उनके प्रति पुत्र का कर्त्तव्य मानना भी उचित ही है।

देवलोक और देव है—देवलोक और देवों का अस्तित्व भी मानना चाहिए। जिस प्रकार उत्कट पाप का फल भोगने के लिए नरक है, उसी प्रकार विशेष पुण्य का फल भोगने के लिए देवलोक है, जहाँ देव, दीर्घ-आयु पर्यन्त विशिष्ट प्रकार के सुख भोगते रहते हैं। देव चार प्रकार के हैं;–१ भवनपति २ व्यन्तर ३ ज्योतिषी और ४ वैमानिक। ये चारों प्रकार के देव क्रमशः एक-दूसरे से ऊँचे स्थान पर रहे हैं। देवों में सबसे अधिक ऊँचे और प्रशस्त अनुत्तर विमान के देव हैं और उनमें भी विशेष प्रशस्त हैं सर्वार्थसिद्ध महाविमान के देव।

सभी अस्तित्व भाव अस्तित्व में और सभी नास्तित्व भाव नास्तित्व में परिणत होते हैं—विश्व में जितने भी अस्तित्व भाव हैं, वे सभी अपने अस्तित्व में ही परिणत होते हैं। उनमें से एक भी भाव अपना अस्तित्व छोड़ कर नास्तित्व भाव में नहीं बदलता। यही बात नास्तित्व भाव के विषय में है। जैसे कि—सोने में अपने स्वर्ण भाव का अस्तित्व है, किन्तु पीतल, लोहा, कपड़ा, लकड़ी आदि पर-भाव की नास्ति है। इस प्रकार अस्ति-भाव और नास्ति-भाव को स्वीकार करना चाहिए।

जिस अपेक्षा से अस्ति-भाव होता है, उसी अपेक्षा से नास्ति-भाव नहीं हो सकता। नास्ति-भाव के लिए अन्य अपेक्षा होनी चाहिए। जो लोग यह कहते हैं कि—जिस अपेक्षा से अस्तिभाव है, उसी अपेक्षा से

नास्ति-भाव भी होता है। उनका इस प्रकार कहना मिथ्या है। एक वस्तु में अस्ति-भाव और नास्ति-भाव रहता है, किन्तु दोनों भावों की अपेक्षाएं भिन्न है, एक नहीं। एक हो ही नहीं सकती।

मुक्ति का उपाय है

जब मुक्ति है, तो मुक्ति का उपाय भी होना ही चाहिए, जिससे मुक्ति प्राप्त की जा सके। वस्तु चाहे जितनी दुर्लभ हो, कितनी ही कठिनाई से प्राप्त हो सकती हो, फिर भी उसकी प्राप्ति का उपाय तो होता ही है। हिमालय की चोटी पर पहुँचना अत्यंत कठिन है। सर्व साधारण वहां नहीं पहुँच सकते। कोई विरला ही शिखर पर चढ़ पाता है। परन्तु जो भी चढ़ता है, वह किसी न किसी उपाय से ही पहुँचता है। इसी प्रकार मुक्ति प्राप्त करने का भी उपाय है ही।

बिना उपाय के मुक्ति का होना और न होना, दोनों समान है। वह वस्तु हमारे लिए किस काम की, कि जिसको प्राप्त ही नहीं किया जा सके, जिसकी प्राप्ति का कोई उपाय ही नहीं हो, और जिसे प्राप्त करना सर्वथा असंभव एवं अशक्य हो। मुक्ति का होना तभी सार्थक हो सकता है, जबकि उसका उपाय भी हो।

मुक्ति का उपाय है, अवश्य है। विभिन्न मत अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार मुक्ति का उपाय वतलाते हैं। कोई ज्ञान-योग से मुक्ति मानता है, तो कोई कर्म-योग—क्रियावाद से, भक्ति-योग से भी मुक्ति मानी गई है। इस प्रकार विविध मतों ने विविध प्रकार के उपाय वतलाये हैं। जो विचारधाराएँ आत्मा का स्वरूप नहीं जानती, न मुक्ति का स्वरूप जानती, वे मुक्ति का उपाय कैसे जान सकती है? मुक्ति के लिए प्रयत्नशील आत्माएँ, अज्ञान के कारण उलटी बन्धनों में ही जकड़ती जाती है। जिस प्रकार रक्त से सना हुआ वस्त्र रक्त से धोने पर शुद्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिन प्रक्रियाओं से आत्मा बन्धन को उत्पन्न करती है, उन्हीं से मुक्ति नहीं हो सकती। जैन-धर्म, मुक्ति का सही उपाय वतलाता है।

जिन विचारों और क्रियाओं से आत्मा, कर्म-बन्धन उत्पन्न करती है, उनके विपरीत विचार और आचार ही मुक्ति का उपाय है। जिन कारणों से रोग की उत्पत्ति होती है, उसके विपरीत कारण रोगनाशक होते हैं। जिन कुकृत्यों से मनुष्य अपराधी माना जाता है, उनके विपरीत सुकृत्यों एवं सदाचार से सभ्य, शिष्ट एवं समादरणीय माना जाता है। संक्षेप में यही उपाय है मुक्ति का। विस्तार से तो यह सारा ग्रंथ ही मुक्ति के उपायों से भरा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र (अगार और अनगार धर्म) तथा तप—ये मुक्ति के उपाय हैं।

इस प्रकार लोक-अलोक आदि अस्ति-नास्ति भावों को यथावत् मान्य करना चाहिए। इन सभी को

मानने से ही आत्मा सम्यक् आस्तिकवादी होती है। अतिन्द्रिय पदार्थों की मान्यता, अनन्त ज्ञानियों वचनों पर विश्वास कर के स्वीकार करना, प्रत्येक आस्तिकवादी जैन का कर्त्तव्य है।

(२)

आगम साहित्य

श्रुतज्ञान का वर्णन करते हुए पृ० १११ से 'अंगप्रविष्ट' और 'अंगबाह्य' सूत्रों की सूची दी है, किन्तु वे सभी सूत्र उपलब्ध नहीं है। इस समय उपलब्ध सूत्रों में प्रमाण-कोटि में आने वाले सूत्रों के विषय में श्वेताम्बर जैन समाज में दो मत हैं—१ स्थानकवासी जैन समाज और तेरापंथी जैन समाज का और २ मूर्तिपूजक जैन समाज का।

स्थानकवासी और तेरापंथी समाज की मान्यतानुसार सूत्र निम्नलिखित ३२ हैं,—

अंगसूत्र ग्यारह—जिनेश्वर भगवंत महावीर स्वामी के द्वारा अर्थ रूप से उपदिष्ट और गणधर भगवंत द्वारा सूत्र रूप से निर्मित ग्यारह अंग के नाम—

१ आचारांग, २ सूयगडांग, ३ ठाणांग, ४ समवायांग, ५ विवाहप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञाताधर्मकथा, ७ उपासकदसा, ८ अंतगडदसा, ९ अनुत्तरोपपातिकदसा, १० प्रश्नव्याकरण और ११ विपाक।

उपांग बारह—गणधर और अन्य श्रुतधर आचार्यों द्वारा रचित बारह उपांग।

१ उववाई, २ रायप्रसेनी, ३ जीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७ सूर्यप्रज्ञप्ति, ८ निरयावलिका, ९ कल्पावंतसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका और १२ वह्निदशा।

छेद सूत्र चार—१ व्यवहार, २ बृहद्कल्प, ३ निशीथ और ४ दशाश्रुतस्कन्ध।

मूलसूत्र चार—१ दशवैकालिक, २ उत्तराध्ययन, ३ नन्दी और ४ अनुयोगद्वार।

आवश्यक।

११ अंग, १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल और १ आवश्यक—ये कुल ३२ हुए।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मान्य आगमों में उपरोक्त ३२ सूत्र तो हैं ही। इनके अतिरिक्त १३ सूत्र वे विशेष रूप से मानते हैं।

२ छेद सूत्र की संख्या वे ६ मानते हैं। उपरोक्त ४ के अतिरिक्त ५ महानिशीथ और ६ जीतकल्प को मिला कर छः मानते हैं। इसमें भी उनमें मतभेद है। कोई जीतकल्प को छेद में स्थान देते हैं, तो कोई 'पंचकल्प' को।

१ 'पिंडनिर्युक्ति'—इसके स्थान पर कोई 'ओघनिर्युक्ति' मानते हैं और इसे मूल में स्थान देते हैं। साथ ही आवश्यक को भी मूल में स्थान दे कर मूल की संख्या भी ६ कर देते हैं। एक पक्ष मूल तो चार ही मानता है, किन्तु आवश्यक को मूल में स्थान दे कर नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र को 'चूलिका सूत्र' के रूप में मानते हैं।

१० प्रकीर्णक—१ चउसरणपइन्ना, २ आतुरप्रत्याख्यान, ३ भक्तपरिज्ञा, ४ संथारगपइन्ना, ५ तन्दुलवेयालिय, ६ चन्द्रवेध, ७ देवेन्द्रस्तव, ८ गणीविद्या, ९ महाप्रत्याख्यान और १० वीरस्तव।

इसमें भी मतभेद है। कोई 'चन्द्रवेधक' का स्थान 'गच्छाचारपइन्ना' को देते हैं और 'वीरस्तव' का स्थान 'मरणसमाधि पइन्ना' को देते हैं।

इस प्रकार छेद में २, मूल में १ और प्रकीर्णकसूत्र १०—ये १३ बढ़ कर कुल ४५ हुए। इसके सिवाय भी अनेक ग्रंथों, निर्युक्ति, भाष्य, टीका, चूर्णि और अवचूरि आदि को भी प्रमाण रूप मानते हैं।

(३)

पुण्य-पाप परामर्श

संसार के विविध दृश्य देख कर विचारक सोचता है—"यह कैसी विचित्र बात है कि दुष्कर्म करने वाले सुखी और सदाचारी दुःखी हैं। धूर्त, रिश्वतखोर और अत्याचारी सुखी और सरल, सीधे तथा ईमानदार दुःखी हैं। इसका क्या रहस्य है? क्या दुष्कर्म का फल सुख और सदाचार का फल दुःख है?" ज्ञानी कहते हैं कि "भाई! तुम ऊपरी दशा देख कर सोचते हो, इसलिये तुम्हें अचरज होता है। वास्तव में सुख की प्राप्ति शुभ-कर्म के उदय से होती है और दुःख, अशुभ कर्मों से मिलता है। पुण्य का फल सुखदायक होता है और पाप का फल दुःखदायक होता है।

पुण्य-बन्ध का मुख्य आधार भावों पर है। कर्म का बन्ध, कषाय और योग के चलते होता है। कषायों की मन्दता में पुण्य-प्रकृतियों का बन्ध होता है और तीव्रता में पाप-प्रकृतियों का। शुभ अध्यवसायों में कषाय मन्द रहती है। मन्द कषाय में यदि योग-प्रवृत्ति भी मन्दतम रही तो जघन्य कोटि का शुभ बन्ध होता है और तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रही, तो रस एवं योग की तीव्रता में पुण्य-बन्ध भी मध्यम और उत्कृष्ट श्रेणी का होता है।

एकेन्द्रिय जीवों के केवल काय-योग ही है। उनमें शुभाशुभ अध्यवसाय भी मन्द ही होता

मानने से ही आत्मा सम्यक् आस्तिकवादी होती है। अतिन्द्रिय पदार्थों की मान्यता, अनन्त ज्ञानियों के वचनों पर विश्वास कर के स्वीकार करना, प्रत्येक आस्तिकवादी जैन का कर्त्तव्य है।

(२)

आगम साहित्य

श्रुतज्ञान का वर्णन करते हुए पृ० १११ से 'अंगप्रविष्ट' और 'अंगबाह्य' सूत्रों की सूची दी है, किन्तु वे सभी सूत्र उपलब्ध नहीं है। इस समय उपलब्ध सूत्रों में प्रमाण-कोटि में आने वाले सूत्रों के विषय में श्वेताम्बर जैन समाज में दो मत हैं–१ स्थानकवासी जैन समाज और तेरापंथी जैन समाज का और २ मूर्तिपूजक जैन समाज का।

स्थानकवासी और तेरापंथी समाज की मान्यतानुसार सूत्र निम्नलिखित ३२ हैं,–

अंगसूत्र ग्यारह–जिनेश्वर भगवंत महावीर स्वामी के द्वारा अर्थ रूप से उपदिष्ट और गणधर भगवंत द्वारा सूत्र रूप से निर्मित ग्यारह अंग के नाम–

१ आचारांग, २ सूयगडांग, ३ ठाणांग, ४ समवायांग, ५ विवाहप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञाताधर्मकथा, ७ उपासकदसा, ८ अंतगडदसा, ९ अनुत्तरोपपातिकदसा, १० प्रश्नव्याकरण और ११ विपाक।

उपांग बारह–गणधर और अन्य श्रुतधर आचार्यों द्वारा रचित बारह उपांग।

१ उववाई, २ रायप्रसेनी, ३ जीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७ सूर्यप्रज्ञप्ति, ८ निरयावलिका, ९ कल्पावंतसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका और १२ वह्निदशा।

छेद सूत्र चार–१ व्यवहार, २ बृहद्कल्प, ३ निशीथ और ४ दशाश्रुतस्कन्ध।

मूलसूत्र चार–१ दशवैकालिक, २ उत्तराध्ययन, ३ नन्दी और ४ अनुयोगद्वार।

आवश्यक।

११ अंग, १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल और १ आवश्यक–ये कुल ३२ हुए।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मान्य आगमों में उपरोक्त ३२ सूत्र तो हैं ही। इनके अतिरिक्त १३ सूत्र वे विशेष रूप से मानते हैं।

२ छेद सूत्र की संख्या वे ६ मानते हैं। उपरोक्त ४ के अतिरिक्त ५ महानिशीथ और ६ जीतकल्प को मिला कर छः मानते हैं। इसमें भी उनमें मतभेद है। कोई जीतकल्प को छेद में स्थान देते हैं, तो कोई 'पंचकल्प' को।

१ 'पिंडनिर्युक्ति'—इसके स्थान पर कोई 'ओघनिर्युक्ति' मानते हैं और इसे मूल में स्थान देते हैं। साथ ही आवश्यक को भी मूल में स्थान दे कर मूल की संख्या भी ६ कर देते हैं। एक पक्ष मूल तो चार ही मानता है, किन्तु आवश्यक को मूल में स्थान दे कर नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र को 'चूलिका सूत्र' के रूप में मानते हैं।

१० प्रकीर्णक—१ चउसरणपइन्ना, २ आतुरप्रत्याख्यान, ३ भक्तपरिज्ञा, ४ संथारगपइन्ना, ५ तन्दुलवेयालिय, ६ चन्द्रवेध, ७ देवेन्द्रस्तव, ८ गणीविद्या, ९ महाप्रत्याख्यान और १० वीरस्तव।

इसमें भी मतभेद है। कोई 'चन्द्रवेधक' का स्थान 'गच्छाचारपइन्ना' को देते हैं और 'वीरस्तव' का स्थान 'मरणसमाधि पइन्ना' को देते हैं।

इस प्रकार छेद में २, मूल में १ और प्रकीर्णकसूत्र १०—ये १३ बढ़ कर कुल ४५ हुए। इसके सिवाय भी अनेक ग्रंथों, निर्युक्ति, भाष्य, टीका, चूर्णि और अवचूरि आदि को भी प्रमाण रूप मानते हैं।

(३)

पुण्य-पाप परामर्श

संसार के विविध दृश्य देख कर विचारक सोचता है—"यह कैसी विचित्र बात है कि दुष्कर्म करने वाले सुखी और सदाचारी दुःखी हैं। धूर्त, रिश्वतखोर और अत्याचारी सुखी और सरल, सीधे तथा ईमानदार दुःखी हैं। इसका क्या रहस्य है? क्या दुष्कर्म का फल सुख और सदाचार का फल दुःख है?" ज्ञानी कहते हैं कि "भाई! तुम ऊपरी दशा देख कर सोचते हो, इसलिये तुम्हें अचरज होता है। वास्तव में सुख की प्राप्ति शुभ-कर्म के उदय से होती है और दुःख, अशुभ कर्मों से मिलता है। पुण्य का फल सुखदायक होता है और पाप का फल दुःखदायक होता है।

पुण्य-बन्ध का मुख्य आधार भावों पर है। कर्म का बन्ध, कषाय और योग के चलते होता है। कषायों की मन्दता में पुण्य-प्रकृतियों का बन्ध होता है और तीव्रता में पाप-प्रकृतियों का। शुभ अध्यवसायों में कषाय मन्द रहती है। मन्द कषाय में यदि योग-प्रवृत्ति भी मन्दतम रही तो जघन्य कोटि का शुभ बन्ध होता है और तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रही, तो रस एवं योग की तीव्रता में पुण्य-बन्ध भी मध्यम और उत्कृष्ट श्रेणी का होता है।

एकेन्द्रिय जीवों के केवल काय-योग ही है। उनमें शुभाशुभ अध्यवसाय भी मन्द ही होता

बिना मन के विशेष तीव्र अध्यवसाय नहीं हो सकते। इसलिए वे न तो इतना शुभ कर्म बांध सकते हैं कि मर कर देव हो सकें और न इतना अशुभ ही बांध सकते हैं कि नारक हो सकें। वे साधारणतया अपनी काया या जाति के योग्य बन्ध करते हैं। यदि अध्यवसायों की शुद्धि हुई तो विकलेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय हो जाते, अधिक से अधिक कर्मभूमिज मनुष्य। विकलेन्द्रिय भी आगे नहीं बढ़ सकते। काय और वचन योग की विशेषता से प्रकृति स्थिति आदि में विशेषता हो सकती है। हां, असंज्ञी पंचेन्द्रिय में अध्यवसायों और काय और वचन योग की विशेषता होती है, इस से वे अधिक से अधिक भवनपति, व्यन्तर और प्रथम नारकी के नारक हो सकते हैं, परन्तु वहां भी उत्कृष्ट स्थिति नहीं पा सकते। बलवान् मनोयोग वाले जीव ही शुभाशुभ कर्मों का उत्कृष्ट बन्ध और बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं।

प्रश्न– दिखाई देने वाली पुण्य-क्रिया भी क्या अशुभ हो सकती है?

उत्तर– हां, हो सकती है–भावों की अशुभ परिणति के चलते। एक नगर में हमने देखा कि कुत्तों को लड्डु खिलाये जा रहे हैं। हमने सोचा–लडडु खिलाने वाला पुण्यात्मा है। कई लोग संक्रान्ति आदि पर्व पर रोटियाँ खिलाते हैं, कोई जलेबियाँ, तो कोई लड्डु खिलाते हैं और कुत्ते रुचिपूर्वक खाते हैं। किन्तु थोड़ी ही देर में हमारा भ्रम दूर हो गया। उस समय कुत्तों को मारने के लिए नगरपालिका की ओर से विषमिश्रित लड्डु खिलाये गये थे, जो उनके लिए मौत का वारन्ट बन चुके थे। शुभ भावों से खिलाने वालों और मारने की भावना से खिलाने वालों की–दोनों की क्रिया समान थी। दिखाई देने में दोनों का एक ही कार्य था, किन्तु उनमें से एक की भावना पोषक थी और दूसरे की मारक। कितना महान् अन्तर है–उन दोनों की भावना में? भावना का यह अन्तर ही पुण्य और पाप का बन्धक होता है।

प्रश्न– शुभ भाव से किया हुआ पुण्य-कृत्य शुभ फलदायक ही होता है या अशुभ फल वाला भी हो सकता है?

उत्तर– विवेक के अभाव में तथाकथित शुभ अभिप्राय से किया हुआ कृत्य भी अशुभ परिणाम वाला हो सकता है। जैसे–

देवी-देवता के आगे पूजा-हवन एवं बलिदान में बकरा आदि प्राणियों का वध किया जाता है। बलिदान करने वाले के मन में बकरे के प्रति वैर या द्वेष नहीं होता, मात्र देव-पूजा की भावना होती है। कई मुसलमान बकरे को खूब खिला-पिला कर मोटा-ताजा बना देते हैं और जब ईद आती है, तब बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे मार कर धर्म आराधना हुई मानते हैं और उसे प्रसाद के रूप में ईष्ट मित्रों और सम्बन्धियों में वितरण करते हैं। इस प्रकार भावना में बकरे के प्रति वैर विरोध या द्वेष नहीं, अपितु अपने माने हुए धर्म का अनुराग और प्रसन्नतापूर्ण पालन होते हुए भी मिथ्यात्व, हृदय की कठोरता, निर्दयता एवं विवेकहीनता के चलते उन्हें प्रायः अशुभ कर्म बँधते हैं। उनके तथाकथित शुभ

विचारों का फल भी इतना अल्प कि जिसकी कोई गिनती नहीं, परन्तु अशुभ कितने कि जिनसे अनेक प्रकार के दुःख संताप और वध-बन्धनादि में ही जीवन व्यतीत करना पड़े। पापानुबन्धी यह तुच्छ पुण्य अधिकाधिक दुःखी करने वाला होता है।

कुत्ते ने विष मिश्रित लड्डु प्रसन्नता एवं रुचिपूर्वक खाया। उतने समय का सुख कितना महान् दुःख और मृत्यु ले कर आया। इस प्रकार के तुच्छ पुण्योदय की गिनती ही क्या है कि जिसका परिणाम महान् पापोदय ले कर आता है।

जो लोग, व्यसनी मनुष्य पर अनुकम्पा कर के भाँग, गांजा, तमाखू आदि देते हैं, किसी का घर मँडाने (सगाई ब्याह कराने) में योग देते हैं और कामातुरा को रतिदान देते हैं, वे भी कोई द्वेष, वैर या क्रूरता के अशुभ भावों से वैसा नहीं करते। उनके मन में याचक की इच्छा पूर्ण करने रूप कृपाभाव है। परन्तु विवेकीजन उस विवेकहीन कृपाभाव का समर्थन नहीं करते। क्योंकि इस प्रकार का पुण्य-दान हीनकोटि का है, पापवर्द्धक एवं विषाक्त है। जिनागमों में स्पष्ट विधान है कि यदि गृहस्थ साधु को कृपा या भक्तिभाव से औद्देशिकादि दोष से दूषित आहारादि दे, तो वह (ज्ञात होने पर) साधु के लिए अग्राह्य है और ऐसा दान गृहस्थ के लिए भी पापवर्द्धक है।

जिस प्रकार शुभ भावों से खाया हुआ विष भी मारक होता है, उसी प्रकार विवेकहीन शुभ भावों से किया हुआ पापकृत्य भी दुःखदायक होता है।

प्रश्न—यदि भावना शुभ है, तो साधन अशुभ होते हुए भी फल शुभ होता है। 'क्रिया से कर्म और परिणाम से बन्ध'—यह उक्ति आपकी स्मृति में होगी ही ?

ही कहां है ? एक साथ–एक समय में दो प्रकार के भाव तो हो ही नहीं सकते। वहां परिणाम और क्रिया दोनों अशुभ ही है।

प्रश्न–क्रिया में पाप दिखाई देते हुए भी भाव शुभ होने के कारण रोगी के ऑपरेशन करने वाले डॉक्टर को पाप नहीं लगता, फिर देव-भक्ति की भावना से किये जाते हुए बलिदान से भक्त को पाप कैसे होगा ?

उत्तर–डॉक्टर तो रोगी को रोग-मुक्त करने की भावना से, रोगी या उसके कुटुम्बी की अनुमति से ऑपरेशन करता है। डॉक्टर में जीवन बचाने की भावना है। किन्तु भक्त तो हव्य-पशु को जबरदस्ती पकड़ कर मार डालता है। वह उस पशु की वेदना और आक्रन्द की ओर देखता ही नहीं, और कसाई की तरह क्रूरतापूर्वक मार डालता है। ऐसा व्यक्ति डॉक्टर के समान नहीं, कसाई या जल्लाद के समान घातक है।

प्रश्न–जो आज पुण्य दिखाई देता है, वह कभी पाप भी हो सकता है, जो आज धर्म है, वही कालान्तर में अधर्म भी हो सकता है। जैसे–सामान्य स्थिति में सत्य बोलना धर्म है, परन्तु डाकू के सामने सत्य बोलने पर कंगालियत मिलती है और जीवनभर के लिए दुःख संताप और अभाव भुगतना पड़ता है। इसलिए उस समय सत्य बोलना पाप और झूठ बोलना धर्म हो जाता है। क्या इसमें भी कोई सन्देह है ?

नहीं है, जो धन को इज्जत से अधिक—बहुत अधिक महत्व देता है। किन्तु जिसके मन में प्रतिष्ठित जीवन ही महत्वपूर्ण है, वह इज्जत बचाने के लिए धन-सम्पत्ति और घरबार ही क्या, जीवन भी समाप्त कर देता है।

जिसके मन में आत्मा और उसके शाश्वतपन तथा धर्म में विश्वास है और दृढ़ है, वह भौतिक सुख के लिए धर्म को नहीं ठुकराता। भौतिकता को वही महत्व देता है, जो आत्मिकता में अविश्वासी अथवा कायर हो। जो धर्म से भी धन और तन को अधिक महत्व देता है, वही कुतर्क उठा कर पुण्य-पाप और धर्म-अधर्म के स्वरूप में मनमाना परिवर्तन करने की चेष्टा करता है।

प्रश्न—धन-सम्पत्ति का मिलना भी क्या पुण्य का फल है ?

उत्तर—धन-सम्पत्ति ही क्या, किसी भी प्रकार की इच्छित सामग्री, अनुकूल वस्तु—इष्ट-संयोग—की प्राप्ति पुण्योदय से ही होती है। पाप के उदय से प्रतिकूल सामग्री और अनिष्ट संयोग की प्राप्ति होती है।

प्रश्न—हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन में पाप माना जाता है, तब पांचवें पाप—परिग्रह की प्राप्ति, पुण्य से कैसे मानी जाती है ?

उत्तर—जिस प्रकार हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना और मैथुन सेवन पाप माना जाता है, उसी प्रकार परिग्रह सेवन भी पाप है। इसमें कोई भेद नहीं है।

प्रश्न में हिंसादि चार का सेवन और परिग्रह की प्राप्ति को समान बताया, यह अनुचित है। पांचों का सेवन पाप है और साधन-सामग्री की अनुकूलता पुण्य-फल है। जैसे—

शारीरिक शक्ति, वाक्पटुता, वस्तुहरण की अनुकूलता, इच्छित भोग-सामग्री और धन-सम्पत्ति, इन सब की प्राप्ति पुण्य-फल है, किन्तु शारीरिक शक्ति से सेवा आदि शुभ कार्य नहीं कर के, मार-पीट और वध-बन्धनादि हिंसक कार्य करना पाप है, वाक्पटुता से झूठ बोल कर लोगों को भ्रमित करना, चालाकी से जेब काटना और भोगगृद्ध हो शक्ति का अपव्यय करना पाप है, उसी प्रकार परिग्रह में ममत्व रखना, तृष्णा रखना और पापजन्य कार्यों में व्यय करना भी पाप है। तात्पर्य यह कि शक्ति आदि अनुकूल सामग्री की प्राप्ति होना पुण्य है और उनका दुरुपयोग पाप है।

प्रश्न—शुभ भावों से दी हुई वस्तु का अशुभ उपयोग हो, तो दाता को पाप होता है क्या ?

उत्तर—यदि विवेकपूर्वक शुभ भावों से दान दिया हो, तो पाप लगने की सम्भावना नहीं रहती। भले ही दान की वस्तु का दुरुपयोग हुआ हो। इस विषय में एक उदाहरण यों दिया जाता है;—

एक सेठ ने एक जटा भस्म और तिलक-मालाधारी जोगी को खाने के लिए सेके हुए चने दिये। वह ले कर तालाब पर गया। पानी में चने के दाने डाले, मच्छियां एकत्रित हुई और उसने उन्हें पकड़ ली और घर ला कर खा गया। कथाकार कहते हैं कि इसका पाप चने देने वाले सेठ को लगा। किन्तु यह निर्णय असत्य लगता है। सेठ ने उस सन्यासी को भूखा जान कर खाने के लिये चने दिये। वह भिखा-

रियों को चने देता था। उसका उद्देश्य था भूखों को क्षुधा शांत करने का साधन दे कर संतुष्ट करना। उसे यह आशंका ही नहीं थी कि एक सन्यासी जैसा दिखाई देने वाला. इतना क्षुद्र होगा और मेरे दिये हुए अन्न के निमित्त से अनेक मच्छियों को मारेगा। इसलिए वह इस पाप का भागीदार नहीं हो सकता। उसके भावों और क्रिया में इस पाप का लेश भी नहीं था। अतएव दाता सर्वथा निर्दोष है। जब माचिस बेच कर लाभ कमाने वाला व्यापारी, ग्राहक द्वारा खरीदी हुई माचिस से घर जलाने का अपराधी नहीं माना जाता, तब शुभ भाव से विवेकपूर्वक दिये हुए दान के दुरुपयोग का पाप, दाता को किस प्रकार लग सकता है ?

दान विवेकपूर्वक हो, प्रतिफल की इच्छा रहित हो। दी जाने वाली वस्तु जीवन-निर्वाह के लिये या धर्मसाधना के लिए आवश्यक हो, व्यसनादि पाप-पोषक नहीं हो और यथासम्भव दुरुपयोग नहीं हो, इसका ध्यान रख कर दान हो, तो प्रशस्त है।

प्रश्न–पुण्य के फल से भौतिक लाभ ही होता है, आत्मिक लाभ तो कुछ नहीं होता ?

उत्तर–ऐसा एकान्त नियम नहीं है। पुण्य से भौतिक और आत्मिक दोनों प्रकार के लाभ होते हैं। मनुष्य-जन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, धर्म-सम्पर्क, और धर्म-प्राप्ति आदि।

माता मरुदेवी, संयती राजर्षि, परदेशी राजा, भृगुपुत्र आदि मिथ्यात्वी थे। उन्हें पुण्य के फल-स्वरूप ही धर्म का उत्तम निमित्त मिला और वे धर्मात्मा बने। अनादि मिथ्यादृष्टि प्रथम बार सम्यक्त्व लाभ करता है, तब उपशम भाव के साथ तथाप्रकार के पुण्योदय की अनुकूलता भी रहती है, इसी निमित्त से उनके दर्शनमोहनीय का पर्दा हटता है।

पुण्य-क्रिया के साथ यदि वासना का विष नहीं हो, तो आत्मिक लाभ होता है और 'पुण्यानुबन्धी-पुण्य' तो आत्मिक लाभपूर्वक होता है। पुण्य-पाप सम्बन्धी चौभंगी का स्वरूप समझना इस विषय में उपयोगी होगा। वह चौभंगी इस प्रकार है;–

१ पुण्यानुबन्धी पुण्य, २ पापानुबन्धी पुण्य, ३ पुण्यानुबन्धी पाप और ४ पापानुबन्धी पाप। उपरोक्त भेदों पर कुछ विचार किया जाता है।

पुण्यानुबन्धी-पुण्य

पुण्यानुबन्धी पुण्य, वह दशा है कि जिसमें पुण्य का उदय हो और साथ ही प्रवृत्ति भी उत्तम हो, जिससे पुण्य का बन्ध भी होता रहे, जो भविष्य में सुख का कारण बने। इस प्रकार के जीव वर्तमान में सुखी रहते हैं और भविष्य में भी सुखी होते हैं। जिन्होंने पूर्व जन्म में सदाचार का पालन कर के पुण्य का संचय किया, उस पुण्य का सुखरूप फल यहां भोग रहे हैं। यहां सुखानुभव करते हुए वे सदाचार

का पालन कर के आगे के लिए पुण्य का अनुबन्ध करते हैं। श्री स्थानांग सूत्र स्थान ४ उ० ४ में एक चतुर्भंगी के प्रथम भंग का नाम–'**सुभे नाममेगे सुभे**' है। इसे हम "पुण्यानुबन्धी पुण्य" रूप मान सकते हैं। टीकाकार श्री अभयदेव सूरिजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है,–

"**शुभं-पुण्यप्रकृतिरूपं पुनः शुभं–शुभानुबन्धित्वाद् भरतादिनामिव**"

श्री हरीभद्रसूरिजी के 'अष्टक प्रकरण' के अन्तर्गत 'पुण्यानुबन्धी-पुण्यादि विवरण' नामक २४ वें अष्टक की टीका में इसका अर्थ करते हुए लिखा कि–जो शुभ से शुभतर की ओर ले जाय–"**शोभनात् रमणीयात् . . . . . अधिकं शोभनतरं, "मनुष्यादिशुभभावानुर्भवहेतुर्भवति तदनन्तरं देवादिगति परंपरा कारणं तत्पुण्यानुबन्धिपुण्यमुच्यते**" मनुष्यादि शुभ गति में सुखानुभव करते हुए देवगति अथवा मोक्ष के लिए परम्परा कारण रूप बने, उसे पुण्यानुबन्धी-पुण्य कहते हैं।

प्रश्न–पुण्यानुबन्धी-पुण्य, किस प्रकार होता है?

उत्तर– ज्ञान सहित और निदान रहित, धर्म का आचरण करने से पुण्यानुबन्धी-पुण्य होता है–"**ज्ञानपूर्वकनिर्निदान कुशलानुष्ठानावद्भवति भरतादेरिवेति।**" इस अष्टक के अन्तिम श्लोक में स्वयं हरीभद्रसूरिजी लिखते हैं कि–

"**दयाभूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरुपूजनम्। विशुद्धाशीलवृत्तिश्च, पुण्यंपुण्यानुबन्ध्यदः।**"

तात्पर्य यह है कि शुद्ध रीति से श्रावक और साधु के आचार का पालन करने से पुण्यानुबन्धी-पुण्य होता है।

शंका–श्रावक और साधु का आचार (धर्म) बन्ध का कारण नहीं होता। श्री भगवती सूत्र श० २ उ० ५ में लिखा है कि–"संयम का फल आस्रव रहित–संवर है और तप का फल व्यवदान–कर्म छेदन–निर्जरा है, तथा श० १ उ० ४ में भी स्पष्ट लिखा है कि–"जीव, बालवीर्य से ही परलोक गमन करता है, पण्डित-वीर्य और बालपण्डित-वीर्य से नहीं, इसका भाव भी यही है कि श्रावक और साधु का धर्म, बन्ध का कारण नहीं है। फिर आप धर्म को बन्ध का कारण कैसे कहते हैं?

समाधान–वास्तव में विरति और तप का फल, बन्ध नहीं है। किन्तु कषाय के सद्भाव में बन्ध होता ही है। जहाँ कषाय है, वहाँ साम्परायिकी क्रिया लगती है (भ० ८–८) आपने श० २ उ० ५ का उल्लेख किया, किन्तु उसके बाद ही लिखा है कि–'जो जीव, संयम और तप का आचरण कर के स्वर्ग में जाते हैं, वे–१ पूर्व-तप (सराग तप) २ पूर्व-संयम (सराग संयम), ३ सकर्मीपन और ४ संगीपन (पर से सम्बन्धित होने) के कारण, संयम और तप का आचरण करते हुए भी, बन्ध कर के देवगति में जाते हैं। सराग-संयम और सराग-तप, प्रमत्त और अप्रमत्त सराग अवस्था में होते हैं। संयम और तप की साधना होते हुए भी अवशेष राग-द्वेष एवं कर्म सम्बन्ध से कर्मबन्ध और पुनर्जन्म होता है। संयमी जीवन होते हुए भी सरागदशा के कारण ही 'सराग-संयम' कहा गया है।

संयम, संवर का कारण है और राग, बन्ध का कारण है। इसलिए सराग-संयम, शुभ बन्ध का कारण बनता है। यह बात भगवती श० ७ उ० ६ से भी सिद्ध होती है। वहाँ लिखा है कि–"प्राणातिपातादि १८ पाप की विरति से अकर्कश वेदनीय (सुख रूप वेदने योग्य) कर्म का बन्ध होता है। वास्तव में विरति अपने-आप में बन्ध का कारण नहीं है, उसके साथ जीव में रहे हुए 'पर संयोग'–सयोगता, सवीर्यता, सद्रव्यता (पुद्गल का साथ), प्रमाद, कर्म, योग, भव और आयुष्य, ये बन्ध के कारण हैं। (भगवती ८–९) अतएव शंका जैसी कोई बात नहीं है। जीव के अपने स्वभाव से बन्ध नहीं होता, विभाव परिणति से बन्ध होता है। भगवती श० ४१ उ० १ में लिखा कि 'जीव जो जन्म-मरण करते हैं, वे अपने यश (प्रशंसनीय गुण–स्वत: के सामर्थ्य) से नहीं, किन्तु अयश (अप्रशंसनीय आचार, परावलम्बन) से करते हैं। यदि हम समझें तो यहाँ निश्चय-व्यवहार का सुमेल दिखाई देगा।

बन्धन मात्र हेय है, फिर भले ही वह शुभ हो या अशुभ, पुण्यानुबन्धी हो या पापानुबन्धी। साधक दशा में पुण्यानुबन्धी पुण्य से क्रमिक विकास सरल होता है। कई प्रकार के खतरों से बचाता है और होते-होते पूर्णता की ओर बढ़ाता है। जिस प्रकार एक दरिद्री को (जिसके पास एक कौड़ी भी नहीं है.) लोहे का टुकड़ा मिल जाय, तो वह प्रसन्न होता है और सोचता है कि इसे बेच कर एक समय का भोजन पा सकूंगा। यदि उसे लोहे के बाद पीतल मिल जाय तो वह फिर लोहा लेने को लालायित नहीं होगा। यदि चाँदी मिल जाय, तो फिर पीतल की ओर नहीं देखेगा और स्वर्ण मिलने लगे, तो चाँदी की चाह नहीं करेगा। बहुमूल्य रत्न मिलने लगे, तो वह सोने की इच्छा नहीं करेगा। इस प्रकार क्रमशः समृद्ध होते-होते वह अपनी दरिद्रता मिटा कर, स्वयं नरेन्द्र हो जाता है। इस प्रकार पुण्यानुबन्धी पुण्य भी बन्धन है। किन्तु उस अधमाधम पापानुबन्धी-पाप दशा से (जो अत्यन्त दरिद्री हो कर, भीषण दरिद्रता की ओर ही धकेल रही है) बहुत ही उत्तम है। पुण्यानुबन्धी-पुण्य वाला सराग-संयमी अथवा संयमा-संयमी जीव, दुनिया की अनन्त पर वस्तुओं से निवृत्त हो कर थोड़ी-सी वस्तुओं तक ही अपना सम्बन्ध रखता है, और उसे भी त्यागनीय मानता है। उसने जिन अनन्त वस्तुओं से अपने को अलग किया, उनसे वह निर्बन्ध हो जाता है। इस दृष्टि से उसके शुभ-बन्ध भी कम और सकाम-निर्जरा उससे भी असंख्य गुण अधिक होती है। पुण्यानुबन्धी-पुण्य वाली भव्यात्मा, अपनी शुभ परिणति के चलते, बन्ध थोड़ा और निर्जरा बहुत अधिक करती है। तीर्थंकर नामकर्म, मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती और वे सद्-गृहस्थ जो यहाँ सुखी, यशवन्त और समृद्ध होते हुए, त्याग विराग और विरति से शुभ से शुभतर की ओर अग्रसर होते हैं। वे सब सकाम-निर्जरा करने के साथ पुण्यानुबन्धी-पुण्य का संचय करते हैं। उनका ध्येय तो निर्बन्ध होने का होता है, लेकिन नहीं चाहते हुए भी उनको ऐसा शुभ-बन्ध हो ही जाता है।

पुण्यानुबन्धी-पुण्य का महान् फल, तीर्थंकरत्व है। इससे उतरता फल मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती

रूप होता है। वर्तमान सुख रूप अवस्था से विशेष सुखरूप अवस्था की ओर ले जाने वाला यह पहला प्रकार है, फिर भले ही वह जघन्य हो या उत्कृष्ट।

श्रीमद् हरीभद्रसूरिजी भव्य जीवों को उपदेश करते हुए लिख गये कि–

"**शुभानुबन्धयत: पुण्यं, कर्त्तव्यं सर्वथा नरैः। यद् प्रभावादपातिन्यो, जायन्ते सर्व सम्पदः।**"

जिसके प्रभाव से शाश्वत सुख और मोक्ष रूप समस्त सम्पदा की प्राप्ति हो–ऐसे पुण्यानुबन्धी-पुण्य का मनुष्यों को सभी प्रकार से सेवन करना चाहिए अर्थात् श्रावक और साधु के धर्म का विशेष रूप से पालन करना चाहिए।

पापानुबन्धी-पुण्य

कर्म-बन्ध का दूसरा भेद "पापानुबन्धी-पुण्य" है। जो पूर्व पुण्य का सुखरूप फल पाते हुए, वर्त्तमान में पाप का अनुबन्ध कर रहे हैं, वे इस भेद में आते हैं। श्री अभयदेवसूरिजी और हरीभद्र-सूरिजी इस विषय में 'ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्मदत्त ने पूर्वभव में संयम और तप का उग्ररूप में पालन किया था, जिससे वह महान् चक्रवर्ती हुआ। पुण्य के महान् उदय से उसे उत्कृष्ट भोग-सामग्रियाँ प्राप्त हुईं। किन्तु वह भोगों में अत्यन्त गृद्ध हो गया और पाप का भयंकर अनुबंध कर के नरक में गया। यह पापानुबन्धी-पुण्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। वर्त्तमान में जो लोग शरीर, धन, कुटुम्ब और अधिकार आदि से सम्पन्न और सुखी देखे जाते हैं, उनके पूर्वोपार्जित पुण्य का उदय है। यदि ऐसे मनुष्य, इस प्रकार की सामग्री पा कर, भोगविलास और अन्याय-अत्याचार कर के पापों का उपार्जन करते हैं, तो वे पापानुबन्धी-पुण्य के स्वामी हैं। उनकी दुर्गति होती है। पूर्व के पुण्य रूप फल का जो दुरुपयोग करते हैं. उनको पाप का अनुबंध होता है। ऐसे व्यक्तियों को देख कर साधारण जनता भ्रम में पड़ जाती है। उनके मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि–"धर्म-कर्म सब व्यर्थ की बातें हैं। यदि पाप का फल दुःखदायक होता, तो ऐसे पापी, सुखी और समृद्ध क्यों होते?" वे यह नहीं सोचते कि 'इन्हें सुख मिला है वह पाप के फल स्वरूप नहीं. किन्तु पूर्वभव में किये हुए पुण्य के फल-विपाक से है। जब पुण्य का खजाना खाली हो जायगा, और पाप का भयंकर प्रकोप होगा, तब वर्तमान सुख नष्ट हो कर दुःख-परम्परा में फँस जाएँगे। जिस प्रकार बाप की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाला बेटा, आगे चल कर दिवालिया और दरिद्री हो कर दूसरों का मुहताज हो जाता है, उसी प्रकार इस भेद वाले बाद में दुःखी होते हैं। हिटलर-मुसोलिनी आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। शुभ से अशुभ की ओर ले जाने वाला यह दूसरा भद है।

धर्म-सिद्धांत पर अश्रद्धा रखने वाले तार्किक, इस सिद्धांत से असहमत हो कर कहते हैं कि

"धनादि की प्राप्ति पुण्य के फलस्वरूप नहीं, पाप के फलस्वरूप है। पाप, छल, प्रपञ्च, कालाबाजार या भ्रष्टाचार करने से ही इतना अधिक धन प्राप्त होता है। सदाचार–सचाई और ईमानदारी से इतनी सम्पत्ति नहीं मिल सकती। इसलिए यह मानना चाहिए कि सम्पत्ति की प्राप्ति, पाप का परिणाम है, पुण्य का नहीं।" इस प्रकार के विचार वाले, प्रत्यक्ष को ही देखते हैं। उनकी दृष्टि परोक्ष की ओर नहीं जाती। यदि वर्तमान प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही धनादि की प्राप्ति होती है, तो वे लोग, उन्हें क्या मानेंगे, जो चोरी, जारी या भ्रष्टाचार करते समय पकड़े जा कर दुःखी होते हैं और पाते कुछ नहीं? यदि इच्छित वस्तु की प्राप्ति होना पाप का परिणाम है, तो जिन्हें प्राप्त तो कुछ नहीं होता, उलटा घर का गँवाना पड़ता है, उनको किस का परिणाम मानेंगे? वास्तव में किसी भी प्रकार की इच्छित वस्तु की प्राप्ति पुण्य के फलस्वरूप ही होती है, फिर भले ही वह पापमय साधनों–निमित्तों से हो या और किसी प्रकार। एक मनुष्य को बिना काला-धोला या बेईमानी के ही, अनायास बाजार भाव बढ़ जाने से अथवा सम्बन्धी का वारिश हो जाने से सम्पत्ति की प्राप्ति हो जाती है और दूसरे को भ्रष्टाचार के निमित्त से मिलती है, तथा तीसरा भ्रष्टाचार कर के भी कुछ नहीं पाता, उलटा घर का गँवा कर दण्डित होता है। इन तीनों की दशा पर सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो पहले के दो व्यक्तियों को जो प्राप्ति हुई, वह पुण्य के उदय से ही हुई है। फिर भी दोनों के पुण्य में अन्तर है। प्रथम व्यक्ति का शुभोदय विशेष प्रकार का है, इससे वह बिना ही किसी अशुभ परिणति के इच्छित वस्तु पा गया। दूसरे व्यक्ति का शुभोदय, कषाय की काली कालिमा लिए हुए हुआ और तीसरे व्यक्ति के तो शुभोदय है ही कहाँ? वहाँ तो पाप का उदय है।

लगभग आठ वर्ष पूर्व उपाध्याय कवि श्री अमरचन्दजी म० से जोधपुर में मेरी बातचीत हुई थी। वे भी ऐसे ही विचार वाले हैं। उन्होंने हमारे सामने एक सैद्धांतिक समस्या उपस्थित की। उन्होंने कहा कि 'धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रादि की प्राप्ति यदि पुण्य के फलस्वरूप होती है, तो उन देवों को पुण्य का उदय नहीं मान कर, पाप का उदय मानना पड़ेगा–जहाँ देवियों का अस्तित्व ही नहीं है। यदि उन ऊपर के वैमानिक और कल्पातीत देवों को महान् पुण्यशाली मानते हो, तो यह भी मानना पड़ेगा कि स्त्रियादि की प्राप्ति, पुण्य के फलस्वरूप नहीं है।" यदि कविश्री, गहराई तक पहुँचते, तो समाधान असम्भव नहीं था। सब से पहले पुण्य-फल को समझने की आवश्यकता है। 'इच्छित एवं अनुकूल वस्तु की प्राप्ति होना पुण्य का फल है'–इस अर्थ को केन्द्रीभूत कर के हम एक उदाहरण लेवें, तो सरलता से समझ में आ जायगा।

आत्माराम और भोगीलाल नाम के दो व्यक्ति हैं। दोनों मित्र हैं, परन्तु परिणति भिन्न है। आत्माराम की इच्छा है कि उसकी धर्म-साधना बढ़ती रहे। भौतिक सुख-सुविधाओं को वह अन्तःकरण से हेय मानता है। उसकी कामभोग में रुचि ही नहीं है। यदि कहीं वैसे संयोग उपस्थित हो जायँ, तो

उसे अरुचिकर लगते हैं और वह उन्हें छोड़ कर एकान्त साधना में लगना चाहता है। स्वाध्याय ध्यान और व्युत्सर्ग में ही उसकी रुचि है। इसकी अनुकूलता मिल जाय, तो वह प्रसन्न होता है। दूसरा भोगीलाल, भोगों की कामना रखता है। यदि उसे इच्छित भोग सामग्री मिले, तो वह प्रसन्न होता है। अब सोचिए कि पुण्य का फल, इच्छित वस्तु की प्राप्ति है, तो आत्माराम की इच्छित वस्तु स्वाध्यायादि की अनुकूलता है और भोगीलाल की इच्छित वस्तु है स्त्री आदि उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति। दोनों की इच्छा में कितना अन्तर है ? दोनों की इच्छानुसार संयोग मिलना ही पुण्य का फल है। यदि आत्माराम को भोग-सामग्री मिल जाय, तो वह उसकी इच्छा के प्रतिकूल होती है। इस उदाहरण पर विचार करने से यह समझना सरल होगा कि जिन महान् आत्माओं की साधना में भोगकामना जितनी कम होगी, वे उतने ही उच्च स्थिति को प्राप्त होंगे और उनको वही स्थिति संतोषप्रद होगी। 'चित्त' मुनिराज, त्याग कर के प्रसन्न हुए और 'ब्रह्मदत्त' भोग में प्रसन्न था। दोनों को इच्छित फल की प्राप्ति पुण्य से हुई। किन्तु चित्त मुनि का पुण्य-फल, पुण्यानुबन्धी था, तब ब्रह्मदत्त का था पापानुबन्धी। ब्रह्मदत्त को भोग चाहिए थे और चित्त मुनि को त्याग। निदानों की पूर्ति भी पुण्य के फलस्वरूप होती है। आदि के निदान भोग प्राप्ति के कारण हैं और अन्त के त्याग के संयोग प्राप्त होने के। दोनों की इच्छा-पूर्ति होती है। यह इच्छा-पूर्ति पुण्य के फलस्वरूप होती है, परन्तु दोनों की इच्छा में अन्तर है। एक जिसे हेय मानता है, दूसरा उसे गले लगाता है। यदि सन्निपात के रोगी को खीर या हलुआ मिल जाय, तथा भूखे को कड़वा कुनैन मिल जाय, तो वह पाप का उदय मानना चाहिए। रोगी को कुनैन और भूखे को भोजन मिलना (अनुकूल वस्तु मिलना) ही पुण्य का परिणाम हो सकता है।

व्यक्ति की धर्म-साधना में कामना की मात्रा जितनी कम होगी, वह उतना ही ऊपर उठेगा और वैसे ही स्थान पर उत्पन्न होगा—जहाँ उसकी अनुकूलता हो। ऊपर के देवों की स्त्री सम्बन्धी काम-भोगों की इच्छा, नीचे के देवों जैसी नहीं होती और कल्पातीत में तो होती ही नहीं। इसलिए वहाँ देवांगना का नहीं होना पुण्य का उदय है।

परिणामों की विचित्रता से पुण्य के प्रकारों और फलों में विविधता तथा तरतमता होती है। अतएव तर्क के आधार पर, सिद्धांत से अश्रद्धालु बनने वालों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

पुण्यानुबन्धी-पाप

पुण्य-बन्ध का तीसरा भेद 'पुण्यानुबन्धी-पाप' है। पूर्व-भव में किये हुए पाप रूप अशुभ कर्मों का फल पाते हुए भी जो शुभ प्रवृत्ति से पुण्य-बन्ध करते हैं, वे इस भेद के अंतर्गत आते हैं। इस विषय में चण्डकौशिक सर्प का उदाहरण प्रसिद्ध है। तीव्र कषाय से पाप-कर्म का बन्ध कर के सर्प रूप में उत्पन्न

होने वाला चण्डकौशिक, पाप का फल भोग रहा था, किन्तु भ० महावीर के निमित्त से उसकी परिणति पलटी और इस अशुभ दशा में भी उसने शुभ का अनुबन्ध कर लिया। पाप प्रधान स्थिति में भी धर्म का आचरण कर के देव-भव का अनुबन्ध कर लेना, इस भेद का लक्षण है। नन्दन मनिहार का जीव मेंढक भी इसी भेद का स्वामी था। आज वह दैविक सुख का अनुभव कर रहा है और अंत में मोक्ष लाभ कर लेगा।

इस भेद में उन मनुष्यों का भी समावेश हो सकता है, जो धर्मात्मा होते हुए भी शारीरिक, आर्थिक और मानसिक दुःखों का अनुभव करते हैं। यद्यपि उनको प्राप्त हुआ मनुष्य-भव, उत्तम कुल आदि पुण्य के परिणाम स्वरूप है, तथापि असातावेदनीय और अन्तराय कर्म के उदय से वे पीड़ित होते हैं। यह अशुभ कर्मों के उदय का ही परिणाम है। सम्यग्दृष्टि तो समझते हैं कि हमें जिन प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, यह सब हमारे पूर्व के पापों का ही परिणाम है। हम अपने ही दुष्कर्मों का फल भोग रहे हैं। हमें किसी दूसरे ने दुःखी नहीं बनाया। हम स्वयं अपने ही कुकृत्यों का फल पा रहे हैं। किन्तु अनसमझ लोग, अथवा धर्म के प्रति अश्रद्धालु भौतिकवादी बन्धु कहा करते हैं कि "यदि धर्म या पुण्य का सुफल होता, तो ये धर्मात्मा दुःखी क्यों होते ? सती साध्वी स्त्री को खाने पीने के लाले क्यों पड़ते ? इसलिए धर्म-पुण्य सभी व्यर्थ की विडम्बना है।" इस प्रकार की मान्यता वाले बन्धु, जब 'पापानुबन्धी-पुण्य' नामक दूसरे भेद वालों से अपना मिलान करते हैं, तो वे बगावत के स्वर में बोल उठते हैं कि 'ये संग्रहखोर व्यक्ति, अपनी चालाकियों से अथवा पापों से सम्पत्ति को दबा रहे हैं और हम दुःखी हो रहे हैं। हमारे दुःखों का कारण कर्मजन्य फल नहीं, इन संग्रहखोरों के पापों का फल है,' इत्यादि। इस प्रकार के बन्धु, प्रत्यक्ष पर ही आधार रखते हैं। उन्हें पूर्वकृत कर्म पर विश्वास नहीं है। वे नहीं सोचते कि यह दुःखपूर्ण अवस्था, वर्तमान सदाचार का परिणाम नहीं, पूर्व के दुराचारों का कटु फल है। यदि हम दीर्घ दृष्टि से देखेंगे, तो हमें प्रत्यक्ष में भी इसके उदाहरण मिल सकेंगे। जैसे कि--

की दुर्दशा का कारण, किसी अन्य को मान कर और ईर्षा द्वेष और मात्सर्य को अपना कर, कषायों की वृद्धि करते हुए अधिक पापों का उपार्जन करते हैं। वे सम्पन्न को देख कर जलते हैं और उसे भी दुःखी अवस्था में लाने की भावना रखते हैं। उनके महल आदि उन्हें खटकते हैं। वे चाहते हैं कि 'इनके महल नष्ट हो कर ये भी झोंपड़ी वाले बन जायँ।' पुण्यानुबन्धी-पाप के सिद्धांत को मानने वाले, ऐसी बुरी परिणति से बच सकते हैं।

कर्म-सिद्धांत का श्रद्धालु, सम्पन्न को सलाह देगा कि 'तुम्हें प्राप्त साधनों का सदुपयोग कर भविष्य को भी सुन्दर बनाना चाहिए। यदि सम्पत्ति के मोह में फँसे रहे, तो दुर्गति हो जायगी।' और विपन्न को भी कहेगा कि 'भाई! घबड़ाता क्यों है! तुझे किसी दूसरे ने दुःखी नहीं किया। यह सभी तेरी अपनी करणी का ही फल है। अब भी सम्भल और सदाचार का पालन कर, धर्म का आचरण कर। समय पा कर विपत्ति के बादल हट जायँगे और तू सुखी हो जायगा।" इस प्रकार वह दोनों का हितैषी है। दोनों के बीच में वैर-विरोध को पनपने नहीं देता। इसके विपरीत भौतिकवादी, सम्पन्नों और विपन्नों में द्वेष-भाव को बढ़ा कर, कर्म-बन्धनों को बढ़ाने के निमित्त बन रहे हैं। समझदारों को इनसे बचना चाहिए।

पापानुबन्धी-पाप

पापानुबन्धी-पाप अन्तिम भेद है। 'यहाँ भी दुःखी और वहाँ भी दुःखी' ऐसे प्राणी पाप-कर्म के उदय से कुत्ता, बिल्ली, व्याघ्र, सिंहादि गति प्राप्त कर के दुःखी होते हैं और हिंसादि अशुभ व्यापार में रत रह कर पुनः अशुभतर अथवा अशुभतम ऐसी नरक गति अथवा निगोद के बन्ध कर लेते हैं। तन्दुल-मत्स्य इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जो थोड़े-से जीवन में ही सातवीं नरक के योग्य बन्ध कर लेता है।

यद्यपि मनुष्य-भव की प्राप्ति पुण्य-प्रकृति के उदय के फलस्वरूप मानी गई है, तथापि मनुष्यों में भी असातावेदनीय, अन्तराय तथा नीच-गोत्र का उदय होने और तदनुसार अधमाधम दशा के कारण मनुष्य-गति भी दुर्गति में मानी गई है। अशुभ कर्मों के उदय से वैसे मनुष्य अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं और वर्तमान में जीव-हत्यादि कृत्यों से, कसाई कर्म आदि से, अशुभतर पाप-कर्म का अनुबन्ध करते हैं, वे भी इस भेद में गिने जा सकते हैं। स्थानांग सूत्र ४-३ में-' **अत्थमियत्थमिएणाममेगे .... कालेणं सोयरिये अत्थमियत्थमिए**" और "**णीए णाममेगे णीयच्छंदे**" इत्यादि से उन दुर्विपाक एवं पापानुबन्धक मनुष्यों का उल्लेख है। दरिद्रतायुक्त और कीर्ति, समृद्धि, सुलक्षण और तेज से वंचित तथा हत्यादि कार्य करने वालों में 'काल' नाम के सौकरिक (वधिक) का उदाहरण दिया है। पहले

से जिसकी पुण्य-फल प्रदायक प्रकृतियें अस्त है, जीवन की सारी अनुकूलताएँ डूब गई है और वर्तमान में अधिकतम डूबने की प्रवृत्तियें हो रही है, जो पूर्व के अशुभोदय के कारण वर्तमान में नीच हैं और पुनः नीच आचरण कर रहे हैं, वे मनुष्य भी इस श्रेणी में हैं।

कोई स्वतन्त्र विचारक बन्धु प्रचार करते हैं कि "खोटे विचार, बेईमानी तथा अधिक तृष्णा में पाप है। किसी धंधे में पाप नहीं है। कसाई पशु-वध करता है, तो मात्र आजीविका के लिए। उसके विचार खोटे नहीं है। वह किसी मनुष्य को धोखा नहीं देता, न बेईमानी करता है। शास्त्रकारों ने (विपाकसूत्र में) उन्हें नरकगामी बताया, यह ठीक नहीं है." इत्यादि। ऐसे बन्धुओं-खासकर गोपालदास जीवाभाई पटेल की दृष्टि में वधिकों के धन्धे में बेईमानी, धोखादेही अथवा तृष्णा नहीं होती और न पशु-वध करते समय क्रूरता ही होती है। मानो उनका हृदय कोमल-अनुकम्पा युक्त ही है। परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। वधिक, पशु को खरीदते समय भी कम मूल्य देने के विचार से विक्रेता के साथ छल-प्रपञ्च करता है। मारने के पूर्व भी निर्दयता का व्यवहार करता है। मारते समय कठोर एवं क्रूर हृदयी होता है और बाद में भी अधिक पैसे प्राप्त करने के लिए प्रपञ्च रचता है। जहाँ तक हमारा अनुभव है, ऐसा कोई धन्धा नहीं कि जिसमें बेईमानी, धोखाबाजी या छल के लिए किञ्चित् भी अवकाश नहीं हो। मजदूरों में भी ये बुराइयें होती हैं। जब कुत्ता, बिल्ली, व्याघ्रादि पशुओं में भी भक्ष्य प्राणी को मारने के लिए, घात लगा कर और लुक-छिप कर दबोचने की वृत्ति होती है, तो मनुष्यों में हो, उसमें शंका ही क्या है? वधिकों में तो क्रूरता की मात्रा अधिक होने से वे पाप का अनुबन्ध अधिक रूप में करते हैं।

इस प्रकार कर्म-बन्ध के चार प्रकार माने गये हैं। जीव अपने पूर्व के उपार्जित कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करते हैं और वर्तमान में शुभाशुभ परिणति के अनुसार भविष्य का निर्माण करते हैं। जैसी करणी करते हैं, वैसा फल पाते हैं। हो सकता है कि किसी करणी का फल (रस रूप से) न भी पाते हों, किन्तु जो भी फल पाया जाता है, वह करणी का ही है। जब तक कर्म अवशेष हैं, तब तक इन चार भेदों में से किसी एक भेद में जीव रहता है। कर्म नष्ट होने पर वह ऐसी अपूर्व सर्वोच्च एवं परिपूर्ण अवस्था प्राप्त करता है जो सदाकाल उसी रूप में रहती है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि जीव इसी अवस्था को प्राप्त करने का कामी है। सभी परमात्म दशा को प्राप्त कर आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त हो जायें, यही भावना है।

प्रश्न-पुण्यानुबन्धी-पुण्य का पात्र, सम्यग्दृष्टि होता है, या मिथ्यादृष्टि?

उत्तर-पुण्यानुबन्धी-पुण्य का पात्र सम्यग्दृष्टि होता है, या सम्यक्त्व के अभिमुख होने वाला प्राणी होता है। लक्षणों से तो मिथ्यादृष्टि में भी इस प्रकार की योग्यता पाई जाती है। जैसे कि वैमानिक देवों और ग्रैवेयक में उत्पन्न होने वाले असम्यग्दृष्टि-गृहस्थ, साधु, सन्यासी या द्रव्यवेशी उग्र

चारित्री साधु। वे पूर्व-भव के पुण्य के उदय से मनुष्यभव और सातावेदनीय के उदय तथा अन्तराय के विशिष्ठ क्षयोपशम से सुखी और समृद्ध होते हैं और पुनः शुभोपार्जन से वैमानिक देव हो जाते हैं। इस प्रकार साधारणतया उनमें यह भेद घटित होता दिखाई देता है, किन्तु वह सुखरूप अवस्था थोड़े समय की है। मिथ्यात्व का विष उन्हें पुनः दुःख-परम्परा में ला पटकता है। अतएव ऐसे धुएँ के बादल जैसे सुख की गिनती नहीं की गई और उसी पुण्य की गणना की गई—जो सुखरूप परम्परा को बढ़ाते हुए शाश्वत सुख की ओर ले जाय। ऐसा पुण्यानुबन्धी-पुण्य, सम्यग्दृष्टि को ही होता है। वह मिथ्यादृष्टि भी इस भेद का स्वामी हो सकता है, जो विशिष्ट क्षयोपशम से ग्रंथीभेद कर के सम्यक्त्व प्राप्त कर वैमानिक देव होता है, अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। दुर्भव्य और अभव्य तथा बहुलकर्मी (भारीकर्मी) जीव इसके पात्र नहीं हो सकते। वे सम्यग्दृष्टि भी इसके पात्र नहीं हैं, जो सम्यक्त्व को ले कर या छोड़ कर दुर्गति में जाते हैं। जिसकी परिणति उत्तरोत्तर शुभ, शुभतर और शुभतम हो कर विशुद्ध होती जाती है, वे ही पवित्रात्मा, इस भेद के स्वामी होते हैं।

प्रश्न—मिथ्यात्व अवस्था से ले कर साधु अवस्था तक जीव, किस प्रकार के पुण्य का बन्ध कर सकता है?

उत्तर—मिथ्यात्व अवस्था में कोई हलुकर्मी, यथाप्रवृत्तिकरण में, पुण्यानुबन्धी-पुण्य का सञ्चय करने लगता है और सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर वैमानिक देव हो सकता है। कोई महान् आत्मा असोच्चा केवली की तरह मोक्ष भी पा सकती है। किन्तु साधारणतया मिथ्यात्व अवस्था में पुण्यानुबन्धी-पुण्य नहीं होता। यहाँ ९ प्रकार से पुण्य-क्रिया करते हुए भी पुण्य का साधारण बन्ध ही होता है। पुण्यानुबन्धी-पुण्य के जघन्य स्थान में भी वही प्राणी आता है कि जिसकी परिणति उत्तरोत्तर वृद्धिगत हो कर १५ भव में तो सिद्धि लाभ कर ही ले। जिस प्रकार ऊँचे महल पर चढ़ कर, गहरे कूएँ में गिरने वाले प्रशंसनीय नहीं होते, उसी प्रकार पुण्य से स्वर्ग लाभ कर के फिर नरक-तिर्यञ्च के दुःखों में पड़ने वाले पुण्यानुबन्धी-पुण्य के भेद में नहीं आते।

सम्यग्दृष्टि और देशविरत में पुण्यानुबन्धी-पुण्य की भजना है। जिनमें मोहनीय के विशिष्ट उदय की सम्भावना है और इस उदय के चलते जो नरक-तिर्यञ्च में जा सकते हैं, उनमें पुण्यानुबन्धी-पुण्य का भेद नहीं पाता और पापानुबन्धी-पाप का भेद भी नहीं पाता, शेष दो भेद तो पाते हैं।

प्रमत्त-संयती, चारित्र परिणति के चलते वर्धमान परिणाम में निर्जरा के साथ शुभ दलिकों का सञ्चय करते हैं। इसमें साधारण भी हो सकते हैं और पुण्यानुबन्धी-पुण्य भी। हीयमान परिणाम से और मोहनीय कर्म के उदय से आसक्ति हो जाय अथवा निदान कर ले, तो पापानुबन्धी-पुण्य का संचय भी कर लेते हैं, किन्तु इसे चारित्र परिणति नहीं कहते। उस समय वेश से साधु होने पर भी भाव से असाधु होते हैं। वास्तव में साधुता की परिणति में अघाति कर्मों का अशुभ बन्ध नहीं होता। अप्रमत्त

में तो पुण्यानुबन्धी-पुण्य बन्धता है।

नौ प्रकार के पुण्य पांचवें गुणस्थान तक होते हैं। इन से गृहस्थ, मनुष्यों और तिर्यंचों को शांति पहुँचाता है। छठे में एक साधु, दूसरे साधु की आहार-पानी आदि से सेवा करता है। वह मुख्यतः 'वैयावृत्य' नाम की 'निर्जरा' कहलाती है।

प्रश्न–इच्छापूर्वक पुण्य-बन्ध किस अवस्था में होता है ?

उत्तर–संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था में, प्रथम गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक। किन्तु क्रिया में गुणस्थानानुसार भेद होता है। संयत गुणस्थान में असंयती को आहारादि दान अथवा शरीर से सेवा आदि नहीं होती।

असंज्ञी अवस्था में तथाप्रकार की योग्यता के अभाव में इच्छापूर्वक पुण्य क्रिया नहीं होती।

प्रश्न–अनिच्छापूर्वक पुण्य-बन्ध किस अवस्था में होता है।

उत्तर–असंज्ञी अवस्था में और संवर-निर्जरा की आराधना में लगे हुए श्रमणोपासक तथा श्रमण-निर्ग्रंथों को अनिच्छापूर्वक पुण्य का बन्ध होता है।

प्रश्न–पुण्य बांधने की इच्छा और सुख-भोग की इच्छा, कषाय भाव में है या नहीं ?

उत्तर–हाँ, कषाय भाव में है।

प्रश्न–पुण्य प्रशस्त है या अप्रशस्त है ?

उत्तर–पाप की अपेक्षा पुण्य प्रशस्त है, किन्तु संवर-निर्जरा रूप धर्म की अपेक्षा पुण्य अप्रशस्त है। पुण्य, बन्धन रूप है, धर्म मुक्ति रूप है। इसलिए धर्म की अपेक्षा पुण्य अप्रशस्त है। आगे बहुश्रुत फरमावें वह सही है।

मर्यादा करते हैं। चौदह नियम में रोज प्रत्याख्यान करते हैं, तो साधु-साध्वियों को तो रोगादि खास कारण के बिना, स्वाद या शक्ति बढ़ाने के लिए नहीं लेना चाहिए।

जिनकी चर्या ही अनाहारक बनने की है, जो संयम पालने के लिए ही शरीर को आहार देते हैं, और अरस-विरस रूक्ष एवं तुच्छ आहार ले कर संतोष करना धर्म मानते हैं, उन्हें बादाम, पिस्ता, दाख, काजू, सुपारी, इलायची, लौंग आदि की आवश्यकता ही क्या है ? किन्तु खेद है कि कई साधु, साधारण अवस्था में ये सब लेते हैं, और श्रमणोपासक उन्हें भक्तिपूर्वक देते हैं। तेरापंथी समाज में तो कोई-कोई हरे फलों को भी गरम पानी में डाल कर, अचित बना कर देते हैं। यह सब अनुचित है और संयम से गिराने की प्रवृत्ति है। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि स्था० समाज के उपाध्याय कविरत्न पं० श्री अमरचन्दजी म० ने अपने "श्रमणसूत्र" के पृ० ३०४ में स्पष्ट रूप से लिख दिया कि—

"संयमी साधक प्रस्तुत (स्वादिम) आहार का ग्रहण स्वाद के लिए नहीं, प्रत्युत मुख की स्वच्छता के लिए करता है।"

इस प्रकार लिखना कहां तक ठीक है ? यह तो 'स्वादुता' को 'स्वच्छता' के नाम पर प्रोत्साहन देना है। मुख की स्वच्छता पानी से हो सकती है। स्वच्छता के नाम पर लौंग, इलायची, सुपारी आदि का साधुओं में प्रचलन करना तो शिथिलाचार बढ़ाना है। ऐसे विधान शिथिलाचार के पोषक हैं।

उपासक वर्ग में कई ऐसे हैं कि भक्ति में विवेक भूला देते हैं। कई पक्व फलों को, साधु-साध्वी को देने के लिए ही छिल कर फाँके या टुकड़े बना कर और बीज आदि निकाल कर तय्यार रखते हैं और साधुजी के आने पर उन्हें देते हैं। साधुजी केवल इतना पूछते हैं कि—"सुझता है" या "यह किसलिए बनाया ?" उपासक कह देता है—"हां महाराज ! सुझता है और हमारे ही खाने के लिए बनाया है।" बस, छुट्टी हुई। ले लिया। वे समझते हैं—"हमने तो पूछ लिया। गृहस्थ झूठ बोले तो यह पाप उसके सिर।" किन्तु यह दम्भ है। उनके मन में भी यह विश्वास होता है कि—"गृहस्थ झूठ बोला। उसने हमारे ही लिए बनाया है।" इस प्रकार जानते हुए भी वे ले कर अपनी आत्मा को धोखा देते हैं। कोई-कोई तो 'आइस्क्रिम' भी लेते हैं।

जब शास्त्रकार कहते हैं कि साधुओं को बिना रोगादि कारण के खादिम-स्वादिम नहीं लेना, तब वे लेते ही क्यों हैं ? क्या यह आचार-शिथिलता नहीं है ? वास्तव में यह स्वादुता है। इसके चलते वे श्रावकों के असत्य को प्रोत्साहन देते हैं।

श्रमणोपासक वर्ग को चाहिए कि वह सावधान रहे और शिथिलाचार को प्रोत्साहन देने के पाप से बचे। वह स्वयं सोचे कि दोष लगाने से, झूठ बोलने से और साधुओं से संयम की मर्यादा भंग करवाने से धर्म कैसे होगा ? जिस प्रवृत्ति में असत्य, कपट और मर्यादा का उल्लंघन हो, वह भी क्या धर्म हो सकती है ?

धर्म झगड़े नहीं करवाता

"धर्म तो शांति, समता, क्षमा, सरलता और सहनशीलता आदि सद्‌गुणों की शिक्षा देता है, लड़ाई झगड़े करना नहीं सिखाता। फिर धार्मिकजनों में लड़ाई-झगड़े और ईर्षा-द्वेष क्यों ? इससे लगता है कि सारे झगड़ों की जड़ धर्म ही है और कोई नहीं। धर्म ही के नाम पर इस्लाम ने रक्तपात किया, राज-सत्ता स्थापित की, हिन्दू मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किए, मनुष्य-मनुष्य में घृणा, भेद-भाव और जाति वैर के समान स्थिति उत्पन्न की। प्रतिवर्ष 'ईद' 'दशहरा' और 'यज्ञादि' के नाम से लाखों पशु मारे जाते हैं और करोड़ों मनुष्यों को अछूत वना कर पद-दलित कर रखा है। ये सव धर्म के ही दुष्परिणाम हैं। यदि धर्म नहीं होता, तो ये झगड़े नहीं होते और मनुष्य, शान्ति और प्रेमपूर्वक रहते। ऐसे दुर्गुणों के भण्डार धर्म से मनुष्य को सदैव दूर ही रहना चाहिए।"

इस प्रकार की वातें कई लोग किया करते हैं। उनका यह कहना तो ठीक है कि धर्म तो लड़ाई-झगड़े नहीं करवाता। वास्तव में जो सच्चा धर्म होगा, वह कभी भी लड़ाई-झगड़े नहीं कराएगा। जो धर्म मनुष्य-मनुष्य को आपस में लड़ावे, वैर-विरोध करावे, वह धर्म नहीं हो सकता। इतना मानते हुए भी उपरोक्त विचार समुचित नहीं लगते। यह ठीक है कि कुछ ऐसे भी 'धर्म' नामधारी मत हैं, जो विपक्षी से लड़ना, युद्ध करना और कुरवानी आदि का विधान करते हैं और खुदा की राह में लड़ने की प्रेरणा देते हैं। किन्तु यहाँ हम उन धर्मों की वात नहीं करते। क्योंकि उनका आत्म-विशुद्धि से उतना सम्वन्ध नहीं, जितना भौतिकवाद से है। वे राज्य, सम्पत्ति, अधिकार और मान-मर्यादा तथा भोग-साधन आदि की प्राप्ति, रक्षा एवं वृद्धि की भावना लिए हुए हैं और इसीसे लड़ाई-झगड़े के भाव भरते हैं। इन कारणों के साथ अज्ञान भी एक विशेष प्रमुख कारण है। ऐसे 'धर्म' नामधारी पंथों की वात छोड़ कर आत्म-शुद्धि के लिए जो मानव को प्रेरणा देता है, ऐसा धर्म तो लड़ाई-झगड़े से सर्वथा दूर रहने की ही शिक्षा देता है। ऐसे पवित्र धर्म में लड़ाई-झगड़े का कभी कोई विचार ही नहीं होता, लेश मात्र भी नहीं।

ने के लिए तत्पर होता है। कोई दूसरों की प्रतिष्ठा से जल कर उसे गिराने के लिए जाल रचता है, ोई उस जालसाजी से बचने के लिए प्रयत्नशील है। कोई दूसरों का हक हड़पने के लिए होहल्ला । है तो किसी को अपना हक प्राप्त करने या प्राप्त हक की रक्षा करने के लिए मैदान में उतरना । है। कोई चाह कर आक्रामक बनता है, तो किसी को अपनी रक्षा के लिए हथियार उठाने के विवश होना पड़ता है। सम्प्रदाय के नेता अपने अनुगामियों को उभाड़ कर अन्य सम्प्रदाय से । के लिए उकसाते हैं। इन सब निमित्तों से, जैनधर्मी कहाने वाले भी लड़ते-झगड़ते हैं, किंतु इसका यह कदापि नहीं कि जैनियों को उनका धर्म लड़ाता है। वास्तव में लड़ाई-झगड़े का मूल कारण द्वेषात्मक परिणति है। कषायात्मा लड़ाई-झगड़े करती है। कषायात्मा में पीड़क भी होता है और त भी, आक्रामक भी होता है और आक्रान्त भी, तथा भक्षक और रक्षक भी होता है। ये सब जीव ही हुई कषायों के उदय का परिणाम है। धर्म को तो ये निमित्त बना लेते हैं। वास्तव में धर्म ाई-झगड़े नहीं करवाता।

संसार में कोई भी वर्ग निर्द्वंद्व नहीं है, भले ही वह धर्मी हो या अधर्मी। राग-द्वेष का रोग सभी एक दूसरे से लड़ाता है। भाई को भाई से लड़ाता है और मित्र को मित्र से। वहां धर्म कारण रूप । हो कर भौतिक स्वार्थ कारण बनता है।

कौरव और पाण्डव के महा जनसंहारक युद्ध का कारण क्या बना था? कोई इसे धर्म कह ेगा, किंतु वास्तव में वहाँ कारण बना है—कौरवों का स्वार्थ एवं अन्याय-अनीति। यदि कौरव ीति पर उतारु नहीं होते, तो महाभारत होता ही नहीं।

चेड़ा-कुणिक संग्राम का कारण भी बना था—कुणिक का अन्यायपूर्ण घमण्ड। इसीमें गणाधि-त महाराज चेटक जैसे धर्म-प्रिय नरेश और उनके सहयोगी धर्मप्रिय नरेशों को भी युद्ध में उतरना

बाधक बनता है। अतएव कषायों का त्याग करो। कषाय आत्म-गुणों को भस्म कर देता है। कहा है कि–

"संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा !
जे डहंति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे।
कषाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवोजलं।" (उत्तरा० २३)

श्री केशी अणगार और गौतम गणधर की धर्म-चर्चा में, मानव शरीर में रहे हुए कषाय को अग्नि के समान बताया है, जो जलती और जलाती रहती है। धर्म तो अपने श्रुतशील और तप रूपी जल से कषाय रूपी अग्नि को बुझाता है। धर्म का उद्‌घोष है–"**उवसमसारं धम्मं।**" धर्म तो आक्रोश एवं वध परीषह को भी शान्तिपूर्वक सहन करने की शिक्षा देता है यथा–

"अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं, ण तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होई बालाणं, तम्हा भिक्खू ण संजले॥
सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, ण ताओ मणसी करे॥" (उत्तरा० २)

–साधु को कोई गाली दे और अपमान करे। तो उस पर क्रोध नहीं करे। क्रोध करने से वह स्वयं अज्ञानी के समान हो जाता है। कानों में काँटों के समान चुभने वाली अत्यन्त कठोर भाषा को सुन कर भी साधु मौन रह कर उपेक्षा करे। उसे मन में स्थान ही नहीं देवे।

यह है जैनधर्म की शिक्षा। कषाय-प्रतिसंलीनता को तप माना है। उसी शिक्षा का यह प्रभाव है कि गजसुकुमार मुनि ने मस्तक पर धरे हुए अंगारों को सहन किया। अर्जुन अनगार ने मारपीट और गालियों की बौछार सही। खंदक मुनि की चमड़ी उतार ली गई, किंतु वे शान्त ही रहे।

न तो जिनधर्म किसी को लड़ाता है और न लड़ने की शिक्षा देता है। जैनी लोग जो लड़ाई-झगड़े करते हैं, वह उनकी आत्मा में रहे हुए कषाय के उदय होने से करते हैं। फिर भी श्री जिनधर्म का इतना प्रभाव तो जैनियों पर है ही कि जिससे उनका कलुष उतना तीव्र नहीं होता, जितना अधार्मिकों में होता हैं। बड़े अपराधों जैसे–हत्या, रक्तपात और आगजनी जैसे उग्र कृत्य करने की सीमा तक जैनियों का कलुष नहीं पहुँचता। वह अप्रत्याख्यानावरण या प्रत्याख्यानावरण अथवा निम्न-कोटि के प्रथम चोक की स्थिति जैसा होता है। कषाय के उदय में लड़ाई-झगड़ा होना असंभव नहीं। जिनका कषाय विशेष उपशांत होता है, वे सहन कर लेते हैं और उदय से उग्र बनी हुई आत्मा सहन नहीं कर, प्रतिकार करती है। सारा संसार विषय-कषाय की आग में जल रहा है। संसारी जीवों में यह विकार, स्वभाव जैसा बन गया है। सभी प्रकार के लड़ाई-झगड़े की जड़ इसी में है। अपना दोष धर्म पर मढ़ना, उचित कदापि नहीं कहा जा सकता। धर्म निर्दोष है, शुद्ध है, पवित्र है और जीवों के लिए

परम हितकारी है। धर्म का आश्रय लेने पर ही आत्मा, कषाय-कलुष से छुटकारा पा कर वीतराग बन सकेगा। यदि धर्म का आश्रय नहीं लिया, तो आत्मा, अधर्मरूपी आग में जलती ही रहेगी, जलती और जलाती रहेगी। अधर्मी जीव में अनन्तानुबन्धी की आग जलती ही रहती है। वह लड़ाई-झगड़े और द्वंद्व संघर्ष से कभी मुक्त नहीं हो सकतीं।

(६)

श्रद्धा प्रतीति और रुचि

जिनोपासक श्रद्धालु होता है, या तटस्थ ? जो तटस्थ होता है, वह श्रद्धालु नहीं होता और जो श्रद्धालु होता है, वह तटस्थ नहीं होता। हां, पहले परीक्षक और फिर श्रद्धालु तो हो सकता है, किन्तु श्रद्धालु होने के बाद भी तटस्थ होना, उपासकपन के विपरीत है।

अपने उपभोग के लिए बाजार से सोना, चाँदी, रत्न, मोती आदि या खाने के लिए घृत आदि लेते समय असली-नकली, खरा-खोटा, उपयोगी-अनुपयोगी एवं हितकारी-अहितकारी देखते हैं। सोच-समझ कर लेते हैं, उसके बाद मूल्य चुकाते हैं और फिर उपभोग करते हैं। इसी प्रकार उपासना के विषय में भी होना चाहिए। उपास्य का निश्चय करते समय हम अवश्य तटस्थ एवं परीक्षक बनें। हम देखें कि विश्व में माने जाने वाले विविध उपास्यों में सच्चा और यथार्थ उपास्य कौन है ? किसमें वे सभी सद्गुण मौजूद हैं—जो एक परम उपास्य में हो सकते हैं ? ऐसा कौन उपास्य है कि जिसमें उपासक को भी उपास्य बनाने के गुण मौजूद हों ? इस प्रकार पूरी छानबीन कर के उत्तमोत्तम उपास्य को अपनाना चाहिए। जब वैसा आराध्य प्राप्त हो जाय, तो फिर उपास्य सम्बन्धी खोज या परीक्षा बन्द कर के, उपासक बन कर, उपासना करनी चाहिए। जब तक जीव, खोजी तटस्थ या परीक्षक बना रहता है, तब तक किसी एक उपास्य का उपासक नहीं हो सकता। वह खोजबीन करता और इधर-उधर भटकता ही रहता है।

सच्चा उपासक वही हो सकता है, जो अपने निर्धारित एक उपास्य की ही उपासना करे। परम वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और जीवों के लिए परम उपकारी जिनेश्वर भगवंत जैसे उपास्य पा कर तो फिर उपासक ही बनना चाहिए, और परीक्षक अवस्था समाप्त हो जानी चाहिए। जब तक तटस्थ एवं परीक्षक अवस्था समाप्त नहीं होती, तब तक किसी एक की उपासना नहीं होती। श्रावक या श्रमणोपासक तो तभी हो सकता है—जब कि वह तटस्थ पर्याय छोड़ कर उपासक बन जाय। आगमोक्त

बाधक बनता है। अतएव कषायों का त्याग करो। कषाय आत्म-गुणों को भस्म कर देता है। कहा है कि–

"संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा !
जे डहंति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे।
कषाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवोजलं।" (उत्तरा० २३)

श्री केशी अणगार और गौतम गणधर की धर्म-चर्चा में, मानव शरीर में रहे हुए कषाय को अग्नि के समान बताया है, जो जलती और जलाती रहती है। धर्म तो अपने श्रुतशील और तप रूपी जल से कषाय रूपी अग्नि को बुझाता है। धर्म का उद्घोष है–"उवसमसारं धम्मं।" धर्म तो आक्रोश एवं वध परीषह को भी शान्तिपूर्वक सहन करने की शिक्षा देता है यथा–

"अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं, ण तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होई बालाणं, तम्हा भिक्खू ण संजले॥
सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, ण ताओ मणसी करे॥" (उत्तरा० २)

–साधु को कोई गाली दे और अपमान करे। तो उस पर क्रोध नहीं करे। क्रोध करने से वह स्वयं अज्ञानी के समान हो जाता है। कानों में काँटों के समान चुभने वाली अत्यन्त कठोर भाषा को सुन कर भी साधु मौन रह कर उपेक्षा करे। उसे मन में स्थान ही नहीं देवे।

यह है जैनधर्म की शिक्षा। कषाय-प्रतिसंलीनता को तप माना है। उसी शिक्षा का यह प्रभाव है कि गजसुकुमार मुनि ने मस्तक पर धरे हुए अंगारों को सहन किया। अर्जुन अनगार ने मारपीट और गालियों की बौछार सही। खंदक मुनि की चमड़ी उतार ली गई, किंतु वे शान्त ही रहे।

न तो जिनधर्म किसी को लड़ाता है और न लड़ने की शिक्षा देता है। जैनी लोग जो लड़ाई-झगड़े करते हैं, वह उनकी आत्मा में रहे हुए कषाय के उदय होने से करते हैं। फिर भी श्री जिनधर्म का इतना प्रभाव तो जैनियों पर है ही कि जिससे उनका कलुष उतना तीव्र नहीं होता, जितना अधार्मिकों में होता हैं। बड़े अपराधों जैसे–हत्या, रक्तपात और आगजनी जैसे उग्र कृत्य करने की सीमा तक जैनियों का कलुष नहीं पहुँचता। वह अप्रत्याख्यानावरण या प्रत्याख्यानावरण अथवा निम्न-कोटि के प्रथम चोक की स्थिति जैसा होता है। कषाय के उदय में लड़ाई-झगड़ा होना असंभव नहीं। जिनका कषाय विशेष उपशांत होता है, वे सहन कर लेते हैं और उदय से उग्र बनी हुई आत्मा सहन नहीं कर, प्रतिकार करती है। सारा संसार विषय-कषाय की आग में जल रहा है। संसारी जीवों में यह विकार, स्वभाव जैसा बन गया है। सभी प्रकार के लड़ाई-झगड़े की जड़ इसी में है। अपना दोष धर्म पर मढ़ना, उचित कदापि नहीं कहा जा सकता। धर्म निर्दोष है, शुद्ध है, पवित्र है और जीवों के लिए

हितकारी है। धर्म का आश्रय लेने पर ही आत्मा, कषाय-कलुष से छुटकारा पा कर वीतराग बन
। यदि धर्म का आश्रय नहीं लिया, तो आत्मा, अधर्मरूपी आग में जलती ही रहेगी, जलती और
रहेगी। अधर्मी जीव में अनन्तानुबन्धी की आग जलती ही रहती है। वह लड़ाई-झगड़े और
र्प से कभी मुक्त नहीं हो सकती।

(६)

श्रद्धा प्रतीति और रुचि

जिनोपासक श्रद्धालु होता है, या तटस्थ ? जो तटस्थ होता है, वह श्रद्धालु नहीं होता और जो
ालु होता है, वह तटस्थ नहीं होता। हां, पहले परीक्षक और फिर श्रद्धालु तो हो सकता है, किन्तु
ालु होने के बाद भी तटस्थ होना, उपासकपन के विपरीत है।

अपने उपभोग के लिए बाजार से सोना, चाँदी, रत्न, मोती आदि या खाने के लिए घृत आदि
। समय असली-नकली, खरा-खोटा, उपयोगी-अनुपयोगी एवं हितकारी-अहितकारी देखते हैं। सोच-
मझ कर लेते हैं, उसके बाद मूल्य चुकाते हैं और फिर उपभोग करते हैं। इसी प्रकार उपासना के
षय में भी होना चाहिए। उपास्य का निश्चय करते समय हम अवश्य तटस्थ एवं परीक्षक बनें। हम
खें कि विश्व में माने जाने वाले विविध उपास्यों में सच्चा और यथार्थ उपास्य कौन है ? किसमें वे
भी सद्गुण मौजूद हैं—जो एक परम उपास्य में हो सकते हैं ? ऐसा कौन उपास्य है कि जिसमें उपासक
को भी उपास्य बनाने के गुण मौजूद हों ? इस प्रकार पूरी छानबीन कर के उत्तमोत्तम उपास्य को
अपनाना चाहिए। जब वैसा आराध्य प्राप्त हो जाय, तो फिर उपास्य सम्बन्धी खोज या परीक्षा बन्द
कर के, उपासक बन कर, उपासना करनी चाहिए। जब तक जीव, खोजी तटस्थ या परीक्षक बना रहता
है, तब तक किसी एक उपास्य का उपासक नहीं हो सकता। वह खोजबीन करता और इधर-उधर
भटकता ही रहता है।

सच्चा उपासक वही हो सकता है, जो अपने निर्धारित एक उपास्य की ही उपासना करे। परम
वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और जीवों के लिए परम उपकारी जिनेश्वर भगवंत जैसे उपास्य पा कर तो
फिर उपासक ही बनना चाहिए, और परीक्षक अवस्था समाप्त हो जानी चाहिए। जब तक तटस्थ एवं
परीक्षक अवस्था समाप्त नहीं होती, तब तक किसी एक की उपासना नहीं होती। श्रावक या श्रमणो-
पासक तो तभी हो सकता है—जब कि वह तटस्थ पर्याय छोड़ कर उपासक बन जाय। आगमोक्त

शरीर में अनन्त आत्माओं के साथ ठूंस-ठूंस कर रहा हुआ क्षुद्रतम जीव। कितनी अधमावस्था में रह चुका यह जीव। 'ऊँट और हाथी जैसे बड़े शरीरों में रहने वाला जीव, कभी दृष्टि में भी नहीं आ सके ऐसी सूक्ष्म एवं क्षुद्रतम दशा को भी प्राप्त हो सकता है'—ऐसा जैनदर्शन सदा से कहता आया है। यह बात आगम-सम्मत तो है ही, किन्तु भौतिक विज्ञान भी लता या वृक्ष के छोटे से पत्ते में करोड़ों जीव मान चुका है। ऐसी दुर्दशा जीव की क्यों हुई ? चक्रवर्ती सम्राट, देव, इन्द्र और सिद्धभगवंत के समान सत्ता धराने वाली आत्मा की इतनी अधमाधम दशा क्यों हुई ? परमात्मा के समान आत्म-द्रव्य का धारक, पामरता को प्राप्त क्यों हुआ ? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर की ओट में ही श्री जिनधर्म छुपा हुआ है। जिनेश्वर भगवंत कहते हैं कि उस आत्मा ने निवृत्ति-मार्ग के दर्शन ही नहीं किये। वह प्रवृत्ति में ही पड़ी रही—अशुभतम प्रवृत्ति में। उसकी खुद की प्रवृत्ति ही उसकी दुर्दशा का कारण बनी। जिस प्रकार चोर, डाकू और खूनी आदि को, उनके अपराध ही बन्दी बनाने वाले होते हैं, वैसे ही आत्मा की बन्धन-कारक प्रवृत्ति ही उसकी दुर्दशा का कारण बनती है।

प्रवृत्तिमार्ग बन्धनकारी है। काषायिक भावना और योग से आत्मा शुभाशुभ बन्धन में जकड़ती जाती है और निवृत्तिमार्ग ही बन्धन-मुक्ति का मार्ग है। प्रवृत्तिमार्ग बन्धनों का निर्माण करता है और आत्मा को अधिकाधिक बन्धनों में बांधता रहता है। जिस प्रकार अपने निर्मित किये हुए तन्तुजाल में मकड़ी स्वयं बंधती-उलझती जाती है, और रेशम का कीड़ा पत्तियें खा-खा कर अपनी ही लार से निकाले हुए स्निग्ध तारों के बन्धनों में आबद्ध हो कर, रेशम निर्माताओं द्वारा मार दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपनी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों से अपने लिए बन्धनों का निर्माण कर शुभाशुभ कर्म-बन्धनों में बंधती रहती है और जन्म-मरण कर भव-परम्परा बढ़ाती रहती है। आत्मा की दुःख-परम्परा, जन्म-मरण-परम्परा और भव-परम्परा प्रवृत्ति की ही देन है।

े ही वह वुद्धोपासक कहावे या जिनोपासक। जव तक वह तटस्थ रहता है, तव तक वह उपासक हीं है। उपासक वनने के लिए किसी एक की उपासना करनी ही होगी। पूर्व काल के श्रमण एवं मणोपासक तटस्थ नहीं थे। वे जिनोपासक थे। वे जिनेश्वर के अन्तेवासी थे। जैन-अजैन में वे तटस्थ हीं रहते थे। किन्तु इस जमाने में कई साधु नामधारी और रजोहरणादि जैन-श्रमण का वेश धारण ये फिरने वाले भी अपने-आपको तटस्थ और मध्यस्थ वतलाने में गौरव समझते हैं। वास्तव में उनकी ष्टि में धर्म का कोई मूल्य नहीं। वे जैनी नहीं, जैन के साधु और श्रावक नहीं। एक जैनी व जैन धु के मुंह से यह कैसे निकल सकता है कि—'मैं तटस्थ हूँ। मेरी दृष्टि में धर्म विषयक कोई भेद नहीं'। जो ऐसा कहे, वह वास्तव में न तो जैनी है, न जिनोपासक है, न साधु है, न श्रावक है। ऐसा यक्ति अन्य अजैनों से भी वहुत वुरा है। ऐसों की संगति से हानि होती है। अतएव जैन मात्र को जनोपासक, श्रमणोपासक एवं निग्रंथ-प्रवचनोपासक ही होना चाहिए। उसके हृदय में श्रद्धा, प्रतीति और रुचि होनी ही चाहिये।

(७)

णिव्वुइ-पह-सासणयं....जिणिंद-वर-वीर-सासणयं

श्री नन्दीसूत्रकार ने जिनेन्द्र भगवान् महावीर के धर्म-शासन की स्तुति करते हुए श्री वीर-धर्म का स्वरूप केवल तीन शव्दों के एक पद में ही दे दिया है—"णिव्वुइ-पह-सासणयं"—निवृत्ति-पथ शासक। इन तीन शव्दों में श्री जिनधर्म का परिचय आ गया है। वास्तव में जिनधर्म, निवृत्ति-पथ शासन ही है। निवृत्ति-पथ ही मोक्ष-मार्ग है। जो निवृत्त होता है, वह मुक्त होता है। निवृत्ति का अर्थ है—मुक्ति, छुटकारा, पृथक् होना, प्रवृत्ति रोकना। प्रमाद, कषाय और मन, वचन तथा काया के अशुभ योगों का त्याग करना।

आत्मा, महामोह के गहन आवरण से अभिभूत हो कर अपनत्व को भूली हुई है। अनादिकाल से आत्मा, भूगर्भ में मिट्टी और पत्थरों के चारों ओर जमे हुए महत्तम थरों में दवे हुए रत्न की भांति, गाढ़तम मोहनीय कर्म के मद में निमग्न रहती आयी। मिथ्यात्व-मोहनीय का नशा उसे इतना दवाये रहा कि वह जड़वत् अथवा लुप्त-सी रही। जीव सिमटा—सिकुड़ा और अणुवत् वना हुआ, एक सूक्ष्म शरीर में अनन्त जीवों के साथ रहा। कहाँ लोकव्यापी प्रदेशों का स्वामी विराट परमात्मा और कहाँ सूक्ष्म

शरीर में अनन्त आत्माओं के साथ ठूंस-ठूंस कर रहा हुआ क्षुद्रतम जीव। कितनी अधमावस्था में रह चुका यह जीव। 'ऊँट और हाथी जैसे बड़े शरीरों में रहने वाला जीव, कभी दृष्टि में भी नहीं आ सके ऐसी सूक्ष्म एवं क्षुद्रतम दशा को भी प्राप्त हो सकता है'–ऐसा जैनदर्शन सदा से कहता आया है। यह बात आगम-सम्मत तो है ही, किन्तु भौतिक विज्ञान भी लता या वृक्ष के छोटे से पत्ते में करोड़ों जीव मान चुका है। ऐसी दुर्दशा जीव की क्यों हुई ? चक्रवर्ती सम्राट, देव, इन्द्र और सिद्धभगवंत के समान सत्ता धराने वाली आत्मा की इतनी अधमाधम दशा क्यों हुई ? परमात्मा के समान आत्म-द्रव्य का धारक, पामरता को प्राप्त क्यों हुआ ? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर की ओट में ही श्री जिनधर्म छुपा हुआ है। जिनेश्वर भगवंत कहते हैं कि उस आत्मा ने निवृत्ति-मार्ग के दर्शन ही नहीं किये। वह प्रवृत्ति में ही पड़ी रही–अशुभतम प्रवृत्ति में। उसकी खुद की प्रवृत्ति ही उसकी दुर्दशा का कारण बनी। जिस प्रकार चोर, डाकू और खूनी आदि को, उनके अपराध ही वन्दी बनाने वाले होते हैं, वैसे ही आत्मा की बन्धन-कारक प्रवृत्ति ही उसकी दुर्दशा का कारण बनती है।

प्रवृत्तिमार्ग बन्धनकारी है। काषायिक भावना और योग से आत्मा शुभाशुभ बन्धन में जकड़ती जाती है और निवृत्तिमार्ग ही बन्धन-मुक्ति का मार्ग है। प्रवृत्तिमार्ग बन्धनों का निर्माण करता है और आत्मा को अधिकाधिक बन्धनों में बांधता रहता है। जिस प्रकार अपने निर्मित किये हुए तन्तुजाल में मकड़ी स्वयं बँधती-उलझती जाती है, और रेशम का कीड़ा पत्तियें खा-खा कर अपनी ही लार से निकाले हुए स्निग्ध तारों के बन्धनों में आवद्ध हो कर, रेशम निर्माताओं द्वारा मार दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपनी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों से अपने लिए बन्धनों का निर्माण कर शुभाशुभ कर्म-बन्धनों में बँधती रहती है और जन्म-मरण कर भव-परम्परा बढ़ाती रहती है। आत्मा की दुःख-परम्परा, जन्म-मरण-परम्परा और भव-परम्परा प्रवृत्ति की ही देन है।

अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवंतों ने जीव को, अनन्त दुःख-परम्परा से मुक्त होने के लिए निवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया। प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर, भव-परम्परा को कम कर के आत्मा की सुख-सम्पत्ति को प्रकट करना, निवृत्ति का परिणाम है। जिस प्रकार कुशल वैद्य, रोगी को निरोग करने के लिए सब से पहले रोग के कारण को रोकता है–रोगोत्पत्ति के मार्ग को बन्द करता है, उसके बाद लगे हुए रोग को छुड़ाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार जिनेश्वर भगवंत, आत्मा की जन्म-मरणादि दुःख-परम्परा को बढ़ाने वाली सावद्य प्रवृत्ति को रोकने का उपदेश करते हैं। उनका उपदेश निवृत्तिमय होता है। जो भव्यात्माएँ जिनेश्वर भगवंत के निवृत्ति मार्ग को ग्रहण करती हैं, वे प्रवृत्ति से उत्पन्न बन्धनों को तोड़ती हुई मुक्त हो जाती है–सर्वथा मुक्त हो कर परमात्म पद को प्राप्त कर लेती है।

निवृत्ति-पथ न तो कपोल-कल्पना मात्र है और न व्यर्थ ही। किसी भी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उससे भिन्न प्रवृत्ति रोकनी ही पड़ती है। एक कार्य साधने के लिए अन्य कार्यों से निवृत्ति लेना आवश्यक

हो जाता है, तभी सफलता मिलती है। पराधीनता से मुक्त होने के लिए परतन्त्राधीन बनाने वाली प्रवृत्ति की रोक पहले हो और बाद में परतन्त्रता के बन्धन काटने में शक्ति लगाई जाय, तभी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। ठीक यही परिणाम जिनेश्वर भगवंत के निवृत्ति-मार्ग का है।

जिनेश्वर भगवंत के निवृत्ति-मार्ग को सुन-समझ और विश्वास करने पर जीव का दृष्टि-विकार निवृत्त हो जाता है। दृष्टि-विकार हटते ही उसकी अनन्त संसार से निवृत्ति हो जाती है। मिथ्यात्व की निवृत्ति के साथ अनन्तानुबन्धी की निवृत्ति होती ही है।

अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क के साथ लगा रहने वाला मिथ्यात्व-मोह, आत्मा में इतना विष भर देता है कि उसकी दशा सर्प-दंश से चढ़े हुए विष के समान होती है। जिस मनुष्य को सर्प का विष चढ़ जाता है उसे मिश्री भी कड़वी लगती है और नीम तथा मिर्च मीठी लगती है। पीलिया के रोगी को श्वेत रंग भी पीला दिखाई देता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व-मोह के उदय वाले को सन्मार्ग के दर्शन ही नहीं होते। यदि उसके सामने सन्मार्ग आवे भी, तो वह उससे विमुख रहता है। ऐसे व्यक्ति अपने पकड़े हुए कुमार्ग को सन्मार्ग और सन्मार्ग को कुमार्ग मानते हैं। यह मिथ्यात्व का विष—दृष्टि-विकार ऐसा भयंकर पाप है कि आत्मा को अनादि काल से भव-भ्रमण के चक्कर में भटकाता रहता है। मिथ्यात्व-मोह का साथी अनन्तानुबन्धी कषाय है। दोनों का गठ-बन्धन है। यह गठ-बन्धन जब उग्र रूप में होता है, तो आत्मा क्षुद्रतम अवस्था को प्राप्त हो कर, एक लोकान्त से दूसरे लोकान्त तक भटकती रहती है। अनन्त भव-भ्रमण का यही मूल है। इसका उदय समाप्त होते ही आत्मा की भव-संतति बहुत कम रह जाती है और जो रहती है वह भी देव और मनुष्य की शुभ गति रूप।

हां, तो मिथ्यात्व की निवृत्ति से आत्मा की दुर्गति का कारण रुक जाता है। फिर अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय रुकने पर देशविरति-चारित्र से आंशिक निवृत्ति प्राप्त होती है। असीम इच्छा, अभिलाषा, तृष्णा एवं क्रोधमानादि कषाय जब देशविरति के नियन्त्रण में आता है, तो उसकी शेष असीम प्रवृत्ति भी रुकती है। जीव स्थूल हिंसादि पापों से निवृत्त होता है। उसके उस परिमाण में नये बन्धन रुक जाते हैं और वह पूर्वबद्ध आवरणों को भी यथाशक्ति तोड़ने का प्रयत्न करता रहता है।

जब आत्मा सर्व-विरत होती है, तो उसकी प्रवृत्ति का बहुत बड़ा भाग रुक जाता है। उसकी निवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। कषाय की तीन चौकड़ियों के उदयाभाव में वह देश-मुक्त साधु, वन्दनीय पूजनीय और मंगल रूप बन जाता है। ऐसी प्रशस्त आत्माओं में निवृत्ति अत्यधिक व्यापक हो जाती है और शेष रही प्रवृत्ति भी अशुभ नहीं होती। उनकी वह प्रवृत्ति भी कम होती जाती है और बाह्याभ्यंतर तप रूप प्रवृत्ति, बद्ध आवरणों को काटने वाली होती है। वास्तव में यह प्रवृत्ति भी मर्यादित होती है। इसकी निवृत्ति (गुप्ति) करने में आत्मा असमर्थ है। जब आत्मा में कुछ विशेषता आती है और प्रमाद से निवृत्त होती है, तब उसकी प्रवृत्ति विशेष रुकती है और वह 'अप्रमत्त' हो जाती है। ऐसी

वैज्ञानिक–णिव्वुइ-पह-सासणयं........जयइ... .....जिणिंद-वर-वीर-सासणयं–निवृत्ति-पथ के शासक (अधिपति) ऐसे जिनेन्द्र भगवान् महावीर के धर्म-शासन की जय हो, विजय हो।

"णिव्वुइ-पह-सासणयं, जयइ सया सव्व-भाव-देसणयं।
कुसमय-मय-णासणयं, जिणिंद-वर-वीर-सासणयं॥२४॥" (नन्दीसूत्र)

(८)

आत्म-प्रतीति...एक भुलावा

जब किसी राजनैतिक पार्टी में, आपस में ही अधिकारों के लिए खिचतान मचती है, तब जो चुस्त-चालाक होता है, वह कुछ इधर का और कुछ उधर का मिला कर एक नयी पार्टी खड़ी कर देता है और उत्पादक उसका नेता बन कर, अधिकार प्राप्ति का प्रयत्न करता है। लगभग ऐसी ही बात जैन समाज में भी दिखाई देती है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि स्था० जैन समाज का युवक-वर्ग ही नहीं, प्रौढ़-वर्ग में से भी बहुत-सा वर्ग जन्म की अपेक्षा जैन कहलाता है और कुल-परम्परा का निर्वाह करने के लिए कभी-कभार धर्मस्थान चला जाता है। वास्तव में उनकी रुचि प्रायः धर्म में नहीं होती। वे धर्म को जानते ही नहीं। उनका अध्ययन भी प्रायः लौकिक विद्या का रहा, वाचन भी लौकिक साहित्य का और भाषणादि श्रवण भी लोकनेताओं का विशेष रहा। प्रादेशिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर-राष्ट्रीय हलचलों में उनकी रुचि विशेष लगी रहती है। खेल-कूद, तमाशे, सिनेमा आदि अनेक-अगणित आकर्षणों में उलझा हुआ युवकवर्ग, धर्म से उदासीन रहता है। धर्म के प्रति अरुचि रहती है। नये के आकर्षण ने पुराने से वंचित कर दिया। ऐसे वर्ग को आकर्षित कर अपनी ओर खिचने के लिए, चालाक लोग कुछ ऐसी बातें करते हैं कि जो लुभावनी है। उनकी वैसी बातों में धर्म से अनभिज्ञ लोग, बहुत जल्दी आ जाते हैं। उनकी वेशभूषा भी उनकी बड़ी सहायक बन जाती है। इससे कई धर्मप्रिय-जन भी भ्रम में पड़ कर अपने स्वीकृत धर्म से पृथक् हो जाते हैं।

एकान्त निश्चयवादी मत ने त्याग, तप, व्रत, दया, दान आदि को '**अभूतार्थ**' अथवा '**अधर्म**' कह कर '**आत्म-श्रद्धा**' या '**आत्म-प्रतीति**' को ही धर्म बताया। कई लोग इस भ्रम में पड़ गये। एकान्त निश्चयवादी के इस नारे को हमारे अपने कहलाने वाले ने भी पकड़ा और 'आत्म प्रतीति' 'आत्म-सम्बन्ध' का बहाना खड़ा कर के, स्वच्छन्दाचार की खुली छूट दे दी। कह दिया–'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ, रंग-रेलियाँ करो, कोई हर्ज नहीं, बस आत्म सम्बन्ध बनाये रखो तुम्हें आत्मा से अपने-आप

नमो नमिअनमियाणं परमगुरुवीयरागाणं

नमो सेस नमुक्कारिहाणं

जयउ सव्वण्णुसासणं

परमसंबोहिए--
सुहिणो भवंतु जीवा, सुहिणो भवंतु जीवा, सुहिणो भवंतु जीवा

श्रमण भगवान् महावीर की जय।

अनगार भगवंत की जय।

निर्ग्रंथ धर्म की जय।

समाप्त

संघ के प्रकाशन-

	मूल्य		पोस्टेज
१ भगवती सूत्र भाग १	५-००		२-१०
२ भगवती सूत्र भाग २	५-००		२-१०
३ भगवती सूत्र भाग ३	५-००		२-१०
४ भगवती सूत्र भाग ४	५-००		२-१०
५ भगवती सूत्र भाग ५	५-००		२-०५
६ उत्तराध्ययन सूत्र	२-००		०-४५
७ उववाइसुत्त	२-००		०-५०
८ दशवैकालिक सूत्र	१-२५		०-४०
९ अंतगड़दशा सूत्र		अप्राप्य	
१० सुखविपाक सूत्र	०-२०		०-१०
११ स्त्रीप्रधान धर्म		अप्राप्य	
१२ सिद्धस्तुति	०-४०		०-१०
१३ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१-२५		०-१५
१४ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २		अप्राप्य	
१५ संसार तरणिका	०-५०		०-२०
१६ सूयगड़ांग सूत्र		अप्राप्य	
१७ जैन स्वाध्याय माला		अप्राप्य	
१८ नन्दी सूत्र	२-५०		०-६०
१९ मंगल प्रभातिका	०-३०		०-१०
२० सम्यक्त्व विमर्श	१-००		०-२०
२१ पच्चीसबोल का थोक	०-३०		०-१०
२२ प्रतिक्रमण सूत्र	०-१६		०-१०
२३ रजनीश दर्शन	०-२०		०-१०
२४ आलोचना पंचक	०-२०		०-१०
२५ जीवधड़ा	०-२०		०-१०

	मूल्य		पोस्टेज
२६ लघुदंडक	०–३०		०–१०
२७ महादंडक	०–२०		०–१०
२८ तेतीस बोल	०–१५		०–१०
२९ १०२ बोल का बासठिया	०–०७		०–१०
३० गुणस्थान स्वरूप	०–१६		०–१०
३१ सामायिक सूत्र	०–१०		०–१०
३२ गति आगति	०–०७		०–१०
३३ समकित के ६७ बोल	०–२०		०–१०
३४ समर्थ समाधान भाग १		अप्राप्य	
३५ समर्थ समाधान भाग २	३–००		०–४५
३६ नव तत्त्व	०–६०		०–२५
३७ कर्म प्रकृति	०–०८		०–१०
३८ शिविर व्याख्यान	१–३०		०–३०
३९ समिति गुप्ति	०–२०		०–१०
४० आत्म साधना संग्रह		अप्राप्य	

छप रहा है

भगवती सूत्र भाग ६